

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

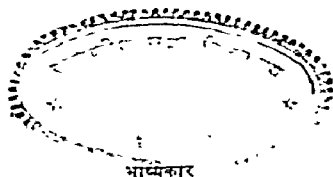
KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most.

BORROWER'S No.	DUE DATE	SIGNATURE

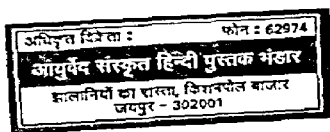
अथर्ववेद का सुबोध भाष्य

प्रथम भाग
[काण्ड १-३]



भाष्यकार

पद्मभूषण डा० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर



स्वाध्याय मण्डल
पारडी

प्रकाशक
वसन्त श्रीपाद सातबसेकर
म्हाप्याय मण्डन, पारडी
[जि० बलसाड]



Rs. 150.00

मुद्रक
मेहरा भास्केट प्रिंटर्स, नई दिल्ली

ॐ

अथर्ववेदके पहिले तीन काण्डोंका

परिचय

अथर्ववेदके २० काण्ड हैं। इनमें प्रथम तीन काण्डोंका यह प्रथम भाग है। इसमें सूक्त और मंत्र संख्या इस तरह हैं—		अनुषुं अनुवाक	द्वितीय प्रपाठक		
प्रथम काण्ड		१०	एकसाव बंदु करना	४	
प्रथम अनुवाक		१८	सौभाग्यवर्धन	४	
प्रथम प्रपाठक		१९	शत्रुनाशन	४	
सूक्त संख्या		२०	महानघातक	४	
	घोरेक	२१	प्रजापाठक	४ २०	
१	दुष्टिसंबर्धन	४	प्रथम अनुवाक		
२	विजय	४	२२	हृदयरोगनिवारण	४
३	आरोग्य, मृत्रशोष निवारण	९	२३	श्वेतकुठनाशन	४
४	जल	४	२४	कुष्ठनाशन	४
५	"	४	२५	घीठभ्रंश दूरीकरण	४
६	"	४ २९	२६	सुखमाप्ति	४
			२७	विजयी घी	४
द्वितीय अनुवाक			२८	दुष्टनाशन	४ २८
७	धर्मप्रचार	४	वह अनुवाक		
८	"	४	२९	राट्संबर्धन	६
९	वसंःमाप्ति	४	३०	आयुष्यवर्धन	४
१०	पापसे मुक्ति	४	३१	आद्यापलक	४
११	सुखनसृति	६ २५	३२	जीवन-रस-महासागर	४
तृतीय अनुवाक			३३	जल	४
१२	रोगनिवारण	४	३४	मधुविद्या	५
१३	इंद्रको नमन	४	३५	बल और दीर्घायुष्य	४ ३१
१४	कुलवध	४			१५३
१५	संगठन-महापथ	४	इसमें ३० सूक्त ४ मंत्रोंके हैं अर्थात् इनके मंत्र १२० हैं		
१६	छोरनाशन	४	२० एक सूक्त ५ मंत्रोंका है, दो सूक्त ६ मंत्रोंके हैं अर्थात् ये		

१२ मंत्र हैं । ७ मंत्रोंवाला एक सूक्त है और ९ मंत्रोंवाला एक सूक्त है इस तरह—

४ मंत्रवाले	३० सूक्त	१२० मंत्र
५ ,, वाळा १ ,,	५	
६ ,, वाळे २ ,,	१२	
७ ,, वाळा १ ,,	७	
९ ,, वाळा १ ,,	९	
१५३ कुल मंत्र संख्या ।		

इस प्रथम काण्डकी प्रकृति ४ सूक्तवाले मंत्रोंकी है जब द्वितीय काण्ड देखिये—

जब द्वितीय काण्डकी प्रपाठक, अनुवाक, सूक्त, मंत्र संख्या इस तरह है वह देखिये—

द्वितीय काण्ड

मृतीय प्रपाठक	प्रथम अनुवाक	सूक्त संख्या	शीर्षक	मंत्र संख्या
१			गुह्य अभ्यागमविद्या	५
२			पृथगीय ईश्वर	५
३			भारोग्य	६
४			चक्रिह मणि	६
५			अग्निप्रथम	७ २९

द्वितीय अनुवाक

६	प्राज्ञगवमं	५
७	दापको छोटाना	५
८	क्षेत्रिययोग दूर करना	५
९	सन्धिवात दूर करना	५
१०	दुर्गतिसे बचना	८ २८

मृतीय अनुवाक

११	आत्माके गुण	५
१२	मनका बल बढ़ाना	८
१३	ब्रह्मपरिधान	५
१४	विपत्तियोंको हटाना	६
१५	निर्भयजीवन	६
१६	विश्वंभरकी भक्ति	५
१७	आत्मसंरक्षणका बल	७ ४२

चतुर्थ अनुवाक
चतुर्थ प्रपाठक

१८	आत्मसंरक्षणका बल	५
१९	शुद्धिकी विधि	५
२०	" "	५
२१	" "	५
२२	" "	५
२३	" "	५
२४	डाकुमोकी असफलता	८
२५	पृथिवीको	५
२६	गोरस	५ ४८

पंचम अनुवाक

२७	विजयवाहि	७
२८	सौर्षागुण्य	५
२९	"	७
३०	पतिपत्नीका मेल	५
३१	रोगोत्पादक हृमि	५ २९

षष्ठ अनुवाक

३२	हृमिनाशन	६
३३	यक्ष्मनाशन	७
३४	मुक्तिका मार्ग	५
३५	यशुमें आत्मसमर्पण	५
३६	विवाहका मंगल कार्य	८ ३१
		२०७

इस काण्डमें ५ मंत्रोंवाले सूक्त २२ हैं और मंत्र ११० हैं ।

"	"	६	"	"	"	३०
"	"	७	"	"	"	३५
"	"	८	"	"	"	३२
द्वितीयकाण्डकी मंत्र संख्या						२०७

इस द्वितीय काण्डकी प्रकृति ५ मंत्रोंके सूक्तोंकी है क्योंकि ३६ सूक्तोंमें २२ सूक्त ५ मंत्रोंके हैं ।

जब तीसरे काण्डके प्रपाठक, अनुवाक, सूक्त और मंत्र देखिये—

द्वितीय काण्ड			२८	वसुस्थार्यपराक्षा	६
पंचम प्रपाठक			२९	संरक्षक कर	८
प्रथम अनुवाक			३०	एकता	७
सूक्त संख्या	शीर्षक	मंत्र संख्या	३१	पापकी निवृत्ती	११ ४४
१	शत्रुसेना-संमोहन	६			२३०
२	"	६			
३	राजाकी राज्यपर पुनः स्थापना	६		इसमें ६ मंत्रवाले १३ सूक्त हैं मंत्र संख्या ७८ है—	
४	राजाका पुनाव	७	७	" ६ " "	४२
५	रामा और राजाके बनानेवाले	८ ३३	८	" ६ " "	४८
द्वितीय अनुवाक			९	" २ " "	१८
६	वीरपुरुष	८	१०	" २ " "	२०
७	मानुषवैद्यक रोगोंका दूर करना	७	११	" बाळा १ " इसकी "	११
८	राष्ट्रीय एकता	६	१२	" १ " "	१३
९	ह्येरा प्रतिबंधक उपाय	६		३१ सूक्त	२३० मंत्र
१०	काष्ठका यज्ञ	१३ ४०		इसमें ६ मंत्रवाले १३ सूक्त हैं अतः इस काण्डकी	
तृतीय अनुवाक				प्रकृति ६ मंत्रवाले सूक्तोंकी है ऐसा कह सकते हैं। तीनों	
११	हवनसे दीर्घायुष्य	८		काँकोंकी मंत्र संख्या यह है—	
१२	गृह-निर्माण	९		१ काण्ड सूक्त ३५ मंत्र संख्या १५३	
१३	जल	७	२	" " ३६ " २०७	
१४	गोशाला	६	३	" " ३१ " २३०	
१५	वाग्जयसे धनप्राप्ति	८ ३८		५९० कुक्क मंत्र संख्या	
चतुर्थ अनुवाक				इन सूक्तोंके क्रमको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि,	
षष्ठ प्रपाठक				इन सूक्तोंकी स्थापना विषयानुसार नहीं है। इसकी रचना	
१६	भगवानकी प्रार्थना	७		विषयानुसार की जाय, तो पाठकोंकी वेदका विषय समझ-	
१७	कृषिसे सुख	९		नेमें सुगमता होगी। इन तीनों काण्डोंके सूक्त विषया-	
१८	वनस्पति	६		नुसार इकट्ठे किये तो इस तरह होते हैं—	
१९	ज्ञान और शौर्य	८		१ ईश्वर— ३१३ ईश्वरको नमन, २११ जप्यामविद्या,	
२०	तेजस्विताके साथ अभ्युदय	१० ४०		२१२ पूजनीय ईश्वर, २१६ विश्वम्भरकी मक्ति, ३१६ भग-	
पंचम अनुवाक				वान्की प्रार्थना, २११ भारमाके गुण।	
२१	कामाग्निव्रतमन	१०		१ मुक्ति— २१४ मुक्तिका मार्ग।	
२२	वधःप्राप्ति	६		३ शासक— १२० महान् शासक, १२१ प्रजा-	
२३	वीरपुत्रप्राप्ति	६		पालक, ३१३ राजाकी राज्यपर स्थापना, ३१४ राजाका पुनाव,	
२४	समृद्धिकी प्राप्ति	७		३१५ राजा और राजाके बनानेवाले, १३१ आशापाठक,	
२५	कामका बाण	६ ३५		१२९ राष्ट्रसंबर्धन, ३२९ संरक्षक कर।	
षष्ठ अनुवाक				४ युद्ध— ३१२-२ शत्रुसेना संमोहन।	
२६	सद्गतिकी शिक्षा	६		५ विजय— ११२ विजय, २१७ विजय प्राप्ति, २१५	
२७	अभ्युदयकी शिक्षा	६			

क्षत्रियधर्म, ३१९ ज्ञान और धर्म, ३२० तेजस्वितासे अभ्युदय ।

६ बुद्धि— १११ बुद्धिका संवर्धन, २१२ मनका बल बढ़ाना ।

७ आरोग्य— ११३, २१३ आरोग्य, ११३२ जीवनरस, ११२ रोगनिवारण, ११२२ हृद्भोगनिवारण, ११३३-२४ श्वेतकुष्ठ, कुंठनाशन, ११२५ शीतज्वर, २१२ संभवात्मनाशन, २१८ क्षेत्रियरोगनाश, २१३१ रोगोत्पादककृमि, २१३२ कृमिनाशन, २१३३ यक्ष्मनाशन, ३०० बानुबंधिकरोग दूर करना ।

८ दीर्घमायु— ११३० मायुष्यवर्धन, ११३५ बल और दीर्घमायुष्य, २१२८-२९ दीर्घमायुष्य, ३१११ हवनसे दीर्घमायुष्य ।

९ धन— ३११५ वाणिज्यसे धनकी प्राप्ति, ३१२४ समृद्धिकी प्राप्ति ।

१० पापसे मुक्ति— १११० पापसे मुक्ति, ३१३१ पापसे निवृत्ति, २११० दुर्गातिसे बचना, २११४ विपत्तिकी हटाना ।

११ तेजस्विता— ११९, ३१२२ वर्धःप्राप्ति ।

१२ यज्ञ— २१३५ यज्ञमें आत्मसमर्पण ।

१३ संगठन— ११५ संगठन यज्ञ, ३१८, ३१३० राष्ट्रीय एकता ।

१४ सुखप्राप्ति— ११२६ सुखप्राप्ति ।

१५ आत्मरक्षण— २११०, १८ आत्मरक्षक बल ।

१६ निर्भयता— २१५ निर्भयजीवन ।

१७ वीर— ३१६ वीर पुरुष, ३१३३ वीरपुत्र ।

१८ अभ्युदय— ३१२० अभ्युदयकी दिशा ।

१९ क्लेशप्रतिबंध— ३१९ क्लेश दूर करना ।

२० शुद्धता— २११९-२३ शुद्धि ।

२१ गृहनिर्माण— ३११२, गृहनिर्माण; ३११४ गोशाळा ।

२२ गौ— २१२६ गोस सेवन ।

२३ उन्नति— ३१२६ उन्नतिकी दिशा ।

२४ विद्या— ११३४ मधुविद्या ।

२५ वस्त्र— १११३ वस्त्रधारण ।

२६ धनु— १११४ तुल्यधनु, १११८ सौभाग्य, ११२० विजयी की ।

२७ धर्म— ११०-८ धर्मप्रचार ।

२८ जल— ११४, ५; ६; ३२; ३११३ जल ।

२९ काम— ३१२१ कामाग्निका शमन, ३१३५ कामका याग ।

३० कृषि— ३११० कृषिसे सुख ।

३१ प्रसूति— ११११ सुख प्रसूति ।

३२ मणि-धारण— २१४ जंगममणि ।

३३ शाप— २१० शापकी छोटाना ।

३४ धनस्पति— २१२५ पृथिवर्णो, ३११८ धनस्पति ।

३५ पशु— ३१२८ पशुस्वार्थ्य रक्षण ।

३६ पतिपत्नी— २१३६ विवाह मंगल कार्य, २१३० पतिपत्नीका प्रेम ।

३७ काल— ३११० कालका यज्ञ ।

३८ रक्तध्याय— १११० रक्तध्याय बंद करना ।

३९ खोर झाकू— २११६ खोरनाशन; १११९ धनुनाशन, ११२८ दुष्टनाशन, २१२४ डाकुओंकी असफलता ।

इस तरह सूक्तोंकी विषयानुसार व्यवस्था की जाय तो इस व्यवस्थासे वैदिक सूक्तोंका बोध शीघ्र और सुलसे हो सकता है। भाशा है कि पाठकगण इसका विचार करेंगे। हमने इस समय जैसी सूक्तोंकी व्यवस्था है वैसी ही रखी है।

वैदिक सूक्तियाँ

इस प्रथम विभागमें ३ काण्डोंके सब सूक्त आगये हैं ये ऐसे हैं—

प्रथम	काण्ड सूक्त	३५	मंत्रसंख्या	५५३	पृष्ठसंख्या	१२०
द्वितीय	" "	३६	" "	२००	" "	१४८
तृतीय	" "	३१	" "	२३०	" "	२४८
				१०२	५९०	५१६

इन तीनों काण्डोंमें मिलकर १०२ सूक्त हैं और ५९० मंत्र हैं और स्पष्टीकरणके साथ पृष्ठ ५१६ हैं। इन तीनों काण्डोंके ५९० मंत्रोंमें करीब करीब एक सहस्र सूक्तियाँ हैं। विषयवार इन सुभाषितोंका संग्रह हमने किया है जो हम गढ़ाँ देते हैं। पाठक कई सुभाषितोंको अन्य स्थानपर भी रख सकते हैं। मंत्रोंके अन्तर सूक्तियाँ अथवा सुभाषित सुष्य

गर्भरूप रहते हैं। जैसा बीजमें मगज होता है, वैसे मंत्रमें सुभाषित होते हैं। पाठक इनका विचार करें और प्रयोगमें भी ला सकते हैं। व्याख्यानोमें लेखोंमें तथा भग्यनकार इनका बहुत उपयोग होसकता है और जितना इनका उप-योग होगा उतना वेद व्यवहारमें लाया गया यह सिद्ध हो सकता है।

इसके नीचे हम इन तीनों काण्डोंके सुभाषित देते हैं—

परमेश्वर

इन तीन काण्डोंमें परमेश्वर विषयक सुभाषित ये हैं—

यो देवानां नामघा एक एव तं संप्रथं भुवना यन्ति सर्वा ।

भ. २।१।३

वह ईश्वर सब अन्य देवोंके नामोंको धारण करता है, वह एक ही सबका प्रभु है। उस प्रभु पृथने योग्य परमेश्वरके पास सब भूतन आश्रयार्थ जाते हैं।

येनस्तत् पदयत् परमं गुहा यत् यत्र विभ्यं भवत्येकरूपम् ।

भ. २।१।१

जहाँ सब विश्व एकरूप होता है और जो इन्द्रपकी गुहामें रहता है उसको जानो भक्त जानता है।

स नः पिता जनिता स उत बंधुर्धामानि वेद भुवनानि विभ्वा ।

भ. २।१।३

वह परमेश्वर हमारा पिता और जनक है, वही बंधु भी है। वह सब भुवनों और स्वानोंको जानता है।

परि विभ्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं ह्यो कम् ।

भ. २।१।५

भस्के अमृतके सुधमय तन्तुको वेधनेके क्रिये सब भुवनोमें मैं घूम जाया हूँ। सर्वत्र इस सुतस्वरूप भ्रमर आत्मरूप इस तन्तुको मैंने देखा है।

दिव्यो गंधर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विद्मवीट्यः ।

भ. २।२।१

भुवनका एक ही दिव्य गंधर्व स्वामी है जो नमस्कारके योग्य है और प्रजाजनोको स्तुति करने योग्य है।

मृडाद्गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवः ।

भ. २।२।२

भुवनोका एक ही स्वामी जो नमस्कारके योग्य है, जो संश्लेष्य है वही सबका भाषार सबको सुखी करे।

यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनाय-ध्वेरयन्त ।

भ. २।१।५

जहाँ अमृत पीनेवाले देव उस एक भाषय स्थानमें रहते हैं। (वह भ्रमर परमेश्वरका भाषार स्थान है।)

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मिश्रायण्णा प्रातरभ्विना । प्रातर्मगं पूयणं प्रह्लणस्पतिं प्रातः सोममुत इन्द्रं हवामहे ॥

भ. ३।१।१

प्रातः समय अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, अश्विनौ, मरु, पूषा, प्रह्लणस्पति, सोम और इन्द्रको पुजाते हैं, इनकी प्रार्थना करने हैं। (एक देवके ये अनेक गुणशोधक नाम हैं।)

उतेदानो भगवन्तः स्यामोत प्रपित्य उत मध्ये अद्राम् । उतोदितो मघवासूर्यस्य चयं देवानां सुमतो स्याम ॥ ४ ॥

भ. ३।१।४

हम भव भाग्यवान् हों, सार्यकाळ भयवा दिनके मध्यमें, सूर्यके उदयके समय भाग्यवान् हों। हम देवोंकी सुमतिमें रहें।

तं त्वा यौमि प्रह्लणा दिव्य देव ।

भ. २।२।१

हे दिव्य देव ! तेरे साथ ज्ञानसे मैं संयुक्त होता हूँ।

अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाताः ।

भ. ३।१।३

सजातीय लोग हविष्य ऋके साथ तेरे समीप आजायें।

उपसद्यो नमस्यो मयेह ।

भ. ३।४ १

यहाँ पास जाने योग्य तथा नमस्कार करने योग्य हो।

नमस्ते अस्तु दिधि ते सघस्थम् ।

भ. २।२।१

तेरा स्थान सुलोकमें है, तुझे मैं नमस्कार करता हूँ।

श्रीणि पदानि निहितानि गुहास्य यस्तानि धेद स पितृश्रितासत् ।

इसके तीन पाद इन्द्रपकी गुहामें हैं, जो इनको जानता है वह पिताका भी पिता भर्वात् बडा होता है।

परि धावाभृषिधी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथम-जामृतस्य ।

भ. २।१।४

धावाभृषिधीमें मैं सर्वत्र घूम जाया हूँ और सबके प्रथम प्रवर्तक-परमेश्वरकी मैं उपासना सर्वत्र देखता हूँ।

प्र तद्दोचेदमृतस्य विद्वान् गंधर्वो धाम परमं गुहा यत् ।

भ. २।१।२

जो इन्द्रपकी गुहामें है वह अमृतका धेध स्थान विद्वान् बडा ही मानकर उसका वर्णन कर सकता है।

स देवान् यक्षस्त उ कल्पयताद्विधाः । न. ३।१।६
 वह देवोंका पजन करता है, वह निश्चयसे प्रजाओंको
 समर्थ करता है ।

यक्षस्य चक्षुः, प्रभृतिमुखं च वाचा ध्रोत्रेण
 मनसा जुहोमि । न. ३।२।५।५

वह प्रभु यक्षका भाँस है, सबका भरण कर्ता, और
 यक्षका मुख है । वाणी कान और मनसे मैं उसका पजन
 करता हूँ ।

द्विवि स्पृष्टो यजतः सूर्यैवक् अवयाता हरसो
 दैव्यस्य । न. ३।२।२

हंसवा सुलोकमें रहता है, वह पूज्य है, सूर्यके समान
 तेजस्वी है और देवी भापत्तियोंको दूर कानेवाला वही
 प्रभु है ।

ये सूक्तियाँ वारांवार पढ़नेसे, कण्ठ करनेसे, वारांवार
 मनन करनेसे परमेश्वर विषयक वैदिक सिद्धान्त तात्काळ
 स्थानमें भासकता है । देखिये—

यो देवानां नामधा— वह देवोंके नाम धारण करने-
 वाला है ।

तं सं प्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा— सब भुवन उस
 पूछने योग्य प्रभुके पास जाते हैं ।

घेनस्तत्पश्यत्— ज्ञानी उसको देखता है ।

परमं गुहा यत्— जो हृदयके गुप्त स्थानमें रहता है ।

स नः पिता जनिता— वह रक्षक और उत्पन्न
 करनेवाला है ।

धामानि वेद भुवनानि विद्वा— सब भुवनों और
 स्थानोंको वह जानता है ।

श्रुतस्य तन्तुं विततं ह्यथे कं— सुलदायक फैला
 हुआ सत्यका तन्तु— परामाता है उसको मैं देखता हूँ ।

भुवनस्य यस्पतिः— वह भुवनोंका एक पति है ।

एक एव नमस्यः— वह एकही नमस्कार करने
 योग्य है ।

विद्वन्नील्यः— मन्त्रोंमें पृथनीय वही एक है ।

घयं देवानां सुमतौ स्वाम— हम देवोंकी सादिच्छामें
 रहें ।

तं त्वा यौमि— उस तुझसे मैं युक्त होता हूँ ।

नमस्ते अस्तु— तुझमें नमस्कार है ।

प्रातर्भयं— प्रातःकाल भाग्यवान् प्रभुको भक्ति करते हैं ।

उपसद्यो भवेद्— यहाँ पास जाने योग्य हो ।

दिवि ते सघस्यं— आकाशमें तेरा स्थान है ।

त्रीणि पदा निदिता गुहास्य— इसके तीन पाद
 बुद्धिमें हैं ।

अमृतस्य विद्वान्— अमृतका जाननेवाला धन्य है ।

धाम परमं गुहा यत्— परम धाम हृदयमें है ।

स उ कल्पयताद्विशाः— वह प्रभु प्रजाओंको समर्थ
 बनाता है ।

अवयाता हरसो दैव्यस्य— देवी दुःखोंको वह
 प्रभु दूर करता है ।

यहाँ जो सूक्तियाँ दी हैं । उनके ये टुकड़े हैं । ये भी
 सूक्तियाँ ही हैं और ये वारांवार मजन करने योग्य हैं ।

'एक एव नमस्यः' प्रभु भवेला एकही नमस्कार काने
 योग्य है । 'दिवि ते सघस्यं' आकाशमें तेरा स्थान है ।

'अवयाता हरसो दैव्यस्य' देवी दुःखोंको दूर करने-
 वाला वह प्रभु है । ऐसे वेदमंत्रोंके टुकड़े मजन करनेके होते
 हैं ।

भवेला अपने मनमें इनका मजन करे, जयवा समाजमें
 सैकड़ों और हजारों मनुष्य जयके साथ इन वचनोंका मजन
 करें । इस तरहका मजन करनेके लिये ही ये टुकड़े हैं ।

जिनकी वेदोंपर धृष्टा है वे जयपर स्थान रखते हुए इन
 वचनोंका मजन करें । यह मजन मनमें भी होगा है और

शाब्दस्वरमें सामूहिक भी हो जाता है । ऐसे जयसहित
 मजन होने लगे तो ये मंत्रभाग सबके मनमें स्थिर होते हैं,

और इनका उपयोग बोलने चालनेके समय होनेकी सुविधा
 होती है ।

पाठक मनमें ऐसे मजन करके देखें, मजन करनेके समय
 जयको अपने मनमें पूर्ण रीतिसे भरपूर भरकर रखें, इस

मंत्रके भावसे अपना मन भरपूर भरा ऐसा, जोतमोत भरा
 है ऐसा भाव मनमें स्थिर रखें । ऐसा मजन मनमें का-

नेसे जैसा काम व्यक्तिकी होता है वैसा ही काम ये ही
 वेदवचन सामुदायिक रीतिसे मजन करनेसे समुदायमें जो

लोग ये वचन बोलते रहेंगे, उनको काम होता है ।

यह बात करके देखने योग्य है । वेदके वचन अपने
 जीवनमें इस तरह बोलनेका चलन करना चाहिये । वेदका

धर्म जीवित है यह समझनेका यह उपाय है ।

ईश्वर निश्चयका शायक है, जो शायक होना है वह राजा ही होता है, ईश्वर शासक है और निर्दोष शायक है। अतः वह हमारे शासकोंके लिये आदर्श है। इस दृष्टिसे ईश्वरके गुण हमारा शासकमें देखने योग्य हैं। वे इस तरह देखें या सफेद हैं—

शासकका वर्णन

वेदमें जो वर्णन है उन मंत्रोंमें शासक, राजा, अधिका-रीका वर्णन करनेवाले सुमापित थे हैं—

सर्वास्त्रा राजन् प्रदिशो ह्यन्तु । अ. ३।१।१
हे राजन् ! सब दिशा उपदिशा (ज्यों रहनेवाले प्रजा-जन) तुझे (अपने रक्षणके लिये) बुझावे ।

तास्त्वा संविदाना ह्यन्तु । अ. ३।१।२
वे सब प्रजापुं निष्कर एकमतसे तुझे बुझावे ।

त्वां विशो वृषतां राज्याय स्वामिमाः प्रदिशः
पञ्च देवाः । अ. ३।१।२

तुझे वे प्रजापे, तुझे वे पांच दिशाओंमें रहनेवाली दिव्य प्रजापुं राज्यरक्षणके लिये स्वीकार करे ।

या त्वा गन्धर्भू । अ. ३।१।३
हे राजन् ! वे पांच राष्ट्र भागया है ।

सजातानां श्रेष्ठया वा घेद्येनम् । अ. ३।१।३
जननी जातिमेंसे बड़ स्यातनर इसको रखे ।

वर्षान् राष्ट्रस्य ककुद्दि श्रयस्व, ततो न उग्रो
विमजा वसुनि । अ. ३।१।२; ४

राष्ट्रके बड़ स्यातने रहकर, और वहांसे सबके लिये धर्मका विभाग कर दो ।

प्राह् विमर्षातिरेकराह् त्वे विराज । अ. ३।१।१
प्रजाओंका मुख्य स्वामी एक राजा होकर, तू विराज-मन्त हो ।

स्वस्तिदा विमर्षातिवृत्रहा विमृधो वशी ।
अ. १।२।१।१

प्रजापात्रक कल्याण करनेवाला, शत्रुनाशक और धात-कोंकी वश करनेवाला हो ।

ब्रह्मनस्पतेऽमि रामाय वर्षय । अ. १।२।१।१
हे ज्ञानी पुरुष ! राष्ट्रके दिन करनेके लिये बधाओ ।

ये राजानो राजकृतः सूता प्रामग्यश्च ये ।
उपस्तीन् पर्षमहो त्वं सर्वान् कृण्वमिती जनान् ।
अ. ३।१।३

जो राजा और राजाओंको करनेवाले, सूत तथा प्राम-नेता हैं वे परममे ! इन सबको मेरे समीप उपस्थित कर (उनकी सहायता मुझे प्राप्त हो ऐसा कर ।)

अहं शत्रुहोऽस्तान्यसपतनः सपन्नहा । अ. १।२।१।५
मैं शत्रुका नाश करनेवाला, शत्रुओंका वध करनेवाला तथा शत्रुरहित होऊँ ।

अहं राष्ट्रस्याभीषणं निजो भूयासमुत्तमः ।
अ. ३।१।२

मैं राष्ट्रके भात पुरुषोंमें उत्तम निज बनकर रहूँ ।
अथा मनो वसुदेयाय कृणुष्व । अ. ३।१।३

अथवा मन धनदानके लिये अनुकूल बनाओ ।
क्षत्रेपात्रे स्वेन संरमस्व । अ. २।१।३

हे क्षत्रे ! अपने क्षात्रवेगसे वत्साहित हो ।
अति निहो, अति सृधो, अत्यविष्ठाः, अतिद्विषः ।
अ. २।१।५

मारपीट करनेकी वृत्तिसे दूर रह, द्विषकोंसे दूर रह,
पारिवृत्तोंसे दूर हो, द्वेष करनेवालोंसे दूर रहे ।

तेन सहस्रकाण्डेन परि पाः पाहि विद्वतः ।
अ. २।३।३

उस सहस्र काण्डकेसे सब ओरसे हमारा रक्षण कर ।
शतारमेतु शपथः । अ. २।३।५

शपथ देनेवालेके पास ही उसका शपथ चला आवे ।
संशितं न इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम् ।

संशितं क्षत्रमजरमस्तु त्रिष्णुर्वैशामसि पुरोहितः ।
अ. ३।१।५।१

नेता यह ज्ञान तेजस्वी है, नेता वीर्य और बल तेजस्वी है । जिनका मैं विजयी पुरोहित हूँ उनका तेजस्वी और क्षीम न होनेवाला क्षात्रवेग बढ़ता रहे ।

स्त्रिणामि ब्रह्मणाऽमिभानुश्रयामि स्वानहम् ।
अ. ३।१।५।२

मैं ज्ञानसे शत्रुओंका नाश करता हूँ और अपने लोगोंकी मैं उन्नत करता हूँ ।

एषां क्षत्रमजरमस्तु त्रिष्णुर्वैषां चित्तं विश्वेऽ-
वन्तु देवाः । अ. ३।१।५।२

इनका क्षात्रवेग अजर हो । इनका विजयी चित्त सब देव सुरक्षित रहे ।

जायाः पुषाः सुमनसो भवन्तु यद्दुं पालं प्रति
पद्यास उग्रः । अ. ३।४।३
सिखां और पुत्र उलम मनवाडे हों । और उग्रवीर बन-
कर बहुत करमारको देखें ।

पथ्या रेवतीर्यहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य
वरपिस्ते अक्रन् । अ. ३।४।७
सन्मांगसे बढनेवाली बनेक प्रकारकी रंगरूपवाली
प्रजापे मिलकर तुम्हें श्रेष्ठ स्थानपर स्थापित कराती हैं ।

यलीं घट्टेन प्रमृष्टान् रसपत्नान् । अ. ३।५।१
यह बढवान् और अपने बढसे दानुर्बोका नाश कराता है ।
ये धीवानो रथकाराः कमरां ये मनोविषाः ।
उपस्तीन् पर्णं मह्यं त्यं सर्धान् छण्वमितो जनान् ॥
अ. ३।५।६

जो बुद्धिमान् है, जो रथकार है, जो कमं करनेवाले
हुंदा है, और विद्वान् है । हे परमजने ! तू उन सब जनोंको
मेरे समीप उपस्थित कर (बुद्धिमानोंकी सहायता मुझे प्राप्त
हो ऐसा कर ।)

सजातानां मध्यमेष्टा राशाम्नेष विह्वयो दीदिद्दीह ।
अ. ३।५।१४

सजातीयोंमें मध्यम स्थानमें बैठनेवाला हो, और राजाओं,
राक्षसोंके द्वारा बुझाने योग्य होकर, यहाँ प्रकटित
होता रह ।

दास इत्या महीं अस्यामिप्रसादो अस्तृतः ।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन ॥
अ. १।२०।१४

शत्रुर्बोका नाश करनेवाला, अपराधूल ऐला यह महान्
दासक है, जिसका मित्र मात्रा नहीं जाता और जिसका
मित्र कभी परामूल नहीं होता ।

उपोहृक्ष समृद्धं क्षत्वारौ ते प्रजापते ।
तापिहा यदतां स्कारिं यद्दुं भूमानमक्षितम् ॥
अ. ३।२४।७

हे प्रजापतिक ! पास छाना और समृद्ध करना ये दोनों
कार्य तू कर, वे कार्य महान् बुद्धिको छोड़ें और बहुत अन्न
मरपूरताको प्राप्त हों ।

यत्ते तपः०, द्रः०, आचिः०, शीचिः०, तेजः ।
तेन ते प्रनितप योऽस्तान् देष्टि यं वर्यं द्विष्मः ।
अ. २।१९-२३।१-५

जो तेरी तापशक्ति, दानशक्ति, वेदशक्ति, प्रकाशशक्ति-
और तेजशक्ति है, उससे उनको दण्ड दे जो हमसबको
दण्ड देता है और जिसका हमसब द्वेष करते हैं ।

अभूर्पृष्टीनामभिशक्तिपावा उ । अ. २।११।१
जिनाससे मनुष्योंका श्लथ करनेवाला हो ।
विश्वंमर विश्वेन मा मरसा पाट्टि ।
अ. २।११।५

हे विश्वके भाग कर्ता ! सर्वलोचन शक्तिसे मेरा
रक्षण कर ।

यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्वस्य पौष्टयं
यमस्यामी सभासद् । अ. ३।२९।१
जिस तरह निपमसे बढनेवाले राजाके समक्ष वे सभा-
सद् इष्ट और पूर्वका सोचकर भाग दण्ड कर रूपसे
रक्षते हैं ।

यासां राजा वक्षणे याति मध्ये सत्यामृतै
अन्नपदपन् जनानाम् । अ. ३।३१।२
जिनका राजा वरुण छोर्गोके सत्त वा असन्न ब्राह्मण
देवता हुआ जाता है ।

ये ऐसे मंत्रभाग इस विषयमें विचार करने योग्य है ।
हममें और छोटे धरममें सदा रखने योग्य सुभाषित ये हैं ।
त्वां विदो घृणतां राज्याय— सब मन्त्रा राजपके
लिये तुझे घासक करके क्षीकार करें ।

वर्षमन् राष्ट्रस्य ककुदि ध्वयस्व— राष्ट्रके श्रेष्ठ स्थान
पर रह ।

विशां पतिरेकराद् त्वं विराज— प्रजापतिक एक
राजा होकर तू सुखोभित हो ।

स्वस्तिदा विशापति— यह प्रजापतिक कल्याण
करनेवाला हो ।

जभि हाप्याय वर्यय— राष्ट्रके हित करनेके लिये वर
कर ।

त्वं सर्धान् छण्वमितो जनान्— तू सब जनोंको
अपने वारों और दृष्टता कर ।

अहं शत्रुहोऽस्तानि— मैं शत्रुका नाश करनेवाला
होकेगा ।

अहं राष्ट्रस्यामिविर्गो निजो भूयासं— मैं राष्ट्रके
उत्तम पुरुषोंमें निज होकर रहूँगा ।

अति द्विषः— द्वेष करनेवालोंको दूर कराता हूँ ।

भक्ति सिद्धिः— हिंसकोंको दूर करता हूँ।

परिणः पाहि विश्वतः— चारों ओरसे हमारी रक्षा कर।

संशिते धीर्ये बलम्— हमारा धीर्य और बल तीक्ष्ण हो।

संशिते क्षत्रमजरमस्तु— क्षात्रबल तीक्ष्ण होकर क्षीण न हो।

क्षिणामि ब्रह्मणाऽमित्रान्— शत्रुओंको ज्ञानसे क्षीण करता हूँ।

उन्नयामि स्वानहम्— स्वकीयोंकी उन्नति करता हूँ।

क्षत्रमजरमस्तु— क्षात्रवैज क्षीण न हो।

जिष्णुवेषां चिन्तम्— इनका चित्त विजयी हो।

जायाः पुत्राः सुमनसा भवन्तु— छी, पुत्र उत्तम मनवाले हों।

यत्नी बलेन प्रमृणन् सपरान्— बलवान् बलसे शत्रुओंको मारे।

सजातानां मध्यमेष्टाः— स्वजातीयोंके मध्यमें बैठने वाला हो।

शास इत्या महीं असि— तू शासकपेसा मदान् है।

अमित्रसादो असृतः— शत्रुको पराभूत करनेवाला और स्वयं अपराजित हो।

न यस्य हन्यते सखा— जिसका मित्र मारा नहीं जाता।

उपोद्दृश्च समुद्दृश्च— पास लाना और समूह करना (ये दो कार्य करने योग्य हैं।)

इस प्रकार इन सुभाषितोंमें मननीय वचन हैं। ये वारं-वार उच्चारित करनेसे बड़ा आनंद प्राप्त हो सकता है। 'स्वस्तिदा विशांपतिः' यह वचन वारंवार उच्चारणसे राजाके कर्तव्य प्दानमें आ सकता है और परमेश्वरके गुण भी मनमें स्थिर होते हैं। परमेश्वर 'स्वस्ति-दा' है अर्थात् कल्याण करनेवाला है। सबका कल्याण वह करता है। जो परमेश्वरका गुण है वही गुण राजामें तथा साधारण प्रजाजनमें भी देखना चाहिये। अर्थात् हरएक मनुष्य 'स्वस्ति-दा' कल्याण करनेवाला हो, राज्यका अधिकारी कल्याण करनेवाला हो, राजा भी प्रजाका कल्याण करनेवाला हो। परमेश्वर तो सबका कल्याण करनेवाला है ही।

२ (अ. प.)

'राष्ट्रीय वर्धय' राष्ट्रका वर्धन कर। राष्ट्रकी उन्नति कर। राष्ट्रका अणुद्वय हो ऐसा कर। 'अहं शत्रुहो असा-नि' में शत्रुको मारूंगा। शत्रुको दूर करना हरएकका कर्तव्य है। शत्रु तो व्यक्तिके, समाजके, धर्मके तथा राष्ट्रके अनेक प्रकारके होते हैं। उन सब शत्रुओंको दूर करना योग्य है।

'जिष्णुवेषां चिन्तं' सब मनुष्योंका चित्त जयशाली हो, विजयी हो। कभी चित्त निरुत्साही न हो। 'न यस्य हन्यते सखा' जिसका मित्र मारा नहीं जाता ऐसा परमेश्वर है। राजा भी ऐसा हो, और मनुष्य भी ऐसा हो।

इस प्रकार इन सुभाषितोंका मञ्जन, मनन तथा अपने जीवनमें ढालनेका यत्न करना चाहिये। ईश्वर, विश्वशासक है और राजाके गुणधर्म इनमें प्रकट हुए हैं। शासन हुआ तो वहां पुराह्वयोंसे, शत्रुओंसे युद्ध करना ही पड़ता है। इस कारण अब युद्धके विषयके सुभाषित देखिये—

युद्ध

दुष्टोंका शमन करनेके लिये जागृत रहकर युद्ध करना चाहिये, इस विषयके ये सुभाषित हैं—

स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन् । अ. ३।६।३

अपने धर्ममें प्रमाद न करता हुआ जाग्रत रह।

प्रेता, जयता, नर उग्रा वः सन्तु बाहयः ।

अ. ३।११।६

हे वीरो! आगे बढ़ो, विजय कमाओ, आपके बाहू शौर्य करनेवाले हों।

तेऽधराञ्चः प्र भ्रुवतां छिन्ना नौरिय बन्धनात् ।

अ. ३।६।७

जैसी नौका बंधनसे छूटनेपर बह जाती है, उस तरह ये शत्रु अधोमार्गसे नीचेकी ओर चले जायें।

अमी ये धिक्वता स्वयं तान्वः सं नमयामसि ।

अ. ३।८।५

जो ये विरुद्ध कर्म करनेवाले हैं उनको मैं एक विचार-वाले करता हूँ।

नद्वयेततः सदान्वः । अ. २।११।६

यहांसे दानववृत्तियां विनष्ट हों।

यि त्वमग्रे आरात्याः । अ. ३।३।११

हे अग्ने! तू शत्रुसे दूर रहता है। शत्रु तुमारे पास नहीं आसकता।

योऽस्मान्देष्टि यं वयं द्विपस्तं वो जग्मे दधम् ।

अ. ३।२७।१-६

जो एक हम सबका द्वेष करता है और जिस भकेलेका हम सब द्वेष करते हैं उसको हे प्रभो ! तुम्हारे जबड़ेमें देते हैं ।

समहमेवां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम् ।

वृश्चामि शत्रूणां वाहननेन हविषाऽहम् ॥

अ. ३।१९।२

हमका राष्ट्र बल, वीर्य और सामर्थ्यसे मैं तेजस्वी बनाता हूँ । हम हमसे मैं शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूँ ।

तीक्ष्णीयांसः परशोरस्त्रेतीक्ष्णतरा उत ।

इन्द्रस्य वज्रात्तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥

अ. ३।१९।४

जिनका मैं पुरोहित हूँ, उनके शस्त्र भस्त्र फरतीसे तीक्ष्ण, भस्त्रिने तीक्ष्ण और इन्द्रके वज्रके भी तीक्ष्ण बनाता हूँ ।

उद्धपन्तां मघवन् वाजिनान्युद्धीराणां जयतामेतु घोषः । अ. ३।१९।६

हे इन्द्र ! उनके बल उत्तेजित हों । विजयी वीरोंका घोष ऊपर उठे ।

तीक्ष्णेष्वयोऽवलघ्नव्यवो हतोप्रायुषा अवलानु-
प्रमाहवः । अ. ३।१९।७

हे तीक्ष्ण बाणवालो ! तम आयुर्धोवालो ! तम बाहु-
वाले वीरों । निबंल घनुष्यवाले निबंल वीरोंको मारो ।

एषा तान् सर्वान् निर्भगिष यानहं द्वेषिमि ये च
माम् । अ. ३।१।३

इस तरह सब शत्रुओंका नाश कर, जिनका मैं द्वेष
करता हूँ और जो मेरा द्वेष करते हैं ।

प्रते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून् । अ. ३।१।४

तेरा वज्र शत्रुओंको काटता हुआ भागे बड़े ।

इन्द्र सेना मोहयामित्राणाम् । अ. ३।१।५

हे इन्द्र ! शत्रुओंकी सेनाको मोहित कर ।

इन्द्र चित्तानि मोहयन्नर्वादाकृत्या चर ।
अग्नेर्वीतस्य ध्राज्या तान् विपृचो विनाशय ॥

अ. ३।२।३

हे इन्द्र ! शत्रुके चित्तोंको मोहित करके शुभ संकल्पके
साथ हमारे पास आ । और अग्नि और वायुके वेगसे शत्रुको
चारों ओरसे विनष्ट कर ।

स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणव-
ज्जातवेदाः । अ. ३।२।१

यह हमारा वीर शत्रुके चित्तको मोहित करे और उनको
हस्तहीन जैसे करे । मोहित होने कारण कर्तव्य भक्तव्यवका
विचार करनेकी शक्ति शत्रुमें न रहे ऐसा करे ।

अग्नीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृणानाङ्गान्यध्वे
परोदि । अ. ३।२।५

हे ग्याधी ! तू इनके चित्तोंको मोहित करके, दूतके
भवपयोंको जकड़ कर दूरतक चली जा ।

स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जात-
वेदाः । अ. ३।१।१

यह वीर शत्रुओंकी सेनाको मोहित करे और उनको
हस्तहीन करे ।

अयमग्निरमूमुहयामि चित्तानि वो हृदि ।
वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमनु सर्वतः ।

अ. ३।२।२

शत्रुके हृदयके विचारोंको यह अग्नी मोहित करे ।
शत्रुको घरसे बाहर निकाल देवे और शत्रुको सब ओरसे
हटा देवे ।

अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहभ्रमिशक्ति-
मरातिम् । अ. ३।२।१

हमारा तेजस्वी तथा विद्वान् दूत घातपात करनेवाली
शत्रुसेनाको जलाता हुआ चले ।

अभि प्रेहि, निर्दह हरतु शोकैर्प्राद्यामित्रास्त-
मसा विष्य शत्रून् । अ. ३।२।५

भाग बढ, हृदयोंको शोकसे जला दे, जकड़नेवाले
रोगसे, तथा मूर्च्छसे शत्रुओंको वीध लो ।

यूयमुषा मरुत ईदशे स्यामि प्रेतमृणत सहध्वं ।

अ. ३।१।२

हे मरुतक छद्मनेवाले वीरो ! तुम ऐसे तम वीर हो,
हमकेिये भागे बढो, काशो और जीत लो ।

आतृष्यक्षयणमसि आतृष्यक्षयणं मे दाः ।
सपत्नक्षयणमसि समत्नक्षयणं मे दाः ।

अरायक्षयणमसि अरायक्षयणं मे दाः ।
पिशाचक्षयणमसि पिशाचक्षयणं मे दाः ।

सदान्वक्षयणमसि सदान्वक्षयणं मे दाः ।

अ. २।१८।५-५

वैशियों, सपरानों, निर्धनतामों, भांस भक्षकों तथा आसुरी
वृत्तियोंको नाशका सामर्थ्य तुझमें है, यह सामर्थ्य मुझे दो।

भूतपतिर्निर्जतु, इन्द्रश्चेतः सदान्वाः।

गृहस्य वुष्ण आसीनास्ता इन्द्रो वधेणाधि तिष्ठतु।

अ. २।१४४

भूतपति राजा राक्षसी वृत्तियोंको यहाँसे दूर करे।
घरकी जड़में जो बुराहणों हैं उनको इन्द्र वज्रसे दूर हटा
देवे।

विपूच्ये तु कृन्तवी पिनाकमिव विभ्रतीः।

विष्यक् पुनर्भुवा मनः। अ. १।२७।२

घनुष्य धारण करती हुई, काटती हुई वीरसेना चले जो
शत्रुसेनाका मनः विचलित करे।

आरे अस्मा यमस्यथ। अ. १।२६।१

किसीने मारा पथर हमसे दूर हो।

अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिद्रासति।

अ. १।२।१२

जो हमें दास करना चाहता है उसको हीन अंधकारमें
पहुँचा दो।

अपेन्द्र द्विपतो मनोऽप जिज्यासतो वधम्।

अ. १।२।१४

हे प्रभो ! हे वीर ! द्वेषीका मन बदल दे और हमारे
नाश करनेवालेके शस्त्रको दूर कर।

इदं विष्कंधं सहते इदं वाघने अत्रिणः।

अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः ॥

अ. १।१।६३

यह सीसा टुकड़ा पराभव करता है, यह शत्रुको बाधा
करता है, पिशाचोंकी सब जातियाँ इससे पराभूत होती
हैं। (सीसा-सीसेकी गोली शत्रुका नाश करती है।

आराच्छरव्याऽस्मद्विपूर्वोरिन्द्र पातय।

अ. १।१९।१

हे इन्द्र ! चारों ओर फैलनेवाले बाण हमसे दूर जाकर
गिरे।

यो नः स्वो यो अरणः सजान उत निष्ठयो यो

अस्मानमिद्रासति।

रुद्रः शरव्यपैतान् ममामित्रान् विविध्यतु।

अ. १।१९।३

जो अपना, जो परकीय, जो सजाना, अथवा जो हीन
जातीका हमको दास करना चाहता है, हमें दुःख देता है,
ऐसे भेरे शत्रुओंको रुद्र अपने बाणोंसे बीधे।

मा नो विद्दभिमा, मो अशस्तिः। अ. १।२०।१
पराभव हमारे पास न आवे, अपराधना हमारे समीप
न आवे।

इतश्च यदमुतश्च यद्वधं वरुण यायय।

अ. १।२०।३

हे वरुण ! यहाँसे और वहाँसे जो शस्त्र हैं उनको
दूर कर।

सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत्तदंग यातु-चातनम्।

अ. १।१६।२

'सीसेकी गोली मुझे इन्द्रने दी, वह यातना देनेवाले
टुकड़ोंको दूर कराती है।

त्रिलपन्तु यातुघाना अत्रिणो ये किर्मादिनः।

अ. १।१।३

जो यातना देनेवाले, सर्व भक्षक, घातक हैं वे त्रिलाप
करें। (दूसरोंको यातना देना, सब कुछ खा जाना, और
सदा क्या खाकें ऐसा बोलना त्रिलाप करानेवाला है।

स्वमग्ने यातुघानानुपयद्वा इहावह। अ. १।१।७

हे अग्ने ! तू यातना देनेवालोंको बाँधकर यहाँ ला।
यातुघानस्य प्रजां जहि नयस्व च। अ. १।१।३
यातना देनेवाले शत्रुको प्रजाका पराभव कर और उसको
ले चक।

पवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग्भिन्धि सहस्व च।

अ. ३।६।६

इस तरह मेरे शत्रुके सिर तोड़ दो और उसको जीत लो।
म इन्तु शत्रून् मामकान् यानहं द्वेषि म ये च माम्।

अ. ३।६।१; ३।५

वह मेरे शत्रुओंका नाश करे, जिनका मैं द्वेष करता हूँ
और जो मेरा द्वेष करते हैं।

अमित्रसेनां मधवन्नस्माच्छत्रुयतीमभि।

युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नाशिश्व दहतं प्रति ॥

अ. ३।१।३

हे इन्द्र ! शत्रुवत् माघण करनेवाली शत्रुसेनाको इन्द्र
और अग्नि तुम दोनों मिलकर जला दो।

इन्द्रः सेनां मोहयतु, मरुतो प्रग्वोजसा ।
 चक्षुष्यभिरा दक्षां पुनरेतु पराजिता । अ. ३।१।६
 इन्द्र (सेनापति) शत्रुसेनाको मोहित करें। मरुत
 (सैनिक) वेगसे हमला करें। अग्नि उनकी नाँवें लें।
 इस तरह पराभूत होकर शत्रुसेना पीछे हटे।
 विष्वक् सत्यं कृणुहि चित्तमेवाम् । अ. ३।१।४
 सत्य रोतिसे इन शत्रुओंका चित्त चारों ओरसे व्यग्र करी।
 गजेपे सर्वानाजीन् यः । अ. २।१।६
 सब युद्धोंमें मैंने विजय प्राप्त किया है।
 अह्ना अराति, अविद्वा स्योनं, अप्यभूः भद्रे
 सुकृतस्य लोके ॥ अ. २।१।०
 कृपणताको तुमने छोड़ा है। सुखको प्राप्त किया है,
 कल्याणकारी पुण्यलोकमें तू आया है।
 अरातीनां मा तारोन्मा नस्तारिपुरभिमातयः ।
 अ. २।०।४
 अनुदार शत्रु हमारे भागे न बने। जो दुष्ट हैं वे भागे
 न बनें।
 अक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हादः पृथीरपि शृणीमसि ।
 अ. २।०।५
 दुष्ट मनुष्यके भाव और पीठ हम तोड़ देते हैं।
 मा ते रिपन्नुपस त्तरः । अ. २।६।२
 मेरे अनुयायी विनष्ट न हों।
 देधेर्दत्तेन मणिना अक्रिडन मयोभुवा ।
 विष्कंधं सर्धा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ।
 अ. २।४।४
 देवीने दिये, सुखदायक अंगिष्ठ मणिले, नोपक रोगका
 तथा सब रोगहृमियोंको हम दबा सकते हैं।
 प्र वहा, याहि शूर हरिभ्याम् । अ. २।५।१
 भागे बढ, दो घोड़ोंको जोतकर चलो।
 इन्द्रस्तुरापापिमत्रो वृषं यो जघान यतीनें ।
 अ. २।५।३
 यत्न करनेवालोंके समान, एवरासे हमला करनेवाला
 इन्द्र घोरनेवाले शत्रुको मारता रहा।
 प्रतिदह यातुधानान् प्रति देव किमीदिनः ।
 सं दह यातुधान्यः । अ. १।२।२
 यातना देनेवालोंको जला दो। सदा भूखोंको जला दो।
 पातना देनेवाली छिपोंको भी जला दो।

अभीचतां अभिभयः सपतनक्षयणो मणिः ।
 राष्ट्रायमहां बंधयतां सपत्नेभ्यः पराभुये ॥
 अ. १।२९।४
 अभीचर्तमणि शत्रुका पराभव करनेवाला और दुष्टोंको
 दूर करनेवाला है, राष्ट्रहितके लिये तथा शत्रुओंको पराभूत
 करनेके लिये वह मणि मेरे शरीरपर बांधे।
 मेमं प्रापत्पौरुषेयो वधो यः । अ. १।३०।१
 जो मनुष्यनाशक शस्त्र है वह इसके पास न आवे।
 (मर्षात् यद् न मरे)
 असमृद्धा अघायव । अ. १।२०।२
 पापी लोग समृद्ध न हों।
 अरिरेसावसादस्तु हेतिः । अ. १।२६।१
 शत्रु हमसे दूर रहे।
 मा नो विदन् विव्याधिनो मो अभिव्याधिनो
 विदन् । अ. १।१९।१
 विशेष वेधनेवाले शत्रु हमें न प्राप्त करें। चारों ओरसे
 वेधनेवाले शत्रु हमारे पास न आवे।
 यो अथ सेन्यो वधोऽघायूनामुदीरते ।
 युधं तं मित्राचरणा असाघायवतं परि ॥
 अ. १।२०।२
 जो मात्र सेनाके दूर पुरुषोंका वध पापी शत्रुओंसे हो
 रहा है, वे मित्र बरुण। तुम उनकी हमसे दूर कर।
 विन इन्द्र मृघो जीहि, नीचा यच्छ पृतन्वतः ।
 अ. १।२।१२
 हे शत्रुनाशक वीर ! हमारे शत्रुओंको मार, सैन्य हम-
 पर अज्ञानेवालोंको हीन स्थितिमें पहुँचाओ।
 वि मनुमिन्द्र वृश्रहन् अमित्रस्यामिदासतः ।
 अ. १।२।१३
 हे शत्रुनाशक वीर ! हमारे घात करनेवाले शत्रुके दासा-
 हका नाश कर।
 वरियो वावया वधम् । अ. १।२।१४
 शत्रुके शत्रुको हमारेसे दूर कर।
 देवीमनुष्येवयो ममामित्रान् वि विधयत ।
 अ. १।१९।२
 मनुष्योंसे कैंके गये दिव्य बाल, मेरे शत्रुओंको बाँधे।

यातुधानान् वि लापय । अ. १।७।६

यातना देनेवालोंको श्लाघो ।

नीचे: पद्यन्तामधरे भयन्तु ये नः सूरिं मघवानं
पृतन्यान् । अ. ३।१९।३

जो शत्रु हमारे धनवान् और विद्वान् पर सैन्य भेजते हैं
वे नीचे गिरे और भवन्त हों

एवामहमायुधा संस्याम्येषां राप्रूं सुवीरं वर्धयामि
अ. ३।१९।५

इनके आयुध मैं तीक्ष्ण करता हूँ तथा इनका राष्ट्र उत्तम
वीरोंसे युक्त करके उन्नत करता हूँ ।

पृथग्योषा उलूलयः केतुमन्त उदीरताम् ।

अ. ३।१९।६

झंडे लेकर हमला करनेवाले वीरोंके घोष पृथक्-पृथक्
ऊपर उठें ।

अवसृष्टा परा पत शरद्वये ब्रह्मसंशिते ।

जयामित्रान् प्र प्रधस्व, जह्योषां वरं वरं,

मामीषां मोचि कश्चन । अ. ३।१९।८

हे ज्ञानसे तेजस्वी बने शत्रु । तू छोडा जानेपर दूर जा,
शत्रुओंको जीत लो, भागे बढ, शत्रुके वीरोंमेंसे श्रेष्ठ-श्रेष्ठ
वीरोंको मार डाल, इनमेंसे किसीको न छोड ।

असौ या सेना मरतः परेपामस्मानित्यभ्यांजसा

स्पर्धमाना । तां विध्यत तमसापव्रतेन यथै-

यामन्यो अभ्यं न जानात् । अ. ३।२।६

हे मरुओ ! वह जो शत्रुकी सेना वेगसे स्पर्धा करती
हुई हमारे ऊपर आरही है, उसको अपव्रत तमसाअसे
बांधो जिससे बनमेंसे एक दूसरेको न जान सके ।

उग्रस्य मन्योरुदिर्मं नयामि । अ. १।१०।१

उग्र क्रोधसे इसके ऊपर मैं लेजाता हूँ ।

सपत्ना अस्मदधरे भयन्तु । अ. १।१२।४

शत्रु हमसे नीचे रहें । शत्रुका अधःपात हो ।

जहि एषां शततर्हम् । अ. १।८।४

इन दुष्टोंका सैकड़ों कष्ट देनेका साधन दूर कर, शत्रुको
पगलित कर ।

एवामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृक्षतु ।

अ. १।७।७

इन्द्र वज्रसे इन दुष्टोंके मिर काट दे ।

प्रवीतु सर्षो यातुमानयमस्मित्येत्य । अ. १।७।४

' सब यातना देनेवाले आकर बोलेंकी हम यहाँ हैं । '

दस्योः हन्ता यभूविथ । अ. १।७।१

तू दस्युका विनाशक है । (दस्युका विनाश करना
योग्य है)

वि रक्षो विमृधो जाहि विवृषस्य हनू रुच ।

अ. १।२।१३

राक्षसो, शत्रुओंको पराभूत कर । घेरनेवाले शत्रुके
जयहे तोड ।

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विपन् छपाति नः ।

देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्मवर्मं ममान्तरम् ।

अ. १।१९।९

जो सपत्न और जो असपत्न हैं, पर जो शाप देकर हमें
द्वेष करके कष्ट पहुंचाता है, सब देव उसका नाश करें।
मेरा आन्तरिक कवच ब्रह्मज्ञान है ।

ज्ञानरूप कवच जो पहनता है, उसका उत्तम रक्षण
होता है ।

मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या । अ. १।२०।१

जो द्वेष करनेवाले कुटिल हैं वे हमारे पास न आवें ।

विष्वक्त्रो अस्त् छरवः पतन्तु ये अस्ता ये

चास्याः । अ. १।१९।२

जो फेंके गये हैं, और जो फेंके जानेवाले हैं वे बाण
चारों ओर हमसे दूर जाकर गिरें ।

यत् आत्मनि तन्वां घोरमस्ति ।

यद्वा केदोषु प्रतिचक्षणे वा ।

तत्सर्वं वाचाप हन्मो वयं । अ. १।१८।३

जो इसके शरीरमें, बुद्धिमें, केशोंमें, देखनेमें सुरा है,
उस सबको हम वाणीकी प्रेरणासे दूर करते हैं । (वाणीसे
मूचना देकर उस दोषको दूर करते हैं ।)

दृढज्ञप द्वयाविनः यातुधानान् किमीदिनः ।

अ. १।२८।१

दुसुखों, यातना देनेवालों और अब क्या खाऊं ऐसे
बोलनेवाले दुष्टोंकी धमि जला देता है ।

प्रेतं — भागे बढो ।

प्रस्फुरतं — फुरती करो ।

पृणतः गृहान् वदतं — संतोष देनेवालोंके घर जाओ ।

अ. १।२७।४

अभिवृष्य सपत्नान् अभि यो नो अरातयः ।

अभि पृतन्यन्तं तिष्ठामि यो नो दुरस्यति ॥

अ. १।२९।२

शत्रुओंको पराभूत करदे, हमारे अंदर जो कंजूस हैं उनको दूर करके, सेनासे जो चढाई करता है और जो हमसे दुष्टताका व्यवहार करता है, उन सबको पराभूत करो ।

विश्वामि ह्यग्ने दुरिता तर । अ. २।६।५

सर्व पापवृत्तियोंको, पापियोंको दूर कर ।

स्वयुग्मिर्मत्स्वेह महे रणाय । अ. २।५।४

अपनी योजनाओंसे तू यहाँ जानपिदित होकर रह और बड़े युद्धके लिये तैयार रह ।

ससहे शशून् । अ. २।५।३

शत्रुका पराभव करता हूँ ।

प्रति तमभि चर योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विषमः ।

अ. २।१।१३

उसपर चढाई कर जो अवेला हम सबका द्वेष करता है । और जिसका हम सब द्वेष करते हैं ।

वृध्वामि तं कुलिशेन वृक्षं यो अस्माकं मन

इदं हिनस्ति । अ. २।१।२३

जो हमारे इस मनको विगाड़ता है, उसके कुठारसे वृक्ष काटनेके समान काटता हूँ ।

सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद् भव । अ. २।६।३

हे अग्ने ! सापरनोंका विनाशक हो तथा वैरियोंको जीतने-वाला हो ।

अग्नेर्घातस्य ध्राज्या तान् विपूचो वि नाशाय ।

अ. २।१।५

अग्नि और वायुके वेगसे जैसा नाश होता है वैसा नाश शत्रुओंका चारों ओरसे करो ।

जहि प्रतीचो अनूचः पराचः । अ. २।१।४

संगुल रहे, पीछेसे जानेवाले और भागनेवाले शत्रुको विनष्ट करो ।

अग्निमृणन् वसवो नाधिता हमे, अग्निर्होपां

दूतः प्रत्येतु विद्वान् । अ. २।१।२

ये बलवान् बसनेवाले वीर काटते रहे हैं, इनका विद्वान् अग्नि समान तेजस्वी दूत चढाई करता हुआ आगे बड़े ।

अग्निर्मः शशून् प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदृशभिदा-

स्तिमरातिम् । अ. २।१।१

विद्वान् तेजस्वी वीर घातघात करनेवाले शत्रुको अठाठा हुआ हमारे शत्रुओंपर हमला करे ।

इन सुक्तियोंमें विशेष महत्त्व रखनेवाली ये हैं—

स्वे गये जागृहि— अपने घरमें जाग्रत रह । अपने राट्टमें जाग्रत रह ।

उग्रा वः सन्तु वाहवः— भारके बाहु ठम हों ।

प्रेत— शत्रुपर हमला कर ।

जयत— विजयी हो ।

नश्येतः सदाश्वः— दानवोंका यहाँ नाश हो ।

समहमेपां राष्ट्रे स्यामि— इनका राष्ट्र मैं तेजस्वी बनाता हूँ ।

वृध्वामि शशूणां वाहून्— शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूँ ।

उद्धर्पन्तान् वाजिनानि— इनके बल हसेजित हों ।

तीक्ष्णेपयोऽयलघन्यनो हत— तुम्हारे तीक्ष्ण बाणोंसे निबंल शस्त्रवाले शत्रुको मारो ।

एवा तान् सर्वान् निर्भंगिघ्न— इस तरह उन सब शत्रुओंका नाश कर ।

सेनां मोहयामित्राणां— शत्रुकी सेनाको मोहित कर ।

तान् विपूचो विनाशाय— शत्रुको चारों ओरसे विनष्ट कर ।

स चिच्छानि मोहयतु परेषां— वह शत्रुओंके चित्त मोहित करे ।

स सेनां मोहयतु परेषां— वह शत्रुकी सेनाको मोहित करे ।

अभि प्रेहि, निर्दह— आगे बढ़, शत्रुको जला दो ।

अभि प्रेत, मृणत, सहध्वं— हमला करो, काटो और जीतओ ।

भूतपतिर्निरजतु— भूतोंका पति दुर्वृत्तियोंको दूर करे ।

विपूच्येतु कृन्तती— काटती हुई सेना आगे बढ़े ।

अरि अदमा— परधर हमसे दूर रहे ।

अपेन्द्र द्विपतो मनः— दे इन्द्र ! शत्रुका मन बदल दे ।

मा नो विद्वभिभा— पराभव हमारे पास न आवे ।

विलपन्तु यातुघानाः— यातना देनेवाले शत्रु रोते रहें ।

यातुघानस्य प्रजां जहि— यातना देनेवाली प्रजाका पराजय कर ।

स हन्तु शत्रून् मामकान्— वह मेरे शत्रुओंका वध करे ।

अजैपं सर्वानाजीन्— सब युद्धोंमें मैं विजय प्राप्त करता हूँ ।

अहा अराति— कृपणताके छोड़ो ।

अधिदः स्योनं— सुखमार्गको तानो ।

अभूः भेद्रे सुकृतस्य लोके— कहवानकारी पुण्य लोकमें रहे ।

अरातीर्नो मा तारीत्— कंज्य हमारे पास न बड़ें ।

मा नस्तारिपुरभिमातयः— शत्रु हमारे भागे न बड़ें । प्र वह— भागे बड़ ।

याहि शूर— हे वीर ! भागे बड़ ।

प्रतिदह यातुधानान्— यातना देनेवालोंको जला दो । मेमं प्रापत्पौरुषेयो यद्यो यः— मनुष्यनाशक शस्त्र मेरे ऊपर न पड़े ।

असमृद्धा आघायवः— पापी समृद्ध न हों ।

मा नो विदन् विद्याधिनः— वेध करनेवाले शत्रु हमें न जानें ।

मो अभिव्याधिना विदन्— चारों ओरसे आक्रमण करनेवाले शत्रु हमें न जानें ।

वि न इन्द्र मृषो जहि— हे इन्द्र ! हमारे शत्रुओंको मार ।

नीचा यच्छ पृतन्यतः— सैन्यसे हमला करनेवालोंको हीन अवस्थामें पहुँचा दो ।

घरीयो यावया यधम्— शस्त्र हमसे दूर रख ।

इषवो नमामित्रान् वि विध्यत— बाण में शत्रुओंकी वधि ।

यातुधानान् विलापय— यातना देनेवालोंको रुलाओ । एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि— इनके राष्ट्रको वीर बनाकर बढाता हूँ ।

जयामिप्रान्— शत्रुपर विजय प्राप्त कर ।

जद्येषां वरं वरं— शत्रुवीरोंके प्रमुखोंको मार ।

मामीषां मोचि कञ्चन— शत्रुओंमेंसे किसीको न छोड़ ।

विध्यत तमसापत्रतेन— शत्रुको जपवत तमसास्रसे वीधो ।

सपाना असदघरे भयन्तु— शत्रु हमसे नीचे रहें ।

वस्योर्हन्ता वभूविद्य— शत्रुका विनाशक बन ।

वि रक्षो विमृषो जहि— राक्षसों और हिंसकोंका परामव कर ।

मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या— कुटील और पापी मुझे न जानें ।

दहप्रप द्वयाधिनः— दुमुखोंके मैं जलाता हूँ ।

प्रेतं— हमला करो ।

प्रस्फुरतं— फुरती बढाओ ।

पुणतः शृद्धान् चहृतं— संतोष देनेवालोंके घरोंके पास जाओ ।

अभि पृतन्यन्तं तिष्ठ— सेनासे हमला करनेवाले शत्रुका परामव कर ।

विभवा दुरिता तर— सब पापोंको तर जा ।

मत्स्वेह महे रणाय— बड़े युद्धके लिये जानन्दसे तैयार रह ।

ससहे शत्रून्— शत्रुका परामव करता हूँ ।

अभिमातिजिद्भव— शत्रुका परामव करनेवाला हो ।

शत्रून् प्रत्येतु विद्वान्— विद्वान् शत्रुपर चढाई करे ।

इस तरह इन सूक्तियोंमें अनेक वाक्य भजनमें बोलने योग्य हैं । इस तरहके वचन तब बोलने होते हैं जब शत्रुके विषय अपने लोगोंको, अपने वीरोंको शठाना या तैयार करना होता है । ईश्वर भक्तिके वेदवचन उपासनाके समय बोलने होते हैं और ये वीरता बढानेवाले वचन वीरता बढानेके समय उच्चार करने होते हैं । विवेकी पाठक इसकी अच्छी तरह समझ सकेंगे ।

शत्रुपराजय करनेके लिये अपने राष्ट्रकी तैयार रखनेके समय ये वचन बड़े उपयोगी हैं । राष्ट्रकी संजीवित करनेके लिये राष्ट्रमें एकता प्रस्थापित करनेकी आवश्यकता होती है । वह एकताका विषय अब देखिये—

एकता

एकता बढानेका उपदेश वेद इस तरह करता है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।

अ. ३।३०।१

सहृदयता और टलम मनवाला होना और विद्वेष न करना ये तुम्हारे अन्दर हों ऐसा मैं करता हूँ ।

अन्यो अन्यमभिद्वयंत वार्षं जातमिवाध्या ।

अ. ३।३०।१

एक दूसरे पर देहा प्रेम करो जैसा नवजात बच्चेपर गो प्रेम करती है ।

अनुमत्तः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।

अ. ३।३०।२

बिठाके अनुकूलप्रवृत्त ध्याण करनेवाला पुत्र हो और वह मातासे समान मनवाला हो ।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ।

अ. ३।३०।३

की पतिके साथ मधुर और शान्त भावण करो ।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।

अ. ३।३०।४

माई माईसे द्वेष न करो, बहन बहनसे द्वेष न करो ।

सम्यञ्चः समता भूत्वा वाचं वदतु भद्रया

अ. ३।३०।५

मिठजुलकर एक प्रवृत्तपण करनेवाले होकर बक्ष्याण करनेवाला भाषण करो ।

ज्यायस्वन्तश्चित्तो मा चि यौष्ठ संराघयन्तः

सपुराश्चरन्तः । अन्यो अन्यस्यै वरुण वदन्त

पत सध्रीचीनान्वः संमनसस्त्वणोमि ॥

अ. ३।३०।६

बृद्धोंका समान करनेवाले, और उत्तम विचार करनेवाले बनो, विद्वितक दान करनेवाले, एक धुराके नीचे चलनेवाले होकर आपसमें विरोध न करो, परस्पर प्रेम पूर्वक भाषण करनेवाले और उत्तम विचार करनेवाला होकर रहो ।

समानो प्रया सह वो अन्नभागः समाने योष्वे

सह वो युनेग्मि । अ. ३।३०।७

पानी पीनेका भाषका स्थान एक हो, भाषका अन्नभाग एक हो, एक जोतेके अन्दर साथ-साथ भाषके जोतवा हूँ ।

सम्यञ्चो वदति सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ।

अ. ३।३०।८

सब मिठका अभिप्रे की पूजा करी और चकड़ी नाभिके चारों ओर जैसे जाँ होते हैं वैसे तुम परस्पर जुड़कर रहो ।

सध्रीचीनाचः संमनसस्त्वणोन्पेक दनुष्टीन्सं-
चननेन सर्वान् । अ. ३।३०।९

परस्पर प्रेम भावका बर्ताव करनेवाले, साथ साथ दुःख-पाप करनेवाले, उत्तम मनवाले और एक नेताकी आज्ञामें कार्य करनेवाले मैं तुमको बनावा हूँ ।

देवा इवामृतं रक्षमाणाः सार्यं प्रातः सौमनसो
वो अस्तु । अ. ३।३०।१०

अमृतका रक्षण करनेवाले देव जैसे प्रेमसे रहते हैं वैसे परस्पर प्रेम जायके व्यवहारमें सबेरे और शामकी होके ।

सं वो मनांसि सं प्रता समाकृतीर्नमानसि ।

अ. ३।३०।११

तुम्हारे मनोकी एक करो, तुम्हारे मत एक हों, तुम्हारे संकल्पोंकी एक भावसे पुष्ट करा हूँ ।

मम मतेषु हृदयानि चः कृणोमि

मम पातमनुवर्तमान एत । अ. ३।३०।१२

मेरे मतोंमें तुम्हारे हृदय संलग्न हों ऐसा मैं करता हूँ ।

मेरे पात-चलनेके अनुकूल तुम होकर चलो ।

अन्दार-सूद भवतु । अ. ३।३०।१३

आपसमें घूट उत्पन्न करनेवाला कोई न हो ।

अहं गुणामि मनसा मनांसि

मम चित्तमनु चित्तेभिरेत । अ. ३।३०।१४

मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोकी लेता हूँ । मेरे चित्तके साथ अपने चित्तोंको चलाओ ।

यथा नः सर्वे इज्जनः संगत्यां सुमना अस्तु

दानकामश्च नो भुवत् ॥ अ. ३।३०।१५

हमारे संघर्ष लोग संगतिमें उत्तम मनवाले हों और दान देनेकी भी इच्छा करें ।

सं चेन्नयाथो अश्विना, कामिना सं च वसुधः ।

सं वां भगासो अगमत, सं चित्तानि, समुप्रता ॥

अ. ३।३०।१६

हे परस्पर कामना करनेवाले अश्विदेवो ! मिठकर चलो, मिठकर चलो, ऐश्वर्यको मिठकर प्राप्त करो, तुम्हारे चित्त एक हो, तुम्हारे मत एक हों ।

दिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिर्पाष्टाः

सुवर्चाः । सवासिनो पिबतां मन्थमेतं अश्विनी

रूपं पतिघाय मायाम् ॥ अ. ३।३०।१७

कहवाणकारिणी त्रिधात्रो द्वारा ठेरे हृदयको गूढ करता हूँ । नोरोग और तेजस्वी होकर आनन्दमें रहो । साय रक्षक आशिनोके स्पर्शकर्मकी कुशलताको प्राप्त होकर इष्ट रसको पीयो ।

इस रीतिसे सबकी एकता करनेका उपदेश वेद्व करता है । घरकी तथा परिवारकी एकता करनेके लिये प्रथम क्या है—

मा ध्याता ध्यातरं द्विधम्— माई-माईसे द्वेष न करे । यह आदेश यदि माई-माई मनमें रखते, तो कौरव पांडवोंकी एकता होती और आपसका कलह न होता और १८ अश्वीहिनी सेनाका नाश न होता । और मापे द्वेष ह्यत्र तेजसे हीन न होता ।

सम्यञ्चो अग्नि सपर्यत

आरा नामिमिवाग्निः । अ. ११२०११

जैसे बरुके आरे नामिके चारों ओर रहते हैं, उस तरह बीचमें अग्नि रहे और चारों ओर बैठकर इवन करो यह सामुदायिक उपासना कही है जो एकता बढ़ानेवाली थी । सामुदायिक संध्या, सामुदायिक इवन होनेसे समुदायकी एकता होती थी । इस स्थानपर आज वैवहिक संध्या हो गयी है जो एक दूसरेको पृथक् करती है ।

अननेमें 'अदारस्तु भवतु' आपसकी फूट बढ़ाने-वाला कोई न रहे । परन्तु आपसकी एकता सब बचाव और सब सुसंगठित हो । इस कारण कहा है—

अहं शृण्वामि मनसा मनोसि । अ. ११८११

मैं अनने मनसे मुझसे मनोको एकत्रित करके लेता हूँ अर्थात् मैं अपना मन ऐसा बनाता हूँ कि जो सबके मनोको आकर्षित करे और सबके विचार एक प्रकारके बनाने और सबको संगठित करे । इस रीतिसे राष्ट्रके सब लोगोंको संगठित किया जाय और राष्ट्रका बल बढ़ाया जाय ।

इस तरह संघटनाके सूत्रक ये मंत्र हैं । पाठक इनका विचार करें और आनन्दमें सुसंघठीत होकर अनने राष्ट्रका बल बढ़ावे इससे राष्ट्रका अम्युदय होगा ।

अम्युदय

इमा याः पञ्च भद्रिचो मानवीः पञ्च कृष्टयः ।

वृष्ट शपं नदीरिवेह स्फाति समावद्धम् ॥

अ. १२४३

जो ये पांच दिशाओंमें रहनेवाली मानवीकी पांच आवियां हैं, वे समुद्रिको प्राप्त हों, तिस तरह वृष्टिसे नदी बहती है ।

जैसी वृष्टि होनेसे नदी बहती है उस तरह सब प्रजा-जनोका अम्युदय हो । मनुष्योंकी सब प्रकारकी ऐहिक तथा पारमार्थिक उन्नति हो, सब राष्ट्र एकतासे अपना अम्युदय करने लगेंगा तो ही राष्ट्रकी उन्नति हो सकती है । एकता मूलक सब उन्नति है ।

राष्ट्रकी एकता होनेके लिये राष्ट्रमें यश भावना होनी चाहिये । सजनोंका सत्कार, राष्ट्रकी एकता अर्थात् संघटना करना और दानका भाव ये गुण यशमें हैं । इन गुणोंसे राष्ट्रका उत्कर्ष होता है ।

यज्ञ

यज्ञ यज्ञं च घर्षय । अ. १२०१५

ज्ञान और प्रयत्नकर्मकें बढाओ ।

इमें यज्ञं दिततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमन-मस्यमानाः ॥ अ. २१५१५

विश्वके रक्षिताने यह यज्ञ कैठाया है । उत्तम मनसे सब देव इस यज्ञमें आने ।

उवादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् । अ. १२०१८

दान न देनेवालेको जानबूझकर दान देनेकी प्रेरणा कर ।

य ईशो पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् । निष्क्रीतः स यश्चिद्यं भागमेतु, रायस्पोषा यजमानं सचरताम् ॥ अ. २१३११

जो चतुष्पाद पशुओंका तथा द्विपादों-मनुष्योंका स्वामी है, वह यज्ञके मापको प्राप्त हो, उसकी उपासना हो, घन और पोषण यजमानको मिले ।

विद्वानोंका सत्कार करना चाहिये, आपसकी उत्तम संघटना होनी चाहिये और जो दीन होंगे उनकी दीनता दूर करनेके लिये दान देना चाहिये । दानमें विद्यादान, बरुका संवर्धन, घनका दान और कर्मशक्तिका उत्कर्ष यह चतुर्विध सहाय्य होना चाहिये । यह जहाँ होगा वहाँ यश होगा और इससे राष्ट्रका परम उत्कर्ष होगा ।

मधुरता

मधुरतासे एकता होती है । इस विश्वमें वेदमंत्रोंका स्पष्ट आदेश यह है—

मघोरसि मघुतरो मघुघान्मघुमत्तरः ।

अ. ११४४

मे मघसे भी अधिक भीडा हूँ, मघुर पदायंसे भी अधिक मघुर हूँ ।

घाचा धदासि मघुमद् भूयासं मघुसंघनाः ।

अ. ११४३

मे वागोसे भीडा माघम कर्हंगा और मे मघुरवाकी मुक्ति दूंगा ।

मघुमन्मे निष्क्रमणे मघुमन्मे परायणम् ।

अ. ११४३

मेरा जाना और जाना भीडा हो ।

जिहया अग्ने मघु मे जिहामूलै मधूलकम् ।

अ. ११४२

मेरी जिह्वाके मूलमें मघुरवा रहे और जिह्वाके अग्रभागमें भीडास रहे ।

ऐसी भीडास होनेसे राष्ट्रमें मेम बढ़ता है और मेमसे संगठना होती है । मिथता बढ़ती है । पराश्वर सहायता करनेकी हृष्या बढ़ती है । इससे सरका मिलकर कल्याण होता है ।

मित्रता

यः सुहार्ते तेन नः सहः । अ. २१०५

जो दत्तम हृदयवाला है उसके साथ हमारा मित्रता हो ।

सखासावस्त्रभ्यमस्तु रातिः । अ. ११२६१२

दात्ररूपी मित्र हमारे साथ रहे ।

मित्रेणाग्ने मित्रघ्ना यतस्व । अ. २१६१४

मित्रके साथ मित्रके समान व्यवहार कर ।

शिवे ते चावापृथिवी उभे स्तम् । अ. २१०११

मेरे द्विपे दो दोनों तु और पृथिवी लोग कल्याण करनेवाले हो ।

शामस्तद् यावय दिष्टुं । अथर्व ११२३

दिष्टुं शरं वस्तु यावय- शत्रुके तेजस्वी बाणकी

हमसे दूर कर (शत्रुका बाण हमपर न आवे ।)

वसोपते ! नि रमय । अथर्व १११२

हे बसुधेके स्वामिन् ! मुझे मानन्द युक्त कर ।

वयमङ्ग्यादेवपि व्यवामस्यघावोः परिपन्थिनः ।

अ. ११०११

वारी और दुष्टोंके भांख हम टक देते हैं ।

वारी और दुष्ट दूर हो और उत्तम हृदयसे सरकी एकता रहे और एकतासे बल बढ़े ।

बल

अश्मानं तन्वं कृधि । अथर्व ११२१२

शरीरको पदार जैसा सुदृढ कर ।

परादमानमा तिष्ठ, अश्मा भवतु ते तनूः ।

अ. २११३१४

भा, इस सिंढार चढ, तेरा शरीर पदार जैसा सुदृढ बने ।

याचस्पतिः तेषां तन्वः बला मे अथ दधातु ॥

अथर्व १११९

याचस्पति इनके शरीरके बलोंको मुझमें जाच धारण करे ; (विश्वमें जो पदार्थ हैं उनमें बल मुझे प्राप्त हो और मैं उनसे बलवान् बनकर इस विश्वमें विश्वसेबाधा कार्य करता रहूँ ।)

वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेषास्या कृधि ॥

अथर्व १११२

वीडुः वरीयः जरातीः द्वेषांसि अयाकृधि—
हमारे शरीर बलवान् और श्रेष्ठ बने । शत्रुको और द्वेष करनेवालोंको दूर कर ।

ओजोऽस्योजो मेदाः । सक्षोऽसि सहो मेदाः ।

बलमसि बलं मे दाः । ज्ञायुरसि ज्ञायुर्मे

दाः ! ध्रोश्रमसि श्रोत्रं मे दाः । चक्षुरसि

चक्षुर्मेदाः । परिपापनासि परिपापे मे दाः ।

अ. २१०११-०

सामर्थ्य, क्षत्रका पराभव करनेकी शक्ति, बल, ज्ञायु-
ज्ञान, श्रोत्र, संरक्षण यह तुम्हारा स्व है अतः तु मुझे ये
युग दे ।

अक्षत्योऽसि, प्रतिसरोऽसि, प्रत्यमिचरणोऽसि ।

अ. २१११२

तु (आत्मा) अविशोक्त है, तु आगे बढ़नेवाला है, तु
दुष्टताको दूर करनेवाला है ।

शुक्रोऽसि, आजोऽसि, स्वरसि, ज्योतिरसि ।

अ. २१११५

तु शुद्ध तथा शीघ्रवान् है । तु तेजस्वी है, तु आत्मा-
शक्ति है, तु ज्योति है ।

प्र च वर्धयेमम् । अ. २।१।२

इसको विशेष ऊंचा कर ।

सबका बल, तेज, ज्योति, वीर्य, बडे और सब छोग
देजस्वी बनें और सबका सामर्थ्य बडे ।

वीरता

प्रजां त्वष्टरधि निघेह्यस्मे । अ. २।२।१

हे त्वष्टा ! इसको सुप्रजा दे ।

आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ।

अ. ३।२।३।२

तेरे लिये दशवें मासमें जन्मनेवाला वीर पुत्र होवे ।

अथास्माकं सह वीरं रथिं दाः । अ. २।१।५

हमें वीरोंके साथ रहनेवाला धन दे ।

सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रथिणाम् ।

अ. ३।१।५

हम उत्तम प्रजावाले तथा उत्तम वीरोंसे युक्त होकर
धनके स्वामी बनें ।

तनूयानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया । अ. ३।५।८

तू सजातीय वीर मुझ वीरके साथ रहकर धरती रक्षक है ।

वृषेन्द्रः पुर पतु नः सोमपा अभयंकरः ।

अ. १।२।१।१

बलवान्, शान्ति करनेवाला, सोमरस पीनेवाला शत्रु-
नाशक वीर हमारा भगुवा बने ।

ज्ञान

घोरा क्रपयो, नमो अस्त्वभ्यश्चक्षुर्भ्यदेवां मन-

सश्च सत्यम् । अ. २।३।५।४

ऋषि बडे तेजस्वी हैं, उनको हमारा प्रणाम प्राप्त हो,
इनकी भाँस और मन सत्यस्वरूप रहते है ।

येन देवा न विप्रन्ति नो च विद्विषते मिथः ।

नःकृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥

अ. ३।३।०।४

जिससे ज्ञानी आपसमें झगडते नहीं और आपसमें द्वेष
भी नहीं करते, वह श्रेष्ठ ज्ञान आपके घरके पुरपोंके लिये मैं
करता हूँ ।

ब्रह्माणस्ते यदासः सन्तु, माग्ये । अ. २।१।२

ज्ञानी ही वेरे यशके भागी बनें, न दूसरे ।

मयि एव अस्तु मयि भुतम् । अथर्व० १।१।२;३

पढा हुआ, सुना हुआ ज्ञान मेरे अन्दर स्थिर रहे । (प्राप्त
किया ज्ञान भूलान जाय ।)

सं भ्रुतेन गमेमहि । मा भ्रुतेन विराधिपि ॥

अथर्व० १।१।४

हम सब ज्ञानसे युक्त हों। हम कभी ज्ञानसे वियुक्त
न हों ।

इमं वर्धयता गिरः । अ. १।१।५।२

वाणिषां इसका गुणवर्धन करें । गुणमान करें ।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि । अ. २।१।०।१

ज्ञानसे मैं तुझे निष्पाप करता हूँ ।

उपासान् वाचस्पतिर्द्वयताम् । अथर्व० १।१।४

ज्ञानी हमें मुलावे (और उपदेश करे, हमें मार्ग बतावे ।)

सूर्यं चक्षुषा मा पाहि । अ. २।१।६।३

हे सूर्य ! भाँससे मेरी सुरक्षा कर ।

विद्विदि, शक्र विद्या इदि आ नः । अ. २।५।४

उत्तम राजपद्यासन का, हे इन्द्र ! हमारे पास बुद्धिकी
योजनासे आओ ।

एहि देवेन मनसा सह । अथर्व १।१।२

दिश्य मनके साथ इधर (मेरे समीप) आ । (मनमें
दिश्य शक्ति है, उस दिश्य शक्तिसे प्रभावित हुए मनसे यहाँ
आओ । मनमें दिश्य शक्ति धारण करके, जहाँ जाना हो,
जाना चाहिये ।)

व्यापस्तृष्णयासरन् । अ. ३।३।१।३

जल तृपासे दूर रहता है ।

इमामग्ने शरणिं मोमृषो नः । अ. ३।१।५।४

हे अग्ने ! मेरी इस भूलकी क्षमा करो ।

तर्षूप तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं धौर-

मिसंतपाति । अ. २।१।२।६

ज्ञानका द्वेष करनेवाले उस दुष्टको सब कार्य ताप-
दायक हों । उस ज्ञानके द्वेषको आकाश संतप्त करे ।

सूर्यमृतं तमसां ब्राह्म्य अधिदेवा मुञ्चतो अमृ-

जिन्नरेणसः । अ. २।१।०।८

देवीने अंधकारकी पकडसे तथा पापसे मुक्त करके
सत्य स्वरूपी सूर्यको प्रकट किया है ।

प्रापेयं सर्वा आकृतीर्मनसा हृदयेन च ।

अ. ३।२०।९

मनसे और हृदयसे सब संस्कारोंको प्राप्त कर सऊँ ।

मह्य या यो निन्दित्यत् क्रियमाणम् ।

अ. २।१२।६

जो हमारा ज्ञानकी निंदा करता है । (वह संतापकी प्राप्त हो)

तेजस्विता

सह वर्चसोदिहि । अ. ३।१।१

तेजके साथ उदयकी प्राप्त हो ।

तेन मामग्य वर्चसाग्ने वर्चस्विनं कृणु ॥

अ. ३।२२।३

हे अग्ने ! उस तेजसे मुझे भाज उँजखी कर ।

देवास्तो विश्वघायसस्वते माजन्तु वर्चसा ।

अ. ३।२२।४

सबका धारण करनेवाले देव मुझे तेजसे तेजस्वी करें ।

देवा इमं उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु ।

अ. १।१।१

देव इस पुरपकी उत्तम प्रकाशमें धारण करें ।

ज्योक् च सूर्यो हृदो । अ. १।६।६

सूर्यकी मैं दीर्घकालक देखूँ । (मैं दीर्घायु बन्तूँ)

उत्तमं नाकर्मधि रोह्येमम् । अ. १।१२।४

इसको उत्तम स्वर्गमें चढानो, इसको उत्तम सुखमें रख ।

नमस्ते हेतये सपुत्रे च कृपमः । अ. १।१३।३

मेरे शत्रुके लिये तथा मेरे तेजके लिये प्रणाम करता हूँ ।

सं द्विष्येन दीदिहि रोचनेन, विश्वा आ भादि

प्रदिशाश्चतष्वाः । अ. २।६।१

द्विष्य तेजसे तेजस्वी हो और संपूर्ण चारों दिशानोंको प्रकाशित करो ।

आप्नुहि श्रेयांसं अति समं क्राम । अ. २।१।१

परम कल्याणकी प्राप्त करके अपने समान जो होति

उपसे भाग बढ, उषत हो ।

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु । अ. १।६।२

हे देवों ! इसके चारों ओर प्रकृता रहें ।

आ रुग्णां सर्वतो वायुः, त्वष्टा षोषं दधानु मे ॥

अ. ३।२०।१०

वायुवायु सब ओरसे मुझे घेरे और त्वष्टा मुझे षुषि देवे ।

इष्टापूर्तमयतु नः । अ. २।१२।४

इष्ट करने तथा पूर्ण कर्म हमारा रक्षा करें । (इष्टापूर्वक किया कर्म इष्ट और अपूर्णको पूर्ण करनेका कर्म पूर्ण है ।)

धन

त्वं नो देव दातवे रयि दानाय चोदय ।

अ. ३।२०।५

हे देव ! तू दान देनेवालेके लिये दानके अर्थ धनको प्रेरित करो ।

ये पन्थानो यहयो देवयाना भन्तरा घाया

पृथिवी संस्तरन्ति । ते मा जुपन्तां पयसा घृतेन

यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥ अ. ३।१।२

जो सजनोंके जाने जानेके बहुतेसे मार्ग थावा पृथिवीके बीचमें बढ रहे हैं, वे मुझे धी और दूधसे तृप्त करें । जिनसे बढकर ऋषिकय करके मैं धनको प्राप्त करूँ ।

यमध्वानमगाम दूरम् ।

धुनं नो भरतु प्रपयो विक्रयश्च प्रतिपणः

फलिनं मा कृणोतु । अ. ३।१।४

मैं दूर मार्गपर जाया हूँ । ऋषिकय हमें हितकारी हों । प्रत्येक व्यापार मुझे लाभदायी हो ।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छ-

मानः । तन्मे भूयो भयतु मा कर्नायो सातध्नो

देवान् हृषिया नियेध ॥ अ. ३।१।५

हे देवों ! जिन धनसे मैं व्यापार करता हूँ, वह धनसे धन कमानीकी इच्छा करके करता हूँ । वह धन हमारे कार्यके लिये पर्याप्त हो, कम न हो । लाभमें हानि करनेवाले जो हों उनका निषेध तू कर ।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमि-

च्छमानः । तस्मिन् इन्द्रो हृषिमा दधातु

प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥ अ. ३।१।६

हे देवों ! धनसे धन प्राप्तिकी इच्छा करके जिन धनसे मैं व्यवहार कर रहा हूँ, उनमें इन्द्र, प्रजापति, सविता, सोम, और अग्नि मेरी हृषि स्थिर रखे ।

रायस्पोषिण सविता मनुन्तो मा ते अग्ने मति-

वेशा रियाम ॥ अ. ३।१।८

धनकी प्रवृत्ति और बढसे मानवित होये हुए, मेरे तथा-सक हम, हे अग्ने ! कर्ना नष्ट न हो ।

इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन्तद्दक्ष-
माणो विगरद्विरण्यम् । अ. १।३।५।२

इन्द्रके समान हम इन्द्रियोंको धारण करते हैं जो दक्ष-
वासि सुवर्ण धारण करता है (उसमें उत्तम इन्द्रिय शक्ति
रहती है ।)

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः
प्रथमजं होतत् । अ. १।३।५।२

इस सुवर्णको राक्षस और पिशाच (सूक्ष्मरोग कृमि)
वहीं सह सकते । क्योंकि यह देवोंका पहिला सामर्थ्य है ।
तं जानन्नम आरोहाद्या नो वर्धया रयिम् ।

अ. ३।२०।१

हे अग्ने ! उस मार्गको ज्ञानकर ऊपर चड और हमारे
धन बडा दो ।

नुदन्नरार्ति परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा
अस्तु मष्टम् । अ. ३।१।५।१

मार्गपर दूटनेवाले, दूँडते रहनेवाले शत्रुको दूर करके, वह
ईश्वर मुझे धन देनेवाला होवे ।

भग प्रणो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः
स्याम । अ. ३।१।६।३

हे भग ! गोओं और अश्वोंके साथ हमारी संतान वृद्धि
कर । हम अश्वके मानवोंके साथ रहकर मानवोंसे युक्त हों ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुर-
एता भवेह । अ. ३।१।६।५

हे भगवान् प्रभो ! तुझको मैं सब प्रकारसे भजता हूँ ।
वह तू हमारा अगुवा हो ।

मयि पुष्यत यद्वसु । अ. ३।१।७।२

हे गौर्भो ! जो धन है उससे मेरे साथ तुम दृष्ट-पुष्ट
बनो ।

अथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः । अ. ३।१।२।५

हमें वीर पुत्रोंके साथ धन दो ।

रयिं देयी दधातु मे । अ. ३।२।०।३

देवी मुझे धन देवे ।

रयिं च नः सर्ववीरं नियच्छ । अ. ३।२।०।८

हमें सब प्रकारके वीर भावसे युक्त धन दो ।

इन्द्रमहं यणिजं चोदयामि स न पन्तु पुरएता
नो अस्तु । अ. ३।१।५।१

मैं वणिक्त इन्द्रको प्रेरित करता हूँ, वह हमारे पास भावे

और वह हमारा अगुवा बने । (इन्द्र-शत्रुका विदारण
करनेवाला)

याचर्तुरीं ब्रह्मणा यन्द्मान इमां धियं शतसे-
याय देयीम् । अ. ३।१।५।३

जिससे इस दिव्य बुद्धिका ज्ञान द्वारा सम्मान करता
हुना मैं सैकड़ों सिद्धियोंको प्राप्त करने योग्य होऊँ ।

शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च । अ. ३।१।५।४

हमारा चाटचलन और उत्थान हमें लाभदायी होवे ।

भग प्रणेतर्मग सत्यराघो भगेमां धियमुदवा-
दद्भः । अ. ३।१।६।३

हे भग, हे बडे नेता, सत्य सिद्धि देनेवाले प्रभो ! इस
बुद्धिको देकर हमारा रक्षण कर ।

भग एव भगवाँ अस्तु देवस्तेन ययं भगवन्तः
स्याम । अ. ३।१।६।५

माग्यवान् भगदेव मेरे साथ रहे, उसके साथ रहनेसे
हम माग्यवान् हों ।

भगस्य नाथमारोह, पूर्णामिनुपदस्वतीम् ।

तयोपप्रतारय, यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ अ. २।३।६।५

पूर्ण तथा अटूट ऐश्वर्यकी नौकापर चड, उस नौकासे
उसके पास जा जो वर तेरी कामनाके योग्य हो ।

परि मां, परि मे प्रजां परिणः याहि यद्धनम् ।

अ. २।०।४

मेरी रक्षा कर, मेरी प्रजाकी रक्षा कर, हमारे धनकी
रक्षा कर ।

उच्च तिष्ठ महते सौभगाय । अ. २।६।२

बडे सौभाग्यके लिये ऊँचा होकर रह ।

अस्मिन् तिष्ठतु या रयिः । अ. १।१।५।२

इसमें पर्याप्त धन रहे ।

धनका महत्व राष्ट्रकी उन्नतिमें तथा व्यक्तिकी उन्नतिमें
बहुत है । इसलिये वेदमें धनके विषयमें बहुत ही आदर
प्रकट किया है । धनके संबंधमें ये सब वचन ध्यानमें
धरने योग्य हैं परंतु उनमें ये वचन वारंवार मनन करने
योग्य हैं—

रयिं दानाय चोदय— धनको दानमें प्रेरित कर ।

दक्षमाणो विभरद्विरण्यम्— दक्ष सुवर्णका धारण
करता है ।

नो वर्धया रयि— हमारा धन बढ़ाओ ।

ईशानो धनदा अस्तु मद्ये— परमेश्वर मुझे धन देनेवाला हो ।

मयि पुष्यतु यद्वस्तु— जो धन है वह मेरे पास बढ़ता रहे ।

अस्मभ्यं सहवीरं रयि दा— हमें वीर पुत्रोंसहित धन दो ।

रयि देवी दधातु मे— देवी मुझे धन देवे ।

रयि च नः सर्ववीरं निपच्छ— धन और वीर पुत्र हमें दो ।

ययं भगवन्तः स्वाम— हम धनवान् हों ।

भगस्य नावमारोह— पेशपंढी नौका पर चढ़ ।

परि पाः पाहि यद्धनम्— हमारे धनका संरक्षण कर ।

उष तिष्ठ महते सौभाग्या— बड़े सौभाग्यके लिये उड़कर खड़ा रह ।

अस्मिन् तिष्ठतु या रयिः— इसके पास धन रहे ।

ऐसे वचन हैं जो मनमें रखने योग्य होते हैं । इनमेंसे कोई एक वचन मनमें १०१० वा विचारपूर्वक रखिये । ऐसा करनेसे धनका महत्व ध्यानमें आ जायगा और धन प्राप्त करनेसे कैसा सुख होगा, इसका भी पता लग जायगा ।

आरोग्य

तेना ते तन्वे शं करं, पृथिव्यां ते निषेचनं

यदिष्टे अस्तु शालिति । अथर्व १।३।१-५

इससे तेरे शरीरका बरूपण करता हूँ, पृथिवीपर तेरा मुकुट रचना हो । तेरे शरीरसे सब दोष दूर हों ।

अन्वांश्र्यं शीषिष्यमथो पाण्ड्यं कृमिन् ।

अवस्त्वथे व्यध्वरं क्रिमीन् चक्षसा जग्भयामसि ॥

अ. २।३।१४

कान्ठमें, सिरमें, पसलियोंमें रहनेवाले, रंगनेवाले, बुरे स्थानमें होनेवाले जो कृमि हैं, उनको मैं बचासे हटाया हूँ ।

ये क्रिमयः पर्वतेषु चनेषोपधौषु पशुष्वपस्वस्तः ।

ये अस्माकं तन्वमाविधिषुः सर्वे तदग्निं जनिम

क्रिमीणाम् ॥ अ. २।३।१५

जो रोगकृमि पर्वतों, वनों, ऊँचियों, पशुओं, जलोंमें तथा हमारे शरीरोंमें घुसे हैं, उन कृमियोंका अग्नि मैं नष्ट करता हूँ ।

उत्पन्नादित्यः कृमोन्मन्तु, निष्प्रोचन्मन्तु रदिमभिः ।

ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥ अ. २।३।१६

उदय होनेवाला सूर्य रोगकृमियोंका नाश करे, अन्त होनेवाला सूर्य किरणोंसे कृमियोंका नाश करे ओ कृमि भूमि पर हैं ।

दिश्वरूपं चतुरस्रं किमिं सारिगमजुंनम् ।

शृणाम्यस्य पृथोरपि वृक्षामि यच्छिष्टः ॥

अ. २।३।१७

अनेक कर्णोंवाले, चार भाँखवाले, रंगनेवाले, चतुरस्रवाले ऐसे अनेक प्रकारके कृमि होते हैं, उनके पीछे और सिर में होता हूँ ।

अत्रिचक्षुः क्रिमयो हग्निं कण्ववज्जमदग्निवत् ।

अगस्त्यस्य व्रह्मणा सं पिनभ्यहं कृमीन् ॥

अ. २।३।१८

अग्नि, कण्व, जमदग्निके समान मैं कृमियोंका नाश करता हूँ । अगस्त्यकी विद्यासे मैं कृमियोंको कुचटता हूँ ।

हतो राजा कृमीणां उतैषां स्थपतिर्हृतः ।

हतो दत्तमाता क्रिमिर्हृतभ्राता हतस्वसा ॥

अ. २।३।१९

कृमियोंका राजा मारा गया, इनका स्थानरति मारा गया है । कृमिकी माता, बहिन और माई मारा गया है ।

हतासो अस्य चेदसो हतासः परिवेदसः ।

अथो ये झुल्लका इव सर्वे ते कृमयो हताः ॥

अ. २।३।२०

हम कृमिके परिचारक मारे गये, इसके सेवक पीसे गये, जो झुल्लक कृमि हैं वे सब मारे गये हैं ।

प्र ते शृणामि द्रुह्ये याभ्यां वितुदायसे ।

भिनाङ्गि ते कुपुग्मं यस्ते विषयानः ॥ अ. २।३।२१

तेरे सौग काटता हूँ जिससे तू काटता है, तेरे विषयानको मैं तोड़ता हूँ जिसमें तेरा विष रहता है ।

पराच एनान् प्रणुद कण्वान् औचित्योपनान् ।

तमांसि यत्र गच्छन्ति तत्कण्वाद्दो अजीगनम् ॥

अ. २।३।२२

इन जीवनोंका नाश करनेवाले रोगक्रिमि दूर कर, जहाँ अंधेरा रहता है वहाँ इन मांसमय कृमियोंको पहुँचा देते हैं ।

तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि, प्र यक्ष्म पतु
निर्घृतिः परार्चः । अ. २।१०।५

तुमको घृदावस्यामे मे धारण करता हूँ । क्षय रोग तथा
अप्य सब कष्ट तुमसे दूर धले जाय ।

अग्नी रक्षोहामोवचातनः । अ. १।२८।१

अग्नि राक्षसोंका नाश करके रोगोंको दूर करनेवाला है ।

(रक्षः- रोगकृमि)

अनुसर्षमुदपतां हृद्योतो हरिमा च ते ।

गोरोहितस्य वर्णैः तेन त्वा परिदध्मसि ॥

अ. १।२२।१

तुम्हारा हृदयविच्छाद तथा कामिला या पीडापन सूर्यो-
दयके साथ आनेवाले लाल किरणोंके काल वर्णसे तुम्हें चारों
भोर घेर कर मैं दूर करता हूँ ।

किलासं च पलितं च निरितो नाशयिष्येत् ।

अ. १।२३।२

इस शरीरसे कुछ व सफेद धब्बे दूर कर ।

अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यरवचि ।

दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनोनशम् ।

अ. १।२३।४

दोषके कारण रवचापर उत्पन्न हुए, अस्थिसे तथा शरीरसे
उत्पन्न हुए, कुछका जो रवचापर चिन्त है उसको हम ज्ञानसे
विनष्ट करते हैं ।

शेरभक् शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हतिः

किमीदिनः । यस्य स्य तमत्त, यो वः प्राहै-

त्तमत्त, स्वा मांसान्यत्त ॥ अ. २।२४।१

हे वध करनेवाले शस्त्र ! तुम्हारे यातना देनेवाले शस्त्र,
तथा हे खाऊ लोगों ! नुम जिनके हो उसको खाओ, जिनके
तुम्हें भेजा है उनको खाओ, अपने ही मांस खाओ । (हम
सुरभित रहें ।)

गिरिमेनां आविश्य कणवान् जीवितयोपनान् ।

अ. २।२५।४

इन जीवितका नाश करनेवाले, पीडा देनेवाले कृमियोंको
पढ़ाएपर पहुँचाओ (ये रोगकृमि हमें कष्ट न दें ।)

क्षेत्रियात्वा निर्ऋत्या जामिंशंसाद् दुहो

सुञ्जामि वरुणस्य पाशात् । अ. २।१०।३

आनुवंशिक रोग, कष्ट, संबंधियोंसे कष्ट, दाह तथा
वरुणके पाशसे तुम्हें मैं छुड़ावाता हूँ ।

दृष्टमदृष्टमत्तहमथो कुरुकुरुमत्तहम । अलगण्डून्
रसर्वाञ्जलुनात्किमीन्यचसा जग्मयामसि ॥

अ. २।३।२

दीखनेवाले, न दीखनेवाले कृमियोंको मैं मारता हूँ ।
रंगनेवाले कृमियोंको मैं विनष्ट करता हूँ । बिखरे पर रहने-
वाले सब कृमियोंको वचासे मैं नष्ट करता हूँ ।

निःशालां धूपुं धिपणमेकवाद्यां जिघत्स्वम् ।

सर्वाश्चण्डस्य नन्द्यो नाशयामः सदान्वाः ॥

अ. २।१४।१

घरदार न होना, भयभीत होना, एकवचनी निश्चयामक
बुद्धिका नाश करना, क्रोधकी सब संताँ, दानववृत्तियों
आदिका हम नाश करते हैं ।

प्राह्जिंज्राह् ययेतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्त-
मेनम् । अ. ३।११।१

यदि जकटनेवाले रोगने हृषको पकट रखा हो, तो उस
पीडासे इन्द्र और अग्नि हृषको छुड़ावे ।

आ स्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय ।

अ. १।२३।२

तुम्हारे शरीरका निजवर्ण तुम्हें प्राप्त हो और श्वेत धब्बे
दूर हों ।

अमुक्या यक्ष्मात् दुरितादवचाद् द्रुहः पाशाद्
प्राहाश्चोदमुक्याः । अ. २।१०।६

क्षयरोग, पाप, निष्कर्म, द्रोहियोंके पात और जकटने-
वाले रोग आदिसे मैं तुम्हें छुड़ाता हूँ ।

दूप्या दूपिरसि, हेत्या हेतिरसि, मेन्या मेनिरसि ।

अ. २।११।१

दोषको दूर करनेवाला, हृषियारका हृषियार, वज्रका
वज्र तू (आमा) है ।

दशवृक्ष मुञ्चमेमं रक्षसो ग्राह्या अग्नि यैनं
जप्राह पर्यसु । अथो एनं यनस्यते जीवानां

लोकमुन्नय । अ. २।१९

हे दशवृक्ष ! इस राक्षसी गठियारोगसे हम रोगीको
दूर कर । जो रोग हृषको संबंधियोंमें पकट रखता है। हे
वनस्पति ! इसको जीवित लोगोंमें ऊपर उठा ।

नमः शीताय तक्मने नमो रूराय शोषिणे

रूपोमि । यो अन्येद्युःकभयदुरभ्येति तृतीय-
काय नमोऽस्तु तफमन ॥ अ. १।२।५४

बीजउबरके लिये नमस्कार, रूख उबरके लिये नमस्कार
जो एक दिन छोड़कर आता है, जो दो दिन आता है, जो
तीसरे दिन आता है उस उबरके लिये नमस्कार हो ।

अर्थात् यह उबर हमसे दूर हो ।

यद्विस्थ क्षेत्रियाणां यदि पुरुषेपिताः ।

यदि दस्युभ्यो जाता नद्यपेततः सदान्वाः ॥

अ. २।१।५५

यदि मानुषविक्र दोर हैं, यदि मनुष्यकी प्रेरणासे हुए
हैं, यदि दस्युओंमें हुए हैं वे सब दंप्र यहांसे हटें ।

आसुरी चक्रे प्रथमेद्दं किलासभेपजमिद्दं
किलासनाशनम् । अर्नैनशत् किलासं सरू-
पासकरत्वचम् ॥ अ. १।२।५६

मासुरीने पहिले यह कुटनाशक औषध बनाया । इससे
बुद्ध विनष्ट हुआ और तबचा समान रंगवाली बनी ।

आरोग्यके विषयमें रोगकृमिका नाश करना मुख्य है ।
स्वच्छता की जाय, शुद्ध वायु आता रहे, सूर्यप्रकाश
आजाय, हवन गौके घोड़ा होता रहे ये सब बातें आरोग्य-
संरक्षणके लिये अत्यावश्यक हैं ।

सूर्य रोगकृमिघोका नाशक मुख्यतया है । सूर्यप्रकाश
माकसफाई करनेवाला है इसलिये रहनेके घरमें सूर्यप्रकाश
विपुल आना चाहिये ।

अग्नी रक्षोहाऽऽमोवच्छातनः ।

अग्नि रोगकृमिघोका नाशक और रोग दूर करनेवाला है ।
इस रीतिसे इन मंत्रोंका विचार करना चाहिये ।

विजय

सपत्न-क्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विपासहिः ।

यथाहमेर्षा वीराणां विराजानि जनस्य च ॥

अ. १।२।५६

मैं मनुष्यका नाश करनेवाला, बलवान्, राष्ट्रहितकर्ता,
दुष्टोंकी दूर करनेवाला, इन वीरोंमें श्रेष्ठ होकर सब लोगोंका
माननीय बनूं ।

पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम् । अ. २।१।५७
पिता पुत्रोंकी रक्षा करता है उस तरह हमकी रक्षा करो ।
आशीर्ष, ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वयं, दक्षं घञं
द्रविणं सर्वतर्सां । जयं देशाणि सहस्राय-
भिन्द्रं रूपशानो अभ्यानघरान्मसपत्नान् ॥

अ. २।२।५८

हमें आशीर्वाद दो, हे संतुष्ट मनावालों ! बल, सुप्रजा,
दक्षता तथा धन हमें दो । यह अपने बलसे विविध क्षेत्रोंमें
जय प्राप्त करे और दूसरे शत्रुओंको नीचे करे ।

विध्वा रूपाणि विध्ननः त्रिपत्ताः परियन्ति ।

अथर्व १।१।१

सब रूपोंकी धारण करके, तीन गुणा सात (अर्थात्
इकीस) पदार्थ सर्वत्र चलते हैं । (ये इकीस पदार्थ विषयमें
दीखनेवाले पदार्थोंके रूप धारण करते हैं ।)

यः सहमानश्चरति सासदान इव क्रयमः ।

तेनाश्वत्थ त्वया ययं सपत्नान्मसहिपीमहि ।

अ. ३।६।४

जो बलवान् शत्रुको दानेवाला, सामर्थ्यवान् होकर
चलता है, उस वीरसे हम शत्रुओंको पराजित करेंगे ।

मनुष्यके जीवनमें शत्रुका पराभव करना और विजय
प्राप्त करना मुख्य बातें हैं । इसीसे मनुष्य सुखी हो
सकता है ।

सुखप्राप्ति

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो
जगते पुरुषेभ्यः । अ. १।२।१४

माता, पिता, गौवं, पुरुष तथा चलनेवाले प्राणियोंको
सुख प्राप्त हो ।

ते विदिा क्षेममदीघरन् । अ. ३।१।५

प्रजात्रनेमें तेरा क्षेम धारण करे ।

मातेवास्मा अदिते शर्मं यच्छ । अ. २।२।५५

हे अदिते ! माताके समान इसे सुख दे ।

एतु प्रथमाजीतामुपिता पुरः । अ. १।२।७४

पहिली, अथवाजित, न छुटो दुई होकर आगे बढे ।

शर्मं यच्छथाः सप्रथाः । अ. १।२।६३

हमें प्रयत्नशील होकर सुख दो ।

व्यात्यर्था एवमातः । अ. ३।३।१२

शुद्ध मनुष्य पीडासे दूर रहता है ।

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमहात यक्ष्मा-

दुत राजयक्ष्मात् । अ. ३।३।१३

सुखपूर्वक जीवनके लिये तुझको हम मज्जात रोगसे

तथा राजपक्ष्मासे हवन द्वारा छुटाते हैं ।

मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ।

अ. ३।३।१२

हमारे शरीरोंको सुख हो, हमारे बाह्यबलोंको सुख दो ।

वि महच्छर्म यच्छ, चरीयो याधया यधम् ।

अ. ३।२०३

बड़ा शान्तिसुख हमें दो, शत्रुका शस्त्र हमसे दूर कर दो ।

कामो दाता, कामः प्रतिग्रहीता । अ. ३।२९।७

काम दाता और काम ही लेनेवाला है ।

कृतस्य कार्यस्य चेह स्फार्ति समायह ।

अ. ३।२।४।५

किये हुए कार्यकी यहाँ वृद्धि कर ।

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं

तन्वः स्वायाः । तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव

सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशून् ॥ अ. ३।२।८।५

जहाँ सुहृद् तथा सख्यमैकता, अपने शरीरके रोगको

त्याग कर जानन्दसे रहते हैं, हे सुहृदे बन्धे देनेवाली गौ ! इस

स्थानपर जाकर रह, हमारे मनुष्यों और पशुओंकी हिंसा

न हो ।

सर्वान् कामान्पूरयत्यामवन् प्रभवन्मवन् ।

आकृतिप्रोऽविद्वत्तः शितिपाश्रोप दस्यति ॥

अ. ३।२९।२

यह दिया हुआ करमार सब प्रजाके संकल्पोंको पूर्ण

करता है । हिंसकोंको दबाता है । प्रजाका रक्षण करता है ।

प्रभावो बनकर, सखित्वका रक्षण करता है और विनाशसे

बचाता है ।

विश्वं सुभूर्त् सुविद्वन् नो अस्तु । अ. ३।३।१४

हम सबके लिये यह विश्व उत्तम सहायक तथा ज्ञान

देनेवाला हो ।

अग्ने अकृशा घदेह नः प्रत्यह् नः सुमना भव ।

अ. ३।२०।२

यहाँ हमारे साथ बरूठी तरह बोल । हमारे सम्मुख
उत्तम मनवाला हो ।

वि पश्यानो दिशं दिशम् । अ. ३।३।१४

मार्गं भिन्न दिशाभोगेभ्यः भिन्न-भिन्न होकर जाते हैं ।

ये वध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा

चक्षुषा च । अग्निदानमे प्रमोक्तु देवो

विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥ अ. २।३।१३

ब्रह्मको जो मनसे और आँखसे प्रेमपूर्वक देखते हैं,

उनको विश्वका बनानेवाला और प्रजाके साथ रहनेवाला

अग्नि देव प्रथम सुक करे ।

वृहस्पतये महिष्य शुमश्रमो, विश्वकर्म्मन्, नम-

स्तः, पाह्यस्मान् ॥ अ. २।३।५४

महाशक्तिमान् ! ज्ञानी तेजस्वी विश्वके रचयिता, मापको

हमारा नमस्कार हो, मापको नमस्कार है, हमारी सुरक्षा

कर ।

स्वर्गोप त्वां मदाः सुवाचो अतुः । अ. २।५।२

स्वर्गीय जानन्दके समान उत्तम भाषणसे होनेवाले जानन्द

तुम्हारे पास पहुंचे हैं ।

सुपुदत, मृडत, मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोके-

भ्यस्कृधि । अ. ३।२।६।४

भाभय दो, सुखी करो, हमारे शरीरोंको सुखी रखो ।

हमारे बाह्यबलोंके लिये जानन्द प्राप्त हो ऐसा करो ।

इमां देवा असाविषुः सौभगाय । अ. ३।१।८।२

इस कन्याको देवोंने सौभाग्यके लिये उत्पन्न की है ।

शं मे चतुर्भ्यो अंगेभ्यः शमस्तु तन्वे मम ।

अ. ३।१।१।४

'मेरे चारों अंगोंके लिये आरोग्य हो, मेरे शरीरके लिये

नीरोगिता हो ।

अग्निं च विश्वशंभुवम् । अ. ३।६।२

अग्नि सब प्रकारका सुख देनेवाला है ।

यो ददाति शितिपार्द्वि लोकेन संमितम् ।

स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रीयते

अवलेन बलीयसे ॥ अ. ३।२९।३

जो लोगोंसे समानित, हिंसकोंकानाश करनेवाले संरक्षक

करमारको देता है, वह दुःख रहित स्थानको प्राप्त करता

है, जहाँ निबैलको बलवानके लिये धन नहीं देना होता है ।

इम तरह सुख प्राप्त हुआ तो मनुष्यकी भायु दीर्घ होती है। रोग दूर हो, स्वास्थ्य प्राप्त हो, मन आनन्द प्रसन्न रहे तो मनुष्य दीर्घायु होता है।

दीर्घ आयु

इम प्रकारमें आपे मंत्रोंका विशेष उपयोग है। इन मंत्रभागोंका जप करनेसे लाभ होता है—

शरीरमस्याङ्गानि जरसे घटतं पुनः । अ. ३।१।६
इसका शरीर और इसके अवयव वृद्धावस्थातक पहुँचानो।

ये देवा विधि छ, ये पृथिव्यां, ये अन्तरिक्ष
लोपधीपु पशुधन्तः । ते कृणुत जरसमायुरस्मै
शतमग्यान् परि वृणक्तु मृत्युन् ॥ अ. ३।३०।३

जो देव पृथोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वीपर हैं। जो भीष-
धियों और पशुधर्मों हैं। वे देव इसके लिये वृद्धावस्था-
तककी भायु करें। सैकड़ों जन्म प्रकारके मृत्यु दूर हों।

कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् ।

अ. २।१३।७

सब देव तेरी भायु सौ वर्षकी करें।

तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शत-
शरदाय । अ. ३।५।७
उस मिथकी प्राप्त कर, बहुत प्रकाशित होकर, सौ वर्षका
दीर्घायु प्राप्त करे।

दशमीमुत्रः सुमना वनेह । अ. ३।४।०

तु यहाँ उत्तरीय तथा उत्तम मनवाला होकर दसवीं
दशक तक सब रात्रिको अपने वनमें (अर्थात् अपने अनु-
दूत) करे।

परि धत्त, धत्त नो यच्चसिमं जरामृत्युं कृणुत
दीर्घमायुः । अ. २।१३।२

इसमें इम पुरुषको धारण करो, तेजसे पुष्पकारके इसका
धारण करो, दीर्घायु इसको देकर जरावस्थाके पश्चात् इसका
मृत्यु हो प्रेषा करो।

शतं च जीव शरदः पुरुची, रायस्पोषमुपसं-
व्ययस्य । अ. २।१३।३

सौ वर्षतक पूर्ण रीतिसे जीवों और घन और पोषण
उत्कम रीतिसे प्राप्त करो।

इन्द्र पतां सृष्टे विद्वो अत्र ऊर्जा स्वधाम-

जरां, सा त एवा । तथा त्वं जीव शरदः
सुसर्चा, मा त मा सुस्रोद्धिपजसे अश्वन् ॥

अ. २।२९।७

इन्द्रने भक्ति करनेपर अश्व, बल, धार्कशक्ति, अश्विगता
आदिको वरदान दिया, यह धार्क तुम्हारे लिये है। इससे
तु सुख होकर बहुत वर्ष जीवित रह, तेजस्वी बन, तेरे लिये
मृत्युना न हो। वैद्योंने तेरे लिये यह रसयोग बनाया है।

अभि त्या जरिमाहित मामुक्षणमिव रज्वा ।

अ. ३।१।०

मित्र तरह गाय और बैलकी रज्जुसे बांधते हैं वेशा
वृद्धावस्था तेरे साथ बंधी रहे।

जराये त्वा परिद्वामि । अ. ३।१।१०

वृद्धावस्थाके लिये तुम देता हूँ।

वि देवा जरसायुतन् । अ. ३।३।१५

देव जासे दूर रहते हैं।

स्वस्त्येने जरसे यहाथ । अ. ३।३।२

इसको वृद्ध भायुतक मुझसे पहुँचा दे।

विश्वेदेवा जरदष्टियथासत् । अ. २।२८।५

सब देव यह वृद्ध होनेतक जीवें, प्रेषा करें।

जराये निधुवामि ते । अ. ३।१।१०

वृद्धावस्थातक तुमसे पहुँचाता हूँ।

जरा त्वा भद्रा नेष्टु । अ. ३।१।१०

तुमसे वृद्धावस्था सुख देवे।

यि यक्ष्मेण, समायुषा । अ. ३।३।११-१३

यक्ष्मेरोगसे मैं दूर रहूँ। दीर्घायुसे मैं संयुक्त रहूँ।

मित्र एते वरुणो वा रिशदा जरामृत्युं कृणुतां
संविदानो । अ. २।२८।२

मित्र तथा वसुनाशक वरुण जानते हुए इसको जराके
पश्चात् मृत्युको प्राप्त होनेवाला दीर्घायु करें।

दीर्घायुत्वाय मद्दते रणायारिप्यन्तो दक्षमाणाः

सदैव । मणि विष्कन्धदृपणे जह्निदं विभ्रमो

वयम् ॥ अ. २।४।१

दीर्घायु प्राप्त हो, बधा जानने प्राप्त हो, योषकरोग
दूर हो इसके लिये जंगिक मणिको, हम सब विनष्ट न होने-
वाले और अपना बल बढ़ानेकी दृष्टि करनेवाले सदैव
धारण करते हैं।

रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति
शरद्स्तवायम् । न. १२९१२

वन और पोषण, हे सविता ! इसे सू दे । और यह जो
वनवर सौ वर्ष जीवित रहे ।

इन्द्रो यद्येन शरदो नयात्यति विभ्यस्य दुरि-
तस्य पातम् । न. ११११३

सब पातजनित दुःखके पात इसको इन्द्र के जाप और
वह सौ वर्षकी आयु इसे मिळे पेना करे ।

शतं जीय शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान्
शतम् घसन्तान् । न. ११११४

सौ वर्षतक बढ़ता हुआ जीवित रह । सौ हेमन्त, सौ
वसन्त और सौ शरद ऋतुतक जीवित रहे ।

सहस्राक्षेण शतवर्षेण शतायुषा हविषा
ह्यपमेनम् । न. ११११३

सहस्रों शक्तिधेसे युक्त, सौ वर्षोंसे युक्त, शतायु करने-
पाळे हवनसे इसको मैं मृत्युसे वापस लाया हूँ ।

शतायुषा हविषाह्यपमेनम् । न. ११११४

सौ वर्षकी आयु देनेवाले हवनसे मैं इसे वापस
लाया हूँ ।

शतं जीवाति शरद्स्तवायम् । न. ११११२

उम्हारा यह मनुष्य सौ वर्ष जीवित रहे ।

आयुरस्मै धेहि जातवेदः । न. २१२९१२

हे जातवेद ! इसको दीर्घायु दे ।

यस्त्वा मृत्युरभ्यक्षत् जायमानं सुपाशया ।

तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यां उदमुञ्चद्वृहस्पतिः ॥

न. ११११८

जिस मृत्युने तुझे उरपक होते ही बांध रखा है उस
दुसको वृहस्पति सत्यके हाथोंसे छुटा देता है ।

तुभ्यमेव जरिमान् वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो
हिंसिषुः शतं ये । न. २१२८११

हे वृद्धावस्थे ! तैरी आयुतक यह मनुष्य बढ़े । ये जो
सैकड़ों मृत्यु हैं वे इसकी हिंसा न करें ।

इममम आयुषे वर्चसे नय म्रियं रेतो वृण
मित्र राजन् । न. २१२८१२

हे अग्नि, हे वरुण, हे मित्र राजन् ! इसको वर्षेवाद्
करके दीर्घायु तथा तेजके प्रति के जा ।

यदि क्षितायुर्षदि वा परेतो यदि मृत्योरंतिकं
नीत एव । तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पर्ष
मेनं शतशारदाय ॥ न. ३१११२

यदि इसकी आयु समाप्त हुई हो, यदि यह मृत्युके
समीप पहुँचा हो, तो भी विनाशके पाससे मैं इसको वापस
लाता हूँ और इसको सौ वर्षतक मैं जीवित रखता हूँ ।

यो विभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेतु
कृणुते दीर्घमायुः । न. ११३५१२

जो दाक्षायण सुवर्ण घरीरपर धारण करता है वह
जीवोंमें दीर्घायु धारण करता है ।

परि त्वा रोहितैर्वर्षैर्दीर्घायुत्वाय दृषमसि ।

यथायमरुषा अस्तद्यो अहरितो भुवन् ।

न. ११२२१२

लाल रंगोंके किणोंमें मैं तुझे दीर्घायु प्राप्त होनेके लिये
धरता हूँ । इससे यह नोरोग होगा और पीड़िमा भी
इससे दूर होगी ।

उदायुषा समायुषोद्गोप्योनां रसेन ।

न. ११३११०

आयुषसे उच्च वन, दीर्घायुसे युक्त हो, औषधियोंके
रससे दृढतिकी प्राप्त हो ।

कृत्वादृषिरयं मणिरथो अरातिदृषिः ।

अथो सहस्राञ्जङ्गिडः प्र ण आयूपि तारिपत् ॥

यह अंगिड मणि हिंसासे बचानेवाळा है, शत्रु भूत रोगोंको
दूर करनेवाळा है और बल बढ़ानेवाळा है, वह हमारी
आयुकी बचावे ।

यदा यध्नादाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुम-
नश्यमानाः । तत्ते यध्नाभ्यायुषे वर्चसे वलाय
दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ न. ११३५११

उत्तम मनवाले बलकी वृद्धि करनेकी कामना करनेवाले
अथ पुरुष सैकड़ों बल प्राप्त करनेके लिये घरीरपर सुवर्ण
(का आभूषण) रखते हैं । वह सुवर्ण दीर्घायु, तेजस्विता,
बल, सौ वर्षकी दीर्घ आयु उन्हें प्राप्त हो इसलिये तैरे
घरीरपर बाँधता हूँ ।

व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान् शतम् ।

न. ३१११५,७

सैकड़ों प्रकारके मृत्यु या दुःख इनसे दूर हो ।

आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्यामामृता वषम् ।

अ. ३।३।११

पर्जन्यकी वृष्टिजलसे हम वृक्षवृक्षों प्राप्त हों और हम अमर बनें । हमें शीघ्र मृत्यु न आवे ।

इहैव स्तं प्राणापानौ भाप गातमितो यूयम् ।

अ. ३।१।१६

हे प्राण और जपान यहाँ ठहरो, तुम इससे दूर न जाओ । प्राणेत प्राणतां प्राणहैव भव, मा मृथाः ।

अ. ३।३।१९

जीवित रहनेवालोंकी जैसी प्राणशक्ति प्राप्त कर और वहाँ जीवित रह, मत मर जा ।

प्राणापानार्भ्यां गुपितः शतं हिमाः । अ. २।२८।४
प्राण तथा जपान द्वारा सुरक्षित होकर यह सौ हिम-
कण-सौ वर्ष-जीवित रहे ।

आयुधमतामायुष्टतां प्राणेन जीव, मा मृथाः ।

अ. ३।३।१८

दीर्घ आयुवालों और आयुष्य बढ़ानेवालोंकी जैसी माल-
दाक्षिसे जीवित रह, मत मर जा ।

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं । अ. २।१।११

हे प्राण और जपान ! मृत्युसे मेरी सुरक्षा करो ।

प्र विदशतं प्राणापानावनद्वाहाविव व्रजम् ।

अ. ३।१।१५

जैसे बैल गोशालामें जाते हैं वैसे प्राण और जपान
हमके देहमें प्रविष्ट होते रहें ।

मेमे प्राणो हासीन्मो अपानो मेमे मित्रा वधि-

पुमोऽस्मिन्नाः । अ. २।२८।३

इसको प्राण न छोड़े, जपान न छोड़े, इसका वध मित्र
न करें और इसका वध घत्रु भी न करें ।

यथा ब्रह्म च क्षत्रे च न विभीतो न रिप्यतः ।

यथा सत्यं चानृतं च न विभीतो न रिप्यतः ।

यथा भूतं च भव्यं च न विभीतो न रिप्यतः ।

एवां मे प्राण मां विभेः ॥ अ. २।१।५४-६

ज्ञान और दौर्ग, सत्य और ऋत, भूत और अविष्य
करते नहीं इक्षीयते विनष्ट नहीं होते, इस तरह मेरा प्राण
न करे और विनष्ट न हो ।

घौष्ट्रा पिता पृथिवी माता जरा मृत्युं कृणुतां
संविदाने । अ. २।२८।४

पु पिता और पृथिवी माता ज्ञानपूर्वक इसको ब्राह्मे
पश्चात् मृत्यु हो ऐसा करें ।

मनुष्य दीर्घ आयु चाहता है । इसलिये दीर्घायु चाहने-
वाला मनुष्य पहाड़िये, वनतोहा अन्न करे, वारंवार उरुचा-
रण करे, वारंवार मजन करे । काम भवद्वय होगा जैसा—

शरीरं अस्याङ्गानि जरसे वहतं— इसका शरीर
और इसके अंग वृद्ध भवस्यात्क पड़ंचा दो ।

यह वचन अपने शरीरके विषयमें भी वारंवार बोला जा
सकता है । मनुके हट विद्यालये काम होता है । तथा—

कृणुत जरसे आयुः अस्मै— इसकी आयु वृद्ध
भवस्यात्क करी ।

कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतं— सब देव
सौ वर्षोंकी पुग्घाती आयु करें ।

दशमो उग्रः समना वशेह— यह उग्रवीर बनकर
दसवीं दशकतक जीवित रहे ।

जरा मृत्युं कृणुत दीर्घमायुः— इसकी दीर्घायु काटे
ज्राके पश्चात् मृत्यु हो ।

शतं च जीव शरदः पुरुर्वाः— सौ वर्षकी दीर्घायु
इसे मिले ।

त्वं जीव शरदः सुवर्चाः— उत्तम तेजस्वी होकर
सौ वर्ष जीवित रह ।

जरायै त्वा परि दद्यामि— वृद्धावस्थातक तुझे पड़ुं-
चाता हूँ ।

स्वस्त्येनं जरसे वहाय— सुखपूर्वक वृद्ध भवस्यात्क
इसे पड़ुंचा दो ।

जरायै नि धुवामि ते— तुझे वृद्धावस्थातक पड़ुं-
चाता हूँ ।

जरा त्वा भद्रा नेष्ट— हितकर वृद्धावस्था तुझे
प्राप्त हो ।

वि यक्ष्मेण, समायुष्य— तेरा रोग दूर हो और तुझे
आयुष्य प्राप्त हो ।

शतं जीवाति शरदस्तवायम्— तेरा यह मनुष्य सौ
वर्ष जीवे ।

शतं जीव शरदो वधं मानः— बढता हुआ सौ वर्ष
जीवित रह ।

शतायुषा हार्यमेनम्— सौ वर्षकी आयुके साथ इसे
मे (मृत्युसे) वापस बापा हूँ ।

आयुरस्मै घेहि— इसको आयु मदान करो ।
मेममग्ने मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये— सैकड़ों मृत्यु
इसका नाश न करे ।

इमम्न आयुषे वर्त्ससे नय— हे अग्ने ! इसे आयु और
तेजके लिये ले जा ।

अस्पार्यमिन् शतशारदाय— सौ वर्षकी आयुके लिये
मैं इसे स्पर्श करता हूँ ।

तत्ते यधामि आयुषे— आयुष्यकी प्राप्तिके लिये तुझे
यह मणि बाँधता हूँ ।

मा मृषाः— मत मर ।

प्राणेन जीव— प्राणसे जीवित रह ।

प्राणापानौ मृत्योर्यां पातं— प्राण और अपान मृत्युसे
मुझे बचावे ।

जरा मृत्युं कृणुतां— जराके पश्चात् मृत्यु हो ।

इस तरह अन्यान्य वचनोंका भी उपयोग हो सकता
है। कोई बीमार पड़ा हो, तो पवित्र होकर सिरकी ओरसे
पाँवतक अपने हाथोंकी पुमान और ये मंत्रभाग बोलना,
मनमें ही निमग्नपूर्वक बोलना। वारंवार बोलना। अपने
हाथोंमें बीमारी दूर करनेकी शक्ति है ऐसा मानकर
इससे बीमारी दूर होगी ऐसे विश्वाससे यह करना।
रोगीका भी साय-साध विश्वास हो तो लाभ शीघ्र होगा।
अन्य वचन अन्य समय बोलनेके लिये हैं। यह विचार
करके पाठक जान सकते हैं।

वनस्पति

शं नो देवी पृश्निपर्यशं निर्ऋत्या अकः ।

अ. २।२५।१

हे पृश्निपर्णी देवी, हमारे लिये कल्याण कर, और
भ्याथियोंकी दुःख प्राप्त हो ।

अरायमच्छकपावानं यश्च स्फार्ति जिहीर्वति ।

गर्मादं कण्ठं नाशय पृश्निपर्णि सहस्र च ॥

अ. २।२५।२

शोभा हटानेवाला, रक्त पीनेवाला, जो पुष्टिको हटाता है,
गर्भको खानेवाला जो रोगवीज है उसका नाश कर । हे
पृश्निपर्णि ! दुःखको दूर कर ।

वीरुत् क्षेत्रियनाशान्यप क्षेत्रियमुच्छतु ।

अ. २।२।२-५

भानुवंशिक रोगको दूर करनेवाली यह औषधि भानु-
वंशिक रोगको दूर करे ।

श्यामा सरूपं कर्णी पृथिव्या अधमुद्धता ।

इदमूषु प्र साधय पुनः रूपाणि कल्पये ।

अ. १।२५।३

श्यामा वनस्पति सरूप करनेवाली है, पृथिवीसे ऊपर
उखाड़ी गयी है, इस कर्मका उत्तम साधन कर और पुनः
पूर्ववत् शरीरका रंग कर ।

शं सोमः सहैषधीभिः । अ. २।१०।२

औषधियोंके साथ सोम कल्याण करनेवाला हो ।

इदं जनासो विद्वथ महद्ब्रह्म वद्विष्यति ।

न तत्पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ।

अ. १।३।११

हे लोगों ! यह जानो कि ज्ञान बसो घोषणा करके
कहेगा। जिससे वनस्पतिर्षा भोजित रहती हैं वह पृथिवीमें
नहीं है और न लुलोकमें है ।

असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तय ।

असिफन्यासि औषधे निरितो नाशया पुषत् ॥

अ. १।२।३

तेरा लपस्थान कृष्ण है और भास्थान भी कृष्णवर्णका
है। हे औषधे ! तू काले वर्णवाली है, इसलिये तू इसके
क्षेत्र धरने दूर कर ।

सरूपकृत्वमोषधे सा सरूपामिदं कृधि ।

अ. १।२५।३

हे औषधे ! तू सरूप स्वचाको करनेवाली है। अतः तू
स्वचाको सरूप कर ।

वधू

सोमजुष्टं ब्रह्मजुष्टं अर्षग्णा संभृतं भगम् ।

धातुर्देवस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम् ।

अ. २।३।२

सोमज्ञानीसे सेवित, ब्राह्मणों द्वारा सेवित, श्रेष्ठ मन-
वालेने इकट्ठा किया यह धन है, धाता देवके सत्य नियमा-
नुसार पतिकी प्राप्तिके लिये मैं इसको सुयोग्य करता हूँ ।

इदं हिरण्यं गुरुगुल्बयमौशो अयो भगः ।

एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्स्ये ।

अ. २।३।३

यह उत्तम सुवर्ण है, यह बँल है, और यह धन है ।

ये पतिकी कामनाके लिये और तेरे लाभके लिये तेरे पतिको देते हैं ।

आ नो अग्ने सुमतिं संभलो गमेदिमां कुमारीं
सह नो भगेन । अ. २।३।१

हे अग्ने ! धनके साथ उत्तम वक्ता पति हम उत्तम बुद्धि-
मती कुमारीके प्रति मा जावे ।

यदन्तरं तद्गाह्यं यद्गाह्यं तदन्तरम् ।
कन्यानां विश्वरूपाणां मनो मृभायीषधे ॥

अ. २।३।२

जो अन्दर हो वही बाहर हो, जो बाहर हो वही अन्दर
हो । विविध रूपवाली कन्याओंका मन प्रदण कर ।

या ग्रीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसन्नता ।

अ. ३।२।३

कामका बाण लगनेपर ग्रीहको शोषित करता है ।

यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति ।

एवा मन्नामि ते मनो, यथा मां कामिन्यसो,

यथा मन्नापगा असः ॥ अ. २।३।४

हे स्त्री ! जैसा यह पृथ्वीपरका घास वायु हिलाता है
वैसा मैं तेरे मनको हिला देता हूँ, तू मेरी हृच्छा करनेवाली
हो, मुझसे दूर जानेवाली न हो ।

श्रिया भय पुरुषेभ्ये गोभ्यो अश्वेभ्यः श्रिया ।

श्रियास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय श्रिया न हृद्दधि ॥

अ. ३।२।५

पुरुषों, गौर्वा, घोड़ोंके लिये तथा इस सब क्षेत्रके लिये
कल्पना करनेवाली हो । कल्पना करनेवाली धनकर यही रह ।

पयमगन्पतिकामा, जनिकामोहमागमम् ।

अश्वः कनिकद्वयथा भगेनाहं सहामगम् ॥

अ. २।३।६

यह कन्या पतिकी दृष्टा करती हुई आ गयी है, स्त्रीकी
हृच्छा करता हुआ मैं आया हूँ । जैसा दिनदिनानेवाला
घोडा आता है, वैसा मैं धनके साथ आया हूँ ।

विन्दस्य त्वं पुत्रं नारि, यस्तुभ्यं श्रामसच्छमु

तदस्मै त्वं भय । अ. ३।२।७

हे स्त्री ! तू पुत्रको प्राप्त कर, जो तुझारा कल्पना करने-
वाला हो और तू भी उसके लिये कल्पना करनेवाली हो ।

तास्त्वा पुत्रविधाय देवी प्राघन्योवधयः ।

अ. ३।२।८

वे दिव्य औपधियां पुत्रप्राप्तिके लिये तेरी रक्षा करे ।

एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी सन्निप्रया पत्या-
विराघयन्ती । अ. २।३।९

ऐश्वर्यसे सेवित हुई यह स्त्री पतिके प्रिय और पतिके
विरोध न करती हुई यहाँ रहे ।

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।

भवास्ति पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यात् ॥

अ. ३।२।९

पुरुष पुत्र उत्पन्न कर, उसके पीछे भी पुत्र ही होते रहें ।
तू पुत्रोंकी माता हो, जो ही तुझे तथा जो होनेवाले सब
पुत्र ही हों ।

तं त्वा घातरः सुवृधा वर्धमानमनु जायन्तां

यहयः सुजातम् । अ. २।३।१०

उस तुझ उत्तम जन्मे हुए बढते हुएके पीछेसे बहुतसे
बचनेवाले भाई उत्पन्न हों ।

पति-पत्नी

परि तथा परितस्तनुनेशुणागामिद्विये ।

यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥

अ. ३।३।१०

मैं फैले हुए ईजसे तुझे घेरता हूँ । मोटा वापुमरक
चारों ओर बनाता हूँ । इससे द्वेष दूर होगा, मेरी कामना तू
करती रहेगी और मुझसे दूर नहीं होगी ।

जुष्टा परेषु समनेषु वल्लुः । अ. २।३।११

यह कुमारी बरोंमें-धेड़ोंमें प्रिय है और उत्तम मनवालोंमें
मनोरम है ।

सुयाना पुत्रान् महिषी भवाति मरुवा पतिं

सुभगा विराजतु ॥ अ. २।३।१२

पुत्रोंको उत्पन्न करके यह घरकी रानी होवे, यह पतिको
प्राप्त होकर सौभाग्यवती होकर विराजे ।

आमान्दय धनपते, चरं भामनसं कृणु ।

सर्वं प्रदक्षिणं कृत्य, यो चरः प्रतिकान्यः ॥

अ. २।३।१३

हे धनपते ! वरको बुका ! उस वरके मनके अनुकूल सब

कार्य कर । सव कार्य इसके दाहिनी ओर कर, ओ वर तेरी कामनाके अनुकूल है ।

देवा गर्भे समैरयन् तं व्यूर्णवन्तु सूतवे ।

अ. ११११२

देव इस गर्भको प्रेरणा करें, प्रसूतिके लिये उस गर्भको प्रेरित करें ।

अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः ।

उभे सहस्रती भूत्वा सपत्नी मे सहावहे ॥

अ. ३११८५

मैं विजयी हूँ और तू विजयी है । दोनों विजयी होकर सपत्नीका परामर्श करेंगे ।

पत्या सौभगत्वमस्त्वसौ । अ. २१३५१

इस कुमारीको इस पतिसे सौभाग्य प्राप्त हो ।

इयमग्ने नारी पतिं चिद्रेष्ट सोमो हि राजा

सुभगां कृणोति । अ. २१३६३

हे अग्ने ! यह नारी पतिको प्राप्त कर, राजा सोम इसको उत्तम मायवती करे ।

वृक्षं यद् गावः परिपस्वजाना अनुस्फुरं शर-

मर्चन्त्यभुम् । अथर्व १।२।३

वृक्षं परिपस्वजाना गावः क्रभुं शरं अनुस्फुरं मर्चन्ति— वृक्ष (से उत्पन्न धनुष्यके साथ रहकर) गौ (चर्मसे बनी डोरियां) सीधे बाणको स्फूर्तिके साथ जिस तरह फेंकती हैं (इस तरह पुरुषके साथ मिलकर रहनेवाली स्त्रियां फूर्तिके वीर पुत्रको शत्रुपर भेजें ।)

धनुष्यकी लकड़ी पुरुष है, डोरी स्त्री है, इनका पुत्र बाण है । जिस तरह धनुष्य शत्रुपर बाण फेंकता है उस तरह गृहस्थ अपने पुत्रको बलवान् बनाकर शत्रुपर भेजे और शत्रुका परामर्श करें ।

इद्वैवाभि वि तनु उभे आर्त्नी इव उपया ।

अथर्व १।१.३

(उभे आर्त्नी उपया इव) धनुष्यके दोनों नोक जैसे दोरीसे उभे रहते हैं, इस तरह (इह एव अभि वि तनु) यहां ही दोनोंको तनाओ । (धनुष्यकी दोरी धनुष्यके दोनों नोकोंकी तनाकर रखती है, जिससे विजय मिलता है । इस तरह इस संसारमें दोनों-ब्रह्म-नीच, धीमंत दरिद्र,

विद्वान् अविद्वान्- कार्य करनेके लिये जिस देशमें सिद्ध रहते हैं, वह देश विजयी होता है ।)

त्वष्टा दुहित्रे वदतुं (वि) युनाक्ति । अ. ३।३।१५

विता पुत्रको दहेज देनेके लिये अलग करके रखता है ।

सुसप्तसूति

आ ते योनिं गर्भं एतु पुमान् बाण इवपुधिम् ।

अ. ३।२३।२

जैसा बाण भाठेमें जाता है वैसा यह पुरुषका गर्भ तरे गर्भाशयमें भावे । (बाण शत्रुनाश करता है वैसा यह गर्भ वीर बने, शत्रु नाश करे ।)

आ योनिं गर्भं एतु ते । अ. ३।२३।५

तरे उदरसे पुरुष गर्भ होवे ।

रक्तस्राव दूर करना

तेभिर्मै सर्वैः संस्त्रावैर्घ्नं सं स्त्रायामसि ।

अ. १।१५।३

उन सब छोटोंसे हम सब घनको क्षयक रीतिसे इन्द्रा करते हैं ।

नियमसे चलना ।
वाचस्पतिनियच्छतु । अथर्व १।१।३ ।
विद्वान् नियमसे चलावे । (विद्वान्के नियमसे अन्य लोक चले, जिससे उनकी इच्छा होगी ।)

मणि धारण

परीदं चासौ अधिधाः स्वर्त्तये । अ. २।१।३

इस बखको अपने कल्याणके लिये धारण करो ।

जङ्घिहो जम्माद् विशाराद् विष्कंघाद्भिशो-

चनात् । मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु

विश्वतः ॥ अ. २।१।२

यह जंगिह मणि सहस्र वीर्योंसे युक्त होनेके कारण जमु-हाई, क्षीणता, शोषक रोग, तथा शोक करनेकी रोगप्रवृत्तिसे, सब दोरसे हमारा रक्षण करे ।

अयं विष्कन्धं सहतेऽयं याश्रते अतित्रणः ।

अयं नो विश्वभेषजो जङ्घिहः पातवंहसः ॥

अ. २।१।३

यह जंगिह मणि शोषक रोगसे बचावा है, यह रक्त स्रवण

करनेवाले क्रिमियोंको खाया पहुँचाता है, यह सब जाँपधी शक्तियोंसे युक्त है, यह पापसे हमें बचावे ।

शृणुष्व मा जंगिदश्च विष्कंघादभि रक्षताम् ।

श्रवणयादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥

अ. २।१।५

शृणु और जंगिद ये दोनों शोषक रोगसे मेरा रक्षण करें । एक वनसे लाया है और दूसरा खेतीके रसोंसे बनाया है ।

काम

कामेन त्वा प्रति गृह्णामि, कामंतप्ते । अ. ३।२९।०
कामसे तुझे लेता हूँ । यह सब है काम । तेरा कर्तव्य है ।

पापसे बचना

यदेनश्चकृषान्, यद्द पप, तं विंश्वकर्मन् प्रमुञ्चा
स्वस्त्ये । अ. २।३।३

इसने पाप किया, इसलिये यह बन्द हुआ है । हे विश्वके रचना करनेवाले प्रभु ! उसको कवचाग प्राप्त हो इस लिये उसे मुक्त कर ।

पापमाघंत्वपकामस्य कर्ता । अ. २।१२।५

अभिष्ट कार्य करनेवाला पापको प्राप्त होने ।

मातेय पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र पत्नं मित्रिया-
रपात्संवहसः । अ. २।२८।१

जैसी माता प्रेमसे पुत्रको गोदमें लेती है । उस तरह मित्र मित्रसंबंधि पापसे इसको बचावे ।

ते नो निर्ऋत्याः पाशेभ्यो मुञ्जवांहसो-अंहसः ।

अ. १।३।१२

ये देव बिनाशके पाशोंसे तथा पापसे इसे मुक्त करें ।

विश्वं शुभ्र निचिकेपि दुग्धम् । अ. १।१०।२

हे उग्र वीर ! सब पापको दू जानवा है । पाप कदा रहता है यह तू जानवा है ।

व्याकृतय पपामिताथो वित्तानि मुह्यत ।

अथो यदधैर्पां हवि तवैर्पां पति निर्ऋहि ॥

अ. ३।२।४

इन षड्भुजोंके संकल्पों और इनके चित्तोंको मोहित करो । और जो इनके हृदयमें विचार है उन सबका नाश करो ।

व्यहं सर्वेण पाप्मना । अ. ३।३।१-५, १०-११

सब पापोंसे मैं दूर रहता हूँ ।

वि शक्रः पापकृत्यया । अ. ३।३।२

समयं मनुष्य पापकर्मसे दूर रहता है ।

सजातानुप्रेहा वद ब्रह्म चाप चिकीर्षि नः ।

अ. १।१०।४

हे उग्र वीर ! स्वजातियोंसे घोरघना करके कह दे कि हमारा शान ही दोषोंको दूर कर सकता है ।

आत्मरक्षण

तं त्वा विश्वेऽयन्तु देवाः । अ. २।१३।५

सब देव ठेरी सुरक्षा करें ।

स्त्रिरसि, वचोघा असि, तनूयानोऽसि ।

अ. २।१।४

दू शानी है, दू तेजस्वी है, दू शरीरका रक्षण करने-वाला है ।

अन्न-जल

तौलस्य प्राशान । अ. १।७।२

तोलकर खाओ । (मिठ भोजन करो)

क इदं कस्मा अदात् कामः कामयादात् ।

अ. ३।२९।७

किसने यह किसको दिया । काम ही कामके लिये होता है ।

दानाय सोदय । अ. ३।२०।७

दानके लिये प्रेरण कर ।

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर ।

अ. ३।२।५

शत हस्तोंसे प्राप्त कर और हजार हाथोंसे दान कर ।

घृतं पीत्या मधु चात्त गध्वम् । अ. २।१३।१

मीठा सुग्धर गौका घी पीओ ।

इह सुष्टिष्टि रसः इह सहस्रसातमा भव ।

पशून् यमिनि पोषय ।

अ. ३।२८।४

यहाँ सुष्टि और यहाँ रस है । यहाँ हजारों लाभ देनेवाली होकर रह । हे उग्रवै वधे देनेवाली गो ! यहाँ पशुओंको पुष्ट कर ।

सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ।

अ. ३११०३१८

यह तू हमारी दीर्घायुवाली प्रजाको धनकी प्रविष्टिसे युक्त
कर ।

अविस्तस्मात् प्र मुञ्चति दत्तः शितिपात्सखा ।

अ. ३१२११

यद (सोलहवां भाग कर) दिया हुआ रक्षक बनकर
हिसकोसे रक्षण करनेवाला तथा अपनी धारणा करनेवाला
होता है, और वह दुःखसे मुक्त करता है ।

दुहां मे पञ्च प्रदिशो दुःहामुर्धा यथायलम् ।

अ. ३१२०९

ये बड़ी वांच दिशाएँ यह शृंगरी यथाशक्ति मुझे साम-
र्थ्य देवे ।

एष वां धावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन् मा लपत् ।

अ. ३१२९४

हे धावापृथिवी ! यह तुम्हारे समीप रहता हुआ क्षुधासे
नपवा तथासे दुःखी न हो ।

गृहीनिर्माण

गृहानलुभ्यतो चर्यं संविशेमोप गोमत्तः ।

अ. ३११०११

हमारे घरोंमें बहुत गाँव हों और किसी पशुधेकी न्यूनता
न रहे ।

तं त्वा शाले सर्वघीराः सुवीरा अरिष्टवीरा
उपसंचरेम ।

अ. ३११२१

हे घर ! तेरे चारों ओर हम सब उत्तम वीर, उत्तम
पराक्रम करते हुए संचार करते रहेंगे ।

इद्वैव भ्रुवा तिष्ठ शालेऽध्वावती गोमती स्मृ-
तावती । ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्य
महते सौभाग्यम् ॥

अ. ३११२९

हे घर ! तू यही रह, यहाँ खड़ा रह, गौओंसे युक्त,
घोड़ोंसे युक्त, मधुर भाषणसे भक्तवान् घीसे युक्त, दूधसे युक्त
होकर महान् सौभाग्यसे युक्त होकर यहीं खड़ा रह ।

आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आघेनवः साय-
मास्पन्दमानाः ॥

अ. ३११२३

घरके पास बछड़ा और लकड़ा तथा दूधती हुई गौँ
साथैकल जा जाय ।

घरुण्यसि शाले वृहच्छन्दा पूतिधान्या ।

अ. ३१२१३

हे घर ! तू बड़े छतवाला और पवित्रे चान्पवाला होकर
धारणशक्तिसे युक्त होकर रह ।

वृणं वसना सुमना असस्ये ।

अ. ३११२५

घासको पहनेवाला तू घर हमारे लिये उत्तम मनवाला
हो ।

मानस्य पतिन शरणा स्योना देवी देवेभिर्नि-
मितास्यग्रे ।

अ. ३११२५

संमानका रक्षक, रहने योग्य, सुवकर यह दिव्य घर
देवीद्वारा पहिले बनाया गया था ।

ऋतेन स्थूणामधि रांह वंशोप्रो धिराजन्नप
वृंक्ष्व शश्रून् ।

अ. ३११२६

हे बाँस ! अपने सीधेपनसे अपने आधारपर खड़ा रह ।
उमरीर बनकर शश्रुओंको दटा दे ।

शाले शतं जीविम शरदः सर्ववीराः ।

अ. ३११२६

हे घर ! सब वीर पुत्रोंसे युक्त होकर हम सौ वर्षोंतक
जीवित रहेंगे ।

एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह ।

एमां परिश्रुतः कुम्भ आ दग्धः कलशौरुगः ॥

अ. ३११२७

इस घरके पास कुमार भाई, तरुण भाई, बछड़ेके साथ
चलनेवाले गौ भाई प्राणी भाई, इसके पास मधुर रससे
भरा घड़ा दहीके कलशोंके साथ जा जाय ।

असौ यो अघराद गृहः तत्र सग्नवराचयः ।

तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वोश्च यानुधान्यः ॥

अ. २११४३

जो यह नीच घर है, वहाँ विपत्तियाँ रहें, वहाँ क्लेश हो,
सब यातना वहाँ रहे ।

मा ते रिपन्नुपसत्तारो गृहाणाम् ।

अ. ३११२९

हे घर ! तेरे आश्रयसे रहनेवाले विनष्ट न हों ।

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामृ-

तेन संभृताम् । इमां पातूनमृतेना समङ्घी-

प्रापूर्तमभि रक्षालेनाम् ॥

अ. ३११२८

हे स्त्री ! इस पूर्ण भरे घड़ेको तथा नमृतसे भरी घीकी

घाराको मचली तरह भरकर ले भाओ । पीनेवालोंको अच्छी तरह भर दे । पशु और मनुष्य इस प्रकार रक्षण करते हैं ।

गौ

स नः प्रजास्वार्त्तसु गोपु प्राणेपु जाग्रहि ।
यद् वृ ह्मारी प्रजा, मात्मा, गौर्वो और प्राणिके विषयमें जागता रह ।

इहैव गाव पतनेहो अकेव पृथ्यत ।
इहैवोत प्रजापध्वं मयि संज्ञानमस्तु घः ॥

अ. ३।११।४

हे गौर्वो ! यहाँ भाओ, साकके समान पुष्ट बनो, यहाँ बच्चे उत्पन्न करो और मापका प्रेम मुझपर रहे ।

मया गावो गोपतिना संचध्वं अयं वो गोष्ट
इह पोपयिष्णुः । रायस्पोषेण यदुल्ला भर्धती-
जीवा जीवन्तीरुप घः सदेम ॥ अ. ३।११।६

हे गौर्वो ! मुझ गोपतीके साथ मिलो रहो । तुम्हारा पोषण करनेवाली यह गोधाळा यहाँ है । सोमायुक्त दूधके साथ बरणी हुई, जीवित रहनेवाली तुमको हम सब प्राप्त करते हैं ।

संजग्माना अविभ्युपारस्मिन्नोष्टे करीयिणीः ।
विध्वती सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥

अ. ३।११।३

इस गोधाळामें मिलकर रहणी हुई, निर्भय होकर गोधरका उत्तम खाद उत्पन्न करनेवाली, क्षाणित उत्पन्न करनेवाले रस-दूध-का चरण करती हुई हमारे पास हमारे समीप गौर्वे आ जाय ।

शिवो वो गोष्टो भवतु शारिद्राकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्रजापध्वं मया घः संसृजामसि ॥

अ. ३।११।५

यह गोधाळा तुम्हारे लिये हितकारीणी होवे, शाकीकी ऋकके समान तुम यहाँ पुष्ट बनो, यहाँ प्रजा उत्पन्न करो, मेरे साथ तुमको भ्रमणके लिये ले जाता हूँ ।

अं घो गोष्टेन सुपदा सं रथ्या सं सुभृत्या ।

अ. ३।११।१

हे गौर्वो ! तुमको उत्तम बैठने योग्य गोधाळसे युक्त करता हूँ, उत्तम वैश्वर्ष्य और उत्तम रहन-सहनसे संयुक्त करता हूँ ।

इमं गोष्टं पशवः सं स्रवन्तु । अ. २।२६।१
इस गोधाळामें पशु रहें ।

अश्वाघतीगोमतीर्न उपासो घीरघतीः सद्मु-
च्छन्तु मद्राः । घृतं दुहाना विध्वतः प्रपिता
यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ अ. ३।१।५०

कल्याण करनेवाली उपासों घोड़ों और गौर्वोके साथ तथा घीर पुत्रोंके साथ हमारे घरोंको प्रकाशित करें । घी दें, सब ओरसे संवृष्ट होकर माप सदा हमें कल्याणोंसे सुशुभित रहें ।

तीम्रो रसो मधुपृचामरंग वा मा प्राणेन सह
वर्चसा गमेत् । अ. ३।१३।५

यह मधुरतासे भरा तीव्र जलरूप रस, प्राण और तेजसे साथ मुझे प्राप्त हो ।

ऊर्जमसा ऊर्जस्वती धचं पयो असैपयस्वती
धचम् । ऊर्जमसै चावापृथिवी अघातां विध्वे-
देवा मघत ऊर्जमापः ॥ अ. २।२९।५

मज्जवाली (पावापृथिवी) इसे मज्ज देवे, दूधवाली इसे दूध देवे, पावापृथिवी इसको बल देवे, सब देव, मघत और जल इसे शक्ति प्रदान करे ।

आहरामि गवां क्षीरं आहार्यं घान्यं रसम् ।
आहता अस्माकं वीरा वा परनीरिदमस्तक्रम् ॥

अ. २।२६।५

मैं गौर्वोका दूध छाठा हूँ, घान्य और रस छाठा हूँ । हमारे वीर भाग्य हैं, ये पत्नियों हैं और यह घर है ।

सं सिचामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ।
सं सिका अस्माकं वीराभुवा गावो मयि गोपतौ ॥

अ. २।२६।४

मैं गौर्वोका दूध देता हूँ, बलवर्धक रसको धीके साथ मिळता हूँ । हमारे वीर दूधसे सींचे गये । मुझ गोपतिमें गौर्वे स्थिर रहें ।

या रोहिणीर्वैधत्या गावो या उत रोहिणीः ।
रूपं रूपं ययो वयस्ताभिष्टा परि दध्वसि ॥

अ. ३।२२।३

जो काल रंगकी गौर्वे हैं और जो कालके समान रंगकी गौर्वे हैं । रूप, भाकार तथा आयुके अनुसार उनके साथ तुम्हारा संयोग करता हूँ जिससे दू-नीरोग होगा ।

यदि नो गां हंसि यद्यश्चं यदि पूरुषम् ।

तंत्वा सीत्सेन विध्यामो यथा नोऽसौ अर्वा रहा ॥
न. ११६४

यदि हमारी गौका बध त् करेगा, यदि घोडेका या यदि
पुष्पका बध करेगा, तो तुम सीत्सेकी गोलीसे बध करेगा,
जिससे हमारे समीप कोई वीरोंका नाश करनेवाला नहीं
रहेगा ।

कृपि

सति वन्दामहे त्वार्वाची सुमगे भव ।

यथा नः सुमता असा यथा नः सुफला भुवः ॥
न. ११७८

हे हलकी रेवा ! तुमसे हम वन्दन करते हैं, तू संमुख हो,
और भाग्यवाली हो । तू उषम इच्छावाली हो और सुफल
देनेवाली हो ।

शुनं धादाः, शुनं नरः, शुनं कृपतु लांगलम् ।

शुनं वखा बध्यन्तां शुनमप्रामुदिक्यम् ॥
न. ११७९

बैठ सुकी हो, मनुष्य प्रसन्न रहे, हल सुकसे जमीन
खोदे, रक्षिवा सुकसे बाधों चाप, और बापू सुकसे
पकाया जाव ।

घृतेन सांता मधुना समक्का विश्वैर्वैरनुमता

मकङ्गिः । सा नः सति पयसान्यायवृत्स्वोर्ज-
स्वर्ता घृतवतिपन्वमाना ॥ न. ११७९

यौ और मधसे मिलित हलकी रेवा सब देवों और बापु-
नोंसे अनुमोदित हुई । हे हलकी रेवा ! तू धीसे मिलित
होकर हमें बल देनेवाली होकर दूधसे युक्त कर ।

शुनं सुफला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा

अनुयन्तु वादान् । शुनासीरा हविषा तोश-
माना सुविप्लवा ओषधीः कर्तमसै ॥ न. ११७९

शुन्दर हलके फल भूमिको उत्तम रीतिसे खोदे । किसान
सुकसे बैलोंको चलायें । हे बापू और सूर्य ! हम हविसे
सन्तुष्ट होकर इसके लिये उत्तम फलयुक्त घान्य देवें ।

इन्द्रः सांतां नि गृह्णातु तां पूषामि रक्षतु ।

सा नः पयस्वर्ता दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥
न. ११७९

इन्द्र हलकी रेवाकी रक्षा करे, पूषा उसकी चारों ओरसे
रक्षा करे । यह रसयुक्त होकर भागिके वर्षोंमें हमें अधिक
भाषिके रस प्रदान करे ।

नेदीय इत् सृण्यः पकमावन् । न. ११७९

हंम्ये परिपक घान्यको हमारे निकट ले जावें ।

विराजः श्रुष्टिः समरा असन्नः । न. ११७९

बलकी उपज हमारे लिये भरपूर हो जावे ।
सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा यितन्वते पृथक् ।

घांरा देधेषु सुस्रयो ॥ न. ११७९

जो शानियोंमें उत्तम मनवाले बुद्धियालू कवि हैं वे हल
जोतके हैं । और जुनोंको उपक् करवे हैं ।

मगो नो राजा नि कृपि तनोतु । न. ११८०

राजा मग हमारे लिये कृपिको बढावे ।
युनक्त सीरा, विद्युगा तनोत, कृते योनां वप-
तेह बीजम् ॥ न. ११८०

हल जोते, जुनोंको फेडा दो, भूमि तैपार करनेपर
बीज वही बी दो ।

जल

अप्सु मे सोमोऽन्नवात् । अन्तर्विभवानि भेपजा ॥
अथर्व ११६२

सोमने मुसे कहा कि जलमें सब औषधियां हैं ।
अप्सन्तरमृतं अप्सु भेपजम् । अथर्व ११६३

जलमें मरुत है, जलमें औषधि गुण है ।
आपः पूर्णत मेपजं वरुयं तन्वे मम । न. ११६३

हे जलो ! मुसे औषध दो और मेरे शरीरको संरक्षण दो ।
ईशाना वार्याणाम् । क्षयन्तीश्वर्णीनाम् ।

अपो याचामि भेपजम् ॥ अथर्व ११६३

भरणीय सुखोंका स्वामी जल है । प्राणियोंका निवासक
जल है । इस जलसे मैं औषधकी याचना करता हूँ ।

आप इद्वा उ भेपजोरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेपजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ॥
न. ११७५

जल औषधी है, जल रोग दूर करनेवाला है, जल सब
रोगोंकी औषधी है, इस जलसे जातुबंशिक रोगसे तुम
मुक्त करा हूँ ।

अपां तेजो ज्योतिरोजो वल्लं च वनस्पतीनामुत्
वीर्याणि । असिन्नधि धारयामः । न. ११७५

जलका तेज, प्रकाश, जीवन, बल और वनस्पतियोंके वीर्य
(इस सुवर्णमें है) उनका हम धारण करते हैं ।

-(आपः) महे रणाय चक्षसे (दघातन) ।
अथर्व ११५९

जल बली रमणीयताके दर्शनके लिये हमें धारण करे ।
(हमारे अन्दर रमणीयता रहे ।)

ता न आपः शं स्योना भवन्तु । अ. १।२३।१-४
वे अठ हमारे छिपे मुखकान्ति देनेवाले हों ।

हमा आपः प्रमरान्यपद्मा यद्मनाग्निनाः ।
गृहानुपमसौदामि अमृतेन सदाग्निना ॥

अ. १।१२।५

वे रोगनाशक भी रोगरहित अठ मैं भर लाता हूँ ।
अमृत, अन्न और अग्निसे साथ मैं धरमि जाकर बैठता हूँ ।

शं नः स्वानिनिमा आपाः । अ. १।१।४

छोड़कर निकाला अठ हमें सुख देवे ।

अग्निना नः सन्तु वार्षिकीः । अ. १।१।४

वृष्टिसे प्राप्त अठ हमें कल्याण करनेवाला हो ।

शानु सन्तु अमृत्प्याः । अ. १।१।४

अच्छपूर्ण प्रदेशका अठ हमें शान्ति देवे ।

शानु वा कुम्भ आभुताः । अ. १।१।४

जो अठ घरमें रखा है वह हमें शान्ति देवे ।

शं न आपो घग्घन्दाः । अ. १।१।४

रेतीके प्रदेशका अठ हमें कल्याण करनेवाला हो ।

घृतस्युतः शुचयो वाः पावकास्ता न आपः

शं स्योना भवन्तु । अ. १।२३।४

तेजस्वी, पवित्र, सुदृढा करनेवाला अठ हमारे छिपे
मुखशायी हों ।

शंपोरमिध्ववन्तु नः । अथर्व १।६।१

अठ हमें शान्ति और दृष्ट शक्ति देनेवाला होवे ।

शिवया तन्वीष स्पृष्टात् त्वजं मे । अ. १।२३।४

अपना कल्याण करनेवाले शरीरसे मेरी स्वच्छाओ स्वस्तं करो ।

(हे आपः !) यो वः शिवतमो रसः तस्य

भाजयते ह नः । अथर्व. १।५।२

हे जलो ! जो आपमें कल्याण करनेवाला रस है, उसका

हमें भागी करो । (हमें वह कल्याण करनेवाला तुम्हारा

भाग मिले ।)

आपी जन्तयथा च नः । अथर्व. १।५।३

हे जलो ! हमें बचाओ ।

आपी भवन्तु पीतये । अथर्व. १।६।१

अठ हमारे पीनेके लिये, (सुगन्धके लिये हो ।

शिवेन मां चक्षुषा पश्यतापः । अ. १।२३।४

हे जलो ! कल्याणकारी नेत्रसे प्राय मुझे देखो ।

आपो हि धा मपो मुखः ता न ऊर्ध्वं दृषातन ।
अथर्व. १।५।१

अठ सबमुख मुखदानी है, वह उठ हमें ऊपरि दे ।

शं नो देवोर्भिरुष्ये । अथर्व. १।१।१

दिव्य अठ हमें शान्तिबुद्ध देवे ।

तस्मा अरंभमावयो यस्य क्षयाय विन्धय । ।

अथर्व. १।५।३

जिनके विनाशके लिये बार बार हाथे है, आपसे
पर्याप्त मात्रामें (वह उठ) माप्त हो ।

अगानुत प्रशान्तिभिरुष्या भद्रय चाग्निनः ।

पात्रो भवप चाग्निनीः ॥ अथर्व. १।५।४

उठके प्रशान्तरीय गुणोंसे बोधे रहवान् होते हैं और
पात्रों रहनाशिकी होगी है ।

सुमापितोका उपयोग

अथर्ववेदके पाहिले तीन काण्डोंके सुभाषित यहाँ दिने
हैं । वे इतने ही हैं ऐसा नहीं । संख्यामें वे सुभाषित
अधिक भी हो सकते हैं । वे किस तरह अधिक हो सकते हैं
यह हम लेखमें बताया ही है । परन्तु हमें उरवोती का
अत्र नाम सुभाषित कहा जाता है ।

सूरिरसि, चर्वोधा असि, तनूपानोऽसि ।

अ. २।१।१४

तू शायी है, तू तेजस्वी है, तू शरीर रक्षक है । यह
एकमेव है, पर हममें तीन सुभाषित हैं ।

सोसेकी गोली

'तं त्वा सोसेन विष्णामः' उक्त सुप्रसिद्ध सोसेके
हम वेध करेंगे । सोसेके वेध करनेका अर्थ सोसेकी गोलीके
वेध करोगे । गोधा वध करनेवालेको या पुरुरका वध करने-
वालेको सोसेकी गोलीसे वेध करनेका दण्ड कहा है ।
सोता या, पीलेकी गोली की और गोलीके वेध करनेका
साधन बहुत जैसा कुछ या ऐसा यहाँ दिया लगता है ।

अलक्षितसासे सब रोग दूर होते हैं ऐसा पाठक उठके
सुमापितोमें देखेंगे । सुमापितोका उपयोग करनेकी रीति
यहाँ बताई है । वेदके उपदेशको मानकी बाया और
जबहामें सोसेकी रीति यह है । पाठक इसका उपयोग
करके वैदिक जीवनसे उपबहार करते अन्यासास माप्त करें ।



अथर्ववेद

का

सुक्तेषु भाष्ये ।

प्रथमं काण्डम् ।

ब्रह्म और ज्येष्ठ ब्रह्म ।

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ।
यो वेदे परमेष्ठिनं यश्च वेदे प्रजापतिम् ।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः ॥

(मयवे० १०।०।१०)

“ (ये) जो (पुरुषे ब्रह्म) पुरुषमें ब्रह्म (विदुः) जानते हैं, वे (परमेष्ठिनं) परमेष्ठीको जानते हैं, जो परमेष्ठीको जानता है, और जो प्रजापतिको जानता है, तथा जो (ज्येष्ठं ब्राह्मणं) श्रेष्ठ ब्राह्मणको जानते हैं, वे स्कम्भको (अनुसंविदुः) उच्चम प्रकार जानते हैं । ”

ॐ

अथर्ववेद के विषयमें

स्मरणीय कथन ।

(१) अथर्ववेदका महत्त्व ।

अथर्ववेदका नाम "ब्रह्मवेद, अमृतवेद, आत्मवेद" आदि है। इससे यह आत्मज्ञानका वेद है, यह स्पष्ट है। इसी लिये कहा है, कि—

श्रेष्ठो ह वेदस्तपसोऽपि जातो ब्रह्मज्ञानां हृदये संबभूव ॥
(गोपय मा. १ । ९)

पुत्रद्वै भूपिष्ठं ब्रह्म यद् भुङ्क्विरसः । येऽङ्गिरसः स रसः ।
येऽथवांगस्तज्ञेषन्म । यद्भेषजं उदमृतम् । यद्मृतं तद्ब्रह्म ॥
(गोपय मा. ३ । ४)

षत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः ॥
(गोपय मा. २ । १६)

"(१) यह श्रेष्ठ वेद है, ब्रह्मज्ञानियोंके हृदयमें यह प्रसिद्ध रहता है। (२) भुङ्क्विरस ब्रह्म ब्रह्मज्ञान है, जो अंगिरस हैं वही रस अर्थात् सत्त्व है, जो अथर्वां है वह भेषज (दवा) है, जो भेषज है वह अमृत है, जो अमृत है वही ब्रह्म है। (३) मृक्, यजु, साम और ब्रह्म येही चार वेद हैं।"

अथर्ववेदको इस बचनमें "भेषज" अर्थात् रोगदोष दूर करनेवाली औषधि, 'अमृत' अर्थात् मृत्युको दूर करनेका साधन, तथा 'ब्रह्म' ब्रह्मज्ञान कहा है। ये तीन शब्द अथर्ववेदका महत्त्व स्पष्ट रीतिसे व्यक्त कर रहे हैं। और देखिये—
अथर्वमन्त्रसम्प्राप्त्या सर्वसिद्धिर्भविष्यति ॥

(अथर्वपाराशिष्ट २ । ५)

"अथर्ववेद मंत्रको संप्राप्ति होनेसे सब पुरुषार्थ सिद्ध होंगे।" यह अथर्वमंत्रोंका महत्त्व है, इस वेदमें (शांतिक कर्म) शांति स्थापनके कर्म, (पौष्टिक कर्म) पुष्टि बलशुद्धि आदिथे

सिद्धिके कर्म, (राजकर्म) राज्यशासन, समाजव्यवस्था अग्नि कर्मके आदेश होनेके कारण यह वेद प्रजाहितकी दृष्टिसे विशेष महत्त्व रखता है। इस विषयमें देखिये—

यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वां शान्तिपारगः ।
निवसत्यपि तद्वायूं वर्धते निरुपद्रवम् ॥

(अथर्वपाराशिष्ट. ४ । ६)

"जिस राजाके राज्यमें अथर्ववेद जाननेवाला विद्वान् शांति स्थापनके कर्मपर निरत रहता है, वह राष्ट्र उपद्रवराहित होकर चरता जाता है।

(२) अथर्व-शास्त्र ।

१ पैपलाद, २ तौद, ३ मौद, ४ शौनकाय, ५ जाजल, ६ जलद, ७ ब्रह्मवाद, ८ देवदर्श, ९ चारणवैद्य ये अथर्वके नौ शास्त्राभेद हैं। इनमें इस समय पिप्पलाद और शौनक ये दो संहितायें उपलब्ध हैं, अन्य उपलब्ध नहीं हैं। इनमें योहाडा मंत्रपाठभेद और सुकत क्रमभेद भी है, अन्य व्यवस्था प्रायः समान है।

(३) अथर्वके कर्म ।

- १ स्थालीपाकः — अन्नसिद्धि ।
- २ मेधाजननम् — बुद्धिकी वृद्धि करनेका उपाय ।
- ३ ब्रह्मचर्यम् — ब्रह्मचर्यरक्षण, ब्रह्मचर्यव्रत आदि ।
- ४ ग्राम-नगर-राष्ट्र-वर्धनम् — ग्राम, नगर, कौले, राज्य आदि की प्राप्ति और उनका संवर्धन ।
- ५ पुत्रपशुधनधान्यप्रजाकी कर्तुरगरधान्दोलिकादिसम्पत्साधकानि— पुत्र, पशु, धन, धान्य, प्रजा, खी, हाथी, घोड़े, रथ, पालकी आदि ऐश्वर्यके साधनोंके सिद्धि करनेके उपाय ।

- ६ साम्मनस्यम्—जनतामें ऐक्य, मिलाप, प्रेम, एकता आदिकी स्थापना के उपाय ।
- ७ राजकर्म — राजके लिये करनेयोग्य कर्म ।
- ८ शत्रुघ्रासनम्—शत्रुको कष्ट पहुंचानेका उपाय ।
- ९ संप्रामविजयः— युद्धमें विजय संपादन करना ।
- १० शस्त्रनिवारणम्— शत्रुओंके शस्त्रोंका निवारण करना ।
- ११ परसेनामोहनोद्भोजनस्तेभनौष्वाटनादीनि — शत्रुसेनामें मोह भ्रम उत्पन्न करना, उनमें उद्वेग-भय-उत्पन्न करना, उनको हलचलको रोकना, उनको उखाड़ देना आदिका साधन ।
- १२ स्वसेनोत्साहपरिरक्षणभयाधानि — अपनी सेनाका उत्साह बढ़ाना, और उनको निर्भय करना ।
- १३ संप्रामे जयपराजयपरीक्षा— युद्धमें जय होगा या पराजय होगा इसका विचार ।
- १४ सेनापत्यादिप्रधानपुरुषजयकर्मणि — सेनापति मंत्री आदि मुख्य ओहदेदारोंके विजयका उद्योग ।
- १५ परसेनासंचरणम्— शत्रुको सेनामें संचार करके गुप्त रीतिसे सब ज्ञान प्राप्त करना और बढ़ाके अपने ऊपर आनिवाले अनिष्टोंको दूर करना ।
- १६ शत्रुत्सादितस्य राज्ञः पुनः स्वराष्ट्रप्रवेशनम्— शत्रु-द्वारा उलझे गये अपने राजाको पुनः स्वराष्ट्रमें स्थापन करनेके उद्योग ।
- १७ पापक्षयकर्म—पतनेके साधनोंको दूर करना ।
- १८ गोपमूर्तिऋषिपुष्टितराणि— गौ बैल आदिकोंका संवर्धन और ऋषिका गोपण करना ।
- १९ गृहसम्पत्कारिणि—घरकी घोसा बढानेके कर्म ।
- २० वैपय्यानि — रोगनिवारक औषधियां ।
- २१ गर्भाधानादि कर्म—(सब संस्कार)
- २२ सप्तमाजयस्त्राघनम्—सप्तमों जय, विवाहमें जय और कहलू शांत करनेके उपाय ।
- २३ वृष्टिसाधनम्— योग्य समयपर वृष्टि कानेका उपाय ।
- २४ अत्यानकर्म— शत्रुपर चडाई करना ।
- २५ वाणिज्यलाभः— क्रय विक्रय आदिमें लाभ ।
- २६ ऋणविमोचनम्— ऋण उतराना ।
- २७ अभिचारनिवारणम्— ग्राह्ये अपना वचाव करना ।
- २८ अभिचारः— शत्रुके नाशका उपाय ।
- २९ स्वस्वयनम्— सुखसे देशदेशांतरमें भ्रमण ।
- ३० आयुष्यम्— दीर्घ आयुष्यकी प्राप्ति ।
- ३१ यज्ञयाग आदि ।

इत्यादि अनेक विषय इस वेदमें आनेके कारण इसका अण्य-यन विशेष सूत्र दृष्टिसे करना आवश्यक है । ये सब उपाय और कर्म मनुष्यमात्रके अभ्युदय निःश्रेयषके साधक होनेके कारण मानव जातिके लिये लाभदायक हैं, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता । परन्तु यहाँ विचार इतनाही है कि, ये सब विषय अथर्व-वेदके सूत्रोंसे हम किस रीतिसे जानकर अनुभवमें ला सकते हैं । निःसंदेह यह महान् और गंभीर तथा कठोर ज्ञान हिनियोग्य विषय है । इसलिये यदि सुविज्ञ पाठक इसमें अपनी सहयोग देगे तोही इस गंभीर विषयका कुछ पता लग सकता है, और गुप्त विषय अधिक खुल सकता है । क्योंकि किसी एक मनुष्यके प्रयत्नसे इस कठिन विषयकी उत्पत्ति होना प्रायः अशक्य ही है ।

(४) मनका संबंध ।

अथर्ववेदद्वारा जो कर्म शिथे जाते हैं वे मनकी एकाग्रतासे उत्पन्न हुए सामर्थ्यसे ही किये जाते हैं, क्योंकि आत्मा, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि अंतःशक्तिगोसे ही अथर्ववेदका विशेष संबंध है, इस विषयमें देखिये —

मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पशं संस्करोति

(गोपय मा० ३ । १२)

तद्वाचा श्रय्या विद्ययैकं पशं संस्कुरुते । मनसैव ब्रह्मा संस्करोति ॥

(ऐतरेय ब्रा० ५ । ३३)

अर्थात् “ ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद द्वारा वाणीपर संस्कार होकर एक भाग सुसंस्कृत होता है और अथर्ववेद द्वारा मनपर संस्कार होकर दूसरा भाग सुसंस्कृत होता है । ” मनुष्यमें वाणी और मन ये ही मुख्य दो पक्ष हैं । उन दोनोंसे ही मानवी उन्नतिके साधक अभ्युदय निःश्रेयस विषयक कर्म होते हैं ।

घातके रोग दूर करना ही अथवा राष्ट्रका विजय संग्रहण करना ही, तो ये सब कर्म मानसिक सामर्थ्यसे ही हो सकते हैं । इसी लिये अथर्ववेदने मनःशक्तिकी अभिवृद्धि द्वारा उक्त कर्म और विविध पुष्ट्यार्थ सिद्ध करनेके उपाय बताये हैं ।

(५) शांतिकर्मके विभाग ।

समाज तथा राष्ट्रमें शांति स्थापन करना अथर्ववेदका मुख्य विषय है । वैभनस्य, शत्रुता, द्वेष आदि मारोंको दूर करके मित्रता, एक विचार, सुमनास्वता आदिकी वृद्धि करना अथर्ववेदका साम्य है । इसी कार्यकी सिद्धिके लिये अथर्ववेदका शांति प्रकरण है । इस प्रकरणमें कई प्रकारकी शांतियां हैं, जिनका योधावा वर्णन यहाँ करना उचित है —

- १ भूषाल, विद्युत्पात आदिके भय निवारण करनेके लिये महाशान्ति ।
- २ आयुष्य प्राप्ति और वृद्धिके लिये वैश्वदेवी शान्ति ।
- ३ भग्न्यादि भयकी निवृत्तिके लिये आग्नेयी शान्ति ।
- ४ रोगादि निवृत्तिके लिये भांगीकी शान्ति ।
- ५ ब्रह्मवचन-ज्ञानका तेज प्राप्त करनेके मार्गमें अग्नि-वाले विप्र दूर करनेके लिये माझी शान्ति ।
- ६ राम्यलक्ष्मी और ब्रह्मवचन प्राप्त करनेके लिये अर्षात् क्षात्र और ब्राह्म तेज की वृद्धि करनेके लिये बार्हस्पत्य शान्ति ।
- ७ प्रजा क्षय न हो और प्रजा पशु ब्रह्म आदिकी प्राप्ति हो इसलिये प्राजायत्या शान्ति ।
- ८ सुद्धि करनेके लिये सावित्री शान्ति ।
- ९ ज्ञानमन्त्रब्रताके लिये गायत्री शान्ति ।
- १० घनादि ऐश्वर्य प्राप्ति करने, शत्रुमें होनेवाला भय दूर करने और अपने शत्रुको उन्नाह देनेके लिये आङ्गिरसी शान्ति ।
- ११ परचक्र दूर हो और अपने राज्यका विजय हो तथा अपना बल, अपनी पुष्टि और अपना ऐश्वर्य बढ़े इसलिये ऐन्द्र शान्ति ।
- १२ राज्यविस्तार करनेके लिये मादेन्द्री शान्ति ।
- १३ अपने घनका नाश न हो और अपना ऐश्वर्य बढ़े इसलिये करनेयोग्य कौबरी शान्ति ।
- १४ विद्या तेज घन और आयु बढ़ानेवाली आदित्या शान्ति ।
- १५ ब्रह्मकी विपुलता करनेवाली वैष्णवी शान्ति ।
- १६ वैभव प्राप्त करानेवाली तथा वस्तु संस्कारपूर्वक प्रहादिकी शान्ति करनेवाली वासुदेव्या शान्ति ।
- १७ रोग और आपत्ति आदिके कष्टोंमें बचानेवाली रौद्री शान्ति ।
- १८ विजय प्राप्त करानेवाली-अपराजिता शान्ति ।
- १९ सृष्ट्युक्त भय दूर करनेवाली पान्था शान्ति ।
- २० उल्लभ्य दूर करनेवाली वायुवी शान्ति ।
- २१ वायुभय दूर करनेवाली वायव्या शान्ति ।
- २२ कुलभय दूर करनेवाली और कुलवृद्धि करनेवाली सन्वति शान्ति ।
- २३ वस्त्रादि भोग बढ़ानेवाली तथा कार्तिकीकी वृद्धि करनेवाली त्वार्थी शान्ति ।
- २४ बालकोंको हृष्टपुष्ट करके उनको अपसृष्ट्युक्त बचानेके लिये कौमारी शान्ति ।

- २५ दुर्गादेव्ये बचानेके लिये नैऋति शान्ति ।
- २६ बलवृद्धि करनेवाली माहद्गयी शान्ति ।
- २७ घोडाकी अभिवृद्धि करनेके लिये गान्धर्वी शान्ति ।
- २८ हाथियोंकी अभिवृद्धि करनेके लिये पारावती शान्ति ।
- २९ भूमिके संबंधी कष्ट दूर करनेके लिये पार्थिवी शान्ति ।
- ३० सब प्रकारका भय दूर करनेवाली अमया शान्ति ।

ये और इस प्रकारकी अनेक शान्तियाँ अपभवेदसे सिद्ध होती हैं। इनके नामोंका भी यदि विचार पाठक करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि मनुष्यका जीवन सुखमय करनेके लिये ही इनका उपयोग निःसंदेह है। वेदमंत्रोंका मनन करके प्राचीन ऋषि मुनि अपनी उन्नति की विद्याएँ किञ्च रातिसे सिद्ध करते थे, इसकी कल्पना इन शान्तियोंका विचार करनेसे हो सकती है। कई शान्तियोंके नामोंसे पता लग सकता है कि किञ्च ऋषिकी सोचसे किञ्च शांतिधर्मकी उत्पत्ति हुई। यदि वैदिक धर्म जीवित और जाग्रत रूपमें फिर अपने जीवनमें डालना है तो पाठकोंको भी इसी दृष्टिसे विचार करना अत्यावश्यक है।

विविध दृष्टियों, वाग, ऋतु, मेघ आदिकी जो योजना वैदिक धर्ममें है, वह उक्त बातकी सिद्धता करनेके लिये ही है। इन सबका विचार कैसे है और इनकी सिद्धि किञ्च रातिसे को जा सकती है इसका यथामति विचार आगे किया जायगा। परन्तु यहाँ निवेदन है कि पाठक भी अपनी बुद्धियोंको इस दृष्टिसे काममें लावें और जो सोच होगी वह प्रकाशित करें। क्योंकि अनेक बुद्धियोंके एकाम होनेसे ही यह विद्या पुनः प्रकट हो सकती है अन्यथा इसके प्रकट होनेका कोई संभव नहीं है।

(६) मन्त्रोंके अनेक उद्देश्य ।

अपभवेदके मोक्षसे मन्त्रोंसे इतने विविध कर्म किञ्च प्रकार सिद्ध हो सकते हैं, यह शंका यहाँ उत्पन्न हो सकती है। इसके उत्तरमें निवेदन है, कि वेदके मन्त्र और सूक्त "अनेक सुख" होते हैं अर्थात् एकही सूक्त और एकही मंत्रसे अनेक उद्देश्योंकी सिद्धि होती है। मंत्रका उच्चारण एक मात्र बताया है, अंतरात्मा गूढ आद्य कुछ विशेष उपदेश देता है, स्वयं अर्थ श्रेयार्थ आदि अनेक उद्देश्य अनेक उपदेश प्रकट होते हैं। इस कारण एकही मंत्र और एकही सूक्त अनेकविध उपदेश देते हैं, और इस दृष्टिसे अनेकानेक विद्याएँ और अनेकानेक कर्म वेदसे प्रकट होने हैं और इन सबके द्वारा मनुष्यके ऐहिक और पारलौकिक सुखवृद्धिके साधन सिद्ध हो जाते हैं।

(७) सूक्तोंके गण ।

अथर्ववेदके सूक्तों और मंत्रोंके कई गण हैं, जिनके नाम "अमय गण, अपराजित गण, सांप्रामिक गण" इस प्रकार अनेक हैं। प्रथम कांडमें अपराजित गणके सूक्त निम्न-लिखित हैं—

- १ विष्ठा धारस्य पितरं ० (१ । २)
 - २ मा नो विदन् वि म्याधिनः ० (१ । १५)
 - ३ अदारसूद्रवतु देव ० (१ । २०)
 - ४ स्वस्तिवा विदां पतिः ० (१ । २१)
- इसके पश्चात् पद्यकाण्डमें अपराजित गणके सूक्त निम्नलिखित हैं—
- ५ भव मनुयुः ० (६ । ६५)
 - ६ निर्हेस्तः शसुः ० (६ । ६६)
 - ७ परिवर्तमानि ० (६ । ६७)
 - ८ अभिभूर्यज्ञः ० (६ । ९७)
 - ९ इन्द्रो जयाति ० (६ । ९८)
 - १० आभि त्वेन्द ० (६ । ९९)

कौनसा सूक्त किस गणमें है, यह समझनेसे उभका अर्थ करना, उसके अर्थका मनन करना और उससे बोध लेना, बड़ा सुगम हो सकता है। तथा गणोंके मंत्रोंके अंदर परस्पर संबंध देखना भी सुगम हो जाता है। इसलिये इस गणोंका विचार वेद पठनेके समय अवश्य ध्यानमें धरना चाहिये। हम आगे बतायेंगे कि कौनसा सूक्त किस गणमें आता है और उसका परस्पर संबंध किस पद्यतिसे देखना होता है।

पूर्वोक्त शांतिशोभि जिन जिन शान्तिशोका संबंध राज्यव्यवस्थासे है, उन शान्तिशोभके साथ अपराजित गणके मंत्रोंका संबंध है, इस एक बातसे पाठक बहुत कुछ बोध प्राप्त कर सकते हैं। एक एक गणके विषयमें हम स्वतंत्र विवेक लिखकर उसका अधिक विचार आगे करेंगे। उसका अनुसंधान पाठक करें इसी लिये यह बात यहाँ दर्शायी है।

जब इन सब गणोंका विचार हो जायगा तब ही वेद की विद्या ज्ञात हो सकती है, अन्यथा नहीं। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि कई सूक्त किसी गणके साथ सम्बन्ध नहीं रखते अर्थात् वे स्वतंत्र हैं अथवा उनका सम्बन्ध गणसूक्तोंके समान किसी अन्य सूक्तोंसे नहीं है।

"स्वतंत्र-सूक्त" और "गण-सूक्त" इनका विचार करनेके समय स्वतंत्र सूक्तके मंत्रोंका मनन स्वतंत्र रीतिसे करना चाहिये, और गणसूक्तोंके मंत्रोंका मनन संपूर्णगणोंके संबंध-का विचार करके ही करना चाहिये।

(८) अथर्ववेदका महत्त्व ।

आथर्ववेदके ज्ञान, यजुर्वेदसे उत्तम कर्म और सामवेदसे उत्तम पुरषकी उपासना, इन तीन काण्डोंका सम्पादन होनेके पश्चात् आत्माका ज्ञान और बल प्राप्त करनेके मार्ग बतानेका कार्य अथर्ववेद करता है। इस कारण इसको "ब्रह्मवेद" अथवा "आत्मवेद" भी कहते हैं।

उत्तम ज्ञान, प्रचरत कर्म और उत्तम पुरषकी उपासना द्वारा अंतःशुद्धि होनेके पश्चात् ब्रह्मका ज्ञान संभवनीय है, इसलिये यह पूर्वोक्त वेदत्रयोसे भिन्न यह "चतुर्थ वेद" कहा जाता है।

उपासक लोग आत्माको जगत्में ढूँढते ढूँढते यत्न गये, उस समय उनको साक्षात्कार हुआ कि "आत्माको जगत्में कहाँ ढूँढते हो? यहाँ आओ और 'अपने पासही उसे ढूँढो।"

अपार्वाटे नमेतास्वेवाऽप्यन्विच्छेति, तद्यद्वन्वीदयावांछुंन-मेतास्वेवाप्सन्विच्छेति, तद्यद्वीऽभवत् ॥

(गोरथ-ब्राह्मण १-४)

"अब पासही उसे ढूँढो!" वह पासही है। यह बात इस अर्थ [अप+अर्वाच्=अपर्वो (क्)] वेदने कही, इसी लिये इसका नाम "अथर्ववेद" हुआ है। यह गोपय ब्राह्मणका अथन अथर्ववेदका ज्ञानक्षेत्र कहाँतक है इसका वर्णन स्पष्ट शब्दोंमें कर रहा है। आत्माका पता अपने पासही लगना है, यह बताना अथर्ववेदके ज्ञानक्षेत्रमें है। इसी लिये इसका नाम "ब्रह्मवेद" है क्योंकि यही ब्राह्मणका ज्ञान बगता है।

"यर्व" शब्द चंचलनाका वाचक है और "अ-यर्व" शब्द शांतिका अथवा एकामताका चोक्तक है। आत्मानुभव अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार जो होना है, वह चित्तकी चंचलता इतनेके पश्चात् और चित्तशुद्धियोंका निरोध होकर उसमें शांति आनेके पश्चात् ही होना है। २. इ आत्मज्ञानके मार्गकी सूचना इस प्रकार अपने नामसे ही इस अथर्ववेदने बता दी है। वेदके नामोंका महत्त्व पाठक यहाँ देख सकते हैं।

"अथर्वन्" (अप+अर्वन्) इस शब्दका अर्थ "अब इस ओर" ऐसा होता है। जगत्में दो पदार्थ हैं, एक मैं और दूसरा मेरेसे भिन्न संपूर्ण जगत्। इसलिए मनुष्य समझता है कि मेरेसे भिन्न पदार्थोंसे ही मुझमें शक्ति आती है, मैं स्वयं अशक्त हूँ और शक्ति दूसरोंसे प्राप्त होती है। इस सर्वसाधारण विचारसे भिन्न परंतु अत्यंत सत्य विचार जो अथर्ववेद जनताके सम्मुख रखना चाहता है, वह यह है कि "अब शक्तिके लिये अपनी ओर" ही देखो। सब जगत्में यह नियम देखो

कि वृद्धि अंदरभे होती है, वृक्ष अंदरसे बढ़ते हैं, बालक अंदर-
से बढ़ते हैं, अर्थात् शक्तिकी वृद्धि अंदरसे हो रही है, इस-
लिये अपने अंदर अपनी ओर देखकर विचार करो । बाह्य
जगत्में न देखते हुए, परंतु उसके साथ अपनी शक्तियोंको
जोड़कर अपनी उन्नतिके हेतु अपने अंदर देखो, शक्ति अपने
अंदर है न कि बाहर है । यह अथर्ववेदकी शिक्षा अत्यंत
महत्त्वकी है ।

इस अथर्ववेदका स्वाध्याय करना है । ब्रह्मवेद होनेके कारण

यह वेद संपूर्ण रीतिसे समझना कठिन है, इसलिये इस वेदके
अितने मंत्र समझमें आवेंगे, उनकाही स्वाध्याय करना है । जिन-
का ठीक प्रकार ज्ञान नहीं हुआ उनके विषयमें हम कुछ भी
नहीं लिखेंगे । तथा जो मंत्र स्वाध्यायके लिये यहां लेंगे उनके
विषयमें थोड़ेसे थोड़े शब्दोंमेंही जो कुछ लिखना हो वह लिखेंगे
अर्थात् बहुत विस्तार नहीं करेंगे । परंतु जहाँतक हो सके वहाँ-
तक अर्द्ध मात संक्षिप्त नहीं छोड़ेंगे । इससे स्वाध्याय करने
वालोंको बड़ी सुविधा होगी ।



अथर्ववेद ।

प्रथम--काण्ड ।

इस प्रथम कांडमें छः अनुवाक, पैंतीस सूक्त और १५३ मंत्र हैं।

१ प्रथम अनुवाकमें छः सूक्त हैं, तीसरे सूक्तमें ९ मंत्र हैं। शेष पांच सूक्तोंमें प्रत्येकमें चार चार हैं। इस प्रकार इस अनुवाकमें २९ मंत्र हैं।

१ द्वितीय अनुवाकमें (७ से ११ तक) पांच सूक्त हैं। सतम सूक्तमें ७ और ग्यारहवें में ६; शेष तीनोंमें प्रत्येकमें चार चार मंत्र हैं। इस प्रकार कुल २५ मंत्र हैं।

३ तृतीय अनुवाकमें और पंचम अनुवाकमें (१२ से २० तक सूक्तों) के प्रत्येक सूक्तमें चार मंत्रवाले क्रमशः पाच, पाच और सात सूक्त हैं। इन तीनोंकी मंत्रसंख्या १८ है।

४ षष्ठ अनुवाकमें सात (२१ से ३५ तक) सूक्त हैं। २९ वें सूक्तमें छः मंत्र और ३४ वें में पांच मंत्र हैं, शेषमें चार चार हैं। इस प्रकार कुल मंत्रसंख्या ३१ है।

इस ३५ सूक्तोंमें चार मंत्रवाले सूक्त ३७ हैं, पांच मंत्रवाला एक, छः मंत्रवाले दो, सात मंत्रवाला एक, और नौ मंत्रवाला एक है। यह सूक्त और मंत्रविभाग देखनेसे पता लगता है कि यह अथर्ववेदका प्रथम काण्ड प्रधानतया चार मंत्रवाले सूक्तोंका ही है। इसका प्रथम सूक्त यह है इसमें जुद्धि बहानंका विषय कहा है जिसका नाम " मेधा-जनन" है-





मेधाजनन ।

(१) बुद्धिका संवर्धन करना ।

(ऋषिः—अथर्वा । देवता—वाचस्पतिः ।)

ये त्रिपुष्पाः परिपन्ति विश्वा रूपाणि विभ्रतः । वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वोऽग्र्य दधातु मे ॥१॥

अन्वयः— विश्वा रूपाणि विभ्रतः, ये त्रि-सप्ताः परिपन्ति, तेषां तन्वः बला वाचस्पतिः अद्य मे दधातु ॥१॥

अर्थ— सब रूपोंको धारण करके, जो तीन-गुणा-सात पदार्थ सर्वत्र व्यापते हैं, उनके शरीरके बल वागीश्वर स्वामी आज मुझे देवें ॥१॥

पदार्थ दो प्रकारके हैं एक रूपबाले और दूसरे रूपरहित । आत्मा परमात्मा रूपरहित हैं और संपूर्ण जगत् रूपबाले पदार्थोंसे भरा है । पदार्थोंके विविध रूप जो मनुष्य पशु पक्षी वृक्ष वनस्पति पाषाण आदि में दिखाई देते हैं—कौन धारण करता है, ये रूप कैसे बनते हैं ? इस सँकाके उत्तरमें वेद कह रहा है, कि जगत्के मूलमें जो सात पदार्थ-पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, तन्मात्र और अहंकार—हैं ये ही संपूर्ण जगत् में दिखाई देनेवाले विविध रूप धारण करते हैं । ये सात पदार्थ तीन अवस्थाओंमें गुजरते हुए जगत्के रूप और आकार धारण करते हैं । (१) सत्त्व अर्थात् समावस्था, (२) रज अर्थात् गतिरूप अवस्था और (३) तम अर्थात् गतिहीन अवस्था, इन तीन अवस्थाओंमें पूर्वोक्त सात पदार्थ गुजरनेसे कुल इन्हीं पदार्थ बनते हैं, जो संपूर्ण सृष्टिका रूप धारण करते हैं ।

सृष्टिके हरएक आकारधारी पदार्थमें बड़ी शक्ति है । हमारा शरीर भी सृष्टिके अंतर्गत होनेसे एक रूपवत पदार्थ है और इसमें भी पूर्वोक्त “ तीन गुणा सात ” पदार्थ हैं । और इन्हीं कारण शरीरके अंदरके इन इन्हीं तत्त्वोंके संबंध बाह्य जगत्के पूर्वोक्त इन्हीं तत्त्वोंके साथ है । शरीरका स्वात्म्य या रोगीपन इन संबंधके ठाँक होने और न होनेपर अवलंबित है ।

शरीरान्तर्गत इन तत्त्वोंको बाह्य जगत्के तत्त्वोंके साथ योग्य संबंध रखने द्वारा अपना आरोग्य स्थिर करके अपना बल अंदरले बढानेकी सूचना इस मंत्रद्वारा यहाँ मिलती है । जैसे बाह्य शुद्ध वायुसे अपना प्राणका बल, बाह्य सूर्य-प्रकाशसे

अपने नेत्र का बल, इसी प्रकार अन्यान्य बल बढा कर अपनी शक्ति पराक्राशतक बढानी चाहिये । यह अर्थवेदका मुख्य विषय है ।

जगत्का तत्त्वज्ञान जानकर, जगत् का अपने साथ संबंध अनुभव करके, अपना बल बढानेकी विद्याका अध्ययन करके, उसका अनुष्ठान करना चाहिये । यह उक्तिके मूल मंत्र इस प्रथम मंत्रमें बताया है । यहाँ प्रश्न होता है, कि यह विद्या कौन दे सकता है ? उत्तरमें मंत्रने बताया है कि “ वाचस्पति ” ही उक्त ज्ञान देनेमें समर्थ है ।

“ वाचस्पति ” कौन है ? वाक्, वाच्, वागी, वक्त्व, उपदेश, व्याख्यान ये समानार्थक शब्द हैं । वक्त्व करनेवाला अर्थात् उत्तम उपदेशक गुरु ही यहाँ वाचस्पतिसे अभिप्रेत है । इस अर्थको लेनेसे इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार हुआ—

“ मूल सात तत्त्व तीन अवस्थाओंमें गुजर कर सब जगत्के संपूर्ण पदार्थोंके रूप बनाते हुए सर्वत्र फैले हैं । इनके बलोंको अपने अंदर धारण करनेकी विद्या व्याख्याता गुरु आजही मुझे पढावे । ”

अर्थवेदकी पिप्पलाद-संदिग्धका पाठ ऐसा है—

“ ये त्रिपुष्पाः पर्यन्ति... । ...तेषां तन्वमभ्यादधातु मे ॥ ”

इसका अर्थ निम्न प्रकार होता है—“ जो मूल सात तत्त्व तीन अवस्थाओंमें गुजरकर सब जगत्के संपूर्ण पदार्थोंके रूप बनाते हुए सर्वत्र (पर्यन्ति) प्रभूत हैं, व्याख्याता गुरु ही आज उनके बलोंको मेरे (तन्वं) शरीरमें (अभ्यादधातु) धारण करावे, अर्थात् धारण करनेके उपाय बतावे । ”

पुनरोहिं वाचस्पते देवेन मनसा सह । वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥२॥
इहैवाभि वि तनुमे आती इव ज्यया । वाचस्पतिनि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥३॥

अन्वयः— हे वाचस्पते ! देवेन मनसा सह पुनः पुनः पुनः । हे वसोष्पते ! निरमय । श्रुतं मयि मयि एव अस्तु ॥ २ ॥

ज्यया उभे आनी इव, इह एव उभौ अभि वि शतु । वाचस्पतिः नि यच्छतु । श्रुतं मयि मयि एव अस्तु ॥ ३ ॥

अर्थ— हे बार्गाके स्वामी ! दिव्य मनके साथ सन्मुख आओ । हे बभ्रुओंके स्वामी ! मुझे लानेदित करो । पना हुआ शान मुझमें स्थिर रहे ॥ २ ॥

डोरीसे धनुष्यकी दोनों कोटीयोंकी तरह, रहाही (दोनोंको) तनाओ । बानीका पति नियमसे बने । पना हुआ शान मेरेमें स्थिर रहे ।

इस मंत्रमें आरंभमें ही " पुनः " शब्द है । इसका अर्थ "बारंबार, पुनः पुनः अथवा संमुख" है । शिष्य विद्याकी एक ओर और गुरु दूसरी ओर होता है, इसलिये गुरु शिष्यके सन्मुख और शिष्य गुरुके सन्मुख होते हैं । इन दोनोंकी इषी प्रकार रहना चाहिये । यदि ये परस्पर सन्मुख न रहे तो पढ़ाई असंभव है ।

गुरु (देवेन मनसा) देवा भावनासे युक्त मनसेही शिष्यके साथ बतौव करे । मन दो प्रकारके हैं—एक देव मन, और दूसरा राक्षस मन । राक्षस मन जगत् में झगडे उत्पन्न करता है और देव मन जगत् में शांति रखता है । गुरु-देवमनसे ही शिष्यको पढ़ाये ।

गुरु शिष्यको (नि रमय) रममाण करे, अर्थात् ऐसा पढ़ाये कि जिससे शिष्य आनंदके साथ पढ़ता जाय । इस शब्दके द्वारा पढ़ाईकी " रमण पद्धति " वेदने प्रकट की है । इससे भिन्न " रोदन पद्धति " है जिसमें रोते हुए शिष्य पढ़ाये जाते हैं ।

गुरुके दो गुण इह मंत्रने बतौये हैं । एक गुण (वाचररतिः) अर्थात् धार्माका प्रयोग करनेमें समर्थ, शिष्यको विद्या समझा देनेमें निपुण, उत्तम वक्ता । तथा दूसरा गुण (वसोष्पतिः) धनुष्यका पति अर्थात् अग्न्यादि पदार्थोंका प्रयोग करनेमें निपुण शस्त्रों द्वारा (Theoretical) ज्ञान जो कहेगा, उसको वस्तु-आज्ञा (Practical) साक्षात् प्रत्यक्ष कदा देनेमें समर्थ गुरु होना चाहिये ।

शिष्य भी ऐसा हो कि जो (मयि श्रुते वस्तु) अपने-प्रेः ज्ञान स्थिर रहनेसे इच्छा करनेवाला हो । अर्थात् दिलसे पढ़नेवाला और सधा (विद्यार्थी-विद्या+अर्थ) विद्या प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला हो ।

इन अर्थोंको प्यानमें धरनेसे इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार होता है—

" हे उत्तम उपदेश करनेवाले गुरु ! देव भावने युक्त मनसे ही शिष्यके सन्मुख आ । हे अग्न्यादि धनुष्यकी प्रयोग कर्ता गुरु ! तू शिष्यको रमाता हुआ उभे विद्या पढ़ाओ । शिष्य भी कहे कि पढ़ा हुआ ज्ञान अपने अंदर स्थिर रहे ॥ "

अथर्ववेद विष्णुवाद-संहितामें मंत्रका आरंभ "उप नेह " शब्दसे होता है और " वसोष्पते "के स्थानपर " वसोष्पते " पठ है । अनुपति (असोः पति) का अर्थ प्रायोजक पति गुरु । " प्रायोजक पति " अर्थात् योगादि साधनद्वारा प्रायोजके स्थापन रखनेवाला उत्तम योगी गुरु हो । यह शब्द भी गुरुका एक उत्तम लक्षण बता रहा है ।

धनुष्यकी दोनों कोटीयों डोरीसे तनी रहती हैं इस तनी हुई अवस्थामें ही धनुष्य विजयका साधन हो सकता है । जिस समय दोनों कोटीयोंकी डोरी हट जाय है उस समय यह धनुष्य धनुष्याघात विजय प्राप्त करनेमें असमर्थ हो जाता है । इषी प्रकार ज्ञाति या समाजरूपी धनुष्यकी दो कोटीयों गुरु और शिष्य हैं, इन दोनोंको विद्यारूपी डोरी बांधी गयी है और इस डोरीसे यह धनुष्य तना हुआ अर्थात् अपने काममें सिद्ध रहता है । समाजको यह धनुष्य सदा सिद्ध रखना चाहिये । इषीकी सिद्धांतसे ज्ञाति, समाज या राष्ट्र जीवित, ज्ञात और उन्नत रहता है । जिस समय विद्याकी डोरी गुरु शिष्यरूपी धनुष्यसे हट जाती है उस समय अज्ञान-दुःख शुरू होनेके कारण ज्ञाति पतित हो जाती है ।

(वाचस्पतिः) उत्तम वक्ता गुरुके स्वयं (नि यच्छतु) नियममें बने और शिष्योंको नियमके अनुसार चलाये । गुरु-कुल आचार्यकुल अथवा विद्यालयदि संस्थाएं उत्तम नियमोंके अनुसार चलायीं जाय । वही देखेच्छा विहार न हो ।

शिष्य प्रयत्न करें और पढ़ा हुआ ज्ञान अपने अंदर सदा

उपहृतो वाचस्पतिरुपास्मान्वाचस्पतिर्ह्वयताम् । सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिपि ॥ ४ ॥

अन्वयः— वाचस्पतिः उपहृतः । वाचस्पतिः अस्मान् उपह्वयताम् । श्रुतेन सङ्गमेमहि । श्रुतेन मा वि राधिपि ॥ ४ ॥

अर्थ— वाणीका स्वामी बुलाया गया । वह वाणीका स्वामी हम सबको बुलावे । ज्ञानसे हम सब युक्त हों । हम ज्ञानके साथ कभी विरोध न करें ॥ ४ ॥

स्थिर रखनेके लिये अति दक्ष रहें । पहिले पडा हुआ ज्ञान स्थिर रहा तो ही आगे अधिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । यह भाव ध्यानमें धरनेसे इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार होता है—

“ जिस प्रकार डोरीसे धनुष्यकी दोनों कोटियां विजयके लिये तनी होती हैं, उसी प्रकार गुरु और शिष्य ये समाजकी दो कोटियां विद्यामें सज रखिये । आचार्य स्वयं नियमानुसार चलें और शिष्योंकी नियमानुसार चलें । शिष्य अध्ययन किया हुआ ज्ञान हठ करके आगे बढे ॥”

“ उपहृत ” का अर्थ “ बुलाया, पुकारा, आह्वान किया अथवा पूजा गया ” है । उत्तम व्याख्याता गुरुको हमने बुलाया और उसे प्रश्न पूछे गये अर्थात् विद्याका व्याख्यान करनेके लिये उसे आह्वान किया गया है । गुरु भी शिष्यके प्रश्न सुनकर उनके प्रश्नोंका उचित उत्तर देकर उनका समाधान करें । अर्थात् गुरु कोई बात शिष्यसे टिकाकर न रखे । इस प्रकार दोनोंके परस्पर प्रेमसे विद्याकी वृद्धि होती रहे ।

हरएक अपने मनमें यह इच्छा रखे कि “ हम सब ज्ञानसे युक्त हों, ज्ञानकी वृद्धि करते रहें और कभी ज्ञानकी प्रगतियों बाधा न दालें, ज्ञानका विरोध न करें और मिथ्या ज्ञानका प्रचार न करें ।”

इस स्पष्टीकरणका विचार करनेसे इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार प्रतीत होता है—

“ हम तत्त्व व्याख्याता गुरुसे प्रार्थना करते हैं । वह हमें योग्य उत्तर देवे । इस [प्रश्नोत्तरकी रीतिसे हम सब] ज्ञानसे युक्त होते रहें और कभी हमसे ज्ञानकी उन्नतियों बाधा उत्पन्न न हो ।”

गनन ।

इस अथर्ववेदके प्रथम सूक्तके ये-चार मंत्र शिष्यके मुखमें रखे हैं, इसका आतिथ्येपसे तात्पर्य यह है—

“ जो इहोसि [पदार्थ जगत्की वस्तुओंके] आकार धारण करते हुए [सर्वत्र] फैले हैं, उनकी शक्तियों मेरे [शरीरके

अंदर स्थिर करनेकी विद्या] गुरु हमें सिखावे ॥ १ ॥ हे गुरु ! तू मनमें शुभ संकल्प धारण करके हमारे सन्मुख आ, हमें रमाते [हुए पढा] प्राप्त किया हुआ ज्ञान हममें स्थिर रहे ॥ २ ॥ डोरीमें दोनों धनुषकोटियोंके तनावके समान यहाँ तू [विद्यासे हम दोनोंको] तना [कर बांध दे] गुरु नियममें चले और हमें चलावे । ज्ञान हममें स्थिर रहे ॥ ३ ॥ हम गुरुसे प्रश्न पूछते हैं, वह हमें उत्तर देवे । हम सब ज्ञानी बनें । कोई भी ज्ञानका विरोध न करे ॥ ४ ॥

इन मंत्रोंका जितना मनन होगा, इनपर जितना विचार होगा, उतना ज्ञान बढ़ानेका उपाय— (मेधाजनन)— हो सकता है । आशा है कि पाठक इसका योग्य विचार करें और अपनी परिस्थितियों अपने ज्ञानकी वृद्धि करनेके लिये सोचें । इसमें निम्नलिखित पांच बातोंका अवश्य विचार हो—

१ विद्या— जिनसे जगत् बनता है उन मूलतत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करना और उनका अपनी उन्नतियों संबंध देखना तथा उधका अनुष्ठान करनेका विधि जानना, यही सीखनेयोग्य विद्या है ।

२ गुरु— उक्त विद्या सिखानेवाला गुरु (वाचस्पतिः) वाणीका उत्तम प्रयोग करनेमें समर्थ, उत्तम रीतिसे विद्या पढ़ानेवाला हो, (वसोष्पतिः) अग्न्यादि मूलतत्त्वोंका प्रयोग यथावत् करनेवाला हो, (असेष्पतिः) प्राणविद्याका ज्ञाता हो । “ पति ” शब्द यहाँ “ प्रभुत्व ” (mastership) का भाव बताता है ।

३ पढ़ानेकी रीति— गुरु अपने (देवेन मनसा) मनके शुभ संकल्पके साथ पढ़ावे । (निरमय) रमणवृद्धतिसे पढ़ाने, शिष्योंका आनंद बढ़ाता हुआ पढ़ावे । स्वयं (नि यच्छतु) मुनियमोंसे चले और शिष्योंका मुनियोंसे चलावे । शिष्योंके प्रश्नोंका (उपह्वयता) भादरपूर्वक उत्तर देकर उनका समाधान करे ।

४ शिष्य— शिष्य सदा प्रयत्नपूर्वक इच्छा करे कि (ध्रुतेन सं गमेमहि) हम ज्ञानी बनें, (ध्रुं म मधि अस्तु) प्राप्त ज्ञान मेरे अंदर स्थिर रहे । तथा (ध्रुतेन मा वि राधिपि) ज्ञानका विरोध कभी न करें ।

विजय-सूक्त ।

(२)

यद् "अपराजित गग" का प्रथम सूक्त है जिसका ऋषि "अथर्वा" और देवता "पञ्चम्य" है ।

विद्वा शरस्य पितरं पुर्यन्धं भूरिधापसम् । विद्वा प्वंस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्षसम् ॥१॥

ज्यांकिं परिं षो नमाश्मानं तन्त्रिं कृधि । वीडुर्वरीयोऽरतीरप द्वेषांस्या कृधि ॥२॥

वृक्षं यद्वावः परिपस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्युभुम् । शरुमस्मद्यावय दिद्युमिन्द्र ॥३॥

यथा द्यां चं पृथिवीं चान्तस्त्रिष्टुतिं तेजसम् । एवा रोमं चास्त्रावं चान्तस्त्रिष्टुतु मुञ्ज इत् ॥४॥

अर्थ— (शरस्य) शरका, बागका पिता (भूरि-धापसं पञ्चम्यं) बहुत प्रकारसे धारण पोषण करनेवाला पञ्चम्य है यह (विद्वा) इम जानने है । तथा (अस्य) इमका माता (भूरि-वर्षसं) बहुत प्रकारकी कुशलताओंसे युक्त पृथिवी है, यह हमें (सुविद्य) उत्तम प्रकारसे पता है ॥ १ ॥ हे (ज्यांके) माता ! (नः) हम सब पुत्रोंको (परि नम) परिणत कर अर्थात् हमसे (तन्त्रे) शरीरको (अदमानं) पदर जैसा सुरत (कृधि) कर (वीडुः) बलवान बनकर (अ-रतीः) अदानके भावोंको तथा (द्वेषांसि) द्वेषोंको अर्थात् सब शत्रुओंको (चरीयः) पूर्ण रीतिसे (अप कृधि) दूर कर ॥ २ ॥ (यत्) जिस प्रकार (वृक्षं) वृक्षके साथ (परिपस्वजानाः) लिपटी हुई या बंधी हुई (गायः) गीएँ अपने (ऋभुं शरं) तेजस्वी पुत्र शरको (अनुस्फुरं) पुर्तकीके साथ (अर्चन्ति) चाहती हैं, उसी प्रकार हे इन्द्र ! (अस्मद्) हमसे (द्वियुं दासं) तेज-पुत्र बागको (यावय) दूर बड़ा ॥ ३ ॥ जिस प्रकार (द्या) युक्तक और पृथ्वीके (अन्तः) बीचमें (तेजसं) तेज (विष्टति) होता है, (एव) इसी प्रकार यद् (सुञ्जः) मुंज (रोमं च आस्त्रावं च) रोम और आस्त्रके (अन्तः) बीचमें (इत् विष्टतु) निक्षयसे रहे ॥ ४ ॥

भावार्थ— धारण-पोषण उत्तम प्रकारसे करनेवाला पिता पञ्चम्य है, कुशलतासे अनेक कर्म करनेवाली माता पृथ्वी है, इन दोनोंसे शर-सकंडा-पुत्र उत्पन्न होता है ॥ १ ॥ माता पुत्रके शरीरपर ऐसा परिणाम करावे कि जिससे वह बलवान बनकर शत्रुओंकी पूर्ण रीतिसे दूर करनेमें समर्थ हो सके ॥ २ ॥ जिस प्रकार वृक्षके साथ बंधी हुई गीएँ अपने बछड़े को वेगसे प्राप्त करना चाहती हैं, वही प्रकार हे ईश्वर ! तेज शर हमसे आगे बड़े ॥ ३ ॥ जिस प्रकार युक्तक और पृथ्वीके बीचमें प्रकाश होता है, उसी प्रकार रोम और आस्त्र-शस्त्रके बीचमें शर ठहरे ॥ ४ ॥

५ गुरु शिष्य— राज पशुपके दोनों नोक जिस प्रकार जोरते सने रहते हैं, उस प्रकार विद्यारूपी जोरिसे समानके गुरु-शिष्य-रूपी दोनों नोक एक दूसरेसे पूर्णतया सुसंबंध रहें । कभी उनमें दलितन न आयावे ।

यह सब सूक्त शिष्यके मुखद्वारा उच्चारित होनेके समान है, इससे अनुमान होता है कि गुरुको जाने, रखने आदिके प्रबंधादि व्यवका उत्तरदातृत्व शिष्यों या शिष्योंके संरक्षकों-पर ही पूर्णतया है ।

अनुसन्धान

इत प्रथम सूक्तमें "विधावनन" अर्थात् बुद्धिका संवर्धन

करनेके मूलभूत निबन्ध बताये हैं । गुरु, शिष्य तथा विद्यालय अदिका प्रबंध किम रीतिसे करना चाहिये, गुरु किस प्रकार पढ़ावे, शिष्य किस ढंगसे पढ़े और दोनों मिलकर शत्रुकी उन्नति किस रीतिसे करें इसका विचार दिया गया ।

इसके पश्चात् विद्याकी पढाई गुरु होती है, जिसमें अपराजित गणका सूक्त "विद्या शरस्य पितरं" यह है । अथर्व-वेदमें यह द्वितीय सूक्त है । तृतीय सूक्त भी इसी वाक्यसे प्रारम्भ होता है । इन दोनों सूक्तोंका विचार अब करेंगे ।—

यह भावार्थ भी परिपूर्ण नहीं क्योंकि इन मंत्रोंके हर एक आगे पीछेका संबंध देखकर जो भाव व्यक्त होता है, वह जानकर ही मंत्रोंका सच्चा भावार्थ जानना चाहिये । वह भाव,

देखने के लिये आगेका स्पष्टीकरण देखिये—

(१) वैयक्तिक विजय ।

इस सूक्तमें पहिला वैयक्तिक विजय प्राप्त करनेके उपदेश निम्न प्रकार बताये है—

- १ उत्तम मातापितासे जन्म प्राप्त हो, (मंत्र १)
- २ शरीर बलवान बनाया जावे, (मंत्र २)
- ३ रोगादि शत्रुओंको दूर रखा जावे, (मंत्र २)
- ४ शरीरमें फुलीं लाई जावे, (मंत्र ३)
- ५ जगत्में अपना तेज फैलानेका यत्न किया जावे, (मंत्र ४)
- ६ शोधनों से रोगोंको दूर किया जावे, (मंत्र ४)

पाठक विचारकी दृष्टिमें इन मंत्रोंका विचार करेंगे तो उनको उक्त छः भाव वैयक्तिक उन्नतिके साधन पूर्वोक्त चारों मंत्रोंके अन्दर गुणरूपसे दिखाई देंगे । इनका विशेष विचार होनेके लिये यहां मंत्रोंके शब्दार्थ और स्पष्टीकरण दिये जाते हैं—

(२) पिताके गुण-धर्म-कर्म ।

पूर्वोक्त मंत्रोंमें पितिके गुणधर्म बतानेवाले ये शब्द आये हैं—“ पिता, पर्जन्य, भूरिधायस्, वृक्ष, योः । ” इनके अर्थोंका बोध होनेसे पिताके गुण-धर्म-कर्मोंका बोध हो सकता है; इसलिये इनका आशय देखिये—

- १ पिता- (माता) रक्षक, संभालनेवाला ।
- २ पर्जन्यः- (पूर्ति+जन्मः) पूर्ति करनेवाला, पूर्णता करनेवाला । न्यूनताको दूर करनेवाला ।
- ३ भूरिधायस्— (भूरि) बहुत प्रकारसे (धायस्) धारण पोषण करनेवाला, दाता, उदारचरित ।
- ४ वृक्षः- आधार, स्वयं धूप सहकर दूसरोंको छाया देनेवाला ।
- ५ योः— प्रकाश देनेवाला, अंधकारका नाश करनेवाला ।

मुख्यतः ये पांच शब्द हैं जो उक्त मंत्रोंमें पिताके गुणधर्म कर्मोंका प्रकाश कर रहे हैं । इनका आशय यह है—“ पिता ऐसा हो कि जो अपने पुत्रादिकोंका उत्तम पालन करे उनके अंदर जो जो न्यूनताएँ हों उनको पूर्णता करे अर्थात् अपनी संतानमें पूर्ण उच्च गुणोंसे युक्त बनानेमें अपनी पराकाष्ठा करे, उनका हर प्रकारसे पोषण करे और उनको हृष्ट पुष्ट तथा बलिष्ठ बनावे, वह स्वयं कष्ट सहन करके भी अपनी संतान की उन्नति करे, तथा अपने पुत्रों और लड़कियोंको ज्ञान देकर उनको उत्तम नागरिक बनावे । ”

(३) माताके गुण-धर्म-कर्म ।

“ माता, पृथिवी, भरिर्वर्षम् ज्याका, गौ ” ये पांच शब्द पूर्वोक्त मंत्रोंमें माताके गुणधर्मकर्मोंको प्रकट कर रहे हैं । इनका अर्थ देखिये—

- १ माता- बालकोंका हित करनेवाली ।
- २ पृथिवी— क्षमाशाल, सहनशाल, पुत्रोंकी उन्नतिके लिये आवश्यक वृष्ट सहन करनेवाली ।
- ३ भरिर्वर्षम्- (भरि) बहुत (वर्षम्) कुशलतासे कर्म करनेमें समर्थ, कर्ममें अत्यंत कुशल, सदा कर्म करनेमें दक्ष, परिवारकी उन्नतिके लिये उत्तम कर्म करनेवाली ।
- ४ ज्या, ज्याका- (ज्या-जया) जयका साधन करनेवाली, माता, पृथिवी, रस्मा, बलशालिनी ।
- ५ गौः- प्रगतिशाल, दुग्धादिद्वारा पुत्रोंकी पुष्टि करनेवाली । क्षिरण, स्वर्ग, रत्न, वाणी, सरस्वती, माता, जल, नेत्र, आकाश सूर्य आदिके शुभगुणोंसे युक्त ।

माताके गुणधर्म इन शब्दों द्वारा व्यक्त हो रहे हैं । अर्थान्तर—“ बालबच्चोंका हित करनेवाली क्षमाशाल, पुत्रोंकी उन्नतिके लिये करनेयोग्य कर्मोंमें सदा दक्ष रहनेवाली, बहुतही कुशलतासे अपने लडुंगकी उन्नति करनेमें समर्थ, बलशालिनी, जो समान दुग्धादिद्वारा बालकोंकी पुष्टि करनेवाली, किरणोंके समान प्रकाश करनेवाली, स्वर्गके समान सुखदायिनी, ज्ञानके समान घरकी शोभा बढ़ानेवाली, शुभ भाषण करनेमें चतुर, विदुषी, जलके समान साति बढ़ानेवाली, नेत्रके समान मार्ग दर्शानेवाली, आकाशके समान सबको आश्रय देनेवाली, सूर्यके समान अज्ञानान्धकार दूर करनेवाली माता होनी चाहिये । ”

पिताके गुणधर्मकर्म पाहेले बताये, और यहाँ माताके गुणधर्म बताये हैं । ये आदर्श माता पिता हैं, इनसे जो पुत्र पैदा होगा और पला तथा बढाया जायगा, वह भी सच्चा वीर पुत्रही होगा तथा पुत्री भी उसी प्रकार वीरा बनेगी इसमें क्या संदेह है ?

(४) पुत्रके गुण-धर्म-कर्म ।

पूर्वोक्त मंत्रोंमें पुत्रके गुणधर्मकर्म बतानेवाले ये शब्द हैं—“ शरः, अश्मा-तनुः, वीडुः, ऋभुः, चघः, दिशुः, तेजन्, सुष्ठः ” इनके अर्थ ये हैं—

- १ शरः- (शृणुति) जो शत्रुका नाश कर सकता है ।
- २ अश्मा-तनुः-परपके समान सुदृढ शरीरवाला ।
- ३ वीडुः-बलिष्ठ, शूर ।

४ ऋतुः—सुदिमान्, वृशल, क्षारीगर, तेजस्वी ।

५ शरः—शत्रुका नाश करनेवाला ।

६ दिगुः—तेजस्वी ।

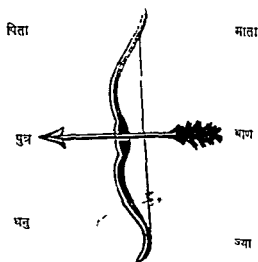
७ तेजनः—प्रवासमान ।

८ मुञ्जः—(मुञ्जति मार्गपति) श्रद्धता और पावित्रता करनेवाला ।

पुत्र ऐसा हो कि जो “शत्रुका नाश करनेमें समर्थ हो, सुष्ट अंगवाला हो, शर, सुदिमान्, वृशल, क्षारीगर, तेजस्वी, यशस्वी और पवित्र आचारवाला हो।” माता पिताको उचित है, कि वे ऐसा यज्ञ करें कि पुत्रमें ये गुणधर्म आंर कर्म बडेँ और इन गुणोंके द्वारा बलका यश फैले ।

यह बात स्पष्ट हो है कि पूर्वोक्त गुणधर्म कर्मोंसे पुत्रत मानापिता होंगे तो उनके पुत्रों और पुत्रियोंमें ये गुणधर्म आ सकते हैं ।

(५) एक अद्भुत अलंकार



इस सूक्तमें बाण, धनुष्य और दोरीके अलंकारसे एक महत्त्वपूर्ण बातका प्रकाश किया है। धनुष्यका सधत भाग जिसपर दोरी चढ़ाई जाती है वह पुरुषरूप समक्षिण, दोरी मातारूप है और पुत्र बाणरूप है। पिताका बल और माताकी प्रेरणा इनसे युक्त होकर पुत्र संसारमें फैला जाता है। वह संसारमें जाकर अपने शत्रुओंका नाश करके यशका भागी होता है। इस अलंकारका विचार पाठक करेंगे तो उनके

बड़ाही बोध प्राप्त हो सकता है। पुत्रकी उन्नतिमें माता पिताका कार्य कितना होता है इसकी ठीक कल्पना इस अलंकारसे पाठकोंके मनमें आ सकती है ।

दोरीके बिना केवल धनु जैसा शत्रुनाश करनेमें असमर्थ है उसी प्रकार स्त्रियोंके बिना पुरुष असमर्थ है। तथा जिस प्रकार धनुके बिना दोरी कार्य करनेमें असमर्थ है उसी रीतिसे पुरुषके बिना स्त्री असमर्थ है। माता पिता का योग्य प्रेरणा और योग्य शिक्षाद्वारा सुशिक्षित बना पुत्रही जगत्में यशस्वी होता है। यह अलंकार एहस्थियोंको बड़ाही बोधप्रद हो सकता है ।

पिताके सूत्रक “पर्जन्य, वृक्ष” आदि शब्द तथा माताके सूत्रक “पृथिवी” आदि शब्द उनका ऋतुगामित्व होकर ब्रह्मचारी होनेकी सूचना कर रहे हैं। [इस विषयमें स्वाध्याय मंडलद्वारा प्रकाशित “ब्रह्मचर्य” पुस्तकके अंदर अथर्ववेदाय ब्रह्मचर्यं सूक्तको व्याख्यामें पृथ्वी, पर्जन्य और वृक्षोंके ब्रह्मचर्यका प्रकरण अवश्य देखिये]

(६) कुटुम्बका विजय ।

व्यक्तिकी उत्पत्तिके विषयमें पहिले बतायाही है कि वैयक्तिक विजय की सूचनाएं इन सूक्तमें किस रूपमें हैं। कुटुम्बके या परिवारके विजयका संबंध पूर्वोक्त अलंकार तथा स्पष्टीकरणके देखनेसे स्पष्ट हो सकता है। कुटुम्बका विजय माता पिताके उत्तम कर्तव्य पालन करने और सुप्रजा निर्माण करनेसे ही प्राप्त होना है ।

(मंत्र १) जैसा “अनेक प्रकारसे पोषण करनेवाला पर्जन्य पिता ऋतुगामी होकर वर्षा ऋतुमें अपने जलरूपी वीथिका ध्रुवन उत्तम उपजाऊ भूमिमें कराता है और शररूपी विजयी संतानकी उत्पत्ति करता है,” तद्वत् माता पिता ऋतुगामी होकर वीर पुत्र उत्पन्न करें ।

(मंत्र २) “हे जयका साधन करनेवाली माता ! अपने पुत्रोंका शरीर पत्थर जैसा सुदृढ बना, जिससे पुत्र बलवान बनकर अपने शत्रुओंको दूर कर सके ।”

(मंत्र ३) —“जिस प्रकार वृक्षके साथ बंधी हुई पीठ अपने तेज बटुकेकी चाहता है” [उसी प्रकार पिताके साथ रहती हुई माता भी अपने भिये तेजस्वी पुत्र उत्पन्न करनेकी ही इच्छा करे।] अथवा— “(वृक्षं) धनुष्यके साथ रहनेवाली दोरी तेजस्वी (शरं) बाण ही वेगसे छोड़ती है। ” [उसी प्रकार पतिकी उपासना करनेवाली स्त्री वीर पुत्र उत्पन्न होनेकी ही अभिलाषा करे।] “ हे (इन्द्र) परमा-

धम् । इमसे तेजस्वी (शशुः) बाणके समान तेजस्वी पुत्र चले अर्थात् उत्पन्न हो । ” [मातापिता परमात्माको प्रार्थना ऐसी करें कि वे ईश्वर ! हमारा ऐसा पुत्र हो कि जो दूर दूर जाकर जगत्में विजय प्राप्त करे ।]

(मंत्र ४) - “ त्रिस प्रकार [पिता] युलोक और [माता] पृथिवीके मध्यमें विद्युत् आदि तेजस्वी पदार्थ [पुत्ररूपसे] रहते हैं, ” [उर्ध्व प्रकार माता पिता के मध्यमें तेजस्वी सुंदर बालक चमकता रहे ।] “ जैसा मुझ शर रोग और स्त्रावके धावके बीचमें रहता है ” अर्थात् उनको दूर करता है उसी प्रकार [यह पवित्रता करनेवाला पुत्र रोग धावके मध्यमें रहता हुआ भी स्वयं अपना बचाव करे और कुलका भी उद्धार करे]

यह भाव पहिलेकी अपेक्षा अधिक विस्तृत है और इसमें स्पष्टीकरणके लिये पूर्वापर संबंध रखनेवाले अधिक वाक्य जोड़ दिये हैं, जिससे पाठकोंके पता लग जायगा, कि यह सूक्त कुटुंबके विजयका उपदेश किस ढंगसे दे रहा है । जातिके या राष्ट्रके विजयकी सुनियार इस प्रकार कुटुंबकी सुस्थितिपर तथा सुपत्नी निर्माणपर ही अवलंबित है । जो लोग राष्ट्रकी उन्नति चाहते हैं, वे अपनी उन्नतिकी सुनियार इस प्रकार कुटुंबमें रखें । आदर्श कुटुंब-व्यवस्था ही सब विजयका मुख्य साधन है ।

(७) पूर्वापर-सम्बन्ध

पहिले सूक्तमें विद्या पशानेका उपदेश दिया है । इस द्वितीय सूक्तसे पढ़ाईका प्रारंभ हो रहा है । विद्याका प्रारंभ बिल्कुल साधारण बातसे ही किया गया है । घास की उत्पत्तिका विषय हरएक स्थानके मनुष्य जानते हैं । “ मेघसे पानी गिरता है और पृथ्वीसे घास उगता है इसलिये घासका पिता मेघ और माता भूमि है । ” इतना ही विषय इस सूक्तके प्रारंभमें बताया है । इतनी साधारण घटनाका उपदेश करते हुए “पिता-माता-पुत्र” रूपी कुटुंबकी उन्नतिकी शिक्षा किस ढंगसे वेदने बताया है यह पाठक यहां देख चुके हैं । घासके अंदर मुझ या शर एक जातिका घास है । यह सर-कंधा स्वयं घनुका वध करनेमें समर्थ नहीं होता । क्योंकि कोमल रहता है । परंतु जब उसके साथ कठिन लोहेका संयोग किया जाता है और पीछे पर लगाने जाते हैं, तब वही कोमल सरकंधा धनुष्यपर बढकर जौरीकी गति प्राप्त करके घनुका नाश करनेमें समर्थ होता है । इसी प्रकार कोमल बालक गुरु पढ़की कठिन तपस्या करता हुआ ब्रह्मचर्य पालनरूपी कठिन

व्रतसे युक्त होकर उन्नतिके नियमोंके पालनसे अपनी गतिके एक मार्गमें रखता हुआ अपने, कुटुंबके, जातिके तथा राष्ट्रके शत्रुओंको मगा देनेमें समर्थ होता है ।

पहिले सूक्तके तृतीय मंत्रमें धनुष्यकी उपमा देकर बताया है कि “गुरु शिष्यरूपी धनुष्यकी दो कोटियां विद्यारूपी कोरीसे तनी हैं । ” प्रथम सूक्तमें यह अलंकार भिन्न उपदेश दे रहा है और इस सूक्तका धनुष्यका दृष्टांत भिन्न उपदेश दे रहा है । दृष्टांतमें एकदेशी बातको ही देखना होता है, इसलिये एक ही दृष्टांतसे भिन्न उपदेश देना कोई दोष नहीं है । प्रथम सूक्तके दृष्टांतमें भी जौरीका स्थान विद्या माता अर्थात् सरस्वती देवीको दिया है उसमें मात्रात्व का सादृश्य है ।

अंगलमें वृक्षके साथ बंधी हुई गाय भी अपने बछड़ेका स्मरण करती रहती है, गायका बछड़ेके ऊपर का प्रेम सबसे बढ़िया प्रेम है । इस प्रकारका प्रेम अपने बालके विषयमें माताके हृदयमें होना चाहिये । अपना बालक अति तेजस्वी हो, अति यशस्वी हो, यही भावना माता मनमें धारण करे और इस भावनाके साथ यदि माता अपने बालकको दूर पिलावेगी, तो उक्त गुण पुत्रमें निःसंदेह उतरेंगे । इस विषयमें तृतीय मंत्र मनन करनेके योग्य है ।

(८) कुटुम्बका आदर्श ।

चतुर्थ मंत्रमें आदर्श कुटुंबका नमूना सन्मुख रखा है । युलोक पिता, भूमि माता और इनके बीच का तेजस्वी गोलक इनका पुत्र है । अपने घरमें भी यही आदर्श होवे । आकाश और पृथ्वीमें जैसा सूर्य होता है उसी प्रकार पिता और माताके मध्यमें बालक चमकता रहे । कितना उच्च आदर्श है । हरएक शहस्वी इसका स्मरण रखे ।

(९) औषधिप्रयोग ।

मुझ घास अपने रस आदिसे अनेक रोगों और अनेक क्षाओंको दूर करता है, क्योंकि मुझ शोषक, सुदृढता तथा निर्मलता करनेवाला है । इसलिये स्पष्ट है कि यदि शोषकता और पवित्रता का गुण अपने अंदर बढाया जाय तो रोगादि दूर रह करते हैं । हरएकके लिये यह सूचना अपनाते योग्य है ।

मुझ या शर औषधिका प्रयोग करके स्त्रावके रोग तथा, मूत्रापात आदि रोग दूर होते हैं । इस विषयका सूचक उप-देश इस सूक्तके अन्तमें है । वैद्य लोग इसका विचार करें ।

(१०) राष्ट्रका विजय ।

व्यक्ति, कुटुंब, जाति, देश तथा राष्ट्रके विजयपूर्ण अभ्युदय-के नियमोंमें समानता है। पाठक इस बातको अच्छी प्रकार जानते ही हैं। व्यक्तिका कार्यक्षेत्र छोटा और राष्ट्रका विस्तृत है, छोटेपन और विस्तृतपन की बातको छोड़नेसे दोनों रक्षाओंमें नियमोंकी एकरूपताका अनुभव आ सकता है।

कुटुंबका ही विस्तृत रूप राष्ट्र है, ऐसा मान लें और पूर्व स्थानमें एक घर या एक परिवारके विषयमें जो उपदेश बताया है, वही विस्तृत रूपसे राष्ट्रमें देखेंगे तो पाठकोंको राष्ट्रीय उन्नति का विषय पूर्वोक्त रीतियों हीं ज्ञात हो जायगा।

परमें पिता शासक है, राष्ट्रमें राजा शासक है; परमें माता प्रबंधकर्त्री है, राष्ट्रमें प्रजाद्वारा चुनी हुई राष्ट्रसभा प्रबंधकर्त्री है। परमें पुत्र वीर बनाया जाना है और राष्ट्रमें बालवमुओंमें वीरता बढाई जाती है। इत्यादि साम्य देखकर पाठक जान सकते हैं कि यह सूक्त राष्ट्रीय विजयका उपदेश किस ढंगसे देता है। पूर्वोक्त स्थानमें वर्णन किये हुए पिता, माता और

पुत्रके गुणधर्मक्रमे यहाँ राष्ट्रीय क्षेत्रमें अतिविस्तारसे देखनेसे इस क्षेत्रकी बात पाठकोंकी अतिस्पष्ट हो जायगी। इस भावको ध्यानमें धारण करनेसे इस सूक्तका राष्ट्रीय भाव निम्न-लिखित प्रकार होगा—

“ प्रजाका उत्तम धारण पोषण और पूर्णता करनेवाला राजा ही शूरका सचा पिता और उसकी माता बहुत कर्मोंकी प्रेरणा करनेवाली मातृभूमि ही है ॥ १ ॥ हे मातृभूमि ! हम सबके शरीर अति सुदृढ हों, जिससे हम सब उत्तम बलवान बनकर अपने दानुओंको भगा देंगे ॥ २ ॥ जिस प्रकार गौ अपने बछड़ेका हित सदा चाहती है, उसी प्रकार दे ईश्वर ! मातृभूमिके प्रेमसे बड़े हुपु वीर अंग बढें ॥ ३ ॥ जिस प्रकार आकाश और भूमिके बीचमें तेजोगोलक होते हैं उसी प्रकार राजा और प्रजाके मध्यमें वीर चमकते रहें। तथा वे पवित्रता करते हुपु रोगादि भयसे दूर हों ॥ ४ ॥

साधारणतः यह आशय अतिछक्षेपसे है। पाठक इस प्रकार विचार करें और वेदके आशयको समझनेका यत्न करें।

आरोग्य-सूक्त ।

(३)

पूर्ण सूक्तका अभ्यास करनेसे यह ज्ञान हुआ कि परमैश्वर्य पिता है, पृथ्वी माता है और इनके पुत्र वृक्षवनस्पति आदि सब हैं। यहाँ शंका उत्पन्न होती है कि, क्या परमैश्वर्यके समान सूर्य, चंद्र, वायु आदि भी वृक्षवनस्पतियोंके लिये वित्स्वर्णनीय हैं या नहीं, क्या इनके न होते हुए, केवल अकेला एक ही परमैश्वर्य तृणादि की उत्पत्ति करनेमें समर्थ हो सकता है ? इसके उत्तरमें यह तृतीय सूक्त है—

[श्रापि—अथर्वा । देवता—(मंत्रोंमें उक्त अनेक) देवताएँ]

विद्या शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम् ।

तेनां ते तन्वेदुं शं करं पृथिव्यां तं निपेचनं हिर्ये अस्तु बालिति ॥ १ ॥

विद्या शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम् ।

तेनां ते तन्वेदुं शं करं पृथिव्यां तं निपेचनं ब्रह्मिरे अस्तु बालिति ॥ २ ॥

विद्या शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम् ।

तेनां ते तन्वेदुं शं करं पृथिव्यां तं निपेचनं ब्रह्मिरे अस्तु बालिति ॥ ३ ॥

विद्या शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम् ।

तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां तै निषेचनं ग्रहितं अस्तु वालिति ॥ ४ ॥

विद्या शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम् ।

तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां तै निषेचनं ग्रहितं अस्तु वालिति ॥ ५ ॥

अर्थ— (विद्या) हमें पता है कि शरके पिता (दात-वृष्ण्यं) सैकड़ों बलोंसे युक्त पर्जन्य, ... मित्र, ... बहग, ... चंद्र, ... सूर्य... (ये पांच) हैं। (तेन) इन पांचोंके निषेधे (ते तन्वे) तैरे शरीरके लिये मैं (शं करं) आरोग्य करूं। (पृथिव्यां) पृथिवीके अन्दर (ते निषेचनम्) तैरा निषेचन होवे और सब दीप (ते) तैरे शरीरसे (वाल् इति) शीघ्रशी (वाहिः अस्तु) बाहर हो जावें ॥ १-५ ॥

भावार्थ— तुम्हादि मनुष्यपर्यंत सृष्टिकी माता भूमि है और पिता पर्जन्य, मित्र, बहग, चंद्र, सूर्य ये पांच हैं। इनमें अतंत बल है। उनके बलोंका योग्य उपयोग करनेसे मनुष्यके शरीरमें आरोग्य स्थिर रह सकता है, मनुष्यका जीवन दीर्घ हो सकता है और उसके शरीरसे सब दीप बाहर हो जाते हैं।

आरोग्यका साधन ।

पांच संज्ञाका मिलकर यह एकही गणमंत्र है और इसमें मनु-
ष्यादि प्राणियों तथा वृक्षवनस्पतियोंके आरोग्यके मुख्य साधन-
का दिये हैं। "शर" शब्द पास वाचक होता हुआ भी सामान्य
अर्थसे यहां उपलक्षण है और तुषसे लेकर मनुष्यतक सृष्टिका
अव्यय उसमें है। विशेष अर्थमें "शर" संज्ञक वनस्पतिरा
गुणधर्म बताया जाता है यह बात भी स्पष्ट ही है।

इन मंत्रोंमें "पांच" पिता कहे हैं। "पिता" शब्द पाता अर्थात्
रक्षण, संरक्षण करनेवाला इस अर्थमें यहां प्रयुक्त है। तुम्हादिये
लेकर मानव-सृष्टिपर्यंत सब की सुरक्षा करनेका कार्य इनका
ही है। ये पांचों सब सृष्टिकी रक्षा कर ही रहे हैं। देखिये-

१ पर्जन्य सृष्टिद्वारा जलसिंचन करके सबका रक्षण करता है।
२ मित्र प्राणवायु है और इस वायुसे ही सब जीवित रहते हैं।
३ बहग जलकी देवता है और वह जल सबका जीवन ही
कहालाता है।

४ चंद्र औषधियोंका अधिराजा है और औषधियों खाकर
ही मनुष्य पशुपक्षी जीवित रहते हैं।

५ सूर्य सबका जीवनदाता प्रसिद्ध है। सूर्य न रहे तो
सब जीवन नष्ट ही होगा।

इन पांचोंकी विविध शक्तियां हमारे जीवनके लिये सहायक
हो रही हैं, इसलिये ये पांचों हमारे संरक्षक हैं और संरक्षक
होनेसे ही हमारे पितृस्मृत्तिय हैं। इनसे आरोग्य किंच प्रकर प्राप्त
किया जा सकता है। यह प्रश्न बड़ा गहन और बड़ी अन्वेषणाधी
अपेक्षा रखता है। परंतु संक्षेपसे यहां इस विधिकी सूचना दी

जाती है, पाठक विचार करें और काम उठावें—

पर्जन्यसे आरोग्य ।

पर्जन्यका शुद्ध जल जो खाती आदि मध्य नद्यत्रांसे प्राप्त
किया जा सकता है वह बड़ा आरोग्यप्रद है। दिनके पूरे लंघन-
के समय यदि इसका पान किया जाय तो शरीरके संपूर्ण दीप
दूर हो जाते हैं और पूर्ण नीरोगता प्राप्त हो सकती है। वृष्टि
जलके छानसे शरीरके शुष्क सुखली आदिका निवारण होता है।
अंतरिक्षमें शुद्ध प्राण विराजमान है वह वृष्टिके जलविद्युओंके
साथ भूमिपर आता है। इसलिये वृष्टिजलका स्नान आरोग्य-
वर्धक है।

मित्र (प्राण) वायुसे आरोग्य ।

प्राणायामसे योगसाधनमें आरोग्यरक्षणका जो उपाय वर्णन
किया है वह यहां अनुबंधिय है। दोनों नासिका-रन्ध्र-सूत्र-
नेतिसि, मूत्रिकासे अथवा जलकी नेतिसि स्वच्छ और मल-
रहित रखनेसे प्राणवायु अंदर जाता और उत्तम पवित्रता स्थापित
करता है। छली वायुमें रुब रूपसे उत्तार कर रहनेसे भी होनि-
वाला वायुस्नान बड़ा आरोग्यवर्धक है। जो सदा बहुरहित
रहते हैं उनको रोग कम होते हैं इसका यही कारण है। वरुण
वदनेसे भी रोग नष्ट है इसका कारण इतना ही है कि वदनोंके
कारण प्राणवायुका संबंध शरीरके साथ जैसा होना चाहिये वैसा
नहीं होता और इस कारण आरोग्य न्यून होता है।

वरुण (जल) देवसे आरोग्य ।

बहग मुख्यतः समुद्रका देव है। समुद्रके खारे पानीके
स्नानसे संपूर्ण चर्मदीप दूर होते हैं, हृदयरामिसारा उत्तम
होता है, पाचनशक्ति बढ़ती है और अनेक प्रकारसे आरोग्य

प्राप्त होता है। अन्य जल अर्थात् नालीय, कृष्ण, नदी आदिको जलके स्नानसे उनमें उत्तम प्रकार तैलने भी कई दोष दूर हो जाते हैं। जलाचिकित्साका यह विषय है वह पाठक यहाँ अनुमोधान करके देखें। यह बड़ा ही विस्तृत विषय है क्योंकि प्रायः सभी वैचारिक जलचिकित्सासे दूर हो सकती हैं।

चन्द्र (सोम) देवस आरोग्य ।

चंद्र औषधियोंका राजा है, इसका दूसरा नाम सोम है। सोमादि औषधियोंसे आरोग्य प्राप्त करनेका साधन आकाश आचार्योंने अपने ग्रंथ प्रथोने लिखा ही है। इसी साधनका दूसरा नाम 'देवद' है।

सूर्यदेवसे आरोग्य ।

सूर्य पवित्रता करनेवाला है। सूर्यारोपणसे जीवनका तत्त्व सर्वत्र फैलता है। सूर्यकिरणोंका स्नान जंगे शरीरसे करनेसे अर्थात् धूमसे अपना शरीर तपानेसे आरोग्य प्राप्त होता है। सूर्यकिरणोंसे चिकित्सा करनेका भी एक बड़ा मारी शास्त्र है।

पञ्चपाद पिता ।

ये पांच देव अनेक प्रकारसे मनुष्य, पशुपक्षी, वृक्ष, वन-रूपति आदि केका आरोग्य साधन करते हैं। वृक्षवनरूपति और आरभ्यक पशु उक्त पंचपाद पिता अर्थात् पांचों देवोंके साथ पांचों पितृओंके साथ-पांचों रक्षकोंके साथ नियत रहते हैं, इसलिये सदा आरोग्यरूपत होते हैं। नागरिक पशुपक्षी मनुष्यके हानि-बनावकी जीवनसे संबंधित होनेके कारण रोगसे अधिक प्रसूत होते हैं। जंगली लोग प्रायः सदैव सदा रहनेके कारण अधिक नापीय होते हैं। परंतु नागरिक लोग कि जो सदा तंग मकानोंमें रहते हैं, सदा तंग वस्त्रोंसे घेरित होते हैं और जल वायु तथा सूर्य प्रकार आदिकोसे अपने वापसो दूर रखते हैं, अर्थात् जो अपने पंचविगमोंसे ही विमुख रहते हैं वेही अधिकसे अधिक रोगी होते हैं और प्रति दिन इन लोगोंमें पाँचप नागरिक लोगोंमें ही विविध रोग बढ रहे हैं और अस्वास्थ्यसे वे ही सदा दुःखी होते हैं।

इसलिये वेद कहता है कि परम्य, मिश्र (मग) वायु, जलदेव वरुण, चंद्र, सूर्यदेव इन पांच देवोंको अपना पिता अर्थात् अपना रक्षक जानो और —

तेना से तन्वे ही करम् ।

“इन पांचों देवोंके विविध घटोंसे अपने शरीरका आरोग्य प्राप्त करो। अथवा ‘मैं उक्त देवोंकी शक्तियोंसे तेरे शरीरका आरोग्य करे।’ आरोग्य इनसेही प्राप्त होता है। आरोग्यका मुख्य ज्ञान इस मंत्रमें स्पष्टतया आ गया है। पाठक इनका

विचार करें और इस नियमनिर्देशा पाठन करके अपना आरोग्य प्राप्त करें।

पृथ्वीमें जीवन ।

पृथ्वीमें प्राणिमनुष्यका सामान्यतः और मनुष्यका उच्च जीवन विदेवतः उक्त पांचों शक्तियोंपर ही निर्भर है। मंत्रका “निवेचन” शब्द “जीवनरूप जल” का सूचक है। इसलिये—
ते पृथिव्यां निवेचनम् ।

इस मंत्रभाष्यका आरम्भ “तिस पृथ्वीमें जीवन” पूर्वोक्त पाचा देवताओंके साथ संबन्धित है यह स्पष्ट है। जो शरीर का आरोग्य, शरीरका स्वस्थान करनेवाले हैं वेही जीवन अपना दीर्घ जीवन देनेवाले निश्चयसे हैं। इनके द्वारा ही—
ते वाष्प इति वहिः मस्तु ।

“तेरे शरीरके दोष शीघ्र बाहर हो जाय।” पूर्वोक्त पांचों देवोंके योग्य संबंधसे शरीरके सब दोष शरीरसे बाहर हो जाते हैं। दीर्घदे—

(१) शीघ्रजल-पान-सूचक लेपन करनेसे मूत्रद्वारा शरीर दोष बाहर हो जाते हैं।

(२) उक्त पांचके अंदर जानेसे रक्तशुद्धि होती है और उच्छ्वासद्वारा दोष दूर होते हैं।

(३) जलाचिकित्साद्वारा शरीरके अवयवके दोष दूर हिये जा सकते हैं।

(४) सोम आदिक औषधियोंका औषधि नाम इसलिये है, कि वे शरीरके (दोष-घो) दोषोंको घोलती हैं।

(५) सूर्यकिरण पृथ्वीका जाने तथा अन्त्यात्म रीतिदोष शरीरके रोग बीज दूर कर देते हैं।

इस रीतिसे पाठक अनुभव करें कि ये पांच देव किस प्रकार शरीरका (शं करं) कल्याण करते हैं। आरोग्य देते हैं, (निवेचनं) जीवन बढ़ाते हैं, और (वहिः) दोषोंको बाहर निकाल देते हैं।

“शं” शब्द “शक्ति” का सूचक है। शरीरमें “शक्ति, समता, सुख” आदि स्थापन करना आरोग्यका भाव बढा रहा है। ये देव “शं” करनेवाले हैं, इसका तात्पर्य यही है कि, ये आरोग्य बढ़ानेवाले हैं। अंत्यात्म बढ़ानेके कारण जीवन बढ़ानेवाले अर्थात् दीर्घ जीवन करनेवाले हैं और सदा सर्वदा दोषोंकी शीघ्र बाहर करनेवाले हैं। पाठक इस मंत्रके मननसे अपने आरोग्यके सुख मिथ्यान्तका ज्ञान स्पष्टतया प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार आरोग्यके मुख्य साधनका सामान्यतया उद्देश्य करके मूत्रदोष निवारणका विशेष उपाय बताते हैं—

मूत्रदोष-निवारण ।

यदान्त्रेषु गत्रीन्योर्यद्दस्तावधि संश्रुतम् । एवा ते मूत्रं मुच्यतां वृद्धिर्वालिति सर्वकम् ॥६॥
 प्र ते भिनाग्निं मेहनं वत्रै वेशन्त्या इव । एवा ते मूत्रं मुच्यतां वृद्धिर्वालिति सर्वकम् ॥७॥
 विपितं ते वास्तविलं समुद्रस्योर्दधेरिव । एवा ते मूत्रं मुच्यतां वृद्धिर्वालिति सर्वकम् ॥८॥
 यथेषुका परापतुदवसृष्टाऽधि धन्वनः । एवा ते मूत्रं मुच्यतां वृद्धिर्वालिति सर्वकम् ॥९॥

अर्थ— (यत्) जो (आन्त्रेषु) आंतोंमें (गत्रीन्योः) मूत्र नाडियोंमें तथा जो (वस्तौ) मूत्राशयमें मूत्र (संश्रुतं) इकट्ठा हुआ है। वह तेरा मूत्र (सर्वकं) सबका सब एकदम बाहर । (मुच्यताम्) निकल जावे ॥ ६ ॥ (वेशन्त्याः) झीलके पानीके (वत्रै) बंदको (इव) जिस प्रकार खोल देते हैं तद्वत् तेरे (वेहनं) मूत्रद्वारको (प्र भिनाग्निं) मैं खोल देता हूँ... ॥ ७ ॥ समुद्रके अथवा (उदधेः) बचे तालावके जलके लिये मार्ग खुला करनेके समान तेरा (वास्तिविलं) मूत्राशयका बिल मैंने (विपितं) खोल दिया है... ॥ ८ ॥ जिस प्रकार घनुष्यसे छूटा हुआ (इषुका) बाग (परा अपतत्) दूर जाता है, उस प्रकार तेरा सब मूत्र शीघ्र बाहर निकल जावे ॥ ९ ॥

भावार्थ—तालाव आदिसे जिस प्रकार नहर निकाल देते हैं जिससे तालावका पानी सुखपूर्वक बाहर जाता है उसी प्रकार मूत्राशयसे मूत्र मूत्रनाडियों द्वारा मूत्रेशयसे बाहर निकल जावे ।

मूत्र खुली रीतिसे बाहर जानेसे शरीरके बहुत दोष दूर हो जाते हैं । शरीरके सब विष मानो इस मूत्रमें इकट्ठे होते हैं और वे मूत्र बाहर जानसे विष भी उसके साथ बाहर जाते हैं और आरोग्य प्राप्त होता है । इसीलिये किमी रोगी का मूत्र अंदर दक जानेसे मूत्रके विष शरीरमें फैलते हैं और रोगी शीघ्र ही मर जाता है । इस कारण आरोग्यके लिये मूत्रका उत्सर्ग नियमपूर्वक होना अन्याय आवश्यक है । यदि वह मूत्र मूत्राशयमें दक जाय तो मूत्र नलिकाको खोल कर मूत्रका मार्ग खुला करना आवश्यक है । इस कार्यके लिये धर या मुत्र औषधि का प्रयोग बड़ा सहायक है । वैद्य लोग इषका उपयोग करें । इसपर दूसरा उपाय मूत्रद्वार खोलनेका है, इसके लिये लोह शलाका, वास्तियंत्र (Catheter ड्रेटेर) का प्रयोग करनेकी सुचना इन मंत्रों की उपमाओंसे मिलती है । यह मूत्राशय यंत्र सोनेका, चांदीका या लोहेका बनाया जाता है, यह बारीक नलिका आरंभमें मोल सी होती है, आकर लाल रबर आदि अन्धान्य पदार्थोंका भी बनावनाया मिलता है । इस समय इसको हाएक डाक्टरके पास पाठक देख सकते हैं । यह मूत्र ईंद्रियसे मूत्राशयमें योग्य रीतिसे डाला जाता है । यह वहां पहुंचनेसे अंदर रका हुआ मूत्र इसके अंदर की नलीसे बाहर हो जाता है ।

योगी लोग इसकी सहायतासे बज्रौली आदि क्रियाएं साथ

करते हैं मूत्रद्वारसे कोमा दूध अथवा जल आदि अदृश मूत्राशयमें खींचने और उसमें द्वारा मूत्राशयका शुद्ध करनेका सामर्थ्य अपनेमें बढ़ाते हैं । इसका अभ्यास बढ़ानेसे न केवल मूत्राशयपर श्शुभ प्राप्त होता है, परंतु पूर्ण रीति नाडियोंके समेत संपूर्ण वायुशयपर भी प्रभुत्व प्राप्त होता है । ऊर्ध्वरीता होनेकी निधि इसीके योग्य अभ्यासमें प्राप्त होता है । योगी लोग इस अभ्यासको अतिगुप्त रखते हैं और योग्य परीक्षा होनेके पश्चात् ही यह अभ्यास शिष्यको सिखाया जाता है । पूर्णब्रह्मचर्य रहना इसी अभ्यासमें साथ होता है । यह स्थ धर्म पालन करते हुए भी पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन होनेकी संभावना इस अभ्याससे ही सकती है ।

जिस प्रकार तालाव या कूपके अंदरसे फोड़ला जल निशालनेसे उसकी स्वच्छता हो सकती है, और शुद्ध नया जल उसमें आनेसे उसका अधिकसे अधिक लाभ हो सकता है इसी प्रकार मूत्राशयका पूर्णक प्रकार योगादि साधनद्वारा बल बढ़ानेसे बड़ा ही आरोग्य प्राप्त हो सकता है ।

सामान्य मनुष्योंके लिये मुत्र औषधिके प्रयोगसे, अथवा मूत्राशयमें मूत्रवस्ति यंत्रके प्रयोगसे लाभ होता है । योगियोंकी बज्रौली आदि अभ्यासमें मूत्रस्थानकी सब नस नाडी बलवती और शुद्ध करनेसे आरोग्य प्राप्त होता है ।

पूर्वापपर सम्बन्ध

द्वितीय सूक्तमें आरोग्य साधनका विषय प्रारंभ किया था । उसी आरोग्यशास्त्रिका विस्तृत नियम इन तृतीय सूक्तके प्रथम पांच मंत्रोंके गणने कहा है । सबके आरोग्यका मानी यह मूल-मंत्र ही है । हरएक अवस्थामें सुगमतया आरोग्यसाधन करनेका उपाय इस गणनमें वर्णन किया है । इन तृतीय सूक्तके अंतिम चार मंत्रोंमें मृत्नाशयके दोषको दूर करनेका साधन बताया है ।

इस सूक्तका "शत-वृष्यं" शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण है । "वृष्य" शब्द बल, शीघ्र, उत्साह, प्रजननसामर्थ्य आदिका वाचक है । ये नैकडों बल देनेवाले पूर्वोक्त पांचों देव हैं यह यहां इस सूक्तमें स्पष्ट हुआ है । शीघ्रवर्धक अन्य उपायोंका अवलंबन न करके पाठक यदि इन पांचोंको ही योग्य रीतिमें पढ़ते रहेंगे तो उनको अनुपम लाभ हो सकता है ।

द्वितीय सूक्तमें, "भूरि-धायस" शब्द है जिसका अर्थ "अनेक प्रकारसे धारण पोषण करनेवाला" पूर्व स्थानमें दिया है । यह भी पर्यन्तके साहचर्यके कारण इस सूक्तमें अनुपति से आता है और पाचों देवोंका विशेषण बनता है । पाठक इस शब्दको लेकर मंत्रोंका अर्थ देखें और बोध प्राप्त करें ।

"भूरि-धायस" शब्दका "शत-वृष्य" शब्दसे निकट संबंध है, मानी ये दोनों शब्द एक दूसरेके सहायक हैं । विशेष प्रकारसे धारण पोषण करनेवाला ही नैकडों शीघ्रोंके देनेवाला ही सकता है । क्योंकि पुष्टिके साथ ही बलका संबंध है । इस प्रकार पूर्व सूक्तमें इस सूक्तका संबंध देखिये ।

शारीरशास्त्रका ज्ञान ।

इस सूक्तके मननसे पाठकोंमें ज्ञान ही लिया होगा कि शारीर-

शास्त्रका ज्ञान अथर्ववेदिका यथावत् जाननेके लिये अत्यंत आवश्यक है । मृत्नाशयमें शलाकाका प्रयोग विना बर्ताने अथर्ववेदके जाननेसे नहीं हो सकता । शारीरशास्त्रको न जाननेवाला मनुष्य योगसाधन भी नहीं कर सकता, तथा अथर्ववेदका ज्ञान भी यथा योग्य रीतिसे प्राप्त नहीं कर सकता ।

यह "अंगि-रस" का विषय है, अर्थात् अंगिके रसोंका यह अथर्वशास्त्र है । अर्थात् जिनमें अंगोंका ज्ञान नहीं प्राप्त किया है, अंगोंको अंदरके जीवन रहनेका चिह्नको कुछ भी ज्ञान नहीं है वह अथर्ववेदामें बहुत स्वाम प्राप्त नहीं कर सकता ।

डाक्टर लोग जिस प्रकार सुदोषी चौर फाट करके शरीर-गोला यथावत् ज्ञान प्राप्त करते हैं उसी प्रकार योगियों और अथर्वशास्त्रवेदिकाके पढ़नेवालोंको करना उचित है ।

हमने यहाँ सोचा था कि इस सूक्तमें वर्णित शलाकाके प्रयोगके लिये आवश्यक अवयवोंका परिचय चित्रोद्धार किया जावे, परंतु हमसे कई लोग आधिक ध्रममें भी पढ़ सकते हैं और जो चित्रोंसे ठीक प्रकार समझ नहीं सकते वे उल्टाही प्रयोग करके दोषके भागी हो सकते हैं । इस भयको सामने देखकर इस बातको चित्रोंसे स्पष्ट करनेका विचार इस समयके लिये दूर कर दिया है । और हम यहाँ पाठकोंसे निवेदन करना चाहते हैं कि वे इस प्रयोगका ज्ञान सुविज्ञ डाक्टरोंसे ही प्राप्त करें तथा ऊपर दिये हुए योग-प्रक्रियाका ज्ञान किसी उत्तम योगिके पास जाकर सीखें; क्योंकि अंगरस चिह्नितमैं इन बातोंको आवश्यकता है । इनके विना केवल मंत्रार्थ पढ़नेसे अथवा शाब्दिक ज्ञान समझने मात्रसे भी उपनोग नहीं हो सकता ।

जल-सूक्त ।

पूर्व सूक्तमें आरोग्यसाधक जलका संश्लेषसे वर्णन किया है इसलिये अब उसी जलका विशेष वर्णन क्रमसे अंगिके तीन सूक्तोंमें करते हैं-

[४]

(ऋषिः- सिन्धुद्वीपः । देवता [अर्षानपात्, सोमः-] आपः ।)

अम्बयौ यन्त्यध्वमिर्जामयो अघ्वरीयताम् । पुञ्चन्तीर्मयुना पर्यः ॥ १ ॥

अमूर्या उप घ्ये यामिर्वा स्यः सह । ता नो हिन्वन्त्यघ्वरम् ॥ २ ॥

अपो देवीरुपं ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः । सिन्धुंम्युः कर्त्वी हविः ॥ ३ ॥

अप्स्व १ न्तरधृतमप्सु भेषजम् । अपामुत प्रशंसिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ चाजिनीः ॥ ४ ॥

अर्थ- (अध्वरीयतां) यज्ञकर्ताओंके (जामयः) बहिनोंके समान और (अम्बयः) माताओंके समान जलकी मादिय, (अध्वमिः यन्ति) अपने मागोंसे जाती हैं जो (मयुना) मधु-सदृशके साथ (पयः) दूध या जल (पृञ्चन्तीः) मिलाती हैं ॥ १ ॥ (याः) जो (अम्युः) ये नदियां (उपस्ये) सूर्यके सम्मुख होती हैं अथवा (धामिः) जिनके साथ सूर्य होता है । वे हम सबका (अध्वरं) यह (हिन्वन्ति) सांग करती हैं ॥ २ ॥ (यत्र) जहाँ हमारी (गावः) गौंयें पानी (पिबन्ति) पीती हैं उन (देवाः आपः) दिव्य जलोंकी (मिन्धुम्युः) नदियोंके लिये हवि करनेके कारण (उप ह्वये) मैं प्रशंसा करता हूँ ॥ ३ ॥ (अप्सु भन्तः) जलमें लयते हैं, (अप्सु भेषजं) जलमें दवाएँ हैं (उत) और (अपां प्रदासिभिः) जलके प्रशंसनीय गुण धर्मोंसे (अश्वाः वाजिनः) घोड़े बलवान् (भवथ) होने और गौयें बलवृत्त होती हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ-जल उनके लिये माता और बहिनके समान हितकारक होता है जो उनका उत्तम उपयोग करना जानते हैं । जलकी नदियां बह रही हैं, मानो वह दूधमें शर्करा मिला रही हैं । जो जल सूर्यकेपक्षसे झुड़ बनता है अथवा जिसकी पवित्रता सूर्य करता है वह जल हमारा आरोग्य विद्ध करे । जिन नदियोंमें हमारी गौयें जल पीती हैं और जिनके लिये हवि बनाया जाता है उनके उत्तम गुणगान करना चाहिये । जलमें अन्न है, जलमें औषध है, जलके गुण से घोड़े बलवान् बनते हैं और गौयें भी बलवती बनती हैं ।

[५]

(श्राविः- सिन्धुद्वीपः । देवता-[अपांनपात्, सोमः] आपः) ।

आपो हि म्ना संयोमुवस्ता नं कुर्वे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥

यो वः शिवर्तमो रसुस्तस्यं भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वय । आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्वर्षणीनाम् । अपो यांचामि भेषजम् ॥ ४ ॥

अर्थ-हे (आपः) जलो ! (हि) क्योंकि आप (मयोमुवः) सुलक्षारक (स्य) ही इच्छित्ये (ताः) सो तुम (नः कुर्वे) हमारे बलके लिये तथा (महे रणाय चक्षसे) बड़ी रमणीयताके दर्शनके लिये हमें (दधातन) पुष्ट करो ॥ १ ॥ (यः) जो (वः) आपके अंदर (शिवतमः रसः) अत्यन्त कल्पानकारी रस है (तस्य) उसके (नः इह भाजयत) हमें यहाँ भागी करो (इव) जैसी (उशतीः मातरः) इच्छा करनेवाली माताएं करती हैं ॥ २ ॥ हे जलो ! जिसके (क्षयाय) निवासके लिये आप (जिन्वय) तृप्ति करते हो (तस्मै) उसके लिये हम (वः अरं गमाम) आपको पूर्णतया प्राप्त करेंगे । और आप (नः) हमें (जनयथ) बढ़ाओ ॥ ३ ॥ (वार्याणां) इच्छा करनेयोग्य सुखोंके (ईशाना) स्वामी इच्छित्ये (श्वर्षणीनां) प्राणिमात्रके (क्षयन्तीः) निवासके हेतु ऐसे (अपः) जलोसे (भेषजं वाचामि) भोज्यवची याचना करता हूँ ॥

भावार्थ-जल सुलक्षारक है, उसके बल बडता है, रमणीयता प्राप्त होती है और पुष्टि भी है ॥ जिस प्रकार पुत्रकी माताके दूधसे पुष्टि का माग मिलता है, उसी प्रकार जलके अंदरके उत्तम सुखवर्धक रस हमें प्राप्त हों ॥ जिससे प्राणिमात्रकी स्थिति होती है, वह रस हमें प्राप्त ही और उसके हमारी वृद्धि होती रहे ॥ जलसे इष्ट सुख प्राप्त होते हैं और प्राणिमात्रकी स्थिति होती है, उद्य जलसे हमें औषधरस प्राप्त होता रहे ॥

[६]

[ऋषिः- सिन्धुद्वीपः । देवता (अर्पानपात्) आपः, २ आपः सोमो अग्निश्च]

शं नो देवीरभिप्रय आपो भवन्तु पीतर्ये । शं योऽग्नि संवन्तु नः ॥ १ ॥

अप्सु मे सोमो अन्नवीदन्तर्विश्वानि भेषजा । अग्निं च विश्वसंभ्रवम् ॥ २ ॥

आपः पृणीत भेषजं वरुधं तन्वेडु मम । ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ ३ ॥

शं नु आपो धन्वन्त्याडुः शमु सन्त्वनूप्याः ।

श नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ॥ ४ ॥

अर्थ— (देवीः आपः) दिव्य जल (नः शं) हमें सुख दे और (अभिप्रये) इष्ट प्राप्तके लिये तथा (पीतरये) पीनेके लिये हो और हमपर शान्तिका (अग्नि स्वप्नु) खेत चलावे ॥ १ ॥ (मे) मुझे (सोमः अन्नवीन्) सोमने कहा कि (अप्सु भन्तः) जलमें (विश्वानि भेषजा) सब औषधियां हैं और अग्नि (विश्व-सं-भ्रवम्) सब कल्याण करनेवाला है ॥ २ ॥ (आपः) जलो । (भेषजं पृणीत) औषध दो और (मम तन्वे) मेरे शरीरके (वरुधं) संरक्षण दे जिससे मैं सूर्यको (ज्योक् दृशे) दीर्घकालतक देखूँ ॥ ३ ॥ (नः) हमारे लिये (धन्वन्त्याः आपः) मरुदेशका जल (शं) सुखकारक हो, (अनूप्याः) जलपूर्ण प्रदेशका जल सुखकारक हो, (खनित्रिमाः) खोदे हुए श्वे आदिका जल सुखदायक हो, (कुम्भे) घड़ेमें भरा जल सुखदायक हो, (वार्षिकी) वृष्टिका जल सुखदायक होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— दिव्य जल हमें पीनेके लिये मिले और वह हमारा सुख बढावे ॥ १ ॥ जलमें सब औषध रहते हैं और अग्नि सुख बढानेवाला है ॥ २ ॥ जलसे हमारी चिकित्सा होवे और शरीरका बचाव रोगसे होकर हमारा दीर्घ आयु बने ॥ ३ ॥ मरुदेशका, जलमय देशका, कूबेका, वृष्टिका तथा घड़ोंमें भरा हुआ जल हमारा सुख बढानेवाला होवे ॥ ४ ॥

ये तान् सूक्त जलको वर्गन कर रहे हैं । तीनों सूक्त इकट्ठे हैं इसलिये तीनोंका विचार यहाँ इकट्ठाही करेंगे ।

जलकी भिन्नता ।

जल भिन्न प्रकारका है यह बात पूर्व सूक्तोंमें कही है—

१ देवीः (दिव्याः) आपः (४।३) —आवागये अर्षात् मेधासे प्राप्त होनेवाला जल, इसी का नाम “वार्षिकी” भी है ।

२ वार्षिकीः आपः (६।४) —वृष्टिसे प्राप्त होनेवाला जल ।

३ श्मिषुः (४।३) —नदी तथा समुद्रसे प्राप्त होनेवाला जल ।

४ अनूप्याः आपः (६।४) —जलमय प्रदेशमें प्राप्त होनेवाला जल ।

५ धन्वन्त्याः आपः (६।४) —मरुदेश, रेतीले देशमें, अथवा यद्यी वृष्टि होनेवाले देशमें मिलनेवाला जल ।

६ खनित्रिमाः आपः (६।४) —खोदकर बनाये हुए कूप बावलोंसे प्राप्त होनेवाला जल ।

वृष्टिसे प्राप्त होनेवाला जल भी रेतीले स्थान, काचढकी मिट्टीके स्थान आदिमें गिरनेमें भिन्न गुण धर्मोंसे युक्त होता है । जिस स्थानमें सखों सख बौधब बना रहता है, उसमें पड़े हुए पानीकी अवस्था भिन्न होती है और रेतीलेसे प्राप्त हुए पानीके गुणधर्म भिन्न है । इसी कारण ये सब जल विभिन्न गुणधर्मसे युक्त होने हैं । जलका उपयोग आरोग्यके लिये करना हो, तो प्रथम सबसे उत्तम शुद्ध और पवित्र जल प्राप्त करना आवश्यक है ।

उक्त जल जो बाहर प्राप्त होता है वह घरमें लाकर घड़ोंमें रखनेके कारण उसके गुणधर्ममें बदल जाता है । अर्थात् कूबेका ताजा पानी जो गुणधर्म रखता है, वही घरमें लाकर (कुंभे आभृताः ६।४) घड़ेमें कई दिन रखनेपर भिन्न गुणधर्मोंसे युक्त होना संभव है । तथा प्रमाणी नदीका पानी और कूबेके स्थिर पानीके गुणधर्म भी भिन्न हो सकते हैं ।

इसी प्रकार एक ही जल विभिन्न स्थानमें और विभिन्न गुणधर्मोंसे मुक्त होता है। यह दर्शानेके लिये निम्नलिखित मंत्रमें कहा है—

अनुयां उप सूर्ये यामिषां सूर्यः सह । (४ । २)

“यह जल जो सूर्यके अनुग्रह रहना है, अथवा त्रिषके साथ सूर्य रहता है।” अर्थात् सूर्यकिरणोंके साथ स्पर्श करनेवाला जल मिश्र गुणधर्मवाला बनता है और सदा अधोर्मे रहनेके कारण त्रिषपर सूर्यकिरण नहीं गिरते उसके गुणधर्म मिश्र होते हैं। त्रिष ऊर्वोर वृषादिकी हमेशा छाया होती है और त्रिनगर नहीं होती उनके जलके गुणधर्म भिन्न होते हैं। तथा—

अम्बयो यन्त्यच्छभिः । (४ । १)

“नदियां अपने मार्गमें चरती हैं।” इसमें जलमें गति का वर्णन है। यह गतिमान जल और स्थिर जल विभिन्न गुणधर्मोंसे मुक्त होता है। स्थिर जलसे कृमिच्छिदक तथा सड़ावट होना संभव है उस प्रकार गतिवाले जलमें नहीं। इसी प्रकार गतिहीन मंदता और तेजोंके कारण भी जलके गुणधर्मोंमें भेद होते हैं। तथा—

पृथ्वन्तीमिन्नुना पयः । (४ । १)

“यद्यु अर्थात् पुण्य-पराग आदिसे जलमें मिलावट होती है।” इससे भी पानीके गुणधर्म बदलते हैं। नदी तालावके तटपर वृषादि होते हैं और उन जलमें वृषवनस्पतियोंसे फूल, फूलके पराग, पत्ते आदि गिरते हैं, जलमें सड़ते या मिलते हैं। यह कारण है कि जिससे जलके गुणधर्म बदलते हैं तथा—

यत्र गावः पिबन्ति । (४ । ३)

“जिस अलासधर्ममें गाँव पानी पीती हैं,” जहाँ गाँव, भैंसे आदि पशु जाते हैं, जलगत करते हैं। उस पानीकी अवस्था भी बदल जाती है।

जल लेनेके समय इन बातोंका विचार करना चाहिये। जो जलकी अवस्थाएँ वर्णन की हैं, उनमें सबसे उत्तम अवस्थावाला जल ही पीने आदि कार्यके लिये योग्य है। हर एक अवस्थामें प्राप्त होनेवाला जल सामान्यक नहीं होगा। वेदने से सब जलको अवस्थाएँ बताकर स्पष्ट कर दिया है कि जलमें भी उत्तम मध्यम अधम अवस्थाका जल हो सकता है और यदि उत्तम आयेन प्राप्त करना हो तो उत्तमसे उत्तम पवित्र जलही लेना चाहिये। पाठक इन अवस्थाओंका उत्तम विचार करें।

जलमें औषध ।

जलका नाम ही “अमृत” है अर्थात् जीवन रूपा रस ही

ही जल है यही बात मंत्रमें कहा है—

अप्सु अमृतम् । (४ । ४)

अप्सु भेषजम् । (४ । ४)

“जलमें अमृत है, जलमें औषध है,” जल अमृतमय है और औषधिमय है। मरनेमें बचानेवाला अमृत कहलाता है, और शरीरके दोषोंको धोकर शरीरकी निर्दोषता सिद्ध करनेवाला भेषज कहलाता है। जल इन गुणोंसे युक्त है। इसी लिये जलको कहा है—

शिवतमः रसः । (५ । २)

“जल अत्यंत कल्याण करनेवाला रस है।” केवल “शिवो रसः” कहा नहीं है, परंतु “शिवतमो रसः” कहा है, इससे स्पष्ट है कि इससे अत्यंत कल्याण होना संभव है। यही बात अन्तर्दोषोंसे भी वेद स्पष्ट कर रहा है—

भायः मयोसुवः । (५ । १)

“जल हितकारक है।” यहाँका “मयम्” शब्द “सुख, आनंद, सनाधान, तृप्ति” आदि अर्थका बोध कराता है। यदि जल पूर्ण आरोग्य साधक न होगा तो उसमें आनंद बनना असंभव है। इसलिये जल अमृतमय है यह स्पष्ट सिद्ध होता है इसीलिये कहा है।—

अप्सु विश्वानि भेषजानि । (६ । २)

“जलमें सब दवाइयाँ हैं।” जलमें केवल एकही रोग की औषधि नहीं प्रत्युत सब प्रकारकी औषधियाँ हैं। इसीलिये हर एक बीमारीका जलचिकित्सासे इलाज किया जा सकता है। योग्य वैद्य और पच्यपालन करनेवाला रोगी होगा, तो आरोग्य निःसंदेह प्राप्त होगा। इसलिये कहा है—

भायः पृथीव्ये भेषजम् । (६ । ३)

अपो याचानि भेषजम् । (५ । ४)

“जल औषध करता है। जलसे औषध मांगता हूँ।” अर्थात् जलसे चिकित्सा होती है। रोगोंकी निवृत्ति जलचिकित्सा से ही सकती है। रोगिके कारण शरीरमें जो विषमता होती है उसे दूर करना और शरीरके सप चातुओंमें समता स्थापित करना जलचिकित्सासे संभवनीय है।

समता और विषमता ।

शरीरकी समता आरोग्य है और विषमता रोग है। समता स्थापन करनेकी सूचना वेदके “सं, छांति” आदि शब्द करते हैं और विषमता दूर करनेका भाव “नोः” शब्द वेदमें कर रहा है। दोनों मिलकर “सं-नोः” शब्द बनता है। इसका संयुक्त तात्पर्य “समताकी स्थापना और विषमताका दूर करना” है। इसलिये कहा है—

शं धोराभि स्ववन्तु नः । (६ । १)

समताकी स्थापना और विपमताको दूर करना हमारे लिये जलकी धाराएँ करें ।" किंवा जलधाराएँ एक दोनों धारों-का प्रभाव हमपर छोड़ें । जलसे उक्त दोनों धारोंकी सिद्धता होती है यह बात यहाँ सिद्ध ही है । तथा—

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु । (६ । १)

"दिव्य जल हमारे लिये शान्तिकाक हो" इसमें भी वही भाव है । (सूक्त. ६, मं. ४) यह मंत्र तो कई बार शान्ति या समताका उल्लेख करता है । समताकी स्थापना और विपमताका दूर करना, ये दो कार्य होनेमें ही उत्तम रक्षा होती है, इसी लिये मंत्रमें कहा है—

वरूथं तन्वे मम । (६ । २)

"मेरे शरीरका रक्षण" जलसे हो । "वरूथ" का अर्थ "संरक्षक कवच" है । जलका वर्णन "रक्षक कवच" से किया है अर्थात् जल कवचके समान रक्षा करनेवाला है । यह भाव स्पष्ट है ।

बलकी वृद्धि ।

उक्त प्रकार आरोग्य प्राप्त होनेके पश्चात् शरीरका बल बढ़ानेका प्रश्न आता है । इस विषयमें मंत्र कहता है—

नः ऊर्जे दधातन । (५ । १)

"हमें बलके लिये पुष्ट करो ।" अर्थात् जलसे धारण पोषण होकर उत्तम प्रकार बल बढ़ाना भी संभव है । विपमता दूर होकर समताकी स्थापना हो गई तो बल बढ सकता है । जलसे रमणीयता भी शरीरमें बढ़ती है । देखिये—

महे रणाय चक्षसे । (५ । १)

"बड़ी (रणाय) रमणीयताके लिये" जलका उपयोग होता है । जलसे शरीरकी रमणीयता बढ जाती है । शरीरकी बाह्य शुद्धि होकर अन्तरी सुंदरता बढ जाती है उसी प्रकार जल अंतःशुद्धि करता है इसलिये आरोग्य बढ़ानेद्वारा शरीरका सौंदर्य बढ़ानेमें सहायक होता है । आरोग्यके साथ सुंदरताका विशेष संबंध है । तारपर्य यह जल मनुष्यकी यहाँ की सुरिचित के लिये कारण होता है, इसलिये कहा है—

धृषाय त्रिन्वय । (५ । ३)

अपन्ताध्रपेणीगाम् । [५ । ४]

"निवासके लिये तृप्ति करते हो । प्राणियोंके निवासका कारण है ।" इन मंत्रोंका स्पष्ट कथन है कि जल मनुष्यादि प्राणियोंकी यहाँ सुरिचित करनेका मुख्य हेतु है । इसी लिये कहते हैं—

ईशाना वायांगाम् । [५ । ४]

"स्वीकारने योग्य गुणोंका अधिपति जल है ।" अर्थात्

[अथर्ववेद प्रथमकांडमें प्रथम अनुवाक समाप्त ।]

प्राणियोंको जिन जिन धारोंका आवश्यकता होती है उनका अस्तित्व जलमें है, इसी कारण जल निवासका हेतु बतला है ।

दीर्घ आयुष्यका साधन ।

मनुष्यादि प्राणियोंके दीर्घ आयुका साधक जल है यह बात इस मागमें देखिये—

उयोक् च सूर्यं ददो । [६ । ३]

"बहुत दिनतक सूर्यका दर्शन करूं ।" यह एक महावरा है । इसका अर्थ है कि—

"मैं बहुत दीर्घ आयुतक जीवित रहूँ" अर्थात् जलके उपयोगसे दीर्घ आयु प्राप्त करना संभव है । "जन्म" वह कि जो जन्मसे लेकर लघतक उपयोगी है ।

प्रजनन-शक्ति ।

जल का नाम वीर्य है । इसी सूचना मिल मंत्रभागसे मिलती है—

आपो जनवया च नः । (५ । ३)

"जल हमें उत्पन्न करता है" अर्थात् इसके कारण हममें किंवा प्राणियोंमें प्रजनन शक्ति होती है । आरोग्य, बल, दीर्घ आयुष्य, धातुओंकी समता आदिका प्रजननशक्तिके साथ निकट संबंध है, यह बात पाठक जान सकते हैं । इसलिये इस विषयमें यहाँ अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है । इस प्रजनन शक्तिका नाम वाजीकरण है और इसका वर्णन मंत्रमें निम्न प्रकार हुआ है—

वापामुत प्रशस्तिभिरभवा भवध वाजिनो

गयो भवथ वाजिनीः ॥ (४ । ४)

"जलके प्रशस्त गुणोंसे अथ (पुरुष) वाजी बनते हैं और गौं (लिये) वाजिनी बनती हैं ।" वाजी शब्द प्रजननशक्तिके युक्त होनेका भाव बता रहा है । अथ और गौ शब्द यहाँ पुरुष और स्त्री जातिकका बोध करते हैं । जलके प्रयोगसे वाजीकरण की सिद्धि इस प्रकार यहाँ कही है । तथा और देखिये—

अम्बयो यन्व्यज्वभिर्जामयोऽध्वरीयताम् । (४ । १)

"यज्ञकर्मियोंकी माताएँ और यहिने अपने मागोंसे जाती हैं ।" जो श्रियोंके लिये उचित मार्ग है उसीसे जाती हैं । अर्थात् नियमानुकूल बर्तन करती हुई प्रगति करती हैं । स्त्री पुरुष अपने योग्य नियमोंसे बलिये तीहीं उत्तम प्रजनन होना संभव है, इस बातकी सूचना यहाँ मिलती है ।

'इस रीतिसे इन दोनों सूक्तोंमें जलविषयक महत्त्वपूर्ण ज्ञानक-उपदेश दिया है ।

धर्म-प्रचार-सूक्त ।

(ऋषिः— चातनः । देवतः— अग्निः (जातवेदाः), ३ अग्नीन्द्री)

(७)

स्तुवानमग्र आ वह यातुधानं किमीदिनम् । त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्वभूविथ ॥१॥	
आज्यंस्य परमेष्ठिन् जातवेदस्तनूवशिन् । अग्नें तौलस्य प्राशान यातुधानान् विलापय ॥२॥	
विलपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः । अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रतिय ह्येतम् ॥३॥	
अग्निः पूर्वं आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान् । ब्रवीतु सर्वो यातुमानयमस्मीत्येत्यं ॥४॥	
पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानानृचक्षः ।	
त्वया सर्वे परितप्ताः पूरस्तात् आ यन्तु प्रभुवाणा उपेदम् ॥५॥	
आ रभस्व जातवेदोऽस्माकार्याय जज्ञिषे । दूतो नो अग्ने भूदायातुधानान् विलापय ॥६॥	
स्वमग्ने यातुधानानुपवद्धां इहा वह । अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्तु ॥७॥	

अर्थ— हे अग्ने ! (स्तुवानं) स्तुति करनेवाले (यातुधानं किमीदिनं) घातक शत्रुओंको भी (आ वह) यहाँ ले आ । (हि) क्योंकि हे देव ! (वन्दितः त्वं) नमनको प्राप्त हुआ तू (दस्योः) दारूका (हन्ता) हनन या पालि करने वाला (बभूविथ) होता है ॥ १ ॥ हे (परमेष्ठिन्) श्रेष्ठ स्थानमें रहनेवाले (जातवेदः) ज्ञानको प्राप्त करनेवाले और (तनूवशिन्) शरीरका संयम करनेवाले अग्ने ! तू (तौलस्य आज्यस्य) तोले हुए धी आदि का (प्राशान) भोजन कर और (यातुधानान्) दुष्टोंको (विलापय) विलाप करा ॥ २ ॥ (ये) जो (यातुधानाः) दुष्ट (अत्रिणः) भटकनेवाले और (किमीदिनः) घातक हैं वे (विलपन्तु) विलाप करें । (अथ) और अब, हे अग्ने ! (इदं हविः) यह हवि तू और (इन्द्रः च) इन्द्र (प्रतिह-र्येतम्) स्वीकार करो ॥ ३ ॥ (पूर्वं) अग्निः आरंभतां पहिला अग्नि आरंभ करे, तथा पश्चात् (बाहुमान् इन्द्रः प्र नुदतु) बाहुबलवाला इन्द्र विशेष प्रेरणा करे, जिसे (सर्वेः यातुमान्) सब दुष्ट लोग (एत) आकर (ब्रवीतु) बोले, कि (अयं अस्मि इति) यह मैं हूँ ॥ ४ ॥ हे (जातवेदः) ज्ञानी ! (ते वीर्यं पश्याम) तेरा पराक्रम हम देखें । हे (नृ-चक्षः) मनुष्योंके मार्ग दर्शक ! (यातुधानान्) दुष्टोंको (नः) हमारा अदिश (प्र ब्रूहि) विशेष रूपसे कह दे । (त्वया) तुझसे (पूरस्तात्) पहिले (परितप्ताः) तपे हुए (ते सर्वे) वे सब (इदं सुवाणां) यह कहते हुए (उप आयन्तु) हमारे पास आजायें ॥ ५ ॥ हे (जातवेदः) ज्ञानी ! (आरभस्व) आरंभ कर (अस्माकमकार्याय) हमारे प्रयोजनके लिये तू (जज्ञिषे) उत्पन्न हुआ है । हे अग्ने ! तू हमारा दूत बनकर यातुधानोंको विलाप करा ॥ ६ ॥ हे अग्ने ! तू [यातुधानान्] दुष्टोंको [उपवद्धान्] बाधे हुए अर्थात् बांधकर [इहा आ वह] यहाँ ले आ । [अथ] और इन्द्र अपने वज्रसे [एषां शीर्षाणि] इनके मस्तक [वृश्तु] काट डाले ॥ ७ ॥

इसका भावार्थ हम सबसे पहले लिखेंगे क्योंकि इस सूक्तके कई शब्दोंके अर्थोंका विचार पहिले करना चाहिये । इस सूक्तके कई शब्द भ्रम उत्पन्न करनेवाले हैं, और जबतक इनका निश्चित

ठीक अर्थ ध्यानमें न आयेगा, तब तक इस सूक्तका उपदेश समझमें नहीं आसकता । सबसे प्रथम “ अग्नि ” का है इसका निश्चय करना चाहिये—

अग्नि कौन है ?

इस सूक्तमें अग्निपद से किसका मह्य करना चाहिये, इसका निश्चय करनेके लिये ये शब्द इस सूक्तमें हैं—“जातवेदः, परमेष्ठिन, तनूवशित्, वृषक्षः, वन्दितः, दत्तः, देवः, अग्निः ।” इन शब्दोंका अर्थ देखकर अग्निका स्वरूप सबसे प्रथम हम देखेंगे—

१ जातवेदः— [जातं वेत] जो बनी हुई मृष्टिको ठीक ठीक जानता है । [जात-वेदः] जिसने ज्ञान प्राप्त किया है । अर्थात् ज्ञानी सृष्टिविद्या और आत्मविद्या का यथावत् आनन्द प्राप्त ।

२ परमेष्ठिन्— (परमे पदे स्थाता) परमपद में उठर-नेवाला अर्थात् समाधिकी अंतिम अवस्थाकी जो प्राप्त है, आत्मानुभव जिसने प्राप्त किया है, तुर्यो-चतुर्थ अवस्थाका अनुभव करनेवाला ।

३ तनूवशित्— (तनू-वशित्) अपने शरीर और इन्द्रियोंको स्वाधीन करने वाला, इन्द्रिय संयम और मनोनिग्रह करनेवाला, आसनादि योगाभ्याससे जिसने अपनी काशासिद्धि की है । यही मनुष्य “ परमे-ष्ठिन् ” होना संभव है ।

४ वृ-षक्षः— “ वृषत् ” शब्द स्पष्ट शब्दोंद्वारा उपदेश देने का भाव बता रहा है । मनुष्योंकी जो योग्य धर्म मार्गका उपदेश देता है ।

ज्ञानी उपदेशक

ये चार शब्द अग्निदेवताके धर्म बता रहे हैं । ये शब्द देखनेसे स्पष्ट हो जाये, कि यहाँका अग्नि “धर्मोपदेशक पण्डित” ही है । सृष्टि विद्या जाननेवाला, अप्यायन शास्त्रमें प्रवीण, योगाभ्याससे शरीर, इन्द्रिय और मनको वशमें रखने वाला, समाधि की सिद्धि जिसको प्राप्त है, वह ही ब्राह्मण पण्डित “वृ-षक्षः” अर्थात् लोगोंको धर्मोपदेश करनेके लिये योग्य है । उपदेशक बननेके पूर्व उपदेशककी तैयारी केर्मा होनी चाहिये, इसका बोध यहाँ प्राप्त हो सकता है । ऐसे उपदेशक को, तो ही धर्मका ठीक प्रकार होना संभव है ।

५ वन्दितः— इस प्रकारके उपदेशककी ही सब लोग वन्दन कर सकते हैं ।

६ दत्तः— जो सन्देश पहुंचाता है वह दत्त होता है । यह उपदेशक पण्डित धर्मका सन्देश सब अनन्ता तक पहुंचाता है इस लिये यह “धर्मका दत्त” है । दत्त शब्दका दूसरा अर्थ “नीचर, मृत्यु” है वह अर्थ यहाँ नहीं है । धर्मका सन्देश स्थान स्थान-

पर पहुंचाने वाला यह दत्त धर्मका उपदेशक ही है ।

७ देवः— प्रकाशमान, तेजस्वी ।

८ अग्निः— प्रकाश देकर अन्धकारका नाश करनेवाला, ज्ञानकी रागनी बड़ाकर अज्ञानान्धकार का नाश करनेवाला । उष्णता (गर्मी) उत्पन्न करके हलचल करने वाला ।

ये सब शब्द योग्य उपदेशक का ही वर्णन कर रहे हैं । इस प्रकार वेदमें “अग्नि” शब्द ज्ञानी उपदेशक ब्राह्मणका वाचक है । तथा “इन्द्र” शब्द क्षत्रियका वाचक है ।

महा क्षत्रिय ।

“ महा क्षत्रिय ” शब्द ब्राह्मण और क्षत्रिय का बोध करता है । वेदमें ये दो शब्द इकट्ठे कई स्थानपर आये हैं । यही मूल “अग्नि-इन्द्र” ये दो शब्द वेदमें कई स्थानोंपर व्यक्त कर रहे हैं । अग्नि शब्द ब्राह्मणका और इन्द्र शब्द क्षत्रियका वाचक है । अग्नि शब्दका ब्राह्मण अर्थ हमने देखा, अब इन्द्र शब्दका अर्थ देखेंगे—

इन्द्र कौन है ?

स्वयं इन्द्र शब्द क्षत्रिय वाचक है, क्योंकि इसका अर्थ ही शत्रु नाशक है—

१ इन्द्रः— (इन्द्रः) शत्रुओंका छिन्न भिन्न करनेवाला ।

२ बाहुमान्— बाहुवाला, मुखावाला, अर्थात् बाहुबलके लिये सुशिक्षित । हरएक मनुष्य मुखावाला होता ही है, परन्तु क्षत्रियको ही “बाहुमान्” इसलिये कहा है, कि उसका कार्य ही बाहुबल का होता है ।

३ इन्द्रः वज्रेण शीर्षाणि वृक्षतु = क्षत्रिय तलवारसे शत्रुओंके सिर काटे । यह क्षत्रियका कार्य इस सूक्तके अंतिम मंत्रमें वर्णन किया है । युद्धमें शत्रुओंके सिर काटनेका कार्य तथा युद्धोंके सिर काटनेका कार्य क्षत्रियोंका ही अधिकार है ।

इससे सिद्ध है, कि इस सूक्तमें “इन्द्र” शब्द क्षत्रिय का भाव सूचित करता है । अग्नि शब्दसे ब्राह्मण उपदेशक और इन्द्र शब्दसे क्षात्रण का अर्थ करनेवाले क्षत्रियका बोध लेकर इस सूक्तका अर्थ देखना चाहिये ।

धर्मोपदेशक क्षेत्र ।

पाठक यह न समझें, कि साप्ताहिक या वार्षिक बरहोमें व्याख्यान देना ही धर्मोपदेशक का कार्य क्षेत्र है । वहाँ तो धार्मिक लोग ही आते हैं । पहिलेसे जिनकी प्रज्ञा धर्ममें होती है, वे ही धार्मिक लोग बरहोमें आते हैं ; इस लिये ऐसे धार्मिकोंकी धर्मोपदेश देना भीये हुए पढ़ते वो फिर मानिके

समान ही है। वास्तव में मालिन कपड़े को ही धोकर स्वच्छ करना चाहिये, इसी तरह अधार्मिक वृत्तिके लोगों को ही धर्मोपदेश द्वारा सुधारना चाहिये, यही मन्वा धर्म प्रचार है, यह बतलानेके लिये इस सूक्तमें धर्म प्रचार करने योग्य लोगोंका वर्णन निम्न लिखित शब्दोंसे किया है—“यातुधान, किर्मादिन्, दस्यु, अत्रिन् ।” अब इनका आराध्य देखिये

१ यातु—“यातु” भटकनेवाले का नाम है। जिसको परदार कुछभी नहीं है और जो वन्य पशुके समान इधर उधर भटकता रहता है उसका नाम “यातु” है। भटकने का अर्थ बतानेवाला “या” घातु इसमें है।

२ यातुमान्— यातुमान्, यातुवान्, यातुमत्, शब्दका भाव “यातुवाला” है अर्थात् त्रिषके पास बहुतसे यातु (भटकनेवाले) लोग होते हैं। अर्थात् भटकने वालों के जमाव का सुश्रिया।

३ यातुमावान् - बहुतसे यातुमानों को अपने कर्षुमें रखनेवाला।

४ यातुधानः— यातुओंका धारण पोषण करनेवाला, अर्थात् भटकनेवालोंको अपने पास रखकर उनको पोषण करनेवाला। “यातु धान्य” भी इसी भावका वाचक है।

पाठसेने जान लिया होगा, कि ये शब्द विशेष बातको व्यक्त कर रहे हैं! जिसको परदार छोड़कर आदि होते हैं, और जो कुटुम्बमें रहता है, वह उतना उपद्रव देनेवाला नहीं होता; जितना कि त्रिषका घरदार कुछभी न हो, और जो भटकने वाला होता है। यह सदा भूखा रहता है, किसी प्रकारका मनका समाधान उसको नहीं होता, इसलिये हरएक प्रकारका उपद्रव देनेके लिये वह तैयार होता है; इसी कारण “यातु” शब्द “बुरी वृत्ति वाला” इस अर्थमें प्रयुक्त होता है। दुष्ट, डाकु, चोर, छुटेरे, बटमार आदि इसी शब्दके अर्थ आगे जाकर बने हैं। ये चोर डाकु जबतक अकेले अकेले रहते हैं, तब तक उनका नाम “यातु” है, ऐसे दोचार डाकुओंको अपने वशमें रखकर डाका चालनेवाला “यातुमान्, यातुवान्, यातुमत्” अर्थात् यातुवाला किंवा डाकुवाला कहा जाता है। पहिले की अपेक्षा इससे समाजको अधिक कष्ट पहुंचते हैं। इस प्रकारके छोट्टे डाकुओंके अनेक संघोंको अपने आधीन रखने वाला “यातु-मावान्” अर्थात् डाकुओंकी कई जमातोंको अपने आधीन रखनेवाला। यह पूर्वकी अपेक्षा अधिक कष्ट प्रामां और प्रांतोंको भी पहुंचा सकता है। इसीके नाम “यातुधान, यातु-धान्य” हैं। पाठक इससे जान सकते हैं, कि ये वैदिक शब्द

जो कि वेदमें कई स्थानोंमें आते हैं, हीन और दुष्ट लोगोंके वाचक हैं। अब और देखिये—

५ अत्रिन्- अत्री (अतति) मतत भटकता रहता है। यह शब्द भी पूर्व शब्द का ही भाव बताता है। इनका दूसरा भाव (अति) खानेवाला, मग अपने भोगके लिय दुपोंका गला काटनेवाला। जो थोड़ेसे धनके लिये खून करते हैं, इस प्रकारके दुष्ट लोगोंका वाचक यह शब्द है।

६ किर्मादिन्- (कि इदानीं) अब क्या खांय, इस प्रकार की वृत्तिकाल भूले किंवा पेटके लिये ही दूसरोंका घात पात करनेवाले दुष्ट लोग।

७ दस्यु- (दस उपक्षये) घातपात करनेवाले, दूसरोंका नाश करनेवाले हर प्रकारके दुष्ट लोग।

ये सब संग समाजके सुलक्ष भाग करते हैं, इनके कारण समाजके लोगोंको कष्ट होते हैं। ये ग्राममें आगये, तो ग्राममें चोरी, डकैती, खून, छटमार होती है, जो विवयक अराजकार होते हैं, सजनोंको अनेक प्रकारके वष्ट होते हैं इसलिये इन लोगोंको धर्मोपदेश द्वारा सुधारना चाहिये, यह इस सूक्तका आदेश है। जो घरदारसे हीन हैं, जो जंगलों और बनो में रहते हैं, जो चोरी डकैती आदि दुष्ट कर्म करते हैं। उनको धर्मोपदेश द्वारा सुधारना चाहिये। अर्थात् जो नागरिक हैं, जो पादिते ही धर्मके प्रेमी हैं उनमें धर्म ही अश्रुति करनी योग्य है; परंतु जिनके पास धर्म की आवाज नहीं पहुंची और जिनका जीवन क्रम ही धर्मबान्ध मार्गसे सदा चलता रहता है, उनका सुधार करके ही उनको उत्तम नागरिक बनाना चाहिये। धर्मोपदेशक यह अपना कार्य क्षेत्र देखें।

धर्मोपदेशक के गुण, शसन कार्य में नियुक्त क्षत्रिय के गुण, और जिन लोगोंमें धर्म प्रचारकी अत्यंत आवश्यकता है उनके गुणकर्म हमने इस सूक्तके आधारसे देखे। अब इन शब्दार्थोंके प्रकाश में यह सूक्त देखना है—

दुष्टोंका सुधार ।

प्रथम मंत्र—“हे धर्मोपदेशक! तुम्हारी प्रशंसा करनेवाले दुष्ट डकैतों को यहां ले आ, क्योंकि तू बँदना प्राप्त करनेपर दस्युओंका नाशक होता है” ॥ १ ॥

इस पहिले मंत्रमें दो विधान हैं—

(१) स्तुति करनेवाले डाकुको यहां ले आ, और

(२) उनका नमस्कार प्राप्त करके उनका नाशक हो।

इसका तात्पर्य यह है— “धर्मोपदेशक ऐसे दुष्ट डाकुबटमार आदिकों में धर्मोपदेश करनेके लिये जावे, उनको सत्य धर्मका उपदेश करे, चोरी अदि पाप कर्म हैं यह उनको ठीक प्रचार

रामदा दे, उन दुष्ट कर्मों से उन को वह निवृत्त करे, जब वे ठीक प्रकार जानेंगे कि चोरी आदि उनके व्यवसाय घुरे हैं और मानसों की रक्षा करनेवाला सत्य धर्म भिन्न है और वह सत्य धर्म इस धर्मोपदेशकसे प्राप्त हो सकता है, तब वे इसके पास श्रद्धा भक्तिसे आवेंगे, इसकी प्रशंसा करेंगे और इसके सामने सिर झुकायेंगे अर्थात् इनको प्रणाम करेंगे । जब उनमें इतनी धृष्टाभक्ति बढेगी, तब उनका बाहुपनका नाश या हनन स्वयं ही हो जायगा । इसलिये मंत्र कहता है कि “धर्मोपदेशक दुष्ट मनुष्यों अपने उपदेशद्वारा अपनी प्रशंसा करनेवाले बनाकर अर्थात् अपने अनुयायी बनाकर, अपने समाजमें ले आवे, और उनसे नमस्कार प्राप्त करके उनका पातक बनें।”

“जिनसे नमस्कार प्राप्त करना उनका ही घात करना” प्रथम विधि सा प्रतीत होता है, परन्तु अधार्मिक दुष्ट मनुष्यों के सुधार करनेवालेसे ऐसा ही घनता है । जब दुष्ट मनुष्य धार्मिक बन जाता है उस समय वह पहिले धर्मोपदेशक के सामने अपना सिर झुकाता है और सिर झुकाते ही दुष्ट मनुष्यके रूपसे मर कर धार्मिक नवजीवन प्राप्त करने द्वारा वह मानो नया ही मनुष्य बनता है । यदि एक बाहुपनोपदेशक सुनकर धार्मिक बन गया, तो उसकी सामाजिक दृष्टिसे सत्य अर्थ यही है कि एक बाहुपन मर गया और एक सच्चा धार्मिक मनुष्य नया पैदा हुआ । अब दूसरा मंत्र देखिये—

मित भोजन करो ।

द्वितीय मंत्र— “हे परम श्रेष्ठ अदस्तामें रहनेवाले, शरीर घटामें रखने वाले ज्ञानी धर्मोपदेशक ! धीं आदि पदार्थ ताल कर अर्थात् प्रमाणसे मक्षण कर । और दुष्टोंको खलादो ” ॥ १२ ॥

इस द्वितीय मंत्रमें दो आदेश हैं—

- (१) तोलकर धीं आदि भोजन खा और
- (२) दुष्टोंको खला ।

धर्मोपदेशकों को ये दोनों बातें ध्यानमें धरनी चाहिये । धर्मोपदेशक जिस समय बाहर प्रचारके लिये जाते हैं उस समय भगत लोग उनको भेवा, मिठाई, घी, मक्खन, दूध आदि पदार्थ आश्रयकलासे भी अधिक देते हैं । तथा जो नये धर्ममें प्रविष्ट होते हैं, उनकी भक्तिकी तीव्रता अत्यधिक होनेके कारण वे ऐसे उपदेशकों का अधिक ही आदर करते हैं । इस समय बहुत संभव है कि मिठाईकी मालचमें आकर उपदेशक अधिक खाये, और और की विगाहके कारण बिमार पड़े । इसलिये वेदने उपदेश दिया कि धर्मोपदेशकोंको तोलकर ही

खाना चाहिये । ये उपदेशक सदा भ्रमणमें रहनेके कारण तथा जलवायुके सदा परिवर्तन होनेसे इनकी पाचक शक्तिमें शिथिल होना संभव है; अतः जितनी पाचक शक्ति होती है, उससे भी कम ही खाना इनके लिये योग्य है । इस कारण वेद कहता है, कि “उपदेशक तोलकर ही धीं आदि पदार्थ खावें ” कमी अधिक न खावें ।

मंत्रमें दूसरी बात “दुष्टोंको खलाने” की है । यदि उपदेशक प्रभावशाली होगा, और यदि उसके उपदेशसे श्रोताओंको अपने दुराचारका पता लगा तथा उनके अंतःकरणमें धर्म भावना जागृत हो गई तो उनके रो पढ़नेमें तथा अपने पूर्व दुराचारमय जीवनके विषयमें पूर्ण पश्चाताप होनेमें कोई सन्देह ही नहीं है । इस प्रकार द्वितीय मंत्रका भाव देखनेके पश्चात् अब तीसरा मंत्र देखिये—

दुष्टजीवनका पश्चाताप

तृतीय मंत्र— “दुष्ट लोग रो पड़ें, और हे धर्मोपदेशक ! तेरे लिये यह हमारा दान है, क्षत्रिय भी इसका स्वीकार करे ” ॥ ३ ॥

एक धर्मोपदेशक के धर्मोपदेश सुनकर दुष्ट लोगोंको अपने दुराचारका पश्चाताप होने और वे रो पड़ें । तथा जनता ऐसे धर्मोपदेशकोंकी तथा उनके सहायक क्षत्रियोंकी भी यथा शक्ति दान देती रहे । जनताकी धनार्थिकी सहायतासे ही धर्मोपदेशका कार्य चलता रहे । अब चतुर्थ मंत्र देखिये—

धर्मोपदेशक कार्य चलावे ।

चतुर्थ मंत्र— “पहिले धर्मोपदेशक अपना कार्य प्रारंभ करे । पहिलेसे क्षत्रिय उसकी सहायता करे । इसका परिणाम ऐसा हो कि सब दुष्ट आकर ‘मैं यहाँ हूँ’ ऐसा कहें ” ॥ ४ ॥

धर्मोपदेशक देवदेगन्तवमें, जहाँ जहाँ वे पहुँच सकें, वहाँ निवृत्त होकर आकर, अपना धर्मप्रचारका कार्य जोरसे करते जाय । कठिनसे कठिन परिस्थितियों में भी न डरते हुए वे अपना कार्य जोरसे चलावें । पहिलेसे क्षत्रिय उनकी उचित सहायता करे । परन्तु ऐसा धर्मोपदेशक ही है कि धर्मोपदेशक पहिले ही क्षत्रियोंकी सहायता प्राप्त करके क्षत्रबलके जोरपर धर्मप्रचार का कार्य चलावे, यह ठीक नहीं । इसलिये वेदका कहना है कि धर्मोपदेशक आश्रय क्षत्र बलके भरोसेसे अपना धर्म प्रचारका कार्य न करे, प्रत्युत धर्मप्रचारकी अपना आवश्यक कर्तव्य समझ कर ही अपना कर्तव्य करता रहे । इस धर्मप्रचारका परिणाम

ऐसा हो, कि सब दुष्ट दुराचारी मनुष्य अपना आचरण सुधारने और खुले दिलसे उपदेशकोंके पास आकर कहें कि " हम जब आपकी सारणमें आगे हैं।" यहाँ धर्म प्रचारका साधन है। धर्म प्रचारमे दुराचारी बाहु सुघर जाय और अच्छे धार्मिक बनें, ये अपने पूर्व दुराचारका पथात्प वरं, तथा जब पूर्व दुराचारका उनको स्मरण आवे उस समय उनको रोना आवे। क्षत्रियके बल की अपेक्षा न करते हुए केवल ब्राह्मण ही अपनी धार्मिक और आत्मिक शक्तिसे यह कार्य करें। विद्येमे क्षत्रिय उनको मदत पहुंचावे। क्षत्रियके जोरसे जो धर्म प्रचार होता है, वह सत्य नहीं है, परन्तु ब्राह्मण अपने सात्विक श्रुतिसे जो हृदय पलटा देता है, वही सच्चा धर्मपरिवर्तन है। इस प्रकार चतुर्थ मंत्रका आशय देखनेके पश्चात् अब अगला मंत्र देखिये—

दुष्टोंकी पश्चात्तापसे शुद्धि ।

पंचम मंत्र— " हे शानी उपदेशक ! हम तुम्हारा पराक्रम देखेंगे। हे मनुष्योंकी सम्मार्ग बतलानेवाले ! तुम दुष्टोंको हमारे धर्मका उपदेश करो। तुम्हारे प्रपल्लसे पश्चात्ताप को प्राप्त हुए सब दुष्ट लोग हमारे पास आवें और वैसाही कहें।" ॥ ५ ॥

पूर्वोक्त प्रकारका सच्चा धर्मोपदेशक जिस समय धर्मोपदेश के लिये चलने लगता है, उस समय उसका गौरव बढ़ते हुए लोग बढ़ते हैं कि " हे उपदेशक ! अब तू उपदेश करनेके लिये जा रहा है, हम देखेंगे कि तुम अपने परिशुद्ध हृदुपदेशसे कितने लोगोंके हृदयमें पलटा उत्पन्न करते हो और कितनों को सत्य धर्मकी दीक्षा देते हो। इसीसे तुम्हारे पराक्रमका हमें पना लग जायगा। तुम जाओ, हम तुम्हारा गौरव करते हैं। सत्यधर्मका संदेश सब जनता तक पहुंचाओ। तेरे उपदेश की ज्ञानामिसे तपे हुए और पश्चात्तापको प्राप्त हुए लोग हमारे अंदर आवें और कहें " कि हमने अब धर्मोपदेश पाया है। और अब हम व्यापके बने हैं।"

"तप्त, संतप्त, परितप्त" ये शब्द पश्चात्ताप के सूचक हैं। तप्त शब्द तपकर शुद्ध होनेका सूचक है। अग्नि तपकर सोना, चाँदी, तांबा आदि धातुओंको शुद्ध करता है अर्थात् उनके मलोंका दूर करता है। इसी प्रकार यहाँका अग्नि-जो शानी धर्मोपदेशक है-वह अपनी ज्ञानामिसे सब दुष्टोंको तपता है और अच्छी प्रकार उनके मलोंको दूर करता है। शुद्धिकी वही विधि है। भोगके जीवनको छोड़कर तपके बचनमें आना ही धार्मिक बचन है। इस दृष्टांसे इस मंत्रका "परि-तप्ताः" शब्द

बड़े भावका सूचक है। अब छोटे मंत्रका भावार्थ देखिये—

धर्मका दूत ।

षष्ठ मंत्र—" हे शानी पुरुष ! अपना कार्य आरंभ कर। हमारे कार्य के लिये ही तुम्हें आगे किया है। हे उपदेशक ! तू हमारा धार्मिक संदेश पहुंचाने वाला दूत बन कर दुष्टोंको पश्चात्तापसे रुडा दे" ॥ ६ ॥

धर्म प्रचारके लिये बाहर जानेवाले उपदेशकोंको लोग कहते हैं कि—" अब तू अपना धर्म प्रचारका कार्य आरंभ करदो। बिना डर देशदेशांतरमें जा और वहाँ सत्यधर्मका प्रचार कर। यही हमारा कार्य है और इसी कार्यके लिये तुम्हें आगे भेजा जाता है, अथवा आगे रखा जाता है। हमारा धार्मिक संदेश जगत्में फैलाना है, इस संदेशको स्थान स्थानमें पहुंचानेवाला दूतही तू है। अब जा और धार्मिक संदेशको चारों दिशाओंमें फैला दो और इस समय तक जो लोग अधार्मिक श्रुतिसे रहते हैं, उनको अपने सदुपदेशद्वारा शुद्ध करो और उनको अपने पूर्व दुराचारका पूर्ण पथात्ताप होने दो। उनके दिलोंका ऐसा पलटा दो कि जिससे वे अपने पूर्वोपदेशका स्मरण करके रोने लगें।" इस प्रकार जगत्का सुधार करनेके लिये धर्मोपदेशकोंको भेजा जाता है।

दाकुओंको दण्ड ।

इतना धर्मोपदेश होकर भी जो सुघरंगे नहीं और अपना दुराचार जारी रखेंगे अथवा पूर्वोक्त प्रकारके श्रेष्ठ धर्मोपदेशकोंके पराक्राह्यके प्रयत्न करनेपर भी जो अपना दुष्ट आचरण नहीं छोड़ते और जनताको चोगे दकैती आदिसे भ्रान्त कष्ट देते ही रहेंगे, उनको योग्य दण्ड देना ब्राह्मणका कार्य नहीं, वह कार्य क्षत्रियका है यह आशय अगले मंत्रमें कहा है—

सप्तम मंत्र—" हे धर्मोपदेशक ! तुम्हारे प्रयत्न करनेपर भी दुष्ट दाकु आदि अपने दुराचार छोड़ते नहीं उनको बांध कर यहाँ छा और पश्चात् क्षत्रिय उनके सिर सलवारसे काट दे" ॥ ७ ॥

श्रेष्ठ धर्मोपदेशक अपना धर्मोपदेशका प्रयत्न करे और दुष्टोंको पवित्र धार्मिक बचनानेका व्रत करे। जो सदाचारी बनेंगे वे अपनेमें संमिलित हो जायेंगे। परंतु जो बारंबार प्रयत्न करनेपर भी अपना दुष्ट आचार जारी रखेंगे उनको दण्ड देना आवश्यक ही है। क्योंकि सब शासन संस्था समाज की शांतिके लिये ही है। परंतु दुष्टोंके भी सुघरंगेका पूरा अवसर देना चाहिये। जब बारंबार प्रयत्न करनेपर भी वे सुघरंगे नहीं तो क्षत्रिय आगे बढ़े और अपना कठोर दण्ड आगे करे। क्षत्रिय उन अत्याचारी दुष्टोंको बांधकर उनके सिर ही काटे, इससे

अन्वोंको भी यह उपदेश मिल सकता है, कि हम भी धार्मिक बननेसे बच सकते हैं, नहीं तो हमारी भी यही अवस्था बनेगी।

ब्राह्मण और क्षत्रियोंके प्रयत्नका प्रमाण।

इस सूक्तमें ब्राह्मणके प्रयत्न के लिये छः मंत्र हैं और एकही मंत्रमें क्षत्रियका कठोर दण्ड आगे करनेको सूचित किया है। इससे स्पष्ट है कि कमसे कम छः गुणा प्रयत्न ब्राह्मण अपने सुदुपदेशसे करें, इतने प्रयत्न करनेपरभी यदि वे न सुधरे, कमसे कम छः बार प्रयत्न करनेपर भी न सुधरे, छःबार अवसर देनेपर भी जो लोग दुष्टता नहीं छोड़ते, उनपर ही क्षत्रियका वज्र प्रहार होना योग्य है। क्योंकि जिनको अन्वसे ही दुष्टता करने का अभ्यास होगा वे एक बारके उपदेशसे पलट जायेंगे अथवा सुधरेगे यह कठिन अथवा असम्भव है। इसलिये भिन्न उपायोंसे उनको अधिक अवसर देने चाहिये। इतना करनेपर भी जो नहीं सुधरते उनको या तो बंधन में डालना या शिरच्छेद करना चाहिये।

ब्राह्मण भी हनन करता है और क्षत्रियभी करता है परन्तु दोनोंके हननों में बड़ा भारी भेद है। पहिले मन्त्र में ब्राह्मण की रीति बताई है और सप्तम मन्त्रमें क्षत्रिय की पद्धति बतायी है। क्षत्रिय की रीति यही है कि तत्काल लकड़ दुष्टका गला काट डालना, अथवा दुष्टोंको कारागृहमें बान्धकर रखना। ब्राह्मण की रीति इससे भिन्न है; ब्राह्मण उपदेश करता है, उपदेश द्वारा श्रोताओंके दिष्टोंको पलटा देता है, उनको अनुगामी बना देता है, उनके मनकी दुष्टता का नाश करता है। दोनोंका उद्देश्य दुष्टोंकी संख्या कम करने का ही होता है, परन्तु ब्राह्मण दुष्टोंको सुधारनेका प्रयत्न करता है, हृदय शुद्ध बनाता है और दुष्टोंकी संख्या घटाता है। और क्षत्रिय उनकी कत्तल करके उनकी संख्या घटाता है। इसी लिये ब्राह्मण के प्रयत्न श्रेष्ठ और क्षत्रियके दूरे दर्शके हैं।

वेदमें जहाँ “हनन, दहन, परिताप, विलाप” आदि शब्द आते हैं वहाँ सर्वत्र एकसाही अर्थ लेना उचित नहीं। वे शब्द ब्राह्मण के लिये प्रयुक्त हुए हैं वा क्षत्रिय के लिये हुए हैं यह देखना चाहिये। हनन से शत्रुकी संख्या घटती है, ब्राह्मण, क्षत्रिय दोनों अपने अपने शस्त्रसे हनन करते हैं, परन्तु ऊपर बतायाही है, कि ब्राह्मण विचार परिवर्तन द्वारा शत्रुका नाश करता है और क्षत्रिय शिरच्छेदादि द्वारा शत्रुको पटाता है। इसी प्रकार ‘विलाप’ भी दो प्रकार का है। क्षत्रिय शत्रुकी कत्तल करता है उस समय भी शत्रुके लोग विलाप करते हैं और रोते पीटते हीं हैं। उसी प्रकार ब्राह्मण धर्मोपदेश द्वारा जिस समय श्रोताओंके हृदयमें मक्तिभाव और धर्मप्रेम उत्पन्न करने द्वारा कृत दुराचारका पवाताप उत्पन्न करता है उस समय भी वे लोग रोते हैं और खांसू बहाते हैं। इन दोनों खांसू बहाने में बड़ा भारी भेद है। जो इष्ट परिवर्तन ब्राह्मण कर सकता है, वह क्षत्रिय कदापि नहीं कर सकता। यही बात “परिताप, धन्ताप” आदिके विषयमें समझनी चाहिये।

इस सूक्तका अर्थ करनेवाले विद्वानोंने इस ब्रह्मक्षत्रिय प्रणालिके भेदको न समझने के कारण इन शब्दोंके अर्थका बड़ा अनर्थ किया है। इसलिये पाठक इस भेदको पहिले समझें और पश्चात् मन्त्रोंके उपदेश जाननेका यत्न करें। यह बात एकबार ठीक प्रकार समझमें आगई, तो मन्त्रोंका आशय समझनेमें कोई कठिनाता नहीं होती, परन्तु ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके क्रमशः कोमल और तीक्ष्ण मार्गोंका भेद यदि ठीक प्रकार समझमें नहीं आया, तो अर्थका अनर्थ प्रतीत होगा। इसलिये दुष्टोंकी संख्या ब्राह्मण किस प्रकार घटाता है और क्षत्रिय किस प्रकार घटाता है, इसी प्रकार ये दोनों शत्रुओंको किस रीतिसे क्लते हैं, तपाते हैं और जलाते हैं, यह पाठक अपने विचार से और यहाँ बताये मार्गसे ठीक समझें और ऐसे सूक्तोंका तात्पर्य जानें।

(८)

(ऋषिः—चातनः। देवता—अग्निः, वृहस्पतिः)

इदं हविर्यातुघानान् नदी फेनमिवा वंहन्। य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥१॥
अयं स्तुवान् आगमदिमं स्म प्रति हर्षत। वृहस्पते वशे लन्ध्वाग्नीषोमा वि विष्पतम् ॥२॥
यातुघानस्य सोमप जुहि प्रजां नयस्व च। नि स्तुवानस्यं पातय परमक्षुतावरम् ॥३॥

यत्रैपामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहां सुतामत्त्रिणां जातवेदः ।
तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो ज्ञेषिषां शततर्हमग्ने

॥४॥

अर्थ— (नदी फेन ह्व) नदी फेन को उठी लाती है उस प्रकार (इदं हविः) यह दान (यातुधानान् आवहव) दुष्टोंको यहाँ लावे । (यः पुमान्) जो पुरुष अपना जो स्त्री (इदं अकः) यह पाप करती रही है । (सः जनः) वह मनुष्य तेरी (स्तुवतां) प्रशंसा करे ॥ १ ॥ (स्तुवानः अयं) प्रशंसा करनेवाला यह ढाङ्कु (आगमन्) आया है, (इमं) इसका (स्म प्रति हयंत) अवश्य स्वागत करो । हे (बृहस्पते) ज्ञानी उपदेशक ! इसको (वशो लब्ध्वा) वशमें रखकर, हे (अग्नी-पोमौ) अग्नि और ओम ! (वि विष्यतं) इसका विशेष निरीक्षण करो ॥ २ ॥ हे (सोमय) सोमपान करनेवाले ! (यातुधानस्य प्रजां) दुष्टकी सन्तान के प्रति (जहि) जा, पहुँच और (च नयस्य) उन्हें लेजा अर्थात् सन्मार्गसे चला । तथा (स्तुवानस्य) प्रशंसा करनेवालेका (परं उत अवरं) श्रेष्ठ और कनिष्ठ (अक्षि) आँखें (नि पातय) नीचे कर दो ॥ ३ ॥ हे (अग्ने जातवेदः) तेजस्वी ज्ञानी पुरुष ! (यत्र गुहा) जहाँ कदा गुफामें (एषां) इन (अत्रिणां सतां) भटकेवाले सजनों के (जनिमानि) कुलों और संतानों की (वेत्थ) तू जानता है (तान् ब्रह्मणा वावृधानः) तनको ज्ञानसे बडाता हुआ (एषां शततर्हं जहि) इनके छेकड़ों कटौकर नाश कर ॥ ४ ॥

यह सूक्त भी पूर्वसूक्त की उपदेश विशेष रीतिसे बतलाता है। दुष्ट लोगोंको किस रीतिसे सुधारना योग्य है इसका विचार इस सूक्तमें देखने योग्य है। इस सूक्तमें ब्राह्मण उपदेशक का एक और विशेषण आगम्य है वह “बृहस्पतिः” है। इसका अर्थ ज्ञानपति प्रसिद्ध है, बृहस्पति देवोंका गुरु ब्राह्मण ही है; इसलिये इस विषयमें शंका ही नहीं है। “सोम” शब्द इसीका वाचक इस सूक्त में है। “सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा ।” ब्राह्मणोंका मुखिया सोम है, उसी प्रकार बृहस्पति भी श्रेष्ठ ज्ञानी ब्राह्मण ही है। पाठक इन शब्दोंको पूर्वोक्त सूक्तके ब्राह्मण वाचक शब्दोंसे साध मिलाकर देखें और सबका मिलकर मनन करें, तो उनको पता लग जायगा कि धर्मोपदेशक ब्राह्मण किन गुणोंसे युक्त होना चाहिये। अब क्रमशः मन्त्रोंका आशय देखिये—

धर्मोपदेशका परिणाम ।

प्रथम मन्त्र—“जिस प्रकार नदी फेन को लाती है, उस प्रकार यह दान दुष्टोंको यहाँ ले आये। उनमें से खी या पुरुष जो कोई इस प्रकारका पाप करता है यही आदमी स्तुति करनेवाला बने।” ॥ १ ॥

शुद्धिबोधे भरी हुई नदी जिस प्रकार अपने साथ फेन को लाती है उसी प्रकार धर्मप्रचार के लिये अंगग किया हुआ यह हमारा दान दुष्ट लोगोंको यहाँ धरि लावे। अर्थात् इस दानका विनियोग धर्मप्रचारमें होकर उस धर्मप्रचारसे इतना प्रचारका कार्य होवे, कि जिससे सब दुष्टलोग अपनी दुष्टता छोड़कर उत्तम नागरिक बननेके लिये हमारे पास आजायें। उनमें किये

हों या पुरुष हों, जो कोई उनमें पापचरण करनेवाला हो, वह उपदेश सुनते ही धर्म भावसे गेरित होकर तथा धर्ममें आनेके लिये उत्सुक होकर, धर्मको प्रशंसा करे और अधर्माचरण की निंदा करे। पाठक ध्यान रखें, कि हृदयके भाव परिवर्तित होनेका यह पहिला लक्षण है। धर्ममें प्रविष्ट होनेके पश्चात् धर्म-संपर्के लोग उससे किंतु प्रभार आचरण करें इस विषयका उप-देश द्वितीय मंत्रमें देखिये—

नमप्रविष्टका आदर ।

द्वितीय मंत्र—“यह स्तुति करता हुआ आगम्य है, इसका स्वागत करो। हे ज्ञानी पुरुष ! उसको अपने वशमें रख कर, ब्राह्मण और उनका मुखिया ये उस पर ध्यान रखें ॥ २ ॥”

उपदेश श्रवण करके धर्मकी ओर आकर्षित होकर धर्मकी प्रशंसा करता हुआ यह पुरुष आया है। अर्थात् जो पहिले अधार्मिक दुराचारी ढाङ्कु या उसका मन धर्मकी ओर झुका है और वह खुले दिलसे कहता है कि धर्म मार्गसे जाना ही उत्तम है। धर्मकी श्रेष्ठता वह जानने लगा है और अधर्माचरणसे मनुष्यकी जो गिरावट होती है वह उसके मनमें अब अच्छी प्रकार आगई है। उस गिरावटसे बचनेके कारण वह अब धर्मसंपर्कमें प्रविष्ट होना चाहता है और उसी उद्देशसे वह धार्मिक लोगोंके पास आगम्य है। इस समय धार्मिक लोगोंको चाहिये कि वे उसका स्वागत करें, उसका स्वाकार आदर पूर्वक करें अर्थात् उसको अपनायें। बृहस्पति अर्थात् जो ज्ञानी ब्राह्मण ही उसके पास वह रहे, वह उनके कहे नियमोंके अनुसार चले, तथा अन्य समय उनपर

निरीक्षण उपदेशक और प्राज्ञोक्ता सुलिया करते रहें, और चारोंवार उनको धर्मपन्था बोध करते रहें ।

इस प्रकार उसकी योग्यता बड़ाई जाय और उसके धार्मिक भावराशयणिया जाय । नती तो धर्मपथमें प्रविष्ट हुआ नव मानव सम्सृष्टियोंकी उदात्तताके कारण उदात्तता होकर चला जायगा और अधिक विरोधी बनेगा, इसलिये नवीन प्रविष्ट हुए मनुष्यको अन्तर्गत शिष्यमें सम्मिलित करके यह बड़ा भारी बोझ है । इस शिष्यमें वेदके चार अर्थ ध्यानमें करने योग्य हैं ।

१ यह नवीन प्रविष्ट हुआ है,

२ इसका गौरव करो,

३ प्रविष्ट होते ही ज्ञानी इसे नियममें चलानेकी शिक्षा दे और

४ अन्य विद्वान् उसका निरीक्षण करें ।

इस मंत्रमें "विधत्तं" शब्द है, उसका प्रविष्ट अर्थ निद्याना मारना दे, निद्याना मारनेका तात्पर्य उसपर वैयक दृष्टि रखना, उसकी विशेष निप्राणी करना है । उसका विशेष ख्याल रखना, उसका सदा भला करनेका यत्न करना । अस्तु । अब तीसरा मंत्र देखिये—

दुष्टोंकी संतानका सुधार ।

तृतीय मंत्र— "हे सोमपान करनेवाले ! दुष्ट लोगोंकी प्रजाको अर्थात् उनके बालबच्चोंको प्राप्त करो और उनको उत्तम मार्गसे चलाओ । जो तुम्हारी प्रतंसा करेगा उसकी दोनों आँखें नीचे करो ॥ ३ ॥"

सोम-पान करनेवाला अर्थात् यह शर्त्ता मादरा यहद्वारा धर्म प्रचारका बड़ा कार्य करता है । दुष्टोंका सुधार करनेके महत्व पूर्ण कार्यमें विशेष महत्त्वकी बात यह है कि, धर्मके प्रचारक आशुषे बड़े बड़े आदमियोंकी ओरशा नवयुवकोंके सुधारका अधिक यत्न करें । नवयुवकोंके संघ बनाने, उनका आचार सुधार, उनकी रचि सदाचारकी ओर करें अर्थात् हाएक पीठिसे उनकी धार्मिक बननेका सबसे पहिले उद्योग करें । क्योंकि आशुषे बड़े लोग अपने दुष्टाचारमें ही मस्त रहते हैं अथवा उनको वही आचार प्रिय और लाभदायक प्रतीत होता है, अतः उसको पलटाना कठिन कार्य है । परंतु नवयुवकोंके कोमल मन होते हैं, उनमें उतने दृढ मुसंस्कार नहीं होते, इसलिये नवयुवकोंका सुधार अति शीघ्र हो सकता है । इसके अतिरिक्त यदि नव युवक सुधार गये, तो उनका आगका वंशही एकदम सुधार जाता है । इसलिये नवयुवकोंको सुधारनेका प्रधान विशेष रीतिसे करना चाहिये । दुष्टोंके बानकोंको जना करके उनको धर्मनीति अर्थात् धार्मिक आचारकी शिक्षा देना चाहिये । उनमें जो तुम्हारे धर्म-

की प्रशंसा करेगा उसकी आँखें पहिले नीचे करो, अर्थात् उनको जो आँखें ऊंची होती हैं वह नीची हो जाय । इसका आशय यह है कि उनकी पंखी दृष्टि दूर करके उनमें नम्र भाव युक्त दृष्टि स्थापित करो । अधार्मिक दुष्ट लोगोंकी आँखें लाल और मरुत्तन होती हैं, आँदें टेढ़ी और चपटी हुई होती हैं, दूसरे मनुष्यकी जान लेना उनकी एक सहज बान होती है, यह टेढ़ी दृष्टिका भाव है । नीची दृष्टिका आशय चालचलनकी नम्रता, श्रद्धा, भक्ति, आत्मपरीक्षा, आत्मसुधार आदि है । (अक्षि निपानय) आँख नीचे करना, यह दृष्टिमें भेद है । साधारण मनुष्यकी दृष्टि और प्रकाशकी होती है, चारकी दृष्टि और होती है, साधुकी दृष्टि और होती है तथा वाइकी दृष्टि भी और होती है । बानककी दृष्टि, तथा तरुण और वृद्धोंकी दृष्टिमें भेद है । इसलिये वेदमें कहा कि उनकी दृष्टि नम्र करदो । धार्मिक आचार जीवनमें डाले गये तो ही यह दृष्टि बनती है अन्वयात् ही । अस्तु । इस प्रकार तृतीय मंत्रका भाव देखनेके पश्चात् चतुर्थ मंत्रका आशय अब देखिये—

घरोंमें प्रचार ।

चतुर्थ मंत्र— "हे ज्ञानी उपदेशक ! जहाँ कहाँ गुणधर्मोंमें इन भटकने वालोंमेंसे किंचित् भले पुरुषोंके कुल या संदान होंगे, वहाँ पहुंच कर ज्ञानकी उनमें वृद्धि करते हुए, उनसे होनेवाले सैकड़ों कष्टोंको दूर करदो ॥ ४ ॥

चोर बाहु आदिभक्ति सुधारका विचार करते समय उनकी संशयोंमें उपदेश करना यह साधारण हो बात है, इससे अधिक परिणाम कारक बात यह है, कि उनके परिवारोंमें जाकर वहाँ उनकी धर्मोपदेश करना चाहिये । ऐसा करनेके समय उन दुष्ट लोगोंमें जो कुछ भी भले आदमों (सत्तां अतिथिणां) होंगे, उनके घरोंमें पहिले जाना चाहिये, क्योंकि उनके दिल किंचित् नरनसे होनेके कारण उनपर शीघ्र परिणाम होना संभव है । इनके घरोंमें जाकर उनको, उनकी शिथियोंके तथा उनके बाल बच्चोंको योग्य उपदेश देना चाहिये । उनकी उन्नति (मद्रग्ना वाइध्याः) ज्ञान द्वारा करनेका यत्न करना चाहिये, अर्थात् उनके ज्ञान देना चाहिये । सदा धर्मज्ञान देनेसे ही इनका उद्धार हो सकता है । एकबार धर्मज्ञानमें इनकी रचि बढ गयी, तो इनसे होनेवाले सैकड़ों कष्ट दूर हो आँदगे और इनका भी कल्याण होगा ।

इस प्रकार इन दो शक्तोंका उपदेश विशेष मनन करने योग्य है । धर्म प्रचार करने वाले उपदेशक तथा उपदेशकोंको नियुक्त करनेवाले सज्जन इन वैदिक आदेशोंका मनन करें और अचित् बोध लेकर अपने आचरणमें लाये हुए यत्न करें ।

वचःप्राप्ति-सूक्त ।

यह सूक्त "वर्चस्व-गण" का प्रथम सूक्त है । वर्चस्वगणके सूक्तमें "तेज संवर्धन, बलसंवर्धन, धनकी प्राप्ति, शरीरकी पुष्टि, समाज या राष्ट्रमें सम्मानप्राप्ति" आदि अनेक विषय होते हैं । वर्चस्वगणमें कई सूक्त हैं, उनका निर्देश आगे उसी उसी स्थानपर किया जायगा—

(९)

[ऋषिः— अथर्वा । देवता-वस्वादयो नानादेवताः]

अस्मिन्वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः ।
 इमर्मादित्या उत विश्वे च देवा उत्तरास्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु ॥ १ ॥
 अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम् ।
 सुपत्ना अस्मदधरे भवन्तुत्तमं नाकुमर्षि रोहयेमम् ॥ २ ॥
 येनेन्द्राय सममरः पर्यास्पुत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः ।
 तेन त्वमग्र इह वर्धयेमं सजातानां श्रेष्ठय आ चैहोमम् ॥ ३ ॥
 एषां युञ्जमुत वचो ददेऽहं रायस्पोषमुत चित्तान्यमे ।
 सुपत्ना अस्मदधरे भवन्तुत्तमं नाकुमर्षि रोहयेमम् ॥ ४ ॥

अर्थ — (अस्मिन्) इस पुरुषमें (वसवः) वसु देवता तथा इन्द्र, पूषा, वरुण, मित्र, अग्नि ये देव (वसु) धनको (धारयन्तु) धारण करें । आदित्य और विश्वे देव (इमं) इस पुरुषको (उत्तरास्मिन् ज्योतिषि) अग्नि उत्तम तेजमें धारण करें ॥ १ ॥ हे (देवाः) देवी ! (अस्य) इस पुरुषके (प्रदिशि) आदेशमें ज्योति, सूर्य, अग्नि और हिरण्य (अस्तु) होवे । (सप्तलाः) शत्रु (अस्मत् अधरे) हमारे नाँचे (भवन्तु) हों और (इमं) इसको (उत्तमं नाकं) उत्तम सुखमें (अग्नि रोहय) द्रुम चत्राओ ॥ २ ॥ हे (जातवेदः) ज्ञानी उपदेशक ! (येन उत्तमेन ब्रह्मणा) त्रिष उत्तम ज्ञानसे इन्द्रके लिये (पर्यासि सममरः) दुग्धादि रस दिने जाते हैं (तेन) उस उत्तम ज्ञानसे, हे (अग्ने) तेजस्वी पुरुष ! (इमं) इसको (इह) यहाँ (वर्धय) बढ़ाओ और (एनं) इसको (सजातानां श्रेष्ठ्ये) अपनी जातिमें श्रेष्ठ स्थानमें (आ चोदि) स्थापित कर ॥ ३ ॥ हे (अग्ने) तेजस्वी पुरुष ! (एषां) इनके यज्ञ, (वचः) तेज, (रायः पोषं) धनकी वृद्धि और चित्त आदिको (अहं आ ददे) मैं प्राप्त करता हूँ । (सप्तलाः) शत्रु हमारे नाँचेके स्थानमें रहें और (इमं) इस मनुष्यको उत्तम सुखमें (अग्नि रोहय) पड़वा दो ॥ ४ ॥

इस सूक्तका भावार्थ देखनेके पूर्व सूक्तकी कई बातोंका स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता है, अन्यथा सूक्तका भावार्थ समझमें ही नहीं आवेगा । सबसे प्रथम सूक्तमें वर्णित देवताओंका मनुष्यके क्या संबंध है इसका ठीक ठीक ज्ञान होना आवश्यक है, इसलिये उसका विचार सबसे प्रथम करेंगे—

१ (अ. सू. भा. का १)

देवताओंका सम्बन्ध ।

जो ब्रह्माण्डमें है, सब पिण्डमें है, तथा जो पिण्डमें है वह ब्रह्माण्डमें है अर्थात् जो विश्वमें है, उसका सब मत्त्व एक व्यक्तिमें है और जो व्यक्तिमें है उसका विस्तार सब विश्वमें है, इसका विशेष ज्ञान निम्नलिखित ऋषिकृते हो सकता है ।

व्यक्तियें देवता निवासक शक्तियां	समाश्रम देवता समाश्रमके आठ शक्तियां	विश्वमें देवता बसवा (अष्ट)
रघुलक्ष्मी रक्षादि धातु शरीरका तेज प्राण जान	मातृभूमि जल नदी नख आदि आग्नि विद्युत् आदि हृत् वायु स्थान	पृथ्वी आर् तेजः उच्योतिः वयुः आकाशः
अज्ञान प्रकाश हृदय गण ज्ञान	औषधि, वनस्पति धान्यादि प्रकाश साधारण जनता	सोमः अहः नक्षत्रानि, देवाः
साधनेज पुष्टि शांतिभाव मित्रभाव बाणी	ब्राह्मण, ज्ञानी मनुष्य सत्रिय वीर राष्ट्रपोषक अधिकारी जगधिकारी	ब्रह्मन् इन्द्रः पूषा वसवः
व्यातन्त्र्य नेत्र, दर्शनशक्ति सप दिव्य गुण तेज	सत्रिय जन हृनी उपदेशक स्वतंत्र विचारके लोग दार्शनिक विद्वान् सब विद्वान्, कारीगर धन	मित्रः अग्निः आदिवाः सूर्यः विष्वे देवाः दिव्यं
दुष्ट विचार आनन्द तेजो सुख	शत्रु स्वाध्यायिता " "	सपत्न्याः नाक (सर्प) उत्तमं उच्योतिः मध्यमं " अधमं "

“ ब्राह्मचर्यं ” पुरुषकमें अंशवतारका वैदिक भाव वर्णन किया है वह इस समय अवश्य पठिने । (साध्याय मंडलब्रह्मा प्रकाशित । मूल्य १॥)

इस कोटिके पाठकोंको पता लग जायगा कि सूक्तके देवता शरीरमें किस रूपमें हैं, राष्ट्रमें किस रूपमें हैं और जगत्में किस रूपमें हैं । सूर्यदेव जगत्में कहाँ है यह सब जानते हैं, वही अंशरूपसे शरीरमें है जिसको नेत्र या दर्शनशक्ति कहते हैं, राष्ट्रमें भी जो पुरुष विशेष विचारसे राष्ट्रकी अवस्थाका विचार करते हैं वे दार्शनिक पुरुष राष्ट्रके सूर्य हैं क्योंकि उनके दशायें मार्गसे जाता हुआ राष्ट्र उत्तम अवस्थामें पहुँच सकता है । इसी प्रकार अन्धान्य देवताओंके विषयमें देखना-योग्य है ।

इस सूक्तमें प्रारंभमें ही “अग्निन्” पद है इसका अर्थ “इस मनुष्यमें” ऐसा है । प्रश्न होता है कि किस मनुष्यके शरीरमें यह शब्द कहाँ आया है । पूर्व सूक्तके साथ इस मूलका संबंध देखनेसे स्पष्टतारूपके पता लगता है कि इस शब्दका संबंध पूर्व सूक्तमें वर्णित “नवश्वेत्तु शुद्धं हुए” मनुष्यके साथ ही है । जो मनुष्य मनकी शक्ति बदलनेके कारण अपने धर्ममें प्रविष्ट हुआ है, उसकी सबसे अधिक उन्नति करनेकी इच्छा करना प्रत्येक मनुष्यका आवश्यक कर्तव्यही है । अपने धर्ममें जो प्रे-ष्टमें अंश प्राप्त है, वह उसकी तीव्र प्राप्त हो, इस विषयकी इच्छा मनमें धारण करनी चाहिये, अर्थात् उसको विशेष तेज प्राप्त हो ऐसी इच्छा धरना चाहिये । यद्यपि इस मूलका पूर्वो-पर संबंध देखनेसे यह सूक्त नव श्वेत्तु ही तेजशब्दके लिये है ऐसा प्रतीत होता है; तथापि हरएक मनुष्यकी तेज शब्दके सामान्य निर्देश भी इसमें हैं और इस दृष्टिसे यह सामान्य सूक्त सब मनुष्यके उपयोगी भी है । पाठक इसका दोनों प्रकारसे विचार करें ।

अब यहाँ पूर्वोक्त मंत्रोंका भावार्थ दिया जाता है और वह भावार्थ देनेके समय व्यक्तियें जो देवताएँ हैं उनको संस्कारी दिया जाता है । पाठक इसकी तुलना पूर्वोक्त कोटिके करें-

उत्तमिका मूलमन्त्र ।

प्रथम मंत्र-“ इस मनुष्यमें जो निवासक शक्तियाँ हैं तथा क्षात्र बल, पुष्टि, शांति, मित्रता तथा बाणी आदिही शक्तियाँ हैं, ये सब शक्तियाँ इसमें धन्यता स्थापित करें । इसके स्वतंत्र विचार और इसकी सब इष्टियाँ इसकी उत्तम तेजमें धारण करें ॥ १ ॥ ”

मनुष्यमें अथवा जगत्के हरएक पदार्थमें कुछ निवासक (बहु) शक्तियाँ हैं जिनके कारण वह पदार्थ या प्राणी अपनी अवस्थामें रहते हैं । जिस समय निवासक बहु शक्तियाँ बढ़ती रहती हैं, उस समय पोषण होता है और घटती जाती हैं, उस समय क्षीणता होता है; तथा निवासक शक्तियोंके नाश होनेपर शत्रु निश्चित है । इसी प्रकार अन्धान्य शक्तियोंके बढने घटनेसे वे वे गुण बढते या घटते हैं । मनुष्यमें बहुशक्तियाँ आठ हैं और अन्य देवताओंसे प्राप्त अन्य शक्तियाँ भी हैं । इन शक्तियोंके विकसित रूपमें प्रकाशित होनेसेही मनुष्य बहु अर्थात् धन प्राप्त करता है और अपने आनन्दो धन्य कर सकता है । शरीरके रूपसे उत्तमिका यही मूल मंत्र है । (१) अपनी निवासक बहुशक्तियोंका विचार करना, तथा (२) अपने अंदर क्षात्र-तेजकी शक्ति करना (३) अपनी पुष्टि करना, (४) अपने

अंदर समता और शांति रखना, (५) मनमें मित्रभाव बनाना और हितक भाव रूप करना, तथा (६) बागीकी शक्ति विकसित करना । इन छः शाक्तियोंके बंध जानेसे मनुष्य हरएक प्रकारका धन प्राप्त कर सकता है और उससे अपने भाषको धन्य बना सकता है । यहाँ का " वसु " शब्द धनवाचक है परंतु यह धन केवल पैसाही नहीं, परंतु सब बह धन है, कि जिससे मनुष्य अपने भाषको श्रेष्ठ पुरुषोंमें धन्य मान सकता है । इस ब्रह्ममें सब निवासक शाक्तियोंके विकाससे प्राप्त होनेवाली धन्यता आ जाती है । (१) " निवासक शाक्ति, (२) क्षात्रतेज, (३) पुष्टि, (४) समता, (५) मित्रभाव, (६) वसुत्व, " इन छः गुणोंकी वृद्धि करनेकी सूचना इस प्रकार प्रथम मंत्रके प्रथमार्थमें दी है और दूसरे अर्थमें कहा है कि (७) इसके स्वतंत्र विचार और (८) इनकी इंद्रिय शक्तियां इनकी उत्तमोत्तम तेजस्वी स्थानमें पहुँचाने । मनुष्यके स्वतंत्र विचारही मनुष्यको उठाते या गिराते हैं, उसी प्रकार इंद्रियां स्थापित रहती ही वरु संयमी मनुष्य श्रेष्ठ बनता है अन्यथा इंद्रियोंके आधीन बनकर दुर्बलसमी बना हुआ मनुष्य प्रतिदिन हीन होता जाता है । मनुष्यकी निःसंदेह उन्नति करनेका यह अष्टविध साधन प्रथम मंत्रने दिया है । यह हरएक मनुष्यको देखने-योग्य है । अथ दूसरा मंत्र देखिये—

विजयके लिये संयम ।

द्वितीय मंत्र— " हे देवो ! इस मनुष्यकी आहामें तेज, नेत्र, वाणी और धन रहे । हमारे शत्रु नचि हो जाय और इसको सुखकी उत्तम अवस्था प्राप्त हो ॥ २ ॥ "

इस मंत्रमें " (अथ प्रदिधि सूर्यः अष्टु) इसकी आहामें सूर्य रहे " यह वाक्य है । पाठक जान सकते हैं कि हिंसो भी मनुष्यकी आहामें सूर्य रह ही नहीं सकता, क्योंकि वह मनुष्यकी शक्तिके बाहर है; परन्तु सूर्यका अंश जो शरीरमें नेत्र स्थानमें रहता है और जिसको नेत्र इन्द्रिय कहने हैं वह तो संयमी पुरुषके आधीन रह सकता है । इससे पूर्व कौटुककी बात सिद्ध होती है कि ब्यक्तिके विषयमें विचार करनेके समय देवताओंके शरीरस्थानीय अंशही लेने चाहिये जैसा कि पहले मंत्रमें किया है और इस मंत्रमें भी करना है ।

मनुष्यके अंदर चात्र उन्नतिकी अंश तेजी, सूर्यका अंश नेत्र, अग्निका अंश वाणीके रूपमें रहता है । इसी प्रकार अन्योन्य देवोंके अंश यहाँ रहते हैं, वे ही इन्द्रिय शक्तियां हैं । मनुष्यकी रुद्धि, आँख और वाणी तथा उररक्षणमें अन्य इन्द्रियां भी उररक्षी भागमें रहें, अर्थात् इन्द्रियां स्वतंत्र न बनें ।

तात्पर्य-मनुष्य इन्द्रिय-संयम और मनोनिग्रह करके अपनी शक्तियोंको अपने आधीन रखे । अपनी इन्द्रियोंको अपने आधीन रखना आत्मविजय प्राप्त करना है । इस प्रकारका आत्मविजयी मनुष्यही शत्रुओंको दबा सकता और उत्तम सुख प्राप्त कर सकता है । यदि जगत्में विजय पाना है, शत्रुओंनी दवाना है, तथा उत्तम सुख कमाना है, तो अपनी शक्तियोंको सबसे प्रथम स्थापित करना चाहिये, यह महत्त्वपूर्ण उपदेश यहाँ मिलता है । अथ तृतीय मंत्र देखिये—

ज्ञानसे जातिमें श्रेष्ठताकी प्राप्ति ।

तृतीय मंत्र— " जिस उन्नत ज्ञानसे क्षत्रियको उत्तमोत्तम रत्न प्राप्त होते हैं, हे धर्मोपदेशक ! उसी उन्नत ज्ञानसे यहाँ इस मनुष्यकी वृद्धि कर और अपनी जातिमें इसे श्रेष्ठता प्राप्त हो ॥ ३ ॥ "

क्षत्रियको, इन्द्रको अथवा राजाको जिस ज्ञानसे उत्तम भोग प्राप्त होते हैं और जिस ज्ञानसे वह सब श्रेष्ठ समझा जाता है, वह ज्ञान इस मनुष्यको प्राप्त हो और यह मनुष्य भी वैसाही अपनी जातिमें अथवा अपने राष्ट्रमें श्रेष्ठ बने । राष्ट्रके हरएक पुरुषको श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करनेके सब साधन जुटे रहने चाहिये । यह मनुष्य नूतन प्रवृत्त हो वा उसी जातिमें उत्पन्न हुआ हो । तथा हरएक मनुष्यमें यह महत्त्वकांक्षा होनी चाहिये कि मैं भी उन ज्ञानको प्राप्त करके वैसाही श्रेष्ठ बनूँगा, मैं अपनी जातिका नेता बनूँगा और अपने देशमें श्रेष्ठता प्राप्त करूँगा । यह मंत्रका आशय हरएकके नित्य स्मरणमें रखना उचित है । अथ अगला मंत्र देखिये—

जनताकी भलाई करना ।

चतुर्थ मंत्र— " इन सबके चित्त मैं अपनी ओर खींचता हूँ और इनके धनकी वृद्धि मैं करूँगा, तथा इनके साधन मैं फैलाऊँगा । हमारे शत्रु नचि दब जाय और इसको उत्तम सुखका स्थान प्राप्त हो ॥ ४ ॥ "

(१) पहिले मंत्रके उपदेशानुसार आचरण करनेसे अपनी शक्तियोंकी उन्नति की, (२) दूसरे मंत्रके उपदेशानुसार अपने इन्द्रिय संयम द्वारा आत्मविजय प्राप्त किया, (३) तीसरे मंत्रके उपदेशानुसार अपनी ज्ञानशक्ति द्वारा प्रशस्त कर्ष करके अपनी जातिमें बहुमान प्राप्त किया, तब (४) इस चतुर्थ मंत्रमें वर्णित जनताकी भलाई करनेके उत्तमोत्तम कर्म करने और करानेका योग्य अवसर प्राप्त होगा है । पाठक यहाँ चार मंत्रोंमें वर्णित यह चार शक्ति ॥ देखें और विचारें, तो पता लग जायगा कि यहाँ इस सूक्तमें वेदने योग्य उन्नत मानवी उन्नतिकी

अत्यंत उत्तम उपदेश किया है, इसका पाठक जितना विचार करे उतना योडाही है । देखिये—

उन्नतिकी चार सीढियाँ ।

“ अपनी शक्तियोंका विकास ॥ ”

प्रथम मंत्र— शरीरकी चारक शक्तियों, इन्द्रियों और अवयवों की सब शक्तियों, तथा मनकी विचार—शक्तियोंका उत्तम विकास करो ॥

“ स्वशक्तियोंका संयम ॥ ”

द्वितीय मन्त्र— अपने आर्धन अपनी सब शक्तियों रखो, संयम द्वारा आत्मविजय प्राप्त करके शत्रुको दूर करो और सुखी हो जाओ ।

“ ज्ञानवृद्धिद्वारा स्वजातिमें संमान ॥ ”

तृतीय मन्त्र— ज्ञानकी श्रद्धिद्वारा विविध रस प्राप्त करो, और अपनी श्रद्धिद्वारा स्वजातिमें श्रेष्ठ बनें ।

“ जनताकी उन्नतिके लिये प्रयत्न ॥ ”

चतुर्थ मन्त्र— लोगोंके चित्त अपनी ओर आकर्षित करो, लोगोंके धर्मोंकी श्रद्धि करो और उनके प्रयत्न कमोंकी फैला

दो । इससे शत्रुओंको दूर करके सुखके स्थानमें विराजो ॥

ये चार मन्त्र महत्त्वपूर्ण चार आदेश दे रहे हैं (१) स्वशक्ति-संवर्धन, (२) आत्मसंयम, (३) ज्ञानके कारण स्वजातिमें श्रेष्ठत्व और (४) जनताकी भलाईके लिये प्रयत्न, ये संक्षेपसे चार आदेश हैं । इन चार मन्त्रोंपर चार विस्तृत व्याख्यान हो सकते हैं इतना इनके उपदेशोंका विस्तार और महत्त्व है ।

चतुर्थ मन्त्रमें “ एषां ” शब्द है, यह “ इन सब लोगोंका ” यह भाव बता रहा है । इन सब लोगोंके चित्त में अपनी ओर खींचता हूँ, इनके धर्मोंकी श्रद्धि करनेके उपाय में करता हूँ, इनके प्रयत्न कमोंको बढाता हूँ, और इनके सब शत्रुओंको नीचे दबाकर इन सबका सुख बढ़ानेका प्रयत्न करता हूँ । यह इस चतुर्थ मन्त्रका भाव अति स्पष्ट और सुगम है । पाठक इसका मनन करें और इस सूक्तको अपने आचरणमें ढाल दें ।

वर्चस्व-गणके सूक्तके उत्तम उपदेशका अनुभव पाठकोंको यहाँ आया ही होगा । इसी प्रकार आगे भी कई सूक्त इस गणके आविगे । उस समय सूचना दी जायगी । पाठक गणोंके अनुसार सूक्तोंका विचार करें और लाभ उठावें ।

इन सूक्तोंका स्मरणीय उपदेश

- १ तौलस्य मासान— तौलकर खाओ । मित भोजन करो ।
- २ प्रजां नपस्व— सन्तानको ठीक मार्ग बताओ ।
- ३ ब्रह्मणा वावृधानः— ज्ञानसे (बढनेवाला तथा दूसरोंकी) बढानेवाला (बनें)
- ४ उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु— अधिक श्रेष्ठ तेजमें (इसकी) धारणा करें ।
- ५ अस्व प्रादिनि ज्योतिः सूर्यः अग्निः उत हिरण्यं अस्तु—

इसकी आशामें तेज, सूर्य, अग्नि और धन रहें, (अर्थात्) इस (मनुष्य) की आशामें जगत्के पदार्थ रहें और कभी मनुष्य जनकी आशामें जाकर परार्थीन न बने ।

१ सपत्ना अस्मदधरे भवन्तु-शत्रु हमारे नीचे रहें ।

७ उत्तमं नाक्रमथि रोहयैनम्-इसे उत्तम स्थानमें चढाओ ।

८ सजातानां श्रेष्ठ्य भा चेद्भेनम्- इसको अपनी जातिमें श्रेष्ठ बनाओ ।

असत्यभाषणादि पापोंसे छुटकारा ।

(१०)

(ऋषिः-अथर्वा । देवताः १ असुरः, २-४ वरुणः ।)

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः ।
 तत्स्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्वोरुदिसं नयामि ॥ १ ॥
 नमस्ते राजन्वरुणाम् तु मन्यवे विश्वं ह्युग्रि निचिकेपि द्रुग्धम् ।
 सहस्रमन्यान्प्र सुवामि साकं शतं जीवाति शरद्वस्तवायम् ॥ २ ॥
 यदुवकथानृतं जिह्वया वृजिनं बहु । राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणाद्रुहम् ॥ ३ ॥
 मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान्महत्स्परि । सजातानुग्रहा वद ब्रह्म चापं चिकीहि नः ॥ ४ ॥

अर्थ- (अर्थ) यह (देवानां असुरः) देवोंकी भी जीवन देनेवाला ईश्वर (वि राजति) प्रकाशता है । (हि) क्योंकि (राजः वरुणस्य) राजा वरुण देव अर्थात् ईश्वर की (वदा) इच्छा (सत्या) सत्य है । (सतः परि) इतना होनेपर भी (ब्रह्मणा) ज्ञानसे (शाशदानः) तीक्ष्ण बना हुआ मैं (उग्रस्य मन्योः) प्रचंड ईश्वरके क्रोधसे (द्रुग्धम्) इस मनुष्यको (उत् नयामि) ऊपर उठाता हूँ ॥ १ ॥ हे (वरुण राजन्) ईश्वर ! (ते मन्यवे) तेरे क्रोधको (नमः अस्तु) नमस्कार होवे । हे (उग्र) प्रचंड ईश्वर ! तू (विश्वं द्रुग्धं) सब प्रोधादि पापोंको (निचिकेपि) ठीक प्रकार जानता है । (सहस्रं अन्यान्) हजारों अन्योंको (साकं) साथ साथ मैं (प्रसुवामि) प्रेरणा करता हूँ । (अर्थ) यह मनुष्य (तव) तेरा बनकर ही (शतं शरदः) जी वर्ष (जीवाति) जीता रह सकता है ॥ २ ॥ हे मनुष्य ! (यत्) जो (अनृतं वृजिनं) असत्य और पाप वचन (जिह्वया) जिह्वासे (बहु उवकथ) बहुतसा तू बोलता है, उससे तथा (सत्यधर्मो) सच न्यायी (राजः वरुणात्) राजा वरुण देव ईश्वरसे (अहं) मैं (त्वा) तुझको (मुञ्चामि) छुड़ाता हूँ ॥ ३ ॥ हे मनुष्य ! त्वा तुझको (महत्ः वैश्वानरान् अर्णवान्) बड़े समुद्रके समान गंभीर विश्वनाथक देवसे (परि मुञ्चामि) छुड़ाता हूँ । हे (उग्र) वीर ! (वद) यहाँ (सजातान्) अपनी जातिवालोंको (आ वद) सब कह दे और (नः) हमारा (ब्रह्म) ज्ञान (अप चिकीहि) तू जान ॥ ४ ॥

भावार्थ— यह सूर्यादि देवताओंको चाफि प्रदान करनेवाला प्रभु ईश्वर सब जगत्पर विराजता है, सबका सर्वोपरि शासक बड़ी है, इनलिये उसकी इच्छा ही सर्वदा सत्य होती है । अर्थात् उसकी इच्छाके प्रतिकूल कोई भी जा नहीं सकता । तथापि ज्ञानसे सत्यमार्गोंको जाननेवाला मैं इस पापी मनुष्यको निम्न लेखित मार्गसे उस ईश्वरके क्रोधसे छुड़ाता हूँ ॥ १ ॥ हे ईश्वर ! तेरे क्रोधके सामने हम नम्र होते हैं, तेरे सामने थिर झुकते हैं । क्योंकि तू हम सबके पापोंको यथावत् जानता है । इसलिये हम अपने पापोंको तेरे सामने छिपा नहीं सकते । हे प्रभो ! यह बात मैंने हजारों मनुष्यों की सभाओंमें घोषित की है । यह संदेहरहित बात है कि यदि यह मनुष्य तेरा भक्त बनेगा तो ही सौ वर्ष जीवित रह सकेगा, अन्यथा इसको कौन बचा सकता है ? ॥ २ ॥ हे पापी मनुष्य ! तू अपनी जवानसे बहुत असत्य और बहुत पाप वचन बोलता है । इस पापसे दूसरा कोई तुझे बचा नहीं सकता । मैं तुम्हें उसरी धारणमें से जाता हूँ और उसकी जगहसे तेरा बचाव कर सकता हूँ ॥ ३ ॥ हे पापी मनुष्य ! तुझको विश्वेश्वरके क्रोधसे इस प्रकार छुड़ाता हूँ । हे वीर ! तू अपनी जातिमें सब बातें कह और हमारे ज्ञानको जानकर अपना ॥ ४ ॥

पापसे छुटकारा पानेका मार्ग ।

यद्यपि यह सूत्र भाति सरल है तथापि पाठकोंके विवेक बरत बोधके लिये यहाँ धीशशा स्वटीकरण किया जाता है । इस सूत्रमें पापसे छुटकारा पानेका ओ मार्ग बताया है वह निम्नलिखित है—

एक शासक ईश्वर ।

(१) “ देवानां असुरो विराजति ”—सूर्यवंशीय देवोंके विविध शासि देनेवाला एक प्रभु ईश्वर ही मनु जगत्का परम शासक है । हमसे अधिक शक्तिशाली दूसरा कोई नहीं है । (मंत्र १)

(२) “ शर्मो बल्यस्य यदा हि मत्या ”—उम प्रभु ईश्वरका मत्य शमन है । उम की इच्छा सर्वोपरि है । उसके अपूर्व शासनका कोई उल्लंघन कर नहीं सकता । (मंत्र १)

(३) “ विश्वं ह्युग्र निचिकेयि दुग्धम् ”—हे प्रभु ईश्वर ! तु हम सबके पापोंको यथावत् जानता है । अपना कोई मनुष्य अपने पाप उगसे छिपा नहीं सकता । क्योंकि वह सर्वज्ञ है इसलिए हम सबके घुरे भले कर्म वह यथावत् उसी समय जानता है । (मंत्र २)

ईश्वरको सर्वोपरि मानना, सबसे मामुर्ध्वगाली वह है यह स्मरण रखना और उमसे छिपाकर कोई मनुष्य कुछ कर नहीं सकता, यह निश्चित रीतिसे समझना, पापसे बचनेके लिये आशयक है । पापसे बचानेवाले ये तीन महत्त्वपूर्ण विद्यात इन सूत्रमें कहे हैं, पाठक इनका मनन करें और इनको अपने अंदर स्थिर करें । यही तीन भाव मनुष्यका पापसे यथावत् कर सकते हैं ।

ज्ञान और भक्ति ।

मनुष्यको पापसे बचानेवाले ज्ञान और भक्ति ये दो ही हैं । इनका वर्धन इस सूत्रमें निम्नलिखित रीतिसे किया है—

(१) “ महत्या दादादानः । ” ज्ञानमें दीन बना हुआ मनुष्य पापमें बच जाता है और दूसरोंको भी बचाता है । यहिके तथा आत्मोंके यथार्थ विज्ञानको “ ब्रह्म ” कहते हैं । यह ब्रह्म अर्थात् सृष्टिविदा और आत्मविदाका उत्तम ज्ञान मनुष्यको दीनता बनाता है । अर्थात् तेज बनाता है । जिस प्रकार तेज धाब धनुका नाश करता है उसी प्रकार ज्ञानका तेज धाब भी अज्ञान पाप भादि धनुओंका नाश करता है । मनुष्यकी सभी उच्छतिका यही धावन है । (मंत्र १)

(२) “ नमसे रामन् पर्याप्तु मय्यथे । ”—हे ईश्वर ! तेरे शोभके धामने हम नमन करते हैं, तेरे शासनके सामने हम अपना धिर झुकते हैं । अर्थात् हम तेरी शासनमें

आकर रहते हैं, हम अपने आपको तेरी इच्छामें समर्पित करते हैं । तु ही हमारा तारनेवाला है । तेरे बिना हम किसी अन्धकारमें अज्ञेयिभ्य समझते नहीं । (मंत्र २)

(३) “ शर्म जीवति शरत्सदायम् । ”—शर्म जीवित रहेगा जो तेरा बनेगा । जो परमेश्वरका मत्त बनकर रहेगा उसका नाश कौन कर सकता है ? (मंत्र २)

पाठक इन तीन मंत्रभागोंमें ज्ञान और ईश्वरभक्ति पाप मोचनकी संभावना देख सकते हैं । सृष्टिविदाके नियन्त्रो जानकर तदनुकूल आचरण करना, आत्मविदाको जानकर परमात्माको सर्वभौम सत्ताधार मानना, भक्तिसे ईश्वरके सम्मुख नमनना और ईश्वरका मत्त बनकर आत्मन्दसे उल्लङ्घन करने यही पापमोचनका सीधा और निश्चित मार्ग है । पाठक इस सूत्रमें यह मार्ग देखें । इस सूत्रमें जिस मार्गसे पापमोचन संभावना कही है वह यही मार्ग है और यही निश्चित और जीव मार्ग है ।

प्रायश्चित्त ।

पापसे बचनेके लिये प्रायश्चित्त भी यहाँ कहा है और यहाँ देखनेयोग्य है—

(१) “ मद्य अपचिकीदि । ”—प्रायश्चित्त ज्ञान अज्ञान अपना उल्लङ्घन ज्ञान प्राप्त करना, तथा संशयसे जो निन्दन कर बतय है उनको जानना यह उच्छतित्त निश्चित साधन है । जब इस ज्ञानसे अपने अज्ञानोंका पता लगेगा, अपने दुष्टाचारका ज्ञान होगा तब पश्चात्तापसे श्रद्धा करनेका मार्ग यह इस प्रकार है—(मंत्र ४)

(२) “ सत्रातामुमेहा वद । ”—हे वीर ! तु अपने जातिके पुरखोंके सामने अपने सब अपराध कह दे । यही प्रायश्चित्त है । अपनी जातिके ही पुरखोंके सम्मुख अपने अपराधोंके न छिपाते हुए कहना, यह बड़ा भावी प्रायश्चित्त है और इस मनुष्यके मनकी श्रद्धा होती है । (मंत्र ४)

ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् या जिस समय पश्चात्ताप हो उस समय अपने सब अपराध अपनी जातिके सम्मुख कहना बड़ा धैर्यका तथा मनकी पवित्रताका ही चर्य है । हाएक मनुष्य इस प्रकार प्रायश्चित्त नहीं कर सकता । प्रायः मनुष्य अपने अपराधोंको छिपायेका ही मत्त करते हैं परंतु जो लोग अपने दोषोंको अन्तर्गत सम्मुख कह देते हैं वे शुक बनकर शीघ्र ही महात्मा बन जाते हैं ।

इस सूत्रमें “ बचन ” आदि शब्दों द्वारा परमात्माका वर्धन हुआ है, “ महात्मा ” आदि शब्दोंसे पापिनोको पापों

छुटानेवाला महोपदेशक का वर्णन है और "इम" आदि शब्दोंसे पापी मनुष्योंका भी वर्णन हुआ है । धर्मोपदेशक पापियोंको पापसे बचानेका उपदेश परमेश्वरमन्त्रिका मार्ग बताकर कर रहा है, यह बात इस सूक्तके शब्दोंसे स्पष्ट होती है। अर्थात् धर्मोपदेशक इसी मार्गसे स्वयं पापसे बचें और दूसरोंको पारने पचावें ।

पापी मनुष्य ।

पापी मनुष्य सहस्रों प्रकारके पाप करता है, परंतु इस सूक्तमें कुछ मुख्य पापोंकाही उल्लेख किया है, वह भी यहां देखने-योग्य है—

(१) " विश्वं दुग्धं । " — सब द्रोह अर्थात् सब प्रकारका

यह पापमोचन-प्रकरण समाप्त ।

सुख-प्रसूति-सूक्त ।

(११)

[ऋषिः—अथर्वा । देवता-पूषादया नाना देवताः]

वषट् ते पूषभस्मिन्त्सुतांवर्यमा होतां कृणोतु वेषाः ।

सिस्रतां नार्युतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सुतवा उ ॥ १ ॥

चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत । देवा गर्भे समैरयन् तं व्यूर्णुवन्तु सुतवे ॥ २ ॥

सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि । श्रथया स्रपणे त्वमव त्वं विष्कले सृज ॥ ३ ॥

नेवं मसि न पीवसि नेवं मज्जस्वाहृतम् ।

अवैतु पृश्नि शेवलं शुनं जुराय्वत्तवेऽव जुरायुं पघताम् ॥ ४ ॥

वि तैं भिनष्टि मेहनं वि योनिं वि गृवीनिके ।

वि मातरं च पुत्रं च वि कुंभारं जुरायुणावं जुरायुं पघताम् ॥ ५ ॥

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।

एवा त्वं दशमास्य साकं जुरायुणा पुतारं जुरायुं पघताम् ॥ ६ ॥

अर्थ-हे (पूषन्) पोषक ईश्वर ! (ते वषट्) तेरे लिये हम अपना अर्पण करते हैं । (आसिन् सूती) इस प्रसूतिके कार्यमें (अर्पणा होना बेधा) आर्थ मनवाला वाता विषाला ईश्वर गहायता (कृणोतु) करे । (वनमजात्वा) निवमपूर्वक बालनीके

म्य देवेभ्यो (नारी) स्त्री (मित्वा) दक्षगमे ररे । तथा अपने (पर्वणि) अंगोंको (सूतवे ङ) सुखप्रसूतिके
 जे (विजिह्वा) टाक करे ॥ १ ॥ (दिवः) आकाशको (उत) तथा (भूम्याः) भूमिही (घटत्रः प्रादेशः) चारों
 शोभोंमें रहनेवाले (देवाः) देवोंने (गर्भं समैरयन्) गर्भ को बनाया, इगलिये वेही (सूतये) उसही सुखप्रसूतिके लिये
 ते वि ऊर्जुवन्तु) उनको प्रकट करे, उसको याइर खुला करे ॥ २ ॥ (स्या) उतम संतान उत्पन्न करनेवाली माता
 स्यूर्जोत्तु) अपने अंगोंसे खुला करे । इम (योनि) योनिको (विहाययामसि) खोलते हैं । हे (स्युगे) प्रसून होनेवाली
 ॥ १ ॥ (त्वं) तू भी (ध्रयय) अंदरसे प्रेरणा कर । और हे (विष्कले) बीर स्त्री । (त्वं) तू (अवसृज) बालकको उत्पन्न
 ॥ ३ ॥ (न ह्य मांसे) नहीं तो मांसमें, (न पीपथि) न चर्बोंमें, और (न ह्य मज्जसु) न तो मज्जामें वह
 भाहृत) लिपटा है । (शुभि देवलं) नरम मेवारके समान (जरायु) जेही (शुने अचवे) कुत्तेके लिये खानेको
 भवेत्) नीचे आवे, (जरायु) जेही (अवपघताम्) नीचे गिर जावे ॥ ४ ॥ (ते मेदन्) तेरे गर्भके मार्गको, (योनि)
 योनिसे तथा (गर्भानिके) दोनों नाडियोंको (वि वि वि भिनसि) विशेष रीतिसे खुला करता हूं । (मावरं पुत्रं च)
 माता और पुत्रको (वि) अंग करता हूं तथा (कुमारं जरायुगा वि) बच्चेको जेरीसे अलग करता हूं । (जरायु) जेरी
 अथ पघताम्) नीचे गिर जावे ॥ ५ ॥ जैसे वायु, जैसे मन और जैसे पत्नी (पतन्ति) चलते हैं (एव) इसी प्रकार हे
 दत्तामस्य) दश मदिनेवाले गर्भ ! तू (जरायुणा सार्कं) जेरीके साथ (पत) नीचे आ तथा (जरायु अवपघताम्)
 ही नीचे गिर जावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—हे सशक्रे पोषण करनेवाले जगदीश्वर ! तेरे लिये हम अपना अर्पण करते हैं । इस प्रसूतिके समय सब जगत्कानिर्माता
 इहां हमारा सहायक बन । यह स्त्री भी दक्षतासे रहे और इस समय अपने अंगोंको ढीला करे ॥ १ ॥ आकाश और भूमि-
 ही चारों दिशाओंमें रहनेवाले सूर्यादि सपूर्ण देवोंने इस गर्भको बनाया है । और वे ही इस समय अपनी सहायतासे इसको सुख
 प्रकट गर्भस्थानसे बाहर लावें ॥ २ ॥ स्त्री अब अपने अंग खुले करे, सहाय करनेवाली धार्द योनि से खोले । हे स्त्री ! तूही मनसे
 अंदरसे प्रेरणा कर और सुलसे बालकको उत्पन्न कर ॥ ३ ॥ यह गर्भ मांस, चर्बों या मज्जामें चिपका नहीं होता है । वह पानीमें
 सरसोंपर बननेवाले नरम मेवारके समान अति कोमल पैलीमें लिपटा हुआ होता है, वह सब पैलीकी पैली एकदम बाहर
 आवे और वह नालके साथ जेही कुत्तेको खानेके लिये दं जावे ॥ ४ ॥ योनि, गर्भस्थान और पिछली नाडियोंको ढीला किया
 जावे, प्रसूनि होनेकी मातासे बच्चा अलग किया जावे और बच्चे जेही नाल समेत अलग की जावे । नाल समेत सब जेही पूर्णतासे
 बाहर निकल आवे ॥ ५ ॥ जिस प्रकार मन वेगसे विपथीमें गिरता है, जैसे वायु और पत्नी वेगसे आकाशमें चलते हैं उसी प्रकार
 दसवें मदिनेमें गर्भ जेरीके साथ गर्भस्थानसे बाहर आवे और जेही आदे सब नीचे गिर जावे अर्थात् माताके गर्भस्थानमें उसका
 कुछ भाग अवशिष्ट न रहे ॥ ६ ॥

प्रसूति प्रकरण ।

इस सूक्ते मया प्रकरणमार्गमहुआ है । यह प्रकरण विशेषतः
 त्रियंके लिये और सामान्यतः सबके लिये विशेष लाभकारी
 । त्रियंको प्रसूतिके जितने वृत्त सहने पड़ते हैं उनका दुःख
 छिगाही जानती है । प्रसूतिके समय न्यून कष्ट होना प्रयत्नसे
 साध्य है । गर्भधारणासे लेकर प्रसूतिके समयतक अथवा गर्भ-
 धारणासे भी पूर्व समयमें भी जो निम्न पालन करनेयोग्य
 होते हैं, उनका शोष रीतिसे पालन करनेसे प्रसूतिके वृत्त बहु-
 तयें पूरना संभव है । इस विषयमें आगे बहुत उपदेश
 खानेवाला है । यहां इस सूक्तेमैं जतना विषय आया है, उसको
 अब यहां रेखिये—

ईशमक्ति ।

परमेश्वरकी मक्तिही मनुष्यकी दुःखोंसे पार कर सकती है ।
 यहस्त्री स्त्रीपुरुष यदि परमेश्वरके उत्तम भक्त होंगे, तो उस
 परिश्रमकी प्रसूतिके कष्ट न होंगे; यह बतानेके लिये इस
 सूक्तेके प्रथम मंत्रके पूर्वार्धमें ही सबसे पहिले ईश्वरकी मानस-
 पूजाका वर्णन किया है ।

“ वषट् ” शब्द “ स्वाहा ” अर्थमें अर्थात् “ आत्मसम-
 र्पण ” के अर्थमें प्रयुक्त होता है । (हे पूज्य ! ते वषट्) हे
 ईश्वर ! तेरे लिये हम अपने आपकी समर्पण कर रहे हैं । तू
 ही (अर्थ या) श्रेष्ठ सम्पत्तोंका मान करनेवाला अर्थात् हितकर्ता
 है, तू ही (वेषाः) सब जगत्का स्वामीया और निर्माता है

और दूरी (होना) सब सुखोंका दाता है । इसलिये हम तेरे आभयसे रहते हैं और तेरे शिष्यही पूर्णतया समर्पित होते हैं ।

यहां पूर्व सूक्तमें वर्जन क्रिये ईश्वरके गुण अनुसंधानसे देखने योग्य हैं । “ सब सूर्यादि देवताओंको राक्षि देनेवाग्या एक ईश्वर है और उसका शासनही सर्वोपरि है । ” इत्यादि भाव जो पूर्व सूक्तमें कहे हैं, यहां देखिये । “ तबसे समर्थ प्रभु ईश्वर मेरा सहायकाई है, और मैं उसकी गोदमें हूँ ” इत्यादि भाविके भाव त्रिषते हृदयमें अकृत्रिम प्रेमके भाव रहते हैं, वह मनुष्य विशेष राक्षिसे और आगेग्यसे युक्त होता है और प्रायः ऐसा मनुष्य सदा आनन्दमें रहता है ।

काम विद्याका संयम करनेके लिये परमेश्वर भक्तिही एक दिव्य औपाधि है । कामविद्यारका नियमन हुआ तो त्रियोंके प्रसूतिके दुःख शोभे नोभ्ये कम होगे, क्योंकि कामकी अति होनेसेही त्रियां अशक्त बनती हैं और अशक्तताके कारण प्रसूतिके कष्ट अधिक होते हैं तथा प्रसूतिके पश्चात्के सजादि रोग भी कष्ट देने हैं । इसलिये काममोका निवृत्त परमेश्वर भावसे कर्मेच्छा उपदेश हरएक औपुष्यके यहां अवश्य ध्यानमें बरना चाहिये ।

देवोंका गर्भमें विकास ।

सूर्यादि देवताएं अपना अपना अंश गर्भमें रखती हैं, सब देवताओंका अंशान्तर गर्भमें होनेके पश्चात् आत्मा उभमें आता है । इत्यादि विषय वेदमें स्थान स्थानपर आया है । [इस विषयमें स्वाभ्यासमंडल द्वारा प्रकाशित “ ब्रह्मवर्ष ” पुस्तकमें “ देवोंका अंशवतार ” शीर्षक विस्तृत लेख अवश्य पाडिये । वहां विविध वेदमंत्रों द्वारा यह विषय स्पष्ट कर दिया है ।] तात्पर्य गर्भमें अंशरूपसे अनेक देवताएं रहती हैं और उनका संबंध बाधा देवताओंके साथ है । भूमि और आकाशकी चारों दिशाओंमें रहनेवाली सब देवताएं अपने गर्भमें अंशरूपसे आगई हैं, मानो उनका संमेलन (समीकरण) ही गर्भमें हुआ है और उनका अधिष्ठाता आत्मा भी उसी गर्भमें है । यह दृढविश्वास गर्भ धारण करनेवाली माताका होना चाहिये । अर्थात् जो गर्भ अपने अंदर है वह अपने केवल कामोपमोग का ही फल नहीं है, परंतु उसमें और विशेष महत्त्वपूर्ण आत्म-शाक्तिका और दैवी शक्तिका संबंध है । ऐसा मत्व गर्भवती स्त्रीमें स्थिर रहनेसे गर्भवतीका स्वास्थ्य तथा गर्भका पोषण भी उत्तम होता है । गर्भाधानके समयमें भी देवताओंका आह्वान किया जाता है । उस समयके मंत्र इस दृष्टिसे पाठक देखेंगे तो

३ (म. घ. मा. का. १)

उनको पता लगेगा कि गर्भाधान कामविकाके पोषणके लिये नहीं है परंतु उच्च शक्तियोंकी धारणा के लिये ही है । अस्तु । गर्भिणी स्त्री अपने गर्भके विषयमें इतना उच्च भव मनमें धारण करे और समझे कि जिन देवताओंके अंश गर्भमें एकट्टे हुए हैं वेही देवताएं गर्भका पोषण और सुख प्रसूतिमें अवश्य सहायता देंगी । अर्थात् इस प्रकार देवताओंकी सहायता और परमपरा का आधार मुझे है इसलिये मुझे कोई कष्ट नहीं होगा । पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका द्वितीय मंत्र पढ़ें ।

गर्भवती स्त्री ।

पूर्वोक्त भाव गर्भवती अपने अंदर दृढतासे धारण करे । अब गर्भवती स्त्री अथवा गृहस्थाश्रममें रहनेवाली स्त्री निम्न बातोंका विचार करे—

१ नारी-जो धर्मनीतिसे (वृत्ताति) चली है अर्थात् धर्म नियमोंसे अपना आचरण बरती है, तथा (नर) पुत्रके साथ रहती है, वह नारा कहलती है । अर्थात् विशेष गृहस्थधर्मके नियमोंका पालन करनेका भाव इस शब्दसे सूचित होता है । (मंत्र १)

२ ऋत-प्रजापिता—(ऋत) मत्स्यनिधनानुकूल (प्रजाता) प्रजनन कर्मसे युक्त । अर्थात् गर्भ-धारण, गर्भ-पोषण और प्रसूति आदि सब कर्म जिसके सत्य धर्मनियमोंके अनुकूल होते हैं । ऋतुगामी होना, गर्भ धारणके पश्चात् तीन वर्षके उपान्त अथवा बालक दूध पीना छोड़ दे तत्पश्चात् ऋतुगामी होना, इत्यादि सब नियमोंका पालन करनेवाली स्त्री सुखसे प्रसूत होता है । (मंत्र १)

३ सूर्य, सृष्ट्या-जिस स्त्रीके प्रसूतिके कष्ट नहीं होते, अर्थात् जो सुखसे प्रसूत होती है । त्रियोंके योग्य नियमोंके पालन द्वारा यह गुण अन्तमें लाना चाहिये । (मंत्र ३)

४ विश्वकला वीर स्त्री अर्थात् धैर्यवती स्त्री । त्रियोंको अपने अंदर धैर्य बढ़ाना आवश्यक है । थोड़ेसे कष्ट होने लगे तो घबराना नहीं चाहिये । धैर्यसे उनको सहना चाहिये । (मंत्र ३)

गर्भवती त्रियोंको इन शब्दों द्वारा प्राप्त होनेवाला बोध अपने अंदर धारण करना उचित है, क्योंकि सुखप्रसूतिके लिये इन गुणोंकी आवश्यकता है ।

गर्भ ।

इस सूक्तमें गर्भका नाम “ दत्त-म स्य ” आया है । इसका अर्थ “ दत्त मासका आयुवाला ” ऐसा है । यह शब्द परिपूर्ण

गर्भका समय बता रहा है। दसवें महीनेमें प्रसूतिवा ठीक समय है। दसवें महीनेसे पूर्व जो प्रसूति होती है, वह गर्भगी अथवा अशुभगर्भ होनेके कारण मातृके कष्ट बढ़ाती है। पोष्य समयके पूर्व होनेवाले गर्भगत और गर्भगत ये सब मातृके कष्ट बढ़ानेवाले हैं और ये सब दुःख गृहस्थाश्रमी स्त्रीपुरषके निम्नरहित वर्तव्यसे ही होते हैं। जो गृहस्थाश्रमी स्त्रीपुरष योग्य नियमोंका पालन करते हैं, उनकी क्रियाकी सुखसे प्रसूति होती है।

सुख-प्रसूतिके लिये आदेश ।

- १ स्त्री परमेश्वरकी भांति करे। (मंत्र १)
- २ अपने गर्भमें देवताओंका अंशवत्कार हुआ है ऐसा मान मनमें धारण करे। (मंत्र २)
- ३ (सिद्धता) दसलासे अपना व्यवहार करे। (मंत्र १)
- ४ प्रसूतिके समय (पर्वण्ये विजिह्वा) अपने अंगारों को धोला करे। (मंत्र १)
- ५ (सूया व्यूँत्तु) सुख-प्रसूति चाहनेवाली स्त्री अपने अंगारोंको धोला अथवा हला करे अर्थात् सुख न बनाये। (मंत्र ३)
- ६ (सूयने ! त्वं शयय) सुख-प्रसूति चाहनेवाली स्त्री मनको इच्छा शक्तिसे भी अंदरसे प्रेरणा करे, तथा मनसे प्रसूतिके अंगोंको प्रेरित करे। यह प्रेरणा स्वयं उस स्त्री को ही अंदरसे करनी चाहिये। (मंत्र ३)

घाईकी सहायता ।

१ प्रसूतिके समय घाई की सहायता आवश्यक होती है। यह घाई भी प्रसूत होनेवाली स्त्रीको लक्ष सूचनाएं देती रहे और धीरे देती रहे। " पानेवर तेरा सहायक है और सब देवही तुम्हारे गर्भमें हैं अतः उनकी भी सहायता ग्रहण है "

इत्यादि वाक्योंमें उनका धीरेसे बहावे।

२ मातृदण्डका होनेपर मोनिरूपान उचित धीरेसे हला करे। (मंत्र १)

३ जेन्दि अंदर मन होता है। गर्भके माय जेरी मात आदि सब बाहर आजाय और कोई उसका पदार्थ मातृके गर्भाशयमें न रह जाय इस विदयमें घाई दसलासे अपना धारण करे। यह पदार्थ अंदर रहनेसे बहुतही दुःख होना संभव है। (मंत्र ४)

४ प्रसूतिके समय गर्भनाश, योनि और पिउले अथवा सुने कने चाहिये। उनको यथायोग्य रीतिसे छुले करे, ताकि प्रसूति सुखसे होवे। (मंत्र ५)

५ प्रसूति होतेही मातृके पानसे पुनको अलग करके उठारका जेरीका वैद्यन दवाकर जो आवश्यक कार्य करना हो वह सब योग्य रीतिसे करे। (मंत्र ५)

सूचना ।

यह विषय शारीरशास्त्र है, केवल पांडित्य नही है। इस सूक्तका अर्थ भी शारीरशास्त्रके प्रसूति प्रकरणके अनुसंधानसे समझना उचित है। इसलिये जो वैद्य या वाक्तर हैं, जिन्होंने सुख-प्रसूति शास्त्रका विचार किया है, तथा निम्न क्रियाओंके इस शास्त्रके ज्ञानके साथ अच्छा अनुभव नही है, उनको इस सूक्तका अधिक विचार करना चाहिये। वेही इस सूक्तके " सिद्धता, विजिह्वा, व्यूँत्तु " आदि शब्दोंको ठीक प्रकार समझते हैं और वेही इस सूक्तकी ठीक व्याख्या कर सकते हैं।

आशा है कि प्रसूति-शास्त्रके अन्धाधी इच्छा अभ्यास करेंगे और अधिक विशेष व्याख्या कर सकेंगे।

[इति द्वितीय अनुवाक समाप्त ।]

श्वासादि-रोग-निवारण-सूक्त ।

(१२)

[ऋषिः—भृगुर्वांगिराः । देवता—यक्ष्मनाशनम्]

जरायुजः प्रथम उल्लियो वृषा वातभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या ।
 स नो मृडाति तन्वृ ऋजुगो रुजन् य एकमोज्ञेघा विचक्रमे ॥ १ ॥
 अङ्गे-अङ्गे शोचिषां शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हृविषां विधेम ।
 अङ्कान्तमङ्कान् हृविषां विधेम यो अग्रभीत्पर्वास्या प्रभीता ॥ २ ॥
 मुञ्च शीर्षिकत्या उत कास एनं परुष्परात्रिवेज्ञा यो अस्य ।
 यो अभ्रजा वातुजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्सचतां पर्वतांश्च ॥ ३ ॥
 शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे । शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वेष्टुममी ॥ ४ ॥

अर्थ—(वातभ्रजाः) वायु और मेघसे उत्पन्न होकर (प्रथमः जरायुजः) पशुला जेरीसे उत्पन्न होनेवाला (उल्लियः वृषा) तेजस्वी बलवान् सूर्य (वृष्ट्या स्तनयन्) वृष्टिके साथ गजला हुआ (पति) चलता है । (स ऋजुगः) वह सीधा चलनेवाला और (रुजन्) दीप दूर करनेवाला (नः तन्वे) हमारे शरीरको (मृडाति) मुल देता है । (यः) जो (एकमोज्ञः) एक सामर्थ्यको (श्रेया) तीन प्रकारसे (विचक्रमे) प्रकाशित करता है ॥ १ ॥ (अङ्गे अङ्गे) प्रत्येक अवयवमें (शोचिषा शिश्रियाणं) अपने तेजसे आश्रय करनेवाले (स्वा) तुलको (नमस्यन्तः) नमन करते हुए (हृविषा विधेम) अर्पण द्वारा पूजा करते हैं । (यः) जो (प्रभीता) प्रदण करनेवाला (अस्य पर्व) इसके जोड़ को (अग्रभीत्) प्रदण करता है उसके (अङ्कान् समङ्कान्) चिन्होंको और मिले हुए चिन्होंके (हृविषा विधेम) हवनके अर्पणसे पूत्रे ॥ २ ॥ (शीर्षिक्याः) शिरदर्दसे (उत) और (यः कासः) जो खाँसी है उससे (एनं मुञ्च) इसको छुड़ा । तथा (अस्य) इसके (परुः परुः) जोड़ जोड़में जो रोग (माविषेया) घुस गया है । उससे भी छुड़ा । (यः अभ्रजाः) जो मेघोंकी वृष्टिसे उत्पन्न हुआ है अथवा जो (वातभ्रजाः) वायुसे उत्पन्न हुआ है तथा जो (शुष्मः) सफाताके कारण उत्पन्न हुआ है, उसके दूर करनेके लिये (वनस्पतीन् पर्वतांश्च) वृक्ष वनस्पति और पर्वतोंके साथ (सचतां) संबन्ध करें ॥ ३ ॥ (मे परस्मै गात्राय शं) मेरे अंग अवयवोंका कल्याण हो । (अवराय शं अस्तु) मेरे साधारण अवयवोंके लिये कल्याण हो । (मे चतुर्भ्यः अङ्गेभ्यः शं) मेरे चारों अंगोंके लिये आरोग्य प्राप्त हो । (मम तन्वे शं अस्तु) मेरे शरीरके लिये सुख होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—वायु और मेघसे प्रकट होकर मेघोंके आचरणसे प्रथम वादर निकला हुआ तेजस्वी सूर्य वृष्टि और मेघपर्वनाके मात्र था रहा है । वह अपनी सीधी गतिमें दोषों अथवा रोगोंको दूर करना हुआ हमारे शरीरोंकी निरागता बढाता है और हमें सुख देता है । वह सूर्यका एकही तेज तीन प्रकारसे कार्य करता है ॥ १ ॥ वह शरीरके प्रत्येक अंगमें अपने तेजके अंशसे रहता है, उसका महत्त्व जानकर, हम हवन द्वारा उसका सत्कार करते हैं । जो मनुष्यके हरएक जोड़में रहता है उसके प्रत्येक चिन्हका भी हवन द्वारा हम सत्कार करने हैं ॥ २ ॥ दूसरी सहायतासे शिरदर्द दटाओ, खाँसी दटाओ, जोड़के अङ्गको पीटा को दटाओ । जो रोग मेघोंकी वृष्टिमें अर्थात् कास, वायुके प्रकोपसे अर्थात् वातसे और गर्मीके कारण अर्थात् पित्तसे होते हैं उनको भी दटाओ । इसके लिये वनस्पतियों और पर्वतोंका सेवन करो ॥ ३ ॥ इससे मेरे उत्तम अंग साधारण अंग तथा मेरे चारों अंग अर्थात् मेरा सब शरीर नीरोग होवे ॥ ४ ॥

यह भावार्थ मंत्रोंके खर्चोंके अनुसंधानसे पाठक पढ़ेंगे तो उनके ध्यानमें सूक्तता या-पर्य आजायगा क्योंकि यह सूक्त सरल और सुगम ही है। तथापि पाठकोंके विशेष बोधके लिये यहाँ विशेष बातोंका स्पष्टीकरण किया जाता है। यह " तवम-नाशन गण " का सूक्त है अर्थात् रोगादिनाशक भाव इसमें है।

महत्त्वपूर्ण रूपक ।

सबसे पहले प्रथम मंत्रमें वर्णित महत्त्वपूर्ण रूपक विचार करनेयोग्य है। पूर्वमूलमें " (जरायुजः दशमात्यः पुत्रः) जेरसि वेष्टित उपरत्र हीनेवाले दशमासक गर्भमें रहनेवाले पुत्र " का वर्णन है। उसके साथ इस सूक्तका संबंध बतानेके लिये इस सूक्तके प्रारंभमें ही "जरायुजः प्रथमः" ये शब्द आये हैं। यहा सुदृशका वर्णन बड़े महत्त्वपूर्ण रूपकसे किया है। इस रूपकमें सूर्य ही " पुत्र " है सूर्यके पुत्र होनेका वर्णन वेदमें अनेक स्थानमें आया है। यहाका यह वर्णन सनसमें आनेके लिये कुछ निदर्शकी और ध्यान देनेकी आवश्यकता है।

बरसातके दिनोंमें जब बड़े दिन आकाश मेंघोंघे आगच्छावित होता है और सूर्यदर्शन नहीं होता, वृष्टि होती है, वायु चलता है, विजला चमरती है तब बभी बभी ऐसा होता है कि थोड़ा वायु चरनेसे बीचका आकाश मेघरहित हो जाता है और स्वच्छ सूर्य-मंडल दिखाई देता है। मानो यही पुत्र-दर्शन है। पुत्रजन्मके समय में भी प्रसूति होते ही गर्भके उपर जेरीआदि का बेटन होत है, जलादि प्रवाह प्रसूतिके समय होते हैं, यह सब मानो सूर्य-वेष्टित मेघ और उनकी वृष्टि है। इस प्रकार इस उपमामें साम्य देख सकते हैं।

बहुत दिनोंतक मेघान्छादित आकाशके पश्चात् जब सूर्यदर्शन होता है, हवा साफ हो जाती है तब मनुष्योंको आनंद आनंद होता है, मनुष्य प्रसन्नचित्तसे उत्सव मनाते हैं। इसी प्रकार जब गर्भिणी स्त्रीको पुत्र प्रसव होता है, उसपरकी जेरी अलग की जाती है, उसको स्वच्छ किया जाता है, तब उसका मुखरूपी सूर्य देखकर जो आनंद माताके हृदय में चमक उठता है उसका वर्णन कथ कभी शब्दोंसे होना समभव है ? माताका आनंद इन्हीं शब्दोंसे व्यक्त हो सकता है कि " यह पुत्र परवा सूर्य है, यह माताके हृदय की ज्योति है, यही माताकी आखीका प्रकाश है। जिस प्रकार सूर्य अंधेरा हटाता है उसी प्रकार पुत्र परको, झुलकी और जालिने उज्वल बनाता है। " इस प्रकार बालक के मुखकी रोशनीका वर्णन माता अपने शब्दरहित भावोंसे ही कर सकती है। पाठक अपनी काम्यमय आंख खोलकर ही इसको पढ़कर समझनेकायन करें।

पात्रु यहाँ नूतनोत्पन्न बालका वर्णनही करना नहीं है, किंतु जीवनदाता सूर्यकाही वर्णन अर्थात् सूर्यके जीवन-पोषक रिम-रक्षण का वर्णन करना है। यह करनेका प्रस्ताव इस प्रकार इस सूक्तके प्रारंभमें किया है। और इस प्रस्तावसे पूर्व सूक्तके साथ इस सूक्तका संबंध जोड़ दिया है।

प्रायः प्रसूतिके समय तथा पश्चात् स्त्रियोंमें अचक्षता आ जाती है और नाना रोगोंकी संभावना उत्पन्न होती है। इसलिये इस कष्टको दूर करना सुगमतासे किस रीतिसे माध्य होता है, यही बताना सूक्तका मुख्यतया विषय है। मानो इस विषये आरोग्य का विषय इस सूक्तमें उद्दिष्ट किया है।

आरोग्यका दाता ।

सूर्य ही आपोषयका दाता है यह बात इस सूक्तके प्रथम-मंत्रके उत्तरार्थमें स्पष्ट कही है

स नो मृदाति तन्वे ऋजुगो रजन् । (मंत्र १)

"वह (सूर्य) हमारे शरीरोंको आरोग्य देता है, सीया जाने-वाला शरीरोंको नाश करके," इस मंत्र भागका स्पष्ट आशय यह है कि वह सूर्य शरीरोंको दूर करता है और आरोग्य बढ़ाता है। यदि यह सत्य है तो यह भी सत्य है कि सूर्य प्रकाश जहाँ नहीं पहुँचता वहाँ ठीक आरोग्य रहना संभव ही नहीं है। इस आरोग्यके वैदिक नियम की ध्यानमें रखकर आप अपने शरीरोंका और प्रसूतिके बच्चेका विचार कीजिये। आरोग्यदाता सूर्य-प्रकाश हमारे कमरोंमें कितना आता है! प्रसूतिके स्थानमें भी विपुल प्रकाश आना चाहिये, तभी माता और नूतन उत्पन्न बालक का उत्तम स्वास्थ्य रह सकता है। परके कमरोंमें विपुल प्रकाश आता रहेगा तो घरवालोंका स्वास्थ्य ठीक रहेगा। इस प्रकार वेद कहता है कि सूर्य प्रकाश सबके स्वास्थ्यके लिये आवश्यक है। पाठक अपने अपने व्यवहारमें इस ज्ञानका उपयोग करें।

प्रथम मंत्रका अंतिम कथन है कि (एकमोक्षमेवा विचक्ष्मे) अर्थात् एकही शक्ति तीन प्रकारसे प्रकाशित हो रही है। यह बात कई स्थानोंमें सत्य है। सूर्य का ही तेज सुलोकेमें सूर्य प्रकाशसे, अंतरिक्षमें विद्युत् रूपसे और भूलोकमें क्षमिके रूपसे प्रकाशित हो रहा है। यही बात शरीरमें देखिये-मस्तिष्कमें मज्जासूक्ष्ममें, हृदयमें पाचनशक्तिके रूपमें और सब शरीरमें उष्णताके रूपमें सूर्यका तेज प्रकाश है और विविध कार्य करता है। आरोग्यका विचार करनेके समय हम बालका अवश्य विचार करना चाहिये। सूर्य प्रकाशसे इन तीनों शारीरिक स्थानोंमें योग्य परिणाम होकर शरीरका आरोग्य होता है, बुद्धिका तेज बढ़ता है और सुखकी वृद्धि होती है। यह है

संक्षेपसे सूर्यका हमारे आरोग्यसे संबंध। पाठक विचार करें और अधिक ज्ञान प्राप्त करें।

इस रीतिसे प्रथम मंत्रमें आरोग्यका मूलमंत्र बताया है और उपरान्त यह भी कहा है कि जिस प्रकार घरमें बालकहूरी सूर्यका बदन होता है उसी प्रकार विश्वमें विश्वसूत्र सूर्यका उदय होता है। घर छोटा विश्व है तथा विश्वही बड़ा घर है। इसलिये इस घरके सूर्यका और विश्वके सूर्यका संबंध देखना चाहिये। आरोग्यके लिये तो इस घरके सूर्यका विश्वके साथ संबंध करना चाहिये अर्थात् जहातक हो सके वहातक बालक को घरमें बंद न रखते हुए विश्वसूर्यके छूले प्रकाशमें शनैः शनैः खानेका धन करना चाहिये, जिससे घरका सूर्य भी नीरोग और बलवान बन सके।

सूर्यकिरणोंसे चिकित्सा।

आगे द्वितीय मंत्रमें कहा है कि (अंगे अंगे शोचिषा शिभिर्याणं) शरीरके प्रत्येक अंगमें तेजके अंशसे यह सूर्य रहना है, उनमें (ममस्यन्तः) जमन करना चाहिये, अर्थात् उमका आदर करना चाहिये, सूर्यके तेजसे अपने तेजको बढ़ाना चाहिये। जो लोग घरके अंधेरे कमरोंमें अपने आपको बंद रखते हैं वे निस्तेज होते हैं, परंतु जो खुली हवामें घूमते हुए सूर्यप्रकाशसे अपना तेज बढ़ाते हैं वे तेजस्वी होते जाते हैं।

• शरीरके प्रत्येक (पर्व) जोड़में यह अंश रहता है, इस सूर्यके अंशसे इस स्थानपर (प्रमीता) अपना अधिकार जमाया है। हरएक अवयवमें इसके (अंकात्) चिन्होंको पहचानना चाहिये और (समंकात्) मिले जुले चिन्होंको भी पहचानना चाहिये। जैसा आंखमें तेजहूपे सूर्यका निवास है, अन्य स्थानोंमें अन्य अंशोंसे है। यह सब जानना चाहिये। और जिस स्थानमें अनारोग्य या बीमारी हुई हो उस स्थानका आरोग्य सूर्य-प्रकाशका उचित रीतिसे प्रयोग करके प्राप्त करना चाहिये। सबेरेके मंद सूर्यके प्रकाशमें खुली आंखसे सूर्य विष देखते रहनेसे प्रायः नेत्ररोग्य दर होजाते हैं। विशेष नेत्ररोगोंके लिये विशेष युक्तिसे सूर्य-किरणका प्रयोग करना चाहिये। विशेष अंगके लिये भी विशेष युक्तिसे ही सूर्यकिरणका प्रयोग करना होता है। माघारण आरोग्यके लिये वरु विशेष अवयव सूर्यकिरणोंमें तपानेसे भी बहुतसा कार्य हो जाता है। इस

युक्तिसे केवल सूर्य किरणचिकित्सासे बहुतसे रोग दूर करना संभव है। यदि सदन हो सके इतने उष्ण सूर्य प्रकाशमें नंगा शरीर कुछ देरतक तपवा जाय तो भी सर्वसाधारण शरीर की नीरोगता बढ़ती है। शीतकालमें यह करना उत्तम है, परंतु गर्मीके दिनों और उष्ण देशोंमें विचारसे और युक्तिसे ही इसका प्रयोग करना चाहिये। नहीं तो आरोग्यके स्थानपर अनारोग्य मी होगा इसलिये यह सब अन्वयस युक्तिसे ही बढ़ाना चाहिये।

तृतीय मंत्रमें (दीर्घस्त्र्याः) सिरदर्द, (कालः) खांतो, (परुः) मंधिस्थानके रोग उक्त प्रकार हटानेकी सूचना दी है। (घातजाः) घात, (शुष्मः) पित्त, (अभ्रजाः) कफके प्रकोपके कारण उत्पन्न हुए ये तथा अन्य रोग मी उसी युक्तिसे दूर करनेकी सूचना तृतीय मंत्रमें है। (पर्वतात् सचता) तथा पर्वतों पर रहकर (वनस्पतीन् सचता) उचित वनोपधियोंका सेवन करनेका भा उपदेश इसी मंत्रमें है। वनोपधियोंका सेवन दो प्रकारसे होता है, एक वृक्षादिकोंके नीचे रहना और दूसरा योग्य औषधियोंके रसादिना उपयोग करना। पर्वतोंके उच्च शिखरोंपर निवास और वृक्षोंके नीचे बैठना उठना बड़ा आरोग्यदायक है, यह बातें हमने कई रोगियोंपर युक्तिसे अजमाई हैं और हमारे अनुभवसे बड़ी लाभदायक सिद्ध हुई हैं। पाठक मी इससे लाभ उठावें।

चतुर्थ मंत्रमें सिर आदि उत्तमोग तथा पांव आदि अधरंग-तापयें सब शरीरका स्वास्थ्य-पूर्वक रीतिसे प्राप्त करनेकी सूचना प्रार्थना मंत्रद्वारा दी है।

सर्वसाधारण उपाय।

इस सूक्तिसे सर्व साधारणके लिये भी बड़ा बोध प्राप्त हो सकता है। मुख्य बात यह है कि जो नंगे शरीर सूर्यके किरणोंमें घूमते हैं अर्थात् अपने शरीरको सूर्यकिरणोंसे तपते हैं उनको चर्म रोग, दमा तथा क्षय आदि रोग होतेही नहीं। ये सब रोग उनको होते हैं कि जो नंगे शरीरपर सूर्यकिरण नहीं लेते, अर्थात् सदा बर्छोंसे वेष्टित होकर तंग मछानोंमें बैठते हैं। जो इससे बोध लेगे वे इस सूक्तिसे बहुत लाभ प्राप्त कर सकते हैं। वेदमें इसीलिये घरका सामग्री "क्षय" आता है। यदि पाठक अपने घरको "क्षय" का कारण समझें तो वे उससे बाहर अधिक देरतक रहेंगे और सूर्यकिरणसे मिलनेवाला आरोग्य प्राप्त कर सकेंगे।

अन्तर्यामी ईश्वरको नमन ।

(१३)

[ऋषिः- भृगुवह्निराः । देवता-विद्युत्]

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्तवै । नमस्ते अस्तुवह्मने येना दृढाशु अस्पर्शसि ॥१॥

नमस्ते प्रवतो नपाद्यतस्तर्षः समूहमि । मृडया नस्तुन्म्यो मयस्तोकेम्येच्छधि ॥२॥

प्रवतो नपात्नम एवास्तु तुभ्यं नमस्ते हेतये तपुषे च कृणमः ।

विष्य ते घामं परमं गुहा यत्समुद्रे अन्तर्निहितासि नामिः ॥३॥

यां त्यां देवा अमुजन्तु विश्व इषुं कृणुना असनाय धृणुणुम् ।

सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥४॥

मयं- (विद्युते ते) विशेष प्रशस्तमान तुल्यको (नमः) नमस्कार (अस्तु) देवि । (स्तनयित्तवै ते नमः) गदगदनेवाले तुल्यको नमस्कार होवे । (अदमने ते नमः अस्तु) ओंते रूप तुल्यको नमस्कार होवे । (येन) जिसने तू (दृढाशु अस्पर्शसि) दुःखदायीको दूर फेंकना है ॥ १ ॥ हे (प्रवतः नपात्) उच्चतासे न गिरानेवाले! (ते नमः) तेरे लिये नमस्कार होवे । (यतः) क्योंकि (तया समूहसि) तपसों इच्छा करता है । (नः) सन्मयः मृडय) हमारे धर्मोंको सुख दे और (तोकेम्यः मयः कृधि) बच्चोंके लिये सुख प्रदान कर ॥२॥ दे (प्रवतः नपात्) उच्चतासे न गिरानेवाले! (तुभ्यं पूत्र नमः अस्तु) तुम्हारे लिये ही नमस्कार होवे । (ते हेतये तपुषे च नमः कृणमः) तेरे ब्रह्म और तेजके लिये नमस्कार करते हैं । (यत् ते घामं) जो तैरा स्थान (परमं गुहा) परम गुण अर्थात् हृदयरूपी गुहामें ठे वह हम (विष्य) जानते हैं । उस (समुद्रे अंतः) समुद्रके अंदर (नामिः निहिता अमि) तू नामिस्व रहा है ॥ ३ ॥ हे (देवि) देवी । (असनाय) समुद्र के फेंकनेके लिये (धृणुं ह्युं कृणुवाः) बलवान् सुख बाग करनेवाले (विश्वे देवाः) सब देव (यां त्यां) जिस तुल्यको (अमुजन्तु) प्रशस्त करते हैं, (तस्यै ते नमः अस्तु) जिन तेरे लिये नमस्कार होवे । (सा) वह तू (विदथे गृणाना) तुझमें प्रशंसित होनेवाली (नः मृड) हमें सुख दे ॥ ४ ॥

भाष्य- हे देवि ! ईश्वरी ! तू बिजली आदिमें अपना तेज प्रकट करती है, मेघोंमें गर्जना कराती है और अपनी शक्तसे भोजने में शरणाग्र है, इन सब बातोंसे तू हमारे सब दुःखोंको दूर करती है, इसलिये तुझे हम सब प्रशान्ति करते हैं ॥ १ ॥ हे उच्चतासे न गिरानेवाली देवि ईश्वरी ! तू तपोमय जीवनको हमारे अंदर इच्छा करती है अर्थात् हमारे तपःशोक बढ़ाती है, उस तपसे हमें तथा हमारा संतानोंको सुखी कर, तेरे लिये प्रणाम करते हैं ॥२॥ हे उच्चतासे न गिरानेवाली देवि ईश्वरी ! हम जानते हैं कि तेरा स्थान हृदयरूपी श्रेष्ठ गुहामें है, वरुणके समुद्रके अंदर तू मन्व-आधाररूप होकर रहती है, इसलिये तैरा तेज और तेरे दुष्ट विषयतक गच्छ अर्थात् तैरा शक्तिके समुख हम सिर झुकाने हैं ॥३॥ हे देवि ईश्वरी ! समुद्रके दूर करनेके लिये सब ब्रह्म बनानेवाले सब ब्रह्मवैद्युत् लोच शदा तैरी शक्ति करते हैं इस कारण तुझमें प्रशंसित होनेवाली तू हमें सुख दे । हम सब तुझे प्रणाम करते हैं ॥४॥

धृवत की देवता ।

इस सूक्तकी देवता " विद्युत् " है । यद्यपि विद्युत्का अर्थ बिजली है, और इस सूक्तका प्रारंभ मेघस्पर्शमेव विद्युत्के वर्णन

से ही हुआ है, तथापि विद्युत्का वर्णन करना मुख्य उद्देश्य सूक्तमें नहीं है । जिस प्रकार अग्नाय सूक्तमें अग्नि आदि देवताओंके मिश्रसे परमात्माका वर्णन होता है, उसी प्रकार विद्युत् रूपकी धृवताके मिश्रसे ईश्वरका, जगन्माता, आदिवाता

देविके रूपमें, परमात्माका ही वर्णन यहाँ हुआ है, उस मान्यो स्पष्ट व्यक्त करनेवाले इसी सूक्तके निम्न मंत्रभाग यहाँ देयने-योग्य है

१ "प्रवतः न-पात्" — "प्रवत्" शब्दका अर्थ लक्ष्मण रथान है। लक्ष्मण अवस्था, उन्नता आदि भाव इस शब्दसे प्रकट होते हैं। लक्ष्मणता से गिरानेवाला यह "प्रवत्ते न-पात्"का भावार्थ है। परमात्मा ही मनुष्यमात्रके लक्ष्मण अवस्थामें रहनेवाला और वहाँसे न गिरानेवाला है। (मंत्र २, ३)

२ "ते परमं धाम गुहा" — तेरा परम धाम हृदय की गुफामें है। हृदयमें आत्माका निवास है, वही उपरका परम पवित्र निवास-स्थान है, यह उपनिषदादिमें अनेक बार आया है।

३ "समुद्रे अन्तः नाभिः निदिताऽसि ।" — उभी समुद्रमें मध्यभाग वृहत् है। हृदय गुफामें मानस सरोवर है, समुद्र है, विचारोंका अथवा भावनाओंका महासागर है। उभरी नाभि उसका आधार स्थान, वही आत्मा है। क्योंकि इस समुद्रकी सब लहरें उसकी ही प्रेरणासे अथवा शक्तिसे उठती हैं और उठी ही अन्तः इस समुद्रमें शांति स्थापित होती है।

४ "यां त्वा देवा असृजन्त विभे ।" — जिस सृष्टिको सब देव प्रकट करते हैं। आत्माका देवोंद्वारा प्रकाशित होना वेदमें अनंत स्थानोंमें स्पष्ट हुआ है। शरीरमें नेत्रादि लक्ष इंद्रियोंद्वारा आत्माका प्रकाशन हो रहा है। यदि नेत्रादि इंद्रियाँ न हों, तो आत्माका अस्तित्व भी ज्ञात नहीं हो सकता। इस प्रकार सब इंद्रियादि देव शरीरमें आत्माको प्रकट करते हैं। विष्वे सूर्यवेदादि देव परमात्माकी महिमा प्रकट कर रहे हैं। मनुष्य सनातनमें सब विद्वान् परमेश्वरकी प्रशंसा कर रहे हैं। इस प्रकार सर्वत्र देवोंद्वारा आत्मा प्रकाशित होता है।

५ "विद्ये गृणाम् ।" — युद्धके समय इसकी भक्ति की जाती है। मनुष्य संकटमें पड़नेपर उसकी सहायताके लिये प्रार्थना करता है। योद्धे सज्जनोंको छोड़ दिया जाय तो प्रायः साधारण मनुष्य संकट समयमें ही ईश्वरकी भक्ति करने लगते हैं। मनुष्यपर संकट न आजाय, तो वह ईश्वरकी प्रशंसा भी नहीं करेगा। युद्धमें सभी भक्ति होती है। मुख्य युद्ध जीवन-युद्ध है। मनुष्य युद्ध करके ही जीवित रहता है। विरोधीशक्तिके धामना करना युद्ध है।

इन सब मंत्रभागोंका वर्णन देखनेमें पता लगता है, कि

इस सूक्तके परमात्माकी तैय्य शक्तिका ही मुख्यतया वर्णन करना है। और वह वर्णन स्त्रीरूप देविके वर्णनद्वारा यहाँ किया है।

जिस प्रकार मनुष्यका नेत्र देखता है, परंतु अपनी शक्तिसे वह देख नहीं सकता, किंतु हृदयस्थानीय आत्माकी शक्तिसे ही देख सकता है; इसी प्रकार अन्तर्गत इंद्रियों आत्माकी शक्तिसे प्रेरित होकर ही अपना कार्य करता है। जैसी यह बात शरीरमें है, उसी प्रकार जगत्की सृष्टादि देवताएँ तेज फैलाना आदि कार्य अपनी शक्तिसे नहीं कर सकतीं। विश्वव्यापी परमात्माकी शक्ति लेकर ही सूर्य प्रकाशना, विद्युत् चमकती और वायु बहता है। इसलिये सूर्यप्रकाशमें, विद्युत्की चमकाइसे अथवा वायुके वेगमें न केवल इन देवताओंकी शक्तिया प्रकट हो रही हैं, परंतु परमात्माकी ही शक्ति प्रकट हो रही हैं। यह भाव ध्यानमें रखकर यदि पाठक इस सूक्तका विचार करेगा, तो उनको इस सूक्तमें विद्युत्की चमकाइसे परमात्माका तेज फैल रहा है यहाँ भाव विदित होगा। इसी रीतिसे इस सूक्तका विचार करना चाहिये।

प्रथम मंत्रमें विद्युत्की चमकाइसे, भेषोंकी प्रचंड गर्जना, भेषोंसे बर्ककी शृष्टि अथवा जलकी शृष्टि आदि द्वारा परमात्माका प्रचंड कार्य देखना उचित है। इससे परमात्मा प्राणिमात्रके दुःख दूर करता है। शृष्टिसे अन्न और जल प्राप्त होनेके कारण प्राणियोंमें अनंत श्रेष्ठ दूर हो रहे हैं। यही परमात्माकी कृपा है।

तपका महत्त्व ।

द्वितीय मंत्रमें तपका महत्त्व वर्णन किया है। तप अपने हर एक शक्तिसे किया जाता है, वाणोंका तप, मनका तप, शरीरका तप, ब्रह्मचर्यका तप, हर एक इंद्रियका तप आदि अनेक तप मनुष्यको करने चाहिये। इन सब तपोंका जितना बड़ा (तपः समूहसि) समूह होगा, उतना उच्च स्थान उस मनुष्यको प्राप्त होगा। अर्थात् तपके जीवनपर मनुष्यका महत्त्व अवलंबित है।

जिस कारण तपके प्रभावसे मनुष्य उच्च होता है, उसी कारण तपके प्रभावसे ही मनुष्य नहीं गिरता। इसीलिये इस द्वितीय मंत्रमें उचनाने न गिरनेका हेतु तपका प्रभाव (प्रवतः न-पात्, यत् तपः समूहसि) कहा है। यहाँ पाठक इनका परस्पर संबंध देखें और गिरावटसे बचनेका कारण जान अपने धारकों गिरावटसे बचाने। जो स्वयं अपने आपको गिरावटसे बचा सकता है, वह दूसरोंको सुखी कर सकता है।

परमधाम ।

तृतीय मंत्रमें परमेश्वरके परम धामका पता दिया है । परमेश्वरका परम धाम हरएक के हृदयमें है, विगोपतः भक्तके हृदयमें ही है । परमेश्वरके भक्त ही उस धामको जानते हैं और वर्णन करते हैं । चीन दुसा उमको जान सकता है और वर्णन कर सकता है ? यही स्थान जानना और इसीका अनुभव लेना मनुष्यका साध्य है ।

मनुष्य समुद्रके अंदर गिर पडा है, इस समुद्र की लहरें बड़ी भारी लड़ा रही है, प्रबल वायु चल रहा है, धूँआंधार मेघ बरस रहे हैं, बिजलियां चमक रही हैं, और यह मनुष्य ऐसे प्रशुब्ध समुद्रमें सहायताके लिये पुकार रहा है । उसका ख्याल है, कि सहायता बाहरसे आनेवाली है । यहाँ मनुष्यका भ्रम है, यही अज्ञान है और यही कमजोरी है ।

यह तृतीय मंत्र स्पष्ट शब्दोंसे कह रहा है, कि उस प्रशुब्ध समुद्रका केन्द्र वही परमात्मा है और वह भक्तके हृदयमें विद्यमान है । हे भक्त ! यदि तू सचमुच बसकी सहायताके लिये पुकार रहा है तो अपने हृदयमेंही उसे ढूँढनेका यत्न कर, वही उसका परम धाम है । और वहाँही वह अपने वैभवसे प्रकाश रहा है ।

पाठको । आप यह ध्यानम राखिये कि आपमेंते हरएक के हृदयमें वह आत्मप्रयोजि है । वही सब उन्नति की सहायक शक्ति है । आप उसे पकड़ लीजिये, तो आपकी उन्नति निःसंदेह हो जायगी । सब जगत् अंदरसे बढ रहा है, बाहरसे नहीं । आपकी उन्नतिका भी यही नियम है ।

युद्धमें सहायता ।

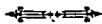
युद्धके समय, शत्रुका हमका होनेके प्रसंगमें, बरके समयमें

इस परमात्माकी सहायता सब चाहते हैं । मरण, दुःख आदिके कारण मनुष्य परमात्माकी खोज करते हैं । इसीलिये बड़े सत्पुरुष दुःखको स्वीकारते हैं और बन्नोंको छुड़ देते हैं । परी दुःखका महत्त्व है ।

तत्पुत्र्य मंत्रमें कहा है, कि “ सब देव उसको प्रकट करते हैं । ” इसीका स्पष्टीकरण इसमें पूर्व किया जा चुका है । “ युद्धमें उभरी प्रशंसा या स्तुति प्रार्थना होती है ” इसका भी कारण स्पष्टतापूर्वक हमने देखा है । यह सब इसलिये करते हैं कि “ शत्रुको दूर भगानेके लिये प्रबल शक्ति प्राप्त हो । ” जो परमात्माके सचे भक्त होते हैं, या तो उनके सम्मुख कोई शत्रु नहीं ठहर सकता, अथवा जो उनकी शत्रुता करता है, वह स्वयं नष्ट हो जाता है । अर्थात् परमेश्वर भाँकिही एक बड़ी भारी शक्ति है, जो संपूर्ण शत्रुओंका नाश कर सकती है ।

नमन ।

इस चार मंत्रोंके सूक्तमें परमेश्वरको सात बार नमन किया है, अर्थात् यहाँका अनेक बारका नमन सिद्ध कर रहा है, कि परमेश्वरकी सार्वभौम सत्ताके सामने सि। छुछाना, उसकी सर्वत्र उपस्थित समझना, उसीको सर्वतोपरी समझना मनुष्यकी उन्नतिके लिये अत्यावश्यक है । उसकी छोड़कर किसी दूसरेको नमन न करनेके संशयमें “ तुभ्यं एव नमोऽस्तु ” (मंत्र १) यह मंत्रभाग देखने योग्य है । “ मैं तुझे ही नमन करता हूँ । ” हेरेसे मिल गिसी अन्यगी उपासना मैं नहीं करता, दे ईश्वर । तेरे नामने ही मैं सिर छुछाना हूँ । मुझे अनुश्रुतीत कर और कृतार्थ कर । इन सूक्तमें सर्वोत्कृष्ट उपासना कही है, पाठक इसका उपयोग उपासनाके समय कर सकते हैं ।



कुलवधू-सूक्त

[ऋषिः— भृग्वक्त्रिराः । देवता-यमः]

(१४)

मर्ममस्या वर्च आदिप्यधि वृक्षादिव स्रजम् । महायुंघन इव पर्वतो ज्योक् पितृर्वास्ताम् ॥१॥
 एया तै राजन्कन्या वृधूर्नि धूपर्ता यम । सा मातृर्षप्यतां गृहेऽप्यो आतुरयो पितुः ॥२॥
 एया तै कुलपारांजन्तामुंते पारं ददासि । ज्योक् पितृर्वासाता आ श्रीर्णः समोप्यात् ॥३॥
 असितस्य ते ब्रह्मणा कुर्यपरस्य गर्यस्य च । अन्तःकोशमिव ज्ञामयोऽपि नक्षामि ते भर्गम् ॥४॥

अर्थ—(वृक्षान् अधि चजं इव) वृक्षेषु जिय प्रकार फूलोंकी माला लेते हैं, उस प्रकार (अस्याः भगं वचं आदिपि) इस कन्याका ऐश्वर्य और तेज में स्वीकारता हूँ । (मदाहुन्नः पर्वतः इव) वड़े जडवाले पर्वतके समान स्थिरतासे यह कन्या (पितृषु ज्योक् आस्तां) मातापिताके घर बहुत समयतक रहे ॥ १ ॥ हे (यम राजन्) नियमपालन करनेवाले स्वामिन् ! (पूषा कन्या) यह कन्या (ते वधूः) तेरे वधू हीकर (निष्पृयां) व्यवहार करे । (अयो) अथवा (सा) वह माताके, माईके (अयो) किंवा पिताके (गृहे बन्धवताम्) घरमें रहे ॥ २ ॥ हे (राजन्) हे स्वामिन् ! (पूषा) यह कन्या (ते कुल-या) तेरे कुलका पालन करनेवाली है । (तां) उसरी (उ तं परिदामसि) तेरे लिये देते हैं । यह (ज्योक्) उस समयतक (पितृषु आसात्) मातापिताके घरमें निवास करे (आ शीर्षः समोन्म्यात्) जबतक सिर न सजाया जावे ॥ ३ ॥ (असितस्य) बंधन रहित, (कश्यपस्य) दृष्टा (च) और (गयस्य) प्राग साधन करनेवाले (ते) तेरे (ब्रह्मणा) ज्ञानके साथ मैं (ते नगं अपि नद्यामि) तेरे ऐश्वर्यकी बांधपा हूँ, [जामयः अंतः कोटी इव] श्रियां अपनी पिशरीकी जैसे बांधती हूँ ॥ ४ ॥

भाषार्थ [१] वृक्षमें फूल और पत्ते निकाल कर जैसी माला बनाकर लेंग पड़नेते हैं उसी प्रकार इस कन्याका सौंदर्य और तेज में स्वीकारता हूँ और उसने अपने आगेको सत्राना चाइना हूँ, जिस प्रकार वधू जडवाला पर्वत अपने ही आघारपर स्थिर रहता है; उस प्रकार कन्या भी अपने मातापिताके घरमें निवास करे, दरमक समयतक रहे ॥ १ ॥ [२] हे नियमपालक पति ! यह हमारी कन्या तेरी वधू होकर नियमपालन करेगी, जिस समय यह आगेके घर जायेगी उस समय वह पिता, माता अथवा माईके घर रहे, परंतु किसी अन्यके घर जाकर न रहे ॥ २ ॥ हे पति ! यह हमारी कन्या तेरे कुलका पालन करनेवाली है, इसको तेरे लिये हम सनसंग करने हूँ, जबतक इसका सिर सत्राने का समय न आये तबतक यह मातापिताके घरमें रहे ॥ ३ ॥ बंधनरहित, दृष्टा और प्रागोक्त साधन करनेवाले तेरे ज्ञानके साथ इस कन्याके भाग्यका संबंध मैं करता हूँ । जिस प्रकार श्रियां अपने जेवर संभरने के लिये अपने घर आगेके घर जाकर नहीं जाती, उसी प्रकार इस कन्याका भाग्य सुरक्षित रहे ॥ ४ ॥

पहला प्रस्ताव । 97268

इस सूक्तमें चार मंत्र हैं । पहले मंत्रमें मावी पतिका प्रस्तावरूप भाषण है । पति कन्याके रूपको और तेजको पसंद करता है और उस तेजका स्वीकार करना चाहता है । इस नियममें मंत्रका रूपक अतिस्पष्ट है—

“वृक्षवनस्त्रिविधोऽपि पते फूल और भंजरियां लेकर लोग माला बनाते हैं, और उस मालाको गलेमें धारण करते हैं । इस प्रकार यह कन्या सुगंधित फूलोंवाली बड़ी है, इसके फूल और पत्ते (मुसकमल और हलधुह्व) अथवा इसका सौंदर्य और तेज में लेवा हूँ और उससे मैं सुशोभित होना चाहता हूँ । अर्थात् मैं इस कन्याके साथ गृहस्थासन करनेकी इच्छा करता हूँ । जैसा पर्वत अपने विनाश आघारपर रहता है, उस प्रकार यह कन्या अपने मातापिताको सुरक्षित आघारपर रहे । अर्थात् मातापिताको मुद्रिणा पाकर यह कन्या सुयोग्य बने और पश्चात् मेरे (पतिके) घर जायवे । ”

यह भाव प्रथम मंत्रका है । इसमें मावी पतिका प्रथम प्रस्ताव है । मावी पति कन्याका सौंदर्य और तेज पसंद करता है और

उसके साथ विवाह करनेकी इच्छा प्रकट करता है । अर्थात् मावी पति कन्याकी प्रार्थना उसके माता पिताके पास करता है । और साथ यह भी बड़ता है कि, कन्या कुल समयतक माता-पिताके घर ही रहे अर्थात् योग्य समय आनेतक कन्या माता-पिताके घर रहे, तत्पश्चात् पतिके घर जावे । योग्य समय की मर्यादा आगे तृतीय मंत्रमें कही जायगी ।

इस मंत्रके विचारसे पता लगता है कि, पुरुष अपनी सद्व्यवसायिणी की पसंद करता है । पुरुष अपनी रचि के अनुधार कन्याको चुनता है और अपना मानस कन्याके मातापिताकोषे निवेदन करता है । कन्याके मातापिता इस प्रस्ताव का विचार करते हैं और मावी पतिकी योग्य उत्तर देते हैं ।

इस सूक्तमें यह स्पष्ट नहीं होता है, कि कन्याको भी अपने पतिके विषयमें पसंदगी नापसंदगीका विचार प्रदर्शित करने का अधिकार है वा नहीं । प्रस्ताव हीनपर भी कन्याका मानागतिके घरमें देतक वास्तव्य [पितृषु कन्या ज्योक् आस्तां] बता रहा है कि, यह प्रस्ताव कन्याके रजोदर्शन के पूर्व ही, अथवा उपर होनेके पूर्व ही होना है । आर-कल जिसको “मंगनी” कहते हैं, उसके समान ही यह बात दीखती है । इस सूक्तमें कन्याका एक भी भाषण नहीं है,

वरं तु भारी पति और कन्याके मातापिता या पातकोंका दो भाग्य है । इससे अनुमान-होगा है कि, कन्याको उतना अधिकार नहीं है, कि जितना पतिको है ।

तास्ये मंत्रमें कन्याके पालक कहते हैं कि, हम [ते तां परि द्रष्टसि] तें तेलिये इस कन्याको समर्पण करते हैं । " नृद मंत्रभाग स्पष्ट बता रहा है कि, कन्या इस विधमें परतंत्र है । मंत्रमें दो बात आया है कि " कन्या पिता माता अथवा भाईके घरमें रहे " अथवा आगे जाकर हम यह सारते हैं कि, विवाह होनेपर यह पतिके घर रहे । परंतु वह कभी स्वतन्त्रतासे न रहे ।

जिस प्रकार वृषका आधार नसती जड़े है, अथवा पर्वतका आधार उसरी अति विस्तृत सुनिश्चिद है, उसी प्रकार कन्याका पदका आधार मात पिता अथवा भाई है, और पश्चात्तका आधार पति ही है । इसके गिन किसी अन्यथा आधार कीको सेना उचित नहीं है ।

प्रस्तावका अनुमोदन ।

प्रथम मंत्रमें उचित भारी पतिका प्रस्ताव सुननेके पश्चात् कन्याके माता पिता विचार करके भावां पानिसे कहते हैं; कि—
" हे नियमसे चलनेवाले स्वामिन् । यह कन्या तेरे साथ नियमपूर्वक व्यवहार करे । तबतक यह माता पिता अथवा भाईके घरमें रहे ॥ हे स्वामिन् । यह कन्या तेरे दुलका पालन करनेवाली है, इसलिये हम तेरे लिये इनका प्रदान करते हैं । यह तबतक मातापिताके घर रहे, जबतक इसके सिर सत्रानेका समय आजाय ॥ तू संघनरहित, द्रष्टा और प्राणघातके युक्त है, इसलिये तेरे ज्ञानके साथ इस कन्याके भाग्यका सम्बन्ध हम जोड़ देने हैं । जैसी शिखां अपने जेवर संदुर्लभें बंद रखती है उस प्रकार इसके साथ तेरा भाग्य सुरक्षित रखना है । "

यह तीनों मंत्रोंका तात्पर्य है, यह बहुतही विचार करने-बोध है । पाठक इनका बहुत विचार करें । यहाँ उनकी सुविधाके लिये कुछ विचार किया जाता है—

वरकी परीक्षा ।

इस सूत्रमें पतिके गुण धर्म बताये हैं वे यहाँ प्रथम देखने योग्य हैं—

१ धर्मः— धर्मियमोषा पावन करनेवाला, धर्मलक्ष्मणके अनुकूल अपना आचरण करनेवाला ।

२ राजन्— राजा (राजमाते) अपनी धर्मपत्नीका रंजन करने-वाला । (यहाँ पत्नीके तबतक धर्म होनेसे ' राजन् ' शब्दका

अर्थ यह लेना योग्य है ।) राजा-शब्दका अर्थ " ब्रह्मणिवा रंजन करनेवाला । " परस्परधर्ममें धर्मपत्नी पुत्र भी ब्रह्मदेवी ही है । उस धर्मपत्नीका संतोष बड़ानेवाला ।

३ असितः— (अ-सितः कबडः) संपन्नरहित । अर्थात् जिसका मन स्वतंत्रताका भावनेकाम है । गुलामीके भाव जिसके मनमें नहीं है ।

४ कश्यपः— (पश्यकः) देखनेवाला । अपनी परिस्थितिको उत्तम गीतिसे जानेवाला और अपने कर्तव्यको ठीक प्रकार समझनेवाला ।

५ गणः— (प्राणबलपुङ्गवः) प्राणबलवादि योक्ताश्वद्वारा विभक्त अपने प्राणोंका बल बढ़ाया है ।

६ ब्रह्मणा युक्तः— ज्ञानसे युक्त । ज्ञानी ।
ये छः शब्द इस सूत्रमें पतिके गुणधर्म बता रहे हैं ।

पतिके गुणधर्म ।

धर्मानियमोंके अनुकूल आचरण करना, धर्मपत्नीको संतुष्ट रखना, स्वाधीनताके लिये बल करना, अपनी परिस्थितिको ठीक प्रकार जानना, योगादि साधनद्वारा अपनी दीर्घ आयु नीरीगता तथा सुखदुःखाका संपादन करना, तथा ज्ञान बढ़ाना, ये गुण पतिकी योग्यता प्रदर्शित कर रहे हैं ।

यों कीको संतुष्ट रखना धर्मानुकूल चलनेसे श्रितना हो सकता है उतनाही कहा है, क्योंकि " धर्म राजन् " के दो शब्द मंत्रमें इकट्ठे प्रयुक्त हुए हैं ।

अपनी कन्या के लिये घर हंडना ही तो एक कामः गुलामी कसौटीसे ही हंडना तथा पसंद करना चाहिये । जिसका आचरण धर्मानुकूल ही, जो धर्मपत्नीके साथ प्रेमपूर्ण बर्ताव करनेकामा ही, जो स्वाधीनताके लिये प्रयत्नशील ही, जो अपनी अवस्थाको जाननेकामा और तदनुकूल कार्य व्यवहार करनेवाला ही, जो बलवान तथा नीरीग ही और स्वास्थ्य तथा कर मजदूर ही, तथा जो ज्ञानवान और प्रबुद्ध ही, तो उक्त शर्तोंकी अपनी कन्या प्रदान करना योग्य है ।

तथा जो धर्मानुकूल आचरण नहीं करता, जो किशोके साथ प्रेममय आचरण नहीं करता, जो स्वाधीनतामें रूढ़ता है, जो अपनी अवस्थाके प्रतिकूल आचरण करता है, तथा जो निर्बल और रोगी ही, तथा जो ज्ञानी न हो, उसको किसी भी अवस्थामें अपनी कन्याके लिये घर रूपमें पसंद नहीं करना चाहिये ।

पाठक वर परीक्षाके विषयमें इन बातोंका ध्यान रखे । अथ वधू परीक्षा करनेके नियम देखिये—

वधू-परीक्षा ।

इस सूक्तमें वधूपरीक्षाके निम्नलिखित मंत्र माग हैं—

१ कन्या— [कमनीया] कया ऐमी हो, कि त्रिपको देखवेमे मनमें प्रेम उत्पन्न हो । रूप, तेज, अवयवोंकी सुन्दरता, स्वच्छता, ज्ञान, आदि सब बातें, जिससे दंशनेवालेके मनमें प्रेम उत्पन्न होता हो, इस शब्दसे ज्ञान हो जाती है ।

२ वधू— [उद्यते पतिगृहं] जो पतिके घर जाकर रहना पसंद करती है । जो पतिके घरको ही अपना सखा घर मानती है ।

३ कुल्पा—कुलका पालन करनेवाली । पिताके तथा पतिके कुलोंकी मर्यादासौख्य पालन करनेवाली । जो अपने सदाचारके दोनों कुलोंका यत्न बढ़ाती है ।

४ ते [पत्युः] मगम्—घरमेंपत्नी ऐसी होनी चाहिये, कि जो पतिका भाग्य बढ़ावे । जिसने पतिके घन्यता अनुभव हो ।

५ विपुदु आस्ताम्— विवाहके पूर्व अथवा आपत्कालमें मातापिता अथवा भाई इनके घरमें रहनेवाली और विवाहके पश्चात् पतिके घर रहनेवाली । किन्तु अन्त्येके घर जाकर रहनेकी इच्छा न करनेवाली कन्या होनी चाहिये ।

६ वृषात् चकृ-वृषके पुष्पमालाके समान कन्या हो, पिताके कुलरूरी इष्टको पुष्पमालारूप कन्या सुगंधित करे ।

ये छः मंत्रमाग कन्याकी परीक्षा करनेके नियम बता रहे हैं । पाठक इनका उगम विचार करें और इन उपदेशोंके अनुकूल कन्याकी परीक्षा करें ।

कन्याके गुणधर्म ।

कन्या मूल रूप तथा तेजस्विनी हो, पतिके घर प्रेमपूर्वक रहनेवाली हो, दोनों कुलोंका यथा अपने सदाचरणसे बढ़ानेवाली हो, पतिके भाग्य बढ़ानेवाली, यौवनके पूर्व पिताके घरमें तथा यौवन प्राप्त होनेके पश्चात् पतिके घर रहनेवाली, तथा पुष्पमालाके समान अपने कुलकी शोभा बढ़ानेवाली हो । इस प्रकारकी जो सुलक्षणी कन्या हो उसकोही पसंद करना योग्य है ।

परंतु जो पीकी, निस्तेज, दुर्मुखी, पतिके घर जलेकी इच्छा न करनेवाली, दुष्टचारीणी, पतिके भाग्यमें घटानेवाली, तथा

दोषयुक्त हो, वह कन्या विवाहके लिये योग्य नहीं है ।

मंगनीका समय ।

इस सूक्तसे विवाहके समयका ठीक ज्ञान नहीं होता, क्योंकि उसका ज्ञापक कोई प्रमाण यहाँ नहीं है । 'कन्या सिर सजानेके समयके पूर्व माताके घर देरतक रहे' इस तृतीय मंत्रके कथनसे मंगनीका समय ज्ञातुमान होनेके पूर्व कुछ वर्ष-अधिकसे अधिक एक दो वर्ष-गोना संभव है । तथापि वधूपरीक्षाके जो छः लक्षण ऊपर बताये हैं, वे लक्षण स्थायता व्यक्त होनेके लिये प्रोच दशाही प्रातिकी अत्यंत आवश्यकता है । "पतिके घर जानेकी कन्या" जिस अवस्थामें कन्याके मनमें आती है वह अवस्था मंगनीका प्रतीक होती है । ये छः शब्द अच्छी, प्रोच, प्रदुष्ट, करंय उरवर, कन्यकी अवस्था बता रहे हैं । पाठक सब शब्दोंका विचार अच्छा प्रकार करेंगे, तो उनको कन्या की किरा आयुमें मंगनी होनी चाहिये इस विषयका निश्चय हो सकता है ।

भावां पति मंगनी करे और कन्याके माता पिता पूर्वोक्त लक्षणोंका खूब विचार करके भावी पतिके प्रस्तावका स्वीकार या अस्वीकार करें । इस सूक्तमें वरके मातापिताको तथा कन्याके अपना मत देनेका अधिकार है ऐसा माननेके लिये एक भी प्रमाण नहीं है । यह बात यदि किसी अन्य सूक्तमें आगे मिल जायगी, तो उस समय कही जायगी ।

सिरकी सजावट ।

तृतीय मंत्रमें कहा है "उपोह विनुःशामाता आ शीर्षाः समोप्यात् ।" (देरतक मातापिताके घरमें कन्या रहे, जबतक सिर सजानेका समय आजावे ।) यहाँ एक बात कहना आवश्यक है, कि जिस समय सौ अनुमती होती है, उस समय उसको "पुष्पवती" कहते हैं । पुष्पवतीका अर्थ फूलोंसे अपने आगके सजाने योग्य । प्रथम रजदबंधन, प्रथम अनुप्राप्त अथवा प्रथम पुष्पवती होते ही उसका फूलोंद्वारा सजानेकी प्रथा विशेषतः उसका सिर फूलोंसे सजानेकी प्रथा भारतवर्षमें इस समय में भी है । मैसूर और मद्रासकी ओर तो पहले गर्भोधानके प्रसंगके लिये थैकेमें हरियोंके फूल इस पुष्पवती स्त्रीकी सजावटके लिये लाये जाते हैं । सुंघर्षमें भी कई जातिगोमें यह प्रथा है । अन्य जातियोंमें कम है, परंतु सिरमें फूल पहननेका रिवाज इस अनुप्राप्तिके समयके लिये विशेष है । यह रिवाज प्रतिदिन कम हो रहा है । एक भनाभावक कारण और दूसरा उस्ताहके अभावके कारण यह रिवाज मूल्य हो रहा है ।

वनी लोग इस प्रसंगके लिये सोने और रत्नों को मूल बनाते हैं और पुष्पवती स्त्रियों को चतुर्थ दिनमें उत्सव शिर बहुत सजते हैं । दिन प्रान्तमें पूंगट निकालनेका रिवाज है, उन प्रान्तोंमें यह रिवाज कम है ऐसा हमारा प्याल है, परंतु सचची बात वहाँ के लोग ही जान सकते हैं । इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि पूंगटकी प्रथा अवैदिक कारणोंसे हमारे धर्माजमें उप्त गई है ।

मंगनीके पश्चात् विवाह ।

इस सूक्तके देखनेमें ऐसा प्रतीत होता है कि, मंगनीके पश्चात् विवाह का समय बहुत दूर का नहीं है । प्रथम मंत्रमें वरमें पहला प्रस्ताव अर्थात् मंगनीका प्रस्ताव हुआ है । और द्वितीय तथा तृतीय मंत्रमें ही कन्याके अर्पण का विषय आगया है । दास्ये—

१ एषा कन्या ते वधूः निरूपयताम्—यह हमारी कन्या तेरी पत्नी बनकर निःशेष व्यवहार करे । तथा—

२ एषा [कन्या] ते कुल्पा, तां उ ते परिददासि—

यह हमारी कन्या तेरे कुलका पालन करनेवाली है, इसलिये उसको तेरे लिये इन प्रदान करते हैं ।

२ ते भगं अपिनद्दामि— तैरा माण्ड्य [इस कन्या के साथ] बांधता हूँ, अर्थात् इससे तू अलग न हो ।

ये मंत्रमात्र स्पष्ट बता रहे हैं कि मंगनीका स्वीकार होनेके पश्चात् धीमे ही विवाहका समय होता है । यद्यपि इसमें समय का साक्षात् उल्लेख नहीं है, तथापि [१] मंगनी, [२] कन्यादान की संज्ञाते, [३] विरसजानेके समयतक अर्थात् पुण्यवती होनेतक कन्याके विन्युपरमें विवाह का विधान स्पष्ट बता रहा है, कि मंगनी के पश्चात् विवाह होनेके बाद ऋतुमती और पुष्पवती होनेके मंतर कन्याका पातके पर निवाह होनेका क्रम दिखता है । पाठक इस विषयमें अधिक खबर करें । यह विषय अन्वयान्य सूक्तके साथ संबंधित है, इसलिये इस विवाह प्रकरणके सूक्त जहाँ जहाँ आवेंगे वहाँ वहाँ इसके साथ संबंध देखकर ही सब बातोंका निर्णय होगा । पाठक भी इस विषयमें अपने विचारों का सहायता देंगे, तो अधिक निर्दोष निश्चय होगा संभव है

संगठन—महायज्ञ—सूक्त ।

[ऋषिः— अथर्वा । देवता—सिंधुः]

(१५)

सं सं संवन्तु सिन्धुः सं वाताः सं पंतुविष्णुः ।

इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि

इहैव इवमा यात म इह संस्रावणा रुतेमं वर्धयता गिरः ।

इहेतु सर्वो यः पशुरस्मिन् विष्टु या रयिः ॥२॥

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सांसुः सदमर्षिताः । तेभिर्मै सर्वैः संस्रावैर्धनुं सं स्रावयामसि ॥३॥

ये स्रविषं संस्रवन्ति स्रौरस्यं चोदकस्यं च । तेभिर्मै सर्वैः संस्रावैर्धनुं सं स्रावयामसि ॥४॥

॥१॥

अर्थ— [सिंधुः] नदियां [सं सं संवन्तु] वरतम रीतिसे मिलकर बढ़ती रहें, [वाताः सं] वायु उत्तम रीतिसे मिलकर बढ़ते रहें, [पंतुविष्णुः सं] पृथ्वी में उत्तम रीतिसे मिलकर बढ़ते रहें । इतने प्रकार (प्र दिवः) उत्तम दिग्भिः जन (मे इमं यज्ञं) मेरे इस यज्ञकी (जुषन्तां) सेवन करें, क्योंकि मैं (संस्राव्येण हविषा) संगठनके अर्पणके (सुरोमि) दान कर रहा हूँ ॥ १ ॥ : इद एव ; यदा ही [मे हर्ष] मेरे यज्ञके प्रति (वाचाः) आत्मी

(उष) और हे (संघ्रावणाः) संगठन करनेवाले [गिरः] वकताओ ! [इमं वर्धयत] इस संगठनको बढ़ाओ : [यः पशुः] जो सब पशुमाव दे वह (इह पशु) यहाँ आवे और (भस्मिन्) इसमें (या रयिः) जो संपत्ति है, वह (विष्टु) रहे ॥ २ ॥ (नदीनां) नदियोंके जो (भक्षिताः उत्सासः) अक्षय स्रोत इस (सदां) संगठन स्थानमें (संव्रवन्ति) बह रहे हैं, (तेभिः मे सर्वैः संघ्रावैः) उन मेरे सब स्रोतोंसे हम सब (धनं) धन (संघ्रावयामसि) इकट्ठा करते हैं ॥ ३ ॥ (ये) जो (सर्पिणः) घोड़ी (क्षीरस्य) दूधकी (च उदकस्य) और जलकी घाटाएं (संघ्रवन्ति) बह रही हैं, (तेभिः मे सर्वैः संघ्रावैः) उन सब घाटाओंसे हम (धनं संघ्रावयामसि) धन इकट्ठा करते हैं ॥ ४ ॥

मावायै-नदियां मिलकर बहती हैं, वायु मिलकर बहते हैं, पक्षी भी मिलकर उड़ते हैं, उस प्रकार दिव्य जन भी इस मेरे यज्ञमें मिला जुलकर संमिलित हों, क्योंकि मैं संगठनके बढानेवाले अर्पणसे ही यह संगठनका महायज्ञ कर रहा हूँ ॥ १ ॥ घोषी मेरे इस संगठनके मदायज्ञमें आजाओ और हे संगठनके साधक वकता लोगो ! तुम अपने उचित संगठन बढानेवाले वक्तृत्वोंसे इस संगठन मदायज्ञको फला दो । जो हम सबमें पशुमाव हो, वह यहाँ इस यज्ञमें आवे और हम सबमें धन्यताका भाव विस्मयलतक निवास करे ॥ २ ॥ जो नदियोंके अक्षय स्रोत इस संगठन मदायज्ञमें बह रहे हैं उन सब स्रोतोंसे हम अपना धन संगठन-द्वारा बढाते हैं ॥ ३ ॥ क्या घी, क्या दूध और क्या जलकी जो घाटाएं हमारे पास बह रही हैं, उन सब घाटाओंसे हम अपना धन इस संगठनद्वारा बढाते हैं ॥ ४ ॥

संगठनसे शक्तिकी वृद्धि ।

इस संगठन महायज्ञका सूक्त है । इसके प्रथम मंत्रमें संगठनसे शक्ति बढनेका वर्णन है वह संगठन करनेवालोंको देखना और उसपर स्वन विचार करना चाहिये । देखिये--

१ लिखतः—नदियां । जो जल बहती हैं उसको स्रोत कहते हैं । इस प्रकारके सेकड़ों और हजारों स्रोत जब इकट्ठे होते हैं और अपना भेदभाव छोड़कर एक रूप होकर बहते हैं, उस उसका नाम "नदी" होता है । नदी भी जिस समय मदायज्ञ बहती है, उस समय विविध छोटे स्रोतोंके एकरूप होकर बढनेके कारण जो महाशक्ति प्रवृत्त होती है, वह अपूर्व ही शक्ति है । वह नदी इस समय बड़े बड़े वृक्षोंकी उखाड़ देती है, जो उसके सामने आजाते हैं उनको भी अपने साथ बहा देती है । बड़े वृक्ष, बड़े मकान, बड़े पहाड भी मदानदीके वेगके सामने टूट्ट हो जाते हैं । यह वेग कहासे आता है ?

पाठक विचार करें तो पता लग जायगा कि यह वेग छोटे स्रोतमें नहीं होता, परंतु जब अनंत छोटे स्रोत एकरूप होकर और अपना भेदभाव गहकर एकरूपसे बहने लगते हैं; अर्थात् अनंत छोटे स्रोत अपना संगठन करते हैं, तभी उनमें यह अभूतपूर्व शक्ति उत्पन्न होती है । इस प्रकार नदियां मनुष्योंकी "संगठन द्वारा अपनी शक्ति बढानेका उपदेश" दे रही हैं ।

२ वाकः—वायु भी इसी प्रकार मनुष्योंको संगठनक उपदेश दे रहे हैं । छोटे छोटे वायु जिस समय बहते हैं उस

समय वृक्षके पत्ते भी नहीं हिलते, परंतु वही सब एक होकर प्रचंड वेगसे जब बहने लगते हैं तब मदायज्ञ दूट्ट जाते हैं और मनुष्य भी ढर जाते हैं । पाठक इन संघ्रावतोंमें भी संगठनके बलका उपदेश ले सकते हैं । इस प्रकार वायु भी संगठनका उपदेश मनुष्योंको दे रहा है ।

३ पक्षी—पक्षी भी संगठन करते हैं । जब एकएक पक्षी होता है तो उसको दूसरा कोई भी भार सहाय है, परंतु जब सेकड़ों और हजारों पक्षियों एक कलापमें रहकर अपना संगठन करती हैं, तब उनकी शक्ति बड़ी भारी होती है । इस प्रकारके पक्षियोंके कलाप बड़े बड़े खेतोंका धान जल्द समयमें प्राप्त करके खा जाते हैं । यह संगठनका सामर्थ्य पाठक देखें और अपना संघ बनाकर अपना ऐश्वर्य बढावें । पक्षी यह उपदेश मनुष्योंको अपने आचरणसे दे रहे हैं ।

इस प्रकार पहिले मंत्रमें ये तीन उदाहरण मनुष्योंके संमुख रखकर संगठनका महत्त्व बताया है । यदि पाठक इन उदाहरणोंका उचित मनन करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि अपना संगठन किस प्रकार किया जाय ।

यज्ञमें संगतिकरण ।

"यज्ञमें संगठन होता ही है । कोई यज्ञ ऐसा नहीं है कि जिसमें संगतिकरण न हो । यज्ञका मुख्य अर्थ संगठन ही है । प्रथम मंत्रके द्वितीयाधेयमें इसीकिये कहा है, कि नदियोंमें, वायुओंमें और पक्षियोंमें संगठनकी शक्ति अनुभव करके उस प्रकार अपने संगठन बढानेके उद्देशसे हमारे समाजके अथवा

इससे देख, जाति या राष्ट्रके लोग, इस संगठन मद्देनान्तरमें संनित्त होते। एक स्थानपर जमा होना पहिली सीधी है। इसके पश्चात् परस्पर सम्पर्क करनेसे संगठनकी शक्ति बढने लगती है। इसमें सत प्रचारकी अभिप्राय एकत्रित होती है और अग्निद्वारा प्रकाश करती है। यदि एक एक छमिया अलग होगी तो अग्नि बुझ जायगा। इसी प्रकार जातिके सब लोग संगठित होनेसे उस जातिका बरा बरों दिसाओमें फैलता है, परंतु जित जातिमें एकता नहीं होती, तब तक दिन प्रति दिन विराट होती जाती है। इससे यहाँ स्पष्ट हुआ कि संगठन करनेवाले लोगोंमें परस्परके लिये आत्मसमर्पणका भाव अवश्य चाहिये।

इस प्रकार प्रथम मंत्रने संगठन करनेके मूल विधानोंका उत्तम उपदेश दिया है।

संगठनका प्रचार ।

“ सब लोग यहाँ आजाय, उनकी एक परिषद् बने और संगठन बढानेवाले उपाय वकता अपने ऐक्यभाव बढानेवाले वस्तुत्वसे इस संगठन महावृक्षका फैलाव करे। ” यह द्वितीय मंत्रके पूर्वार्थका भाव है।

सभा, परिषद्, महासभा आदि द्वारा जातिवृक्ष संगठन करनेका रीति इस मंत्रार्थमें कही है। सब लोग इसका महात्त्व जानते ही हैं। भागे जाकर इसी द्वितीय मंत्रमें एक महात्त्वपूर्ण बात कही है वह अवश्य ध्यानसे देखने योग्य है—

पशुभावका भङ्ग ।

“ जो सब पशुभाव हम सबमें ही वह इस यज्ञमें आजाये, और यही रहे अर्थात् फिर हमारे साथ वह पशुभाव न रहे। ” पशुभावकी प्रधानता जिन मनुष्योंमें होती है, उनमें ही आपसके झगडे होते हैं। यदि पशुभाव संगठनके लिये दूर किया जाय और मनुष्यत्वका भाव बढाया जाय, तो आपसके झगडे नहीं होंगे। इसलिये पशुभाव की यज्ञमें समाप्ति करनेकी सूचना इस द्वितीय मंत्रके तृतीय चरणमें दी है और संगठनके लिये

वह अत्यंत आवश्यक है। इसके बिना कोई संगठन हो ही नहीं सकता।

पशुभाव छोड़नेका फल ।

पशुभाव छोड़ने और मनुष्यत्वका विकास करनेसे तथा संगठनसे अपनी शक्ति बढानेसे जो फल होता है उसका वर्णन द्वितीय मंत्रके चतुर्थ चरणमें दिया है—

“ जो मन है वह इस हमारे समक्षमें स्थिर रहे। ” संगठनका यही परिणाम होता है। जिससे मनुष्य धन्य होता है उसका नाम धन है। मनुष्यको धन्य बनानेवाले सब धन मनुष्यको अपने संगठन करनेके पश्चात् ही प्राप्त हो सकते हैं। इस द्वितीय मंत्रमें संगठनके नियम बताये हैं, वे ये हैं—

- १ एक स्थानपर संनित्तित होना, समा करना,
- २ उत्तम वकता जनताकी संगठनका महात्त्व समझा देवे,
- ३ अपने अंदरका पशुभाव छोड़कर, पशुभावसे मुक्त होकर, लोग वापस जाय, सब लोग मनुष्य बनकर परस्पर बर्ताव करें।

इन बातोंके करनेसे संगठन होना संभवनीय है। इस प्रकार जो लोग संगठन करेंगे, वे अग्रगण्य धन्य हो जायंगे।

तृतीय और चतुर्थ मंत्रमें फिर नदियोंके और अतीके खेतों का वर्णन आया है, जो पूर्वोक्त रीतिसे एकताधर उपदेश पुनः पुनः कर रहा है। संगठन करनेवालोंको घी, दूध, दही आदि पदार्थ भरपूर मिल सकते हैं, मानी उनमें इन पदार्थोंकी नाहिरी ही रहेगी। इसलिये संगठन करना मनुष्योंके उन्नतिको एकमात्र प्रधान साधन है।

इस कारण तृतीय और चतुर्थ मंत्रोंके उत्तरार्थमें कहा है, कि “ इन संगठित प्रयत्नोंसे हम अपना धन बढाते हैं। ” संगठित प्रयत्नोंसे ही सच, धन और नाम बढता है।

आशा है कि पाठक इस सूक्तका अधिक विचार करेंगे और संगठनद्वारा अपनी पुनर्जाय शक्ति बढाकर अपना सब बतों दिसाओमें फैलायेंगे।

चोर-नाशन-सूक्त ।

[ऋषि-चातनः । देवताः अग्निः, इन्द्रः, वरुणः]

(१६)

वैजमात्रास्यां॑ रात्रिमुदस्पृश्वीजमुत्त्रिणः । अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्युमाधिं ब्रवत् ॥१॥
सीसायाध्याह वरुणः सीसायाधिरुपावति । सीसं सु इन्द्रः प्रायच्छुचदुक्क यांतु चार्तनम् ॥२॥
इदं विष्कंभं सहत इदं बाधते अत्रिणः । अनेन विश्वांससहे या ज्ञातानिं पिशाच्याः ॥३॥
यदि नो गां हंसि यद्यश्चं यदि पूरुषम् । तं त्वा सीसेन विष्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥४॥

अर्थ—(ये ऋषिणः) जो बाहु चोर (अमावास्या रात्रौ) अमावस्य रात्रिके समय हमारे (प्राज्ञं) समुद्र पर (उदस्थुः) हमका करते हैं, इत विषयमें (यातुहा सः पुरीयः अग्निः) चोरों का नाशक वह चतुर्य अग्नि (अस्मभ्यं) हमें (अधि ब्रवत्) ब्रह्मना दे ॥ १ ॥ वरुणने सीसेके विषयमें (अध्याह) कहा है । अग्नि सीसेको (उपावति) रखक कहता है । इन्द्रे तो (मे) मुझे सीसा (प्रायच्छुचदुक्क) दिया है । हे (अनेन) प्रिये ! (त्व यातुचातनम्) वह बाहु इन्द्रे गला है ॥ २ ॥ (इदं) यह शूल (विष्कंभं) पचावट करनेवालोंको [सहते] हटाता है । यह सीसा (अत्रिणः) बाहुओंको (बाधते प्रीया देना है । (अनेन) इससे (पिशाच्या या विश्वा जावगि) पिशाचों की जो जातिबां हैं, उनको (ससहे) मैं हटाता हूं ॥ ३ ॥ (यदि नः गां हंसि) यदि हमारी गायको तु मारता है, (यदि नश्चं) यदि घोड़ेको और (यदि पूरुषं) यदि मनुष्यको मारता है (तं त्वा) तो उस तुझको (सीसेन विष्यामः) सीसेसे हम बेधते हैं, (यथा) जिससे तु (नः अ-वीर-हा असः) हमारे वीरोंका नाश करनेवाला न होवे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—अमावास्या की अंधेरी रात्रिके समय जो बाहु हमारे संघपर हमला करते हैं, उस विषयमें हमें ज्ञानसे उपदेश मिला है ॥ १ ॥ उनके रखक तथा उपदेशक सीसेकी गोली का प्रयोग करनेको प्रेरणा देते हैं । शूर वीरने तो सीसेकी गोली हमें दे रखी है । हे बंधुओ ! यह बाहुओंको हटानेवाली है ॥ २ ॥ यह सीसेकी गोली बाहुओंको हटाती है और प्रतिबंध करनेवालोंको दूर करती है । इससे शूल पीनेवाली श्व जातियोंको दूर मगाया जाता है ॥ ३ ॥ हे चोर ! यदि तु हमारी गाय, हमारा घोडा मक्का मनुष्यका वध करेगा, तो तुझपर हम गोली बरसेंवे, जिससे तु हमारा नाश करनेके लिये फिर जीवित न रह सकेगा ॥ ४ ॥

सीसेकी गोली ।

इस सूक्तमें सीसेकी गोली का प्रयोग बाहुओंपर करनेको कहा है । सूक्तमें केवल "सीस" शब्द है, गो-की का बाधक शब्द नहीं है । तथापि "सीसेन विष्यामः" (सीसेके द्वारा वेध करेगे) इस प्रयोगसे सीस शब्दसे सीसेकी गोली का भाव समझना उचित है । केवल सीसेका उपयोग बाहुओंके नाशमें किसी अन्य प्रकार संभवनीय नहीं दीखता है । विष्यामः) वेध करनेका भाव दूरसे चांदमारीके समान निशाना चारना है । आबकल सीसेकी गोली बंदूककी नलीमें रखकर दूरसे शत्रुको बेधते हैं । बाण भी शत्रुभ्यपरसे दूरसे ही निशाने पर केंडा जाता है । तात्पर्य हम नमीके शब्द बता रहे हैं कि सीसेकी

गोलीसे दूरसे ही बाहुओंका वेध करना चाहिये । लाठी छोटीके समान यह पाखंडे नहीं प्रयोग होता है इतना ही यहाँ बताना है ।

शत्रु ।

"अश्विन, यातु" आदि शब्दोंके अर्थ धाम-सूक्तके विवरणमें किये हैं, पाठक वहां ही देखें । ये सब शब्द बाहु चोर छोटेरे अपौरुष धामके शत्रुओंके बाधक हैं । इनसे मित्र दिन शब्दोंका इससे पूर्व विचार नहीं हुआ उक्त विचार यहां करते हैं—

१ विष्कंभ— प्रतिबंध करनेवाला, रक्षकके उदाहरण करनेवाला, हरएक कालमें मित्र बाधनेवाला ।

२ विनाश, विनाशी-रक्त पानेवाले और कृषा मांस खानेवाले क्रूर लोग, जो मनुष्यमा मांस भी खाते हैं ।

ये सब तथा (अग्निम्) भूके ढाकू, (यातुः) बीर ये सब समाजके शत्रु हैं । इनको उपदेशद्वारा सुधारनेका विषय पूर्व आये हुए (कां० १, सू० ७, ८) धर्मप्रचारके सूक्तोंमें आया है । जो नहीं सुघरते उनको दंढके लिये क्षत्रियोंके आश्रम करनेकी आज्ञा भी सप्त सूक्तके अंतमें दी है । उपदेश और दण्ड इन दो उपायोंसे जो नहीं सुघरते उनपर सीतेकी गोलीका प्रयोग करनेका विधान इस सूक्तमें आया है । अपने संगठन करनेका उपदेश पूर्व सूक्तमें करनेके पश्चात् इस सूक्तमें शत्रुपर गोली चलानेकी आज्ञा है यह विशेष ध्यानसे देखना चाहिये । विनाश आपनमें उन्म संगठन नहीं है यदि ऐसे लोग शत्रुपर हमला करेंगे, तो संभव है कि वे स्वयं ही नष्टपट हो जायेंगे । इसलिये " प्रथम अपना संगठन और पश्चात् शत्रुपर बढाई " यह नियम ध्यानमें रखना चाहिये ।

आर्य वीर ।

अग्नि इन्द्र आदिके विषयमें सूक्त सातके प्रसंगमें वर्णन आया ही है । (अग्निः) ज्ञानो उपदेशक, (इन्द्रः) शर्वीर ये आर्यवीर हैं यह पहिले बताया है । इन दो शस्त्रोंसे ब्राह्मण और क्षत्रियोंका बोध होता है यह बात पहिले बताया जा चुकी है ।

(यहां तृतीय अनुवाक और पहिला प्रपाठक भी समाप्त हुआ ।)

इस सूक्तमें " वरुण " शब्द आया है । वरुण समुद्र अथवा जलका अधिपति वैदमें तथा पुराणमें प्रसिद्ध है । जनस्थान, नदी आदि तथा समुद्र परसे जो शत्रुओंके हमले होते हैं उनसे रक्षा करनेका यह लोहदेशार है । त्रिष प्रथम " अग्नि " शब्द साम्राज्यत्ववाचक, " इन्द्र " शब्द साम्रपमर्षा बोधक है उर्ध्व प्रथम " वरुण " शब्द अन्तर्गम्ये अग्निशक्तिके और देशान्तर्गम्ये ध्यानार करनेवाले वैदनोंका अथवा वैदन्तव्य सूक्त यहां प्रदीत होता है । इसलिये गोमी अग्निनेके विषयमें (अग्नि) ज्ञाना, (इन्द्र) क्षत्रिय और (वरुण) वैदने भी संमति दी है और (इन्द्र) क्षत्रिय ने तो सीतेकी गोलीयां हमारेपास दे रखी हैं, इत्यादि द्वितीय मंत्रका नाम इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है । सप्त सूक्तमें दिये उपदेशानुसार साम्राज्य प्रचारकोंमें प्रथम किना और उन्होंने कहा कि ये ढाकू सुघरते नहीं हैं, क्षत्रियोंने भी कहा कि अनेक बार देहदंड देनेपर भी इन दुष्टोंका सुधार नहीं हुआ, वरुण तो उठे अनेके कारण कहते ही रहे, इस प्रकार तीनों वर्णोंका परिबद्धन जब गोली अग्निनेकी आज्ञा दी, तब इस सूक्तके आधारपर गोली बढानी जा सकती है । पाठक यह पूर्वोक्त संबंध अवश्य ध्यानमें रखें ।

सूक्तमें देव शक्ति स्पष्ट हैं । इसलिये अधिक विवरणकी आवश्यकता नहीं है ।

रक्तस्राव बंद करना ।

[ऋषिः ब्रह्मा । देवता-योषित्व]

(१७)

अमूर्त्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः । अत्रातरंश्च जामयस्तिवदन्तु हुवैर्वचसः ॥१॥
 तिष्ठान्तरे तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्यमे । कृनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठादिद्वमर्निर्मही ॥२॥
 सुतस्य घमनीनां सहस्रस्य हिराणाम् । अस्थुरिन्मिष्यामा इमाः साकमन्ता अरंसत ॥३॥
 परं वुः सिकंतावती घनुर्बृहत्यंक्रमीत् । तिष्ठतेल्यंता सु कंम् ॥४॥

अर्थ - (अमूः याः) यह जो (लोहित-वाससः) रक्त राल करने पड़ती हुई (योषिताः) स्त्रियां हैं अर्थात् बाल रंगका बाल ले जानेवाली (हिराः) घननिधीं शरीरमें हैं वे (तिष्ठन्तु) उद्धर जाय अर्थात् अपना बचना बंद करें, (इव) विष

प्रकार (अ-आवरः) बिना माईके (हृत्त वचंसः) निस्तोज बनी (जामयः) बहिर्ने ठहर जाती हैं ॥ १ ॥ (अचरे तिष्ठ) हे नीचेकी नाडी ! तू ठहर । (परे तिष्ठ) हे ऊपरवाली नाडी ! तू ठहर । (उद मध्यमे) और बीच वाली (एवं तिष्ठ) तू भी ठहर । (कनिष्ठिका च तिष्ठति) छोटी नाडी भी ठहरती है तथा (धमनिः इत् तिष्ठात्) बड़ी नाडी भी ठहर जावे ॥ २ ॥ (धमनीनां शतस्य) सैकड़ों धमनिशके और (हिराणां सहस्रस्य) हजारों नाडियोंके बीचमें (इमाः मध्यमाः अस्थुः) ये मध्यम नाडियां ठहर गई हैं । (साकं) साथ साथ (अंताः) अंत भाग भी (अरंसत्) ठीक हुए हैं ॥ ३ ॥ (बृहती धनुः) बड़े धनुष्यने (वः परि अक्रमीत्) तुमपर हमला किया है, अतः (सिक्तावतीः तिष्ठत) रेतवाली अपवा शर्करावाली धमनी ठहर जाओ, जिससे (कं) सुख (सु इलयत्) प्राप्त करोगे ॥ ४ ॥

भावार्य-शरीरमें लाल रंगका रक्त शरीरभर पहुंचानेवाली धमनियां हैं । जब धाव लग जावे तब उनकी गति रोकनी चाहिये, जिस प्रकार दुर्भाग्यको प्राप्त हुई माई रदित बहिर्नेकी गति रुक जाती है ॥ १ ॥ नीचेवाली, ऊपरवाली, तथा बीचवाली छोटी और बड़ी सब नाडियोंको बंद करना चाहिये ॥ २ ॥ सैकड़ों और हजारों नाडियोंमेंसे आवश्यक नाडियां ही बंद की जावें अर्थात् उनके फटे हुए अंतिम भाग ठाक किये जावें ॥ ३ ॥ बड़े मनुष्यके बड़े बागोंसे धमनिधोर हमला होकर नाडियां फट गई हैं, उनको शर्कराके साथ संबंध करनेसे शीघ्र आरोग्य प्राप्त हो सकता है ॥ ४ ॥

धाव और रक्तस्राव ।

शरीरमें शत्रुादिसे धाव होनेपर धावके ऊपरकी और नीचेकी नाडियोंको बंदसे बांधनेसे रक्तका स्राव बंद हो जाता है । धाव देखकर ही निश्चय जानना चाहिये, कि कौनसे भागपर बंद लगाना चाहिये । यदि रक्तस्राव इस प्रकार बंद किया जाय तो ही रोगीको शीघ्र आरोग्य प्राप्त हो सकता है, अन्यथा रक्तके बहुत स्राव होनेके कारण ही मनुष्य मर सकता है । इसलिये इस विषयमें सावधानता रखनी चाहिये ।

इसके पूर्व सूक्ष्मं शयुको गोलसे मारनेकी सूचना दी है । इस लड़ाईमें शरीरपर धाव होना संभव है, इसलिये इस रक्तस्रावके बंद करनेके विषयमें इस सूक्ष्मं उपदेश दिया है "सिक्तावती" अर्थात् रेतवाली अपवा शर्करावाली धमनी करनेसे रक्तस्राव बंद होता है । चारीक मिथ्रीका चारीक चूर्ण लगानेसे स्राव बंद होता है, यह कथन विचार करनेयोग्य है ।

दुर्भाग्यकी स्त्री ।

(हृत्त-वचंसः जामयः) जिनका तेज नष्ट हुआ है ऐसी स्त्रियां, दुर्भाग्यको प्राप्त हुई स्त्रियां अर्थात् पति मरनेके कारण जिनकी मान्यहीन अवस्था हुई है ऐसी स्त्रियां पिता, माता अपवा माईके घर जाकर रहें, किसी अन्य स्थानपर न जावें यह उपदेश पूर्व आये चतुर्दश सूक्त (कां. १, सू. १४) में कहा है । परंतु यदि बड़ी स्त्रियां (अ-आवरः) भ्रातासे हीन हों अर्थात् उनको माई न हो तो उनकी गति रुक जाती है, अर्थात् ऐसी स्त्रियां बड़ी भी जा नहीं सकती । जिस प्रकार

पति जीवित रहनेपर स्त्रियां बड़े बड़े समारंभोंमें और उत्सवोंमें जा सकती हैं, उस प्रकार पति मर जानेके पश्चात् वे जा नहीं सकती अर्थात् उनकी गति रुक जाती है । पहले उनकी गति सर्वत्र होती थी, परंतु दुर्भाग्य-वश होनेके पश्चात् उनका भ्रमण नहीं हो सकता ।

यहां स्त्रीविषयक एक वैदिक मर्यादाका पता लगता है, कि पति मरनेके पश्चात् स्त्री उस प्रकार नहीं घूम सकती कि जैसी पतिके होनेके समय घूम सकती है । घरमें रहना, उत्सवोंके आनंद प्रसंगोंमें न जाना, मंगलोल्लासोंमें भाग न लेना इत्यादि श्रुतपति स्त्रीके व्यवहार की रीति यहां प्रतीत होती है ।

श्रुतपतिके स्त्री माई होनेपर माईके घर जा सकती है, माई न रहनेपर किंवा पिता माता न रहनेपर उनको दुःखमें ही रहना होता है । इस समय वह दुर्भाग्यवती स्त्री परमेश्वर भाषेसे अपना समय गुजारे और परोपकार का कार्य करे ॥

विधवाके वस्त्र ।

"हृत्तवचंसः जामयः लोहितवाससः योषितः ।" ये शब्द विधवा स्त्रीके रूपकोंका लाल रंग होना बता रहे हैं । "नित्तोज दुर्भाग्यवती बहिर्ने लाटवत् पहनेवाली स्त्रिये" ये शब्द दुर्भाग्यवती स्त्रियोंके लाल रंगके कपड़े होनेकी सूचना दे रहे हैं । दक्षिण भारतमें इस समय भी यह वैदिक प्रथा जारी है, इसलिये विधवा स्त्रियां यहां केवल लाल रंगके कपड़े पहनती हैं । पतिपुत्र स्त्रियां केवल लाल रंगका कपड़ा नहीं पहनतीं, परंतु अन्य रंगोंकी लड़कियोंसे पुत्र करके अर्थात् लालके साथ

आग्नेयान्य रंग मिले जुते हों तो वैभे सब रंगके कपडे पहनती हैं। केवल ध्वज वस्त्र भा विधवा खड़ा पहनती हैं, यह श्रेत वस्त्रा रिवाज सपूर्ण भारतवर्षमें एक जैसा है।

पाठक इस विषयमें अधिक विचार करें, क्योंकि इस विषयका निश्चय होनेके लिये कई अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता है।

सौभाग्य-वर्धन-सूक्त ।

(१८)

(ऋषिः—द्रविणोदाः । देवता—वैनायकं सौभागम्)

निर्दुःख्यं ललाम्यं निररातिं सुवामसि ।

अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरानि नयामसि ॥ १ ॥

निरराणि सविदा साविपक् पुदोनिहस्तयोर्वरुणो मित्रो अर्यमा ।

निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमा देवा असाविपुः सौभाग्य ॥ २ ॥

यत्तं आत्मनि तन्वां घोरमस्ति यद्वा केशेषु प्रतिचक्षणं वा ।

सर्वं तद्वाचापं हन्मो वयं देवस्त्वां सविता सुदयतु ॥ ३ ॥

रिश्यपदीं वृषदतीं गोषेधां विधमामुत ।

विलिख्यं ललाम्यं वा अस्मिन्नाशयामसि ॥ ४ ॥

अर्थ—(ललाम्यं) निरपर होनेवाले (लक्ष्यं) सुरे चिन्हकी (निः) विशेषतासे दूर करते हैं; तथा (न-रातिं) कज्जुभी आदि (नि सुवामसि) निःशेष दूर करते हैं। (अथ वा भद्रा) और जो कल्याण कारक चिन्ह हैं (तानि नः प्रजाये) य सब हमारी संतानके लिये न प्राप्त करते हैं और (अरानि) कज्जुभी आदि (नयामसि) दूर प्रगते हैं ॥ १ ॥ सविता, वरुण, मित्र और अर्यमा (पशु-इन्द्रज्योः) पाशों आदि दातोंकी। (अरानि) पीडाको (निः निः साविपक्) दूर करें। (रराणा अनुमतिः) दानसाल अनुमतेने (अस्मभ्यं निः) हमारे लिये निःशेष प्रेणा की है। तथा (देवाः) देवोंने (हमों) इस श्रांथे। (सौभाग्य) सौभाग्यके लिये (अ असाविपुः) प्रेरित किंग है ॥ २ ॥ (यत्तं आत्मनि) जो तेरी आत्मामें तथा (तन्वां) शरीरमें (वा यत् केशेषु) अथवा जो केशोंमें (वा प्रतिचक्षणं) अथवा जो शक्तिमें (घोरं अस्ति) अमानकचिन्ह है (तन् सर्वं) वह सब (वयं वाचा हन्मः) हम वाचासे हटा देते हैं। (सविता देवः) सविता देव (वा सुदयतु) तुझे विद करे अर्थात् पारपक बनावे ॥ ३ ॥ (रिश्यपदीं) हरणके समान पाँववाली, (वृषदतीं) बेलके समान दाँववाली, (गोषेधां) गायके समान बलनेवाली, (विधमा) विदक शब्द बोलनेवाली, त्रिपक् शब्द कठोर है ऐसी (वा) उत ललाम्यं विलिख्यं) और त्रिपक्का कुलक्षण यह सब हम (अस्मिन्नाशयामसि) अपनेसे नाश करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—सिपर तथा शरीरपर जो बुलक्षण होंगे उनको दूर करना चाहिये तथा अंतःकरणमें कज्जुभी आदि जो दुर्गुण हैं उनको भी दूर करना चाहिये, और जो बुलक्षण हैं उनको अपने तथा अपने संतानोंके पास स्थिर करना अथवा बढाना चाहिये। तथा कज्जुभी आदि मनके सुरे भावोंकी दृष्टाना चाहिये ॥ १ ॥ सविता, वरुण, मित्र, अर्यमा, अनुमति आदि सब और देवता हाथों और पाशोंकी पीडाको दूर करें, इस विषयमें वे हमें उपदेश दें। क्योंकि देवोंने श्री और पुरुषको उत्तम भाग्यके लिये ही बनाया है ॥ २ ॥ तुम्हारे आमा अथवा मनमें, शरीरमें, शेषोंमें तथा शक्तिमें जो कुछ बुलक्षण हो, जो कुछ भी दुर्गुण हो उनको हम

वचनसे हटाते हैं । परमेश्वर तुम्हें उत्तम लक्षणोंसे युक्त बनावे ॥ ३ ॥ हरिणके समान पांव, बैलके समान दांत. गायके समान चलनेकी आदत, कठोर बुरा अवाज होना तथा निरपरके अन्य कुलक्षण यह सब हमसे दूर हों ॥ ४ ॥

कुलक्षण और सुलक्षण ।

इस सूक्तमें शरीरके तथा मन, बुद्धि, आत्मा आदिके भी जो कुलक्षण हैं उनको दूर करने तथा अपने आपको पूर्ण सुलक्षण-युक्त बनानेका उपदेश किया है । इस सूक्तमें वर्णित कुलक्षण ये हैं-

(१) छलान्यं लक्ष्म्यं-सिरपरका लक्षण, कपाल छोटा होना, मालपर बाल होने, बुद्धिहीन दर्शन आदि कुलक्षण । (मंत्र १)

(२) छलान्यं विलीयं-सिरपर बालोंके गुच्छे रहने और उससे सिरको सोमाद्य विगाड़ आदि कुलक्षण । (मंत्र ४)

(३) रिद्वपदी-हरिणके समान कृश पांव । (मंत्र ४)

(४) वृषद्वी-बैलके समान बड़े दात । (मंत्र ५)

(५) गौषेधा-गायके समान चलना । (मंत्र ५)

(६) वि-घमा-कानोंके बुरा लगनेवाला आवाज, जिसका मीठा मंजुल आवाज नहीं । (मंत्र ४)

ये अंतिम (३-६) चार कुलक्षण स्त्रीलिंग निर्देशमें स्त्रियोंके लिये बहुत बुरे हैं अर्थात् स्त्रियोंमें ये न हों । वधू पसंद करनेके समय इन लक्षणोंका विचार करना योग्य है ।

(७) केद्यु घोरं-शालोंमें कूरता अथवा मयानकता दिखाई देना अर्थात् शालोंके कारण सुख कूरसा दीखना । (मंत्र ३)

(८) प्रातिषक्षणे कूरं-नेत्रोंमें कूरता, मयानक नेत्र, मयानक दृष्टि । (मंत्र ३)

(९) तन्वा कूरं-शरीरमें मयानकता, अर्थात् शरीरके अवयवके टेढामेढा होनेके कारण मयानक दृश्य । (मं. ३)

(१०) आरामनि कूरं-मन, बुद्धि, चित्त, आत्मामें कूरताके भाव होना । (मंत्र ३)

(११) अ-रारिं-कंजुसी, उदारभावका अभाव । (मं. ३)

(१२) पदोः हलघोः अ-रगिः-पांव और हाथों की जोड़ा अथवा कुष्ठ विकार । (मं. २)

ये बारह कुलक्षण इस सूक्तमें कहे हैं । इस सूक्तका विचार करनेके समय इससे पूर्व आया हुआ " कुलवधूसूक्त " (अथर्व. १ । १४) भी देखने योग्य है । अर्थात् इन दोनोंका विचार करनेसे ही वधूवर परीक्षा करनेका ज्ञान हो सकता है ।

इसलिये पाठक इन दोनों सूक्तोंका साथ साथ विचार करें । इन कुलक्षणोंमेंसे कई लक्षण केवल स्त्रियोंमें और कई पुरुषों तथा कई दोनोंमें होंगे । अथवा सब लक्षण न्यूनाधिक भेदसे स्त्रीपुरुषोंमें दिखाई देना भी संभव है ।

ये कुलक्षण दूर करना और इनके विरोधी सुलक्षण अपनेमें बढाना हरएकका कर्तव्य है । इन कुलक्षणोंका विचार करनेसे सुलक्षणोंका भी ज्ञान हो सकता है । जिससे शरीर सुदौर्ग दिखाई देता है वे शरीरके सुलक्षण समझने चाहिये । इतना प्रकाश ईदियों, मन, बुद्धि वगैरे आदिके भी सुलक्षण हैं । इन सबका निश्चित ज्ञान प्राप्त करनेके अगनेमें कुलक्षण दूर करना और सुलक्षण अपनेमें बढाना हरएकका आवश्यक कर्तव्य है ।

वाणीसे कुलक्षणोंको हटाना ।

मंत्र ३ में " सर्वं तद्वाचप हन्मो वयं । " अर्थात् हम ये सब कुलक्षण वाणीसे दूर करते हैं, अथवा वाणीसे इन कुलक्षणोंका नाश करते हैं, कहा है; तथा साथ साथ " देवस्तवा मविना सुदयु " अर्थात् सतिना देव तुम्हें पूरा सुलक्षणयुक्त बनावे, कहा है । परमेश्वर कृपासे मनुष्य सुलक्षणोंमें युक्त हो सकता है, इसमें किसीको संदेह नहीं हो सकता, परंतु वाणीसे कुलक्षणोंको दूर करनेके विषयमें बहुत लोगोंको संदेह होना संभव है, अतः इस विषयमें कुछ स्पष्टीकरणकी आवश्यकता है । वेदमें यह विषय कई सूक्तोंमें आबुझा है । इसलिये पाठक इसका ध्यान विचार करें ।

वाणीसे प्रेरणा ।

वाणीसे अपने आपको अथवा दूसरेको भी प्रेरणा या सूचना देकर रोग दूर करना, तथा मन भादिके कुलक्षण दूर करना संभवनीय है, यह बात वेदमें अनेक स्थानोंमें प्रकाशित हुई है । यह सूचना इस प्रकार दी जानी है- " मेरे अंदर यह कुलक्षण है, यह केवल थोड़ा दूर रहनेवाला है, यह बिराला नहीं रहेगा, यह कम हो रहा है, अतिशय कम होगा । मेरे अंदर सुलक्षण बढ रहा है, मैं सुलक्षणोंसे युक्त होऊंगा । मैं निर्दोष बन रहा हूँ । मैं लरोगा रहूँगा । मैं दोषोंको हटाता हूँ और अपनेमें गुणोंको विकसित करता हूँ । "

इत्यादि रीतिमें अनेक प्रकारकी सूचनाएं मनको देने और उनका प्रतिबिम्ब मनके अंदर स्थिर रखनेसे इष्ट सिद्धि होती है । वेदका यह मानसशास्त्रकी सिद्धांत हरएकको विचार

करने योग्य है। "मैं हूँ हीन हूँ, दीन हूँ" आदि विचार जो लोग लाज कल बोलते हैं, वे विचार मनमें प्रतिबिम्बित होनेसे मनपर कुसंस्कार होनेके कारण हमारी गिरावटके कारण हो रहे हैं। इसलिये शुद्ध वाणीका उच्चारण ही हमेशा करना चाहिये, कभी भी अशुद्ध गिरे हुए भावोंसे युक्त शब्दोंका उच्चारण नहीं करना चाहिये। वाणीकी शुद्ध प्रेरणाके विषयमें साक्षात् उपदेश देनेवाले कई सूक्त आगे आनेवाले हैं, इसलिये इस विषयमें यहां इतना ही लेख पुरातन है। अस्तु इस प्रकार शुद्ध वाणीद्वारा और परमेश्वर भक्तिद्वारा अपने कुलधर्मोंको दूर करना और अपने अंदर सुलक्षणोंको बढ़ाना हरएक मनुष्यको योग्य है।

हाथों और पांवोंका दर्द ।

द्विर्ताय मंत्रमें कहा है कि सविता (सूर्य), वरुण (जल), मित्र (प्राणवायु), अर्यमा (आगका पाँघा) ये हाथों और पाँवोंके दर्दको तथा शरीरके दर्दको दूर करें। सूर्यप्रकाश, समुद्र आदिका जल, शुद्ध वायु, आकके पत्तोंका फेक आदिसे बहुतसे रोग दूर हो जाते हैं। इस विषयमें इससे पूर्व बहुत कुछ कहा गया है और आगे भी यह विषय बारंबार आनेवाला है। आरोग्य तो इनसे ही प्राप्त होता है।

सौभाग्यके लिये ।

" इमां देवा असाविषुः सौमगाय । " इसको देवोंने सौभाग्यके लिये बनाया है। विशेष करके ऋके उद्देशसे यह

मंत्रमाग है, परंतु सबके लिये भी यह माना जा सकता है। कर्मात् मनुष्य मात्र स्त्री हो या पुरुष हो वह अपना कर्मगत साधन करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है और वह यदि परमेश्वर भक्ति करेगा तथा शुद्ध वाणीका सूचनासे अपने मनको प्रभावित करेगा तो अवश्यमेव सौभाग्यका भागी बनगा। हरएक मनुष्य इस वैदिक धर्मके सिद्धांतको मनमें स्थिर करे। अपनी उन्नतिको सिद्ध करना हरएकके पुरुषार्थपर अवलंबित है। यदि अपनी अवनति हुई है तो निश्चय जानना चाहिये कि पुरुषार्थमें त्रुटी हुई है।

सन्तानका कल्याण

यदि अपनेमें कुछ कुलधर्म रहे भी, तथापि अपनी संतानोंमें सब सुलक्षण आजाय (या मद्रा तानि नः प्रजायै) यह प्रथम मंत्रका उपदेश हरएक श्रद्धार्थीको ध्यानमें धरना चाहिए। अपनी संतान निदोष और सुलक्षणोंसे तथा धद्रुणोंसे युक्त बने यह भाव यदि हरएक श्रद्धार्थीमें रहेगा, तो प्रति पुरुषमें मनुष्योंका सुधार होता जायगा और राष्ट्र प्रतिदिन उत्थित ही सीढ़ीपर चढेगा। यह उपदेश हरएक प्रकारसे कल्याण करनेवाला है इसलिये इसको कोई श्रद्धस्थी न भूले।

इस प्रकार पाठक इस सूक्तका विचार करें और अपने कुलधर्मोंको दूर करके अपने अंदर सुलक्षण बढ़ानेका प्रयत्न करें।



शत्रु-नाशन-सूक्त ।

(१९)

(ऋषिः—ब्रह्मा । देवता—ईश्वरः, ब्रह्म)

मा नो विदन् विव्याधिनामो अभिव्याधिर्नो विदन् । आराच्छर्व्व्या अस्मद्विपूर्वीरिन्द्र पातय ॥ १ ॥
विष्वञ्चो अस्मच्छर्व्वः पतन्तु ये अस्ता ये त्रास्याः । दैवीर्मनुष्येष्वो ममाभिमान् वि विष्यत ॥ २ ॥
यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्टो यो अस्मां अभिदांसति ।

रुद्रः शर्व्व्युयैतान् ममामिमान् वि विष्यत

॥ ३ ॥

यः सुपत्नो योऽसंपत्नो यश्च द्विपञ्चपाति नः । देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥ ४ ॥

अर्ष- (वि-व्याधिनः) विशेष बंधनेवाले शत्रु (नः मा विदन्) हमतक न पहुँचें । (अभिव्याधिनः) चारों ओरसे मारने करनेवाले शत्रु (नः मो विदन्) हमतक कभी न पहुँचें । हे (इन्द्र) परमेश्वर । (विपूर्वीः शरण्याः) सब ओर फैलने-

बाले बाग सन्तुष्टो (अस्त्व जाराव पातय) हमसे दूर गिरा ॥ १ ॥ (ये अस्त्वाः) जो फेंके हुए और (ये च अस्त्वाः) जो फेंक जायेंगे, वे सब (विध्ययः शरवः) चारों ओर फैले हुए बाग आदि शस्त्र (अस्त्वत् पतन्तु) हमसे दूर जाकर गिरें (देवीः मनुष्येपवः) हे मनुष्योंके दिव्य बाणों ! (मम अमित्रान्) मेरे शत्रुओंको (विविष्यत्) बंध कर डालो ॥ २ ॥ (यः नः स्वः) जो हमारा अपना लयवा (यः अरणः) जो दूसरा परगण हो, किंवा जो (स-जावः) समान उच्च जातिका कुलीन, उच्च) अथवा जो (निष्यः) भिन्न जातिवाला या संतर जातिका हीन (अस्मान् अमिवासाति) हमपर चढ़ाई करके हमें दास बनानेकी चेष्टा करे, [एताव मम अमित्रान्] इन मेरे शत्रुओंको [रुद्रः] दलानेवाला वीर [शरव्यया विविष्यत्] बाणोंसे बंध करे ॥ ३ ॥ [यः] जो [सपतनः] विरोधी और [यः अ-सपतनः] जो प्रकट विरोधी नहीं है । [च यः द्विपत्] और जो हथेप करता हुआ [नः शापाति] हमको धारता है [तं] उसका [सर्वे देवाः] सब देव [पूष्यन्तु] नाश करें । [मम अन्तर यर्म] मेरा आंतरिक कवच [मद्ग] मद्गताम ही है ॥ ४ ॥

भावाय-हमारे शीरोका शीर्ष ऐसा हो कि हमारा नाश-करनेकी इच्छा करनेवाले सब शत्रु हमसे सदा दूर रहें और हमतक वे कभी न पहुंच सकें । उनके शस्त्र भी हमसे दूर रहें ॥ १ ॥ सब शस्त्र हमसे दूर गिरें । और हमारे शत्रुओंपर ही सब शस्त्र गिरते रहें ॥ २ ॥ कोई हमारा मित्र या शत्रु, हमारी जातिवाला वा परजातीका, कुलीन या हीन, कोई भी कहीं न हो, यदि वह हमें दास बनाने या हमारा नाश करनेकी चेष्टा करता है तो उसका नाश शस्त्रोंसे करना योग्य है ॥ ३ ॥ जो प्रकट या छिपा हुआ शत्रु हमारा नाश करना चाहता है या हमें धुरे शब्द बोलता है सब सज्जन उसको दूर करें । मेरा आंतरिक कवच सत्य ज्ञान ही है ॥ ४ ॥

यह "सांक्रामिक गण" का सूक्त है, इस कारण "अपराजित गण" के सूक्तोंके साथ भी इसका संबंध है, अतः पाठक इस गणके सूक्तोंके साथ इसका भी विचार करें ।

आन्तरिक कवच ।

इस सूक्तमें जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात कही है वह आंतरिक कवचकी है । देशके कवच पर्वत, दुर्ग और समुद्र होते हैं, इनके होनेके कारण बाहरके शत्रु देशमें घुस नहीं सकते । प्रामाणिक कवच किले होते हैं इनके कारण शत्रु प्राममें घुस नहीं सकते । शरीरके कवच लोहेके अथवा तारके बनाये जाते हैं जिनके कारण शत्रुके शस्त्र शरीरपर लगते नहीं और शरीर सुरक्षित रहता है । शरीरके अंदर आत्मा और अंतःकरण है, मन, बुद्धि, चित और अहंकार मिलकर अंतःकरण होता है, इसकी साथ आत्माके तिथे रहती है । इस "अन्तःकरण" के लिये "अंतः कवच" अवश्य चाहिये, जो इस शत्रुनाशन सूक्तमें "मद्ग वर्म ममान्ताम्" शब्दोंद्वारा बताया है । "ज्ञानरूप कवच ही मेरा आंतरिक कवच" है । जिसके आत्मा और अंतःकरणका ज्ञानरूप कवचसे संरक्षण होता है, उनको किसी शत्रुसे डर नहीं हो सकता, वह अज्ञान शत्रु ही बन सकता है । इस ज्ञानरूप कवचके बतानेमें जो ज्ञानवाचक "मद्ग" शब्द सूक्तमें प्रयुक्त किया है । वही परमेश्वर या परब्रह्मा वाचक है और इसलिये इस "मद्ग" शब्दसे "परमात्म-

विषयक आस्तिक्य बुद्धियुक्त ज्ञान" इतना अर्थ इस शब्दसे समझना योग्य है ।

इस सूक्तके दो विभाग ।

इस सूक्तके दो विभाग होते हैं, प्रथम विभागमें प्रारंभमें चतुर्थ मंत्रके तृतीय चरणतकके सब मंत्र आते हैं और द्वितीय विभागमें चतुर्थ मंत्रके चतुर्थ चरणका ही समावेश होता है । इन विभागोंको देखकर इस सूक्तका विचार करनेसे बड़ा बोध मिलता है ।

वैदिकधर्मका साध्य । ब्राह्म कवच ।

"परमात्माकी भक्तिसे परिपूर्ण सत्य सनातन ज्ञान ही मेरा कवच है" इस ब्राह्म कवचसे सुरक्षित होनेपर मुझे किसी भी शत्रुका भय नहीं, यह आत्मविश्वास मनुष्यमें उत्पन्न करना वैदिक धर्मका साध्य है । यह भाव मनुष्यनाशमें स्थापित करनेके लिये ही वैदिक धर्मकी शिक्षा है । परंतु यह ज्ञान समय समयपर थोड़ेसे परिशुद्ध महात्माओंमें उत्पन्न होता है और उनसे भी थोड़े संतोमें इसका साक्षात् अनुभव होता है, यह बात हम इतिहासमें देखते हैं । इसलिये यद्यपि वेदका यह साध्य है, तथापि सब मनुष्योंमें यह साध्य साक्षात् प्रत्यक्षमें आना कठिन है इसमें भी संदेह नहीं है । इसीलिये सर्व साधारण मनुष्य आत्मिक दिव्य शक्तिको शरण लानेकी अपेक्षा मत्तमेदका निषेध करनेके समय शारीरिक पाशवी

एविवर्षा ही साधन करते हैं ।। अतः इन करते हैं प्रथम विना-
यके मंत्र पाठवी रात्रिका विचार करते हुए साधारण जनका
मार्ग बता रहे हैं और द्वितीय विनायका मंत्रनाय जातिक
दिन रात्रिका मानवी शक्तिमें भेद बता रहा है ।

“ आशिक पाठक या आशिक कान ही ज्ञेय करते वना
बदल है, जिसके भी सब प्रकारके अनुभूति सुपुत्र पर कथना
है, और अंदर अर्धनाका मार पूर्व स्वयं स्थिर रहा, हो तो जो मेरे
पाठ आदिमें उनके अंदरसे भी अनुभूतका मार हुए हो कारण ”

इत्यादि वैदिक धर्मकी शिक्षा अनेकन समय है, मनुष्यकी
बड़ी बात अंतमें स्वीकारनी है, परंतु यह रचनाकार काय देखावे
बड़ी होना चाहिये, परंतु अंतःस्वामिही होना चाहिये, अपना
समाह ही देना बनना चाहिये । इसी कारणसे मनुष्यका सबसे
आधक नयाग है ।

अन्य कवच । क्षत्र कवच ।

हाथके, मसालके तथा देवी के कथनाय कवच उक्त विद्यालके
काममें आशयक ही है । स्वर्गाधकके रक्षाक खादि इन
इस कवचपाने ही मनुष्य है । अर्थात् उक्तक जना पूर्वोक्त
कविकाके जिये योग्य नहीं होती, तबक हरबीर क्षत्रियका
पुत्रा संक्षण इन रक्षाकीवर्ग । ये क्षत्र साधन हैं । इन
कवचके सुरक्षित होना क्षत्र साधन है और लोकेक कवचो तथा
उक्तकीवै सुपुत्र होना क्षत्र साधन है । क्षत्र साधन स्वीकारने
योग्य जनकी उक्ति परंसाधनसे करनी चाहिये और उक्तक
वक्तो बसाते नहीं होती, तबक क्षत्रसाधनसे अनुभूतका

प्रविकार बना योग्य है । अत्रकवचोंके सुदीके बहुत होनेसे
ही मनुष्य इन धारणकी श्रुतिका अनुभव करता है और
साधनसाधनकी स्वीकारनेका मन बन्य है ।

इन प्रकार सुदी भी मनुष्यको आशयकवचक सुदीकरनेके
मार्गदर्शक बनते हैं ।

दासिनायकी नास्य ।

सुदीप अंतमें कहा है कि “ जो अपना ना करना जिन दास
बनने की कथा करता है उसका नाम जाना चाहिये । ”
सुदीप पारलंभ रात्रिके दान मारक टोलक है, उक्त
आशिक नयायिक, वैदिक तथा शक्ति, पारलंभ को है
और ये सबसे अधिक पात्रक हैं । जिनो प्रकार भी पारलंभ
जो अंतमें मनुष्यका बाप ही वह स्वर्गाधन नहीं चाहिये,
परंतु उनके कारणकी पूर करना चाहिये । अर्थात् जो सबकी
नहीं बनना चाहिये । स्वर्गनाम ही मनुष्यका नाम है ।
जान और पुरकारके स्वीकारना-स्वीकारने सुक्ति-मंत्र होती
है, इनका भी आशय यही है । मनुष्यके सर सुध दासके
कारण है । इनमें कोई मनुष्य या कोई राष्ट्र हुनो मनुष्यको
या शास्त्री दानमें इतनेका मनुष्य करे और यदि किसीके
देना प्रयत्न हुआ तो सब मनुष्य उसका विरोध करें ।

दाननाममें इत्येका उपदेश पाठक इन सुक्तमें शिद्व
प्रधाने देके और उनको कर्त्तव्य मानने पड़ते । एक
इस सुक्तके इस प्रकार विचार करनेसे बहुत ही शीघ्र भाव
कर सकी है ।

महान् शासक ।

(२०)

(श्रापिः—अथर्वा । देवता—सोमः)

अर्दार्त्तद् भवतु देव सोमास्मिन्सुद्धे मरुतो मुहता नः ।
 मा नो विददभिमा मो अर्थास्तिर्मा नो विदद् हृत्विना देष्वा वा ॥ १ ॥
 यो अथ सेन्यो वषोऽप्रायूनामुदीरंते । युवं तं मित्रावरुणावस्मर्षावपुतं परि ॥ २ ॥
 इतश्च यदमुर्वश्च यद्वह्वं वरुण यावय । वि नृहृच्छर्मं पशु वर्यायो वावया वषव् ॥ ३ ॥
 श्रुत इत्या नृहो अल्पमित्रसाहो अस्तुतः । न पस्यं हन्वते सत्त्वा न ह्यीदंते हृदा च व ॥ ४ ॥

अर्थ—हे (देव नीम) सोम देव ! (अ-दार-सूत भवतु) आपसकी फूट उत्पन्न करनेका अर्थ न हो । हे (महत्तः) महतो ! (अस्मिन् यजे) इस यज्ञमें (नः सुदत्) हमें सुखों करो । (अग्नि-भाः नः मा विद्) परामव हमारे पास न आवे, (अशक्तिः मो) अकीर्ति हमें प्राप्त न हो, (या द्वेष्या वृजिना) जो द्वेष बढ़ानेवाले कुटिल हृत्स हैं वे भी (गः मा विद्द्) हमारे पास न हों ॥ १ ॥ (अथायुना) पापमय जीवनवालोंका (यः सेम्यः वषः) जो सेनाके घूर दौरोसे वष (बघा उदारीते) आज ही रहा है । हे मित्र और वरुणो ! (युवं) तुम (तं अस्मत् परि यावयतं) उसकी हमसे सर्वथा हटा दो ॥ २ ॥ हे (वरुण) सर्व श्रेष्ठ ईश्वर ! (यत् इत्तः च यत् असुतः) जो यज्ञसे और जो वहासे वष होगा उस (वषं यावय) उसको भी दूर कर दे । (महत्तं धर्मं विपच्छ) बड़ा सुख अथवा आश्रय हमें दे और (वषं वरीयः यावय) वषको अतिदूर कर दे ॥ ३ ॥ (इत्या महान् शासः) इस प्रकार साथ और महान् शासक ईश्वर (अ-मित्र-साहः अस्तुतः) शत्रुका पराजय करनेवाला और कभी न हाननेवाला (अस्ति) वृ है । (वस्य सखा) जिसका मित्र (कदाचन न ह्यन्यते) कभी भी नहीं मारा जाता और (न जीयते) न पराजित होता है ॥ ४ ॥

मातार्थ—हे ईश्वर ! आपसकी फूट बढ़ानेवाला कोई कार्य हमसे न हो । इस सत्कर्मसे हमें सुख प्राप्त हो । पराजय, अपकीर्ति, अयश, द्वेष आर कुटिलता हमारे पास न आवें ॥ १ ॥ हे देव ! शत्रुओंके द्वारा जो पापयोगिक वष हो रहे हैं, जैसे वषोंके प्रयोग भी हमारे अंदर न उत्पन्न हों ॥ २ ॥ हे प्रभु ! हमारे अंदर अथवा दूसरोंके अंदर वष करनेका भाव न रहे । वषका भाव ही हम सबसे दूर कर और तेरा बड़ा आश्रय—सुखपूर्व आश्रय—हमें दो ॥ ३ ॥ इस रीतिसे तेराही महान् सत्य शासन सबके ऊपर है, तुही सच्चा शत्रुओंका दूर करनेवाला और सर्वदा अपराजित है, तेरा मित्र बनकर जो रहता है न वषका वष कभी होगा और नहीं उसका कभी पराजय होगा ॥ ४ ॥

पूर्व सूक्तसे संबंध ।

पूर्व सूक्तके अंतमें “ ईश्वरभक्तियुक्त सत्यज्ञान ही मेरा सच्चा शब्द है ” यह विशेष बात कही है, उसी अ विशेष वर्णन इस सूक्तमें ही रहा है । सबसे पहिले आपसकी फूटकी दूर करनेकी सूचना दी है ।

आपसकी फूट हटा दो ।

“अ-दार-सूत भवतु ” इत्या अाचरण फूट हटाने-वाला हो, यह इस उपदेशका ताःपर्य है । देखिये—

दार=दूट (दू=रटना घात)

शर+सूत=दूटका प्रयत्न, फूटका कार्य ।

अ+दार+सूत=दूट हटानेवाला कार्य ।

“अ+दार+सूत भवतु” अर्थात् “आपसकी फूट हटानेवाला कार्य हम सबसे होता रहे । ” आपस की फूटके कारण शत्रु हमला करते हैं और शत्रुओंके हमले हो जानेपर हमें शत्रुओंके भगनेका यत्न करना पड़ता है । इसलिये सुदृढा कारण आपस की फूट है । यदि आपसकी फूट न होगी और सब लोग एक मनुष्य रहेंगे तो दूसरे लोग हमका करनेके विषे भी करेंगे । जहाँ आपसमें फूट होती है वहाँ शत्रुओंका हमला होता है । इसलिये सुदृढा कारण अन्तर्घटी फूटमें देवता और आपस की फूटके दूर करना

चाहिये । राष्ट्रीय सुखकी यही सुनिश्चय है ।

आपसकी फूट हट जानेके प्रभाव ही (मुक्त) सुख होनेकी संभावना है । अन्यथा सुखकी आशा नही है । आपसकी फूट हटानेसे जो लाभ होगा वह निम्नांकित प्रकारसे प्रथम मंत्रके उतरार्धमें वर्णन किया है ।

- १ अग्निना नः मा विद्द=पराजय हमारे पास न आवे,
- २ अशक्तिः मो=दुष्कीर्ति हमारे पास न आवे,
- ३ वृजिना नः मा=कुटिल हृत्स हमसे न हों,
- ४ द्वेष्या नः मा विद्वद्=द्वेष मार्ग हमारे पास न आवें ।

जिस समय हम आपसकी फूट हटायेंगे, उस समय हमें किसीके द्वेष करनेका कोई कारण नहीं रहेगा, किसीके कपट-युक्त कुटिल व्यवहार करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी, हमारा कभी परामव न होगा अथवा हमपर कोई कापति नहीं आवेगी और हमारी अपकीर्ति भी नहीं होगी, अर्थात् जब हम आपसकी फूट हटाकर आपना उतम संगठन करेंगे और एकता के बलसे आगे बढ़ेंगे, तब समय सब लोग हमारे मित्र बनकर हमारे साथ मित्रताका व्यवहार करेंगे, हम को सबके साथ सरल व्यवहार करते आवेंगे, एकताके कारण हमारा बल बढ़ेगा और उस हेतुसे कभी परामव नहीं होगा तथा हमारा दण फैलता जायगा । (मंत्र १)

द्वितीय और तृतीय मंत्रमें जो सोनिक वारंसे होनेवाले दुष्टोंके भंहारका वचन है, वह वचन भी हमारी आसर्क्य पूट के बाण ही दुष्ट लोग हमें सताते हैं और उनका वध करनेका प्रयोजन उत्पन्न होता है, अर्थात् यदि हमारा समाज सुसंगठित होगा तो उस वधभी जड़ही नष्ट होनेसे वह वध भी नहीं होगा और हमें (मङ्गल धर्म) बना सुख प्राप्त होगा । "धर्म" शब्दका अर्थ "सुख और आशय" है । पूर्वापर संबंधसे यहाँ परमेश्वरका आशय अभीष्ट है । क्योंकि सत्त्वा सुख भी परमात्माके आशयसे ही होता है । (मंत्र. २, ३)

बड़ा शासक ।

एक ईश्वर ही सबसे बड़ा शासनकर्ता है, उसके ऊपर करेंगे,

किसी अन्यका अधिकार नहीं है, सब उसीके शासनमें कार्य करते हैं, वही सर्वोपरि है । यह शत्रुताका सधा नाराक और कभी पराजित न होनेवाला है । यदि ऐसे समर्थ प्रमुखा मित्र बनकर कोई रहे तो उसका कभी नाश न होगा, और कभी पराजय भी न होगा । अर्थात् प्रमुखा मित्र बनकर व्यवहार करनेवालेका यह सर्वत्र फैलेगा और उसका ही नाम सर्वत्र होगा । (मंत्र ४)

एवं सूक्तमें जिस "ज्ञान-वचन, ब्रह्म-वर्म" का वर्णन किया है वह ब्रह्म-वचन यही है कि "परमेश्वरका शासन सर्वोपरि मानना और उसका सत्ता बनकर व्यवहार करना ।"

आशा है कि पाठक इस प्रकार प्रमुके मित्र बननेका यत्न

प्रजा-पालक-सूक्त ।

(२१)

(आधिः-अथवा । देवता-इन्द्रः)

स्वस्तिदा विद्यां पतिर्वृत्रहा विमृषो वृषी । धृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अमयंकुरः ॥ १ ॥
 वि नं इन्द्र मृषो जहि नीचा यच्छ पृतन्पतः । अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥ २ ॥
 वि रक्षो वि मृषो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज । वि मनुर्मिन्द्र वृत्रहन्मित्रस्याभिदासतः ॥ ३ ॥
 अपेन्द्र द्विपतो मनोऽपु जिज्यासतो वधम् । वि महच्छर्मै यच्छ वरीयो यात्रया वधम् ॥ ४ ॥

अर्थ (स्वस्ति-दा) मंगल देनेवाला, (विद्यां पतिः) प्रजाओंका पालक, (वृत्र हा) धरनेवाले शत्रुका नाश करनेवाला, (वि-मृषः वृषी) विषय जिसकोको वधमें करनेवाला, (वृषा) बलवान् । (सोम पाः) सोमका पान करनेवाला, (अमयंकुरः) अमय देनेवाला (इन्द्रः) प्रमु राजा (नः) हमारे (पुरः एतु) आगे चले, हमारा नेता बने ॥ १ ॥ हे इन्द्र । (नः मृषः) हमारे शत्रुओंको (निजहि) मार डाल । (पृतन्पतः) सेनाके द्वारा हमपर हमला करनेवालोंको (नीचा यच्छ) नीचेही प्रतिबंध कर । (यः अस्माँ अभिदासति) जो हमें दास बनाना चाहता है, या हमारा पाउ करना चाहता है, उसको (अधमं गमयः गमय) हीन अंधकारमें पहुँचा दे ॥ २ ॥ (रुजः मृषः वि विजहि) राजसी और द्विषकोंको मार डाल, [वृत्रस्य हनू विरुज] परकः हमला करनेवाले शत्रुके दोनों जबकों तोड़ दे । हे (वृत्रहन् इन्द्र) शत्रुनाशक प्रमो ! (अभिदासतः अमित्रस्य) हमारा नाश करनेवाले शत्रुके (मनुर्मिन्द्र) उन्साइको तोड़ दे ॥ ३ ॥ हे (इन्द्र) प्रमो ! राजन् ! (द्विपतः मनः अप) द्वेषीका मन बदल दे । [जिज्यासतः वधं अप] हमारी आयुधा नाश करनेवालेको दूर कर (महच्छर्मै विषच्छ) बना सुख हमें दे और (वरीयो यात्रया) वधको दूर कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—प्रजावर्तिका शक्ति और मंगल करनेवाला, प्रजाओंका उत्तम शासन करनेवाला, परक नाश करनेवाले शत्रुको दूर करने-वाला, बलिष्ठ, अनुत्पान करनेवाला, प्रजाको अमय देनेवाला राजा ही हमारा अमयानी बने ॥ १ ॥ हे राजन् ! प्रजाके शत्रुका नाश

कर, सेना लेकर हमला करनेवाले शत्रुको दबा दे, जो घातपात और नाश करना चाहता है उसको मगा दे ॥ २ ॥ हिमक भूर-शत्रुओंको मारहाल, चेर कर सतानेवाले दुर्षोको काट दो, सब प्रकारके शत्रुओंका उत्साह नाश कर दे ॥ ३ ॥ शत्रुओंके मन ही बदल दे अर्थात् वे हमला करनेका विचार छोड़ दें, नाश करनेवालोंको दूर कर दे, घातपात आदिको दूर कर और सब प्रजाको सुखी कर ॥ ४ ॥

शात्रघर्म ।

यह " अभयगण " का सूक्त है । इस सूक्तमें शात्रघर्मका उपदेश और राजाके कर्तव्योंका वर्णन है उसका मनन पाठक करें । उत्तम राजाके गुण प्रथम मंत्रमें वर्णन किये हैं । इम मंत्रकी कवीर्थासे राजा उत्तम है या नहीं इसके परीक्षा हो

सकती है । अन्य तीन मंत्रोंमें विविध प्रकारके शत्रुओंका वर्णन है और उनका प्रतिकार करनेका उपदेश है । सब प्रकारके अंतर्बाह्य शत्रुओंका प्रतिघार करके प्रजाको अधिकसे अधिक सुखी करना राजाका मुख्य कर्तव्य है । यह सूक्त अति सरल है इसलिये इसका अधिक स्पष्टीकरण आवश्यक नहीं है ।

[चतुर्थ अनुवाक समाप्त]

हृदयरोग तथा कामिलारोग

की चिकित्सा

(२२)

(ऋषिः—ब्रह्मा । देवता—सूर्य, हरिमा, हृद्रोगः)

अनु सूर्यमुदयतां हृद्योतो हरिमा च ते । गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥ १ ॥
परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वायं दध्मसि । यथाऽयमैरुपा असद्यो अहरितो भुवंत् ॥ २ ॥
यन् रोहिणीदेवत्याहुं गावां या उत रोहिणीः । रूपंरूपं वयोवयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि ॥ ३ ॥
शुकपु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि । अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

अर्थ—(ते हृद्-घोतः च हरिमा) तेरे हृदयकी जलन (और पीलापन सूर्य अनु उदयताम्) सूर्यके पीछे चला जावे । गोके अपवा सूर्यके (रोहितस्य देन वर्णेन) उस लाल रंगसे (त्वा परि दध्मसि) तुझे सब प्रकारसे हृष्ट गुण करते हैं ॥ १ ॥ (रोहितैः वर्णैः) लाल रंगोंसे (त्वा) तुझको (दीर्घायुत्वाय परि दध्मसि) दीर्घ आयुके लिये चले हैं । (यथा) जिनसे (अयं) यह (अ-रुपा असत्) मारोग हो जाय और (अ-हरितः भुवत्) पीला रोगसे मुक्त हो जाय ॥ २ ॥ (याः देवता रोहिणीः गावः) जो दिव्य लाल रंगकी गौवं हैं (उत या रोहिणीः) और जो लाल रंगकी किरणें हैं (तामिः) उनसे (रूपं रूपं) सुंदरता और (वयः वयः) बलके अनुसार (त्वा परि दध्मसि) तुम्हें चरते हैं ॥ ३ ॥ (ते हरिमाणं) पीला रोगको (शुकपु रोपणाकासु च) तोते और पौधोंके रंगोंमें (दध्मसि) धारण करते हैं (अथो) और ते (हरिमाणं) तेरा श्रीकापन इम (हारिद्रवेषु) इसी वनस्पतियोंमें (नि दध्मसि) रख देत हैं ॥ ४ ॥

भाषार्थ—तेरा हृदयरोग और पीला रोग सूर्यकिरणोंके साथ संबंध करनेसे चला जायगा । लाल रंगकी गौवं और सूर्यकी लाल किरणें होती हैं, इनके द्वारा नापोगता हो सकता है ॥ १ ॥ लाल रंगके प्रयोगसे दीर्घ आयु प्राप्त होता है, पीला रोग

दूर होता है और नीरोगता प्राप्त होती है ॥ २ ॥ काल रंगकी गीरे और बल रंगकी मूर्च्छितके दिव्य गुणोंसे युक्त होती है । रूप और बलके अनुसार उनमें द्वा । रोगी धरा जन्मे ॥ ३ ॥ इसकाल रंगकी चिह्नित्वासे रोगीका पलायन तथा परिधान दूर होना और वह हरे पक्षा और हरी वनस्पतियोंमें आकर निवास करेगा, अर्थात् रोगीके पाप फिर नहीं लावेगा ॥ ४ ॥

वर्णचिकित्सा ।

यह सूक्त " वर्णचिकित्सा " के मन्त्रवर्ण विषयका उपदेश दे रहा है । मनुष्यके हृदयका रोग और कामिया नामक पीला रोग बृष्ट देते हैं । अरबन, पेठके निवार, तथाष्ट, मद्यपान आदि अनेक कारण हैं, जिनके कारण हृदयके दोष उत्पन्न होते हैं । तदन अवस्थामें वीर्यदोष होनेके कारण भी हृदयके विचार उत्पन्न होते हैं । कामिया रोग रित्तके दूषित होनेके कारण उत्पन्न होता है । इन रोगोंके कारण मनुष्य क्रोध, निन्दन, पीडा, दुःख और दान होता है । इसलिये इन रोगोंको दूरकरना उपाय इस सूक्तमें बंद बताया गया है । सूक्तिकर्मा द्वारा चिकित्सा तथा काल रंगवाली गीओके द्वारा चिकित्सा करनेसे उक्त दोष दूर होते हैं और उत्तम स्वास्थ्य मिलता है ।

सूर्यकिरण-चिकित्सा ।

सूर्यकिरणोंमें सात रंग होते हैं अथवा रंगवाली दार्ष्टिकी सहायतासे इष्ट रंगके किरण प्राप्त किये जा सकते हैं । नये शरीरपर इन किरणोंको रक्षनेसे आरोग्य प्राप्त होता है और रोग दूर होते हैं । यह रंगीन सूर्यकिरणोंका स्नान ही है । यह नये शरीरसे ही करना चाहिये । छतपर काल रंगके शीशे रखनेसे कमरमें कालरंगकी किरणें प्राप्त हो सकती हैं, इसमें नये शरीरसे रहनेसे यह चिकित्सा साध्य हो सकती है ।

विष प्रकार उक्त रोगोंके लिये काल रंगकी किरणोंके चिकित्सा होती है उसी प्रकार अन्यन्व रोगोंके लिये अन्यन्व वर्णोंकी सूर्यकिरणोंसे चिकित्सा होना संभवनीय है । इसलिये सुशोरय वैद्य इसका आधिक विचार करें और सूर्यकिरण-चिकित्सासे रोगियोंके रोग दूर करके जनताके सुखकी दृष्टि करें ।

परिधारण विधि ।

सूर्यकिरण-चिकित्साके " परिधारण विधि " का मन्त्र है इस सूक्तमें " परि धनमे " चन्द्र उर वार, " निदम्पति " चन्द्र एक वार और " दम्पति " चन्द्र एक वार आया है । " चारी औरसे धारण करना " यह पाठ इन चन्द्रोंसे ध्यक्त होता है । शरीरके चारों ओरसे संबन्ध करनेका नाम " परि-धारण " है । जिस प्रकार तातावक पानीमें तैलसे शरीरके रूप जलका परिधारण हो सकता है, उसी प्रकार काल रंगकी

सूर्यकिरणोंके कमरमें निकर उसमें नये शरीर रहना और शरीरके उत्तम पुनरुत्पन्न करनेका परिधारण साध्य काल रंगके सूर्यकिरणोंका संबन्ध करना परिधारण विधि का तात्पर्य है ।

१ रोगीके लिये परिदम्पति । (मंत्र २)

२ शीशेयुक्तपरिदम्पति । (")

३ गो रोहितरूप वर्णन तथा परिदम्पति । (मंत्र १)

४ शक्तिरूप परिदम्पति । (मंत्र ३)

ये सब मंत्रभाग एक वर्णके सूर्यकिरणोंका स्नान अर्थात् " परिधारण " करनेका विधान कर रहे हैं । रोगीको नये शरीर पूर्वक एक वर्णके शीशेके कमरमें रखने और उसके शरीरका संबन्ध एक वर्णकी सूर्यकिरणोंके साथ करनेसे यह परिधारण हो सकता है और इससे नीरोगता, रूप कायुष्म-प्राप्ति तथा वनस्पति भी हो सकती है । अन्यन्व रोगोंके निवारणके लिये अन्यन्व वर्णोंके किरणोंकी स्नानोंकी योजना करना बहुत वैदिकी बुद्धिमत्तापर निर्भर है ।

रूप और बल ।

रूप और बलके अनुसार यह चिकित्सा, यह परिधारण-विधि अथवा किरण-स्नान करना योग्य है यह सूचना लून्य मंत्रके उत्तरार्धमें पाठक देख सकते हैं । काल अर्ध शरीरका काल, शरीरका रंग और शरीरकी सुकुमारता है । यदि गोष्ठ शरीर हो, यदि सुकुमार सुकुष्ठ शरीर हो तो उनके लिये किरण किरण स्नान देना चाहिये, उसके लिये सर्वेच्छा कोमल प्रकार, या दोषहरका कठोर प्रकार करना चाहिये, इत्यादि विचार करना वैदिकी कार्य है । जो बाले शरीरके लिये सुकुष्ठ या कठोर शरीरवाले-होते हैं उनके लिये धारणस्नानप्रकार प्रयोग भी भिन्न होना योग्य है । तथा जो परममें बढनेवाले लोग होते हैं और जो धूममें धार्य करनेवाले होते हैं उनके लिये भी उक्त प्रमाण न्यूनाधिक होना उचित है । इस विचारका नाम ही " रूप और बलके अनुसार विचार " कहना है । (ऊर्ध्व वर्ण वर्णो बधः) यह प्रमाण दर्शानेवाला मंत्रभाग अत्यंत महत्त्वका है । रोगीकी कोमलता या कठोरता, रोगीका रंग, रोगीका रहना सहना, रोगीका पेशा, उसकी आयु तथा शारीरिक बल इन सबका विचार करके किरणस्नानकी योजना करना चाहिये । यही तो चीनक प्रतिभावानेकी अथिक्त स्नान देनेसे आपोमके

स्थानपर बनायेगा होगा । अपना कठोर प्रकृतिवाले को अल्प प्रमाणमें देनेसे उपपर कुछ भी परिणाम न होगा । इस दृष्टीसे वृत्तीय मंत्राग उत्तरार्ध बहुत मन्त्र करने योग्य है ।

रंगीन गौके दूधसे चिकित्सा ।

इसी मूल्यसे रंगीन गौके दूधसे रोगीकी चिकित्सा करनेकी विधि भी बना दी है । गौबें मकेंद, कांटे, लाल, भूरे, नमवारी, बाधामी तथा विविध रंगके धन्नोंवाला होनी हैं । सूर्यकिरणों गौकी पीठपर गिरता है और उन कारण रंगके भेदके अनुसार दूधपर भिन्न परिणाम होता है । श्वेत गौके दूधका गुणधर्म भिन्न होगा, काले रंगकी गौका दूध भिन्न गुणधर्मवाला होगा, लाल गौका दूध भिन्न गुणधर्मवाला होगा, उसा प्रकार अन्यान्य रंगवाली गौओंके दूधके गुणधर्म भिन्न होंगे । एक बार वर्ण-चिकित्सा या तद्वत् मन्त्रोंपर यह परिणाम मानना ही पड़ता है । इसीविषये इस मूलके मंत्र ३ में 'रोदिणीः गावः' अर्थात्

लाल गौबोंके दूधका तथा अन्यान्य गौबोंका उपयोग हृदय विचार और कामला रोगकी निवृत्तिके लिये करनेका विधान है । यह विधान मन्त्र करनेसे बड़ा बोधप्रद प्रतीत होता है । और इसके मन्त्र करनेसे अन्यान्य रोगोंके लिये अन्यान्य गौबोंके गोरनोंत उपयोग करनेका उद्देश भी प्राप्त होगा । वर्ण-चिकित्सा का ही तत्त्व गोदुग्ध-चिकित्साके विषये वर्ता जायगा । दोनोंके बीचमें तद्वत् एक ही है ।

पथ्य ।

वर्ण-चिकित्साके साथ साथ गोरस क्षेत्रना पथ्य रखनेसे अधिक लाभ जाना संभवनीय है । अर्थात् लालरंगके किरणोंके परिभारक करनेके दिन लाल गौके दूधसे सेवन करना इत्यादि प्रकार यह पथ्य समझना उचित है ।

इस प्रकार इस सूक्तका विचार करके पाठक बहुत लाभ प्राप्त कर सकते हैं ।

श्वेतकुष्ठ-नाशन-सूक्त ।

(२३)

(ऋषिः—अश्वर्वा । देवता—ओषधिः)

नक्तंजातास्पोषधे रामे कृष्णे आर्षिकिन च । इदं रजान रज्य क्लिासं पलितं च यत् ॥ १ ॥
 क्लिासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् । आ त्वा स्वो विशुष्वां वर्णः परां शुक्लानि पादया ॥ २ ॥
 अर्षितं ते प्रलयनमास्थानुमर्षितं तव । अर्षिकन्यस्योपधे निरितो नाशया पृषत् ॥ ३ ॥
 आश्विजस्य क्लिासस्य तनुजस्य च यश्चाचि । दृग्णा कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्मं श्वेतमनीनि ॥ ४ ॥

अर्थ—हे रामा कृष्णा और आर्षिकन ओषधि । तू (नक्तं जाता अस्ति) रात्रिके समय उत्पन्न हुई है । हे (रजनि, रज देनेवाली) (यत् क्लिासं पलितं च) जो कुष्ठ और श्वेत कुष्ठ है (इदं रजय) उससे रंग दे ॥ १ ॥ (इतः) इसके शरीरसे (क्लिासं पलितं) कुष्ठ और श्वेत कुष्ठ तथा (पृषत्) धन्ने आदि मन्त्र (निः नाशय) नष्ट कर दे । (शुक्लानि परा पातय) श्वेत धन्ने दूर कर दे (स्वः वर्णः) अपना रंग (त्वा) तुझे (आर्षिकतां) प्राप्त हो ॥ २ ॥ (ते रजयन्) तेरा लयस्थान (आश्विज) कृष्ण वर्ण है तथा (तव अवस्थानं) तेरा स्थान भी (अर्षितं) काला है दे और दे । (अर्षिकनी आनि) कृष्णे । कृष्णी है इसलिये (इतः) यद्यपि (पृषत्) धन्ने (निः नाशय) नष्ट कर दे ॥ ३ ॥ (दृग्णा कृतस्य, श्वेतके कारण उत्पन्न हुए (अर्षिकस्य तनुजस्य च) दृष्टीसे तथा शरीरसे उत्पन्न हुए (क्लिासस्य यत् स्वधि श्वेतं लक्ष्मं) कुष्ठका जो स्वभावर श्वेत चिह्न है उसका (ब्रह्मणा अनीनदाम्) इन ज्ञानसे मैंने नाश किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—रामा कृष्णा अर्षिकनी ये श्वेत रंग हैं, इनका पोषण रात्रिके समय होता है, इनमें रंग बदलनेका सामर्थ्य है ।

इत्थान्नि येनने श्वेत्कृष्ट दूर होता है ॥ १ ॥ शरीरपर जो श्वेत कृष्टके धम्मे होते हैं, उन श्वेत धम्मेही इस औषधिके लेपनमे दूर कर दे और अपनी कमरीय लक्ष्मी रंग गरीरपर आने दें ॥ २ ॥ यह वनस्पति नष्ट होनेपर भी काला रंग बनता है, जलक प्याज काने रंगका होना है और वनस्पति भी स्वयं काने रंगवाली है, इसी कारण यह वनस्पति श्वेत धम्मेको दूर कर देगी ॥ ३ ॥ पुष्पाकारके दोषसे उत्पन्न, दृष्टिसे उत्पन्न, मांसे उत्पन्न हुए सप्त प्रकारके श्वेत कृष्टके धम्मेको इस रीतिसे दूर किया जाता है ॥ ४ ॥

श्वेतकृष्ट ।

शरीरका रंग गमनी या होता है। गोरे कालेया भेद होनेपर भी कमरी या एक शिक्का रंग होता है। जो रंग नष्ट होनेसे कमरीय श्वेतसे धम्मे दिखाई देने हैं। उनका नाम ही श्वेत कृष्ट होता है। यह श्वेत कृष्ट शरीरपर होनेसे शरीरका रंग नष्ट होता है और सुकोल सुंदर मनुष्य भी दुर्बलता दिखाई देता है, इत्थान्नि इय (श्वेत लक्ष्म) श्वेत चिन्ह-श्वेत कृष्ट-दूर करनेका उपाय देने का बताया है।

निदान ।

वेद इस श्वेत कृष्टके निदान इस सूत्रमें निम्न प्रकार देता है—

(१) दृष्ट्या वनस्प-शोणयुक्तं कृत्वा कर्पात् दोषपूर्णं आचारणम् । सदाचार न होनेसे अथवा आचार-विषयक कोई दोष धूमने रहनेसे याः कृष्ट होता है। त्रिप प्रकारसे श्वेतदोषसे तथा कुलक दोषसे भी यह कृष्ट होता है।

(२) कल्पितजम्ब—अस्थित दोषने यह होता है।

(३) कल्पितजम्ब—शारीरिक अर्थात् मानके दोषसे होता है।

(४) कल्पित-वमशंके अंदर कृष्ट दोष होनेसे भी यह होता है।

ये दोष सके सप्त हों या इनमेंसे थोड़े हों यह कृष्ट हो जाता है।

दो भेद और उनका उपाय ।

इस कृष्टमें दो भेद होते हैं, एक विलास और दूसरा पलित। पलित कृष्टने केवल श्वेतलक्ष्मी ही दोष होता है इस कारण यह श्वेत धम्मेका वापक रूप है। इसरोछोडकर दूसरे कृष्टका नाम विलास प्रतीत होता है, जिसमें कमरी विरूपता बनी ही सुयोग्य वैद्य इन धम्मेका अर्थ निश्चय करें।

“ रामा, कृष्णा, अमिक्नी ” इन औषधियोंका इस कृष्टपर उपयोग होता है। ये नाम निश्चयमे किन औषधियोंके वापक हैं और किन औषधियोंका उपयोग इस कृष्टके निवारण

करनेके लिये ही सचता है, यह निश्चय केवल कृष्ट श्वेत नदी का सचता; न यह विषय केवल कोषोधी सहायतासे दूर हो सकता है। इस विषयमें केवल सुयोग्य वैद्य ही निश्चित मत दे सकते हैं, तथा वे ही योग्य मार्गसे खोज कर सकते हैं। इसलिये इस लेखद्वारा वैद्योंको प्रेरणा देना ही यहां इभावा कार्य है। वेदमें बहुत विद्याई होनेसे अनेक विद्याओंके पंडित विद्वान् भिन्नभेद ही वेदकी खोज हो सकती है। अतः सुयोग्य वैद्योंको ध्यायुर्वेदविषयक वेदमागधी खोज लगानी चाहिये और यह प्रत्यक्ष विषय होनेसे इन औषध्यादेका प्रयोग करके ही इसका सप्रयोग प्रतिपादन करना चाहिये। आशा है कि वैद्य और डाक्टर इस विषयमें योग्य सहायता देंगे।

रंगका घुसना ।

कई लोग समझते हैं कि ऊपर ही ऊपर वनस्पतिका रस आदि लगानेसे कमरीका ऊपरका रंग बदल जाता है, परंतु यह सत्य नहीं है। इस सूत्रके द्वितीय मंत्रमें—

आ त्वा स्वो विग्रतां वर्णः ।

“ अपना रंग अंदर घुस जाय ” यह मंत्रमार्ग बतल रहा है कि इन औषधियोंका परिणाम नमरीके अंदर ही होगा अर्थात् है, न कि केवल ऊपर ही ऊपर। ऊपर परिणाम हो परंतु “ विग्रतां ” किया “ अंदर घुसने ” का भाव बता रही है। इसलिये कमरीके अंदर रंग घुस जाता है और वही वह स्थिर हो जाता है। यह मंत्रका कथन स्पष्ट है।

औषधियोंका पोषण ।

औषधियोंका पोषण दिनके समय होता है या रात्रिके समय, यह प्रश्न सके प्राश्नीय सदस्वका है। औषधियोंका रामा सोम-चंद्र-दे, इसलिये औषधियोंका पोषण और वर्धन रात्रिके समय होना है। यही बात “ नवतं जात ” धम्मेसे इस सूत्रमें बताया है। रात्रिके समय बनी कवी या पुत्र हुई औषधि होती है। प्रायः सभी औषधियोंके संबंधमें यह बात सत्य है ऐसा हमारा प्याज है। वनस्पति विद्या ज्ञाननेवाले लोग इस कथनक अधिक विचार करें।

“सौमन्य-वर्धन” के (१८ वें) सूक्तमें मौर्यवर्धनका पाठक इय सूक्तको पूर्वोक्त १८ वें सूक्तके साथ पढ़ें । आशा है उपदेश दिया है, इसलिये उष कार्यके लिये श्वेत कुष्ठ यदि कि पाठक इस प्रकार पूर्वोक्त संबंध देखकर सूक्तार्थके किर्त्तको हो, तो उषका दू करना आवश्यक ही है । अतः अधिकसे अधिक काम उठावें ।

कुष्ठ-नाशन सूक्त ।

(२४)

(ऋषिः—ब्रह्मा । देवता—आसुरी वनस्पतिः ।)

सुपर्णो जातः प्रथमस्तभ्यु त्वं पितृमांमिथ । तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् ॥ १ ॥
 आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम् । अनीनशक्किलामं सरूपामकरुचचम् ॥ २ ॥
 सरूपानामं ते माता सरूपो नामं ते पिता । सरूपकरुचमोषधे सा सरूपामिदं कृधि ॥ ३ ॥
 श्यामा सरूपंकरणी पृथिव्या अधुञ्जता । इदमु पु प्र सांघपु पुनां रूपार्णि कल्पय ॥ ४ ॥

अर्थ—सुपर्ण (प्रथमः जातः) सबसे पहिले हुआ (त्वत् पितृ) उषका पित (इत् आंमिथ) तूने प्रात किया है । (युधा जिता) युद्धमें जीता हुई यह आसुरी (वनस्पतीन्) वनस्पतिमेंको (तत् रूपं चक्रे) वह रूप करती रही ॥ १ ॥ (प्रथमा आसुरी) पहिली आसुरीने (इदं किलास-भेषजं) यह कुष्ठका औषध (चक्रे) बनाया । (इदं) यह (किलास-नाशनं) कुष्ठ रोगका नाश करनेवाला है । इसने (किलासं) कुष्ठका (अनीनशत्) नाश किया और (त्वचं) त्वचाके (स-रूपानां) समान रंगवाली (अकरुत्) बना दिया ॥ २ ॥ हे आसुरी ! तूने माता (सरूप्या) समान रंगवाली है तथा तेरा पिता भी समान रंगवाला है । इसलिये (त्वं स-रूप-कृत्) तू भी समानरंग करनेवाली है (सा) वह तू (इदं सरूपं) इसको समान रंगरूपवाला (कृधि) कर ॥ ३ ॥ श्यामा नामक वनस्पति (सरूपं-करणी) समान रूपरंग करनेवाली है । यह (धृषिभ्याः) अधुञ्जता) पृथ्वीमें उखाड़ी गई है । (इदं उ सु प्रसाधन) यह कर्म ठीक प्रकार जिक्र कर और (पुनः रूपार्णि कल्पय) फिर पूर्ववत् रंगरूप बना दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—सुपर्ण नाम सुर्प है उसकी किर न पित बढानेकी शक्ति है । सूर्यकिरणों द्वारा वह पित वनस्पतियोंमें संचित होता है । योग्य उपायोंसे स्वर्धन बनी हुई वनस्पतयों रूप रंगका सुधार करनेमें सहायक होती हैं ॥ १ ॥ आसुरी वनस्पतिसे कुष्ठ रोगके लिये उक्त औषध बनाया है । यह नियमसे कुष्ठ रोग दूर करती है और इसमें शरीर की त्वचा समान रंग रूपवाली बनती है ॥ २ ॥ जिन पौधोंके संयोगसे यह वनस्पति बनती है, वे पौधे (अर्थात् इसके माता पितारूपी पौधे भी) शरीरका रंग सुधारनेवाले हैं । इसलिये यह वनस्पति भी रंगका सुधार करनेमें समर्थ है ॥ ३ ॥ यह श्यामा वनस्पति शरीर की चर्मरङ्गका रंग ठीक करनेवाली है । यह भूमिमें उखाड़ी हुई यह कार्य करती है । अतः इसके उपयोगसे शरीरका रंग सुधारा जान ॥ ४ ॥

वनस्पतिके माता पिता ।

इस सूक्तके तृतीय मंत्रमें वनस्पतिके मातापिताओंका वर्णन है अर्थात् दो वृक्षवनस्पतियोंके संयोगसे बननेवाली यह तीसरी वनस्पति है । दो वृक्षोंके कटन जोड़नेसे तीसरी वनस्पति विशेष

गुणधर्मसे युक्त बनती है, यह उद्यानशास्त्र जाननेवाले जानते ही हैं । कुष्ठनाशक श्यामा आसुरी वनस्पति इस प्रकार बनायी जाती है । शरीरके रंगका सुधार करनेवाली दो औषधियोंके संयोगसे यह श्यामा बनती है । जो आधाराका पौधा होता है उषका

नाम माता और जिसकी शाखा उसपर चिरन्तनी या जोड़ी जाती है वह उसका पिता तथा उस संयोगसे जो नयी वनस्पति बनती है वह उसका दादाका पुत्र है । पाठः इस उद्यान-विद्याको ह्य मंत्रमें देखे । (मंत्र ३)

सरूप-काण ।

शरीरके वास्तविक रंगके समान वृष्टीरंगके रंगानके चमड़ेका रंग बनाना "सरूपकरण" का तात्पर्य है आत्मी श्यामा वनस्पति यह करती है इसीप्रिये वृष्टीरंगपर इसका उपयोग होता है । (मं. २-३)

वनस्पतिपर विजय ।

"युद्धसे जीतां हुई आत्मी वनस्पति औषध बनाती है ।" यह प्रथम मंत्रका कथन विशेष मननीय है । वैद्यकी ११११११ दवापर इस प्रकार प्रभुत्व संग्रहण करना पड़ता है । औषधि उसके हाथमें अनेकी आवश्यक्ता है । वनस्पतिके गुणधर्मोंमें पूर्ण परिचय और उसका उपयोग करनेका उत्तम ज्ञान वैद्यको होना आवश्यक है । नहीं तो औषध विद नहीं कहा जा सकता । (मं. १)

सूर्यका प्रभाव ।

सूर्यमें नाना प्रकारके बीज हैं । वे बीज किरणों द्वारा वनस्पतियोंमें जाते हैं । वनस्पतिद्वारा वे ही बीज प्राप्त होते हैं और रोगनाश अथवा बलवर्धन करते हैं । इस प्रकार यह सब

सूर्यका ही प्रभाव है । (मं. १)

सूर्यसे बीज-प्राप्ति ।

सूर्यसे नाना प्रकारके बीज प्राप्त करनेकी यह सूचना बहुत ही मनन करने योग्य है ।

सूर्य आत्मा जगत्स्वरूपश्च । (ऋग्वेद १ । ११५ । १)

"सूर्य ही स्थावर जंगम या आत्मा है" यह वेदध उपदेश भी यही मनन करना चाहिये । जब सूर्यसे नाना प्रकारसे बीज प्राप्त करते हैं हम अधिक बीजवान हो जायेंगे तभी यह मंत्रमाग हमारे अनुभवमें आ सकता है ।

जैसे शरीर रक्षाकारणोंमें विचरनेसे और सूर्यकिरणोंद्वारा अपनी चमड़ी अच्छी प्रकार तरानेसे शरीरके अंदर सूर्यका जीवन संचारित होता है इसी प्रकार सूर्यमें तथा हुआ वायु प्राणायाममें अंदर लेनेके अभ्यासमें श्वशरोर्ममें भी बड़ा लाभ पहुंचता है । इसी प्रकार कई रीतियोंमें हम सूर्यसे बीज प्राप्त कर सकते हैं । गठक स्वयं इसका अधिक विचार करेंगे तो उनसे बहुत बोध प्राप्त हो सकता है ।

बीजोंको उचित है, कि वे खोजते श्यामा वनस्पतिको प्राप्त करें और उसके योगसे कुछ गीत दूर करें । तथा सूर्यसे अनेक बीज प्राप्त करनेके उपाय खूबका निश्चय दें और उनका उपयोग आरोग्य वृद्धिमें करते रहें ।

शीत-ज्वर-दूरीकरण सूक्त ।

(२२)

(ऋषिः-भृगुः । देवतः-अग्निः, तक्मा ।)

यदुमिरापो अदं हत्सुविहसु यत्राकृण्वन् धर्मधृतो नमांसि ।

उत्रं त आहुः परमं जनित्रं स नः संविद्वान् परिं वृग्धि तक्मन् ॥ १ ॥

ययुर्विर्यद्वि वामिं शोचिः शंकर्येषि यदि वा ते जनित्रं ।

न्हृदुर्नामामि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परिं वृग्धि तक्मन् ॥ २ ॥

यदि शोको यदि वाऽभिगाको यदि वा राज्ञो वरुणस्यासि पुत्रः ।

न्हृदुर्नामांसि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परिं वृग्धि तक्मन् ॥ ३ ॥

नमः शीतार्थं तुक्मने नमो ह्यगमं शोचिषे कृणोमि । १७२६८,

यो अन्येद्युर्कमप्युचुरभ्येति तृतीयकाय नमो अन्तु तुक्मने

॥ ४ ॥

अर्थ—(यत्र) जहां (धर्म-घृतः) धर्मका गहन करनेवाले सदावारी लोग (नमोऽसि हृष्यन्) नमस्कार करते हैं, वहां (प्रविश्य) प्रवेश करके (यत् भगिनिः) जो अग्नि (वायु, अद्भुत्) प्राणधारक जलतत्वगो जगता है (यत्र) वहां (से परमं अनित्रं) तेरा परम जन्म स्थान है, ऐसा (बाहुः) कहते हैं । हे (तुक्मन्) कष्ट देनेवाले ज्वर ! (सः संविद्वाद्) आनना हुआ तू (नः परि वृणिव) हमको छोड़ दे ॥ १ ॥ (यदि शोचिः) यदि तू ज्वारूप, (यदि वा शोचिः शसि) अथवा याद तापरूप हो, (यदि ते अनित्रं) यदि तेरा जन्म स्थान (वाक्त्व-हृषि) अंगप्रसंगमें परिणाम करता है, तो तू (चूडः नाम शसि) चूड [अर्थात् गति करनेवाला] हम नामका है । अतः हे ! हरितस्य देव तुक्मन् ! पीलक रोगको उत्पन्न करनेवाले ज्वर देव ! (सः संविद्वाद्) वह तू यह जानता हुआ (नः परि वृणिव) हमें छोड़ दे ॥ २ ॥ (यदि शोकः) यदि तू पीडा देनेवाला अथवा (यदि अग्नि शोक) यदि सर्वत्र पीडा उत्पन्न करनेवाला हो, (यदि परमस्य राज्ञः पुत्रः शसि) किंवा वरुण राजाका तू पुत्र ही क्यों न हो, दुन्दुषा नाम चूड है । हे पीलक रोगके उत्पन्न करनेवाले ज्वर देव ! तू हम सबको यह जलक छोड़ दे ॥ ३ ॥ (शीतार्थं तुक्मने नमः) शीत ज्वरके लिये नमस्कार, (ह्यगमं शोचिषे नमः कृणोमि) श्लेष्ठापको भी नमस्कार करता हूं । (यः अन्येद्यु) जो एक दिन छोड़कर आनेवाला ज्वर है, (उच्यते) जो दो दिन आनेवाला (अन्येति) होता है, जो (तृतीयकाय) निहारी है, उस (तुक्मने नमः अस्तु) ज्वरके लिये नमस्कार होवे ॥ ४ ॥

मातृव्य-धार्मिक लोग जहां प्राणयामद्वारा पहुंचे, जानकर उसके प्रणाम भी करते हैं उस प्राणके मूलस्थानमें पहुंचकर यह ज्वरका अग्नि-प्रणाली-प्रकारके प्रकृतिको जल देता है । यह जानकर इससे मनुष्य बचे ॥ १ ॥ यह ज्वर बहुत कारकी तपिस-सजानेवाला हो किंवा अदर हो, अंदर टपनेवाला हो, किंवा हरेक अंग-प्रसंगमें कमजोर करनेवाला हो, यह ज्वर ही जीवनके अनुर्धो हिला देता है इसलिये इसको " चूड " कहते हैं, यह पांडुरोग अथवा क्षमिला रोगको उत्पन्न करता है, यह जानकर इससे मनुष्य बचाव करे ॥ २ ॥ कई ज्वर विशेष अंगमें दर्द उत्पन्न करते हैं और कई संयुक्त अंगप्रसंगमें पीडा उत्पन्न करते हैं जलगत, वरुणसे इनकी उत्पत्ति होती है, यह हरेक अंगप्रसंगको हिला देता है और पीलक रोग शरीरमें उत्पन्न करता है । इसलिये हरेक मनुष्य इनसे बचना रहे ॥ ३ ॥ शीत ज्वर, ह्रस्व ज्वर, प्रतिदिन आनेवाला, एकदिन छोड़कर आनेवाला, दो दिन छोड़कर आनेवाला, तीसरे दिन आनेवाला ऐसे अनेक प्रकारके जो ज्वर हैं उनको नमस्कार हो अर्थात् ये हम सबमें दूर रहें ॥ ४ ॥

ज्वरकी उत्पत्ति ।

यह " तुक्मनाशन यम " का सूक्त है और इस सूक्तमें ज्वरकी उत्पत्ति निम्नलिखित प्रकार लिखी है ।

वरुणस्य राज्ञः पुत्रः । (मंत्र ३)

यह " वरुण राजाका पुत्र है । " अर्थात् वरुणसे इसकी उत्पत्ति है । जलका अधिपति वरुण है यह सब जानते ही हैं । वरुण राजाके जन्मकी साम्राज्यमें यह जन्म लेता है । इसका सीधा आशय यह व्यक्त हो रहा है कि जहां जल स्थिररूपमें रहता या सजता है वहांमें इस ज्वरकी उत्पत्ति होती है । आशुत भी प्रायः यह बात निश्चित ही चुकी है कि जहां जल प्रवाहित नहीं होता पंतु रुका रहता है, वहां ही शीतज्वरकी उत्पत्ति होती है और शीतज्वर ऐसे ही स्थानोंमें फैलता है ।

यदि यह ज्ञान निश्चित हुआ तो ज्वरनाशक पहिला उपाय यही हो सकता है कि अपने परके आसपास तथा अपने प्रसंगमें अथवा निकट कोई ऐसे स्थान नहीं रखने चाहिये कि जहां जल रुकना और भटला गे। पाठक ज्वरनाशक इस प्रथम और सबसे मुख्य उपायका विचार करे । और इससे अपना काम उठवे ।

ज्वरका परिणाम ।

इस सूक्तमें ज्वरका नाम " चूड " लिखा है । इसका अर्थ " गति करनेवाला " है । यह ज्वर जब शरीरमें आता है तब शरीरके सुप्तमें तथा अंगप्रसंगोंके जीवन-नरवमें गति उत्पन्न करता है । और इस कारण अंगप्रसंगका जीवननाश भाप्य उत्पन्न करता है । वही बात प्रथम मंत्रमें कई- -

कानिः काः कदहृद् ॥ (मंत्र १)

'मद् ज्वर आंवरसो ही जला देता है ।' इयो अरण ज्वरसे आंगरेयो शक्ति कम होती है । आत्स्व प्रणयोजन का धारण करनेवाला है । (आध्यात्म) आत्स्वधर्म प्रीति है यह उपनिषदोका वचन है । प्राक काधयका पीरत्य आत्स्व इत उपके शात जत गता है, इयो कागज उवा आयेप जीवन राक वन हो आती है । इयो काये इत ज्वरको पीलक योगा उत्पन्नक वहा है । देखिये—

हवित्स्व देव ! (मंत्र २, ३)

'पीलावन उत्पन्न करनेवाला' शीघ्र सिद्धि वननेवाला, पीलकोग, शनिला, पीपुली, आंवरसका सब करनेवालागैप इन सबका उपायक जवा है । यह उवा इतने मधुपत्र गोगेयो उत्पन्न कनेवाला है, इतलिये इतसे मधुपत्रो अपने कायका बचाव करना चाहिये । यह उवा प्राणकी मूत्र एतानर इतला क के जगोको कमजोर करता है । इत विषयमें यह मंत्र देखिये—

यदनिषापो कदहृत् षड्विंश यथाकृपवत्
धर्मपूतो ननांसि ॥ (मंत्र १)

'कहां धार्मिक लोग जाकर मजन करते हैं वहां प्रसिद्ध होकर यह कानि-ज्वर-आग धाक आंवरसकी जलाता है ।' योगादि धारणद्वारा धार्मिक लोग समाधि अवस्थामें इनमें कमलमें प्रसिद्ध होत हैं, उनी हृदयमें जीवनका रस है, वही रस-ज्वरके जलाता है, अर्थात् ज्वरका हृदयपर बहुत सुख पोषण होता है, जिससे बहुत कमजारी को उत्पन्न होती है । इसी कारण यह उवा पीलक रोग अपना पादुगेप उत्पन्न करता है ऐसा सूक्ष्मे द्वितीय मंत्रमें कहा है । यह हिमज्वर जिसको काधयस " मनेरेका " कहा जाता है बहुत शूल ही इति-कारक है । इसलिये उसको हारक प्रयत्नसे दूर रखना चाहिये, यही निजसिद्धि मंत्रभागमें सूचित किया है—

स नः संविहान् परिबुधिष्य त्वनन् ॥ (मंत्र १, २, ३)

' यह बात जानना हुआ ज्वर दूर रखा जाय " अर्थात् ज्वरके धारण पर करके उत्तमा हमला मधुपत्र न हो इस विषयमें योग्य प्रयत्न किये जाय । ज्वर कानिके बाद उसके मातिधारका मजन करना चाहिये इसमें किशोका विषाद नहीं हो सकता, परंतु इस स्थितिमें वेद वही अर्थात् देना चाहता है, कि कानिके धारण और प्रानकी व्यवस्था मनुष्य इस प्रकार रखे कि यह मलेरिया ज्वर आगेही न और उसके निवारणके लिये दवाइयां पीनी न पडे । क्योंकि यह रोग दूषणा पादक है कि

एक बात जाना हुआ हिमज्वर कानिके परिणाम सिद्ध करने परीरने रस जाता है और उसके निवारणके लिये बर्षातक और बड़े व्ययसे मजन करने आवश्यक होते हैं ।

हिमज्वरके नाम ।

इत सूत्रमें हिमज्वरके निजसिद्धि नाम दिये हैं—

१ मूत्र-गति उत्पन्न करनेवाला, शरीरमें रस उत्पन्न करनेवाला, वक्का रस जिस समय प्रान होता है, उस समय मनुष्य बंरने लगता है । मांसि मांसमें इत दिन ज्वरका नाम " हुक्कटा रस " है, यह उवा नी बरिध " मूत्र " शब्दके साथ मिलता जुलता है । यही मूत्र विनिष्कृतलाघत पुलकामें निजसिद्धि प्रथम विधा हुआ निकलता है हुक्क, मूत्र, मूत्र, हुक्क, हुक्क, हुक्क, हुक्क, हुक्क । अन्तरे-दही निजलाद राका ही संज्ञितमें " हुक्क " पाठ है । यह " हुक्क " उवा मयलें " हुक्कटा " उवाकेही साथ उवा है । (मंत्र २, ३)

२ पांडिः—ये ज्वर रसि लय कर प्रान होता है ॥ यदे प्रतिदिन आनेवाला सप्तमला उचित है । (मंत्र ४)

३ कन्देष्टः—एक दिन छोडकर आनेवाला । (मं० ५)

४ उन्नपटुः—दुनो दिन कानिकात्त अवस्था दो दिन छोडकर आनेवाला । (मं० ४)

५ एतविकः—तीसरे दिन कानिकात्त द्विवा तीन दिन छोडकर आनेवाला अथवा नियत दिन बीचमें छोडकर आनेवाला । (मं० ४)

६ तननाः—जीवन दुःखमय करनेवाला ज्वर ।

७ कानिः—कानिकी उत्पत्तिः मूत्रकेके समान जिसकी उत्पत्ता बाहर बहुत होती है । (मं० २)

८ शोथिः, शोथ-जिसमें शरीरमें फोटा रोती है (मं० २)

९ शकलः—इयो-अंग-प्रत्येक अवयव अलग होनेके समान शिथिलता आती है । (मं० २)

१० कानिकोक्त-जिसमें सब शरीर दबा दर्द करता है । (मं० ३)

इत नामोंका विचार करनेसे इत ज्वरके स्वरूपका पता लग सकता है और निषय होता है कि यह रोग पीपुली ज्वरके मलेरिया अत्यन्तक कहते हैं इसका ही है ।

धरके पाप जल सकता न रहे, धरके दानकी मृत्ति ऊप्यो रहे और किशो मी कानिके इत रोगकी उत्पत्ति होनेसे निषय परिशिष्टि न हो, इसी प्रकार मंत्रमें और धरके कावचन भी

स्नान योग्य और आरोग्य कारक हो, जिससे यह रोग उत्पन्न ही न होगा । क्योंकि यह ज्वर जलके दलदलसे उत्पन्न होता है । इसीलिये “ जल देवताका पुत्र ” इसका एक नाम इसी सूक्तमें दिया है । यदि पाठक इसका योग्य विचार करेगी तो उनको इससे बचनेका उपाय ज्ञात हो सकता है । आशा है कि वे इसका विचार करेंगे और अपने थापको इससे बचावेंगे ॥

नमः शुब्द ।

इस सूक्तके अंतिम मंत्रमें “ नमः ” शब्द तीनवार आया

है । यहाँका यह नमनवाचक शब्द घातक मनुष्यको दूर रखनेके लिये दिये जानेवाले नमस्कारके समान उस ज्वरसे बचनेका भाव सूचित करता है ऐसा हमारा ख्याल है । कौशाम्बे “ नमस्कर, नमस्कारी ” शब्द औपधिषोंके भी वाचक हैं । यदि “ नमः ” शब्दके किसी औपधीका बोध होता हो तो वह खोज करना चाहिये । “ नमः ” शब्दके अर्थ “ नमस्कार, अन्न, चक्र, दण्ड ” इतने प्रासिद्ध हैं, “ नमस्कर, नमस्कार, नमस्कारी ” ये शब्द औपधिषोंके भी वाचक हैं । अतः इस विशेषका अन्वेषण वैद्य लोग करें ।

सुख प्राप्ति सूक्त ।

(२६)

(ऋषिः—ब्रह्मा । देवताः— इंद्रादयः)

आरे ई सावस्मदस्तु होतिर्देवासो असत् । आरे अश्मा यमस्यय	॥ १ ॥
सखासावस्मस्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः सविता चित्रराधाः	॥ २ ॥
यूर्य नः प्रवतो नपान्मरुतः सूर्यत्वचसः । शर्म यच्छाय सुप्रधाः	॥ ३ ॥
सुपुदतं मूढतं मूढया नस्तनूम्या मयस्तोकेर्म्यस्कृधि	॥ ४ ॥

अर्थ—हे (देवानः) देवो! (असौ हेतिः) यह शत्रु (अन्तर्द्वारे असत्) हमसे दूर रहे । और (यं अस्यय) जिसके दुःख फैलते हो वह (अश्ना आरे असत्) पत्थर भी हमसे दूर रहे ॥ १ ॥ (असौ रातिः) यह दानशील, (भगः) धनयुक्त सविता, (चित्रराधः इन्द्रः) विषेय ऐश्वर्यसे युक्त इन्द्र हमारा (सखा असत्) मित्र होवे ॥ २ ॥ हे (प्रवतो नपात्) अपने आरक्षक रक्षण करनेवालेको न गिरानेवाले! हे (सूर्यत्वचसः मरुतः) सूर्यके समान तेजस्वी मरुत देवो! (यूर्य) तुम (नः) हमारे लिये (सप्रयः शर्म) विस्तृत सुख (यच्छाय) दो ॥ ३ ॥ (सुपुदतं) तुम हमें आश्रय दो, (मूढतं) हमें सुखी करो, (नः) तन्मन्यः मूढय) हमारे शत्रुओंको आरोग्य दो तथा (तोकेर्म्यः मयः कृधि) बालबच्चोंके लिये आनन्द करो ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे देवो! आरक्षा दंडरूप शत्रु आदि हमारे ऊपर प्रयुक्त होनेका क्षयन न आवे, अर्थात् हमसे ऐसा कोई कार्य न हो कि जिसके लिये हम दण्डके मार्गी बनें ॥ १ ॥ इन्द्र सविता मग आदि देवगण हमारे सहायक हों ॥ २ ॥ मरुत देव हमारा सुख बढ़ावें ॥ ३ ॥ ६व देव हमें उत्तम आश्रय दें, हमारे शत्रुओंका आरोग्य बढ़ावें, हमारे मनकी शान्ति शृद्धिगत करें, हमारे बाल बच्चोंको सुख रखें और सब प्रकारसे हमारा आनंद बढ़ावें ॥ ४ ॥

देवोंसे मित्रता ।

इन्द्र, सविता, मग, मरुत आदि देवोंसे मित्रता करनेसे सुख मिलता है और उनसे प्रतिशूल आचरण करनेसे दुःख प्राप्त होता है । इसलिये प्रथम मंत्रमें प्रार्थना है कि उन देवोंका दंड

हमपर न चले, और दूसरे मंत्रमें प्रार्थना है कि ये सब देव हमारे मित्र; हमारे सहायक बनकर हमारा सुख बढ़ावें, अपना हमारा ऐसा आचरण बने कि ये हमारे सहायक बनें और विरोधी न हों । देखिये इसका लाभ क्या है—

१ सविता-सूर्यदेव है, यह स्वयं मित्रता करनेके लिये हमारे पास नहीं आता है, परन्तु सबसे उदय होनेके समयसे अपना हाथ हमारे पास भेजना है और हमसे मिलना चाहता है, परन्तु पाठक ही ख्याल करें कि हम अर्धन बापकी तंग मयानोंमें बंद रखते हैं, और सविता देवके पवित्र हाथके पास जाते ही नहीं। सूर्य ही आरोग्य की देवता है, उसके साथ इस प्रकार विरोध करनेसे उसका वज्रापात हमपर आरता है जिसे ये नामा रोगके दुःखोंमें गिरना आवश्यक होता है।

२ मरु-नाम वायु देवता है। यह वायुय भी हमारी सहायता करनेके लिये हरएक स्थानमें हमारे पासलेसे ही उपस्थित है, परन्तु हम खुली हवा सेवन नहीं करते हैं, परिशुद्ध वायु हमारे घरों और कमरोंमें आवे ऐसी व्यवस्था नहीं करते, इतना ही नहीं परन्तु वायुकी बिगाड़नेके अनंत धाधन निर्माण करते हैं। इत्यादि कारणोंसे वायु देवताका क्रोध हमपर होता है और उनका वज्रापात हमें सदन करना पड़ता है। अितने विविध भीमारिया वायुके कोषमें हमें सता रही है।

इस प्रकार अन्यान्य देवोंका संबंध जानना उचित है। इस विषयमें अथर्ववेद स्तोत्राण्य वं० १ सूक्त ३, ५ देखिये, इन सूक्तोंके १-११०-के प्रसंगमें देवताओंसे हमारे संबंधका वर्णन किया है। इसलिये इन सूक्तोंके साथ उन सूक्तोंका संबंध अध्ययन देखना चाहिये।

त्रिभूत प्रकार ये ब्रह्म देवताएँ हमारे मित्र बनकर रहनेसे भी हमारा स्वास्थ्य और सुख बढ सकता है, उर्ल प्रकार उनके प्रतिनिधि-जो हमारे घरोंमें स्थान स्थानमें रहे हैं उनको मित्र बनाकर रखनेसे भी हमारा स्वास्थ्य और आरोग्य रह सकता है, इस विषयमें अथर्व वेदोक्त विवरण देखिये—

१ धृतिवा सूर्य देव आकाशमें है, इसीका प्रतिनिधि अंशस्व देव हमारी आँखमें तथा नाभिराधानके सूर्यचक्रमें रहा है। अमयः इनके काम दर्शनशक्ति और पावनशक्तिके साथ संबंधित है। पाठक यहाँ अनुभव करें कि ये देव यदि हमारे मित्र बनकर रहें तो ही स्तारोच्य और आरोग्य रह सकता है। यदि दाँव किसी समय धोखा देवे, कथका रूपके विषयमें मोहित होकर हीन मार्गसे इस शरीरको ले चले, तो उसके प्राप्त होनेवाली शरीर का कष्टमय दशा का रूपना पाठक ही कर सकते हैं। इसी प्रकार पेटकी पाचन शक्ति ठीक न रहनेसे

कितने रोग उत्पन्न हो सकते हैं, इच्छा ज्ञान पाठकोंसे छिना नहीं है। अर्थात् शरीरस्वामी सूर्य-प्रतिताके अंश दर दिन के तथा बनकर न रहनेसे मनुष्यकी भाषातिमोकी संख्या कितनी बढ सकती है इसका पाठक ही विचार करें।

२ इसी प्रकार मरु वायुदेव के घरोंमें तथा शरीरके नामा स्थानोंमें रहते हैं। यदि उनका कभी प्रकोप हो जाय तो पाना विचारोंकी उत्पत्ति हो सकती है।

इनो प्रकार इन्द्रदेव अंतःकरणके स्थानमें तथा अन्यान्य देव शरीरके अन्यान्य स्थानोंमें रहते हैं। पाठक विचार करके जान सकते हैं कि उनके “ सत्ता ” बनकर रहनेसे ही मनुष्य मात्रको स्वास्थ्य और आनंद प्राप्त हो सकता है। इनके विरोधी बननेसे दुःखदायक घाटाव नहीं होगा।

पहले मंत्रमें “ देवोंके सन्मुखे दूर रहने की ” और दूसरे मंत्रमें “ देवोंसे मित्रता रखने की ” सूचनाका इस प्रकार विचार पाठक करें और यह परम उपयोगी उपदेश अपने आचरणमें ढालनेका प्रयत्न करें और परम आनंद प्राप्त करें। तीसरे मंत्रका “ इसी आवरणसे विभूत सुख मिलता है, ” यह कथन अब श्रुष्टर ही हुआ है।

चतुर्थ मंत्रमें जो कहा है कि “ के ही देव हमें सहाय देते हैं, हमें सुखी रखते हैं, हमारे शरीरका आरोग्य बढ़ाते हैं और बाह्यबर्षोंको भी अनोदित रखते हैं, ” यह कथन अब पाठकोंको भी दिनके प्रकाशके समान प्रत्यक्ष हुआ होगा। इसलिये स्वास्थ्य और सुखकी प्राप्तिके इस सच्चे मार्गका अवलंबन पाठक करें।

विंशत सूचना ।

त्रिषोष का पाठक इस पाठका अधिक ख्याल रखें, कि वेद सुख स्वास्थ्य और आनंदके प्राप्त करनेके लिये घनादि पाठ्य नहीं बताता है, प्रयुक्त “ जल, वायु, सूर्य आदि के साथ संलय्य करो ” यही साधन बता रहा है। यह हरएक कर सकता है। चाहे धन किसीको मिले या न भी मिले, परंतु “ जल वायु और सूर्य प्रकाश ” तो हरएक को मिल सकता है। इस स्वास्थ्यके अति सुलभ साधनका पाठक अधिक विचार करें, वेदकी इस दैवीका अवश्य मनन करें और उपदेशके अनुसार आचरण करके लाभ उठावें।

विजयी स्त्री का पराक्रम ।

(२७)

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-इन्द्राणी)

अमूः पारे पृदाकंस्त्रिपुता निर्जरायवः ।

तासां जरायुभिर्व्यमस्या त्रु वरिषि व्ययामस्यघ्रायोः परिपन्थिनः

॥ १ ॥

विपुंन्पेतु क्रन्तती पिनाकमिवु विभ्रती । विष्वक्पुनर्भुवा मनोऽसमृद्धा अघ्रायवः

॥ २ ॥

न बहवः समशकुन्नाभिका अभिदांष्टुः । वेणोरद्गा इवाऽभितोऽसमृद्धा अघ्रायवः

॥ ३ ॥

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान् । इन्द्राण्येतु प्रथमाजीतामुपिता पुरः

॥ ४ ॥

वर्ष—(पारः पारे) वह पारमें (निर्जरायवः) शिशुसि निरुली हुई (वि-सप्ताः) तीन गुण सात (पृदाकः) धर्मियोकै समान उन्म १ । (तासां) उनकी (जरायुभिः) केशुलियोंसे (वरिषि) हम (अघ-घ्रायोः परिपन्थिनः) पापी दुष्टशत्रुकी (अघ्रौ) दोनों आसों (अरि व्ययामसि) दके देते हैं । १ ॥ (पिनाकं ह्य विभ्रती) धनुष्य धारण करनेवाली, और शत्रुको (क्रन्तती) काटने वाली प्रभेना (विपुची प्तु) चारों ओर आगे बढ़े । जिसे (पुनर्भुवाः) फिर इकट्ठीही हुई शत्रुसेनाका (मनः विष्वक्) मन इधर उधर हो जावे । और उससे (अघ्रायवः) पापी शत्रु (असमृद्धाः) निर्धन हो जावे ॥ २ ॥ (बहवः न समशकुन्) बहुत शत्रु भी उनके सामने ठहर नहीं सकते । फिर (अर्भकाः) जो बालक हैं वे (न अभि दाष्टुः) भैयंही नहीं कर सकते । (वेणोः अद्गाः इव) बांसके अंडरोंके समान (अभितः) सब ओरसे (अघ्रायवः) पापीलोग (असमृद्धाः) निर्धन होवें ॥ ३ ॥ हे (पादौ) दोनों पांवों ! (प्रेतं) आगे बढ़ा, (प्र स्फुरतं) फुरती करो, (पृणतः गृहान् वहतं) संतोष देनेवाले शत्रुके प्रति हमें पहुंचाओ । (अजीता) विना जीतो, (अमुपिता) विना लट्टी हुई और (प्रथमा) मुखिया बनी हुई (इन्द्राणी) महारानी (पुरः प्तु) सबके आगे बढ़े ॥ ४ ॥

भाषार्थ—केशुलीसे बाहर आयी हुई शत्रुओंके समान चपल सेनाएं तीन गुने सात विभागोंमें विभक्त होकर युद्धके लिये सिद्ध हैं, उनकी हलचलोंसे हम सब पापी दुष्टोंकी आसों बंद कर देते हैं ॥ १ ॥ शत्रु धारण करनेवाली और शत्रुको काटनेवाली शीरोक्षी सेना चारों दिशाओंमें आगे बढ़े, जिससे शत्रुसेनाका मन तितर बितर हो जावे और सब पापी शत्रु निर्धन हो जावें ॥ २ ॥ ऐसी शत्रु शीरोक्षी सेनाके सम्मुख बहुत शत्रु भी ठहर नहीं सकते फिर कमजोर बालक कैसे ठहर सकेंगे ? बांसके अंडर और अशक्त अंडरके समान चारों ओरसे पापी शत्रु धनहीन होकर नाशको प्राप्त होंगे ॥ ३ ॥ विजयी अपराजित और न लट्टी गई वर ली महारानी मुखिया बनकर आगे बढ़े, शत्रु लोग उसके पीछे चलें, हरएक वीरके पांव आगे बढ़ें, शरीरमें फुर्ती चडे और सब लोग संतोष ब्रह्मनेवालोंके शरैरक पहुंच जाय ॥ ४ ॥

इन्द्राणी ।

“ इन्द्र ” शब्द राजाका वाचक है जैसा-इन्द्र (मनुष्यों-का राजा) शूरोन्द्र (मृगोंका राजा), खरोन्द्र (पक्षियोंका-राजा) इत्यादि । केवल इन्द्र शब्द भी राजाका ही वाचक है, वीर “ इन्द्राणी ” शब्द इन्द्रकी रानी, राजाकी रानी, महारानी, रानी ” का वाचक है । यह इन्द्राणी सेनाकी प्रेरक देवी है यह

यात तैत्तिरीय संहितामें कही है देखिये—

इन्द्राणी वै सेनायै देवता । तै० सं० २।२।८।१

“ इन्द्राणी सैन्यही देवता है । ” क्योंकि इसकी प्रेरणासे सैनिक अपना पराक्रम दिखाने और विजय प्राप्त करते हैं ।

वीर स्त्री ।

“ इन्द्राणी सर्वाय रानी सेनाकी मुखिया बनकर सेनाके

प्रेमसादन देती हुई आगे चले, हरएकके पांव आगे बढ़े, हरएकका मन उत्साहसे युक्त रहे, संतोष बढ़ाने वाले सज्जनोंके परामर्श ही लीज जाय । " परंतु जो लोग संतोषकी कम परतने वाले, उत्साहका भाव करने वाले, और मन्त्री आशाका घात करनेवाले हों उनके पास कोई न जावे, क्योंकि ऐसे लोग अपने हीन भावकी मनुष्योंको निरुत्साहित ही करते हैं । यह मंत्र ४ या भाव विचार करने योग्य है ।

जिस राष्ट्रमें विषांभी ऐसी शूर और दक्ष होंगी, वह राष्ट्र सदा विजयी ही होगा इसमें क्या संदेह है ? जिस देश में विषांभी सेनासे चला सकेगी उस देशके पुरुष कितने शूर और वीर भी होंगे । क्या ऐसी वीर विषांभीको कोई हीन मनवाला बादमी घमका सकता है और ऐसी शूर विषांभी किसी स्थानपर कोई बेदखली कर सकता है । इसलिये आत्मसंमान रखनेकी इच्छा करने वालोंको उचित है, कि वे स्वयं मर्द पने और अपनी क्षीणता भी ऐसी विद्या दें कि वे भी शूरवीर बनकर अपने संमान बरं रखा कर सकें ।

" क्षामे पञ्च धारण करती हुई, शत्रुको काटती हुई आगे बढ़े, जिसका वेग देखकर शत्रुका मन उत्साहदित होवे और शत्रु नियंत्रण अर्थात् परास्त हो जावे । " यह इन्द्रोप मंत्रका भाव भी चतुर्थ मंत्रके साथ देखने योग्य है । क्योंकि यह मंत्र भी वीर छोटा पराक्रम ही बता रहा है । यह सेना का वर्णन करता हुआ भी वीर छोटा वर्णन करता है । (मंत्र २)

वैश्विथीको उपमा केंचुलसे निम्नी हुई सर्पिणीका इस सूक्तमें दी है । स्वभावतः सर्पिणी बड़ी तेज रहती ही है और अति फुलसे शत्रुपर हमला करती है । परंतु जिस समय वह केंचुलसे बाहर आती है उस समय अतिवेदकी वीर अतिचपल रहती है क्योंकि इस समय वह नवजन्मनस युक्त होती है । वीर ही ऐसी ही होती है । श्री स्वभावतः चपल होती है, परंतु जिस समय कार्यवश राष्ट्रीय आपत्तिसे प्रेरित होकर, आत्मसंमानकी रक्षाके लिये कोई वीर ही अपने अंतर्ग्रह रूपी केंचुलीसे बाहर आती है, उस समय उसकी तेजस्विताका वर्णन मध्य करना है । वह उस समय सूक्ष्मसुक्ष्म सर्पिणीकी भांति चमकती हुई, बिजलीके समान तेजस्विनी बनकर वीरमेतामगोकी प्रेरित करती है । उस समयका उत्साह वीर पुरुष से कल्पनासे जान सकते हैं । " उसके तेजसे शत्रुकी आंखें दो बांधे बन जाती हैं " और उसके सब शत्रु निःशब्द हो जाते हैं । (मंत्र १)

जहां ऐसी वीरगणाएं समर्थ हैं उन लोगोंके सामने बड़े बड़े शत्रु भी ठहर नहीं सकते, फिर अल्प शक्तिवाले कमजोर मनुष्योंकी बात ही क्या है ? पासके अंडरोंके समान उनके शत्रु नष्टश्रेय ही हो जाते हैं । " (मंत्र १)

शुश्रुवाचक शब्द ।

इस सूक्तमें शुश्रुवाचक उक्त शब्द है उनका विचार यहां करना आवश्यक है—

- १ क्षपायुः= आयु भर पाप कर्म करनेवाला ।
- २ पारिपन्थिः= घटमार, घुरे मार्गसे चलनेवाला ।

पापीलोग ये हैं और इनके घुरे आचरणके कारण ही वे शुश्रुव करने योग्य हैं । "असृष्टा अपायवः" यह शब्द प्रयोग इस सूक्तमें दोवार आया है । " पापी समुत्तिसे रहित होते हैं । " यह इसका भाव है । पापसे कभी वृद्धि नहीं होगी । पापसे मनुष्य गिरता ही जाता है । यह भाव इसमें देखने योग्य है । जो मनुष्य पाप कर्म द्वारा घनाश्रय बनना चाहते हैं उनको यह मंत्र भाव देखना योग्य है । यह मंत्र उपदेश दे रहा है कि " पापी कभी उन्नत नहीं होगा, " यदि किसी क्षयत्वासे यह धनवान् हुआ, तो भी वह उसका धन उसके नाशका ही हेतु निःसंदेह बनेगा । तात्पर्य परिणामकी दृष्टिसे यह स्पष्ट ही समझना चाहिये कि पापी लोग अवश्य ही नाशको प्राप्त होंगे ।

तीन गुणा सात ।

मेनाके तीन गुण सात विभाग हैं । रपमोधी, मज्योधी, अथरोधी, पदाती, दुर्गमोधी, जलयोधी तथा कृत्योधी ये सात प्रकारके भिन्न हैं । प्रत्येकमें अधिपती, प्रत्यक्ष युद्धकारी, वीर सहायक इन तीन भेदोंसे तीन गुणा सात रैतिक होते हैं ।

निर्जरायु ।

" जरायु शब्द तिहरी, जेरीका वाचक है, परन्तु मां श्लेषार्थसे प्रयुक्त है । यहाँ दत्तका अर्थ (जरा+आयु) वृद्धावस्था अथवा जोगिता किंवा यकावट, तथा आयुष्य' (निः+जरा-आयुः) जो जोगिता, यकावट, वृद्धावस्था अथवा आयुकी पूर्वा न करने वाले होते हैं, अर्थात् जो अपने जाने मरनेकी पूर्वाह न करके लडते हैं, जो अपनी अवस्थाकी तथा सुखदुःख की पूर्वाह न करते हुए अपने पनके लिये ही लडते रहते हैं उनको " निर्जरायु " अर्थात् " जरा और आयुके विचारसे मुक्त " कहते हैं । अर्थात् वी आशा छोड़कर लडनेवाले रैतिक ।

इस सूक्तके मंत्र वीर ही-विषयक तथा सेना विषयक अर्थ बताते हैं, इसलिये वे मंत्र विशेष मननके साथ पढ़ने योग्य हैं ।

तथा इसमें कई शब्द द्वेष अर्प बताने वाले भी हैं जैसा कि ऊपर बताया है। इन सब बातोंका विचार करके यदि पाठक इस सूक्तका अभ्यास करेंगे तो उनकी बहुत बंध मित्र सकता है।

वीर पुरुष उत्पन्न करे और अपना यश बचानेका परम पुरुषार्थ करे।

यह सूक्त " स्वस्त्ययन गण" का है इसलिये इस गणके अभ्य स्पर्शके साथ पाठक इसका विचार करे।

दुष्ट नाशन सूक्त ।

(२८)

(ऋषिः-चातनः । देवता-स्वस्त्ययनम् ।)

उप प्रागादिवो अग्नी रस्रोहामीवचातनः । दहन्नप द्वयाविनीं यातुधानान्किमीदिनः ॥ १ ॥

प्रति दह यातुधानान्प्रति देव किमीदिनः । मनीचीः कृष्णवर्तने सं दह यातुधान्यः ॥ २ ॥

या शुश्राप शपनेन पापं मूरमादधे । या रसस्य हरणाय जातमारिभे तोकमत्त सा ॥ ३ ॥

पुत्रमत्तु यातुधानीः स्वसारमुत नपत्यम् ।

अर्षा मियो विक्रेष्यो कुं वि मीतां यातुधान्यो कुं वि तृहन्तामारय्यः ॥ ४ ॥

अर्थ—(अनीव-चातनः) लोगोंको दूर करनेवाला और (रस्रोहा) पशुओंका नाश करनेवाला अग्निदेव (किमीदिनः) सदा भूछाँछे (यातुधानान्) छत्रों को तथा (द्वयाविनिः) दुमुखे कण्टियोंको (अप दहन्) जलाता हुआ (उप प्रागात्) पास पहुंचा है ॥ १ ॥ हे अग्निदेव! (यातुधानान् प्रति दह) छत्रों को जलादे तथा (किमीदिनः प्रति) सदा भूछाँछे भी जलादे। हे (कृष्णवर्तने) कृष्ण भागवाले अग्निदेव! (मनीचीः यातुधान्यः) संतुष्ट आनेवाली छत्रेरी श्रियोंको भी (सद्दह) ठीक जला दो ॥ २ ॥ यह दुष्ट छत्रेरी स्त्रियां (शपनेन शशाप) शापते शाप देती हैं, (या अर्षं मूरं आदधे) जो पाप ही प्रारंभसे स्वीकारती हैं, (या रसस्य हरणाय) जो रस पीनेके लिये (जातं तोकं आरिभे) जन्मे हुए बालकको खाना आरंभ करती हैं और (सा अत्तु) वह पुत्र खाती है ॥ ३ ॥ (यातुधानीः) पापी स्त्री (पुत्रं अत्तु) पुत्र खाती है। (स्वसारं उत नपत्यम्) बहिन को तथा नाती को खाती है। (अय) और (विक्रेष्योः) केश पकड़ पकड़ कर (मियोः प्रतां), आचसमें हांगड़वां हैं। (आरय्यः यातुधानीः) दानभाव-रहित पातकी स्त्री (विदुस्मन्तां), आपसमें मारपीट करती हैं ॥ ४ ॥

मावार्थ—रोग दूर करनेमें समर्थ अर्थात् उत्तम बंध, आसुर मावधे इतने बाला, अग्निदेव समान तेजस्वी, उपदेशक स्वार्थी छत्रेरे तथा कपटियोंके दूर करता हुआ आगे चले ॥ १ ॥ हे उपदेशक! तू छत्रेरे स्वार्थी दुष्टोंको नाश कर, तथा सामने आने वालों दुष्ट श्रियोंकी भी दुष्टता दूर कर दे ॥ २ ॥ इन दुष्टोंछ लक्षण यह है कि ये आपसमें गालियां देते रहते हैं, हर एक काम पास हेतुसे करते हैं, यज्ञांतक ये क्रूर होने हैं कि रक्त पीनेकी इच्छासे नये उत्पन्न बालकको ही चूमना आरंभ कर देते हैं ॥ ३ ॥ इनकी स्त्री आने पुत्रसे खाती है, बहिन तथा नातीकी भी खाती है, तथा एक दूसरेके बाल पकड़कर आपसमें ही लड़ती रहती हैं ॥ ४ ॥

पूर्वापर संबंध ।

इसी प्रथम श्लोकके ७ तथा ८ वें श्लोककी व्याख्याके

प्रथममें धर्मप्रचार प्रकरणमें आग्निदेव किस प्रकार आसुर

उपदेशक ही है तथा वह किस प्रकार जगाता है अर्थात्

दुर्गोक्ते सुधारता है, इत्यादि सब विषय अतिरिक्त कर दिया है। इसलिये इन ७ और ८ वें सूक्तके स्थापनपाठक यहाँ परिते पढ़ें और पश्चात् यह सूक्त पढ़ें

संस्कृतमें " वि दग्ध " (विशेष प्रकारसे जलदुग्धा) यह शब्द " अग्नि विद्वात् " के लिये प्रयुक्त होता है। यहा अन्न-नक्ष दहन जलन आदि अर्थ समझना उचित है। जिस "घार अग्नि लोहे आदिको तपाकर शुद्ध करता है वनी प्रकार उपदे-ष्टक द्वारा प्रीति ज्ञानाग्नि कर्माग्नी मनुष्योंके अन्नको जला कर शुद्ध करता है। इस कारण " ब्राह्मण " के लिये वेदमें " अग्नि " शब्द आता है। ब्राह्मण और क्षत्रियके वाचक वेदमें " अग्नि और इन्द्र " शब्द प्रसिद्ध हैं। ब्राह्मणमें अग्नि देवताके और क्षत्रियमें इन्द्र देवताके सूक्तोंसे प्रकृत होता है। इत्यादि बातें विस्तारसे ७ और ८ वें सूक्तकी व्याख्याके प्रसंगमें स्पष्ट कर दी हैं। यहाँ धर्म प्रचार की बात इस सूक्तमें है इसलिये पाठक उक्त पूर्व सूक्तोंके साथ इस सूक्तका संबंध देखें।

इस सूक्तमें " अर्वाच-वातनः " (रोगोंका दूर करनेवाला) यह शब्द विशेषण रूपमें आया है। यह यहाँ चिकित्सा द्वारा रोग दूर कर मरने वाले उतम वैद्यका बोध करता है। उपदे-ष्टक जैसा शास्त्रमें प्रयोग चाहिये वैसा ही वह उतम वैद्य भी चाहिये। वैद्य होनेसे वह रोगोंको चिकित्सा करता हुआ धर्मका प्रचार कर सकता है। धर्म प्रचारकरके अन्व गुण सूक्त ७, ८ में देखिये।

दुर्जनोके लक्षण ।

इस सूक्तमें दुर्जनोके पूर्वकी अपेक्षा कुछ अधिक लक्षण कहे हैं जो सूक्त ७, ८ में कहे लक्षणोंकी पूर्ति कर रहे हैं; इस लिये उनका विचार यहा करने हैं-

१ इन्द्राग्नि- मनमें एक भाव और बाहर एक भाव ऐसा कथन करनेवाले। (मं ७१) " किन्नीरिव, यातुधातु " इन शब्दोंका भाव सूक्त ७, ८ की व्याख्याके प्रसंगमें बताया ही है। इस सूक्तमें दुर्जनोके कई व्यवहार बताये हैं, वेनी यहाँ देखिये-

२ शपथन शपथ- शपथे धाः देना, सुरे शब्द बोलना, गालियाँ देना इ० । मं ३

३ अर्धं मूर्धं आदधे- प्रारंभमें पापका भाव रखता है। हरएक काममें पाप रखिये ही उसका प्रारंभ करना।

४ रसस्य हरण्यज जवें ठाँके भारोमे- रक्त पीनेके लिये नवपात करनेकी खाती है।

५ पातुधानी पुत्रं स्वसारं नश्यं आसि- यह दुष्ट आत्मी की श्वा, गदिन जयवा नागी चो जाती है।

६ विक्रियः नियः विप्रतां, विगृह्णन्तां- आपसमें डेप पकर कर परस्पर मार पीट करती है।

ये सब दुर्जन की गुणोंके लक्षण हैं। बाहरलोगोंके लियेचते लोग इस समय अग्निधामें कई स्थानोंपर हैं, परंतु अन्व देगोमें अब ये नहीं हैं। जहाँ यहाँ ये हों, यहाँ धर्मोपदेष्टक बला शत्रु और उनको उपदेश देकर उपद्रव मनुष्य बना देंगे, शानी बनावे, उनही दुष्टता दूर करके उनको सज्जन बना देंगे।

ऐसे मनुष्य-मनुष्य दुष्ट, क्रूर, ईर्ष्य, मनुष्योंमें भी बाहर धर्मोपदेश देकर उनको सुभारोका धाम करनेका उपदेश होनेसे इसमें कुछ सुधार हुए किंचित् कामकी श्रेणीके मनुष्योंमें धर्म जागृत करनेका साधन स्वयंही स्पष्ट हो जाता है।

दुष्टोंका सुधार ।

दुष्ट लोगोंने दुष्टता होनेके कारण ही ये अक्षय्य समझे जाते हैं। उनकी दुष्टता उपदेश आदि द्वारा हटाकर उनको धर्म बनाना ब्राह्मणार्थ है और उनको दंड देकर शत्रुसे उनका सुधार करनेका यत्न करना क्षत्र्यार्थ है। वेदमें अग्निदेवता से ब्राह्मणार्थ और इन्द्र देवतासे क्षत्र्यार्थ बताया है। जलते या लगने लगे दोगों ही हैं, परंतु एक उपदेशद्वारा उनके कर्म-ल-को जलाता है और दुष्टता छुड़ दण्ड और इच्छाप्रकार के कठोर उपयोके पीना देकर उनको सुधारता है।

सुधार लो दोगोंमें होता है, परंतु क्षत्रियोंके दंडद्वारा लगने के उपयोके ब्राह्मणोंके जनानिद्वारा लगनेका उपाय अधिक उत्तम है और इसमें बंध भी कम हैं।

पाठक अग्नि शब्दसे आपका प्रह्वन करके सबसे दुर्गोक्ते जलनेका भाव इस सूक्तसे न निकालें, क्योंकि इस सूक्तका संबंध आगेपीठके अनेक सूक्तोंसे है और अग्निके गुणोंके प्रमाण देकर शानी उपदेशक ही अग्निशब्दसे ऐसे सूक्तोंमें अग्निःष्ट है यह सूक्त ७, ८ के प्रसंगमें स्पष्ट बताया ही है। इसके अतिरिक्त " रोग दूर करनेवाला अग्नि " इस सूक्तमें कहा है यदि यह उन लोगोंके जलही देवे तो उसके रोगमुक्त, करनेके गुणमें क्या काल हो सकता है। इसलिये यह अग्निच जलाना " दानानिधे अज्ञानदाया जलाना " ही है। इन्हें गुणधर्मोंके इष्टान्य और यहाँ श्रेष्ठ गुण धर्म स्थापित करना ही बरा बनौट है और इसलिये रोगमुक्त करनेवाला उत्तम

वेद्यही धर्मोपदेशकका कार्य करे, यह सूचना इस सूक्तमें हमें मिलती है। क्योंकि रोगिके मनपर वैद्यके उपदेशका जैसा असर होता है वैसा वक्ताके व्याख्यानेसे श्रोताओंपर नहीं होता। रोगीका मन आतुर होता है इसलिये श्रवण को हुई उराम बात उसके मनमें जम जाती है और इस कारण वह शीघ्र ही सुधर जाता है ॥

'आवे' ऐसा होता है परंतु "शशाप आदधे" इन क्रियाओंके अतुसंघनसे "अतु" के स्थानपर "आति" मानना युक्त है। क्योंकि यहां यातुधानोंकी रीति बात ई दे जैसे (शशाप) शाप देते रहते हैं, (अधे आदधे) पाप स्वीकारते रहते हैं, (तोंकं अचि) बंधेको खाते रहते हैं अर्थात् यह उनकी रीति है। पूर्वापर संबंधसे यह अर्थ यहां अर्भःइ है ऐसा हमें प्रतीत होता है। तथापि पाठक अधिक योग्य और कोई अन्य बात इस सूक्तमें देखेंगे, तो अर्थकी खोज होनेमें अवश्य सहायता होगी।

[यह तृतीय और चतुर्थ मंत्रमें "अतु" शब्द है जिसका अर्थ

इति पंचम अनुपाठ समाप्त ।

राष्ट्र-संवर्धन-सूक्त ।

(२९)

(ऋषिः-वसिष्ठः । देवता-अभीवर्तो मणिः)

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे । तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्षय ॥ १ ॥
 अभिवृत्य सपत्नानभि या नो अरांतयः । अभि पृतन्यन्तं तिष्ठामि यो नो दुरत्ययि ॥ २ ॥
 अभि त्वा देवः संविताभि सोमो अवीवृधत् । अभि त्वा विश्वा भूतान्यमीवर्तो यथासंसि ॥ ६ ॥
 अमीवर्तो अभिमवः सपत्नक्षयणो मणिः । राष्ट्राय मह्यं वच्यतां सपत्नेभ्यः परामुवे ॥ ४ ॥
 उदसौ सूर्यो अगाद्दुद्विदं मामकं वचः । यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥ ५ ॥
 सपत्नक्षयणो वृषामिराष्ट्रो विपासहिः । यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥ ६ ॥

अर्थ-हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानी पुरुष ! (येन इन्द्रः अभिवावृधे) जिससे इन्द्रका विजय हुआ था, (तेन अभीवर्तेन मणिना) उस विजय करनेवाले मणिसे (अस्मान्) हमको (राष्ट्राय अभिवर्षय) राष्ट्रके लिये बड़ा दो ॥ १ ॥ (याः नः अरांतयः) जो हमारे शत्रु हैं उनको तथा अन्य (सपत्नाद्) वैरियोंको (अभिवृत्य) पराभूत करके, (यः नः दुरत्ययि) जो हमसे दुष्टताका आचरण करता है तथा जो (पृतन्यन्तं) सेनासे हमपर बढाई करता है उससे (अभि अभि तिष्ठ) युद्ध करनेके लिये स्थिर हो जाओ ॥ २ ॥ (संविता देवः) सूर्य देवने तथा (सोमः) चंद्रमा देवने भी (त्वा) तुझ (अभि . अभि-अवीवृधत्) सब प्रकारसे बढाया है । (विश्वा भूतानि) सब भूत (त्वा आभि) तुझे बडा रहे हैं, जिससे तू (अभिवर्तः अस-सि) शत्रुको दबानेवाला हुआ है ॥ ३ ॥ (अभिवर्तः) शत्रुको धरनेवाला, (अभिमवः) शत्रुका पराभव करनेवाला, (सपत्नक्षयणः) प्रतिपक्षयेंद्रा नाश करनेवाला यह (मणिः) मणि है । यह (सपत्नेभ्य परामुवे) प्रतिपक्षियोंका पराभव करनेके लिये तथा (राष्ट्राय) राष्ट्रके अभ्युदयके लिये [मह्यं वच्यतां] सुखपर बांधा जावे ॥ ४ ॥ (असौ सूर्यः उदगाद्) यह सूर्य उदयको प्राप्त हुआ है, (इदं मामकं वचः उद्) यह मेरा वचन भी प्रकट हुआ है, (यथा) जिससे (अहं शत्रुहाः) शत्रुका नाश करनेवाला, (सपत्नहा) प्रतिपक्षिका घात करनेवाला होकर मैं (असपत्नः असानि) शत्रुरहित हों ॥ ५ ॥

(तथा) त्रिषष्ठे (सहं) मैं (सत्त्व-क्षणः) प्रतिगतिबोध नाथ कनिशा, (वृषा) बलवान् और (त्रिपालः) त्रिपत्तौ होकर (क्षमिताः) राष्ट्रके अनुकूल बनकर तथा राष्ट्रकी सहायता प्राप्त करके (पुर्यां वीर्याम्) इन वीरोंका (जनस्य च) और सब लोगोंका (नि राजानि) विशेष प्रकाशे रंजन करने वाला राजा होऊँ ॥ ३ ॥

आनर्प-हे राष्ट्रके शत्रु पुरो । त्रिष राष्ट्रके रूपों मणिकी पाए करके इन्द्र विजयी हुआ था, उसी विजयी मणिके हैं राष्ट्रके हितके लिये बन्धारे ॥ १ ॥ जो अत्रार शत्रु हैं और जो प्रतिपक्षी हैं उनको परास्त करनेके लिये; तथा जो हर्मसे हुए व्यवहार करते हैं और जो हनन केना मंत्रकर बढाई करते हैं उनको ठोक करनेके लिये अपनी तैयारी करके आगे बढ़ो ॥२॥ सूर्य चन्द्र आदि देव तथा सब भूतमात्र जगते सहायता देकर बढा रहे हैं, त्रिषष्टे तू सब शत्रुओंको हथानेवाला बन गया है। ॥ ३ ॥ शत्रुको घेरनेवाला, वैराग्य परामर्श करनेवाला, प्रतिगतिबोधे दूर करनेवाला यह राजविन्द रूपी मणि है । इत्यन्ति, प्रतिगतिबोधका परामर्श करनेके लिये और अपने राष्ट्रका अभ्युदय करनेके लिये सुशर यह मणि बांध बंधिये ॥ ४ ॥ जैसा पर सूर्य उदय हुआ है, वैसा यह मंत्र बननी जो प्रशस्त हुआ है, अब तुम ऐसा करो कि त्रिषष्टे मैं शत्रुका नाश करनेवाला, प्रतिगतिबोधे दूर करनेवाला होकर शत्रु दहित हो जाऊँ ॥ ५ ॥ मैं प्रतिगतिबोधे नाथ करके बलवान् बनकर, विजयी होकर अपने राष्ट्रके अनुकूल कार्य करता हुआ अपने वीरोंका और अपने राष्ट्रके सब लोगोंका हित प्राप्त करूँगा ॥ ६ ॥

अनुसन्धान

यह सूक्त राज प्रकरणक है इसलिये इसी कालके अथवात्रित पत्रके सब सूक्तोंके साथ इसका विचार करना योग्य है । तथा भाग आनेवाले राज प्रकरणके सूक्तोंके साथ भी इसका संबंध देखने योग्य है । इससे पूर्व अथवात्रित पत्रके सूक्त २, १५, २०, २१ से आगे है, इसके अतिरिक्त अथवात्रित पत्र, सामानिक पत्रके सूक्तोंके साथ भी इन सूक्तोंका विचार करना चाहिये ।

अर्थावर्त मणि ।

जिस प्रकार राजाके चिन्ह राजवंश, छत्र, जामा आदि होते हैं उसी प्रकारका 'अर्थावर्त मणि' भी एक राजविन्दु है । इसके धारण करनेके समय यह सूक्त बोला जाता है ।

देवीका राजा इन्द्र है, उसका पुरोहित बृहस्पति महादेवत्वान्ति है । यह पुरोहित इन्द्रके उत्तरपर यह अर्थावर्त मणि बांधता है । अर्थात् राज पुरोहित दो राजाके उत्तरपर यह राजविन्दु रूपी मणि बांध देते । वहाँ संबंध देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह सूक्त संवाद रूप है । यह संवाद इस प्रकार है ।
तोखे—

इस सूक्तका संवाद ।

राजा-हे पुरोहित ओ ! जो अर्थावर्त मणि इन्द्रके उत्तरपर देव युक्त बृहस्पतिने बांध दिया था और त्रिषष्ठे इन्द्र दिग्विजयी हुआ था, वह राजविन्दु रूपी मणि मेरे उत्तरपर भाग धारण करावने, त्रिषष्टे मैं शत्रुका अपने करनेमें समर्थ हो जाऊँ ॥ १ ॥
पुरोहित-हे राजन् । जो अनुवाद शत्रु हैं और जो प्रतिपक्षी

हैं तथा जो हमारे राष्ट्रके साथ दुष्ट व्यवहार करते हैं और हमारा हितसे बढाई करते हैं उन्हींको परास्त करनेकी तैयारी करो ॥ २ ॥ सूर्य, चंद्र तथा सब भूत दुन्दुभी सहायता कर रहे हैं त्रिषष्टे तू शत्रुको दया करोगा है ॥ ३ ॥

राज-पुरोहित ओ ! यह राजविन्दु रूपी मणि शत्रुको घेरने, वैराग्य परामर्श करने और प्रतिगतिबोधे हथानेका सामर्थ्यदेनेवाला है । इत्यन्ते त्रिगतिबोधका परामर्श और अपने राष्ट्रका अभ्युदय करनेके कार्यमें मुझे समर्थ बनानेके लिये मुझपर यह मणि बांध बंधिये ॥ ४ ॥ जैसा सूर्य उदयसे प्राप्त होता है वैसाही मेरेसे शत्रुओंका प्रथम होता है, इत्यन्ते भाग देकर कि त्रिषष्टे मैं शत्रुका नाश कर सकूँ ॥ ५ ॥ मैं बलवान् बनकर प्रतिगतिबोधे दूर करूँगा और विजयी होकर अपने राष्ट्रके अनुकूल कार्य करता हुआ अपने वीरोंका और राष्ट्रके हित करूँगा ॥ ६ ॥

पाठक यह ध्यान रखना चाहिये कि पद्यों में जो अर्थ प्रदर्शित हैं वे सूक्तका आधार कीर्तनादे आशयना । राजा राजविन्दु धारण करता है, उस समय पुरोहित राजाके प्रकाशितकी कुछ शब्द करनेके लिये करते हैं और राजा भी श्राद्धित करनेके प्रतिक्रम उत्तर समय करता है । पुरोहित साम्राज्यिक और राज साम्राज्यिक प्रतिगतिबोध है । राष्ट्रकी साम्राज्यिक पुरोहित मुख्यतः राजकीयका उपदेश राजाको करती है, राजकीय राजाकी रचना का न रचना राष्ट्रकी साम्राज्यिक आशय रचना चाहिये । अर्थात् साम्राज्यिक आधीन साम्राज्यिक शक्ति चाहिये । यह भाव वहाँ प्रकटित होती है । शत्रु कोनेतर

शायी हुई न रहे, परंतु श्व शक्तीयोंके वापस करके । राष्ट्रही (Civil and military) मात्र तथा क्षात्र शक्ति एक इतरेके साथ कैसा बर्ताव करे, यह इस सूक्तमें स्पष्ट हुआ है । आश्चर्यके द्वारा संभव हुआ राजा ही । रावणहीन वापसका है अन्य नहीं ।

राजाके गुण ।

इस सूक्तमें राजाके गुण बताये हैं, वे निम्न शब्दोंद्वारा पठक देख सकते हैं—

१ अस्मान् राष्ट्राय अग्निर्धनम्—आसी राक्षी राष्ट्रही उच्यते के लिये बड़े अर्थात् राजाके अंदर जो शक्ति बड़ी है वह राष्ट्रही उच्यतेके लिये ही अर्थात् हमें, वही मात्र राजाके अंदर रहे । असी बड़ी हुई तन मन धन आदि सब शक्ति अपने भोगके लिये नहीं है प्रत्युत राष्ट्रही मलाईके लिये ही है यह त्रिष राजाका नियम होना वही सचा राजा कहा जासकता है ॥ (मंत्र १ ॥)

२ राष्ट्राय नमः बभूवतां सप्तलेभ्यः पामुवे—राष्ट्रही उच्यते और वैरियोंका पराभव करनेके लिये राजाबिरुद्ध मणि मेरे (राजाके) शरीरपर बांधा जवे । मणि आदि रत्न तथा अन्य राजबिरुद्ध जो राजा धरम करता है वह असी शोभा बढाने के लिये नहीं है, प्रत्युत वे केवल ही ही शरीर के लिये हैं, (१) राष्ट्रही उच्यते ही, और (२) अन्तके शत्रु दूर धिये बांध । राजाके अंदर यह शक्ति उत्पन्न करनेके लिये ही उच्यते राजबिरुद्ध बढाने जाते हैं । (मंत्र ४)

३ अग्निराष्ट्रः—(अग्निः राष्ट्रं यत्) जिसके अरों और राष्ट्र है, ऐसा राजा हो । अर्थात् राजा अपने राष्ट्रमें रहे, राष्ट्रके साथ रहे, राष्ट्रका बनकर रहे । राजाका हित राष्ट्रहित ही हो, और राष्ट्रका हित राजहित ही, अर्थात् दोनोंके हित संबंधमें फरक न रहे । राजाके लिये राष्ट्र अनुकूल रहे और राष्ट्रके लिये राजा अनुकूल हो । राष्ट्रहितका उच्च ध्येय अपने अपने समनेवाले राजाका बोध इस सूक्तसे होता है । त्रिष राजाके लिये अपनी जन देनेके लिये राष्ट्र तैयार होना है उस राजाका यह नाम है । यह शब्द आदर्श राजाका वाक्य है । (मंत्र ६)

४ शत्रुह—शत्रुका नाश करने वाला । (मं० ५)

५ अस्तनः—अंदरके प्रतिपक्षों या विरोधों विघ्नको न हों । (मं० ५)

६ सप्तजना—प्रतिपक्षोंका नाश करनेवाला, अर्थात् प्रतिपक्षियोंका पराभव करने वाला । (मंत्र ५) "अस्त-सप्तजनाः"

यह शब्दभी इसी अर्थमें (मं० ६ में) आया है ।

७ वृषा—बलवान् । सब प्रकारके बलोंसे युक्त राजा शोभा चाहिये, अन्यथा वह परास्त होगा । (मं० ६)

८ विपानदिः—शत्रुके हमने होनेपर उनको सदन करके अपने स्थानसे धँसे न इटने वाला । (मं० ६)

९ वीरान्मं जनस्तव च विराजानि—राष्ट्रके शूरवीर तथा राष्ट्रको संभूय जनता इन सबको संयुक्त करनेवाला । (मं० ६)

१० प्रतिपक्षियोंसे दण्डना, वैरियोंका नाश करना, सेनाके साथ चढाई करनेवालाका प्रतिकार करना और जो दुष्ट व्यवहार करता है उसको ठीक करना आदि राजाके कर्तव्य (मंत्र १२) में कहे हैं ।

ये दश कर्तव्य राजाके इस सूक्तमें कहे हैं वे सब मनन करने योग्य हैं । ये सब कर्तव्य वही मात्र बता रहे हैं कि राजा अपने भोगके लिये राजगर्हीपर नहीं आता है, प्रत्युत राष्ट्रका हित करनेके लिये ही आता है । यदि राजाजोग इस सूक्त का अधिक मनन करके अपने लिये योग्य बांध लेंगे तो बहुत ही उत्तम होगा ।

राजविद्द ।

छत्र, वामर, राजदण्ड, मणि, रत्न, रत्नमाला, सुदृढ, विशेष कपड़ेकरे, राजसमाका ठाठ, हाथी, घोड़े आदि सब जो राजविद्द रूपमें समझे जाते हैं, इन विद्दोंके धारण करनेमें जनतापर कुछ विशेष प्रभाव पड़ता है और उस प्रभावके कारण राजाके इर्द गिर्द शक्ति केन्द्रित हो जाती है । यद्यपि इस प्रत्येक विद्दमें कोई विशेष शक्ति नहीं होती, तथापि राजविद्द धारण करनेवाले साधारण सिगार्डमें भी अन्य सामान्य जनोंकी वरसा कुछ विशेष शक्ति होनेका अनुभव हरएक करता है; इसी प्रकार उच्च चिन्तोंके कारण अतूर्ण राज घाघनका एक विशेष प्रभाव जनतापर पड़ता है त्रिष कारण राजा शक्तियोंका केन्द्र बनता है । त्रिष समय अपने चिन्तोंमें और संभूय ठाठमें राजा जाता है उस समय उच्चका बजासारी प्रभाव सामान्यजनता पर पड़ता है, इसी कारण राजामें शक्ति इकट्ठी होती है । इस सूक्तके अंतर्गत मंत्रमें ' यद् मणि ही अत्रनाश करने वाला, प्रभाव बढानेवाला, राष्ट्रहित साधन करनेवाला है ' इत्यादि कहा है, उच्चका मंत्र उक्त प्रकार ही समझना योग्य है । विपक्षोंकी शक्ति उसके चिन्तोंसे ही उसमें आती है और यह शक्ति वास्तविक नहीं प्रत्युत एक विशेष भावनासे ही उत्पन्न होती है । संभूय राजविद्दों का शक्ति इसी प्रकार भावनात्मक है । अस्तु, वष शत्रुके लक्षण देखिये—

शत्रुके लक्षण ।

इस सूक्तमें निम्नलिखित प्रकारमें शत्रुके लक्षणोंका वर्णन किया है—

१ यः दुरस्वप्ति = जो दुष्ट स्वप्नकार करता है । (मं- २)
 २ सपत्नः = मित्र पक्षवा मनुष्य । राष्ट्रमें जितने पक्ष होंगे, उतने पक्षवाले आपसमें सपत्न होंगे । सपत्न शब्द (Party Politics) पक्ष भेदका राजकारण बता रहा है ।

३ भ्रातः = अनुदार, जो मनमें श्रेष्ठभाव नहीं रखता ।
 ४ पृतन्यन् = वैश्वसे चन्द्राई करनेवाला ।
 इन शब्दोंके विचारसे शत्रुका पता लग सकता है । इनमें कई अंदरके शत्रु हैं और कई बाहरके हैं ।

सबकी सहायता ।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि " सूर्य चंद्र और सब भूतमात्र जिस राजाके सहायक होते हैं वह शत्रुको पराजित करता है । " (मं० ३) इसमें सूर्य चंद्र आदि शब्द बाह्य सहायता बता रहे हैं, (Nature's help) निहर्गरी सहायता राजाकी शक्तिका एक महत्त्वपूर्ण भाग है । राष्ट्रकी रचना ही ऐसा ही कि जहाँ शत्रुका प्रवेश सुगमतासे न हो सके । यह एक शक्ति ही है ।

दूसरी शक्ति (विद्या भूतानि) सब भूत मात्रसे प्राप्त होती है । पंचमहाभूतोंसे शक्ति प्राप्त करनेकी भी बात इसमें सुगमतासे ज्ञात हो सकती है । " भूत " शब्दका दूसरा प्रसिद्ध अर्थ " प्राणी, मनुष्य " ऐसा होता है । जिस राजाको राष्ट्रके सब प्राणी और सब मनुष्य सहायक हों, उसको शक्ति विशेष होगी ही, इसमें क्या संदेह है ? यही सब जनाकी शुभ इच्छासे प्राप्त होनेवाली शक्ति है जो राजाको अपने पास रखनी चाहिये क्योंकि इसीपर राजाका चिरस्थायित्व अवलंबित है ॥

वैदिक राजप्रक्रमके विषयमें इस सूक्तमें बड़ा अच्छा उपदेश है । यदि पाठक अधिक मनन करेंगे तो उनको राजप्रकरणके बहुत उपाय निर्देश इस सूक्तमें मिल सकते हैं ।

केवल राष्ट्रके लिये ।

इस सूक्तके अंदर कई सामान्य निर्देश भी हैं जिनका यहाँ विचार करना आवश्यक है । इससे पाठकोंको इस बातका भी पता लग जायगा कि वेदके विशेष उपदेशोंसे भी सामान्य निर्देश कैसे प्राप्त होते हैं । दोसरे प्रथम मंत्रमें कहा है—

अस्मान् राष्ट्राय अभिवर्धय । (मंत्र १)

इसका अर्थ— " हमें राष्ट्रके लिये शताओं " अर्थात् हमारी उन्नति इसलिये करो कि हम राष्ट्रहित प्राप्त करनेके योग्य

बनें । हमारा शरीर सुदृढ़ हो, हमारी शक्ति तीव्र हो, हमारे इन्द्रिय अधिक कार्य सम करने, हमारा मन मननशक्तिसे युक्त हो, हमारी बुद्धी ज्ञानसे परिपूर्ण हो, हममें आभिक बल बढ़े, तथा हमारी नैतिक, सामाजिक तथा अन्तर्गत शक्तियाँ बढ़ें । ये सब शक्तियाँ इसलिये बढ़ें कि इनके योगसे हमारा राष्ट्र अस्तु-दयसे युक्त हो । इन शक्तियोंकी शक्ति इसलिये नहीं करनी है कि इनसे केवल व्यक्तिगत ही सुख बढ़े, केवल एक व्यक्तिके हाथमें अधिकार रहे, या किसी एक कुलके पास परम अधिकार हो जाय, परंतु ये शक्तियाँ इसलिये बढ़ानी चाहिये कि इनके योगसे राष्ट्रकी प्रगति हो, राष्ट्री उन्नति हो ।

सामान्य अर्थ देखनेके सम्पन्न इस मंत्रका " अस्मान् " शब्द बड़ा महत्त्व रखता है । इसका अर्थ होता है " हम सबको " । अर्थात् हम सबको मिलकर राष्ट्र हितके लिये श्रद्धित करो । इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि किसी एककी ही उन्नति या किसी एककी शक्तिका विकास ही यहाँ अपेक्षित नहीं है, परंतु सबकी शक्तिका विकास यहाँ अपेक्षित है । राष्ट्रीय उन्नतिके लिये जो प्रजाजनकी शक्तिका विकास करना है वह एक प्रजाजनका, किसी प्रकार भी पक्षपात न करते हुए, करना चाहिये । अर्थात् जातिविशिष्ट या संप्रतिष्ठित पक्षपातके लिये यहाँ कोई स्थान रहना नहीं चाहिये ।

जो मैं करता हूँ वह राष्ट्रके लिये समर्पित हो यही भाव हरएकके मनमें रहना चाहिये ।

राष्ट्राय मयां बध्यतां ।

सपत्न्यः परामुवे ॥ (मं० ४)

" मुझे राष्ट्रके लिये बांध दे ताकि मैं राष्ट्रके शत्रुओंका पराभव कर सकूँ । " यह भाव मनमें धारण करना चाहिये । मैं राष्ट्रके साथ बांधा जाऊँ, मेरा अपने राष्ट्रके साथ ऐसा संबंध जुड़ जाय कि वह कभी न टूटे, राष्ट्रका हित और मेरा हित एक बने, मैं राष्ट्रके लिये ही जायित रहूँ, इत्यादि प्रकारके भाव उक्त मंत्रमें हैं । जो जिसके साथ बांधा जाता है वह उसीके साथ रहता है । यदि स्वाध्यायभित्तिये मनुष्य राष्ट्रके साथ एक बार अच्छी प्रकार कड़कर बांधा जाय तो वह बंधासे नहीं हटेगा । इसी प्रकार मनुष्य अपने राष्ट्रके साथ बांधे जाय और देश परस्पर संबंध जुड़नेके कारण राष्ट्रमें अपूर्व संघ शक्ति उत्पन्न हो यह बात वेदकी असीम है ।

हाएक मनुष्य 'अभिगाद्' (मं ६) बने अर्थात् राष्ट्रहित करनेका प्येय अपने समुच्च रहे । वह मनुष्य कहीं भी जाय, कुछ भी कार्य करे, उसके समुच्च अपने राष्ट्रके अस्तुदयका विचार

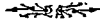
जामत रहे। इस प्रकार जिसके मनके सामने राष्ट्रका विचार घटा जामत रहता है, उसीको वेद 'भामि राष्ट्र' कहता है (अमितः राष्ट्रं) अपने चारों ओर अपना राष्ट्र है ऐसा माननेवाला हरएक अवस्थामें अपने संमुख अपने राष्ट्रको देखनेवाला जो होता है उसका यह नाम है ।

'राष्ट्र' का अर्थ

राष्ट्र शब्द केवल देश अथवा केवल जनताका शब्दक वेदमें नहीं है। केवल भूमिके एक विभागपर रहनेवाले मनुष्यसमाजका बोध 'राष्ट्र' शब्दसे वेदमें नहीं होता है। इस प्रकारके राष्ट्र भूमिपर बहुत होंगे, परंतु वेद जिसको राष्ट्र कहता है, वैसे राष्ट्र किनने होंगे इसका विचार पाठकोंको अवश्य करना चाहिये वेदमें 'राष्ट्र' शब्द (राजते तद् राष्ट्रं) जो चमकना है, वह राष्ट्र है' इस अर्थका बोधक है। जो मनुष्योंका समुदाय भूमंडल पर अपने कर्माने यथासे चमकता है और सब अन्य लोगोंकी

आंख अनी ओर कीच सञ्जा है वही वैदिक दृष्टिसे राष्ट्र है। अन्य मानवी समुदाय राष्ट्र नहीं हैं। इस प्रकारके राष्ट्र विस्तारसे छोटा हो या बड़ा हो, वह राष्ट्र ही कहलायेगा। परंतु जो निस्तारसे अति प्रचंड हो, परंतु यतकी दृष्टि जिसमें चमकाहट न हो तो वह राष्ट्र नहीं होगा। वैदिक धर्मियोंको अपने परिभ्रमसे अपने राष्ट्रमें इस प्रकारका तेज उत्पन्न करना चाहिये और बढाना चाहिये, तभी उनके देशका नाम वैदिक रीतिसे राष्ट्र होगा। वेदमें राष्ट्रवर्धन विषयक अनेक सूक्त हैं और उनका परस्पर निकट संबंध भी है। पाठक जिस समय इन सूक्तोंका विचार करने लगे उस समय आगे पीछेके राष्ट्रीय सूक्तोंका संबंध अवश्य देखें और सब उपदेशका इकट्ठा मनन करें।

पाठक इस प्रकार मंत्रोंके सामान्य उपदेशोंसे अधिक मनन करके बोध उठावें। वेदमें राष्ट्रहितके उपदेश किस प्रकार स्पष्ट रूपमें हैं यह इस रीतिसे पठक देख सकते हैं।



आयुष्य-वर्धन-सूक्त ।

(३०)

(ऋषिः— अथर्वा आयुष्यकामः । देवता विश्वे देवाः)

विश्वे देवा वसन्तु रक्षतेममुतादित्या जागृत युयमुस्मिन् ।

मेमं सनाभिरुत वान्यनाभिमेमं प्रापत् पौरुषेयो वधो यः

॥ १ ॥

ये वाँ देवाः पितरो ये च पुत्राः सचैतमेा भे शृणुतेदमुक्तम् ।

सर्वेभ्यो वः परिं ददाभ्येतं स्त्रस्त्वेनं जुरसें वहाय

॥ २ ॥

ये देवा दिवि छ ये पृथिव्यां ये अन्तारिक्षे ओषधीषु पशुष्वुप्सवृन्तः ।

ते कृणुत जरसमाधुरस्मै श्रुतमन्यान्परिं वृणक्तु मृत्यून्

॥ ३ ॥

येषां प्रयाजा उत वानुयाजा हृतभांगा अहुतादंश्च देवाः ।

येषां वः पञ्चं प्रदिशो विभंक्तास्तान्चो अस्मै संत्रसदः कुणोमि

॥ ४ ॥

अर्थ— हे (विश्वे देवाः) सब देवो ! हे (वसवः) वसुदेवो ! (इमं रक्षत) इसकी रक्षा करो। (उत) और हे (आदित्याः) आदित्य देवो ! (यूयं अस्मिन् जागृत) तुम इसमें जागते रहो। (इमे) इस पुरुषको (सनाभिः) अपने बंधु (उत वा-) अन्य-नाभिः) अपवा किंधी दुसरेको (वधः मा प्रापत्) वधकाक शत्रु न प्राप्त करे, न प्रहार करे तथा (यः पौरुषेयः वधः

जो पुरुष प्रयत्नसे होनेवाला घातघात है वह भी (इन्द्रं मा प्राणम्) इसके प्राप्त न करे ॥ १ ॥ हे (देवाः) देवो (ये वः विदरः) जो आपके पिता हैं तथा (च ये पुत्राः) जो पुत्र हैं वे सब (स-चेतसः) सावधान होकर (मे इदं उक्तं श्युन) मेरा यह कथन श्रवण करें (सर्वेभ्यो वः एतं परिददामि) सब आपकी निगरानांमें इसको मैं देता हूँ (एनं जसै स्वस्ति वहाय) इसको वृद्ध आयुक्त मुखपूर्वक पहुंचा दो ॥ २ ॥ (ये देवाः दिवि स्य) जो देव पुलोकमें हैं, (ये पृथिव्यां, ये अन्तरिक्षे) जो पृथ्वीमें और अंतरिक्षमें हैं और जो (धोषधीनु पशुषु अप्नु मन्तः) औषधि, पशु और जंतोंके अंदर हैं (ते मसै जसं-मायुः कृणुन) वे इसके लिये बुद्धावस्थावाली दीर्घ आयु करें। यह पुरुष (गतं मन्वान श्युन्तु परिवृणक्तु) संकड़ों अन्य अपमृत्युकी हटा देवे ॥ ३ ॥ (येषां) जिन तुम्हारे अंदर (प्रयाजाः) विशेष यजन, करनेवाले, (उत वा अनुयाजाः) अथवा अनुकूल यजन करनेवाले तथा (हुत-मागाः अटुतादः च देवाः) इवनमें भाग रखनेवाले और इवन किया हुआ न खानेवाले जो देव हैं, (येषां वः पथ प्रदिशः विमन्ताः) जिन आपकी ही पांच दिशायें विभक्त की गई हैं, (तान् वः) उन तुमकी (मसै) इस पुरुषकी दीर्घ आयुके लिये (सन्न-सन्नः कृणोमि) सदस्य करता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे सब देवो, हे वसुदेवो ! मनुष्यको रक्षा करो। हे आदित्य देवो ! तुम मनुष्यमें जाग्रत रहो। मनुष्यका उपांके शंभुसे अथवा कोई अन्य मनुष्यसे अथवा कोई पुरुषसे वचन न हो ॥ १ ॥ हे देवो ! जो तुम्हारे पिता हैं और जो तुम्हारे पुत्र हैं वे सब मेरा कथन सुनो ! मनुष्यको पूर्ण दीर्घ आयुक्त ले जाना तुम्हारे आधीन है, अतः मनुष्यकी दीर्घ आयु करो ॥ २ ॥ जो देव पुलोक, अंतरिक्षलोक, मूलोक, औषधि, पशु, जल आदिमें हैं वे सब मिलकर मनुष्यकी दीर्घ आयु करें। तुम्हारी सहायतासे मनुष्य संकड़ों अपमृत्युसे बचे ॥ २ ॥ विशेष यजन करनेवाले, अनुकूल यजन करनेवाले, इवनका भाग लेनेवाले तथा इवन किया हुआ न खानेवाले जो देव हैं और जिन्होंने पांच दिशाएँ विभक्त की हैं, वे सब आप देव मनुष्यकी आयुपूर्वक समाके सदस्य बनें और मनुष्यकी आयु दीर्घ बनानेमें सहायता करें ॥ ४ ॥

आयुका संवर्धन ।

मनुष्यका आयुष्म न केवल पूर्ण होना चाहिये प्रत्युत अति-दीर्घ होना चाहिये। पूर्ण आयुष्मकी मर्यादा तो १२० वर्षोंकी है इससे कम १०८ वर्षोंकी और इससे कम १०० वर्षोंकी है। सौ वर्षोंकी मर्यादा तो हरएकको प्राप्त होनी ही चाहिये, परंतु उसके प्रयत्न इससे अधिक आयुष्म प्राप्त करनेकी और होने चाहिये इसका सूक्त मंत्र यह है—

भूयश्च शरदः श्रवात् । यजुर्वेद. ३६ । २४

सौ वर्षोंसे भी अधिक आयु प्राप्त हो। १२० वर्षोंसे अधिक आयु जितनी भी होगी वह दीर्घ या अनिदीर्घ संज्ञाको प्राप्त होगी। अर्थात् अति दीर्घ आयु प्राप्त करनेका पुरुषार्थ करना वैदिक धर्मके अनुकूल है। इस दीर्घ आयुष्मकी प्राप्तिकी वैदिक रीति इस सूक्तमें दर्शाई है, इसलिये पाठक इस सूक्तका विचार करें तथा जो जो सूक्त इस विषयके साथ संबंध रखनेवाले हैं उनकाभी मनन इसके विचारके साथ करें।

सामाजिक निर्भयता ।

दीर्घ आयुष्मकी प्राप्तिके लिये समाजमें-सामाजिक तथा राष्ट्रीय दृष्टिमें, तथा धार्मिक और अन्याय दृष्टियोंसे निर्भयता रहनी अत्यंत आवश्यक है। निर्भयता-सुरक्षितता न रहेगी तो

मनुष्य दीर्घायु हो नहीं सकते। समाजमें कोई एक दूसरेपर हमला करनेवाला न हो, इस प्रकारका समाज बनना चाहिये। राजनीतिक कारणसे हो, धर्मके नामपर हो, अथवा किसी दूसरे निमित्तसे हो, कानून अपने हाथमें लेकर एक दूसरेपर हमला करना किसीको भी उचित नहीं है, यह दर्शनके लिये प्रथम मंत्रका अन्वयार्थ है, इसका आचरण यह है—

“ इस मनुष्यका वध कोई सजानीय, अन्य जातीय या कोई अन्य मनुष्य किसी साधनसे न करे ॥ ” (मंत्र १)

यह वेदका उपदेश मनुष्य मात्रके लिये है, हरएक मनुष्य यह ध्यानमें रखे और अपने आचरणमें नालनका प्रयत्न करे। “ मैं किसीका वध न करूंगा, किसी दूसरेकी हिंसा मैं नहीं करूंगा। मैं अहिंसा दृष्टिसे आचरण करूंगा। ” यह प्रतिज्ञा हरएक मनुष्य करे और तदनुकूल आचरण करे।

इस मंत्रमें जो शांति वर्णन का है वह मनुष्य मात्रमें स्थिर रहनी चाहिये, वह बुनियाद है और इसी अहिंसा दृष्टिपर निर्धारणका मंदिर खड़ा होना है। जबतक मनुष्यमें हिंसक दृष्टि रहेगी तब तक वह दीर्घायु बन नहीं सकता। घातघात करनेकी दृष्टि, क्रोधकी लहर, दूसरे का हान करनेकी वाचना, दूसरेकी दबाकर अपनी धनसंपत्ति बढ़ानेकी अभिरुचा सबतक रहेगी

तब तक मनुष्यकी आयु क्षीण ही होती जायगी। इसलिये वध करनेकी शक्ति अपने समाजमें से दूर करनेका यत्न मनुष्य प्रथम करे।

देवोंके आधीन आयुष्य।

मनुष्यका समाज जितना आदितादृष्टिवाला होगा उतनी उसकी आयुष्यमर्यादा दीर्घ होगी। यह बात जितनी सिद्ध होगी उतनी सिद्ध करके आगेका मार्ग आक्रमण करना चाहिये। आगेका मार्ग यह है कि—“ अपना आयुष्य देवोंके आधीन है, देव हमारी रक्षा कर रहे हैं ” यह भाव मनमें धारण करना। इसकी सूचना प्रथम मंत्रके पूर्वार्धने दी है, उसका आशय यह है—

“ हे सब वसुदेवो! मनुष्यकी रक्षा करो। हे सब आदित्यो! मनुष्यमें जागते रहो। ” (मंत्र १)

इस मंत्रमें भी दो भाग हैं। पहिले भागमें वसु देवोंकी रक्षाकृतकके साथ संबंध बताया है और दूसरे भागमें आदित्य देवोंको मनुष्यके अंदर, मनुष्यके देहमें, जाग्रत रहनेकी सूचना दी है। ये दोनों बातें दीर्घ आयु करनेके लिये अत्यंत आवश्यक हैं। अब इनका संबंध देखिये—

सबसे पहिले मनुष्य यह विचार मनमें धारण करे कि संपूर्ण देव मेरी रक्षा कर रहे हैं, परमेश्वर परमात्मा सर्वेश्वर सर्व समर्थ प्रभु मेरी रक्षा कर रहा है और उसकी आधिपत्या में सूर्यादि सब देव सदा मेरी रक्षा कर रहे हैं। मैं परमात्माका अमृत पुत्र हूँ इसलिये मेरा परमपिता परमात्मा मेरी रक्षा करता था, करता है और करताही रहेगा। परमात्माके आधीन अन्य सब देव होनेके कारण वे भी उस परमात्माके पुत्री रक्षा अवश्य करेंगे ही।

इस प्रकार संपूर्ण देव मेरा संरक्षण करते हैं इसलिये मैं निर्भय हूँ यह विचार मनमें दृढ़ करके मनके अंदर जो जो चिन्ताके विचार आयेगे उनको दृढ़ता चाहिये और विश्वाससे मनकी ऐसी दृढ़ अवस्था बनानी चाहिये कि जिसमें चिन्ताका विचार ही न उठे और चिन्तारहित निर्भय होनेके भाव आनंद शक्तिके साथ मनमें रहें। दीर्घायुष्यके लिये इस प्रकार परमात्मा पर तथा अन्यान्य देवोंकी संरक्षक शक्तिपर अपना पूर्ण विश्वास रखना चाहिये, अन्याथा दीर्घ आयुष्य प्राप्त होना अशक्य है।

कई पाठक शंका करेंगे कि अन्यान्य देव हमारी रक्षा किस प्रकार कर रहे हैं? इस विषयमें इसके पूर्व कई स्थानोंपर उल्लेख आया है। तथापि संक्षेपसे यहाँभी इसका विचार करते हैं। पाठक जानते ही हैं कि प्रथम मंत्रमें ‘ वसु ’ देवोंका उल्लेख

है, ये सब जगत्के निवातक देव होनेके कारण ही इनको “ वसु ” कहते हैं। सबके जो निवासक होते हैं वे सबकी रक्षा अवश्य ही करेंगे।

सब वसुओंका भी परम वसु परमात्मा है क्योंकि वह जैसा सब जगत् की वसता है इसी प्रकार जगत्के संरक्षक सब देवोंको भी वसता है। उसके बाद पृथ्वी, आप, अग्नि, वायु आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ये अष्टवसु हैं ऐसा कहा जाता है। भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, आदि के साथ हमारे धनक्षतिके आयुष्यका संबंध है, इनमें से एकका भी संबंध हमसे दृष्ट गया तो हमारा नाश है। इतना महत्त्व इनका है और इसी कारण इनके रक्षणमें सदा मनुष्य रहता है ऐसा उपरवाले मंत्रमें कहा है। इससे स्पष्ट हुआ कि मनुष्य भी रक्ष्य इन देवोंके चारण हो रहा है और अति निःपक्षपातसे हो रही है। ये देव कभी किसीका पक्षपात नहीं करते हैं। सूर्य सबपर एकमा प्रकाशता है, वसु सबके लिये एकता बह रहा है, जल सबके लिये आवाशसे गिरता है, पृथ्वी सबको समानतया आधार दे रही है, इस प्रकार ये सब देव न केवल समकी रक्षा कर रहे हैं प्रत्युत सबके साथ निःपक्षपातका भी वर्तान कर रहे हैं।

हमारे जीवनके साथ इनका संबंध इतना घनिष्ठ है कि इनके बिना हमारा जीवन ही अशक्य है। वायुके बिना प्राण धारणा कैसी होगी? सूर्यके बिना जीवन ही असंभव होगा, इत्यादि प्रश्न पाठक देखें और मनमें निश्चयपूर्वक यह बात धारण करें कि परमात्माके निमित्तके आधीन रहते हुए ये सब देव हमारी रक्षा कर रहे हैं।

हम क्या करते हैं ?

सब देव तो हमारी रक्षा कर ही रहे हैं, परंतु हम क्या कर रहे हैं, हम उनकी रक्षामें रहनेका यत्न कर रहे हैं या उनकी रक्षासे बाहर होनेके यत्नमें हैं? इसका विचार पाठकोंको करना चाहिये। देखिये, परमात्माकी और देवोंकी रक्षासे हम कैसे बाहर जाते हैं—परमात्मापर जो विश्वास ही नहीं रहते वे परमात्माकी रक्षासे बाहर हो जाते हैं। दयालय परमात्मा तब भी उनकी रक्षा करता ही रहता है यह उनकी ही अपार दया है, परंतु ये अविश्वासी लोग उनकी अपार दयासे लाभ नहीं उठाते। अविश्वासके कारण जितनी हानि है, किसी अन्य कारणसे नहीं हो सकती। दीर्घ आयुष्यी प्रातिके लिये इसी कारण मनुष्य परमात्मविषयक दृढ़ विश्वास चाहिये।

इसके बाद सूर्य अपने प्रकाशसे सबको जीवनामृत देकर सबकी रक्षा कर ही रहा है, परंतु मनुष्य सूर्य प्रकाशसे दूर रहते हैं, तब यालिये कि संग मकानोंमें रहते हैं, दिनभर कमरोंमें अपने व्यापको बंद रखते हैं और इस प्रकार सूर्यदेवकी संरक्षक शक्तिसे अपने आपको दूर रखते हैं। इनके लिये मगवान् धृष्टरथभी सूर्यदेव कया कर सकते हैं ! इसी प्रकार वायु और जल आदि देवोंके विषयमें समझना उचित है। ये देव तो सबकी रक्षा कर ही रहे हैं परंतु मनुष्योंको भी चाहिये कि वे इनकी उलम रक्षासे अपने आपको दूर न रखें और जहाँतक होसके उतना प्रयत्न करके उनको रक्षामें अपने व्यापको अधिक रखें।

पाठक यहां समझ ही गये होंगे कि संपूर्ण देव मनुष्यमानुषी किस रीतिसे रक्षा कर रहे हैं और मनुष्य उनही रक्षासे किस प्रकार दूर होते हैं और तब अपना लुकसान किस प्रकार कर रहे हैं।

आदित्य देवोंकी जाग्रती ।

इस प्रथम मंत्रमें दीर्घ आयुष्य वर्षक एक महत्त्वपूर्ण बात कही है वह यह है—“ हे आदित्य देवो ! इस मनुष्यमें जाग्रत रहे। ” मनुष्यके अंदर आदित्यसे ही सब जीवन शक्ति आरही है। यह जीवन शक्ति जैसी मनुष्यमें कार्य करती है उसी प्रकार सब जगदमें कार्य कर रही है। इणी शक्तिसे सब जगत् चल रहा है। परंतु यहां मनुष्यका ही हमें विचार करना है। मनुष्यमें यह आदित्य शक्ति मस्तिष्कमें रहती है, नेत्रमें रहती है और पेटमें रहती है। मस्तिष्कमें मज्जाकेंद्र चलती है, पेटमें पाचक केंद्रके चेतना देती है और नेत्रमें देखनेका व्यापार करता है। इनमेंसे कोई भी आदित्य शक्ति कम हुई तो भी मनुष्यका आयुष्य घटता जायगा। मस्तिष्कका मज्जाकेंद्र आदित्य शक्तिसे हीन होगया तो संपूर्ण शरीर चेतना रहित हो जाता है पेटका पाचक केंद्र आदित्य शक्तिसे हीन होगया तो हाजमा बिगड़ जाता है, नेत्रकी आदित्यशक्ति हटगई तो मनुष्य अंधा बनता है और सभके सब व्यवहार ही बंद हो जाते हैं। इतना महत्त्व इस आदित्य शक्तिका मनुष्यके व्ययवा प्राणिके शरीरमें है। इसलिये वेदमें कहा है कि—

सूर्यं वारुणं जाग्रतस्तस्युद्यत् । अग्नेदः १। ११५। १

“ यह आदित्य सूर्य ही रथावर जंगम जगत्का आत्मा है। ” पाठक इस मंत्रका आशय प्यानमें रखें और अपने अंदरकी आदित्य शक्ति सदा जाग्रत रखनेका अनुष्ठान करें। सूर्यभेदन व्यायाम और सूर्यभेदी प्राणायाम द्वारा पेटके स्थानमें रहनेवाली

आदित्य शक्ति जाग्रत हो जाती है, प्यान धारणा द्वारा मस्तिष्ककी आदित्य शक्ति जाग्रत होती है, तथा पाठक आदि अभ्यास द्वारा नेत्रकी आदित्य शक्ति जाग्रत हो जाती है। इस प्रकार योगाभ्यास द्वारा अपने अंदरकी आदित्य शक्ति जाग्रत और बलयुक्त करनेसे मनुष्य दीर्घजीवी हो सकता है।

इस प्रथम मंत्रके ये उपदेश यदि पाठक प्यानमें धारण करेंगे और इन उपदेशोंका योग्य अनुष्ठान करेंगे तो उनकी आयु बड़ा जायगी इसमें कोई संदेह ही नहीं है। “ समाजमें निर्भयता, परमेश्वरपर दृढनिष्ठा, वायु जल सूर्य आदि देवताओंके अधिक संबंध करना और अपने अंदर आदित्य शक्तियोंकी जाग्रती करना ” यह संश्लेषसे दीर्घायु प्राप्त करनेका मार्ग है।

इसी मार्गका घोषणा स्वष्टीकरण आगेके मंत्रोंमें है, वह अब देखिये—

देवोंके पिता और पुत्र ।

इस आयुष्यवर्धन सूक्तके द्वितीय मंत्रमें कहा है, कि “ हे देवो ! जो तुम्हारे पिता हैं और तुम्हारे पुत्र हैं वे मेरी बात सुनें ! मैं तुम्हारे ही आधीन इस मनुष्यको करता हूँ, व्रम इसको दीर्घ आयुष्य तक सुखसे पहुंचाओ। ” (मंत्र २.)

इस द्वितीय मंत्रमें “ देव, देवोंके सब पिता और देवोंके सब पुत्र ये सब मनुष्यको सुखसे दीर्घ आयुष्य तक पहुंचानेवाले हैं ” ऐसा कहा है, यह सूचना मनन करने योग्य है। यह मंत्र ठीक सारासमें आनेके लिये देव कौन हैं, उनके पिता कौन हैं और उनके पुत्र कौन हैं, इसका विचार करना यहाँ अत्यंत आवश्यक है। अथर्ववेदमें इन पिता पुत्रोंका वर्णन इस प्रकार लाया है—

दत्त साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा ।

यो वै तान्प्रियाभ्यस्त्वयं स ता मय महद्देव ॥ १ ॥

प्राणायामो चतुःश्रोत्रमशित्विष्य सित्विष्य वा ।

भ्यानीदानीं माहमनस्ते वा आकृतेमावहन् ॥ ५ ॥

कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निजायत ।

कुतस्त्वया समभवत्कुतो धावाऽजायत ॥ ८ ॥

इन्द्रादिन्द्रः सोमसोमो अग्नेरग्निजायत ।

त्वष्टा ह जने त्वष्टृधातुर्धाताऽजायत ॥ ९ ॥

ये त आसन्दश जाता देवा देवेभ्यःपुरा ।

पुत्रेभ्यो लोकं दावा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥ १० ॥

[अथर्व. ११।८।१०]

(पुरा) सबसे प्रथम (देवेभ्यः दश देवाः) देवोंसे दश देव (साकं अजायत) साथ साथ उत्पन्न हुए । जो इनको प्रत्यक्ष जानिया, (सः अथ महत् वदेत्) वह बड़े बड़े मनुष्यके विषयमें

बोलेगा । बही ब्रह्मज्ञान कहेंगे ॥ ३ ॥ प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, (अ-क्षितिः) अग्निः, घ्रां सुप्ति, और (क्षितिः) नाशवान् चित्त, ध्यान, उदान, वाचा और मन ये दस देव तेरे (आकृति आवहृत्) संकल्पको उठाते हैं ॥ ४ ॥ कदांमि इन्द्र, सोम, और अग्नि होंगे ? कदांमि त्वष्टा हुआ, और घातामी कदांमि हो गया ? ॥ ८ ॥ इन्द्रसे इन्द्र, सोमसे सोम, अग्निसे अग्नि, त्वष्टासे त्वष्टा, और घातामि घाता हुआ है ॥ ९ ॥ (ये पुरा देवभ्यः दत्त देवाः) जो पहिले देवोंसे दत्त देव हुए हैं, (पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा) पुत्रोंको स्थान देकर वे स्वयं (कस्मिन् लोके आसते) किस लोकमें बैठे हैं ? ॥ १० ॥

इन मंत्रोंमें देव, देवोंके पिता और पुत्र कौनसे हैं इसका वर्णन है । प्राण अपानादि दस देव इन्द्रादि देवोंसे बने हैं और वे पुत्र रूप देव इस शरीरमें रहते हैं, इन पुत्रदेवोंके पिता देव इस जगत्में हैं और उनके भी पिता परमात्मामें रहते हैं, इसका स्पष्टीकरण यह है—प्राणरूप देव मनुष्य शरीरमें है, वह जगत्में संचार करनेवाले वायुका पुत्र है, और इस वायु-कामी पिता-वायुका भी वायु-परमपिता परमात्मा है । इसी प्रकार चक्षुष्मी पुत्रदेव शरीरमें रहता है, उसका पिता सूर्यदेव सुलोकमें है, और सूर्यका पिता-सूर्यका भी सूर्य-परमपिता परमात्मा है । इसी प्रकार अग्न्यन्व देवोंके विषयमें जानना योग्य है । यह विषय इससे पूर्व आत्मुका है, इसलिये यदा अधिक विवरण की आवश्यकता नहीं है ।

सबका शारांश यह है कि पुत्र रूपों देव प्राणियोंके इन्द्रियों और अवयवोंमें अर्थात् शरीरमें रहते हैं । इनके पितादेव मनुष्यः स्वः इस त्रिलोकमें रहते हैं और इन सूर्यादि देवोंके भी पिता विशेष शक्तिके रूपसे परमात्मामें निवास करते हैं ।

हमारी आँख सूर्यके बिना कार्य करनेमें असमर्थ है और सूर्य परमात्माकी और महाशक्तिके बिना अपना कार्य करनेमें असमर्थ है । इसी प्रकार संपूर्ण देवों और उनके पिता पुत्रोंके विषयमें जानना योग्य है । इन सबके आधीन मनुष्यका दीर्घायु बनना है ।

इसलिये जो दीर्घ आयुष्यके इच्छुक हैं, वे भक्तियुक्त अंतःकरणसे अपना संबंध परम पिता परमात्मासे टूट करें । यह परम पिता परमात्मा सूर्यका भी सूर्य, वायुका भी वायु, प्राण का भी प्राण, अर्थात् देवोंका माँ देव है और वहाँ हम सबका पिता है । इसका भक्ति यदि अंतःकरणमें टूट हो गई तो मनुषी समता स्थिर रह सकती है और उससे दीर्घ आयु प्राप्त होती है । इस प्रकार देवोंके रितासे मनुष्यका संबंध होता है

और यह संबंध अत्यंत लाभकारी है ।

वायु सूर्य आदि देवोंसे हमारा संबंध किस प्रकार है और उसका हमारे आरोग्य और दीर्घ आयुमें कितना फलित्व संबंध है, यह हमने प्रथम मंत्रके व्याख्यानके प्रथममें वर्णन किया है । इसलिये उनके सुधारनेका यहाँ आवश्यकता नहीं है ।

प्राण, चक्षु, कर्ण आदि देवपुत्र हमारे शरीरमें ही रहते हैं । योगादि साधनोंसे इनका बल बढ सकता है । इसलिये इनके न्यायामके अनुष्ठानसे पाठक इनकी शक्ति विकसित करें और अपना शरीर नौरोग और बलवान बनाकर दीर्घायुके अधिकारी बनें ।

इस प्रकार मनुष्यका दीर्घ आयुष्यके साथ देवों, देवोंके पितरों और देवोंके पुत्रोंका संबंध है । यह जान कर योग्य-अनुष्ठान द्वारा आयुष्यवर्धन का प्रयत्न करें ।

परमपिता परमात्मा यद्यपि एक ही है तथापि वह संपूर्ण सूर्य, चंद्र, वायु, इंद्र आदि अनेक देवताओंकी विविध शक्तियोंसे युक्त है, इसलिये संपूर्ण देवताओंका सामुदायिक पितृत्व उसमें है, ऐसा कल्पन्य वर्णन मंत्रमें किया है वह उचितही है । इस प्रकार इस मंत्रमें मनुष्यके दीर्घ आयुष्यके अनुष्ठान का मार्ग इस मंत्रमें उक्त और स्पष्ट शब्दोंद्वारा बताया है । पाठक इसका विशेष विचार करें ।

देवोंके स्थान ।

तृतीय मंत्रमें देवोंके स्थान बड़े हैं । यह तृतीय मंत्र यज्ञ श्रावण प्रकट करता है, कि " सुलोक, अंतरिक्ष, पृथिवी, औषधि, पशु, जल, इन, स्थानोंमें देव रहते हैं, वे मनुष्यके लिये दीर्घ आयु करते हैं और त्रिनकी सहायतासे सेकड़ों अपमृत्यु दूर हो जाते हैं । " (मंत्र ३) यह मंत्र वजा विचार करने योग्य है ।

सुलोकमें सूर्यादि देव, अंतरिक्षमें वायु, इंद्र, इन्द्र, चन्द्र आदि देव, पृथ्वीमें अग्नि आदि देव, औषधियोंमें रसात्मक सोमदेव पशुओंमें दुग्धादिरूपसे अमृत देव, जलमें वरुण आदि देव निवास करते हैं । ये सब देव मनुष्यकी आयु बढ़ानेके कार्यमें सहायक होते हैं । सूर्य देव जीवन देता है, वायु प्राण देता है; इंद्र और चन्द्र क्रमशः सुषुप्ति और जाग्रतिके व्यापक और अत्यापक मनके संचालक देव हैं, इंद्र स्वयं प्राणोंका चालक है, अग्नि वागीसे संबंध रखता है, औषधिवनस्पतियोंसे अन्न तथा दवाइयाँ बनकर मनुष्यकी सहायता करती हैं, पशुओंसे दुग्ध रूपी अमृत मिलता है, जल देवसे वीर्य बनता है, इस प्रकार अन्यान्य देव मनुष्यके सहायक हैं । परंतु प्रयत्न द्वारा

मनुष्यने उनसे लाभ उठानेका पुरोपार्थ करना आवश्यक है ।

इन सब देवोंसे अपना संबंध सुरक्षित करके, उनसे दयायोग्य लाभ लेनेका मन करनेसे आयुष्य बढ सकता है । इन देवोंसे नाना प्रकारकी विक्रित्साएं बनी हैं, सुलोहके देवोंसे सौरचिकित्सा, कर्वाचिकित्सा, प्रकाशकिरण-चिकित्सा; अंतरिक्ष धरणीय देवोंसे वायुचिकित्सा, विद्युच्चिकित्सा, मानसचिकित्सा अथवा चाशचिकित्सा, पृष्ठास्थानीय देवोंसे अग्निचिकित्सा, खनिजपदार्थोंसे रसचिकित्सा, राक्षचिकित्सा, औषधियोंसे तथा वनस्पतियोंसे भैषज्यचिकित्सा, पशुओंके दुधसे दूग्धचिकित्सा अर्थात् पशुओंकी विविध औषधियां तिलाकर तथा विविध रंगोंकी गोओंके दूधका उपयोग करनेसे, तथा पशुके मूत्रादिके उपयोगसे विविध चिकित्साएं मिद्ध होती हैं; जलसे जल चिकित्सा, इस प्रकार अनेकानेक चिकित्साएं होती हैं ।

इन सब चिकित्साओंका लभ ही यह है कि विविध रीतियोंसे इन सब देवोंकी दिव्य शक्तियोंसे लाभ उठाना । प्राचीन कालके ऋषियुगमें इन सब देवोंसे लाभ उठानेके जो जो प्रयत्न किये, उनका फल ही ये सब चिकित्साएं हैं । आजकल भी इस दिग्गम विविध प्रयत्न हो रहे हैं । इन देवताओंमें विविध और अनंत शक्तियां हैं, उनका समाप्ति नहीं होगी, इसलिये मनुष्यों की विविध रीतियोंसे लाभ करके इन देवताओंसे विशेष लाभ उठानेके लिये यत्न करना चाहिये । इतने प्राचीन कालमें ऋषियुग यह उद्योग करते थे और लाभ उठानेसे और शर्मन्वीचों भी बने थे । यह क्लिप्तिला दूट गया है, तथापि आजकल प्रयत्न करकेपर उन्में भागसे बहुत खोज होना संभव है । जो पाठक इस क्षेत्रमें कार्य कर सकते हैं कार्य करें और विद्यकी उषति करें तथा उसके भागी बनें । अस्तु । इस प्रकार इन देवताओं की शक्ति अपने अंदर लेने और उस शक्तिको अपने अंदर स्थिर करनेसे मनुष्य दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सकता है ।

साधारणसे साधारण प्रयत्नसे भी बड़ा लाभ हो सकता है । जैसा सूर्य किरणों में अपना रंगी शरीर छपानेसे, वायुमें नंगे शरीर घूमनेसे, बहमें तैरनेसे उषम औषधियोंका रस पीनेसे और गोडुध आदिके सेवनसे साधारण परिस्थितियोंमें रहने वाले मनुष्य भी बहुत लाभ उठा सकते हैं । फिर जो विविध यंत्र निर्माण द्वारा इन देवों शक्तियोंसे अधिक लाभ उठानेका पुरोपार्थ करेगे उनके विषयमें बड़ा बहना है । इस प्रकार ये देवताएं गौरी समान हैं, इससे जितना दुध मोक्षना चाहे लाभ उतना दुध सकते हैं । इनमें अर्घ्य अमृत रस गा है । जो जितना पुरोपार्थ करेगा, उसको उतना अमृत मिलेगा और बढ उतना अमृत होगा ।

देवताओंके चार वर्ग ।

इस प्रकार तीन मंत्रोंमें देवताओंसे अमृतरस प्राप्त करके अमरत्व प्राप्त करके अर्थात् शीर्षामु बननेके अनुष्ठानका स्वरूप बतानेके पश्चात् चतुर्थ मंत्रमें देवताओंके चार वर्गोंका वर्णन किया है और इन देवताओंके अपने सृष्टकारी सदस्य बनानेका उपदेश किया है । इस चतुर्थ मंत्रका आरंभ यह है—

“ देवोंमें प्रजाप, अनुप्राज, हुतमाग और अहुताद ये चार वर्गके देव हैं । इन देवोंसे ये पाबों दिसाएं विनक्त हुई हैं । ये सब देव मनुष्यके सृष्टकारी सन्म बनें । ” (मंत्र ४)

इन चार वर्गोंके देवोंके लक्षण इनके वाचक शब्दोंसे ही व्यक्त होते हैं । ये लक्षण देखिये—

- १ प्रजापः— विशेष यज्ञ करने वाले,
- २ अनुप्राजः— अनुकूल यज्ञ करने वाले,
- ३ हुतमागः— हवन का भाग लेने वाले,
- ४ अहुतादः— हवनका भाग न खानेवाले ।

पाठक इन देवोंकी अपने शरीरमें सबसे प्रथम देखें— (१) जिनपर इच्छा शक्तिका परिणाम नहीं होता, परंतु जो अवश्य अपनी ही गतिसे कार्य करते हैं उन अवस्थोंका नाम प्रजाप है, जैसे हृदय आदि अवयव । (२) जो अवयव अपनी इच्छा शक्तिसे अनुकूल कार्यमें लगाने जा सकते हैं उनको अनुप्राज कहते हैं, जैसे हाथ, पांव, आंठ आदि । (३) हुतमाग ये इन्द्रियां हैं जो भोग की इच्छुक हैं और कार्य करनेसे दक्षता हैं और विधामसे तथा अन्नरस मिलनेसे पुष्ट होती हैं । (४) शरीरमें अहुताद केवल न्यारह प्राण ही हैं, क्योंकि ये प्राण शरीरमें सदा कार्य करते हैं और स्वयं इच्छा भी भोग नहीं लेते, जन्मसे लेकर मरनेतक बराबर कार्य करते हैं ।

इस प्राणका वर्णन तथा अन्य इन्द्रियोंका वर्णन इसी प्रकार उपनिषदोंमें किया है । प्राणानिश्चय उपनिषदमें शरीर यज्ञके प्रजाप और अनुप्राज का वर्णन इस प्रकार है—

शरीरयज्ञस्य...के प्रजापः केऽनुप्राजः ॥

महाभूतानि प्रजापः ॥

मृदान्पशुप्राजः ॥ प्राणानिश्चये ॥ ३—४

शरीरमें चले हुए यज्ञके प्रजाप और अनुप्राज कौन हैं ? महाभूत प्रजाप और मनु अनुप्राज हैं । इसीप्रकार हुतमाग और अहुताद विषयक वर्णन उपनिषदोंमें तथा ब्राह्मणोंमें किया है जिसका तात्पर्य ऊपर दिया ही है ।

इसी आन्तर दहका नष्टका ब्राह्मणमें किया जाता है,

उपका वर्जन यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है। अनुयायी से प्रनाथ अधिक महत्त्व के हैं तथा हुतभागों से बहुतायत विशेष महत्त्व रखते हैं। जो शरीरवाक्य जानते हैं उनको इसका अधिक विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे जानते ही हैं कि इच्छा शक्तिकी नियंत्रणसे चलनेवाले हस्तनद्यादि अवयवोंकी अपेक्षा आनिच्छासे कार्य करनेवाले हृदयादि अंतरवयव अधिक महत्त्व के हैं। तथा बहुतायत अर्थात् कुञ्ज भी भोग न लेते हुए जन्मसे मरनेतक अविभ्रान्त कार्य करनेवाले प्राणादिक अधिक धेनु हैं और नेत्र, कर्ण आदि अवयव जो भ्रमसे थकते हैं, विभ्राम करते हैं और भोग भी भोगते हैं वे उनसे गौण हैं।

यह मुख्य गौणका भेद देखकर दीर्घायु प्राप्तिका अनुष्ठान करनेवाले की उचित है, कि वह अपने अंदर के मुख्य देवों अर्थात् इंद्रियशक्तियोंको अधिक बलवान् करे और अग्यों को भी बलवान् करे, परंतु यह ख्याल रखे कि गौण अवयवों की शक्ति बढाने के कार्य करते हुए मुख्य अवयवोंकी क्षीनता न होने दे। उदाहरण के लिये पहलवानोंके श्वापान ही लीजिये। पहलवान लोग अपने शरीरके घुड़ोंको बलवान बनानेके यत्न बहुत करते हैं, परंतु हृदय आदि अंतरवयवोंका ख्याल नहीं करते हैं, इससे ऐसा होता है कि उनका स्थूल शरीर बड़ा बलशाली होता है, परंतु हृदयादि विशेष महत्त्वके अवयव कमजोर हो जाते हैं। इसका परिणाम अस्वास्थुमें खनकी मृत्यु हो जाती है।

यदि वे लोग साथ हृदयकी भी बलवान बनानेका यत्न करेंगे तो ऐसा नहीं होगा इसलिये यहां कइना यह है कि अपने अंदर

जो देवताओंके अंश रहते हैं उनमें मुख्य अवयवोंका विशेष ख्याल करना, उनको शक्ति बढानेका और उनकी कृपजोरी न बड़ें इसका विशेष विचार करना चाहिये। इसके पश्चात् गौण अवयवोंका विचार करना उचित है। श्वाससंस्थान, मज्जासंस्थान और हृदयसंस्थान आदि महत्त्वपूर्ण संस्थाओंका बल बढाना चाहिये और स्नायु आदि उनके अनुकूल रहनेयोग्य शक्तिशाली बनने चाहिये।

मंत्रका प्रयाज शब्द मुख्यका भाव और अनुयाज शब्द गौणका भाव बताता है। ये सब देव हमारे चारों ओर सब दिशाओंमें विभक्त हुए हैं और उन्होंने संपूर्ण स्थानको विभक्त किया है। ये सब देव हमारे शरीरमें चलनेवाले शान्सावस्थरिक सत्रके भागी बनें, अर्थात् ये इस सौ वर्ष चलनेवाले जीवन स्त्री महायज्ञके हिस्सेदार हैं ही, परंतु ये अपना कार्य करनेमें समर्थ बनकर अपना यज्ञका भाग उत्तम रीतिसे पूर्ण करनेमें समर्थ हों, अपना यज्ञका भाग उत्तम रीतिसे पूर्ण करें और निर्दिनतासे यह शान्सावस्थरिक यज्ञ चलानेमें हमारे सहकारी बनें।

इस प्रकार इन मंत्रोंका आराम है, ये मंत्र स्पष्ट हैं और बहुत बोधप्रद हैं। यदि पाठक इस ढंगसे अनुष्ठान करेंगे तो उनको निःसंदेह लाभ हो सकता है। यह “आयुष्य-गण” का सूक्त है और पाठक इस विषयके अन्य सूक्तोंके साथ इसका विचार करें।

आशा-पालक-सूक्त ।

(३१)

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता— आशापालाः; वास्तोष्पतिः)

आशांनामाशापालेभ्यश्चतुर्म्यां अमृतैभ्यः । इदं भूतस्वाभ्यंक्षेम्यो विधेम हविषा वयम् ॥ १ ॥

य आशांनामाशापालाश्चत्वारः स्थनं देवाः । ते नो निर्रक्त्याः पार्श्वेभ्यो मुञ्चतांहंसो-अंहसः ॥ २ ॥

अन्नामस्त्वा हविषा यजाम्यश्लोणस्त्वा घृतेन जुहोमि ।

य आशांनामाशापालस्तुगीर्षो देवः स नः समुतमेह वंशत् ॥ ३ ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुह्येभ्यः ।

विश्वं सुमृतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव ईशेम् सूर्यम् ॥ ४ ॥

अर्थ—(भूतस्य अप्यस्यः) जगत्के अप्यस्य (वस्तुस्य) अथ (आद्यानां चतुर्भ्यः आगामलेभ्यः) दिशाओंके चार दिशापालकोंके लिये (वयं) हम सब (हृषीक इह विधेय) हृषीकस्य इस प्रकार अर्पण करते हैं ॥ १ ॥ हे (देवा) देवो! (ये आद्यानां चत्वारः आद्यापालाः स्थन) ओ तुम दिशाओंके चार दिशापालक हो (ते नः) वे तुम हम सबको (निरुत्थाः) पादोभ्यः) अवलोकके पाओवे तथा (संहस संहसः) दरएक पाओके (सुरतां) छुटाओ ॥ २ ॥ (स ग्रामः) न यका हुआ मैं (हविषा स्वा यजामि) हविर्देव्यस्ये तेता यजन करता हूं। (अ-श्लोमः त्वा एतेन उरुगमि) संगडा न होता हुआ तुमको पीते अर्पण करता हूं। यह (आद्यानां आद्यापालः सुरताः देवः) जो दिशाओंके दिशापाल चतुर्थ देव है (सः नः) सुमूर्त इह आवश्यत्वं) वर हम सबको उत्तम प्रकारसे यदा पहुंचावे ॥ ३ ॥ (नः मात्रे उत पित्रे स्वस्ति वस्तु) हम सबको माताके लिये तथा हमारे पिताके लिये आनंद होवे। तथा (गोभ्यः जगते पुरुषेभ्यः स्वस्ति) गौत्रके लिये, चलने धरनेवालोंके लिये और पुरुषोंके लिये सुख होवे। (नः विश्वं सुमूर्तं सुविद्वं अस्तु) हम सबके लिये सब प्रकारका ऐश्वर्य और उत्तम ज्ञान हो और हम (सूर्यं ज्योत्स्व एव इदम) सूर्यको बहुत बालकके देखते रहें सर्वात् हम दीर्घायुकी हों ॥ ४ ॥

भाषा— चार दिशाओंके चार अमर दिक्पाल हैं, वे इस बने हुए जगत्के अप्यस्य हैं। उनको पूजा हम करते हैं ॥ १ ॥ चार दिशाओंके चार दिक्पाल हैं, वे हमें दरएक पाओसे पकावे और दुर्गतिसे भी हमारा छुटकारा करें ॥ ३ ॥ मैं न यकता हुआ उनका सकार करता हूं, संगडा छुटा न बनकर मैं उनको भी देता हूं, जो इन चार दिक्पालोंके चतुर्थ देव है वह हमें सुखपूर्वक उत्तम अवस्थातक पहुंचावे ॥ ५ ॥ हमारे माता पिता, हमारे अन्य इष्टमित्र, हमारे गाय पोडे आदि पशु तथा ओं भी हमारे प्राणी हों वे सब इन इस प्रकार सुखी हों। हमारा सब प्रकारसे अभ्युदय होवे और हमारा ज्ञान उत्तम प्रकारसे बढ़े तथा हम दीर्घायु हों ॥ ४ ॥

दिक्पाल ।

पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर ये चार दिशाएं हैं। उनको रक्षा करनेवाले चार दिक्पाल हैं, वे अपनी वापना दिशाका संरक्षण कर रहे हैं। ये निरुद्ध रक्षक इतने दक्ष हैं कि इनको न गमनते हुए कोई मनुष्य छिपी भी प्रकार दुःख कार्य कर नहीं सकता। दरएक मनुष्यको जितने है कि वह एक वात मनमें धारण करे और इन दिवा लोकपालोंके दण्डके योग्य कोई आचरण न करे।

राजा अपने राज्यको व्यवस्था और राजवला सुशासन करनेके लिये अपने राज्यमें चार विभाग करके उनपर एक एक मुख्य आधिकार अधिकारी नियत करे, वह अधिकारी दक्षतासे अपने विभागका योग्य शासन करे। दुर्गोको दंड करे और सुदोषका प्रतिपालन करे। और बही भी अनाचार होने न दें। यह राष्ट्रनैतिकता पाठ इस श्लोकसे हमें मिलता है।

विश्वके अंदर राष्ट्र, और राष्ट्रके अंदर व्यक्तिका देह है। और इन तीनों स्थानोंमें नियम एक जैसा ही है। इसलिये राष्ट्रशासनका विचार होनेके पश्चात् जिन व्यक्तियोंका राष्ट्र बनना है उन व्यक्तियोंके अन्दर चार दिशाओंके चार दिक्पाल दिये रूपमें हैं और उनका शासन इस अध्यात्मनैतिकताके कैसा चल रहा है और उससे हमें नैतिकताका विषयमें कौनसा

बोध लेना है, इनका विचार अण करना चाहिये।

देहमें चार दिक्पाल ।

देहमें तुमको “पूर्व द्वार” कहते हैं और तुमको “पश्चिम द्वार” कहते हैं। ये द्वार एक दूसरेके साथ संश्लिप्त भी हैं। पूर्व द्वारसे अर्थात् सुखसे अथवा पान शरीरके अंदर सुखता है, वहां का कार्य करता है और शरीरके मरणादिके क्षणमें परिवर्तित होकर पश्चिम द्वारसे अर्थात् सुखसे बाहर हो जाता है। अर्थात् पापक अथवा प्रवेस पूर्व द्वारसे इस शरीरमें होता है और मरणादिके क्षणमें कार्य पश्चिम द्वारसे होता है। दोनों कार्य शरीरके स्वास्थ्य के लिये अत्यंत आवश्यक हैं। परंतु यह तो शूल शरीरके स्वास्थ्य के साथ का संबंध है, स्वयं और दो द्वार हैं जिनका संबंध मनुष्यकी उन्नति या अधोगतिके साथ अधिक है; वे दो द्वार मनुष्यके शरीरमें ही हैं, जिनको “उत्तर द्वार” तथा “दक्षिण द्वार” कहते हैं।

“उत्तर द्वार” मरणात्मक है जितका नाम “विद्वित द्वार” उपनिषदोंमें बड़ा है, इस द्वारसे शरीरमें जीवन्मुक्ताका प्रवेस होता है और इसी द्वारसे अपने प्रयत्नसे जिस समय यह बाहर जाता है उस समयसे वह जन्ममरण के दुःखमें छूटता है और पुनः शरीरके बंधनमें पड़ता नहीं। वास्तविक मरणात्मक छोटैपनमें इस स्थानपर इच्छा नहीं होती। इसका नाम उत्तर द्वार है क्योंकि

इस द्वार से जानेसे उच्चतर अवस्था प्राप्त होती है ।

यह द्वार मन्वा केन्द्रके साप संबंधित है । इसी मन्वा केन्द्रके साप संबंध रखनेवाला निचला द्वार शिखर है जिससे वायुका पात होता है । इसके योग्य नियम पालनसे सुयोग्य संतति उत्पन्न होती है, परंतु इसके अनियम में चलानेसे मनुष्यकी अधोगति होती है । ये दो द्वार मनुष्यको उच्च और नीच बनानेमें समर्थ हैं । ब्रह्मचर्य पालनद्वारा उत्तर मार्गसे जानेका उपनिषदोंका वर्णन इसी उत्तर मार्गकी सूचित करता है, इसीका नाम "उत्तरामन (उत्तर+अमन)" अर्थात् उत्तर मार्गसे जाना है । इसके विरुद्ध "दक्षिणामन" अर्थात् दक्षिण मार्गसे जाना है, जिसके संयमसे उत्तम गृहस्थवर्गपालनपूर्वक उन्नति होना संभव है, परंतु असंयमसे मनुष्य इतना गिरता है कि उसका कोई ठिंघाना ही नहीं होता । ये दो मार्ग मन्वातंत्रुओंके साप संबंध रखनेवाले हैं ।

इस प्रकार पूर्वद्वार और पश्चिमद्वार से शरीरमें अन्ननलिका के साप संबंध बताते हैं तथा उत्तर द्वार और दक्षिण द्वार ये दो मार्ग मन्वातंत्रुओंके साप संबंध रखते हैं । ये चार द्वारोंके चार संरक्षक देव हैं परंतु ये देव राक्षसोंके हमलेके अंदर दबने नहीं चाहिये ।

आशा और दिशा ।

इस सूक्तमें दिशावाचक "आशा" शब्द है और, उसके पालकका नाम "आशपाल" मंत्रोंमें आया है । "आशा" शब्दके दो अर्थ हैं । एक 'दिशा' और दूसरा "आशा, महत्त्वा-कांक्षा, उम्मीद" । मनुष्यकी जैसी आशा, इच्छा, महत्त्वकांक्षा और उम्मीद होती है उसी प्रकारकी उसकी कार्य करनेकी दिशा होती है । मनुष्य जिस समय आशाहीन हो जाता है, निराश होता है, हताश होता है, उस समय वह इस जगत्से

हटनेका या मर जानेका इच्छुक होता है । यह विचार यदि पाठकोंके मनमें जम जायगा, तो उनको पता लग जायगा कि यह सूक्त मनुष्यके साप कितना पनिष्ठ संबंध रखता है ।

जिस समय "आशा" शब्दका अर्थ "आशा, आकांक्षा," आदि किया जाता है उस समय यही सूक्त मनुष्यका अभ्युदयका मार्ग बनाता है । तथा जिस समय इसी "आशा" शब्दका अर्थ "दिशा" किया जाता है, उस समय यही सूक्त बाध जगत् तथा राष्ट्रके प्रबंधका भाव बताता है । सूक्तकी यह शब्दरचना विशेष गंभीर है और वह हरएक को वेदकी अद्भुत वर्णन शैलीका स्वरूप बता रही है ।

सूक्तका मनुष्यवाचक भावार्थ ।

मनुष्यकी चार आशाएँ हैं, उनके चार अक्षर पालक हैं । इन मूलाभ्युत्थकोंका हम हृदयसे पूजा करते हैं ॥१॥ मनुष्यकी चार आशाओंके चार पालक हैं, वे हमें पापसे बचावें और दुष्ट अवस्थाने भी बचावें ॥२॥ मैं न थकता हुआ और अंगोंसे दुर्बल न होता हुआ हाविले तथा घृतसे इनको तृप्त करता हूँ । इन चार आशाओंके पालकोंसे चतुर्थ पालक जो है वह हमें उत्तम आनंदको प्राप्त करनेमें सहायक होवे ॥३॥ इनकी सहायतासे हमारे भाव, पिता, हृष्ट, मित्र, गाय, घोड़े आदि सब सुखी हों । हमारा अभ्युदय होवे और हम शानी वनकर दोगाँवु बनें ।

केवल एक "आशा" शब्दका अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें आनेसे व्यक्तिविययक उन्नतिके मार्गके संबंधमें कैसा उत्तम उपदेश मिल सकता है यह पाठक यहाँ देखें । यह उपदेश इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसके अनुसार चलनेसे मनुष्य ऐहिक अभ्युदय तथा पारामार्थिक निःश्रेयस प्राप्त कर सकता है । इस सूक्तपर बहुत लिखा जा सकता है, परंतु यहाँ संक्षेपमें ही इसका विवरण करेंगे ।

मनुष्यमें

चार द्वारोंकी चार आशाएँ ।

मनुष्यके शरीरमें चार द्वार हैं, इस बातका वर्णन इससे पूर्व किया है । इन चार द्वारोंके कारण चार आशाएँ मनुष्यके मनमें उत्पन्न होनी हैं । जिस प्रकार घरके जितने द्वार होते हैं उनसे बाहर जाने और उन द्वाराओंसे कार्य करनेकी इच्छा घरके मालिक को होनी है, उसी प्रकार इस शरीररूपी घरके त्रामी आशमेवकी आशाएँ इस घरके द्वारोंसे जगत्में गमन करके

वहाँके कार्यक्षेत्रमें पुष्ट्यार्थ करनेकी होती है । शरीरमें इस शरीरमें अनेक द्वार हैं, इसमें नौ द्वार हैं, ऐसा अन्यत्र कई स्थानोंमें कहा है । देखिये—

शष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोप्या ।

तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषाऽऽवृत्तः ॥

(नपर्व० १० । २ । ११)

“आठ चक्र और ना द्वारास युक्त यह दयाका अयोधा नामक नगरी है, इसमें सुवर्णमय कोश है वही तेजस्वी स्वर्ग है।”

इस अधर्म श्रुतिमें शरीरका और हृदय गुहाका वर्णन करते हुए कहा है, कि इस शरीरमें नौ द्वार हैं। ये द्वार हैं इसमें कोई छेद ही नहीं है। दो नाक, दो आँसू दो कान, एक मुख, गुदा और शिखर ये नौ द्वार यहाँ कहे हैं। इनमें से मुख पूर्व द्वार, गुदा पश्चिम द्वार, शिखर दक्षिण द्वार इन तीनोंका संबंध इस अपने प्रचलित सूक्तके मंत्रमें है। जो चतुर्ध्वजा देव आठ

चक्रवाले पृष्ठबंधके ऊपर मस्तिष्कके भी ऊपर के भागमें विद्यते नामसे प्रसिद्ध है। इसका वर्णन अपर्णवेदमें इस प्रकार है—

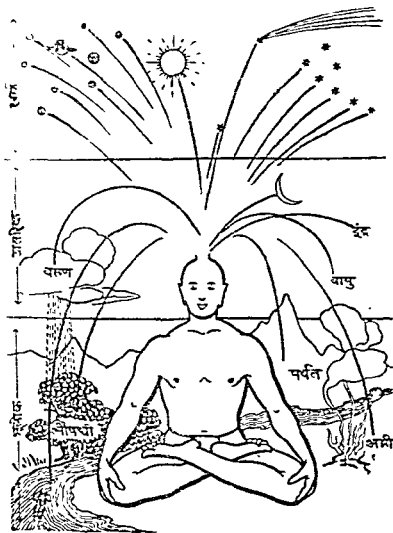
मूर्धानमस्य संस्राण्यायवां हृदयं च यत् ।

मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽपि धीर्ध्रतः ॥

(अथर्व० १० २।२६)

“मस्तिष्क और हृदय को सीकर अर्थात् एक केन्द्रमें सीन करके मस्तकके भी ऊपर तिरके बाँधमें से प्राण फैका जाता है।”

विद्यति-द्वारसे प्रवेश ।



विद्यति द्वारसे तैवीस देवोके साय आत्माका शरीरमें प्रवेदा। अंदर जानेपर यह द्वार बंद होता है । पश्चात् प्राणसाधन द्वारा अपनी हृच्छासे हृसी द्वारसे वापस जानेपर मुक्ति । साधारण जन देहत्याग करनेके समय किसी अन्य द्वारसे बाहर जाते हैं, परन्तु केवल योगी ही अथर्ववेदके कहे मागसे मस्तिष्कके परे हृसी द्वारसे जाता है और मुक्त होता है ।

इस मंत्रमें "मस्तिष्घात् ऊर्ध्वः । अधि शीर्षतः ।" आदि शब्दों द्वारा मस्तकके ऊपर लं उत्तर द्वारका वर्णन किया है । अर्थात् जो चार द्वार हमने इस मंत्रके व्याख्यानके प्रसंगमें निश्चित किये हैं उनका वेदमें अन्यत्र वर्णन इस प्रकार आता है । नौ द्वारोंमेंसे तीन और इस मंत्र-वा-संस्थानका एक मिलकर चार द्वार हैं और उनही चार आशाएं अथवा दिशाएं हैं । अब ये आशाएं देखिये—

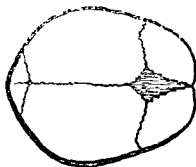
द्वार

आशा

- १ पश्चिमद्वार = गुदा = की आत्मा विसर्जन करना । शरीरधर्म ।
- २ पूर्वद्वार = मुख = " " मधुर भोजन करना । अर्थप्राप्ति ।
- ३ दक्षिणद्वार = शिख = " " मोगका उपनोग करना । काम ।
- ४ उत्तरद्वार = विद्यति = " " बंधनसे मुक्त होना । मोक्ष ।

आरोग्यका आधा

हममें पश्चिमद्वारसे जो आशा है वह केवल " शरीरधर्म " पालन करने की ही है तथापि इस शौच धर्मसे अर्थात् पावित्र बनने के कर्मसे शरीर शुद्धि होनेके कारण इससे शरीरस्वास्थ्यकी प्राप्ति होती है । सब अन्य मोग इसके आश्रयसे हैं यह बात हर एक जान सकते हैं । इस द्वारका कार्य बिगड जानेसे शरीर रोगी होता है और अन्य द्वारों की आशाएं पूर्ण होने की असमर्थता होती है । इसके उत्तम प्रकार कार्य करनेपर अन्य आशाएं सफल होनेकी संभावना है । इसलिये हम कह सकते हैं, कि इस पश्चिम द्वारकी आशा मनुष्यके मनमें "आरोग्यकी प्राप्ति" रूपसे रहती है । इस आशाका कार्यक्षेत्र बहुत बड़ा है, मनुष्य इस विषयमें जितना कार्य करेगा उतना वह स्वस्थता प्राप्त करेगा और वह यदि ऐसे व्यवहार करेगा कि इस पश्चिम द्वारके व्यवहार ठीक न चले तो उसके रोगी होनेमें कोई शंकाही नहीं है ।

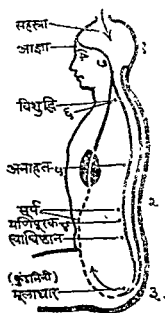


मस्तकमें विद्यतिद्वार



पृष्ठवंश

विद्यतिद्वार



सहस्रार चक्र पृष्ठवंशमें चक्रोंके स्थान ।

खानपान ।

अब पूर्वद्वारकी आशा देखिये । संज्ञामें इतना कटना इस विषयमें पर्याप्त होगा कि इस द्वारसे मनुष्य उत्तम अन्न और उत्तम पान करने की इच्छा करता है । मधुरताया प्रेम करते करते मनुष्य इतना अधिक खाता है कि वह अजीर्णसे बीमार हो जाता है । इसलिये इस विषयमें प्रयत्नपूर्वक संयम रखना चाहिये । रनिका, गुकाम और मिठाना दास जो बनता है उसकी आयु कष्टप्रद ही होती है । हरएक इन्द्रियके विषयमें यहाँ बात है । इस प्रकार इंद्रिय भोगके लिये धनकी आवश्यकता है इस हेतु इस द्वारकी आशा “अर्थो प्राप्ति” ही है । यह आशा अत्यधिक बढ़लिये कष्ट हमी और संयम द्वारा अत्यावश्यकताके अनुसार भोग लेनेसे सुख बढेगा, उचित होगी । सुखद्वारसे शब्द शौल्लेका भी एक बात होता है । उत्तम शब्द-प्रयोगसे अर्थमें शांति फैलती है और कुशब्दके प्रयोगसे अशांति फैलती है । इस विषयमें भी मिह्यापर संयम रहना आवश्यक है । अन्यथा अनर्थ होनेमें कोई देर नहीं लगेगी । इस प्रकार इस द्वारकी आशाका संबंध मनुष्यकी उन्नतिके साथ है ।

कामोपभोग ।

शीघ्र दक्षिण द्वार है । इस द्वारद्वारा जगधमें उत्तम प्रजनन अर्थात् सुप्रजाजनन करना आवश्यक है । पातु जगत् में इसके अंशधमसे जो अनर्थ हो रहे हैं, वे किछीसे छिपे नहीं हैं । इसका संयम महत्प्रयाससे साध्य होता है । ऊर्ध्वरेता होना ही वैदिक धर्मका साध्य है । इसके विचारसे इस द्वारकी आशाएँ पता लग जायगा । यह केंद्र आर्यत महत्त्वका है, परंतु जनता का लक्ष्य इसके अंशधममें विगत करनेकी ओर अधिक है और सुधारके मार्गमें प्रयत्न अति कम है ।

बंधनका नाश ।

अब चतुर्थ विहाति द्वारपर हम आते हैं । यह विद्यति-द्वार है । इससे जीवतामा इस धरतीमें मुक्त है, परंतु इसी द्वारसे बाहर जानेका मार्ग इसकी मितता नहीं है । सुदुर्भाग्यमें प्रवेश करना यह जानता है, पातु सुशिक्षित बापस किनेकी विद्या इसे पता नहीं है । चक्रव्यूहमें घुसनेकी विद्या जाननेवाला, परंतु चक्रव्यूहमें घुसकर सुदमें विजय प्राप्त करने और सुरक्षित बापस आनेकी विद्या न जाननेवाला अमिमम इन्ना अमिममन्यु यही है । यदि यह मनुष्यत बापस आनेकी विद्या जानेगा तो यह विजय-अर्जन-होगा, किंर इसकी रर किच्छ है ? “ विजयी ”

बननेके लिये ही ये सब धर्मनाम हैं । जिस समय आने हुए मार्गसे यह जीवताना बापस आनेकी शक्ति प्राप्त कर सकेगा उस समय इसकी कोई बंधन कष्ट नहीं पहुँचा सकता । हरएक बंधन को दूर करनेकी इच्छा इसमें इस द्वारके कारण है ।

इस प्रकार चार द्वार की चार आशाएँ हैं और हरएक मनुष्य इन आशाओंके कार्यक्षेत्रमें बुरा या मत्वा कार्य करता है और भिरना है या ठठना है । इन आशाओंके कार्यक्षेत्रकी कल्पना पाठकोंकी ठीक प्रकार हो गई, तो इस सूक्तके मंत्रोच्चा विचार समझनेमें कोई कठिनाता नहीं होगी । इसलिये प्रथम इन चार द्वारोंका विचार पाठक बारबार मननद्वारा करें और वह बात ठीक प्रकार ध्यानमें धारण करें । तपश्चात् निम्नलिखित स्पष्टीकरण पढ़ें—

अमर दिक्पाल ।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रके कथनमें तीन गते कही हैं—“(१) चार आशाओंके चार अमर आशा पालक हैं । (२) वेही चार भूताध्यक्ष हैं । (३) उनकी पूजा हम हवनसे करते हैं ।”

मनुष्यमें चार आशाएँ शैलसौ हैं, उन आशाओंका स्वरूप क्या है और उनके साथ मनुष्यके पतन अथवा उत्थानका किस प्रकार संबंध है, यह पूर्व स्थलमें बताया ही है । चार आशाएँ मनुष्यके अंदर समात हैं, (१) शरीरधर्मका स्वयं करना, (२) भोग प्राप्त करना, (३) क्रमिक भोग करना और (४) बंधनसे निवृत्त होना, ये चार भावनाएँ अथवा कामनाएँ मनुष्यमें सदा प्रायत ही, मूढमें तथा प्राक्में ये समाततासे रहती हैं । पशुपक्षियोंमें भी अत्यांशसे ये रहती हैं अर्थात् भूतनाममें ये सदा रहती हैं, इसलिये इनका समातन आधिहार प्राणीनामपर है, मानो ये ही भूतोंके अध्यक्ष हैं । इनको अध्यक्ष इसलिये कहा कि है इनकी प्रेरणासे ही प्राणी भरने अपने सब व्यवहार करते हैं । यदि ये आशाएँ प्राणियोंके अंदर न रहें तो उनकी हस्तचक्र भी बंद हो जायगी । मनुष्यके संपूर्ण प्रयत्न इनकी आधीनतामें ही हो रहे हैं । इसलिये ये ही चार आशा-पालक मनुष्यके चार आधिधारी हैं । इनकी आधीनतामें रहता हुआ मनुष्य अपने व्यवहार करता है और उनका बुरा या मत्वा परिणाम भोगता है ।

हवनसे पूजन ।

इनका पूजन हवनसे ही हो रहा है । पूर्वद्वार सुख है, उसमें अन्नदानया हवन ही रहा है । कौन प्राणी ऐसा है कि जो यह हवन नहीं करता । इसी प्रकार दक्षिणद्वार दिग्ग देवके पूजक सब ही प्राणी हैं, इतनाही नहीं परंतु इस कामदेवकी भावि

पूजा से लोग अपना ही घात कर रहे हैं। इतनी बात मर्य है कि उत्तरद्वार जिसका नाम विरति है उसके पूजक अत्यंत अल्प हैं और पश्चिमद्वार को पूजा करना थोड़े ही जानते हैं। पश्चिमद्वार की पूजा योगमें प्रसिद्ध "अपानायाम" से की जाती है। जिस प्रकार नासिका द्वारा करनेका प्राणायाम होता है उसी प्रकार पश्चिम गुद द्वार से अपानायाम किया जाता है। इसकी क्रिया भी थोड़े लोग जानते हैं। यह क्रिया योग-शास्त्रमें प्रसिद्ध है और इससे नाभिके निचले भागका आरोम्य प्राप्त होता है। उत्तरद्वार विरतिके उपासक खास योगी होने हैं वे इस स्थानको बालना करके अपनी मुक्तता प्राप्त करते हैं। इनकी हवनसे पूजा यह है—

१ पूर्वद्वार— (सुख)— अन्नपानादिके हवनसे पूजा

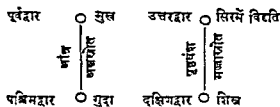
२ दक्षिणद्वार— (शिल्प)— भोगादिद्वारा कामदेवकी पूजा ।

६ पश्चिमद्वार— (गुदा)— अपानायाम—अपानका प्राणमें हवन करके पूजा । इसका उल्लेख भगवद्गीतामें : सी है — अपने लुद्धति प्राणं प्राणोऽपानं तथा परे । (म० गी० ४।२९)

७ उत्तरद्वार— (विरति)— मस्तिष्कके मज्जाकेन्द्रके सहस्रारचक्रमें घनानादिके पूजा ।

यहां पाठक जान गये होंगे, कि पहिली दो उपासनाएं जघत् में अधिक हैं और दूसरी दो कम हैं। परंतु बीजम्पते हैं। प्रथम मंत्रमें " हम चारों अक्षर आद्यापालकोंके हवनद्वारा पूजा करेंगे" ऐसा स्पष्ट कहा है। यह इसलिये कि हर एक मनुष्य चारोंकी उपासनाद्वारा अपना उद्धार करे ।

यहां नियमन की बात पाठकोंको ध्यानमें घालन करनी चाहिये। यह नियमन इस प्रकार है—



पूर्व तथा पश्चिमद्वार ये हमारे आंतोंके विरुद्ध दिशाके सुख हैं। सुखका अतिरेक होनेसे गुदाका कार्य बिगड़ता है, और

गुदाका कार्य ठीक रहनेसे सुखकी कृति ठीक रहती है। इस प्रकार ये एक दूसरेपर नियमन करते हैं। इसी प्रकार मस्तिष्क और शिल्प ये परस्परका नियमन करते हैं। यदि शिल्पदेवने अतिरेक किया तो मस्तिष्क हलचल होता है, और मनुष्य बुद्धि-का कार्य करनेमें अमर्ष्य होता है, पागल बनता है, निरम्मा होता है। तथा मस्तिष्कमें सुविचारोंको स्थिर करनेसे ये सुविचार शान्तदेवका संयम करनेमें सहायक होते हैं। इस प्रकार ये परस्पर उपकारक भी हैं और घातक भी हैं। पाठक सोच कर जाननेका प्रयत्न करें कि ये किस प्रकार उपकारक होते हैं और कैसे घातक होते हैं तथा इनकी उपासना किस प्रकार करनी चाहिये और इनके प्रकीर्णसे किस प्रकार बचना चाहिये। अब द्वितीय मंत्रका विचार करेंगे—

पापमोचन ।

द्वितीय मंत्रका आशय यह है— "चार आशाओंके चार आद्यापालक देव हैं वे हमें पापसे तथा अधोमतिके पापसे बचावें ।"

पूर्वोक्त वर्णनसे पाठकोंने जान लिया होगा कि ये चार देव हमें किस प्रकार बचा सकते हैं और किस प्रकार गिरा सकते हैं। देखिये—

१ पूर्वद्वार—सुख=शिल्पकी गुलामोंसे खानपानमें अतिरेक होकर, पेडाक बिगड़ और स्वास्थ्यका नाश। इसी शिल्पके संयमसे आरोग्यप्राप्ति ।

२ पश्चिमद्वार—गुदा=पूर्वोक्त संयम और असंयमसे ही इसका काम या हानि प्राप्त होनेका संबंध है ।

३ दक्षिणद्वार—शिल्प=अन्नवर्षद्वारा संयमसे उत्पत्ति, संयम-पूर्वक गृहस्वयममें पालनसे सुप्रजाप्राप्ति और असंयमसे क्षय ।

७ उत्तरद्वार—विरति=पूर्वोक्त संयम और असंयमसे इसके काम और हानि प्राप्त होनेका संबंध है ।

इसका मनन करनेसे ये किस नियमने पापसे छुटा सकते हैं इसका ज्ञान हो सकता है। पापने छुटानेसे ही निर्रतिके पापसे मनुष्य छूट जाता है। निर्रतिकका अर्थ नाश है। पाप करने-वालेको निर्रतिके अर्थात् विनाशके प्रायश्चित्त देते हैं। और पुण्यवानोंको उनसे कोई कष्ट नहीं होता। इस मंत्रका यह कथन बड़ा बोधप्रद है कि ये चार द्वारकी चार आशाएं मनुष्यको आपस छुटा सकती हैं और बेधनसे भी मुक्त कर सकती हैं। पाठक अपनी अपनी अवस्थाका विचार करें और आमपरीक्षाद्वारा जाननेका यत्न करें कि उनके शरीरमें क्या हो रहा है। यदि

कोई आशापालक उन्हे विरक्त धार्य करता हो, ना अनुके आशीन हुआ हो, तो सावधानीसे अपने बचावका उत्तर हो । इस प्रकार द्वितीय मंत्रका विचार करनेसे इतना शीघ्र निष्ठा; अब तृतीय मंत्र देखते हैं—

चतुर्थं देव ।

तृतीय मंत्रका आशय यह है—“मैं न यकला हुआ ओः अंगोसे दुर्बल न होता हुआ हवनसे, तथा पीछे इनकी तुमि कराया हूँ । इन चार आशापालकोंमें जो चतुर्थ आशापालक देव है वह हमें सुखसे यहाँ आनंद स्थानमें पहुंचावे ।”

१। मंत्रमें कहा हुआ “तुरीयः देवः” अर्थात् चतुर्थं देव विराटिद्राका रक्षक मोक्षकी लाक्षाघातक है । इसी देवकी कृपासे अन्य सब द्वागोत्र नियमन हो सकता है । इसी दृष्टिसे अन्य सब कार्य-व्यवहारका नियमन होना चाहिये । वैदिक धर्मके संपूर्ण कार्य-व्यवहार इसी दृष्टिसे रचे गये हैं । मोक्षके मार्गके ध्यानसे उत्पत्तिके सब व्यवहार होने चाहिये । इसीका नाम धर्म है । बंधनसे मुक्त होना मुख्य साध्य है, उसके प्रधानकार्य सब अन्य व्यवहार होने चाहिये । अन्त्याजगत्के व्यवहारको आधिक्य महत्त्व देनेसे और मोक्षधर्मके कम महत्त्व देनेसे मनुष्यमें लोभमूढि होनेके कारण बड़ा अनर्थ होगा । त्यागपूर्ण जीवन और भोगपूर्ण जीवनका भेद यहाँ स्पष्ट होता है ।

मंत्रमें कहा है कि न धरुना हुआ और अदमरसे विकल न होता हुआ मैं इन देवोंकी पूजा करूंगा । इस कथनका भाव स्पष्ट है कि मनुष्य प्रयत्न करके अपना शरीर सुदृढ बनाने और अनेक उरुगार्य करनेका उद्योग मनमें स्थिर करे ।

इन चार देवोंकी अन्त्यादिसे तथा पी आदिसे तृप्ति करनी चाहिये । जिसका जो हवन है उसीके अनुकूल उद्योग भी नी है । वह जैसा जिसकी देना है वह यथायोग्य रीतिसे देकर उसकी तृप्ति करनी चाहिये । इस विषयमें यथावत् करना योग्य नहीं । न यकति हुए और न अंत होते हुए ये भोग प्राप्त करने और योग्य प्रमाणसे उत्तम स्वीकार भी करना चाहिये । अर्थात् यकी दृष्टतासे अन्त्या का व्यवहार करना उचित है । परंतु सब व्यवहार करते हुए चतुर्थं देवकी कृपा संवादन करनेका अनुसंधान रखना चाहिये । क्योंकि उसकी कृपासे आनंद, उत्तमि, यश आदि की यहाँ प्राप्ति होती है और सन्तति भी मिल सकती है ।

दीर्घं आयु ।

पूर्वोक्त प्रकार तीन मंत्रोंका विचार करनेके पश्चात् अब

चतुर्थ मंत्र इस प्रकार हमारे अन्तुका आशय है—“इन आशापालकोंकी सहायतासे हम तथा हमारे माता, पिता, इष्ट, मित्र, यत्न, पीछे आदि सब सुखी हों । हमारा अन्तुद्वय होरे तथा हम ज्ञानी बनकर निःश्रेयसके योगी बनें और दीर्घायु बनें ।” इस मंत्रमें चार बातें कही हैं—

१ स्वस्ति (सु + वस्ति) = स्वका उत्तम धरितत्त्व हो कर्मात् इस लोकका जीवन सुखपूर्वक हो ।

२ सुपूर्व = (सु + मूर्ति) = उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त हो, वह उत्तम अन्तुद्वयका सुखक रिषान है ।

३ सुविदम = (सु + विद + म) = उत्तम ज्ञान मिले । आत्मज्ञान ही सब ज्ञानोंमें उत्तम और निःश्रेयसका द्वेष्ट है । वह हमें प्राप्त हो ।

४ ज्योक् = दीर्घकाल जीवन हो । यह ही अन्तुद्वय का निःश्रेयसके सहज ही प्राप हो सकता है ।

वेदमंत्रोंमें बारंबार “जदोह् च सूर्यं हवीम” अर्थात् “दीर्घकालक सूर्यकी हम देखते रहें ।” यह एक मुहावर है, इसका तात्पर्य “हमारे आयु अग्निदीर्घ हो” यह है । परंतु यहाँ ध्यानमें विचारतया धारण करनेकी बात यह है कि अति दीर्घ आयु प्राप्त करनेका संशय सूर्यसे कररनाही है । यहाँ यहाँ दीर्घ आयु प्राप्त करनेका उपायके वेदमें बताया है यहाँ यहाँ सूर्यका संशय अत्यंत बताया है । इसलिये जो लोग दीर्घ आयु प्राप्त करना चाहते हैं वे सूर्यके साथ आनुत्पन्नधर्मका संशय है यह बात न मूलें । ब्रह्मकी कृपासे दीर्घ आयु प्राप्त होती है इस विषयमें अल्पवेदमें अल्प्य कहा है—

यो धे तां ब्रह्मणः वेदास्तेनावृतां पुरम् ।
उत्से ब्रह्म च आस्ताव चतुः प्राणं प्रजां ददुः ॥ २९ ॥
न ईत् चतुर्बेहाति न प्राणी जस्तः पुता ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥
(अथर्व ११२)

“जो निश्चयसे ब्रह्मकी अत्युत्तम परिपूर्ण मंगरीको जानता है उसको स्वयं ब्रह्म और ब्रह्मके साथी अन्य देव ब्रह्म, प्राण और प्रजा देने हैं ॥ २९ ॥ अति ब्रह्मत्ववासे पूर्ण तबही प्राण और ब्रह्म छोड़ते नहीं जो ब्रह्मपुरीको जानता है और विश्व पुरीमें रहनेके कारण इसके पुत्रक बहते हैं ॥ ३० ॥”

भाव स्पष्ट है कि ब्रह्मकी कृपासे दीर्घ आयु, संवत्तन और आरोग्य पूर्ण ईश्वरीय सुख उत्तम शरीर प्राप्त होता है । यही भाव संशयसे करने प्रकल्पित सुखके चतुर्थ मंत्रमें कहा है

इस प्रकार यह ज्ञानी मनुष्य इस परलोकमें यशस्वी होता है ।
यही इस सूक्तका उपदेश है ।

विशेष दृष्टि ।

यह सूक्त केवल बाह्य दिशाएं और उनके पालकोंका ही वर्णन नहीं करता है । बाह्य दिशाओंका वर्णन इस सूक्तमें है, परंतु दिशा शब्द न प्रयुक्त करते हुए " आद्या" शब्द का प्रयोग इसमें इर्षालिये हुआ है कि मनुष्य अपनी आद्याओं और उनकी पालक शक्तियोंकी अपने अंदर अनुभव करे और उनके संनम, नियमन, और योग्य उपसन आदिसे अपना अम्युद्य और निःश्रेयस धिक् करे

इस सूक्तका यह स्मरालंकार बड़ा ही महत्वपूर्ण है । और जो इस सूक्तका केवल बाह्य दिशाओंके लिये ही समझते हैं वे इसके महत्वपूर्ण उपदेशसे वंचित ही रहते हैं । पाठक इस दृष्टिसे इसका अध्ययन करें

इस सूक्तका संबंध आयुष्य गण, अपराजित गण आदि अनेक गणेशि विषयकी अनुकूलतासे है । यह सूक्त स्वयं वारतोष्पति गण अथवा वसु गण का है । इसलिये "यद्वांके निबाध" के साथ इसका अपूर्व संबंध है । इस प्रकारकी दृष्टिसे विचार करनेसे पाठक इससे बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं और उसकी आचरणमें डालकर अपना अम्युद्य और निःश्रेयस प्राप्त कर सकते हैं ।



जीवन-रसका महासागर ।

(३२)

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता—धावापृथिवी)

इदं जनासो विदयं महद्ब्रह्म वदिष्यति । न तत्पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणान्ति वीरुधः ॥ १ ॥

अन्तरिक्ष आसां स्थाम् आन्तरिक्षदाभिं । आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्ट्रेषसो न वा ॥ २ ॥

यद्रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम् । अर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्यैव स्रोत्याः ॥ ३ ॥

विश्वमन्याममीवारं तदन्यस्यामधिश्चितम् । दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकारं नमः ॥ ४ ॥

अर्थ—हे (जनासः) लोगो ! (इदं विदय) यह ज्ञान प्राप्त करो । वही ज्ञानी (महत् ब्रह्म वदिष्यति) बड़े ब्रह्मके विषयमें कहेगा । (येन वीरुधः प्राणान्ति) जिससे औषधियां आदि प्राण प्राप्त करती है, (तत् पृथिव्यां न, नो दिवि) यह पृथ्वीमें नहीं और नहीं युलोक में है ॥ १ ॥ (आसां अन्तरिक्षे स्थाम्) इन औषधि आदिकोंका अन्तरिक्षमें स्थान है, (आन्तरिक्षदां इव) यक कर बैठेहुओंके समान (अस्य भूतस्य आस्थानं) इस बने हुए आस्थान जो है (तत् वेधसः विदुः वा न) वह ज्ञानी जानते हैं वा नहीं ? ॥ २ ॥ (यत् रेजमाने रोदसी) जो हिलनेवाले धावापृथिवीने और (भूमिः च) केवल भूमिने भी (निरतक्षतं) बनाया (तत् अप्य सर्वदा आर्द्रं) वह आजतक सदासर्वदा रसमय है (समुद्रस्य स्रोत्याः इव) जैसे समुद्रके स्रोत होते हैं ॥ ३ ॥ (दिवं च) सब ने (अन्यां अमीवार) दुसरीकी धरलिया है, (तत्) वह (अन्यस्यां अधिश्चितम्) दुसरीमें आभित हुआ है । (दिवे च) युलोक और (विश्ववेदसे पृथिव्यै) संपूर्ण धनमें युक्त पृथिवीके दिवे (नमः अकरं) नमस्कार देने किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे लोगो ! यह समझो कि जो तत्वज्ञान समझेगा वही ज्ञानी उसका दिवरण करेगा । तत्वज्ञान यह है कि—जिनमें वननेवाली वनस्पतियां आदिक अपना जीवन प्राप्त करती है वह जीवनका सत्व पृथ्वीपर नहीं है और नहीं युलोक में है ॥ १ ॥ इन वनस्पति आदिका स्थान अंतरिक्ष है । जैसे यकैनादे विभ्राम करते हैं उसप्रकार ये वनस्पति आदिक अंतरिक्षमें रहते हैं । इस बने हुए जगत्का जो आधार है उसकी कौनसे ज्ञानी लोग जानते हैं और कौनसे नहीं जानते ? ॥ २ ॥ हिलने उलनेवाले

दुलोक और पृथ्वीलोक के द्वारा जो कुछ बनाया गया है, वह सब इस समयतक बिलकुल नया अर्थात् जीवन रखते परिपूर्ण जैसे हैं, जैसे सरोवरसे चलनेवाले स्रोत रखते परिपूर्ण होते हैं ॥ ३ ॥ यह सब अगत् दूसरी शक्ति के ऊपर रहा है और वहही दूसरी के ही आश्रयसे रहा है। दुलोक और सब धर्मोंसे युक्त पृथ्वी देवोंको मैं नमन करता हूँ (क्योंकि ये दो देवताएँ इस जगत् का निर्माण करनेवाली हैं।) ॥ ४ ॥

स्थूल सृष्टि ।

जो सृष्टि दिखाई देती है वह स्थूल सृष्टि है, इसमें मिट्टी परपर आदि अतिस्थूल पदार्थ, वृक्षवनस्पत्यादि बढ़नेवाले पदार्थ, पशुपक्षी आदि बढ़ने और हिलनेवाले प्राणी तथा मनुष्य बचने हिलने और उन्नत होनेवाले उच्च कोटीके प्राणी हैं। परपर मिट्टी आदि स्थिर सृष्टीको छोड़ जाय और वनस्पति पशु तथा मानव सृष्टिमें देखा जाय, तो ये उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं और प्राण धारण करते हैं यह बात स्पष्ट दिखाई देती है। इसमें दिखाई देनेवाला जीवनतत्त्व कौनसा तत्व है ? क्या यह स्थूल ही है या इससे भिन्न और कोई तत्व है इस का विचार इस सूक्तमें किया है ।

सब लोग इस जीवन रसका ज्ञान प्राप्त करें। यदि उनको जीवनसे अनांद प्राप्त करना है तो उनको चिन्तित है कि वे इस (जनासः । विद्ययः) ज्ञानको प्राप्त करें। यह मनन करने योग्य सूचना प्रथम मंत्रके प्रारंभमें ही दी है। (मंत्र १)

यह जीवन रसकी विद्या कौन देगा ? किससे यह प्राप्त होगी ? यह धंका यहां आती है, इस विषयमें प्रथम मंत्रने ही आगे जाकर कहा है कि, जो इस विद्याको जानता होगा, वही (महत् ब्रह्म वदिव्यति) बड़े ब्रह्मके विषयमें अर्थात् इस महत्त्वपूर्ण ज्ञानके विषयमें कहेगा। जिसको इस विद्याकी प्राप्ति करनेकी इच्छा हो, वह ऐसे विद्वानके पास जावे और ज्ञान प्राप्त करे। किसी अन्यके पास जानेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

जीवन का रस

सारांश रूपसे यह समझो कि "जिस जीवनतत्त्वके आश्रयसे बढ़नेवाले वृक्ष वनस्पति प्राणी आदि प्राण धारण करते हैं यह जीवनका आधारतत्त्व न तो पृथ्वीपर है और नहीं दुलोकमें है।" (मंत्र १) वह किसी अन्य स्थानमें है इसलिये उसको इस बाह्य यावापृथिवीसे भिन्न किसी अन्य स्थानमें ही ढूँढना चाहिये ।

इस प्रथम मंत्रमें स्पष्ट शन्दोंसे कहा है कि जिससे जीवनका रस मिलता है वह तत्त्व इस स्थूल संसारसे बाहर अर्थात् वह अतिसूक्ष्म है। वह कहाँ है इसका पूर्ण उत्तर

आगे के मंत्रोंमें आजायगा ।

भूतमात्रका आश्रय ।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि— "इस सृष्टिगत संसृष्टीपर जो आश्रयस्थान अंतरिक्ष है। इन स्थूल पदार्थ मात्रका जो अंतरिक्षमें आश्रय स्थान है वह ज्ञानी भी जानते हैं वा नहीं ?" अर्थात् इतना ज्ञान सब ज्ञानियोंको भी एकसा है वा नहीं ? ज्ञानियोंमें भी जो परिपूर्ण ज्ञानी होते हैं वे ही केवल जानते हैं। सृष्टि विद्याके जाननेवाले इस बातसे नहीं जान सकते, परंतु आत्मविद्याका ज्ञान जाननेवाले ही इसको यथावत् जानते हैं। (मंत्र २)

इस द्वितीय मंत्रमें " भूत " शब्द है, इसका अर्थ "बना हुआ पदार्थ" । जो यह बनी हुई सृष्टि है इसीका नाम भूत है और इसकी विद्याका नाम भूतविद्या है। इस सब सृष्टिका आधार देनेवाला एक सूक्ष्मतत्त्व है जिसका ज्ञान अप्यारामविद्या जाननेवाले ही जान सकते हैं। इसलिये जीवनरस विद्याका अध्ययन करनेवाले ऐसे सद्वृत्तके पास जायें, कि जो इसका ज्ञाता हो और उसके पाससे वह जीवनकी विद्या प्राप्त करें। यह ही ज्ञानी (महत् ब्रह्म वदिव्यति) बड़े ब्रह्मका ज्ञान कहेगा। इस प्रकार द्वितीय मंत्रका प्रथम मंत्रके साथ संबंध है।

सनातन जीवन ।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि— "जो इन यातापृथिवीके अंदर बना हुआ पदार्थ मात्र है वह सदा सर्वदा, जिस समय बना है उस समयसे लेकर इस समयतक बाहर जीवन रखते परिपूर्ण होनेके कारण नवीन सा रहा है, इसमें जीवन रस पेशा भरा है जैसा सरोवरसे चलनेवाले विविध स्रोतोंमें सरोवरका जल चलता है।"

जगत्के माता पिता ।

अदिति भूमि जगत्की माता है और द्यौषिता जगत्का पिता है। भूलोक और दुलोक, भूमि और सूर्य, अर्थात् अति और पुरुष शक्ति, श्रमण शक्ति और धन शक्ति, रथि शक्ति और प्राण शक्ति, प्रकृति और पुष्टि, प्रकृति और आत्मा इस प्रकारके दो शक्तियोंसे यह जगत् बना है, इसलिये इनकी जगत्के माता पिता कहा है। विविध प्रयत्नकारोंने उक्त द्वन्द्व शक्तियोंके

विविध नामोंसे किसी नामका प्रयोग किया है और जगत्की मूल उत्पादक शक्तियोंका वर्णन किया है ।

जीवनका एक महासागर ।

वेदमें यावा पृथिवी — युलोक और पृथ्वीलोक — को जगत् के माता पिता करके वर्णन किया है क्योंकि सम्पूर्ण जगत् इन्हींके अंदर समाया है । यह बना हुआ जगत् यद्यपि बननेके पश्चात् बड़ता और बिगड़ता भी है तथापि बने हुए सम्पूर्ण पदार्थोंमें जो जीवन तत्त्व व्याप रहता है वह एक रूपसे व्यापता है, इसलिये संपूर्ण जगत्के नियम अटल और एक जैसे हैं । हजारों वर्षोंके पूर्व जैसा जीवन संसारमें चलता था वैसा ही आज भी चल रहा है । इससे जीवनमृत्युकी अगाध सत्ता की कल्पना हो सकती है ।

जिस प्रकार एक ही सागरसे अनेक स्रोत चलते हैं तो उनमें एक ही जीवन रस सबमें एकसा, प्रवाहित होता रहता है, उसी प्रकार इस संसारके अंदर बने हुए अनंत पदार्थोंमें एक ही अगाध जीवनके महासागरसे जीवन रस फैल रहा है, मानो संपूर्ण पदार्थ उस जीवनामृतसे ओतप्रोत भरपूर हो रहे हैं ।

पाठक धनगर अपने आपको भी उसी जीवन महासागरमें ओतप्रोत भरनेवाले एक घड़ेके घामान घमसें और अपने अंदर वही जीवन स्रोत चल रहा है इसका ध्यान करें । जिस प्रकार तैरनेवाला मनुष्य अपने चारोंओर जलका अनुभव करता है उसीप्रकार मनुष्य भी उसी जीवन महासागरमें तैरनेवाला एक प्राणी है, इसलिये इस प्रकार ध्यान करनेसे उस जीवनामृतके महासागर की अरुणवी कल्पना हो सकती है । यह जीवन सदा ही नवीन है, कभी भी यह पुराना नहीं होता, कभी बिगड़ता नहीं । अन्य पदार्थ बनने और बिगड़ने पर भी यह एवशा नवीन रहता है । और यही सबको जीवन देता है । (तत् अद्य सर्वदा धारं) वह आज और सदा सर्वदा एक जैसा अमिनव रसपूर्ण रहता है । सबको जीवन देने पर भी जिसकी जीवन शक्ति रतिमात्र भी कम नहीं होती, इतनी अगाध जीवन शक्ति सधमें है ।

सबका एक आभय ।

चतुर्थ मंत्रका कथन है कि—”संपूर्ण विश्व अर्थात् यह स्थूल जगत् एक दूसरी शक्तिके ऊपर रहता है और वह शक्ति और दूसरी शक्तिके आश्रयसे रहती है । वही आधारका तत्त्व पृथ्वी और युलोकके स्वरूपमें दिखाई दे रहा है इसलिये मैं युलोकमें उसकी प्रकारशाक्तिकी और पृथ्वीमें उसकी आधार शक्तिकी नमस्कार करता हूँ ।” अर्थात् संपूर्ण जगत्में उसकी शक्ति ही जगत् के रूपमें प्रकट होगई है ऐसा जानकर, जगत्को देखकर उस शक्तिका स्मरण करता हुआ उस विषयमें अपनी नम्रता प्रकट करता हूँ ।

स्थूल सूक्ष्म और कारण ।

इस मंत्रमें विश्व “शब्द” स्थूल जगत्का श्लेषक है इस स्थूलका आधार (अन्या) दूसरा है, इससे सूक्ष्म है और वह इसके अंदर है अथवा उसके बाहर यह सब विषय है । प्रत्येक स्थूल पदार्थके अंदर यह सूक्ष्म तत्त्व है और यह भी तबसे आतिसूक्ष्म तत्त्व पर आश्रित है । यह तबसे तत्त्व ही सबका एक मात्र आधार है और इसका जीवन अमृत सबमें एक रस होकर व्याप रहा है । इसी ज वनके समुद्रमें सब विश्वके पदार्थ तैर रहे हैं अथवा संपूर्ण पदार्थ रूपा छोटे बड़े स्रोत उसी एक अद्वितीय जीवनमहासागर से चल रहे हैं । इनमें उसीका जीवन कार्य कर रहा है यह बताना इस सूक्तका उद्देश्य है । अनेकोंमें एक ही जीवन भरता है इसका अनुभव यहाँ होता है ।

यह सूक्त केवल पढ़नेके लिये नहीं है, प्रत्युत यह मनकी धारणा करके अपने मनमें धारणासे स्थिर करनेके अनुष्ठानके लिये ही है । जो पाठक इसकी उक्त प्रकार धारणा कर सकेंगे वे ही इससे योग्य लाभ प्राप्त कर सकेंगे । पाठक यहाँ देखें कि छोटेसे छोटे सूक्तों द्वारा वेद कैसा अद्भुत उपदेश दे रहा है ! निःसंदेह यह उपदेश जीवन फलदाइनेमें समर्थ है । परंतु यह लाभ वही प्राप्त करेगा कि जो इसकी जीवनमें डालनेका यत्न करेगा ।

जलसूक्त

(३३)

(ऋषिः-शन्तातिः । देवता आपः । चन्द्रमाः)

- हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः संविता यास्वमिः ।
 या अमि गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ १ ॥
 यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम् ।
 या अमि गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ २ ॥
 यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति ।
 या अमि गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ ३ ॥
 शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोर्प स्पशतु त्वचं मे ।
 घृतश्रुतः शुचयो याः पावकास्ता न आपः शं स्याना भवन्तु ॥ ४ ॥

अर्थ-जो (हिरण्य-वर्णाः) सुवर्णके समान चमकनेवाले वर्णसे युक्त (शुचयः पावकाः) शुद्ध और पवित्रता बढानेवाला (यासु सन्विता जातः) जिनमें संविता हुआ दे और (यासु अमिः) जिनमें अमि है, (याः सुवर्णाः) जो उत्तम वर्णवाला जल (अमि गर्भं दधिरे) अमिको गर्भमें धारण करता है (ताः आपः) वह जल (नः दां स्योनाः भवन्तु) हम सबको शांति और सुख देनेवाला होवे ॥ १ ॥ (यामां मध्ये) जिन जलके मध्यमें रहता हुआ (वरुणः राजा) वरुण राजा (जनानां सत्यानृते अवपश्यन्) जनोके सत्य और असत्य कर्मोंका अवलोकन करता हुआ (याति) चलता है । (याः सुवर्णाः) जो उत्तम वर्णवाला जल अमिको गर्भमें धारण करता है वह जल हम सबको शांति और सुख देनेवाला होवे ॥ २ ॥ (देवाः दिवि) देव एलोकमें (यामां भक्षं कृण्वन्ति) जिनका भक्षण करते हैं, और जो (अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति) अन्तरिक्षमें अनेक प्रकार से रहता है और जो उत्तमवर्णवाला जल अमिको गर्भमें धारण करता है वह जल हम सबको शांति और सुख देनेवाला होवे ॥ ३ ॥ हे (आपः) जल ! (शिवेन चक्षुषा मा पश्यत) कल्याणकारक नेत्र द्वारा मुझको तुम देखो । (शिवया तन्वा मे-त्वचं उपस्पृशत) कल्याणमय अपने शरीरसे मेरी त्वचाको स्पर्श करो । जो (घृतश्रुतः) तेज देनेवाला (शुचयः पावकाः) शुद्ध और पवित्र (आपः) जल है (ताः नः दां स्योनाः भवन्तु) वह जल हमारे लिये शांति और सुख देनेवाला होवे ॥ ४ ॥

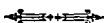
भानार्थ-अंतरिक्षमें संचार करनेवाले मेघमंडलमें तेजस्वी पवित्र और शुद्ध जल है, जिन मेघोंमेंसे सूर्य दिखाई देता हो, जिनमें विद्युत् रूपी अमि कभी ग्यक्त और कभी गुप्त रूपसे दिखाई देता हो, वह जल हमें शांति और आरोग्य देनेवाला होवे ॥ १ ॥ जिनमेंसे वरुण राजा घूमता है और जाते जाते मनुष्योंके सत्य और असत्य विचारों और कर्मोंका निरीक्षण करता है जिन मेघोंने विद्युत् रूपी अमिको गर्भके रूपमें धारण किया है उन मेघोंका उदक हमें सुख और आरोग्य देवे ॥ २ ॥ एलोकके देव जिसका भक्षण करते हैं और जो विविध रूपरंगवाले अंतरिक्षस्थानीय मेघोंमें रहता है तथा जो विद्युत्का धारण करते हैं उन मेघोंका जल हमारे लिये सुख और आरोग्य देवे ॥ ३ ॥ जल हमारा कल्याण करे और उषध हमारे शरीरके घाय होनेवाला स्पर्श हमें आल्हाद देनेवाला प्रतीत हो । मेघोंका तेजस्वी और पवित्र जल हमें शांति और सुख देनेवाला होवे ॥ ४ ॥

शुद्धि-जल ।

इन चारों मंत्रोंमें शुद्धिजलका वायव्यमय वर्णन है। इन मंत्रोंका वर्णन इतना काव्यमय है और छंद भी ऐसा उत्तम है कि एक स्वरसे पाठ करनेपर पाठकको एक अद्भुत आनंदका अनुभव होता है। इन मंत्रोंमें जलके विशेषण "शुधि, पावक, सु-वर्ण" आदि शब्द शुद्धि जलकी शुद्धता बता रहे हैं। शुद्धि जल जितना शुद्ध होता है उतना, कोई दूसरा जल नहीं होता। शरीर शुद्धिकी इच्छा करनेवाले दिव्यलोग इसी जलका पान करें और आरोग्य प्राप्त करें। इसके पानसे शरीर पवित्र और निरोग

होता है। सामान्यतया शुद्धि जल शुद्ध ही होता है परंतु जिस शुद्धिमें सूर्यकिरणें भी प्रकाशती हैं उसकी विशेषता अधिक है। इसी प्रकार चंद्रमाकी किरणोंका भी परिणाम होता है।

इस सूक्तके चतुर्थे मंत्रमें उत्तम स्वास्थ्यका लक्षण बताया है वह ध्यानमें धारण करने योग्य है— "जलका स्पर्श हमारी चमकीकी आन्हाद देवे।" जबतक शरीर निरोग होता है तबतक ही शीत जलका स्पर्श आनंद कारक प्रतीत होता है, परंतु शरीर रुग्ण होते ही जल स्पर्श बुरा लगने लगता है।



मधु-विद्या ।

(३४)

(ऋषिः— अथर्वा । देवता—मधुवल्ली)

इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि । मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि ॥ १ ॥
 जिह्वाया अग्रे मधुं मे जिह्वामूले मधूलकम् । ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥
 मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् । वाचा वंदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदहः ॥ ३ ॥
 मधौरस्मि मधुतरो मदुद्यान्मधुमत्तरः । मामित्किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥ ४ ॥
 परिं त्वा परितत्तुनेक्षुणांगामविद्विषे । यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापंगुा असं ॥ ५ ॥

अर्थ— (इयं वीरुत् मधुजाता) यह वनस्पति मधुरताके साथ उत्पन्न हुई है, मैं (त्वा मधुना खनामसि) तुझे मधुसे खीदता हूँ। (मधोः अधि प्रजाता असि) शहदके साथ तू उत्पन्न हुई है अतः (सा) वह तू (नः मधुमतः कृधि) हम सबको मधुर कर ॥ १ ॥ (मे जिह्वाया अग्रे मधुं) मेरी जिह्वाके अग्र भागमें मधुरता रहे। (जिह्वामूले मधूलकं) मेरी जिह्वाके मूलमें भी मीठास रहे। हे मधुरता ! तू (मम क्रतो इत् जह असः) मेरे कर्ममें निश्चयसे रह। (मम चित्तं उपायसि) मेरे चित्तमें मधुरता बनी रहे ॥ २ ॥ (मे निक्रमणं मधुमत्) मेरा चालचलन मीठा हो। (मे परायणं मधुमत्) मेरा दूर होना भी मीठा हो। मैं (वाचा मधुमद् वदामि) वाचसे मीठा बोलता हूँ जिससे मैं (मधुसन्दहः भूयासं) मधुरताकी मूर्ति बरूंगा ॥ ३ ॥ मैं (मधोः मधुवरः अस्मि) शहदसे भी अधिक मीठा हूँ। (मधुयात् मधुमत्तरः) मधुरपदार्थसे अधिक मधुर हूँ। (मां इत् किल त्वं वनाः) सुझर ही तू प्रेम कर (मधुमतीं शाखां इव) जैसे मधुर रखवाली वृक्ष शाखासे प्रेम करते हैं ॥ ४ ॥ (अ-विद्विषे) वैर दूर करने के लिये (परितत्तुना इक्षुणा त्वा परि अगाम्) फैले हुए ईखके साथ तुझे घेरता हूँ। (यथा मां कामिनी असः) जिससे तू मेरी कामना करनेवाली होवे और (यथा मदन अपंगाः असः) जिससे तू सुझसे दूर न होनेवाली होवे ॥ ५ ॥

भावार्थ— यह ईख नामक वनस्पति स्वभावसे मधुर है और उसको लगानेवाला और उखाड़नेवाला भी मधुरता की भावनासे ही उसको लगाता है और उखाड़ता है। इस प्रकार यह वनस्पति परमात्मासे मीठास अपने साथ लाती है, इसलिये हम चाहते हैं कि यह हम सबको मधुरतासे युक्त बनावे ॥ १ ॥ मेरी जिह्वाके अग्रभागमें मधुरता रहे, जिह्वाके मूल में और मध्यमें मधुरता

रहे । में। धर्ममें मधुरता रहे, और मेरा चित्त भी मधुर विचारोंका मनन करे ॥ २ ॥ मेरा बालचलन मीठा हो, मेरा बाला बाला मीठा हो, मेरे ह्वासे और भाव तथा मेरे शब्द भी मीठे हों। ऐसा होनेसे मैं अंदर बाहरसे मीठास की मूर्ति ही बूढ़गा ॥ ३ ॥ मैं शहरसे भी मीठा बनता हूँ, मैं मिठाईसे भी मीठा बनता हूँ, इसलिये जिस प्रकार मधुर पचवाली दासदार पक्षी प्रेम करते हैं उस प्रकार तू सुखपर प्रेम कर ॥ ४ ॥ कोई किमीका श्रेय न करे इस उद्देशमें व्यापक मधुरवर्णिका अर्थात् व्यापक मधुर विचारोंकी बाउ चारों ओर बनाता हूँ ताकि इस बातमें सब मधुरता हो बटे और सब एक दूसरेपर प्रेम करें और विद्वेषके कोई चिन्तसे विमुक्त न हो ॥ ५ ॥

मधुविद्या ।

वेदमें कई विद्याएं हैं अध्यात्मविद्या, देवाविद्या, वन विद्या, युद्ध विद्या; इसी प्रकार मधुविद्या भी वेदमें है। मधुविद्या जगत् की ओर किस प्रकार देखना चाहिये वह दृष्टिकोण ही मनुष्यमें उपपन्न करता है। उपनिषदों में भी यह मधुविद्या वेद मंत्रोंके ही है। यह जगत् मधुरूप है अर्थात् मीठा है ऐसा मानकर जगत् की ओर देखना इस बातका मधु विद्या उपदेश करता है। दूसरी विद्या जगत् को ब्रह्मका आगम बताती है; इसको पाठक कटुविद्या कह सकते हैं। परंतु यह कटुविद्या वेदमें नहीं है। वेद जगत् की ओर दुःख दृष्टिसे देखाता नहीं, न ही दुःख दृष्टिसे जगत्की देखनेका उपदेश करता है। वेदमें मधुविद्या इसीलिये है कि इसका ज्ञान प्राप्त करके लोग जगत् की ओर मधुदृष्टिसे देखनेकी बात सीखें। इन विद्योके मंत्र अपववेदमें भी बहुत हैं और अन्य वेदोंमें भी हैं, उनका यहां विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इन सूक्तके मंत्र ही स्वयं उक्त विद्याका उत्तम उपदेश देते हैं। पाठक इन मंत्रोंका विचार करें और उचित बोध प्राप्त करें।

जन्म स्वभाव ।

इसमें क्या और प्राणियोंमें क्या दृष्टक का व्यक्तित्वण अन्तस्वभाव रहता है जो बदलता नहीं। जैसा सूक्तका प्रकाशना, अमिका उष्ण होना, ईशका मीठा होना, करेलेका कड़वा होना, इत्यादि ये जन्मस्वभाव है। ये जन्मस्वभाव कदापि आते हैं यह विचारणीय प्रश्न है। ईश मिठास लाता है और करेला कड़वाहट लाता है। एक ही भूमिमें उगी ये दो वनस्पतियां परस्पर मिश्र दो रसोंकी अपने साथ लाती हैं। कमी करेलेमें मीठा रस नहीं होता और नहीं ईशमें कटुता। ऐसा क्यों होता है ? कदापि न रस आते हैं ?

कोई कहेंगा कि भूमिसे। क्योंकि भूमिका नाम "रसा" है। इस भूमिमें विविध रस होते हैं। जो जहाँ पौधा उसके पास जाता है, वह अपने स्वभावके अनुसार भूमिसे रस खींचता है और जनताको देता है। करेलेका स्वभाव-कड़वा है और ईशका

मीठा है। ये पौधे भूमिके विविध रसोंमें से अपने स्वभावके अनुसार रस लेते हैं और उनको लेकर जगत् में प्रकट होते हैं।

मनुष्यमें भी यही बात है। विभिन्न प्रकृतिके मनुष्य विभिन्न गुणधर्म प्रगट कर रहे हैं, उनको एक ही खजानेसे एकही जीवनके महासागरसे जीवन रस मिलता है, परंतु एकमें वही जीवन शान्ति बढ़ानेवाला और दूसरेमें अशान्ति फैलानेवाला होता है। ये स्वभाव यर्म हैं। एवही जल मेघोंमें जाता है और मीठा बनकर दृष्टिसे परिसृष्ट स्थितिमें प्राप्त होता है, जिसकी पीकर मनुष्य सुख हो सकता है वही जल मनुष्यमें जाता है और खारा बनता है, जिसको कोई भी नहीं पकता नहीं यह स्वभाव भेद है।

अन्य पदार्थ अथवा अन्य चीजियां अपने स्वभाव बदल नहीं सकती। नरतिके जन्ममें बदल नहीं होता। परंतु मनुष्य चीज ही एक ऐसी चीज है कि जिस चीजके लोग सुनिपत्योके आचरणसे अपना स्वभाव बदल सकते हैं। दुष्टके दुष्ट बन सकते हैं, मूर्खके प्रबुद्ध बन सकते हैं, दुराचारियोंके धर्माचारी हो सकते हैं, इसीलिये वेद मनुष्योंको भलाई के लिये इस मधुविद्याका उपदेश दे रहा है। मनुष्य अपना कड़वाहट कम करे और अपनेमें मिठास बढ़ावे यही यहाँ इस विद्यका उद्देश्य है।

अब मधुविद्याका प्रथम मंत्र देखिये— " यह ईश नामक वनस्पति मिठास के साथ जन्मी है, मधुष्य मीठा माननाके साथ उसे खेदते हैं। यह मधुरता लेकर आगई है, इसलिये हम सबकी यह वही मिठाससे युक्त करे। " (मंत्र १)

यह प्रथम मंत्र बड़ा अर्थपूर्ण है। इसमें चार बातें हैं—(१) स्वयं मीठे स्वभाव का होना, (२) मीठे स्वभाव दालिये संबंध करना, (३) स्वयं मधुर जीवनको कर्तव्य करना, और (४) दूसरोंको मीठा बना देना। पाठक देखें कि—(१) ईश स्वयं स्वभावसे मीठा होता है, (२) मीठा उत्तम करनेकी इच्छा वाले मिठाससे उसका मित्रता होती है, (३) ईश स्वयं मीठा जीवन रस अपने साथ लाता है और (४) जिस चीजके साथ

मिलता है उसको मीठा बनाता है। क्या पाठक इस आदर्श मीठे जीवनसे बोध नहीं ले सकते ?

ये चार उपदेश हैं जो मनुष्यको विचार करने चाहिये। यह ईश्वर अपने व्यवहारसे मनुष्यको उपदेश दे रहा और बता रहा है कि इस प्रकार व्यवहार करनेसे मनुष्य मीठा बन सकता है। इसके मननसे प्राप्त होनेवाले नियम ये हैं -

(१) अपना स्वभाव मीठा बनाना। अपनेमें यदि कोई कड़वा, कड़ोरता या तीक्ष्णता हो तो उसको दूर करना तथा प्रति समय आत्मपरीक्षा करके, दोष दूर करके, अपने अंदर मीठा स्वभाव बढ़ानेका यत्न करना।

(२) मनुष्यको उचित है कि वह स्वयं ऐसे मनुष्यों के साथ मित्रता करे कि जो मीठे स्वभाव वाले हों अपना मधुरता फैलाने के इच्छुक हों।

(३) अपना जीवन ही मीठा बनाना, चालचलन, बोलना चालना मीठा रखना। अपने ह्जारसे भी कटुताका भाव स्पष्ट न करना।

(४) प्रयत्न इस बातका करना कि दूसरोंके भी स्वभाव मीठे बनें और कठोर प्रकृतिवाले मनुष्य भी सुधर कर उत्तम मधुर प्रकृतिवाले बनें।

पाठक प्रथम मंत्रका मनन करेंगे तो उनको ये उपदेश मिल सकते हैं। " ईश्वर स्वयं मीठा है, मीठा चाहनेवाले किसान से मित्रता करता है, अपनेमें मधुर जीवन रख लाता है और जिसमें मिल जाता है उनको मीठा बना देता है। " इस प्रथम मंत्रके चार पादोंका भाव उक्त चार उपदेश दे रहे हैं। पाठक इन उपदेशोंको अपनेको प्रथम कर लें। (मंत्र १)

यहाँ अन्वोक्ति अलंकार है। पाठक इस वाक्यनय मंत्रका यह अलंकार देखें और समझें। वेदमें ऐसे अलंकारोंसे बहुत उपदेश दिया है।

मीठा जीवन।

पूर्वोक्त प्रथम मंत्रके तीसरे पादमें अन्वोक्ति अलंकारसे सूचित किया है कि "मनुष्य मिठास के साथ जीवन व्यतीत करे।" अर्थात् अपना जीवन मधुर बनावे। इसी बातको व्याख्या अगले तीन मंत्रोंमें स्वयं वेद करता है। इधलिये उक्त तीन मंत्रोंका भाव थोड़ा विस्तार से यहाँ देते हैं-

(दूसरा मंत्र) - " मेरी जिह्वाके मूल, मध्य और अग्रभागमें मिठास रहे अर्थात् मैं वाणीसे मधुर शब्द ही बोलूंगा। कभी कटु शब्दका प्रयोग बोलनेमें और लेखनेमें नहीं करूंगा, कि जिससे जगत्में कटुता फैले। मेरा चित्त भी मीठे विचारोंका

चिन्तन करेगा। इस प्रकार चित्तके विचार और वाणीके उच्चारण एक रूपता से मीठे बन गये तब मेरे (कतु) आचार व्यवहार अर्थात् कर्म-भी मीठे हो जायंगे। इस प्रकार विचार उच्चारण आचारमें मीठा बना हुआ मैं जगत् में मधुरता फैलाऊंगा। मेरे विचार से, मेरे भाषणसे और मेरे आचार व्यवहार से चारों ओर मिठास फैलेगी। "

(तीसरा मंत्र) - " मेरा आचार व्यवहार मीठा हो, मेरे पासके और दूरके व्यवहार मीठे हों, मेरे इशारे मीठे हों, मैं वाणीसे मधुर ही शब्द उच्चरूंगा और उस भाषणका अक्षयभी मधुरता बढ़ानेवाला ही होगा। जिस समय मेरे विचार उच्चारण और आचार में स्वाभाविक और अकृतमि मधुरता टपकने लगेगी, उस समय मैं मारुर्ष की मूर्ति ही बनूंगा। "

(चतुर्थ मंत्र) - " जब शहदसे भी मैं अधिक मीठा बनूंगा, और लड्डूसे भी मैं अधिक मीठा बनूंगा तब तुम सब लोग निःसंदेह मुझपर वैश्या प्रेम करोगे कि जैसा पाणिगण मीठे फलोसे युक्त वृक्षशाखापर प्रेम करते हैं। "

ये तीन मंत्र कितना अद्भुत उपदेश दे रहे हैं इसका विचार पाठक अवश्य करें। ऊपर भावार्थ देते समय ही भावार्थ ठीक व्यक्त करने के लिये कुछ आधिक शब्द रखे हैं, उनके कारण इनका अब अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

प्रतिज्ञा।

ये मंत्र प्रतिज्ञाके रूपमें हैं। मैं प्रतिज्ञा इस प्रकार करता हूँ, यह भाव इन मंत्रोंमें है। जो पाठक इन मंत्रोंसे अधिकसे अधिक लाभ उठानेके इच्छुक हैं वे यही प्रतिज्ञा करें, यदि उन्होंने ऐसी प्रतिज्ञा की और उस प्रकार उनका आचरण हुआ तो उनका यश सर्वत्र फैल जायगा। यह पूर्ण अहिंसा की प्रतिज्ञा है। अपने विचार, उच्चारण, आचारके किसी प्रकार किसीकी भी हिंसा न हो, किसीका द्वेष न हो, किसीका वैर न हो, किसीकी शत्रुता न हो, इस प्रकार अपना आदर्श जीवन बननेपर जगत्में आनंदका ही साम्राज्य बन जायगा। इस आनंदका साम्राज्य स्थापन करना वैदिक धर्मियोंका परम धर्म ही है और इंग्लिये इस मधुविद्याका उपदेश इस सूक्तमें हुआ है।

मीठी वाड।

तेजनों बाड लगाते हैं जिससे खेतका नाश करनेवाले पशु उन खेततक पहुँच नहीं सकते और खेत सुरक्षित रहता है। इसी प्रकार स्वयं मीठा और मधुरता फैलानेवाला मनुष्य अपने चारों ओर मीठा बाड बनावे। निम्नलिखित विरोधी शत्रु-धर्म्य देप

भान आदि शत्रु-उस तक न आसकें । यह बाढ अपने मनमें सुविचारोंकी हो, अपने दृष्टियोंके साथ संयम की हो, अपने घरमें परस्पर प्रेमकी हो, समाजमें परस्पर मित्रताकी हो । अपने सब मित्रमां उत्तम मति विचार जीवन में लाने और मधुरता फैलाने वाले हों ऐसी बात होगई तो अंदरका मिठासका खेत बिगड़ेगा नहीं । इस विषयमें पंचम मंत्र देखने योग्य है-

(पंचम मंत्र)—“ मैं विद्वेषको दृष्टानेके लिये चारों ओर फैलनेवाले मीठे ईशोंकी बात सुन्दार चारों ओर करता हूँ जिससे तू मेरी इच्छा करेगी और मुझसे दूर भी न होगी । ”

यह जितना श्री पुरवके आपसके अविद्वेषके लिये सत्य है

उतना ही अन्य परिवारों और मित्रजनोके अविद्वेष और प्रेम बढ़ानेके विषयमें सत्य है । परंतु अपने चारों ओर मीठे बात करनेकी सुधि पाठकोंको अवश्य जाननी चाहिये । अपने साथ ईश की गंठेरियां लेनेसे यह कार्य नहीं होगा । यह कार्य करनेके लिये जो ईश चाहिये वे विचार, उचार और आचारके तथा मनोभावना की ईश चाहिये । जो पाठक अपने अंतःकरणके क्षेत्र में ईश लगायेंगे और उसको पुष्टि अपने मति जीवन से करेंगे, वे ही वे वैदिक ऋषदेस आचरणमें ढाल सकते हैं ।

ये मंत्र स्पष्ट हैं । अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है, परंतु पाठक इनको काव्य की दृष्टिसे समझनेका मत्न करने तभी वे लाभ उठा सकेंगे ।

तेजस्विता बल और दीर्घायुष्य

की प्राप्ति ।

(३५)

(ऋषिः—अथर्वा । देवता—हिरण्यं, इन्द्राग्नी, विश्वेदेवाः)

यदावभ्रन्दाक्षायुणा हिरण्यं शुतानीकाय सुमनस्वमानाः ।	
तत्तं घन्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय	॥ १ ॥
नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं क्षेष्टृत् ।	
यो विभक्तिं दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः	॥ २ ॥
अर्पा तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत् वीर्याणि ।	
इन्द्र इवेन्द्रियाण्याधि धारयामो अस्मिन्तद्दक्षमाणो विमरद्विरण्यम्	॥ ३ ॥
सर्मानां मासामुत्तुमिष्ट्वा वयं संघत्सरस्य पर्यसा पिपर्मि ।	
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामर्हणीयमानाः	॥ ४ ॥

अर्थः—(सुमनस्वमानाः दाक्षायणः) शुभ मनवाले और बलकी शक्ति करनेवाले प्रिय पुरुष (शत धनीकाय) बलके ही विभागों के संघालक के लिये (यद् हिरण्यं अथर्वा) जो सुवर्ण बांधते रहे (यत्) वह सुवर्ण (आयुषे वर्चसे) जीवन, तेज, (बलाय) बल और (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) बी वर्षोंकी दीर्घ आयुके लिये (ते वामाग्नि) तेरे ऊपर बांधला हूँ ॥ १ ॥ (न रक्षांसि, न पिशाचाः) न राक्षस और न पिशाच (एनं सहन्ते) इस पुरुषका हमला सह सकते हैं (हि) कर्मोंके (एतद् देवानां प्रथमजं-

भोजः) यह देवोंमें प्रथम उन्नत हुआ सामर्थ्य है । (यः दाक्षायणं हिरण्यं विभक्तिं) जो मनुष्य दाक्षायण सुवर्ण धारण करता है (सः जीवेषु दीर्घ आयुः कृणुते) यह जीवोंमें अपनी दीर्घ आयु करता है ॥ २ ॥ (अर्षां तेजः ज्योतिः भोजः बलं च) जलका तेज, कान्ति, पराक्रम और बल (उत) तथा (यनस्पतीनां दीर्घाणि) औपधियोंके सब दीर्घ (अस्मिन् अधि धारयामः) इस पुरुषमें धारण करते हैं (इन्द्रे इन्द्रियाणि इव) जैसे आत्मामें इन्द्रिय धारण होते हैं । इस प्रकार (दक्षमाणः हिरण्यं विभक्तुं) बल बढ़ाने की इच्छा करनेवाला सुवर्णका धारण करे ॥ ३ ॥ (समानां मातां ऋतुभिः) सम महिनोंके ऋतुओं के द्वारा (संवत्सरस्य पयसा) वर्ष रूपी गौके दूधसे त्वा घषं पिपमिं) तुझे हम सब पूर्ण करते हैं । (इन्द्राम्नी) इन्द्र और अग्नि (विश्वे देवाः) तथा सब देव (अ-हृणीयमानाः) संकोच न करते हुए (ते अतु मन्वन्तां) तेरा अनुमोदन करें ॥४॥

भावाय- बल बढ़ानेवाले और मन्त्रमें शुभ विचारों की धारणा करनेवाले श्रेष्ठ महात्मा पुरुष सेना संचालकके देवपर बलवृद्धि के लिये जिस सुवर्णके आभूषणको लटका देते हैं, वही आभूषण मैं तेरे शरीरपर इसलिये लटकाता हूँ कि इससे तेरा जीवन सुधरे, तेज बढ़े, बल तथा सामर्थ्य वृद्धित हो आँ तुझे सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त हो ॥ १ ॥ यह आभूषण धारण करनेवाले वीर पुरुषके हमलेको न राक्षस और नही विधाच सह सकते हैं । वे इसके हमलेसे घबराकर दूर भाग जाते हैं, क्योंकि यह देवों से निकटा हुआ सबसे प्रथम दर्जेका बल ही है । इसका नाम दाक्षायण अर्थात् बल बढ़ानेवाला सुवर्णका आभूषण है । जो इसका धारण करता है वह मनुष्योंमें सबसे अधिक दीर्घ आयु प्राप्त करता है ॥ २ ॥ हमसब इस पुरुषमें जीवन का तेज, पराक्रम सामर्थ्य और बल धारण करते हैं । और वायु साथ औपधियोंसे नाना प्रकारके बर्षशाली बल भी धारण करते हैं । जिस प्रकार इन्द्रमें अर्थात् आत्मामें इन्द्रिय शक्तियाँ रहती हैं उही प्रकार इस सुवर्णका आभूषण धारण करनेवाले मनुष्यके अंदर सब प्रकारके बल रहें, वे बाहर प्रगट हो जायें ॥ ३ ॥ दो महिनोका एक ऋतु होता है । प्रत्येक ऋतुकी शक्ति अलग अलग होती है; मानो संवत्सररूपी गोश दूध ही संवत्सरकी छह ऋतुओंमें निचोटा हुआ है । यह दूध मनुष्य पीवे और बलवान् बने । इसकी अनुकूलता ईद अग्नि तथा सब देव, करें ॥ ४ ॥

दाक्षायण हिरण्य ।

हिरण्य शब्दका अर्थ सुवर्ण अथवा सोना है, यह परिशुद्ध स्थितिमें बहुत ही बलवर्धक है । यह वेदमें भी लिया जाता है और शरीरपर भी धारण किया जाता है । श्री० यास्काचार्य हिरण्य शब्दके दो अर्थ देते हैं—' हितरमणीयं, हृदयरमणीयं' अर्थात् यह सुवर्ण हितकारक और रमणीय है तथा हृदयकी रमणीयता बढ़ानेवाला है । सुवर्ण बलवर्धक तथा रोग नाशक है इसलिये आरोग्य चाहनेवाले इसका उपयोग कर सकते हैं—

इस सूक्तमें " दाक्षायण " शब्द (दक्ष-अयन) अर्थात् बलके लिये प्रयत्न करनेवाला इस अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । प्रथम मंत्रमें यह शब्द मनुष्योंका विशेषण है और द्वितीय मंत्रमें यह सुवर्णका विशेषण है । तृतीय मंत्रमें इसी अर्थका " दक्ष-माण " शब्द है जो शक्तिमानक वाचक है । पाठक विचार करेंगे तो उनकी निश्चय होगा कि "दाक्षायण और दक्षमाण" ये दो शब्द करीब शक्तिमान के ही वाचक हैं । दक्ष शब्द वेदमें बलवाचक प्रसिद्ध है । इसप्रकार इस सूक्तमें बल बढ़ानेका जो मार्ग बताया है, उसमें सबसे प्रथम हिरण्यधारण है । हिरण्यधारण दो प्रकारसे होता है, एक तो आभूषण शरीरपर धारण करना और दूसरा

सुवर्ण शरीरमें भेवन करना । सुवर्ण शरीरमें खानेकी रीति वैद्यमंत्रों में प्रसिद्ध है । सब अन्य धातु तथा औपधियों सेवन करनेपर शरीरमें नहीं रहती, परंतु सुवर्ण की ही विशेषता है कि वह शरीरके अंदर हृदयोंके जोड़ोंमें आकर स्थिर रूपसे रहता है और मृत्युके समय तक साथ देता है । इस प्रकारकी सुवर्णधारणामें अनेक रोगोंसे मुक्तता होती है । इस रीतिसे धारण किया हुआ सुवर्ण देह मृत होनेपर उसके जलनिक बाद शरीरकी राक्षसों राक्षस सब भिन्ता है । अर्थात् यदि किसी पुरुषमें एक तोला सुवर्ण वैद्यकीय रीतिसे सेवन किया तो वह तोलाभर सुवर्ण मृत शरीरके दाह होनेके पश्चात् उसके संबंधियोंके प्राप्त हो सकता है । इस प्रकार कोई हानि न करता हुआ यह स्वर्ण बल और आरोग्य देता है ।

जो वैद्य इस सुवर्ण धारण विधिसे जानते हैं उनका नाम "दाक्षायण " प्रथम मंत्रने कहा है । इस प्रकारका परिशुद्ध सुवर्ण बलवर्धक होनेसे उसका नाम भी " दाक्षायण " है यह बात द्वितीय मंत्रने बला दी है । जो मनुष्य हम प्रकार सुवर्ण धारण विधिसे अपना आयुष्य बढ़ाना चाहता है, उसका भी नाम वेदमें

तृतीय मंत्रमें "दक्ष-भाग" बलादा है। इस प्रकार यह मूक बलवर्धन की बात प्रारंभसे अंत तक बता रहा है।

दाक्षायणी विद्या ।

बल बढानेकी विद्याका नाम दाक्षायणी विद्या है। (दक्ष+अयनः)। ब. प्राग करके मार्गधा उपदेश इस विद्यामें होता है। इस विद्यामें मनके साथ विशेष संबंध रहता है (सु-मनस्यमान) उक्त मनसे युक्त अर्थात् मनकी विशेष शक्तिये संपन्न । कमजोरीकी भावनासे मन अराजक होता है और सामर्थ्यकी भावनासे बलशाली होता है। मनकी शक्ति शतानित्रीकी विद्या है उस विद्याके अनुसार मन सुनियमसे युक्त शतानित्रीके अष्ट लोभ "सुमनस्यमाणाः दाक्षायणाः" शब्दों द्वारा बंदनं बलाये हैं। पाठक अपने मनकी अवस्थाके साथ अपने बलका संबंध देखें और इन शब्दों द्वारा जो सुमनस्क होनेकी सूचना मिलती है, वह लेके और इस प्रकार मानसिक धारणामें अपना बल बढावें।

सुवर्ण धारण ।

यद्यपि प्रथम मंत्रमें केवल स्थूल नागरपर सुवर्ण बांधनेका विधान किया है तथापि आगे आकर वेदमें बौद्धवर्धक नामा रस पीनेका उपदेश इसी सूत्रमें आनेवाला है। सुवर्ण तथा ध्वज कई रत्न हैं कि जो शरीरपर धारण करनेसे भी बलवर्धन तथा आरोग्य वर्धन कर सकते हैं। यह बात सूर्यकिरण चिकित्सा तथा वर्णचिकित्साके साथ संबंध रखनेवाली है अर्थात् सुवर्ण रत्नादिका धारण करना भी शरीरके लिये आरोग्यप्रद है। औषधियाँकी जहाँकी मृगी शरीरपर धारण करनेसे भी आरोग्यको दृष्टिसे बड़ा लाभ करते हैं। संसर्गजन्य रोगोंमें वैद्यकीय धारणसे अनेक लाभ हैं। यही बात सुवर्ण रत्नादि धारणसे होती है। परंतु इसकेलिये शुद्ध सुवर्ण चाहिये।

इस विषयमें प्रथम मंत्रमें कहा है कि— "बल बढानेकी विद्या जाननेवाले और उत्तम मनःशक्तिये युक्त अष्ट पुरुषोंके द्वारा शरीरपर लटकाना हुआ सुवर्ण जीवन, तेज, बल, तथा धीरे आनुष्य देता है। "इसमें शरीरपर सुवर्ण लटकानेवाले मनुष्यों का उल्लेख मनीषावना भी लाभदायक होती है यह सूचित किया है, वह मनन करने योग्य है।

इस मंत्रमें "शतानित्रीया हिरण्यं चमामि" का अर्थ "सैन्य विभागोंके संचालकके शरीरपर सुवर्ण लटकाता हूँ" ऐसा किया है, परंतु इसमें और भी एक गूढ़ता है वह यह है कि "अनीक" शब्द बल वाचक है। बल शब्द सैन्य वाचक और बल वाचक भी है। विशेषतः "अनीक" शब्दमें "अन-प्राणने"

धनु है जो जीवन शक्तिका वाचक प्रसिद्ध है। इसलिये जीवन शक्तिका अर्थ भी अनीक शब्दमें है। इस अर्थके लेनेसे "शतानित्री" शब्दका अर्थ "सौ जीवन शक्तियों, अथवा सौ जीवन शक्तियोंसे युक्त" होता है। यह भाव लेनेसे उक्त मंत्र भागधा अर्थ ऐसा होता है कि—

शतानित्रीया हिरण्यं चमामि । (मंत्र १)

"सौ जीवन शक्तियोंकी प्रातिके लिये मैं सुवर्णका धारण करता हूँ।" सुवर्णके अंदर सेकड़ों बीरे हैं, उन सबकी प्रातिके लिये मैं उसका धारण करता हूँ। यह आशय प्रथम मंत्र भाग का है। इस प्रथम मंत्रमें इनमें कुछ गुण कहे भी हैं— आनुष्ये । चरते । बलाय । दीर्घायुत्वाय । शतदारुदाय ।

"आयु, तेज, बल, दीर्घ आयु, सौ वर्षकी आयु" इत्यादि शब्द जीवन शक्तियोंके ही सूचक हैं। इनका योगांतर परिणाम यहाँ किया है। इससे पाठक अनुमान कर सकते हैं और जान सकते हैं कि इसी प्रकार अनेक जीवन शक्तियाँ हैं, उनको प्राप्ति अपने अंदर करना और उनको छुट्टी भी करनी वैदिक धर्मका उद्देश्य है। इस विचारसे ज्ञात हो सकता है कि यहाँ "शतानित्री" शब्दका अर्थ "जीवनके सौ बीरे, जीवनकी सेकड़ों शक्तियों" अभीष्ट है। यद्यपि यह अर्थ हमने मंत्रार्थ करने समय किया नहीं है तथापि यह अर्थ हमें यहाँ प्रतीत हो रहा है। इसलिये प्रसिद्ध अर्थ ऊपर देकर यहाँ यह अर्थ लिखा है। पाठक इसका अधिक विचार करें।

इस प्रकार प्रथम मंत्रका मनन करनेके बाद इसी प्रकारका एक मंत्र यजुर्वेदमें योडेसे पाठभेदसे आता है उसको पाठकोंके विचारके लिये यहाँ देते हैं—

यद्वाध्वन्दाक्षायणा हिरण्यं शतानित्रीया सुमनस्यमाणाः ।
उन्न भागभामि शतदारुदायायुत्वाश्रवण्येयासम् ॥
(वा. यजु. ३४।५२)

"उत्तम मनवाले दाक्षायण लोभ शतानित्रीके लिये त्रिषु सुवर्ण भूषणको बांधने रहे, (तत्) वह सुवर्ण भूषण (मे आकर्षणामे) मैं अपने शरीरपर बांधता हूँ इसलिये कि मैं (आयुमान्) उत्तम आयुसे युक्त और (श्रद्धादिः) शुद्ध अवस्थाका अनुभव करनेवाला होकर (यथा शतदारुदाय आसे) जिस प्रकार सौ वर्षकी पूर्ण आयुको प्राप्त होऊँ।"

इसका अधिक विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त भावही इस मंत्रमें अन्य रीतिसे और निम्न शब्दोंसे व्यक्त हुआ है। इस मंत्रका द्वितीय अर्थ ही निम्न है।

प्रथमार्थ वैशाखा वैशा हो है। वहाँ प्रथम मंत्रका विवरण समाप्त हुआ, अब द्वितीय मंत्रका विचार करते हैं। —

राक्षस और पिशाच ।

नरनास भोजन करनेवाले राक्षस होते हैं और रक्त पीनेवाले पिशाच होते हैं। ये सबसे भूख होनेके कारण सब लोग इनसे बरते रहते हैं। परंतु जो पूर्वोक्त प्रकार "सुवर्ग प्रयोग करता है उसके हनलेकी राक्षस और पिशाच भी सह नहीं सकते।" इतनी शक्ति इस सुवर्ग प्रयोगसे मनुष्यको प्राप्त होती है। सुवर्गमें इतनी शक्ति है। क्योंकि "यह देवोंका पहला भोजन है।" अर्थात् संपूर्ण देवोंकी अनेक शक्तियाँ इसमें संगृहित हुई हैं। इसलिये द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है कि— "जो यह बल वर्षक सुवर्ग शरीरमें धारण करता है वह सब प्राणियोंमें भी अधिक दीर्घ आयु प्राप्त करता है।" अर्थात् इस सुवर्ग प्रयोगसे शरीरका बल भी बढ जाना है और दीर्घ आयु भी प्राप्त होती है। यह द्वितीय मंत्रका भाव पहिले मंत्रका ही एक प्रकारका स्पष्टीकरण है, इसलिये इसका इतना ही मनन पर्याप्त है। यही मंत्र यजुर्वेदमें निम्न लिखित प्रकार है—

न उन्नक्षामि न पिशाचास्तरस्मिन् देवानामोवाः प्रथमजं द्येवत् ।

यो विमार्ति दासायणं हिरण्यं स देवेषु कृणुते दार्पमायुः

स मनुष्येषु कृणुते दार्पमायुः ॥ यजु० ३५।५।

'यह देवोंसे उन्नत हुआ पहिला नेत्र है, इसलिये राक्षस और पिशाच भी इसके पार नहीं हो सकते। जो दासायण सुवर्ग धारण करता है वह देवोंमें दीर्घ आयु करता है और मनुष्योंमें भी दीर्घ आयु करत है।'

इस मंत्रके द्वितीयार्थमें घोडा भेद है और जो अर्धव पाठमें "जो देवेषु कृणुते दार्पमायुः" इतनाही था, वहाँ ही इसमें "देवेषु और मनुष्येषु" ये शब्द अधिक हैं। "जो देवेषु" शब्दका ही यह "देवेषु, मनुष्येषु" आदि शब्दोंद्वारा अर्थ हुआ है। इस प्रकार अन्य शास्त्राधिकारियोंके पाठभेद देखनेसे अर्थ निश्चय करनेमें बड़ी सहायता होती है।

यहाँ तक दो मंत्रोंका मनन हुआ। इन दो मंत्रोंमें शरीर पर सुवर्ग धारण करनेकी बातका उद्देश किया है अब अगले दो मंत्रोंमें जल धनस्पर्ति तथा शत्रुनाशानुसार उत्पन्न होनेवाले अन्य बलवर्षक पदार्थोंका अंतर्बोध सेवन करनेकी महत्वपूर्ण विधा दी जाती है, उसका पाठक विशेष ध्यानसे मनन करे।

द्वितीय मंत्रमें कहा है— "जल और औषधियोंके तेज, कांति, शक्ति, बल और वीर्यवर्षक रसोंको हम वैसे धारण करते हैं कि

जैसे आराममें इंदिय शक्तियों धारण हुई हैं। इसी प्रकार बल बढानेकी इच्छा करनेवाला मनुष्य सुवर्गका भी धारण करे।"

जलमें नाना औषधियोंके गुण हैं यह बात इसके पूर्व आये हुये जल सूत्रमें बर्णन ही चुकी है। ये सूत्र पाठक यहाँ देखें। औषधियोंके अंदर वीर्यवर्षक रस हैं, इसलिये वैद्य औषधि प्रयोग करते हैं, अर्धवैदेदमें भी यह बात आगे आजायगी। जिस प्रकार जल अंतर्बोध पावित्रता करके बल आदि गुणोंकी शक्ति करता है, इसी प्रकार नाना प्रकारकी वीर्यवर्षक औषधियोंके पृथक् द्वि मित अन्न भक्षण पूर्वक सेवनसे मनुष्य बल प्राप्त करके दीर्घ जं वन भी प्राप्त करता है। सुवर्ग सेवनसे भी अथवा सुवर्गादि धातुओंके सेवनसे भी इसी प्रकार लाभ होते हैं, इसका वैद्यशास्त्रमें नाम "रस प्रयोग" है। यह रस प्रयोग सुयोग वैद्य ही के उपदेशानुसार करना चाहिये। यहाँ यजुर्वेदका इसी प्रकारका मंत्र देखिये—

सुवर्गके गुण ।

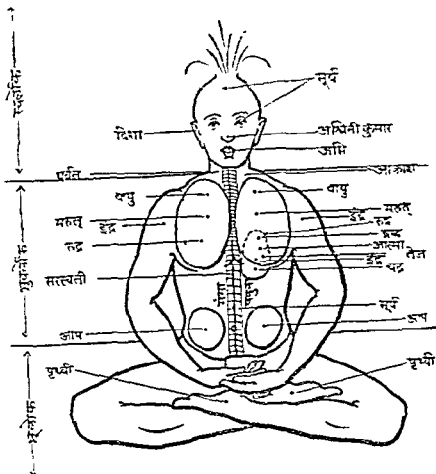
आयुष्यं वर्षस्वयं रायस्वोऽग्नौहिन्दम् ।
इदं हिरण्यं वर्षस्वस्रैत्रापाविशताहु माम् ॥
वा. यजु. ३५।५०

"(आयुष्यं) दीर्घ आयु करनेवाला, (वर्षस्वयं) कल्पित बढानेवाला, (रायस्वोऽग्नौ) शोभा और गुण बढानेवाला (औहिन्दं) खानसे उत्पन्न होनेवाला अथवा ऊपर उठानेवाला, (वर्षस्वत्) तेज बढानेवाला (स्रैत्राय) त्रिदशके लिये (इदं हिरण्यं) यह सुवर्ग (मां उ आविशताहु) मुझे अथवा मेरे शरीरमें प्रविष्ट हो।"

सुवर्गका सेवन ।

यह मंत्र सुवर्गके अनेक गुण बता रहा है। इतने गुणोंकी शक्ति करनेके लिये यह सुवर्ग मनुष्यके शरीरमें प्रविष्ट हो, यह इच्छा इस मंत्रमें स्पष्ट है। अर्थात् परिशुद्ध सुवर्गके सेवनसे इन गुणोंकी शरीरमें शक्ति हो सकता है। इस मंत्रमें "हिरण्यं आविशताहु" ये शब्द "सुवर्गका शरीरमें घुस जाने" का भाव बताते हैं अर्थात् यह केवल शरीरपर धारण करना ही नहीं प्रत्युत आभ्यास्य औषधियोंके रसोंके समान इसका अंदर ही सेवन करना चाहिये। शरीरपर सोनेका धारण करना और सुवर्गका अंदर सेवन करना, इन दोनों रीतियोंसे मनुष्य पूर्वोक्त गुण बढाकर अपना दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सकता है। अब चतुर्थ मंत्र देखिये—

मनुष्यके शरीरमें देवोंके अंश ।



जगत्में जो अग्नि आदि देव हैं उनके अंश शरीर में हैं। इनके स्थान इस चित्रमें बताये हैं। इसके मननसे हात हो सकता है कि बाय जगत् के अग्नि आदि देवोंकी सहकारिताके साथ शरीरके स्वास्थ्यका कितना पण्डित संबंध है।

काली कामधेनुका दूध ।

इस चतुर्थ मंत्रमें कहा है—कालरूपी संवत्सरका (काली काम धेनुका) दूध जो ऋतुओंके द्वारा मिलता है, उससे मनुष्यकी पूर्णता करते हैं। इस कार्यमें इन्द्र अग्नि विधेदेव आदि सब पूर्णतासे अनुकूल रहे।”

संवत्सर—यह अथवा काल—यह एक कामधेनु है। काल संबंधी यह धेनु हेमिसे इसको काली धेनु कहते हैं, यह इसलिये कामधेनु कही गई है कि मनुष्यादिइंके हृदिष्ठ फल घान्य अर्थात् पदार्थ ऋतुओंके अनुकूल देकर यह मनुष्यादि प्राणियों

की पुष्टी करतीं है। प्रत्येक ऋतुके अनुकूल माना प्रकारके फल और फूल संवत्सर देता है। इसलिये वेदमें संवत्सरकी चितानी कहा है और वहां मनुष्य दूध देनेवाली कामधेनु कहा है। हर एक ऋतुमें कुछ नवीन फल, फूल, घान्य आदि मिलता है, यही इन धेनुका दूध है। यह दूध हर एक ऋतु इस संवत्सर रूपी गीसे निचोड़कर मनुष्यादि प्राणियोंको देते हैं, यह अनुकूल अलंकार इस मंत्रमें बताया है। पाठक इस काव्यपूर्ण अलंकार का अस्वाद यहाँ से।

प्रत्येक मासमें प्रत्येक ऋतुमें तथा प्रत्येक कालमें जो जो

फल फूल उत्पन्न होते हैं उनका योग्य उपयोग करनेसे मनुष्यके बल, तेज, वीर्य, आयुष्य आदि बढ सकते हैं। यह इस मंत्रका आद्य हर एक मनुष्यको मनन करने योग्य है। मनुष्य अपने पुस्तार्थ व प्रयत्नसे ऋतुके अनुसार फल फूल धान्य आदिकी अधिक उत्पत्ति करे और उनके उपयोग से मनुष्योंको लाभ पहुंचावे।

पूर्व मंत्रमें " (अपा वनस्पतीनां च वीर्याणि) जल तथा वनस्पतियोंके धार्य " धारण करनेका जो उपदेश हुआ है उसीका स्पष्टीकरण इस चतुर्थ मंत्रने किया है। जिस ऋतुमें जो जल और जो वनस्पति उत्तम वीर्यवान् प्राप्त होनेकी संभावना हो, उस ऋतुमें उसका संप्रह करके, उसका सेवन करना चाहिये। और इस प्रकार आयु, बल, तेज, कांति, शक्ति वीर्य आदि गुण अपने में बढाने चाहिये।

यह वेदका उपदेश मनन करने और आचरणमें लाने योग्य है। इतना उपदेश करनेपर भी यदि लोग निर्बीर्य, निःशक्त, निस्तेज, निर्बल रहेंगे और वीर्यवान् बननेका यत्न नहीं करेंगे तो वह मनुष्योंका ही दोष है। पाठक इस स्थानपर विचार करें और निश्चय करें कि वेदका उपदेश आचरणमें लानेका यत्न वे कितना कर रहे हैं और कितना नहीं। जो वैदिक धर्मो छोड़ अपने वैदिक धर्मके उपदेशकी आचरणमें नहीं आते वे क्षीण प्रयत्न करके इस दिशासे योग्य सुधार अवश्य

करें और अपनी उन्नतिका साधन करें।

इस मंत्रके उत्तरार्थका भाव मनन करने योग्य है। " इन्द्र अग्नि आदि सब देव इसकी अनुकूलतासे सहायता करें " अग्नि आदि देवताओंकी सहायताके बिना कौन मनुष्य केष उन्नतिको प्राप्त हो सकता है ? अग्नि ही हमारा धन पकाता है, जल ही हमारी तृया शांत करता है, पृथ्वी हमें आधार देती है, बिजली सबको चेतना देती है, वायु सबका प्राण धनकर प्राणियोंका धारण करता है, सूर्यदेव सबको जीवन शक्ति देता है, चंद्रमा अपनी किरणोंद्वारा वनस्पतियोंका पोषण करनेमें हमारा सहायक बनता है, इसी प्रकार अन्यान्य देव हमारे सहायक हो रहे हैं। इनके प्रतिनिधि हमारे शरीरमें रहते हैं और उनके द्वारा ये सब देव अपने अपने जीवनोद्योग हमतक पहुंचा रहे हैं। इस विषयमें इसके पूर्व बहुत कुछ लिखा गया है, इसलिये यहाँ अधिक विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

इतने विवरणसे यह बात पाठकोंके मनमें आगई होगी कि अग्नि आदि देवताओंकी सहायता किस रीतिसे हमें हो रही है और यदि इनकी सहायता अधिक से अधिक प्राप्त करने और उससे अधिकसे अधिक लाभ उठानेकी विधि ज्ञात हो गई, तो मनुष्योंका बहुत ही लाभ हो सकता है। आशा है कि पाठक इसका विचार करेंगे और अपना आयु, आरोग्य बल और वीर्य बढाकर जगत् में यशस्वी होंगे।

यहाँ पद्य अनुवाक और प्रथम काण्ड समाप्त।

प्रथम काण्डका मनन ।

घोडासा मनन ।

इस प्रथम काण्डमें दो प्रपाठक, छः अनुवाक, पैंतीस सूक्त और १५३ मंत्र हैं । इस काण्डके सूक्तोंके ऋषि, देवता, और विषय बतानेवाला कोष्टक यहाँ देते हैं—प्रो पाठक इस काण्डका विशेष मनन करना चाहते हैं वनको यह कोष्टक बहुत लाभदायक होगा—

अथर्व वेद प्रथम काण्ड के सूक्तों का कोष्टक ।

सूक्त	ऋषि	देवता	गण	विषय
१	अथर्वी	वाचस्पति	वर्चस्पतगण	मेधावनन
२	"	पर्जन्य	अपराजितगण साम्राजिक गण	दित्रय
३	"	मंत्रोक्त(वृष्णी, मित्र, वरुण, चंद्र, सूर्य)	—	आरोग्य
४	सिधुद्वीपः	वायुः	—	"
५	"	"	—	"
६	"	"	—	"
(इति प्रथमोऽनुवाकः)				
७	चातनः	इन्द्राग्नी	—	शत्रुनाशन
८	"	अग्निः, बृहस्पतिः	—	"
९	अथर्वी	यस्वादयः	वर्चस्पत गण	तेजस्वी प्राप्ति
१०	"	असुरो वरुणः	—	पापनिवृत्ति
११	"	पृथा	—	सुखप्रसूति
(इति द्वितीयोऽनुवाकः)				
१२	भृग्वेगिरिः	यश्मनाशन	तर्कमनाशनगण	रोगनिवाण
१३	"	विशुन्	—	ईशानमन
१४	"	यमो वरुणो वा	—	शुद्धवैशुविवाह
१५	अथर्वी	छिन्धु	—	संगठन
१६	चातनः	अग्निः, इन्द्रः, वरुणः शत्रुनाशन गण	—	नाशनाशन
(इति तृतीयोऽनुवाकः प्रथमः प्रपाठकश्च घनताः ।)				
१७	ऋग्ना	योषित्	—	रक्तसाय-वृद्धीकरण
१८	द्विषोदाः	विनावक, सौभाग्यं	—	सौभाग्यवर्धन
१९	महा	ईश्वरः, ऋध	साम्राजिकगण	शत्रुनाशन
२०	अथर्वी	सोम	—	महान् श्राद्ध
२१	"	इन्द्रः	अभयगण	प्रजापालन

(इति चतुर्थोऽनुवाकः)

२२	ब्रह्म	सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगः	—	हृद्रोग तथा कामिला रोग नाशन
२३	अथर्वा	ओषधिः	—	कुष्ठनाशन
२४	ब्रह्मा	आसुरी वनस्पतिः	—	"
२५	भृग्वंगिराः	अग्निः, तक्रमा	तक्रमनाशनगण	उषरनाशन
२६	ब्रह्मा	इन्द्रादपः	स्वस्त्यपनगण	सुखशान्ति .
२७	अथर्वा	इन्द्राणी	"	विजयी स्त्री
२८	चातनः	स्वस्त्यपनं	"	कुष्ठनाशन

(इति पंचमोऽनुवाकः)

२९	वसिष्ठः	अमीवतेमणिः	—	राष्ट्रवर्धन
३०	अथर्वा	विश्वेदेवाः	आयुष्यगण	आयुष्यवर्धन
३१	ब्रह्मा	आशापालाः, वास्तोष्पतिः	वास्तुगण	आशापालन
३२	"	दावाप्राथिवी	—	जीवनतत्व
३३	शन्ताति	आपः, चन्द्रमाः	शातिगण	जल
३४	अथर्वा	मधुवल्ली	—	मोठा जीवन
३५	"	हिरण्यं, इन्द्राग्नी विश्वेदेवाः	—	दीर्घायु

(इति षष्ठोऽनुवाको द्वितीयः प्रपाठकथ समाप्तः)

इति प्रथमं काण्डम् ।

इन सूक्तोंका मनन करनेके लिये ऋषि और गणोंका विभाग जाननेकी भी अत्यंत आवश्यकता है । इसलिये वे कोष्टक नीचे देते हैं—

ऋषि विभाग ।

- १ अथर्वा ऋषिः— १-३; ९-११; १५; २०; २१; २३; २७; ३०; ३४; ३५; इन चौदह सूक्तोंका अथर्वा ऋषि है ।
- २ ब्रह्मा (किंवा ब्रह्म) ऋषिः— १७, १९, २२, २४, २६, २९, ३२, इन सात सूक्तोंका ऋषि ब्रह्मा है ।
- ३ चातन ऋषिः— ७, ८, १६, २८, इन चार सूक्तोंका चातन ऋषि है ।
- ४ भृग्वंगिरा ऋषिः— १२—१४; २५ इन चार सूक्तोंका भृग्वंगिरा ऋषि है ।
- ५ सिंधुद्वीप ऋषिः— ४-६ इन तीन सूक्तोंका सिंधुद्वीप ऋषि है ।
- ६ त्रिविणोशा ऋषिः— १८ वे एक सूक्तका यह ऋषि है ।

७ वसिष्ठ ऋषिः— २९ वे एक सूक्तका यह
८ शन्ताती ऋषिः— ३३ वे एक सूक्तका यह ऋषि
इस प्रकार आठ ऋषियोंके देखे मंत्र इस काण्डमें हैं । यह जैसा ऋषियोंके नामसे सूक्त विभाग हुआ है, उसी प्रकार एक एक ऋषिके मंत्रोंमें किन किन विषयोंका विचार हुआ है यह अब देखिये—

- १ अथर्वा ऋषिः—मेघाजनन, विजयप्राप्ति, आरोग्यप्राप्ति, तेजःप्राप्ति, पापनिवृत्ति, सुखप्रसूति, संघटन, राजशासन, प्रजापालन, कुष्ठरोगनिवृत्ति, विजयी स्त्री, आयुष्यवर्धन, मोठा जीवन, आयुष्य बलवर्धिवर्धन ।
- २ ब्रह्माऋषिः—रक्तहाव दूरकरना, शत्रुनाशन, संभ्राम, हृदय तथा कामिला रोग दूरीकरण, कुष्ठनाशन सुखवर्धन, आशापालन, दीर्घजीवन ।

- ३ चातन ऋषिः—धनुनाशन, हुहनाशन।
 ४ मृगवांगिरा ऋषिः—रोगनिवारण, ज्वरनाशन, ईशानमन
 विवाह।
 ५ सिधुद्वीप ऋषिः—जलसे आरोग्य।
 ६ शविणे दा ऋषिः—सौभाग्यवर्धन।
 ७ वसिष्ठ ऋषिः—राष्ट्रसंवर्धन।
 ८ शान्तादी ऋषिः—शृष्टि अलसे स्वास्थ्य।

इस प्रकार किन ऋषियोंके नामोंसे किन किन विषयोंका संबंध है यह देखना बड़ा बोधप्रद होता है। (१) सिधुद्वीप ऋषिके नाममें "सिधु" शब्द जल प्रवाह का वाचक है और यही जल देवताके मंत्रोंका ऋषि है। (२) चातन ऋषिके नाममें अर्थात् "चातन" शब्दका अर्थ "पथरादेना भगवदान, धनुशे उखाड़ देना" है और इस ऋषिके सूक्तोंमें भी यही विषय है। इस प्रकार सूक्तोंके अंदर आनेवाला विषय और ऋषिनामोंका अर्थ इतका करी स्थानोंपर पणित संबंध दिखाई देता है। इसका विचार करना योग्य है।

सूक्तों के गण।

जिन प्राचीन मुनियोंने जपर्व सूक्तोंपर विचार किया था; उन्होंने इन सूक्तोंके गण बना दिये हैं। एक एक गणके संपूर्ण सूक्तोंका विचार एक साथ होना चाहिये। ऐसा विचार करने से अर्थज्ञान में शीघ्र होता है और शब्दोंके अर्थ निश्चित करना भी सुगम हो जाता है। इस प्रयत्न कांडक वैदीय सूक्तोंमें कई सूक्त कई गणोंके अंदर आगये हैं और कई गणोंमें परिगणित नहीं हुए हैं। जो गणोंमें परिगणित नहीं हुए हैं उनकी अर्थकी दृष्टिसे हम अध्ययनोंके साथ पढ़ सकते हैं। इस प्रकार गणनाः विचार करनेसे सूक्तोंका बोध शीघ्र हो जाता है, देखिये—

१ वर्षस्य गण - इसके सूक्त १, ९ ये हैं। तथापि तेज, आरोग्य आदि बढानेका उपदेश करनेवाले सूक्त हम इस गणके साथ पढ़ सकते हैं, जैसे—सूक्त १—६, १८, २५, २६, ३०, ३१, ३४, ३५ आदि।

२ अपराजित गण, साम्प्रामिकगण-इसके सूक्त २, १९ ये हैं तथापि इसके साथ संबंध रखनेवाले अमय गणकेसूक्त हैं। तथा राष्ट्रशासन और राज्य पालनके सब सूक्त इनके साथ संबंधित हैं, जैसे—सूक्त ७, ८, १५, १६, १७, २०, २१, २७, २९, ३१ आदि।

३ तक्षमनाशन गण—इस गणके सूक्त १२, २५, ये हैं तथापि सब रोग नाशक और आरोग्यवर्धक सूक्त इस गणके सूक्तोंके साथ पढ़ना चाहिये। जैसे सूक्त ३—६; १७, २२, २३, २५, ३३, ३५, आदि—

४ स्वस्त्वयनगण—इस गणके सूक्त २६, २७ ये हैं।

५ मातृभ्यगण—इस गणके सूक्त ३०, ३५ ये हैं, तथापि स्वस्त्वयन गण, वर्षस्यगण, तक्षमनाशन-गण तथा दातिगणके सूक्तोंका इसके संबंध है।

६ छातिगण—जल देवताके सब सूक्त इस गणमें आते हैं।

७ अमयगण—इसका सूक्त २१ का है, तथापि इसके साथ संबंध रखनेवाले गण स्वस्त्वयनगण, अपराजितगण, तक्षमनाशनगण, चातन-सूक्त ये हैं।

इस प्रकार यह सूक्तोंके गणोंका विचार है और इस रीतिसे सूक्तोंका विचार होनेसे बहुत ही बोध प्राप्त होता है।

अध्ययन की सुगमता।

कई पाठक शक्य करते हैं कि एक विषयके सब सूक्त इकट्ठे क्यों नहीं दिये और सब विषयोंके मिलेजुले सूक्त ही सब शब्दोंमें क्यों दिये हैं। इसका उत्तर यह है कि यदि जल आदि विषयोंके संपूर्ण सूक्त इकट्ठे होते, तो अध्ययन करनेवालेकी विविधताका अभाव होनेके कारण अध्ययन करनेमें बड़ा कष्ट हो जाता। अध्ययनकी सुविधाके लिये ही मिलेजुले सूक्त दिये हैं। अच्छी पाठशालाओंमें घण्टे दो घण्टेमें भिन्न भिन्न विषय पढ़ाये जाते हैं, इसका यही कारण है कि पढ़नेवालेके मस्तिष्कको कष्ट न हो। सबसेसे शान्तक एक ही विषयका अध्ययन करना ही दो पढ़ने पढ़ानेवालोंकी कतिकष्ट होते हैं। इस बातका अनुभव हरएकको होगा।

इससे पाठक जान सकते हैं कि विषयोंकी विभिन्नता रखनेके लिये विभिन्न विषयोंके सूक्त मिलेजुले दिये हैं।

इसमें दृष्ट्य भी एक हेतु प्रतीत होता है, वह यह है कि, पूर्वपर संबंधका अनुमान करने और पूर्वपर संबंधका स्मरण रखनेका अभ्यास हो। यदि जलसूक्त प्रयत्न कांडमें आया हो, तो आगे जहां जल सूक्त आयायं यहाँ वहाँ इसका स्मरण पूर्वक अनुसंधान करना चाहिये। इस प्रकार स्मरणशीलता भी बढ सकती है। स्मरणशक्तिका बढना और पूर्वपर संबंध ओझनेका

अभ्यास होना ये दो महत्वपूर्ण अभ्यास इस व्यवस्थासे साध्य होते हैं।

इस प्रथम काण्डके दो प्रपाठक हैं, इस "प्रपाठक" का तात्पर्य ये दो पाठ ही हैं। दो प्र-पाठक" अर्थात् दो विधेय पाठ हैं। प्रथमे एकवार जितना पाठ लिया जाता है उतना एक-प्र-पाठक होता है। इस प्रकार यह प्रथमकाण्ड दो पाठोंकी पढाई है। अथवा एक अनुवाकका एक पाठ अल्पबुदिवालोंकेलिये माना जाय तो यह प्रथमकाण्ड ही पढाई छः पाठोंकी मानी जा सकती है। एक अनुवाकमें भी विषयोंकी विविधता है और एक प्रपाठकमें भी प्राज्य विषयोंकी विविधता है और इस विविधता के कारण ही पढने पढानेवालोंको बड़ी रोचकता उत्पन्न हो सकती है।

आजकल इतनी पढाई नहीं हो सकती, यह बुद्धि कम होना या प्राहकता कम होनेका प्रमाण है। यह अथर्ववेद प्रबुद्ध विद्यार्थीके ही पढनेका विषय है। इसलिये अच्छे प्रबुद्ध तथा अन्य धार्मिकोंमें कृतपरिधम उक्त प्रकार पढाई कर सकते हैं; इसमें कोई संदेह नहीं है।

अथर्ववेदके विषयोंकी उपयुक्तता।

जो पाठक इस प्रथमकाण्डके सब मंत्रोंको अच्छी प्रकार पढ़ेंगे और योद्धा मनन भी करेंगे तो उनको उसी समय इस बातका पता लग जायगा कि, इस वेदका उपदेश इस समयमें भी नवीन और अत्यंत उपयोगी तथा आज ही अपने आचरणमें लाने योग्य है। सूक्त पढनेके समय ऐसा प्रतीत होता है कि, यह उपाय आज ही हम आचरण में लायेंगे और अपना लाभ उठावेंगे। उपदेश की जीवितता और जाग्रतता इसी बातमें पाठकोंके मनमें स्पष्ट रूपसे खड़ी हो जाती है।

वेद सब प्रयोगसे पुराने प्रयोग होनेपर भी नवीन से नवीन हैं और यही इनकी "सनातन विद्या" है; यह विद्या कभी पुरानी नहीं होती। जो जिस समय और जिस अवस्थामें पढ़ेगा उसको उसी अवस्थामें और उसी समय अपनी उन्नतिका उपदेश प्राप्त हो सकता है। इस प्रथम काण्डके सूक्त पढकर पाठक इस बातका धनुमव करे और वेद विद्याका महत्व अपने मनमें स्थिर करे।

ये उपदेश जैसे व्यक्ति विषयमें उसी प्रकार सामाजिक, राष्ट्रीय और धर्म प्रचारेके विषयमें भी सत्य और सनातन प्रतीत होंगे। इस समय जिनका उपयोग नहीं हो सकता ऐसा कोई विधान इसमें नहीं है। परंतु इन उपदेशोंका महत्व देखनेके और धनुमव करनेके लिये पाठकोंसे इस काण्डका पाठ कमसे

कम दस पांच बार मनन पूर्वक करना चाहिये।

व्यक्तिके विषयमें उपदेश।

प्रथम काण्डके ३५ सूक्तोंमें करीब १६ सूक्त ऐसे हैं कि जो मनुष्यके स्वास्थ्य, आरोग्य, नीरोगता, बल, आनुषंग, बुद्धि आदि विषयोंका उपदेश देनेके कारण मनुष्यके दैनिक व्यवहार के साथ संबंध रखते हैं। हरएक मनुष्य इस समय में भी इनके उपदेशसे लाभ उठा सकता है। आरोग्यवर्धनके वैदिक उपायोंकी और इस पाठकीका विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। जो इस गणके सूक्त हैं उनका मनन पाठक सबसे अधिक करे और अपनी परिस्थितिमें उन उपायोंको बालनेका जितना हो सकता है उतना यत्न करे। आरोग्यवर्धनके उपायोंमें सारासरयसे इन उपायोंका वर्णन विशेष बलके साथ इस काण्डमें किया है—

जलसे आरोग्य—जलसे आरोग्य होता है, शरीरमें शक्ति, सुख, नीरोगता आदि प्राप्त होती है यह बतानेवाले जल देवता के चार सूक्तदिये हैं। अनेक प्रकारके जलोंका इन सूक्तोंमें वर्णन करनेके बाद "दिव्य जल" अर्थात् मेघोंसे प्राप्त होनेवाले जलका महत्त्व बताया है यह कभी भूलना नहीं चाहिये। श्रष्टिके दिनोंमें जिन दिनोंमें शुद्ध जलकी श्रष्टि होती है—उन दिनोंमें इस जलका संग्रह हरएक श्रष्टस्थी कर सकता है। जहां श्रष्टि बहुत थोड़ी होती है वहांकी बात छोड़ दी जाय तो अन्यत्र यह जल सालभरके पीनेके लिये पर्याप्त प्रमाणमें मिल सकता है। परंतु स्मरण रखना चाहिये कि घरके छप्परपर जमा हुआ जल लेना नहीं चाहिये परंतु छत पर खुले और बड़े मुखवाला बर्तन रखकर उसमें सीधी श्रष्टिभाराओं से जल संग्रहीत करना चाहिये। अर्थात् ऐसा इंतजाम करना चाहिये कि श्रष्टिजल की धारसे सीधी अपने बर्तनमें आजाय। बीचमें वृक्ष, छप्पर आदि किसीका स्पर्श न हो। इस प्रकारका इकट्ठा किया हुआ जल स्वच्छ और निर्मल बौतलोंमें भरकर रखनेसे घालभार रहता है और बिगड़ता नहीं। यह जल यदि अच्छा रखा तो दो वर्षतक रहता है और इसका यह न बिगड़नेका गुण ही मनुष्यका आरोग्य वर्धन करता है।

उपवासके दिन इसका पान करनेसे शरीरके सभ्य दोष दूर होते हैं। चौबीस घंटोंका उपवास करते उसमें जितना यह दिव्य धल पिया जाय उतना पीना चाहिये। यह प्रयोग हमने आजमाया है और हर अवस्थामें इससे लाभ हुआ है। इस प्रकारके उपवाससे पश्चात् योद्धा योद्धा दूध और पी खाना

चाहिये और भोजन अत्यन्त लघु होना चाहिये। इतदिन भी पीनेके लिये उबका उबयोग करनेवाले बड़ा ही लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इसका नाम 'अनखाहणी का पात्र' है। इसको 'सुरा' भी कहते हैं। सुगन्ध केवल मद्य वर्णमें आशुकरल प्रयुक्त होता है, परंतु प्राचीन प्रयोगमें इसका अर्थ 'शुद्ध जल' भी था। नरक का जन साम्राज्य में मंडल में है और वही इन आरोग्य वर्षक शुद्ध जल को देता है। इसका वर्णन वेदके मनेक सूक्तों में है।

वेदका यह आरोग्य प्रातिका सीधा, सुगन्ध और म्ययके विना प्राण होनेवाला उपाय यदि पाठक म्यबहारमें लागेंगे तो वे बड़ा ही लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये इन साधुओं पाठकों में निवेदन करते हैं कि वे इस विषयमें दत्तचित्त हों और अपना लाभ उठावें।

आरोग्य साधनके अन्य उपाय ।

जलके पश्चात् आरोग्य साधनके उपाय जो वेदने बताये हैं अब देखिये—

(२) वैजस साधने आरोग्य—अग्नि, विद्युत् और सूर्य किण्व वे तीन वैजस तत्व हैं। इनमें आरोग्य प्राप्त करनेके विषयमें वेदमें वर्णित बरकर उपदेश आता है। इनमें से सूर्य प्रभावका महत्व तो सबसे अधिक है, यहां तक इसका महत्व वर्णन किया है कि इसकी प्राणदाता, जीवन दाता, इतना ही नहीं परंतु प्रत्यक्ष आत्मा भी कहा है। सूर्य प्रकाशसे आरोग्य और दीर्घ आयु प्राप्त होनेके विषयमें वेदका निश्चित और अविश्व मत है। संपूर्ण आधुनिक शास्त्र भी आजकल इसकी पुष्टि कर रहे हैं।

जिध प्रकार शुद्धजल गरीबसे गरीबकी और अमीरमें अमीरकी प्राप्त हो सकता है, उसी प्रकार सूर्य प्रकाश भी हरएक को प्राप्त हो सकता है। यद्यपि प्राण होनेवाले आरोग्य साधक उपाय तो धनी लोग ही प्राप्त कर सकते हैं, गरीबोंकी उनमें लाभ नहीं हो सकता। परंतु जो साधन वेद बता रहा है, वे उपाय गरीबकी भी प्राप्त हो सकते हैं। यह इन साधनोंका महत्व देखें और इन उपदेशोंकी सच्चाई अनुभवमें मानना मत करें।

आशुकरल करने बहुत बर्तें जाते हैं इसलिये शरीरकी चमकी ७ नि कोमल हो रही है। इस कारण म्यापिशां शरीरमें शीघ्र चमकी है। जो लोग नंगे शरीर केत आदिमें काम करते हैं उनको उतनी म्यापिशां नहीं होती, जिन्नी कमरमें शिथिल

तंग करते पहननेवाले बाबू त्योकी होती है, इसका कारण यही है कि, जिन्का शरीर सूर्य किण्वके साथ संबंध होनेके कारण नोरीय रहता है वे तन्दुरस्त रहते हैं और जो नाना करने पहननेके कारण कमजोर चमकी बनेते हैं वे अधिक शीतल हो जाते हैं।

रामायण महाभारतके समयमें रामकृष्णादि वीर अतिदीर्घ आयुवाले थे। वे वीर लोग शीत पहनते थे और शीत ही भोजनते थे। प्रायः अन्य समय शरीरपर एक उष्णिय पहनते थे। पाठक इनके वर्णन यदि पढ़ेंगे तो उनके ध्यानमें यह बात आजायगी कि मयाजर्जित भी वे लोग केवल शीत पहनकर ही बैठते थे। इसकारण इनके शरीरके साथ वायु और सूर्य प्रकाशका संबंध अच्छी प्रकार होजाता था। मनेक शरीरमें यह भी एक कारण है कि शिथिल रहने से अतिदीर्घायुवने और अति बलवान् थे। वह सादगी इस समय नहीं रही है और इस समय बड़ी दृष्टिनाता हमारे जीवन म्यबहारमें भागही है इसका परिणाम हमारे अस्थायु दुर्बल और रोगी होनेमें हो रहा है। पाठक वेदके उपदेशके साथ इस ऐतिहासिक बातका भी मनन करें।

सूर्य प्रकाश इतने विपुल प्रमाणमें भूमिपर आता है कि वह आवरणकाये कई गुना अधिक है। इतना होते हुए भी शैव मन्त्रियों, संग मकान, लंबेरे कमरे और उनमें अत्यधिक मनुष्योंकी संख्या होनेके कारण जीवन देनेवाला सूर्यनारत्मण हमारे आरोग्यवर्धनके लिये प्रतिदिन आता है, तथापि हमारे लिये वह उतना लाभ नहीं पहुंचा सकता जितना कि वह पशुवने में समर्थ है। वे सब लोच मनुष्यकृत हैं। श्रविलीवनका हमें इस विषयमें बहुत विचार करना चाहिये और ब्रह्मचर्य ही सबके लिये एक पाल करके वह सादगी हमारे खानपान, बहानूपण तथा मन्दाग्य म्यबहारमें आनी चाहिये। वेदके उपदेशानुसार श्रविलीवनका म्यबहार रखने से, हमलिये श्रविलीवनकी अतिदीर्घ आयु प्राप्त होती थी, और हम उम्रके बोलकुल उल्टे जा रहे हैं, इसलिये श्रविलीवनमें हम अधिक हो रहे हैं।

(३) वायुसे आरोग्य—सूर्य प्रकाशके समान ही वायुका महत्व है। यही प्राण बनकर मनुष्यादि प्राणियोंके शरीरमें रहता है और इसके कारण प्राणी प्राण धारण करते हैं। यदि वायु अशुद्ध हुआ तो मनुष्य रोगी होनेमें विद्युत्कल देनी नहीं सगेगी। यह बात सब लोग जानते हैं, मानते हैं और बोलते भी हैं। परंतु इसका पालन कितने लोग करते हैं, इसका विचार करनेसे पता लग जायगा कि, इस विषयकी मनुष्योंकी उदासीनता निन्दनीय

ही है। खूबी बापु और खूला सूर्य प्रकाश मनुष्योंको पूर्ण आयु प्रदान करनेमें समर्थ है, परंतु जो मनुष्य उनसे दूर भागते हैं उनका लाभ कैसे हो सकता है! वृष्टिजल, सूर्य प्रकाश और शुद्ध वायु ये तीन वदार्थ वेद मंत्रों द्वारा आरोग्य बढ़ानेवाले बताये हैं और आत्रकलके शास्त्रमी उस बातकी पुष्टि कर रहे हैं, इतना ही नहीं परंतु युरोप अमेरिकामें जहां शीत अधिक होता है, उन देशोंमें भी ऐसी संस्थाएँ स्थापित हुई हैं कि जहां आरोग्य वर्धनके लिये सूर्य प्रकाशमें कृषि करीब नंगा रहना आवश्यक माना गया है। जिन लोगोंने वंग कपड़े पहननेके रिवाज जारी किये, वे ही युरोप अमेरिकाके शीत इत् प्रकार कृषिप्रतिन की और झुक रहे हैं यह देखकर हमें वेदकी सच्चाईका जगत में विजय हो रहा है यह अनुभव होनेसे अधिक ही आनंद होता है। बिना प्रचार किये हुए ही लोग भूलते और भटकते हुए वैदिक सच्चाईका इस प्रकार प्रक्षय कर रहे हैं; ऐसी अवस्थामें यदि हम अपने वेदका अध्ययन करेंगे, उन वेद मंत्रोंके उपदेशको अपने आचरणमें दालेंगे, और अनुभव लेनेके पश्चात् अपने धार्मिक जीवनसे उस सच्चाईका जगतमें प्रचार करेंगे तो जगतमें इस सच्चाईका विजय होनेमें कोई देरी नहीं लगेगी।

इसलिये हम पाठकोंसे निवेदन करना चाहते हैं कि वे वेदका पाठ केवल मनोरंजकताके लिये न करें, केवल पारलौकिक भावनासे भी न करें, प्रत्युत वह उपदेश हम जगतके व्यवहार में किस प्रकार दाला जा सकता है; इसका विचार करते हुए वेदका अध्ययन करें। तब इसके महत्त्वका पता विशेष रीतियों लग जायगा।

राष्ट्रीय जीवन।

जैसे वैयक्तिक जीवनके लिये वैदिक उपदेशकी उपयोगिता है उसी प्रकार सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनके लिये भी वेदके उपदेश आति मनन करने योग्य है। यह विषय आधिक कानोंमें विशेष रीतियों आनेवाला है, और वहीं इसका अधिक निरूपण होगा। इस प्रथम कंडके भी राष्ट्र विषयक मंत्र वदे ओजस्वी और अत्यंत बोधप्रद हैं।

उनगीष्वे सुकृतं 'राष्ट्रके लिये मुझे बन्धवों,' तथा 'राष्ट्रकी सेवा करनेके लिये यह आभूषण मेरे शरीरपर बांधा जाये' इत्यादि ओजस्वी उपदेश हरएक समयमें और हरएक मनुष्यों और राजपुरुषोंके लिये आदर्श रूप हैं। राष्ट्रीय दृष्टिसे यह बलिष्ठ सूक्त हरएक मनुष्यकी विचार करने योग्य है।

इस प्रथम कंडमें कई महत्त्वपूर्ण विषय आगये हैं उन सबका यहाँ विचार करनेके लिये स्थान नहीं है। उस उस सूक्तके प्रसंगमें ही विशेष बातका दिग्दर्शन किया है। इसलिये उसको दुरहानि की यहाँ कोई आवश्यकता ही नहीं है। पाठक इस कंडका बारंबार मनन करेंगे तो मननसे उनके मनमें ही विशेष बातें स्वयं स्फुरित हो जायेंगी, जो ऊपरके विवरणमें लिखी नहीं हैं। वेदका अर्थ जाननेके लिये मनन ही करना चाहिये।

आशा है कि पाठक मनन पूर्वक इस कंडका अभ्यास करेंगे और इस उपदेशसे अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करनेका यत्न करेंगे तथा जो विशेष बात अनुभवमें आ जायगी उसका प्रकाशन जनताकी भलाईके लिये करेंगे। इस प्रकार करनेसे सबका ही मला ही जायगा।





अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

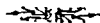
प्रथमकाण्डकी विषय-सूची ।

सूक्त	विषय	पृष्ठ		
	अथर्ववेदके विषयमें स्मरणीय कथन ।	३		पृथ्वीमें जीवन ।
	अथर्ववेदका महत्त्व ।	"		सूत्रतोष निवारण ।
	अथर्वशाखा ।	"		पूर्वापर सम्बन्ध ।
	अथर्वके कर्म । -	"		शापीर शास्त्र का ज्ञान ।
	मनका सम्बन्ध ।	४	४ जल सूक्त ।	"
	छान्तिर्कर्म के विभाग ।	"	५ " "	२१
	मन्त्रोंके अनेक उद्देश्य ।	५	६ " "	२२
	सूक्तोंके गान ।	६		जलकी मिष्टता ।
	अथर्ववेदका महत्त्व ।	८		जल्में औषध ।
	अथर्ववेद प्रथम काण्ड ।	८		समता और विषमता ।
१	मेघाजनन ।	९		बलकी वृद्धि ।
	गुदिका संवर्धन करना ।	"		दीर्घ आयुष्मत्ता साधन ।
	मनन ।	११		प्रजनन शक्ति ।
	अनुसंधान ।	१२		
२	विजय-सूक्त ।	"	७ धर्म-प्रचार-सूक्त ।	२५
	वैयक्तिक विजय ।	१३		अग्नि हीन है !
	पिताके गुण-धर्म-कर्म ।	"		ज्ञानी उपदेशक ।
	माताके गुण-धर्म-कर्म ।	"		मग्न क्षत्रिय ।
	पुत्रके गुण-धर्म-कर्म ।	"		इन्द्र हीन है !
	एक अद्भुत अलंकार ।	१४		धर्मोपदेश का षेप ।
	कुटुम्ब का विजय ।	"		दुष्टोंका सुधार ।
	पूर्वापर सम्बन्ध ।	१५		मित भोजन करो
	कुटुम्बका आदर्श ।	"		दुष्ट जीवनका पथापाप
	औषधि प्रयोग ।	"		धर्मोपदेशक कार्य चलावे
	राष्ट्रका विजय ।	१६		दुष्टोंकी पथापापसे छुादि ।
३	आरोग्य सूक्त ।	"		धर्मका दूत ।
	आरोग्य का वाचन ।	१७		बाहुओंकी दम्प ।
	पर्जन्यसे आरोग्य ।	"		ब्राह्मण और क्षत्रियोंके प्रबलका प्रमाण ।
	मित्र (प्राण) वायुसे आरोग्य ।	"		
	वरुण (जल) देवसे आरोग्य ।	"		८ धर्म-प्रचार-सूक्त-
	चन्द्र (घोम) देवसे आरोग्य ।	१८		धर्मोपदेशका परिणाम ।
	सूर्यदेवसे आरोग्य ।	"		नवप्रतिष्ठका आदर ।
	पशुपाद पिता ।	"		दुष्टोंकी सन्तानका सुधार ।
		"		धर्मोंमें प्रचार ।

९ वर्ष-प्राप्ति-सूक्त ।	३३	वर्षी परीक्षा ।	"
देवताओंका सम्बन्ध ।	"	पतिके गुणधर्म ।	"
उच्चतिका मूलमन्त्र ।	३४	बधू वरीक्षा ।	५१
विजयके लिये संकम ।	३५	बन्दाके गुणधर्म ।	"
ज्ञानसे ज्ञानिमें श्रेष्ठताकी प्राप्ति ।	"	संगनीका संगन ।	"
जनताकी भलाई करना ।	"	धिरकी सजावट ।	"
उच्चतिका चार संदिग्ध ।	३६	संगनीके पश्चात् विवाह ।	५२
इन सुशोका स्मरणार्थ उपदेश ।	"	१५ संगठन-महायज्ञ-सूक्त	"
१० असव्य भाषणदि पापोंमें छुटकारा ।	३७	संगठनसे शक्तिकी वृद्धि ।	५३
पापसे छुटकारा पानेका मार्ग ।	३८	दहमें संगठिकरण ।	"
एक नामक ईश्वर ।	"	संगठन का प्रचार ।	५४
ज्ञान और भाक्ति ।	"	पशुमांस का नष्ट ।	"
प्रसाधित ।	"	पशुमांस छो देनेका पद ।	५५
पापी मनुष्य ।	३९	१६ बोर-नासान-सूक्त	५६
११ सुर-प्रसूति-सूक्त ।	"	संतिशो गोली ।	"
प्रसूति प्रकारण ।	४०	गन्तु ।	"
संघमक्ति ।	"	भापे बीर ।	५६
देवोंका गर्भमें विवास ।	४१	१७ रत्नपान बन्दू करना ।	"
गर्भवती स्त्री ।	"	बाद और रत्नपान ।	५७
गर्भे ।	"	दुर्भाग्य की क्षी ।	"
सुख प्रसूतिके लिये आदेश ।	४२	विषदाके रक्त ।	"
भाईकी सहायता ।	"	१८ धीमास-वर्षन-सूक्त ।	५८
सूचना ।	४३	कुलक्षण और कुलक्षण ।	५९
१२ श्रामादि-रोग निवारण सूक्त ।	४४	वाणीसे कुलक्षणोंकी हत्याना ।	"
महत्त्वपूर्ण रूपक ।	४४	वाणीमें श्रेणा ।	"
आरोग्य का दाता ।	"	शायी और पायोका दर्ह ।	६०
सर्वै किरणोंसे चिकित्सा ।	४५	बौधायनके लिये ।	"
७ वर्षे साधारण उपवास ।	"	बन्दापना कन्त्याण ।	"
१३ अन्तर्यामी ईश्वरको नमन ।	४६	बन्तु-नासान-सूक्त ।	"
सूक्त की देवता ।	"	कान्तारिक कवच ।	६१
तपका महत्व ।	४७	इस सूक्तके दो विभाग ।	"
परम धाम ।	४८	वैदिकधर्मका साध्य । आत्मकदम	"
सुद्धमें सहायता ।	"	अन्त कवच । आत्म कवच ।	६२
नमन ।	"	वासनावका नाश ।	"
१४ कुलवधू सूक्त ।	"	२- महार्क नामक ।	६३
पहिला प्रस्ताव ।	४९	पूर्व सूक्तसे सम्बन्ध ।	६३
प्रस्तावका अनुमोदन ।	५०	आपसकी मूट हटा दो ।	"
		बदा नामक ।	६४

२१ प्रजा-पाठक-सूक्त ।	११	दुष्टोंका दुधार ।	११
आत्र भर्मे ।	१५	२५ राष्ट्र-संघर्षन-सूक्त ।	७९
२२ इन्द्रपरोत तथा कामिदारोगकी विक्रिया ।	१५	अनुसन्धान ।	८०
वर्ग विक्रिया ।	१८	अमीवर्त मणि	११
सूर्यद्विरग विक्रिया ।	११	इस मूलका संवाद ।	११
परिधाय विधि ।	११	राजकि युग ।	११
रुप और वस्त्र ।	११	राजविह ।	११
रंगीन गीके वृद्धके विक्रिया ।	१७	रात्रके लक्षण ।	८२
-पम्प ।	११	सबकी सहायता ।	११
२३ वेद-कुड-नाशन सूक्त ।	१७	केवल राष्ट्रके निम्ने ।	११
वेदकुड ।	१८	' राष्ट्र ' का अर्थ ।	८३
निदान ।	११	२० आयुष्य-वर्षन-सूक्त ।	११
दो भेद और उनका उपाय	११	आयुका संघर्षन ।	८४
रूपका बुझना ।	११	सामाजिक निर्मयता ।	११
औरविद्योका पोषण ।	११	देवोंके आधीन आयुष्य ।	८५
२४ कुड-नाशन-सूक्त ।	१९	इस क्या करते हैं ?	११
वन्द्यविके माता पिता ।	११	आदित्य देवोंकी आश्रय ।	८६
मरुत-करण ।	७०	देवोंके पिता और पुत्र ।	११
वन्द्यविके विषय ।	११	देवोंके स्थान ।	८७
सूर्यका प्रमाण ।	११	द्वैतताओंके चार वर्ण ।	८८
सूर्यके बीजे प्रति ।	११	२१ आशा-पालक-सूक्त ।	८९
२५ अग्नि-उपर-दूरीकरण सूक्त ।	७०	दिक्पाल ।	९०
उपरकी उपायति ।	७१	देहमें चर दिक्पाल ।	११
उपरका परिमाण ।	७१	आशा और दिशा ।	९१
दिग्मन्त्रके नाम ।	७२	मूलका मनुष्य बावक भावार्थ ।	११
मन्त्र-शब्द ।	७३	मनुष्यमें चार द्वारोंकी चार आशाएँ ।	११
२६ सुख-माति-सूक्त ।	७३	विदिति-द्वारमें प्रवेश । (चित्र)-	९२
देवोंके मित्रता ।	११	द्वार, आशा ।	११
विशेष सूचना	७४	आरोग्यका आधार ।	११
२७ विजयी की का पराक्रम ।	७५	मस्तकमें विदिति द्वार । (चित्र)	११
इन्द्रागी ।	११	दृष्ट देहा (चित्र)	११
बौर राजे ।	११	विदितिद्वार, सहायकारक, दृष्ट-	११
शत्रुनाशक शब्द ।	७६	बंधने बकोंके स्थान । (चित्र)	११
तबि युगा शान ।	११	खानपान ।	९४
निर्जालु ।	११	कामोपमोग ।	११
२८ कुड-नाशन-सूक्त ।	७७	बंधनका नाश ।	११
सूर्योपर सम्बन्ध ।	११	अमर दिक्पाल ।	११
दुर्बलके लक्षण ।	७८		

इवन्वे पूजन ।	१५	प्रतिष्ठा	१५
पापमोचन ।	१५	मीठी बाढ	१५
चतुर्थ देव ।	१६	१५ तेजस्विता, बल और दीर्घायुष्मकी प्राप्ति ।	१०४
दीर्घ आयु ।	१७	दासायन हिरण्य	१०५
विशेष दृष्टि ।	१७	दासायनी विद्या	१०६
३२ जीवन रसका महासागर	१७	सुवर्ग धारण	१०७
स्थूल दृष्टि ।	१८	राक्षस और पिशाच	१०७
जीवन का रस ।	१८	सुवर्गके गुण	१०८
भूतमात्रका आश्रय ।	१८	सुवर्ग का सेवन	१०८
सनातन जीवन	१९	शरीरमें देवोंके अंश (चित्र)	१०८
जगत् के मातापिता	१९	काली कामधेनुका रूप	१०९
जीवनका एक महासागर	१९	प्रथम कण्डका मन्त्र ।	११०
सबका एक आश्रय	१९	सूक्तोंका कोष्ठक	११०
स्थूल सूक्ष्म और कारण	१९	ऋषिविभाग	१११
३३ जल सूक्ष्म ।	१००	सूक्तोंके गण	११२
श्रुतिक जल	१०१	अभ्ययन की सुगमता	११२
३४ मधु विद्या ।	१०२	अथर्ववेदके विषयोंकी उपयुक्तता	११३
मधु विद्या ।	१०२	व्यक्तिके विषयमें उपदेश	११३
जन्म स्वभाव	१०३	सारोग्य साधनके अन्य उपाय	११४
माँठा जीवन	१०३	राष्ट्रीय जीवन	११५



ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

द्वितीयं काण्डम् ।

सबका पिता ।

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेदु भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रशं भुवना यन्ति सर्वा ॥ ३ ॥

अपर्ववेद २।१।३

“वह ईश्वर हम सबका पिता, सखादक और बन्धु है, वही सब स्थानों और सुवर्णोंको पधावत जागता है । उसी लखेले ईश्वरको अन्य सम्पूर्ण देवोंके नाम रिये जाते हैं और सम्पूर्ण भुवन उसी प्रशंसनीय ईश्वरको प्राप्त करने के लिये पूज रहे हैं ।”





अथर्ववेद का सुबोधभाष्य ।

द्वितीय काण्ड ।

इस द्वितीय काण्डका प्रारंभ "वेन" सूक्तसे और "वेन" शब्दसे होता है। यह मंगल वाक्य शब्द है। "वेन" शब्दका अर्थ "स्तुति करनेवाला, ईश्वरके गुण गानेवाला भक्त" ऐसा है। परमात्मा पूर्ण रीतिसे स्तुति करने योग्य होनेसे उसीके साक्षात्कारके और सर्वोके गुण वर्णन के मन्त्रोंका यह सूक्त है। इस परमात्माको विद्याके नाम "गुप्त विद्या, गूढ विद्या, गुह्य विद्या, परा विद्या, आत्मविद्या" आदि अनेक हैं। इस गुह्य विद्यामें परमात्माका साक्षात्कार करनेके उपाय बताये जाते हैं। यह इस विद्याकी विशेषता है। विद्याभोगे भेद्य विद्या यही है जो इस काण्डके प्रारंभमें दी गई है, इसलिये इसका अध्ययन पाठक इस दृष्टिसे करें।

त्रिसंस्कार प्रथम काण्ड मुख्यतया चार मंत्रवाले सूक्तोंका है, उद्यो प्रकार यह द्वितीय काण्ड पांच मन्त्रवाले सूक्तोंका है। इस द्वितीय काण्डमें ३९ सूक्त हैं और २०७ मन्त्र हैं। अर्थात् प्रथम काण्डकी अपेक्षा इसमें एक सूक्त अधिक है और ५४ मन्त्र अधिक हैं। इस द्वितीय काण्डमें सूक्तोंकी मन्त्र संख्या निम्नलिखित प्रकार है।

५	मंत्रोंके	सूक्त	२२	हैं, इनकी	मंत्र	संख्या	११०	है
६	"	"	५	"	"	"	३०	"
७	"	"	५	"	"	"	३५	"
८	"	"	४	"	"	"	३२	"
		कुल सूक्त संख्या	३६	कुल मंत्र संख्या			२०७	

इस द्वितीय काण्डके ऋषि देवता छंद आदि निम्नलिखित प्रकार हैं—

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छंद.
प्रथमोऽनुवाकः				
१	५	वेनः	ब्रह्म, आत्मा	त्रिष्टुप्; ३ अगती
२	"	मातृनामा	गंधर्व, अप्सराः	१, २ विराहत्रयती, ३ त्रिपाद्विराण्नाम गायत्री
				५ भूरिगणुष्टुप्

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छंद
३	४	भंगिराः	भैरव्यं, आयुः, धन्वन्तरिः	अनुष्टुप्, १ स्वराद्भुपरिष्टा- न्महाबृहती.
४	॥	अथर्व	चन्द्रमाः, अङ्गिः	॥ १ विराट् प्रस्तारपंक्तिः
५	७	ऋगुः (भाएर्वणः)	इन्द्रः	त्रिष्टुप्; १, २ उपरिष्टाद्बृहती (१ निष्पृत्, २ विराट्) विराट् पप्पा बृहती, ४ जगती पुरोविराट्

द्वितीयोऽनुवाकः

१	५	द्यौनकः (संपत्कामः)	अग्निः	॥ ४ चतुष्पदापंक्तिः ५ विराट् प्रस्तारपंक्तिः
७	॥	अथर्व	भैरव्यं, आयुः, धनस्पतिः	अनुष्टुप्, १ भरिक्, ४ विराद्भुपरिष्टाद्बृहती
८	॥	ऋगुः (भंगिरसः)	धनस्पतिः यस्मान्नादानं,	॥ ३ पथ्यापंक्तिः, ४ विराट् ५ निष्पृत् पथ्यापंक्तिः
९	॥	॥ ॥	॥ ॥	॥ १ विराट् प्रस्तारपंक्तिः
१०	८	॥ ॥	निर्मति, धावापृथिवी, नानादेवताः	१ त्रिष्टुप्, २ सप्तपदादिः ३-५, ७, ८ (१) सप्तपदी पतिः; ६ सप्तपदी अंत्यष्टिः ८ (२, ३) द्वौ पादौ, बणिहौ ।

तृतीयोऽनुवाकः

११	५	शुकः	कृत्यावृषणं, कृत्यापरिहरणं	१ चतुष्पदा विराट्, २-५ त्रिपदा परोन्निहः, ४ विपीलिकमप्या निष्पृत्
१२	८	भरद्वाजः	नानादेवताः	त्रिष्टुप्; २ जगती, ७, ८ अनुष्टुभौ
१३	५	अथर्व	॥ अग्निः	॥ ४ अनुष्टुप्, १ विराट् जगती
१४	६	चातनः	शाळा, अग्निः, मैत्रोक्षदेवताः	अनुष्टुप्, २ भूरिक्, ४ उपरिष्टाद्विराद्बृहती, त्रिपदापथ्वी.
१५	॥	महा	प्राणः, अपानः, आयुः	
१६	७	॥	॥	१, ३ एकपदासुरी त्रिष्टुप्, २ एकपदासुरी बणिक्, ४, ५ द्विपदासुरी गायत्री

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छंद
१७	"	"	"	१-६ एकपदासुरी त्रिष्टुप्, ७ आसुरी षण्णिक्.
चतुर्थोऽनुवाकः				
१८	५	चातनः (सपरद क्षयकामः)	भूमिः	साम्नी बृहती.
१९	"	अथर्वा	"	१-४ निचृद्विषमा गायत्री ५ भूरिविषमा.
२०	"	"	वायुः	" "
२१	"	"	सूर्यः	" "
२२	"	"	चंद्रः	" "
२३	"	"	आपः	" "
२४	८	महा	आयुष्यं	पंक्तिः
२५	५	चातनः	वनस्पतिः	अनुष्टुप्, ४ भूरिक्
२६	"	सनिता	पशुः	त्रिष्टुप् ३ उपरिष्टाद्विराद्बृहती ४, ५ अनुष्टुभो (४ भूरिक्)
पञ्चमोऽनुवाकः				
२७	७	कपिञ्जलः	वनस्पतिः	अनुष्टुप्
२८	५	घग्भुः	रुद्रः, इन्द्रः	त्रिष्टुप्, १ जगती, ५ भूरिक्
२९	७	अथर्वा	जरीमा, आयुः	" १ अनुष्टुप् ४ पराबृहत् निचृत् प्रस्तारपंक्तिः
३०	५	प्रजापतिः	अश्विनौ	अनुष्टुप्, १ पद्यापंक्तिः ३ भूरि
३१	"	कापवः	मही, चन्द्रमाः,	" २ उपरिष्टाद्विराद्बृहती ३ आर्षात्रिष्टुप् ४ प्रागुक्ता बृहती, ५ प्रागुक्ता त्रिष्टुप्.
षष्ठोऽनुवाकः				
३२	६	"	आदित्यः	" १ त्रिवाद्भूरिगा, यत्री. ६ चतुष्पात्रिचृगुष्णिक्
३३	७	महा	यज्ञसविषर्हणं, चन्द्रमाः, आयुष्यं	" ३ ककुमठी, ४ चतुष्पा- द्भूरिगुष्णिगु, ५ उपरि- ष्टाद्विराद्बृहती, ६ षण्णिकामां निचृद्वनुष्टुप् ७ पद्यापंक्तिः

सूक्त	मंत्र	ऋषि	देवता	छंद
३४	५	अथर्वी	पशुपतिः	त्रिष्टुप्
३५	,	अंगिराः	विश्वकर्मा	,, १ सुहृतीगर्मा, ४, ५ मूर्च्छि
३६	८	पतिवेदनः	अग्नीषोमी	,, १ मूर्च्छि २, ५-७ ऋतुष्टुप् ८ निचक्षुर उष्णिग्

इस प्रकार सूक्तोंके ऋषि देवता और छंद हैं । स्वाभाव्य करनेके समय पाठकों को इनके ज्ञानसे बहुत लाभ है। एकता है । अब हम ऋषि क्रमसे सूक्तोंका कोष्टक देते हैं-

१ अथर्वी- ४, ७, १३, २१-२३, २९, ३४ ये दस सूक्त ।

२ मद्रा- १५-१७, २४, ३३, ये पांच सूक्त ।

३ आंगिरसी भृगुः- ८-१० ये तीन सूक्त ।

४ वातनः- १४, १८, २५, ,, ,, ,,

५ अंगिराः- ३, ३५, ये दो सूक्त ।

६ काण्वः ३१, ३२ ,, ,, ,,

७ आपर्वी भृगुः- ५ यह एक सूक्त ।

८ वेनः- १ ,, ,,

९ मातृनामा- २ ,, ,,

१० शौनकः- ६ ,, ,,

११ झुकः- ११ ,, ,,

१२ भरद्वाजः- १२ ,, ,,

१३ साधिता- २६ ,, ,,

१४ कपिशलः- २७ ,, ,,

१५ शम्भू- २८ ,, ,,

१६ प्रजापतिः- ३० ,, ,,

१७ पतिवेदनः- ३६ ,, ,,

ये ऋषि-कमानुषार सूक्त हैं । अब देवता-कमानुषार

सूक्तों की गणना देखिये-

१ मद्रा, आरामा- १ यह एक सूक्त ।

२ शंभुः- २ ,, ,,

३ इन्द्रः- ५ ,, ,,

४ अग्निः- ६, १३, १४, १८, १९, ये पांच सूक्त ।

५ वमस्पतिः- ३, ७-९, २५, २७ ये छः सूक्त ।

६ दीर्वायुष्यं- ३, ७, १५-१७, २४, २८ ये सात सूक्त ।

७ आरोग्यं- ८, ९, ११, १५-१७, २८ ये सात सूक्त ।

८ चंद्रमाः- ४, २२, ३१, ३३ ये चार सूक्त ।

९ अंगिष्ठः- ४ यह एक सूक्त

१० निर्ऋतिः- १० ,, ,,

११ वायुः- २० ,, ,,

१२ सूर्यः- २१ ,, ,,

१३ आदित्यः- ३२ ,, ,,

१४ आपः- २३ ,, ,,

१५ अश्विनौ- ३० ,, ,,

१६ विश्वकर्मा- ३५ ,, ,,

१७ अग्नीषोमी- ३६ ,, ,,

१८ पशुपतिः- ३४ ,, ,,

१९ पशुः- २६ ,, ,,

अन्य सूक्तों में अनेक देवताएँ हैं, जो मन्त्रके मंत्रके विवरण में पाठक देख सकते हैं । समान देवताके सूक्तोंका अर्थविचार एक साथ करना चाहिए । अर्थविचार करनेके समय ये कोष्टक पाठकोंके लिए बड़े उपयोगी हो सकते हैं । इस कोष्टकके दितने सूक्तों का विचार साथ साथ करना चाहिए । यह बात पाठक जान सकते हैं और इस प्रकार विचार करके मंत्रों और सूक्तोंका अनुष्ठान कर सकते हैं ।

इतनी आवश्यक बात यहाँ कहके अब इस द्वितीय काण्डका अर्थ विचार करते हैं-

अथर्षे वेदका सुवोधेन भाष्यम् ।

द्वितीय काण्ड ।

गुह्य-अध्यात्म-विद्या ।

(१)

[ऋषिः-वेनः । देवता-ब्रह्म, आत्मा]

वेनस्तर्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं मवत्येकरूपम् ।

इदं पृथ्निरदुहज्जायमानाः स्वविदो अम्यनूपत प्राः

॥ १ ॥

प्र तद्वोचेदुमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत् ।

त्रीणि पदानि निर्हिता गुहांस्य यस्तानि वेद स पितृष्पितास्त

॥ २ ॥

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।

यो देवानां नामघ एक एव तं संप्रभं भुवना यन्ति सर्वा

॥ ३ ॥

अर्थ— (वेनः तत् परमं पश्यत्) भक्त ही इस परमश्रेष्ठ परमात्माको देखता है, (यत् गुहा) जो हृदय की गुफामें है और (यत्र विश्वं एकरूपं भवति) जिसमें सम्पूर्ण जगत् एकरूप हो जाता है । (इदं पृथिः जायमानाः बन्धुहन्) इसीका प्रकृतिने दोहन करकेही जन्म देनेवाले पदार्थ बनाये हैं और इसलिये (स्वविदो प्राः) प्रकाश को जानकर तब पाठन करनेवाके मनुष्यही इसकी (अम्यनूपत) उत्तम प्रकारसे स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

(यत् गुहा) जो हृदयकी गुफा में है (यत् अमृतस्य परमं धाम) वह अमृतका श्रेष्ठ स्थान (विद्वान् गन्धर्वः-प्रबोधन्) ज्ञानी बक्ता कहे । (अस्य त्रीणि पदा) इस के तीन पद (गुहा निर्हिता) हृदय की गुफामें रखे हैं, [यः तानि वेद] जो इनको जानता है (सः पितुः पिता असन्) वह पिताका भी पिता अर्थात् बड़ा समर्थ हो जाता है ॥ २ ॥

[सः नः पिता] वह हम सबका पिता है, (जनिता) जन्म देनेवाला (उत सः बंधुः) और वह भाई है, वह (विश्वा भुवनानि भानानि वेद) सब भुवनों और स्थानोंको जानता है । (यः एकः एव) वह अकेलाही एक (देवानां नाम—घः) सम्पूर्ण देवोंके नाम धारण करनेवाला है, (तं संप्रभं) उसी उत्तम प्रकारसे पूछने योग्य परमात्माके प्रति (सर्वा भुवनानि यन्ति) सम्पूर्ण भुवन पहुँचते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— जिधमें जगत्की विविधता भेदका त्याग कर एकरूपताको प्राप्त होती है और जिसका निवास हृदयमें है, उस परमात्माको मच्छी अपने हृदयमें छाछात देखता है । इस प्रकृतिने उसी एक आत्माको विविध शक्तियोंको निचोड़ कर उत्पन्न होनेवाले इस विविध जगत् को निर्माण किया है, इसलिये आत्मज्ञानी मनुष्य सदा उसी एक आत्माका गुणगान करते हैं ॥ १ ॥ ओ अपने हृदयमें ही है उस अमृतके परम धाम का बर्णन आत्मज्ञानी संयमी बक्ता ही कर सकता है । इसके तीन पाद हृदयमें गुप्त हैं, जो उनको जानता है, वह परम ज्ञानी होता है ॥ २ ॥

वही हम सबका पिता, जन्मदाता और भाई भी है, वही सम्पूर्ण प्राणियोंकी सब अवस्थाओंको यथावत् जानता है । वह केवल अकेलाही एक है और अग्नि आदि संपूर्ण अन्न देवोंके नाम उसीको प्राप्त होते हैं अर्थात् उसको ही दिये जाते हैं । जिज्ञासु जन उसीके विषयमें कारंवार प्रश्न पूछते हैं और ज्ञान प्राप्त करते हुए अन्तमें उसीको प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

परि धावांपृथिवी सद्य आयुमुपाविष्टे प्रथमजामृतस्य ।
 वाचमिव वक्तरीं भुवनेष्टा घ्रास्युरेप नन्वेष्टुपो अग्निः ॥ ४ ॥
 परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं वित्तुं दृशे कम् ।
 यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावधैरयन्त ॥ ५ ॥

अर्थ— (सद्यः) शीघ्र ही (धावा—पृथिवी परि धायं) युलोक और पृथ्वी लोकमें सर्वत्र मैं घूम जाया हूं और जब (ऋत्स्य प्रथमजो उपाविष्टे) सत्यके पहिले उपासक की उपासना करण हूं । (वक्तरी वाचं हव) वक्तरीं जैसी वाणी रहती है, उसी प्रकार यह (भुवने—स्थाः) सब भुवनोंमें रहता है, और (प्यः घ्रास्युः) यही सबका धारक और पोषक है, (ननु एयः अग्निः) निश्चयसे यह अग्नि ही है ॥ ४ ॥

(यत्र) जिसमें (अमृतं आनशानाः देवाः) अमृत खानेवाले सब देव (समाने योनी) समान आश्रयको (अधैर-पन्त) प्राप्त होते हैं, उस (ऋत्स्य) सत्यके (वित्तुं कं तन्तुं दृशे) फैले हुए सुखकारक भागको देवनेके लिए मैं [विश्वा भुवने परि धायं] सब भुवनोंमें घूम जाया हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— युलोक और पृथ्वी लोकके अंदर जो अनंत पदार्थ हैं, उन सबका निरीक्षण करनेके बाद पता लगता है, कि अतल सत्य नियमोंका पहिला प्रवर्तक एकही परमात्मा है, इसलिए मैं उसीकी उपासना करता हूं । जिस प्रकार वक्तरीं वाणी रहती है, उसी प्रकार जगत् के सब पदार्थों अपवा सब प्राणियोंमें यह सबका धारण पोषण कर्ता एक आत्मा रहता है, उसको अग्नि भी कह सकते हैं अर्थात् जैसा अग्नि लक्ष्मणोंमें गुप्त रहता है उसी प्रकार यह सब पदार्थोंमें गुप्त रहता है ॥ ४ ॥

जिस एक परमात्मामें अग्नि वायु सूर्योदि देव समान रीतिसे आश्रित हैं और जिसका अमृत मयी शक्ति संपूर्ण उष्ण देवोंमें कार्य कर रही है, वही एक सर्वत्र फैला हुआ व्यापक सत्य है, उसी का साक्षात्कार करनेके लिए सब बस्तुमात्रका निरीक्षण मैंने किया है और पथात् सबके अंदर वही एक सूत्र फैला है यह मैंने अनुभव किया है ॥ ५ ॥

गूढ विद्या ।

गूढ विद्या का अर्थ है गूढ तत्त्वको जाननेकी विद्या । कई समझते हैं कि, यह विद्या गुप्त रखनी है, इसलिए इसको गुप्त अथवा गुह्य विद्या कहते हैं, परंतु यह ठीक नहीं है । इत्यं संसारके अंदर सबका आधारभूत एक तत्त्व है, संसारके पदार्थ इत्यं हैं और यह सर्वव्यापक आधारतत्त्व अदृश्य है । हर एक मनुष्य सब पदार्थोंके रंग रूप आकार तोल आदिको देख सकता है, परंतु उस पदार्थके अंदर व्यापनेवाले तत्त्वको, जिससे कि उस पदार्थ का अस्तित्व अनुभव होता है, उस अदृश्य तत्त्वको, यह नहीं जान सकता; बहुत थोड़े ही उसका अनुभव कर सकते हैं । मनुष्य का दृश्य देह सब देख सकते हैं, परंतु उसी देहमें रहनेवाले गुह्य अथवा गुप्त आत्माका दर्शन कौन करता है! परंतु जितना देहका अस्तित्व सत्य है उससे भी अधिक सत्य देहधारी आत्माके अस्तित्वमें है । इसी प्रकार संपूर्ण जगत् के अंदर व्यापनेवाले गुह्यतत्त्व के विषयमें समझना चाहिए ।

इत्यं आकारवाला जगत् दिखाई देता है, इसलिए वह गुह्य नहीं है, परंतु इस दृश्य जगत् को आधार जिस गुह्य तत्त्वने दिया है, वह इस प्रकार स्पष्टतासे नहीं दिखाई देता है, इसको छंदना, इसका अनुभव लेना, इसका साक्षात्कार करना, इस 'गुह्य विद्या' का कार्य क्षेत्र है । इसलिए इसको " गुह्यविद्या गूढविद्या, गुप्तविद्या, गुह्यगुह्यतत्त्व का ज्ञान, आत्मज्ञान, ब्रह्मविद्या, परविद्या, विद्या " आदि अनेक नाम हैं । इन सब शब्दोंका तात्पर्य " उच जगदाधार आत्मतत्त्वज्ञ ज्ञानम् " यही है ।

वेदमेंत्रोंमें यह विद्या विशेष रीतिसे बताया है । स्थान स्थानमें तथा विविध रीतियोंसे इसका वर्णन किया है । कई मंत्रोंमें स्पष्ट वर्णन है और कईयोंमें गुह्य वर्णन है । यह सूक्ष्म स्पष्ट वर्णन करनेवाला है, हकीकत उपासकोंमें इसके समझसे बड़ा लाभ हो सकता है ।

गूढविद्याका अधिकारी ।

सब विद्याओंमें यह गूढ विद्या मुख्य है, इसलिए हरएक को इस विद्याकी प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिए । वास्तवमें देखा जाय, तो सभी मनुष्य इसकी प्राप्तिके मार्ग में लगे हैं, कई दूर के मार्गपर हैं और कईदिने समीपका मार्ग पकड़ा है, इन अनेक मार्गोंमेंसे कौनसा मार्ग इस सूक्तकी अभीष्ट है, यह बात यहाँ अब देखेंगे—

वेनः उत्पश्यत् ॥ ३ ॥

‘वेनही उसको देखता है,’ यह प्रथम मंत्रका विधान है । यहाँ प्रत्यक्ष देखता है, जिस प्रकार मनुष्य सूर्यको आकाशमें प्ररपक्ष देखता है उस प्रकार यह भक्त इस आत्मा को अपने हृदयमें प्रत्यक्ष करता है, यह भाव स्पष्ट है । यह अधिकार ‘वेन’ का ही है यह ‘वेन’ कौन है ? ‘वेन’ वातुके अर्थ— ‘मजन पूजन करना, विचार से देखना, भक्ति करना, तथा इसी प्रकार के उपासनाके कार्य करनेके लिये जाना’ ये हैं । ये ही अर्थ यहाँ वेन शब्द में हैं । ‘जो ईश्वर का भजन पूजन करता है, हृदयसे उसकी भक्ति करता है, विचारकी दृष्टिसे उसकी जाननेका प्रयत्न करता है’ इस प्रकारका जो ज्ञानी भक्त है, वह वेन शब्दसे यहाँ अभिप्रेत है । इसलिए कैवल्य “ सुदीमान ” अर्थ ही यहाँ लेना उचित नहीं है । कितनी भी बुद्धिकी विद्यालता क्यों न हुई हो, जबतक उसके हृदयमें भक्ति की लहरें न उठती हों, तबतक उस प्रकारके शुद्ध ज्ञानसे परमात्माका साक्षात्कार नहीं हो सकता, यह यहाँ इस सूक्त द्वारा विशेष रीतिसे बताया है ।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि—

अमृतस्य धाम विद्वाद् गंधर्वः ॥ २ ॥

“अमृतके धाम की जाननेवाला गंधर्व ही उसका वर्णन कर सकता है ।” इसमें “गंधर्व” शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण है । गंधर्व शब्द का अर्थ “संत, पवित्रात्मा” कौशों में प्रसिद्ध है और यह शब्द वेन शब्दके पूर्वोक्त अर्थके साथ मिलता जुलता भी है । तथापि “गां वाणीं धारयति” अर्थात् “अपनी वाणीका धारण करनेवाला” यह अर्थ यहाँ विशेष योग्य है । वाणीका धारण तो सब करते ही हैं, परंतु यहाँ वाणीका बहुत प्रयोग न करते हुए अपनी वाक्शक्तिका संयम करनेवाला, अत्यन्त आवश्यकता होनेपर ही वाणीका उपयोग करनेवाला, यह अर्थ गंधर्व शब्दमें है । विशेष अर्थ से परिपूर्ण परंतु अल्प शब्द बोलनेवाला विद्वान् गंधर्व शब्दसे यहाँ लिया जाता है । प्रायः आत्मज्ञानी वक्ताका वक्तृत्व सूक्ष्मतासे ही होता है, किंवा बोधके परंतु अर्थपूर्ण शब्दोंसे ही आत्मज्ञानी पवित्रात्मा आत्म पुरुष जो कुछ कहना है, कह देता है । जबतक लौकिक विद्याका ज्ञान मनुष्यके मनमें छलबली मचारा रहता है, तब तक ही मनुष्य मेघघर्जेनाके समान वक्तृत्व करता रहता है, परंतु इसका परिणाम श्रेयसाँवरे विशेष नहीं होता । जब आत्मज्ञान होता है और ईश्वर साक्षात्कार होता है, तब इसका वक्तृत्व अल्प होने लगता है । परंतु प्रभाव बढ़ता जाता है । वाक्शक्तिपर संयम होने लगता है । यह गन्धर्व अवस्था समक्षिये ।

यहाँ “वेन और गंधर्व” ये दो शब्द आत्मज्ञानके अधिकारीके वाचक शब्द हैं । उपासक, भक्त तथा गंभीर शब्दोंका प्रयोग संयम के साथ करने वाला जो होता है, वही परमात्माका साक्षात्कार करता है और वही उसका वर्णन भी कर सकता है ।

पूर्व तैयारी । (प्रथम अवस्था)

उक्त उपासक आत्मज्ञानी हो सकता है, परंतु इसके बननेके लिये पूर्व तैयारी की आवश्यकता है, यह पूर्व तैयारी निम्न लिखित शब्दों द्वारा उक्त सूक्तमें बताई है—

सद्यः द्यावापृथिवी परि आयम् ॥ ४ ॥

विद्वा सुवनानि परि आयम् ॥ ५ ॥

“एकवार पृथ्वी और पृथ्वीलोकमें एकदम लगाकर आया हूँ । संपूर्ण सुवनोंमें घूमकर आया हूँ ।” अर्थात् पृथ्वी और पृथ्वीलोक तथा अन्धान्य सुवनों और स्थानों में जो जो द्रष्टव्य, प्राप्त्य और भक्तव्य है, उसको देखा, प्राप्त किया और भोगा है । जगत् में सब घ्रमण किया, कार्य व्यवहार किये, धनदौलत कमायी, राज्यादि भोग प्राप्त किये, विजय कमाये, यथा फेलाया, सब

२ (अ. सु. भा. कं. २)

बुद्ध किया, मनुष्यको जो जो अनुभव विपयक करना संभव है, वह सब किया । वह गूढतत्त्वके दर्शनको प्रथम स्तरवा है । इस स्तरयामें भोगेच्छा प्रधान होती है ।

द्वितीय अवस्था ।

इसके बाद दूसरी अवस्था आती है, जिस समय विचार उत्पन्न होता है, कि ये नाशवान्त भोग किन्हे भी प्राप्त किये, नदायि उनसे सखी तृप्ति नहीं होती; इसलिये सखी तृप्ति, सच्चा मनका समाधान प्राप्त करनेके लिये कुछ यत्न करना चाहिये । १७ तय अवस्थामें भोगीकी ओर प्रवृत्ति कम होनी है और अभौतिक तत्त्व दर्शन की ओर प्रवृत्ति बढ़ती जाती है; इसका निर्देश उस सूत्रमें निम्न लिखित प्रकार किया है—

अमृतस्य वितर्तं कं तन्तुं ह्ये विद्या मुवनानि परि भाष्यम् ॥ ५ ॥

“अमृतका फैला हुआ सुखकारक मूल सूत्र देखनेके लिए मैंने सब मुवनोमें चक्र मारा, ” अर्थात् इस द्वितीय अवस्थामें इसका चक्र इसलिये होता है, कि इस विविधतासे परिपूर्ण जगत्के अंदर एकताकामून स्नेह होगा तो उसे देखें; इस दुःख बड़ भेद लडाईं शयनों से परिपूर्ण जगत्में सुख आराम ऐश्वर्य और अविरोध देनेवाला कुछ तत्त्व होगा तो उसको होंगे, इस उद्देशसे इसका अमण होता है । यह शिक्षासूत्री दूसरी अवस्था है । इस अवस्था का मनुष्य तीर्थो क्षेत्रों और पुण्यप्रदेशों में जाता है, वहाँ सज्जनोंसे मिलता है, देशदेशांतरमें पहुँचता है और वहाँसे ज्ञान प्राप्त करता है इसका इस समय का उद्देश्य यही रहता है, कि इस विभेद पूर्ण दुःखमय अवस्थायि अभेदमय सुखकारक अवस्थाको प्राप्त करें । इतने परिश्रम करनेसे उसको कुछ न कुछ प्राप्त होता रहता है और फिर वह प्राप्त हुए जानको अपने में स्थिर करनेका यत्न करनेकी तैयारी करता है । इस प्रकार वह दूसरी अवस्थाके तीसरी अवस्थामें पहुँचता है । इस तीसरी अवस्थाका वर्णन इससूत्रमें निम्न लिखित शब्दों द्वारा किया है—

तृतीय अवस्था ।

घावाशुषिणी परि व्यापं स्वः श्रुतस्य प्रथमजां तपातिष्ठे ॥ ४ ॥

“ मैं सुलोक और पृथ्वीलोक में सब घूम आया हूँ और अब मैं स्वयंके पहिले प्रवर्तक की तपासना करता हूँ । ” जगत मारमें घूमकर विचार पूर्वक निरीक्षण करनेसे इसको पता लगता है कि, इस विभिन्न जगत् में एक अमित दर है और वही (क) सच्चा सुख देनेवाला है । जब यह ज्ञान इसको होता है, तब यह उसके पास जानेकी इच्छा करता है । तपासनासे मिल कोई अन्य मार्ग उसको प्राप्त करनेका नहीं है, इसलिये इस मार्गमें अब यह तपासक लाता है । दे अवस्थामें इस सूत्रके मंत्रों द्वारा स्वयंके हाथों, इन मंत्रों के साथ यज्ञवेद वाजसनेयी छेड़िताके मंत्र देखनेसे यह विषय अधिक खुल जाता है; इसलिये वे मंत्र अब यहाँ देते हैं—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकात्परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।

उपस्थाय प्रथमजामृतस्यामनामानामे सं विवेशे ॥ ११ ॥

परि घावाशुषिणी स्व इत्वा परि लोकात्परी दिशः परि स्वः ।

श्रुतस्य तन्तुं वितर्तं त्रिकृतं तद्वपुश्चतुर्भुजस्तदासीत् ॥ १२ ॥

वा. दण्ड . अ. ३२

“ (भूतानि परीत्य) सब भूतोंको जानकर या भूतोंमें घूमकरके (लोकात् परीत्य) सब लोकोंमें अमण करके (सर्वा दिशः प्रदिशः च परीत्य) सब दिशा और उपदिशाओंमें अमण करके अर्थात् इस सबको यथावत् जानकर (श्रुतस्य प्रथमजां उपस्थाय) स्वयंके पहिले नियमके प्रवर्तक की तपासना करके (आत्मना आत्मने) केवल आत्मस्वरूपसे परमानाके प्रति (समि सं विवेशे) सब प्रकारसे प्रविष्ट होता हूँ ॥ ११ ॥

(स्वः यावाशुषिणी परि इत्वा) एक समय सुलोक और पृथ्वीलोकके सब पदार्थोंको देखकर, (लोकात् परि) सब लोकोंको देखकर, (दिशः परि) दिशाओंका परीक्षण करके (स्वः परि) आत्म प्रकाशको जानकर (श्रुतस्य वितर्तं तन्तुं) अटल स्वयंके फैले हुए भोगको अलग करके जब (तत् व्युत्पद्य) उस भागको देखता है, तब (तत् अमनत्) वह वैषा बनता है कि, जैसा (तत् आर्षत्) वह पहिले था ॥ १२ ॥ ”

ये दो मंत्र उपासकरी उन्नतिके मार्गका प्रकाश उतम रीतिसे कर रहे हैं । जगत् में घूम आनेकी जो बात अथर्ववेदने कही थी, उसका विरोध ही स्पष्टीकरण इन दो मंत्रोंके प्रथम अर्धोद्धार हुआ है : "सब भूत, सब लोकलोकान्तर, सब उपदिशाएँ, य और पृथ्वीके अंतर्गत सब पदार्थ, अपना अपनी शक्ता जहाँ तक आसक्तो है, वहाँ तक जाकर, वहाँतक विजय करके, वहाँ-क पुरुषार्थ प्रयत्नसे यथा फैलाकर तथा उन सबका परीक्षण निरीक्षण समीक्षण आदि जो कुछ किया जाना संभव है, वह सब करके देख लिया । इतने निरीक्षणसे ज्ञात हुआ कि अटल सत्यनियमोंको चलानेवाला एकही सूत्ररूप आत्मा सबके अंदर है, वही सबमें फैला है, उसीके आधारसे सब कुछ है, सबके आधार के बिना कोई ठहर नहीं सकता । जब यह जान लिया तब उसकी ही उपासना की, और केवल अपने आत्मभिहीं उसमें प्रवेश किया । जब वहाँका अनुभव लिया, तब उपासक बैठा बन गया, जैसा पहिले था ।

पाठक इन मंत्रोंके इस आशयको देखेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि जो अथर्ववेदके इस सूक्तके मंत्रों द्वारा आशय व्यक्त हुआ है, वही बड़े विस्तारसे इन मंत्रोंमें वर्णित हुआ है । और ये मंत्र उन्नतिको अवस्थाएं भी स्पष्ट शब्दोंद्वारा बता रहे हैं, देखिये—

- १ प्रथम अवस्था—(अज्ञानावस्था)—अपने या जगत् के विषय का पूर्ण अज्ञान ।
 - २ द्वितीय अवस्था—(भोगावस्था)—जगत् अपने भोग के लिये है, ऐसा मानना, और जगत्को अपने स्थापित करनेका यत्न करना । जगत् पर प्रभुत्व स्थापित करना । इसी अवस्थामें राज्यैश्वर्य भोग बढ़ाये जाते हैं ।
 - ३ तृतीय अवस्था—(त्यागावस्था)—जगत्के भोगोंसे अक्षमाधान होकर विभक्तोंमें व्यापक अविभक्त सत्तावाली सदस्तुको हँडनेका प्रयत्न करना । वह जिज्ञासुकी अवस्था है ।
 - ४ चतुर्थ अवस्था (अकृतावस्था)—मनुष्य विभिन्न विश्वमें व्यापक एक अभिन्न आत्मतत्त्वको देखने लगता है और अर्थात् भक्तिसे उसकी उपासना करने लगता है ।
 - ५ पंचम अवस्था—(स्वरूपावस्था)—उपासना और भक्ति दृढ और गृहज होनेपर वह तद्रूप हो जाता है, भानो उसमें एक रूप होकर प्रविष्ट होता है, या जैसा या वैसा बन जाता है । यही साक्षात्कार की अवस्था है, वहाँ इसके अथ शान प्रत्यक्ष होता है ।
- यही मार्ग इस अथर्व सूक्तमें वर्णन किया है । यहाँ पाठकोंको स्पष्ट हुआ होगा कि पूर्व तैयारी कौनसी है और अगेका मार्ग क्या है ।

पूर्णावस्था ।

पूर्वोक्त यजुर्वेदके मंत्रोंमें कहा ही है कि—

उपस्थाय प्रथमज्ञासृत्स्य

आत्मनामानमभि सं विवेश

ऋत्स्य तन्तुं वितर्तं विचृत्य ।

तदपश्यत्तद्भवत्तदासीन्

॥ १२ ॥

वा. यजु० अ. ३२

"सत्यके पहिले प्रवर्तक परमात्माकी उपासना करके आत्मसे परमात्ममें प्रविष्ट हुआ । सत्यके फले हुए धर्मोंको अलग देखकर बैसा हुआ जैसा कि पहिले था ।" यह सब वर्णन पूर्ण अवस्थाका है । इसीको निम्नलिखित शब्दोंद्वारा इस अर्थमें सूक्तमें कहा है—

स्वर्षिदः प्राः भग्यनूत

॥ १ ॥

भमृतस्य धाम विद्वात्

॥ २ ॥

यद्यानि वेद स पितृष्विताऽसत्

॥ २ ॥

“ (प्राः) अतः पालन करनेवाले (स्वर्दिदः) आत्मज्ञानी वही ही स्तुति करते हैं । वे अमृतके घामको जानते हैं । जो ये घाम जानता है वह पिताका पिता अर्थात् सबमें अधिक ज्ञानी अपना सबमें अधिक समर्थ होता है । ” यह अंतिम कृत है पूर्ण अवस्थामें पहुँचनेका नियम इच्छे हो सकता है ।

प्रथम मंत्रमें “ प्राः ” शब्द बड़ा महत्त्व रखता है । अतो या नियमोंका पालन करनेवाला अपनी उन्नतिके लिये जो नियम आवश्यक होंगे उनको अपनी इच्छासे पालन करनेवालेका यह नाम है । नियम स्वयं देखकर स्वयंही उस अतः पालन करना बड़े सुव्यवस्थित धारण होता है । इसमें अतमंत्र होनेपर अपने आपको स्वयंही दृष्ट देना होता है, स्वयं ही प्रायश्चित्त करना होता है । महान् आत्माही ऐसा कर सकता है । हर एक मनुष्य दुष्टों पर अधिकार चला सकता है, परंतु स्वयं अपने पर अधिकार चलाना अति कठिन है । अपनी संपूर्ण शक्तियाँ अपने आधीन रखनी और कभी कुविचार आदि शत्रुओंके आधीन न होना इत्यादि महत्त्व पूर्ण बातें इस आत्मसाधनमें आती हैं । परंतु जो यह करेगा, वही आत्मज्ञानी और विशेष समर्थ बनेगा और उचीक महत्त्व सब शीघ्र मानेगा ।

सूत्रात्मा ।

मणियोंकी माला बनती है, इस मालामें जितने मणि होते हैं, उन सबमें एक सूत्र होता है, जिसके आधारसे ये मणि रहते हैं । सूत्र टूट गया तो माला नहीं रहती और मणि भी बिखर जाते हैं । जिस प्रकार अनेक मणियोंके बीचमें यह एक सूत्र या तंतु होता है, उही प्रकार इस जगत्के सूर्यचंद्रादि विविध मणियोंमें परमात्माका व्यापक सूत्र तन्तु या बाण है, जिसके आधारसे यह सब विश्व रहा है, इसीका दर्शन नहीं होता, सब मातृका ही वर्णन करते हैं, परंतु जिस बाणके आधारसे ये सब मणि मालारूपमें रहे हैं, उस सूत्रका महत्त्व सर्वज्ञानी ही जान सकता है और वह सब जगदाधार को प्राप्त कर सकता है ।

वेदमें “ तन्तु, सूत्र ” आदि शब्द इस अर्थमें आये हैं । जगत्के संपूर्ण पदार्थ मात्रके अंदर यह परमात्माका सूत्र फैला है, कोह भी पथार्थ इसके आधारके बिना नहीं है । यह जानना, इस ज्ञानका प्रत्यक्ष करना और इसका साक्षात्कारसे अनुभव लेना गूढ विद्याका विषय है, जो इस सूक्त द्वारा बताया है ।

अमृतका घाम ।

यही आत्मा अमृतका घाम है, इसके झूटना हर एकका आवश्यक कर्तव्य है । इसको बड़ा झूटना यही अन्न बना विचारणीय है, इसकी प्राप्तिके लिये ही संपूर्ण जगत् घूम रहा है, विचारकी दृष्टिसे देखा जाय, तो पता लग जायगा कि, सुख और आनंदके लिये हर एक प्राणी प्रयत्न कर रहा है, और हर एकका खयाल है कि, ब्रह्म पदार्थकी प्राप्तिसे सुख होता है । इसलिये मनुष्य कदा अपना अन्य कर्तव्यतादि प्राणी क्या, प्रमत्त कर रहे हैं, एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जा रहे हैं, इष्ट पदार्थ प्राप्त होनेपर क्षणभंग सूखका अनुभव लेते हैं और पश्चात् दुःख जैसा का वैधा बना रहता है । इसका मनन करते करते मनुष्यके मनमें विचार आजाता है कि, आनंद कंद को अपने से बाहर झूठते रहने की अपेक्षा उसके अपने अंदर तो झूठकर देखेंगे । यही बात “ भेदे यावापृथ्वीमें प्रमत्त क्रिया, भेदे संपूर्ण भूतोंमें चक्रार मारा, सब दिशाएँ और विदिशाएँ देख ली और अन्ध में सर्वत्र व्यापक एक सूत्रात्माको जानकर उसकी स्थापना करता हूँ । ” इत्यादि जो मान चतुर्थ और पंचम मंत्र का है उसमें दर्शा है । गूढ विद्याका प्रारंभ इसके पश्चात्के क्षेत्रमें है, यहाँसे ही गूढ तत्त्वकी खोज शुरू होती है । जिस प्रकार अन्ध संपूर्ण पदार्थोंको देखती है परंतु अन्धमें पदों को देख नहीं सकती, उही प्रकार मनुष्य सब जगत् का विज्ञय करता है, परंतु अपने अंदरका निरीक्षण करना उसकी कठिन होता है । यही गुप्त विद्याका क्षेत्र है । इसलिये इसको बड़ा झूटना है, यह देखना चाहिये । इस सूक्तमें इस विषयका साक्षात्कार करनेवाले शब्द ये हैं—

गुहा ।

यत् परमं गुहा ॥ १ ॥ यत् घाम परमं गुहा ॥ २ ॥

‘ यत् परमं घाम गुहाम् है । ’ इसलिये इसको गुफा में ही झूटना उचित है । इसी हेतुसे बहुतसे लोग पर्वतोंकी गुफाओंमें जाते हैं, और वहाँ एकान्त सेवन करते हैं । योग मुक्तके पाठ रहकर पर्वत शिखरमें एकान्त सेवन करने और अनुष्ठान करनेसे

इस गुण विद्याका अनुभव लेनेके विषयमें बड़ा लाभ निःसंदेह होता है; परंतु यह एक बाह्य साधन है । सभी गुण हृदय की गुहा ही हैं । हृदय की गुफा सब जानते ही हैं । इधे में इस गुह्यतरवकी खोज करनी चाहिए ।

सब प्राणी तथा सब मनुष्य बाहर देखते हैं, इस बहिर्दृष्टिसे गुह्यतरवकी खोज नहीं हो सकती । इस कार्यके लिए दृष्टि अंगमुख होनी चाहिए, अपनी इंद्रिय शक्तियों का प्रवाह अंदर की ओर अर्थात् उलटा शुरू होना चाहिए । तभी इस गुह्य तरव की खोज हो सकती है । अपने हृदयमें ही उस गुह्य आत्माको देखना चाहिए । अर्थात् इसकी प्रातिके लिए बाह्य दिशाओंमें प्रमग करनेकी आवश्यकता नहीं है, अंतमुख होकर अपनी हृदयकी गुफामें देखना चाहिए ।

चार भाग

यह अमृतका घाम हृदयमें है । यदि इस अमृतके चार भाग मान लिए जाय, तो तीन भाग अंदर गुप्त हैं और केवल एक भाग ही बाहर व्यक्त है । जो बाहर दिखता है, जो स्थूल दृष्टिसे अनुभवमें आता है वह अत्यंत अल्प है, परंतु जो अंदर गुप्त है, वह बहुत विस्तृत ही है । अपने शरीर में भी देखिये आत्मा-बुद्धि, मन, प्राण ये हमारी अंतःशक्तियाँ अल्प हैं और स्थूल शरीर वह दृश्य है । यदि शक्तिकी तुलना की जाय तो स्थूलशरीर की शक्ति की अपेक्षा आंतरिक शक्तियाँ बहुत ही प्रभावशाली हैं । अर्थात् स्थूल और व्यक्त की शक्तिकी अपेक्षा सूक्ष्म और अव्यक्त की शक्ति बहुतही बड़ी है । यही यहाँ निम्नलिखित शब्दोंद्वारा व्यक्त हुआ है—

त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितृपिताऽसत् ॥ १५ ॥

“ इसके तीन पाद गुह्यमें गुप्त हैं, जो उनको जानता है वह समर्थ ही समर्थ होता है । ” अर्थात् स्थूलशरीरकी शक्तिकी स्वाधीनता होनेकी अपेक्षा आंतरिक शक्तियोंपर प्रभुत्व प्राप्त होनेसे अधिक सामर्थ्य प्राप्त होता है । इधे विषयमें ये मंत्र देखिये—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

त्रिपादूर्ध्वं उदैरपुरुषः पादोऽस्येहाऽभवत्पुनः ॥ ४ ॥

त्रिभिः पात्रिर्षामरोहरपादोऽस्येहाऽभवत्पुनः ॥

त्रिपाद्वक्त्रं पुरुषं वितच्छे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चक्षुः ॥

श्लो० १०१५०वा. य. ३१

अथर्व १९ । ६

अथर्व ९ । १० । १९

“ उसके एक पादसे सब भूत बने हैं और तीन पाद अमृत पुत्रोके में हैं । तीन पाद पुरुष का ऊपर उदय हुआ है, और एक पाद पुरुष यहाँ वारंवार प्रकट होता है । तीन पावोंसे स्वर्गपर चढा है और एक पाद यहाँ पुनः पुनः होता है । तीन पाद ब्रह्म बहुत रूप धारण करके उदरा है, जिससे चारों दिशाएं जीवित रहती हैं । ”

इन सब मंत्रोंका तात्पर्य वही है, जो इस सूक्तके ऊपर दिए हुए भागमें बताया है । उस अमृतकी अल्पकी शक्ति स्थूल में प्रकट होती है, शेष अनंत शक्ति अप्रकट स्थितिमें गुप्त रहती है और उस गुप्त शक्तिसे ही इस व्यक्त में कार्य होता रहता है । पाठक मनकी शक्ति की शरीरकी शक्तिके साथ तुलना करिये, तो उक्त बातका पता उनको लग जायगा । मनकी शक्ति बहुत है उसका घोडाघा भाग शरीरमें गया है और यहाँ कार्य कर रहा है । यह स्थूलमें कार्य करनेवाला अंशरूप मन वारंवार मूल गुप्तमनकी शक्तिसे प्रभावित होता है, नवजीवन प्राप्त करता है और वारंवार शरीरमें आकर कार्य करता है । यही बात अधिक सत्यतासे अमृततरवके साथ संगत होती है । उसका केवल एक अंश प्रकट है, शेष अनंत शक्ति गुप्त है, इसके साथ अपना संबंध जोडना गूढविद्याका साध्य है ।

एक रूप ।

जगत्में विविधता है और इस आत्मतरवमें एकरूपता है । जगत्में गति है इसमें शांति है, जगत्में मिथता है इसमें एकता है; इस प्रकार जगत्का और आत्माका वर्णन किया जाता है, सब लोग इस वर्णनके साथ परिचित हैं, इस सूक्तमें भी देखिए—

येनस्तत्पदवाचनं गुहा यद्यत्र विद्वं भवत्येकरूपम्
इदं पृथिव्यद्वयमापमानाः स्वर्दिदो अन्वयन्तः ॥ १ ॥

“ज्ञानी भक्त ही उसकी देखता है, जो हृदयकी गुहामें है और जिसमें सम्पूर्ण विश्व अपनी विविधताको छोड़कर- एकरूप हो जाता है । इसकी शक्तिकी प्रकृति शीघ्रती है और जन्म लेनेवाले पदार्थ पैदा करती है । इसलिये आत्मज्ञानी व्रतपालन करने-वाले भक्त उस आत्माका ही गुण गान करते हैं । ”

पाठक अपने अंदर इसका अनुभव देख लें, जामतीमें जगतकी विविधता का अनुभव आता है, स्वप्नमें भी काल्पनिक सृष्टिमें विविधताका अनुभव आता है, परंतु दुर्नाय अवस्था गाड़ निद्रा—सुषुप्ति में भिन्नताका अनुभव नहीं आता और केवल एकतावका अनुभव व्यक्त करना अर्हभव है, इसलिए उस समय कृषी प्रकारका मान नहीं होता । सुषुप्ति, समाधि और मुक्तिमें “ ब्रह्म रूपता ” होती है, तम—रज—सत्व-गुणोंकी भिन्नता छोड़ दी जाय तो उक्त तीनों स्थानोंमें ब्रह्मरूपता, आत्मरूपता अथवा साधारण भावामें ईश्वररूपता होती है और इस अवस्थामें भिन्नत्वका अनुभव मिट जाता है, इसलिए इस अवस्थाको “ एक—स्व ” कहते हैं । इसी उद्देश्ये इस मंत्रमें कहा है कि—

यत्र विद्वं एकरूपं भवति ॥ १ ॥

“ जहाँ सम्पूर्ण विश्व एकरूप होता है । ” अर्थात् जिसमें जगत की विविधता अनुभवमें नहीं आती, परंतु उस सब विविधता को एकरूपताका रूप या आभाता है । वृक्ष के जड़, शाखा, पत्रव आदि भिन्न रूपताका अनुभव है, परंतु गुठलो में इन विधता की एक रूपता दिखाई देती है । इसी प्रकार इस जगत्पूरी वृक्षकी विविधता मूल रसगतिकारण में जाका देखनेसे एकरूपता में दिखाई देगी । इसी मुख्य आदि कारणसे विविध शक्तियों प्रकृति अपने अंदर धारण करके उत्पत्ति करते पदार्थ तिमंगल करती हैं । इस रीतिसे न उत्पन्न होनेवाले एक तरफसे उत्पन्न होनेवाले अनेक तरफ बनते हैं । इनका ही नाम उक्त मंत्रमें ‘ जायमानाः ’ कहा है । इनमें मनुष्यभी सामिलित है और अन्य प्राणी तथा अग्राणी भी हैं । इनमें मनुष्यही (माः) व्रतपालनादि सुविधियोंसे अपनी उत्पत्ति करके आदि मूलकी जानता और अनुभव करके (स्वर्दिदः) प्रकाश प्राप्त करके प्रतिदिन अनुष्ठान करता हुआ धर्म्य बनता जाता है ।

अनुभव का स्वरूप ।

आत्मज्ञानी मनुष्य को अमृत पामका अनुभव किस प्रकार होता है, उसके अनुभव का स्वरूप अब देखना चाहिये—‘आत्म-ज्ञानी मनुष्य अमृतधाम की अपनी हृदयकी गुहामें अनुभव करता है, अनंत शक्तियों वरी ही हवडों हुर हैं, यह उसका अनुभव है ।’ (मंत्र २ देखो)

और यह अनुभव करता है कि— ‘ वहाँ परमममा हम सबका पिता, सहायक, और भाई है, वही सर्वज्ञ है ।’ (मंत्र ३) इतनाही नहीं परंतु “ वही हमारी माता और वही हमारा सखा मित्र है ” यह भी उसका अनुभव है । यहाँ ऋग्वेद और अपर्व मंत्रोंकी तुलना कीजिये—

स नः पिता जनिता स उग्र बन्धुघोमानि वेद भुवनानि विश्वा ॥

यो देवानां नामध एव एव सं सं प्रभं भुवना यन्ति सर्वा ॥

अपर्व. २।१।३

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥

यो देवानां नामधु एव एव सं सं प्रभं भुवना यन्त्यग्वा ॥

ऋग्वेद १।१।२।३

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥

वा. यजु. ३।२।१०

इनमें कुछ पाठभेद है, परंतु सबका तात्पर्य ऊपर बताया ही है । यहाँ ज्ञानी भक्त का अनुभव है और एक अनुभव यजुर्वेदके मंत्रमें दिया है वहाँ भी यह देखिये—

जगत् का ताना और याना ।

वेनस्तपश्चर्यापरामं गुडा पद्यत्र विधं भवत्येवनीडम् ।

वस्मिन्निर्द्धं सं च विचैति सर्वरूप भोतः प्रोतश्च विभूः पञ्जासु ॥ वा. यजु. ३२।८

‘ज्ञानी भक्त उस परमात्माकी जानता है जो हृदय की गुह्यामें है और जिसमें संपूर्ण विश्व एक घोंचले में रहनेके समान रहता है, तथा जिसमें यह सब विश्व एक समय (सं एनि) मिल जाता है या लीन होता है और दूसरी समय (वि एति) अलग होता है । (संः विभूः) वह सर्वत्र व्यापक तथा वैभवसे युक्त है और (प्रजागु भोतः प्रोतः) प्रजाओं में ताना और बाना किये हुए धारों के समान फैला है ।’

धोती में जैसे ताने और बानेके धागे होते हैं, उस प्रकार परमात्मा इस जगत् में फैला है, यह उस ज्ञानीका अनुभव है ।

बालक पर आपत्ति आती है उस समय वह बालक अपने माता पिता, बड़े भाई, बच्चा, दादा, नाना आदिके पास सहायतायें माता है । वही बालक बच्चा होनेपर आपत्त आगई तो अपने समर्थ मित्रके पास जाता है और उससे सहायता लेता है । इसी प्रकार अन्य प्रसंगों में गुरु, राजा, आदिकों की सहायता लेता है । ये सब संबंध परमात्मामें ज्ञानी अनुभव करता है अर्थात् ज्ञानी भक्तके लिये परमात्माही सभाट, राजा, सरदार, शासक, शिक्षक, गुरु, माता, पिता, मित्र, भाई आदि रूप हो जाता है ।

एकके अनेक नाम

एक ही मनुष्यको उसका पुत्र पिता कहता है, स्त्री पति कहती है, उसका भाई उसको बंधु कहता है, इस प्रकार विविध संबंधी उस एकही पुरुषको विविध संबंधोंके अनुभव होनेके कारण विविध नामोंसे पुकारते हैं । इस रीतिले एक मनुष्यको विविध नाम मिलने पर भी उसके एकत्वमें कोई भेद नहीं आता है ।

इसी वंशसे परमात्मा एक होनेपर भी उसके अनंत गुणोंके कारण और उसके ही अनंत गुण सृष्टीके अनंत पदार्थोंमें आनेके कारण उसको अनंत नाम दिये जाते हैं । जैसे आग्निमें सज्जता गुण है वह परमात्मा से प्राप्त हुआ है, इसलिये अग्नि आग्नि नाम वास्तविक गुणकी घाताकी दृष्टिसे परमात्माका ही नाम है, क्योंकि वह अग्निही अग्नि है । इसी प्रकार अन्यान्य देवोंके नामोंके विषयमें जानना योग्य है ।

शरीरमें भी देखिये—आँख नाम कान आदि इंद्रियाँ स्वयं अपने अपने कर्म नहीं कर सकतीं, परंतु आत्माकी शक्तिको अपने अंदर लेकर ही अपने कर्म करनेमें समर्थ होती हैं । इसलिये सब इंद्रियोंके नाम आत्मामें सार्थ होते हैं, अतः आत्माको आँख आँख, कान कान कहते हैं । इसी प्रकार परमात्मा सूर्यका सूर्य, विद्युतका विद्युत है । देवोंके नाम धारण करनेवाला परमात्मा है ऐसा जो तृतीय मंत्रमें कथ्य है, वह इस प्रकार संशय है ।

वह एकही है ।

परमात्मा एक ही है, यह बात इस तृतीय मंत्रमें ‘एक एव’ (यह एक ही है) इन शब्दों द्वारा जोरसे कही है । किसी-को परमात्माके अस्तित्वके विषयमें यत्किञ्चित् भी शंका न हो, इसलिये ‘एव’ पदकी योजना यहां की है । भक्त को भी ईश्वरके एकत्वका अनुभव होता है, क्योंकि ‘विमर्शोऽभिभक्त’ आदि अनुभव उसको होता है, इत्यादि विषय इससे पूर्व बताया ही है ।

ज्ञानी भक्तका विशेष अनुभव यह है कि, वह परमात्मा “सं-प्रश्न” है अर्थात् प्रश्न पूछने योग्य और उससे उत्तर लेने योग्य है । भक्तिये जब भक्त उसे प्रश्न पूछता है, तब वह उसका उत्तर साक्षात्कार से देता है । कठिन प्रसंगोंमें उसकी सहायता की दत्तना की, और एकान्त में अनन्य धारण कृति से उसकी प्रार्थना की, तो वह प्रार्थना निःसंदेह सुनता है, और भक्तके कष्ट दूर करता है । अन्य मित्र सहायतायें समयपर आचकेंगे या नहीं इसका नियम नहीं, परंतु यह परमात्मा ऐसा मित्र है, कि वह अनन्य भावसे धारण जानेपर सदा सहायतायें सिद्ध रहता है और कभी ऐसा नहीं होता कि, वह धारणगत की सहायता न करे । इसलिये सहायतायें यदि किसीसे पूछना हो, तो अन्य मित्रोंकी प्रार्थना करनेकी अपेक्षा इसकी ही प्रार्थना करना योग्य है; क्योंकि हर समय यह सुननेके लिये तैयार है और इसका उत्तर दयालय हस्त सदा हम सबपर है ।

यह सबका (घासुः) धारण पोषण करनेवाला है और (सुवने-स्याः) संपूर्ण स्थिरावर षणत्तमें ठहरा है अर्थात् हाएक पदार्थमें अभाव है । कोई पदान उषधे खाली नहीं है । वक्षानें जेसा वक्त्रुव है, उस प्रकार षणत्तमें यह है, सबसुख यह अग्नि ही है । (मंत्र ४) इसी प्रकार पाठक कह सकते हैं कि, यह सूर्य है और यही विद्युत् है, क्योंकि पदार्थ मात्रकी सत्ता ही यह है; फिर अग्नि वायु रवि यह है यह करनेकी आवश्यकता ही क्या है ! परन्तु यहाँ सबकी सुबोधताके लिये ऐसा कहा है । मनुष्य ध्रुवान् आनन्दोक्तिसे उत्पन्न होता है उसी प्रकार सूर्य भी परमात्माकी शक्तिसे ही प्रकाशता है ।

देवोंका अमृतपान ।

इस सूक्तके पाँचवें मंत्रमें कहा है, कि उस परमात्मानें देव अमृतपान करते हैं—

यत्र देवा अमृतमनदानाः समाने योनात्स्वैरपन्त ॥ ५ ॥

“उस परमात्मानें देव अमृतपान करते हुए समान अर्थात् एकही आश्रयमें पहुँचते हैं ।”

अर्थात् सब देव तसमें समान अधिकार से, समान रूपसे अपना अपनी विभिन्नताकी छोडकर एक रूप बनकर तसमें लीन होते हैं और वहाँ का अनुपमेय अमृत पीते हैं ।

सुक्ति, समाधि और सुप्तिके में यह बात अनुभवमें आती है सुक्ति और समाधि तो हाएक के अनुभवमें नहीं है, परंतु सुप्तिके हाएक के अनुभवमें है । इस अवस्थामें सब जीव मग्नरूप होते हैं । इस समय मानवी शरीरमें रहनेवाले देव-अर्थात् सब इंद्रियाँ-अपना भेदभाव छोडकर एक आदि कारणमें लीन होती हैं और वहाँ आत्मानें गोला लगाकर अमृतानुभव करती हैं । इस अमृतपानसे उनकी सब यकषट् दूर होती है और जब सुप्तिके से हटकर ये इंद्रियाँ जगत्कारणमें पुनः लौट आती हैं, तब पुनः तेजस्वी बनती हैं । यदि चार आठ दिन सुप्तिके न मिली, तो मनुष्य-शरीर निवासी एक भी देव अपना कार्य करनेके लिये योग्य नहीं रहेगा । बीमारी में भी जबतक सुप्तिके प्रतिदिन आती रहती है, तबतक बीमार की अवस्था चिंताजनक समझी नहीं आती । परंतु यदि चार पाँच दिन निद्रा बंद हुई तो वैयभी कहते हैं कि, यह रोगी आश्रय हुआ है । इतना महत्त्व तमीशुनमय सुप्तिके अवस्थामें प्राप्त होनेवाली मग्नरूपताका और तसमें प्राप्त होनेवाले अमृतपानका है । इससे पाठक अनुमान कर सकते हैं कि समाधि और सुक्ति में मिलनेवाले अमृतपानसे कितना लाभ और शक्तिका आनंद होता होगा ।

यजुर्वेदमें यही मंत्र योके पाठ भेदसे आगया है वह भी यहाँ देखने योग्य है—

यत्र देवा अमृतमनदानास्तृतीये धामस्रस्वैरपन्त ॥ वा. यजु. ३२।१०॥

“यहाँ देव अमृत का भोग करते हुए तीसरे धाम में पहुँचते हैं ।” पूर्वोक्त मंत्र में जहाँ ‘समाने योना’ शब्द है वहाँ इस मंत्रमें “तृतीये धामन्” शब्द है । समान योनी का ही अर्थ तृतीय धाम है । प्रायत्, स्वप्न, सुप्तिके यदि ये तीन अवस्थाएँ माल ली जायँ, तो तीसरी अवस्था सुप्तिके ही आती है जिसमें सब देव अपना भेद भाव छोडकर एक रूप होकर मग्नरूप बनकर अमृतपान करते हैं । रथूल, सुहृ, कारण ये प्रकृतिके रूप यहाँ लिये, जायँ, तो सब इन्द्र चन्द्र सूर्यादि देव अपनी मिथता त्यागकर तस मग्नमें लीन होकर अमृत रूप होते हैं । ज्ञानी नक्त महात्मा साधुसंत ये लोग अपने समान भावसे सुख अवस्थामें लीन होते हुए अमृत भोगके महानंदसे प्राप्त होते हैं । इस प्रकार हाएकै स्वानमें इसका अर्थ देखना चाहिये । [पाठक इस सूक्तका मनन कां० ३। सू० १३ और २० इन दो सूक्तोंके साथ करें]

यहाँ इस प्रथम सूक्तका विचारसमाप्त होता है। यदि पाठक इस सूक्तके एक एक मंत्रका तथा मंत्रके एक एक भागका विचार करेंगे, आर उसपर अधिक मनन करेंगे, तो उनके मनमें गूढविद्याकी बातें स्वयं स्फुरित होंगी । इस सूक्तमें शब्द सुन सुनके रखे हैं, और हाएक शब्द विशेष भाव बता रहा है । विशेष विचार करनेकी सुगमता के लिये श्रवणदे और यजुर्वेदके पाठ भी यहाँ दिये हैं इससे पाठक इसका अधिक मनन कर सकते हैं । बेदकी यह विशेष विद्या है, इसलिये पाठक इस सूक्तके मननसे कितना अधिक लाभ उठावेंगे उतना अधिक अच्छा है ।

एक पूजनीय ईश्वर ।

(२)

[ऋषिः-मातृनामा । देवता-गंधर्वाप्सरसः]

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नभस्यो विक्ष्वीड्यः ।
 तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि तं सधस्यम् ॥ १ ॥
 दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यस्त्वगवयाता हरसो दैव्यस्य ।
 मूढाद्गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नभस्यः सुशेवाः ॥ २ ॥
 अनवद्यामिः समु जगम आमिरप्सरास्वर्षि गन्धर्व आसीत् ।
 समुद्र आसां सदंनं म आहृथतः सद्य आ च परां च यन्ति ॥ ३ ॥

अर्थ— (य! दिव्यः गन्धर्वः) जो दिव्य दृष्टिध्यादिका चारक देव (भुवनस्य एक एव पतिः) भुवनोंका एक ही स्वामी (विष्टु नमस्यः ईड्यः य) जगत्में यही एक नमस्कार करने और स्तुति करने योग्य है । हे (दिव्य देव) दिव्य अद्भुत ईश्वर ! (तं त्वा) उस तुझसे (ब्रह्मणा यौमि) उपासनाद्वारा मिलवा हूँ । (ते नमः अस्तु) तेरे लिए नमस्कार हो । (ते सध-स्यं दिवि) तेरा स्थान तुझमें है ॥ १ ॥

(भुवनस्य एकः एव पतिः) भुवनोंका एकही स्वामी यह (गन्धर्वः) भूमि आदियोंका धातण कर्ता (नमस्यः सुशेवाः) नमन करने और सेवा करने योग्य है, यही (मूढात्) सबको भानंद देवे । यही दिव्य देव (दिवि स्पृष्टः) तुझमें प्राप्त होता है, (यजतः) पूज्य है और (सूर्य-स्त्वक्) सूर्य ही जिसकी त्वचा है अर्थात् सूर्यके अंदर भी स्थापनेवाला, तथा (दैव्यस्य हरसः) दैवी आपत्तिको (अवयाता) दूर करनेवाला है । इसीलिए सबको यह पूजनीय है ॥ २ ॥

मातृनाम—पृथ्वी सूर्य चन्द्र नक्षत्र आदि संपूर्ण जगत् का धारण करनेवाला और संपूर्ण जगत् का एकही अद्वितीय स्वामी परमेश्वर ही है और वही सब लोगोंको पूजा और उपासना करने योग्य है । स्तुति प्रार्थना उपासनासे अर्थात् मन्त्रिन्ने सबकी प्राप्ति होती है । यह ईश्वर अपने स्वर्गधाममें है, सबको सब लोग नमस्कार करें ॥ १ ॥

संपूर्ण जगत् का एक स्वामी और सब जगत् का धारण और पोषण कर्ता परमेश्वर ही सब लोगोंको नमस्कार करने और उपासना करने योग्य है, सबकी मन्त्रि और सेवा सबको करना चाहिए, क्योंकि वही सबको सबका भानंद देनेवाला है । यही दिव्य अद्भुत देव स्वर्गधाममें प्राप्त होता है । सबसे अत्यंत पूजनीय ऐसा यही एक देव है, यह सबमें रहता है, यही तक कि यह सूर्यके अंदर भी है, जब इसकी प्राप्ति होती है तब सब साधारण और असाधारण आपत्तियाँ हटा जाती हैं ॥ २ ॥

३ (अ. सु. भा. कां २)

अग्निंये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वाग्रसुं गन्धर्वे सचंधे ।

ताभ्यो वो देवीर्नम इत्कृणोमि

॥ ४ ॥

याः ह्यन्दास्तमिपीचयोऽक्षर्कामा मनोःसुहः ।

ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः

॥ ५ ॥

अर्थ— (अन्—अनघामि. आसिः) होपरादित ऐसे इन प्राणशक्तियोंके साथ वह (उ सं जग्मे) निश्चयसे मिला रहता है और (अप्सरासु अपि) इन प्राणशक्तियोंमें भी (गन्धर्वः आसीत्) भूमि आदियोंका धारक देव विद्यमान हैं। (आसां स्थानं समुद्रे) इनका स्थान अन्तरेक्षमें है, (यतः) जहासे (सद्यः) अभी ही ये (आ यन्ति) जाती हैं और (परा यन्ति च) परे जाती हैं। यह वात (मे आहुः) मुझे बताया है ॥ ३ ॥

(अग्निंये दिद्युत्) बादलोंकी विद्युत् में अथवा (नक्षत्रिये) नक्षत्रोंके प्रकाशमें भी (याः) जो तुम (विश्वा— तसुं गन्धर्व) विश्वके वसनेवाले धारक देव को (सचंधे) प्राप्त करती हो अथवा उसकी सेवा करती हो, इसलिए हे (देवीः) देवियों ! (ताभ्यः वः) उन तुमको (इत् नमः कृणोमि) निश्चय पूर्वक मैं नमन करता हूँ ॥ ४ ॥

(याः ह्यन्दाः) जो तुलानेवाली या प्रेरणा करनेवाली, (तमिपी—चयः) गलानेकी हुटानेवाली, (अक्ष—कामाः) आँखोंकी कामना तृप्त करनेवाली, (मनो—सुहः) मनको हिलानेवाली हैं (ताभ्यः गन्धर्व—पत्नीभ्यः अप्सराभ्यः) इन गंधर्वपत्नीरूप अप्सरामात्रोंसे—अर्थात् सर्वधारक आत्माकी प्राणशक्तियोंको (नमः अकरम्) मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ५ ॥

भावार्थ— इसके साथ जीवनकी अनंत चलाएँ हैं, इतना ही नहीं परंतु वह उन जीवन शक्तियोंके अंदर भी है। इन सबका निवास मध्यलोच-अंतरिक्ष-है, जहाँसे वे सब शक्तिता प्रबट होती हैं और जहाँ फिर गुप्त हो जाती हैं ॥ ३ ॥

सादलोंके अंदर चमकनेवाली विद्युत्में क्या और नक्षत्रोंके प्रकाशमें क्या यह सब जगत्का पालन कर्ता एक रथ भएँ है, और इसीके सेवा अंगुण जीवनकी शक्तिरूप देविया कर रहीं हैं, इसलिए उनको भी नमन करना योग्य है ॥ ४ ॥

वे प्राणशक्तितया सबको प्रेरणा करनेवाली, सबको चलानेवाली, यशस्वतको दूर करनेवाली, आँखोंको कामना तृप्त करनेवाली और मनको हिलानेवाली हैं। यही आत्माकी शक्तिये हैं, इस दृष्टिसे मैं इनको नमस्कार करता हूँ (अर्थात् वह इनकी किया हुआ मेरा नमस्कार भी उस अद्वितीय ईश्वरकी ही वहुंबेला, क्योंकि ये शक्तितया उसीके आधारसे रहती हैं) ॥ ५ ॥

पूर्व सम्बन्ध

प्रथम सूक्तमें “ गुण अध्वारामवधा ” का वर्णन किया गया है, उस सूक्तमें जिस परमात्मा देवका वर्णन किया गया है, उसीका वर्णन यहाँ “ गंधर्व ” शब्द से किया गया है। उस प्रथम सूक्तके द्वितीय मंत्रमें भी “ गंधर्व ” शब्द है, इससे पूर्व सूक्तका इस सूक्तके साथ संबंध स्पष्ट हो जाता है।

गन्धर्व और अप्सरा ।

“ गंधर्व ” शब्दका अर्थ पूर्व सूक्तके स्पष्टीकरणके प्रसंगमें किना ही है। (गां+धर्वः) अर्थात् (गां) भूमि, सर्व, वाणी, इंद्रियाँ, अंतःकरण—शक्तियाँ आदिकों का (धर्वः) धारण पोषण करनेवाला आत्मा यह इसका अर्थ है। भूमि, सर्व तथा अन्यान्य पराचर स्थूल सूक्ष्म सब पदार्थोंका धारण पोषण करनेके कारण परमात्माका यह नाम है। उसी प्रकार लघु कार्य क्षेत्रमें शरीरके अंदर वाणी प्राणशक्ति इंद्रियशक्ति आदियोंका तदा स्थूलसूक्ष्मादि देहोंका धारण करनेके कारण जीवात्मा का भी यही नाम है। इस सूक्तमें मुख्यतया परमात्माका वर्णन है, परंतु अन्य अंश से यह वर्णन अर्थात् अंतःकरण क्षेत्रमें जीवात्मामें भी पाया जा सकता है। वह गंधर्वका रूप पाठक ठीक प्रकार समझमें रखे। “ गंधर्व ” शब्दके अन्य अर्थ प्रथम सूक्तमें पाठक देखें।

गंधर्वपरनीम्यः अप्सराभ्यः ॥ [मंत्र ५]

गंधर्वकी पत्नी ही अप्सराएं हैं। गंधर्व एक है परंतु उसकी अप्सराएं अनेक हैं। (अप्सरास्) अर्थात् (अप्) जलके आश्रयसे (सरस्) चलनेवाली, यह नाम अलाभित प्राणका वाचक है। ' आपोमयः प्राणः '—जलमय अथवा जलके आश्रयसे प्राण रहता है, यह उपनिषदोंका कथन है और वही बात इस शब्दमें है, इसलिए ' अप्सराः ' शब्द प्राण शक्तियोंका वाचक वेदमें है, श्वास और उत्सृष्टास अर्थात् प्राण आयुष्यरूपी ब्रह्मके ताने और बानके धागे बुन रहे हैं ऐसा भी वेदमें अन्वय वर्णन है—

यमेन तत् परिधिं वपन्तोऽप्सरस उप सेदुर्वसिष्ठाः ।

ऋग्वेद ७।३३।९

“ (अप्सरासः वसिष्ठाः) जलाभित प्राण (यमेन तत्) यमेन फैलाई हुई (परिधिं) तानेकी मर्यादा तक (वदन्तः) आयुष्यरूपी कपडा बुनते हैं ।

‘ यम ’ = आयुष्यका ताना फैलानेवाला जुलाहा ।

‘ ताना ’ = आयुष्यकी अवधि, आयुष्यमर्यादा ।

‘ प्राण ’ = कपडा बुननेवाले जुलाहे ।

‘ कपडा ’ = आयुष्य ।

‘ मनुष्य का आयुष्य एक कपडा है जो मनुष्य देहरूपी खुट्टीपर बुना जाता है, वहां बुननेवाले प्राण हैं। यहाँ ‘ अप्सरास् ’ शब्द और ‘ वसिष्ठ ’ ये दो शब्द प्राणवाचक आये हैं। (अप्सरास्) जलाश्रयसे रहनेवाले (वसिष्ठ) निवासके देह प्राण हैं ।

इससे भी अनमान हो सकता है, कि जलतरंगके आधार से रहनेवाला प्राण जो कि आत्माकी धर्मपरनी रूप है ऐसा यहाँ कहा है, यह प्राणशक्ति, जीवन की कला ही निःसंशय है। गंधर्व यदि आत्मा है तो उसकी धर्मपरनी अप्सरा निःसंशय प्राणशक्ति अथवा जीवन शक्ति ही है। आत्मा और शक्ति ये दो शब्द यहांके ‘ गंधर्व और अप्सराः ’ के वाचक उत्तम रीतिसे माने जा सकते हैं। शरीर में छोटा प्राण और जगत् में विश्वस्वात्मक प्राण है, इस कारण गंधर्वका अर्थ आत्मा परमात्मा माननेपर दोनों स्थानोंमें अर्थका संगति हो सकती है।

महान् गंधर्व ।

इस सूत्रमें पहिले दो मंत्र बड़े महान् गंधर्वका प्रेमपूर्ण वर्णन कर रहे हैं, यह वर्णन देखने से निश्चय होता है कि, यहाँ गंधर्व शब्द परमात्माका वाचक है। देखिये—

१ भुवनस्य एक एव पतः—भुवनोंका एकही स्वामी। इनके सिवाय और कोई भी जगत् का पति नहीं है। यही परमेश्वर सबका एक पतु है। (मं० १,२)

२ एक एव नमस्यः—यही एक आद्वैतीय परमात्मा सब को नमस्कार करने योग्य है। इमके स्थानपर किसी भी अन्य की उपासना नहीं करनी चाहिये। (मं० १,२)

३ दिव्यः गंधर्वः—यही अद्भुत है, दिव्य पदार्थ है, यहा मनकी गति कुंठित हो जाती है, और यही (गां) भूमि से लेकर संपूर्ण जगत् का सच्चा। धर्वः) धारक पोषक है। (मं० १)

४ विष्णु हृष्यः—सब जगत् में यही प्रसंशाके योग्य है।

५ दिवि ते सधर्यं—स्वर्गधाम में, गुणधाममें, अथवा तृतीय धाममें उसका स्थान है (मं० १) । [इस विषयमें प्रथम सूत्रके मंत्र १,२ देखें, जिसमें इसके गुहामें निवास होनेका वर्णन है।]

६ दिवि स्पृष्टः—इसका स्पर्श अर्थात् इसकी प्राप्ति पूर्वोक्त तृतीय गुण स्थानमें ही हाती है। यह भी पूर्वोक्त शब्दोंका ही स्पर्शकरण है। (मं० २)

७ सूर्यत्वम्—महात् सदस्यरश्मी सूर्य भगवान् ही इसका देह है, अर्थात् यह उस में नही है इतनाही नहीं, परंतु उसका बड़ा तेज भी इसीसे प्राप्त हुआ है । यह इसकी महिमा है (मं० २) । इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थोंमें इसकी सत्ता देखनी चाहिए । यह शब्द एक उपलक्षण मात्र है ।

८ विद्या-वस्तुः (गंधर्वाः)—विश्वका यही निवासक है । (मं० ४)

ये लक्षण स्पष्ट कर रहे हैं कि यहाँका यह गंधर्वका वर्णन निःसंदेह परमात्मा का वर्णन है । किसीभी अन्य पदार्थ में ये सब अर्थ पूर्णरूपसे सार्थ नहीं हो सकते । इसलिए पाठक इन लक्षणों का मनन करके अपने मनमें इस परमात्म देव की मूर्ति स्थिर करें, क्योंकि यही एक सबके लिए पूत्रर्थाय देव है ।

ब्रह्मकी ब्राह्म उपासना ।

इस परमात्माकी प्राप्ति इसकी उपासनासे होती है । इस सूक्तमें इसकी ' ब्राह्म उपासना ' करनेका विधान बड़ा महत्त्वपूर्ण है ।

१ तं स्वा यौमि ब्रह्मणा । (मं० १)

२ नमस्यः । (मं० १, २) नमस्ते भरतु । (मं० १)

३ विश्व ईक्ष्यः । (मं० १)

४ सु—सेवाः । (मं० २)

ये चार मंत्र भाग इसकी ब्राह्म उपासना करनेके मार्ग की सूचना दे रहे हैं । ब्राह्म उपासना का अर्थ ' ब्रह्मपूजा ' अथवा मन द्वारा करने की ' मानस उपासना ' ही है । अथवा सुद्धि लिप्त मन आदि अंतःसाधनोंसे ही यह परमात्म पूजा होती है, इन शक्तियोंका नामही शरीरमें ब्रह्म है । ब्रह्म शब्दका अर्थ मंत्र भी है और मंत्रका आशय ' मनन ' है । मननसे यह उपासना करनी होती है, मनके मनन से ही यह हो सकती है, किसी अन्य रीतिसे यह नहीं होती है, वह स्पष्टतया बतानेके लिए यहाँ ' ब्रह्मणा ' शब्द इस मंत्र में प्रयुक्त हुआ है । यह बात ध्यान में धारण करके उक्त चार मंत्रभागोंका अर्थ ऐसा होता है—

१ तं स्वा यौमि ब्रह्मणा—उस तुझ परमात्माको मननसे प्राप्त होता हूँ । (मनन)

२ नमस्यः [नमस्ते]—तू ही एक नमस्कार करने योग्य है । (नमन)

३ विश्व ईक्ष्यः—मम जगत्में तू ही प्रशंसा करनेके लिए योग्य है । (सर्वत्र दर्शन)

४ सु—सेवाः—तूही उत्तम सेवाके लिए योग्य है । (सेवन)

इन चार मंत्र भागोंके मननसे मानस पूजाकी विधि ज्ञात हो जानी है (१) मनुने सुषोँका मनसे मनन करना, (२) उसी की मनसे नमन करना, (३) प्रत्येक पदार्थ में तथा प्राणिमात्रमें उसका दर्शन करना और (४) सब कर्म उसकी सेवा करनेके लिए काना, ये चार भाग उस प्रभुकी उपासना के हैं । इन चार भागोंमें ये जिनसे भागोंका अनुष्ठान हुआ होगा, उतनी उपासना उतनेही प्रमाण से हुई है, ऐसा मानना चाहिए । पाठक विचार करें और अपनी उपासनाकी परीक्षा इस कसौटीसे करें । हर एक मनुष्य अपने आपको परमात्माका उपासक मानताही है, परंतु उससे जो उपासना हो रही है, वह इस वैदिक मानस उपासना की उष्ण कसौटीसे विशुद्धीपर गिनी जा सकती है, वह भी देखना चाहिये । इस दृष्टीसे ये चार मंत्र भाग विशेषही महत्त्व रखते हैं ।

' मनन, नमन, सर्वत्र दर्शन और सेवन ' ये चार नाम संक्षेप से मानस उपासना के चार अंगोंके दशक माने जा सकते हैं ।

१ " मनन " से परमात्माके महत्त्वकी मनमें स्थिरता होती है । इस दृष्टीसे इसकी अत्यंत आवश्यकता है ।

२ " नमन " जब मननसे उष्ण महत्त्व ज्ञात हुआ, तब स्वभावतः ही मनुष्य उस प्रभुके सामने झीन होता

है । मननके पश्चात् की यह स्वामाधिक ही अवस्था है ।

३ " दर्शन " मननके ही ससकी सार्वत्रिक सत्ता का भी अनुभव होता है । स्थिर चरमें एक रस व्यपक होनेका साक्षात्कार होनेकी यह तीसरी तब अवस्था है । जगत्के अंदर प्रभुका ही सर्वत्र साक्षात्कार इस अवस्था में होता है ।

ये तीनों मानसिक क्रियाएं हैं । इसके पश्चात् यह भक्त अपने आपको परमात्माके परम यज्ञमें समर्पण करता है, वह सेवा-वरसा है ।

४ " सेवन " यह इस अवस्थामें उसका सेवक बनता है । सेवन और 'मजन' ये दोनों शब्द समान अर्थके ही हैं— सेवन और मजन एकही अर्थ बताते हैं । प्रभुके कार्यके लिये अपने आपको समर्पित करना, यही भक्ति या सेवा है ।

'दीनों का उद्धार' करना, साधुओंका परित्राण करना, सज्जनोंको रक्षा करना, दुर्जनोंको दूर करना, ये ही परमात्माके कर्म हैं । इन कर्मों को परमात्मापण बुद्धिसे करनेका नाम ही उसकी भक्ति या सेवा है ।

नामस्मरण ।

नामस्मरण का भी यही तात्पर्य है, जैसा " हरि " (दुःखोंका हरण करनेहारा) देव है, इसलिये मैं भी दुःखिनोंका दुःख दयाशक्ति हरण करूंगा और दुष्टों को सुख देने के कर्म से ईश्वर की सेवा करूंगा । ' राम ' (आनंद देनेवाला) ईश्वर है इसलिये मैं भी दीन दुःखी मनुष्यों या प्राणियोंकी पीड़ा दूर करनेके यत्न द्वारा परमात्माको भक्ति या सेवा करूंगा । ' नामस्मरण ' का यही उद्देश्य है । यद्यपि आजकल केवल नामका स्मरणही रहा है और उससे प्राप्त होनेवाले कर्तव्य का पालन नहीं होता है, तथापि वस्तुतः इससे महादत्त कर्तव्य सूचित होते हैं; यह पाठक विचारये जानें और परमेश्वरके इतने नाम कहनेका मुख्य उद्देश्य समझ लें । अनेक ग्रंथ पढ़ने से जो कर्तव्य नहीं समझता, वह एक नाम के मननसे समझमें आता है, इसीलिये वेदादि ग्रंथोंमें परमात्माके अनेक नाम दिये होते हैं और वे सब बड़े मार्गदर्शक हैं, परंतु देखनेवाला और कर्म करनेवाला भक्त चाहिये ।

श्रुत । ईश्वर उपासना के ये चार भाग हैं, इसका अधिक विचार पाठक करें और इस मार्गसे चलें । यही साधा, सरल और अतिसुगम मार्ग है ।

ब्रह्म उपासना का फल ।

पूर्वोक्त प्रकार मानस उपासना करनेसे जो फल प्राप्त होता है, उसका वर्णन भी इन मंत्रोंमें पाठक देख सकते हैं—

१ सं वा यौमि-परमेश्वरके साथ मिलना, अज्ञान अवस्था प्राप्त करना । (मं० १)

२ दैव्यस्य हरसः भवयाता-परमात्मा सब महापीडाओंको दूर करनेवाला है, इसलिये सब पीडा उसकी प्रगति से दूर हो जाती है । (मं० २)

३ मृदात्-वह आनंद देता है । (मं० २)

इन शब्दोंके मननसे पाठकोंको पता लग जायगा कि, उपासना का फल परमानंद प्राप्त ही है । वह प्रभु सच्चिदानंद स्वरूप होनेसे उसके साथ मिल जानेसे वही आनंद उपासकमें आ जाता है और जितनी उपासनाकी दृटना और पूर्णता होगी, उतना वह आनंद दृढ और पूर्ण होता है । यह फल प्राप्त करनेका ही पूर्वोक्त वैदिक मार्ग है ।

यहां पहिले दो मंत्रोंका विचार हुआ । इसके पश्चात् के तीनों मंत्रोंका वर्णन टीका समझमें आनेके लिये उस वर्णनको प्रथम अपने शरीरमें अनुभव करना चाहिये और पश्चात् वही भाव विशाल जगत्में देखना चाहिये—

अपने अंदरकी जीवन शक्ति ।

इससे पूर्व बताया गया है कि, जलतत्त्वके आप्रयसे कार्य करनेवाली प्रायशक्ति या जीवनशक्ति ही ' अघराः ' शब्दसे इस रूपमें कहा है, देखिये इसका वर्णन—

१ छन्दः—पुष्करनेवाली, सुकानेवाली, प्रेरणा देनेवाली । प्राणशक्ति अथवा जीवनशक्ति प्राणियोंको शेरित करती है, इस अर्थका वाचक यह नाम है ।

२ तमिषी—चयः—(तमिषी) म्लानो अथवा थकावटकी (चयः) दूर करनेवाली, थकावट को हटानेवाली प्राणशक्ति है । जो दस्ताइ प्रणामात्र में है वह प्राणशक्ति का ही है, प्राणायाम से भी सत्साह बढने और थकावट दूर होनेका अनुभव है ।

३ अश्रु—कामाः—(अश्रु+कामाः) आँसूकी कामना पूर्ण करनेवाली । पाठक देखें कि जबतक शरीरमें प्राण रहता है तभी तक शरीर आँसूकी तृप्त कर सकता है । मुर्दा देखकर किसी मनुष्य के आँसू नष्ट नहीं होते । इससे आँसूकी तृप्ति प्राण शक्तिये होती है यह स्पष्ट है ।

४ मनो—सुप्तः—मनको मोहित करनेवाली । इसका भाव भी उक्त प्रकार ही है ।

ये चार शब्द शरीरमें प्राण शक्तियों अथवा जीवन की शक्तियोंके वाचक हैं । पाठक इन शब्दोंके अर्थका अनुभव अपने अंदर करें । इनको (मंत्र ५में) ' गंधर्व-पत्नी अम्भराः ' कहा है। गंधर्व इस शरीरके अंदर जीवितमा है और उसकी पत्नियें जीवन शक्तियाँ अथवा प्राण शक्तियाँ हैं, प्राण जलतरलके आश्रयमें रहता है, इसलिये जलाश्रित होनेके कारण (अम्भराः) यह शब्द प्राणमें अत्यंत सार्थ होता है । इन प्राणशक्तियों को नमन पंचम मंत्रमें किया है । प्राणके आधीन सर्व जगत् है यह देखनेसे प्राणका महत्त्व जाना जाता है । पाठक भी अपने शरीरमें प्राण का महत्त्व देखें, प्राण रहने तक शरीर की शोभा कैसी होती है और प्राण जानेके पश्चात् शरीरकी कैसी अवस्था हो जाती है; इसका मनन करनेसे अपने शरीरमें प्राणका महत्त्व जाना जा सकता है । जो नियम एक शरीरमें है वही सब शरीरों के लिये है। इस प्रकार प्राणकी दिव्य शक्तिका अनुभव करके इस मंत्र ५ में उस प्राणको नमन किया है ।

प्राण का प्राण ।

यहाँ प्रथम होता है, कि कदा यह पत्नियें स्वयंत्र हैं या परतंत्र ? ' पत्नी ' शब्द कहने मात्रसेही वह पतिके आधीन, पतिके साथ रहनेपर शोभा को बढानेवाली, पतिके रहित होनेसे दुःखी, पति ही जिसका उपाय देवत है, इत्यादि बातें ज्ञात होजाती हैं । वेदके धर्ममें पतिके साथ धर्माचरण करनेवाली सहधर्मचारिणी ही पत्नी होती है । इसलिये गंधर्व (आत्मा) और अम्भरा (प्राणशक्ति) उन्हीं नातेसे देखने चाहिये । जिस प्रकार पतिसे शोभा प्राप्त करके पत्नी गृहस्वकार्य करती है, उन्हीं प्रकार इस छोटे गंधर्व (जीवात्मा) से उसकी अम्भरा (प्राणशक्ति) बच प्राप्त करके अपने गृह (शरीर) के अंदरके सब कामकाज चलाती है । इसलिये जो सौंदर्य-अथवा शोभा धर्मपत्नीकी दितःई देती है वह वास्तवमें पतिसे ही प्राप्त हुई होती है, इसलिये धर्मपत्नीको किया हुआ नमस्कार धर्मपत्नीके लिये नहीं होता है, परन्तु वह उसके पतिके लिये ही होता है, क्योंकि पति विराहित विधवा स्त्रीको अश्रुम समझकर कोई नमस्कार नहीं करते । इसी प्रकार यहाँ बताना यह है कि प्राणशक्ति अथवा जीवनशक्ति जीवात्माके आश्रयसे कार्य करनेवाली है, उसके अभावमें वह कार्य नहीं कर सकती । इसलिये जो वर्णन, प्रशंसन या महत्त्व प्राणशक्तिका बतलाया जाता है वह प्राणका नहीं है, परन्तु प्राणके प्राणशक्ति-अर्थात् आत्माका-है, यह बात भूलना नहीं चाहिये । इसी कारण यहाँका प्राणशक्तिको किया हुआ नमन आत्माके ही उद्देश्य है, न कि केवल प्राणके लिये ।

ऐसा क्यों कहा है ?

इतने लंबे ढंगसे यह बात क्यों कही है ? यहाँ वेदको यह बताना है, कि संपूर्ण स्मृत विद्वक्के जो रंग, रूप, रस, आकार आदि हैं, ये सब आत्माकी शक्तिके कारण बने हैं, यदि जगत्स आत्माकी शक्ति हटाई जाय, तो न जगत् रहेगा और न उसकी शोभा रहेगी । जिस प्रकार पति रहित स्त्री विधवा होकर शोभा रहित होजाती है, उन्हीं प्रकार आत्मा रहित शरीर मृत, सुर्दा और तेजोहीन हो जाता है, देखने लायक नहीं रहता । इसी प्रकार जगत्की अस्मासे रहित होनेपर निःसंख्य होगा । इसलिये जगत् की ओर देखनेके समय आत्मदृष्टि रखनी चाहिये, न कि स्मृत दृष्टि । जिस प्रकार किसी सुवासिनी स्त्री की ओर देखनेसे उषमें

पतिकी सत्ता देखनी होती है, पतिहीन स्त्री दुर्वासिनी समझी जाती है; इसी प्रकार आत्मारहित शरीर और परमात्मारहित जगत् है।

गुलाब का फूल, आमका वृक्ष, मूखका प्रकाश, इसी प्रकार प्राणियोंका प्राण आदि सब देखने हुए सर्वत्र आत्माकी शक्ति अनुभव करनी चाहिये। वही सबका धारक " गंधर्व " सर्वत्र उपस्थित है और उर्ध्वके प्रभावसे यह सब प्रभावित हो रहा है, ऐसा भाव मनमें सदा जाग्रत रहना चाहिये। इस विचार से देखनेसे अप्सराओंको किया हुआ नमन गंधर्वके लिये कैसा पहुंचता है, यह बात स्पष्ट होगी और यह गंधर्व भुवनोंका एक अद्वितीय पतिही है, वही सब के लिये (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है, यह जो प्रथम और द्वितीय मंत्रमें कहा है उस विधान के साथ भी इतकी सगति लग जायगी। नहीं तो पहिले दो मंत्रोंमें यह परमात्मा (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है ऐसा कहा है, परंतु आगे चतुर्थ और पंचम मंत्रमें अप्सराओंको नमस्कार किया है। यह विरोध उत्पन्न होगा। यह विरोध पूर्वोक्त दृष्टिसे विचार करनेसे नहीं रहता है—

विरोधालङ्कार।

ताम्यो वो देवीर्नम इत्क्ष्णोमि ॥ (मं. ४)

ताम्यो गंधर्वपत्नीभ्यः अप्सराभ्यः अकरं नमः ॥ (मं. ५)

'उन गंधर्व पत्नी अप्सरा (देवियोंको मैं नमस्कार करता हूँ।' पहिले दो मंत्रोंमें 'एक ही जगरपालक गंधर्व नमस्कार करने योग्य है' ऐसा कहकर अंतिम दो मंत्रोंमें उसको नमन न करते हुए 'उसकी घर्मपत्नीयोंको ही नमस्कार किया है' यह विरोधालङ्कार है। पहिले कथन के बिलकुल विपरीत दूसरा कथन है। जो (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है उसको तो नमन किया ही नहीं, परंतु जिनके नमस्कार योग्य होनेके विषयमें किसी स्थानपर नहीं कहा, उनको नमस्कार किया है। इस सूक्तमें विरोध भी समबल है। पहिले दोनों मंत्रोंमें गंधर्वके नमस्कार योग्य होने के विषयमें दोवार बड़ा है, इतनाही नहीं परंतु—

एक एव नमस्यः। (मं. १, २)

'यहाँ एक नमस्कार करने योग्य देव है।' ऐसा निश्चयार्थक वाक्यसे कहा है, जिससे किसीको संदेह नहीं होगा। परंतु आश्चर्य की बात यह है, कि जिस समय नमस्कार करनेका समय आया, उस समय उधो प्रकार दो मंत्रोंमें (मं. ४, ५ में) उसकी पत्नीयोंको ही नमस्कार किया है और विरोध कर पतिकी नमन नहीं किया। यह धारण विरोध नहीं है। इसका हेतु देखा चाहिये।

व्यवहारकी बात।

जिस समय ज्यंग किसी मित्रको नमस्कार करते हैं उस समय आप विचार कीजिये कि क्या आप उसके आत्मा को नमस्कार करते हैं, या उसके शरीरको, अथवा उसके प्राणोंको, या उसकी इन्द्रियोंको करते हैं। आपके सामने तो उसका आत्मा रहता ही नहीं, न आप आत्माको देख सकते न उसको स्पर्श कर सकते हैं, जिसको देख भी नहीं सकते उसको आप नमस्कार कैसा कर सकते हैं? विचार कीजिये, तो पतालग जयिगएकि आपका नमस्कार आपके मित्रकी आत्मा के लिए नहीं है।

परंतु यदि 'आत्माके लिए नमन नहीं है,' ऐसा चक्कर खाकारा जाय तो कइना पडेगा कि, कोई भी मनुष्य अपने मित्रके मुर्दा शरीरको—मृत शरीरको—नमस्कार नहीं करता। तो फिर नमस्कार किस के लिए किया जाता है? यह बात हमारे प्रतिदिनके व्यवहार की है, परंतु इसका उत्तर हरएक मनुष्य नहीं दे सकता। परंतु हरएक मनुष्य बूढ़े को नमस्कार तो करता ही है।

जडचेतन का संधि—प्राण।

यहां वास्तविक बात यह है, कि स्थूल शरीर और उसकी इन्द्रियां, प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं, और प्राण यद्यपि अदृश्य है तथापि वासोद्वाका की गतिसे प्रत्यक्ष होता है, परंतु मन बुद्धि और आत्मा अदृश्य हैं। इनमें भी मनबुद्धि कर्णिके अनुसंधानसे जानी जा सकती है, परंतु आत्मा तो सर्वदा अत्यलक्ष है। देखिये—

शरीर — इन्द्रियां — ' प्राण ' — मनबुद्धि — आत्मा

दृश्य — X — — O — — X — अदृश्य

प्राण ऐसा स्थान रखता है कि जो एक ओर दृश्य और दूसरी ओर अदृश्य को जोड़नेका बिंदु है । इसी लिए स्थूल दृश्यसे सूक्ष्म अदृश्य तक पहुंचनेके लिए योगादि शास्त्रों में प्राणका ही आलंकरण कहा है, क्योंकि यहाँ एक प्राण है कि, जो स्थूल सूक्ष्म, दृश्य अदृश्य, जड़ चेतन, शक्ति पुष्ट इनकी जोड़ देता है । इस कारण यह भुवनका मध्य कहा जाता है । और आध्यात्मिक उन्नतिके साधन के लिए प्राणकाही आलंभन सबसे सुवध माना गया है । क्योंकि यह अदृश्य होते हुए अनुभवमें आसकता है और इसीसे सूक्ष्मत्वका अनुसंधान होता है ।

साधारण अज्ञ लोग नमन तो स्थूलशरीर को देखकर ही करते हैं, उससे अधिक ज्ञानी प्राणका अस्तित्व जानकर करते हैं, उससे भी उच्च श्रेणीके ज्ञानी इष्टमें जो अधिष्ठाता है उसको देखकर उसे नमन करते हैं । यद्यपि नमन एकही है तथापि करनेवाले के अधिचार भेदके अनुसार नमन विभिन्न वस्तुओंके लिए होता है ।

स्थूलसे सूक्ष्मका ज्ञान ।

इसमें एक बात सत्य है और वह यही है, कि यदि जगत्में स्थूल शरीर-स्थूल पदार्थ-एकही न रहा, तो चेतन आत्मा भी रूपना होना-असंभव है; इसलिए चेतन आत्माकी शक्ति जाननेके लिए स्थूल विश्वकी रचना अत्यंत आवश्यक है । अतः स्थूल के आलंभन से सूक्ष्मका रूपना भी जाती है और इसीलिए शरीरमें कार्य करनेवाली प्राणशक्तियोंके (मंत्र ४, ५) में नमन करके शरीरके मुक्त्याधिष्ठाता आत्मा तक नमन पहुंचाया है । यहाँ ध्यानमें धरने योग्य बात यह है कि जड़ शरीर को नमन नहीं किया; परंतु जड़चेतन की संगति करनेवाली प्राणशक्तियोंको नमन किया है; अर्थात् स्थूलके पंडित रखकर जहाँ सूक्ष्मकी शक्तियाँ प्रारंभ होती हैं, वहाँ उन सूक्ष्म शक्तियों को नमन किया है । यहाँ बिलकुल स्थूल का आलंभन छोड़नेका ही उपदेश मिलता है ।

प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्ष ।

इस विवरणसे पाठक समझेंगे भये होंगे कि प्रत्यक्ष वस्तुके निमित्तके अनुसंधानसेही अप्रत्यक्षको नमन किया जा सकता है । जो सब जगत्का एक प्रभु है वह सर्वव्यापक और पूर्ण अदृश्य है, वास्तवमें वहाँ सबके लिए नमस्कार करने योग्य है, और कोई दूसरा नमस्कार के लिए योग्य नहीं है; तथापि जगत् के स्थूल-सूर्य अग्नि पदार्थोंके प्रत्यक्ष करनेसे ही उसके सामर्थ्य का कुछ अनुमान हो सकता है, जगत् के कार्य देखने से ही उसके अद्भुत रचना चातुर्य का अनुमान होता है, इसलिए जगत्में—हर एक पदार्थमें— उसकी शक्तिका अनुभव करना चाहिये और प्रत्यक्ष पदार्थों को देखकर प्रत्यक्ष पदार्थका महत्त्व उसकी कारण है, वह जानकर उसमें उसकी नमन करना चाहिए । तभी तो उसकी नमन हो सकता है । सूर्यको देखकर उसके प्रकाश का तेज परमात्मासे प्राप्त है, यह जानकर उसकी अगाध सामर्थ्यका उसमें अनुभव करते हुए अंतःकरणसे उसकी नमन करना चाहिए । यही बात हर एक वस्तुके विषयमें हो सकती है । यही बात इहाँ सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें कही है—

अग्निं च दिशुषसत्रिये वा

विश्वामसुं गन्धर्वं सवध्वे ॥ (मंत्र. ४)

‘ मेघोंकी दिशुषमें क्या और नक्षत्रोंके प्रकाशमें क्या तुम विश्वके वधानेवाले सर्वधारक परमात्माकी प्राप्ति करती है । ’ इस मंत्रमें यही बात कही है कि विद्युत् की चमकाहट देखनेसे या तेजोगोलकों को देखनेसे उस अद्वितीय आत्माकी शक्तिका ज्ञान ही प्राप्त होना चाहिये, उष परमात्माकी सामर्थ्य ध्यानमें आनी चाहिये, उस आदि देवका अद्भुत रचना चातुर्य मनमें खडा होना चाहिये । यही प्रभुको सर्वत्र उपस्थित समझना है, यही रीति है कि जिससे ज्ञानी उसका सर्वत्र साक्षात्कार करता है ।

पाठक यहाँ देखें कि, प्रथम और द्वितीय मंत्रमें “ वह प्रभु ही अकेला बंदनीव है ” ऐसा कहा और नमन करनेके समम जगत्में कार्य करनेवाली प्राण शक्तियोंको (मंत्र ४, ५ में) नमन किया, इसकी संगति पूर्वोक्त प्रकार है । इस दृष्टिसे इसमें कोई विरोध नहीं है और विचार करनेसे पता लगता है कि यहाँ हीया मार्ग है । इसी उपासना मार्गसे-जाना हर एक के लिये सुगम है ।

भेषोंमें चमकने वाली विद्युत्में तथा तेजो गोलकों के प्रकाशमें उग्र प्रभुकी सामर्थ्य देखना ही उसका साक्षात्कार करना है, यदि विद्युत्के अंतर्गत पक्षाघात विचार करना ही छेड़ दिया जाय, तो उस प्रभुका सामर्थ्य कैसा समझमें आवेगा ?

यहां चतुर्थ और पंचम मंत्रोंका विचार समाप्त हुआ और इस विचार की प्रत्यक्षता हमने अपने अंदर देखी, क्योंकि यही स्थान है कि, जहां हमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है । अब इसको जगत्में व्यापक दृष्टिसे देखना है, परंतु इसके पूर्व हमें तृतीय मंत्रका विचार करना चाहिये । इस तृतीय मंत्रमें दो कथन बड़े महत्त्व पूर्ण हैं, वे अब देखिये—

प्राणोंका आना और जाना ।

समुद्र आसं स्थानं म आहुयंत सद्य आ च परा च यन्ति ॥ (मं. ३)

‘समुद्र इनका स्थान है, ऐसा मुझे कड़ा गया है, जहांसे बार बार इधर आती हैं और परे चली जाती हैं ।’ इस मंत्रमें प्राणशक्तिका वर्णन उत्तम रीतिसे किया है । (आयन्ति, परायन्ति) इधर आती हैं और परे जानी हैं, प्राणकी ये दो गतियां हैं, एक ‘आना’ और दूसरी ‘जाना’ है । श्वास और उच्छ्वास ये दो प्राणकी गतियें प्रसिद्ध हैं । प्राण अपना ये भी दो नाम हैं । एक गति बाहरसे अंदर जानेका मार्ग बताती है और दूसरी अंदरसे बाहर जानेका मार्ग बताती है । ये दो गतियां सबको निश्चित हैं ।

इन प्राणोंका स्थान हृदयके अंदरका मानस समुद्र है, हृदय स्थान है, इस सरोवर या समुद्रमें जाकर प्राण डुबकी लगता है और वहां स्नान करके फिर बाहर आता है । वेदोंमें अल्पत्र कड़ा है कि—

एकं पादं नोस्त्रिदृति मल्लिलादंस तवाम् ।

यद्दृग् व समुत्सिद्धसंवाद्य न श्वः स्यान्न रात्रीः नाह्नः स्यान्न शुशुक्लेश्कदाचन ॥

अथर्व. ११४ (६) २१

‘यह (हंसः) प्राण अपना एक पांव सदा वहां रखता है, यदि वह पांव बहासे हटावेगा तो इस जगत्में कोई भी नहीं जीवित रह सकता । न दिन होगा और न रात्री होगी । (अथर्व. ११४ (६) २१) ‘प्राण अंदरसे बाहर जाने के समय अपना संबंध नहीं छोड़ता, यदि इसका संबंध बाहर जानेके समय छूट जायगा तो प्राणकी मृत्यु होगी । यही बात इस सूक्त के तृतीय मंत्र में कही है । हृदयका अंतरिक्षरूपी समुद्र इस प्राणका स्थान है, वहांसे यह एक बार बाहर आता है और दूसरी बार अंदर जाता है, परंतु बाहर आता है उस समय वह सड़के लिये बाहर नहीं रहता, यदि यह बाहर ही रहा और अंदर न गया, तो प्राणी जीवित नहीं रह सकता । यह प्राणका जीवन के साथ संबंध यथा देखना आवश्यक है । यह देखनेसे ही प्राणका महत्त्व ध्यानमें आसकता है । और प्राण की शक्ति का महत्त्व जाननेके पश्चात् प्राणका भी जो प्राण है, उस आत्माका भी महत्त्व इसके नंतर इसी रीतिसे और इसी सुक्तिसे जाना जा सकता है ।

प्राणोंका पति ।

यह वास्तवमें एकही प्राण है तथापि विविध स्थानोंमें रहने और विविध कार्य करनेसे उसके विविध भेद माने जाते हैं । मुख्य प्राण पांच और उपप्राण पांच मिल कर दस भेद नाम निर्देशसे शास्त्रकारोंने गिने हैं, परंतु यह कोई मर्यादा नहीं है, अनेक स्थानोंकी और अनेक कार्योंकी कल्पना करनेसे अनेक भेद माने जा सकते हैं । प्राणको अष्टराः शब्द इस सूक्तमें प्रयुक्त किया है और वह एक गन्धर्वके साथ रहती हैं ऐंसा भी आलंकारिक वर्णन किया है । इसी दृष्टिसे निम्न मंत्र भाग अब देखिये—

अनवधामिः समु जगम धामिः

अप्तरास्वपि गंधर्वं आसीत् ॥ (मं. ३)

‘इन निर्दोष अनेक अप्सराओंके साथ यह एक गंधर्व संगति करता है और उन अप्सराओंमें वह गंधर्व रहता है ।’

४ (अ. सु. भा. कां. २)

यदि गैरबन्ध और आसुराएँ ये शब्द दृष्टादिये और अपने निश्चित क्रिये लक्ष्यके अनुष्ठार शब्द रखे, तो सफ़ मंत्र भागदा अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है— ' दन निर्दोष अनेक प्राण प्राणियोंके साथ वह एक आत्मा संगति करता है, धर्मिलिप्त होता है और उन प्राणोंके अन्दर भी वह सर्वधारक आत्मा रहता है । '

यह अर्थ धर्मित सुबोध होनेसे इसके अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है कदां कि इस के हर एक वाक्या विशेष स्पष्टीकरण इसके पूर्व आनुका है । इसलिये यह रूपक पाठक स्वयं समझ जायगे । सब प्राण आत्मासे धर्मित लेकर शरीरमें कार्य करते हैं, और आत्मा भी प्राणोंके अन्दर रहता है । इस विषयमें यजुर्वेद कहता है—

सो असावदम् । यजु० अ० २०।१०

' (सः) वह (अर्थात्) अमु अर्थात् प्राणके बीचमें रहनेवाला आत्मा (अहं) मैं हूँ । ' अर्थात् प्राणोंके मरणमें आत्मा रहता है और आत्माके बाहर प्राण या जीवन शक्ति रहती है और ये दोनों जगत् का सब व्यवहार कर रहे हैं ।

ब्रह्माण्ड देह ।

पाठक ये सब बातें अपने अन्दर देखें । परंतु यहाँ केवल अपने अन्दर देखकर और अनुभव कर के ही ठहरना नहीं है, जो बात छोटे क्षेत्रवाले अपने देहमें देखी है वही बड़े ब्रह्माण्ड देहमें देखना है, अपना विराट पुरुषमें कल्पना करना है । इस सूक्तमें विश्वव्यापक आत्मका वर्णन करना मुख्य उद्देश्य है । तथापि समझमें आनेके लिये हमने ये सब बातें अपने अन्दर देखनेकी विचार किया, अब इधी बंधने ब्रह्माण्ड देहकी कल्पना करना चाहिये ।

त्रिष प्रकार प्राणोंके देहमें प्राण है सभी प्रकार ब्रह्माण्ड देहमें विश्वव्यापक प्राण का महासमुद्र है । इसी महासाग समुद्रे हम घोटासा प्राणका अंश लेते हैं । इस प्रकार अन्त्याय शक्तिया भी ब्रह्माण्ड देहमें सबी बियाल रूपसे हैं । दोनों स्थानोंमें शक्तियाँ एकही प्रकारकी हैं, परंतु अन्त्याय और महत्त्व का भेद है । इसीलिये अपने अन्दरकी व्यवस्था देखनेसे ब्रह्म व्यवस्था जानी जा सकती है ।

सारांश

पाठक इस सूक्तमें परमात्माकी अर्थ व्यापकता देख सकते हैं । वही एक उगाद्य देव है, वही सबका आधार है । वह सबके दुःख दूर करता है और सबको सुख देता है ।

इसकी प्राप्ति मानस तपासनासे करनी चाहिये । इसके सब स्थानमें तपासित मानकर, इसके नमन करना चाहिये । हर एक शक्तिके अंतर्गत पदार्थमें इसका कार्य देखनेका अभ्यास करनेसे इसके विषयमें ज्ञान होने लगता है और इसके विषयमें प्रज्ञा बढ़ती जाती है ।

इसके साथ प्राणशक्ति रहती है जो जगत्में किसी समय प्रकट होती है और किसी समय गुप्त छिपी रहती है । यह कदां प्रकट होती है और कदां छिपी रहती है, यह देखनेसे जगत्में चलनेवाले इसके कार्यकी कल्पना हो सकती है ।

यह जैसा मेघोंकी बिलुनेमें प्रवाह रहता है उसी प्रकार नक्षत्रोंमें भी प्रकाश रहता है । प्रकाशकोंका भी यही प्रकाशक है, बलोंमें भी वह बंधा है, सूत्रोंमें भी वह सूत्रम है, इस प्रकार इसकी जानकर सब भूतोंमें इसका अनुभव करके इसके नमन करना चाहिये । इसके धामने शिर झुकाया चाहिये ।

सब जगत्में जो प्रेरणा, उत्साह और प्रेम हो रहा है, वह इसकी जीवन शक्तिये ही है । यह जानकर सर्वत्र इसकी महिमा देखकर इसकी पूजा करनी चाहिये ।

' मगन, नमन, सर्वत्र दर्शन ' करनेके पश्चात् इसकी सेवा करनेके लिये उसके कार्यमें अपने अत्यन्त धर्मित करना चाहिये । ' सज्जन पालन, दुर्जन निर्दशन ' रूप परमात्माके धर्मोंमें पूर्वोक्त शक्तिके अनुष्ठार अपने कर्तव्यका भाग आनंदसे करना ही सफ़ी भाषि करना है और यह करनेके लिये ' दुःखितोंके दुःख दूर करनेके कार्य अपने शिर पर आनन्दसे ठेके चाहिये । ' दृग्गतिहा यह सीधा उपाय इस सफ़ भाषा प्रकाशित हुआ है । पाठक इसका अधिक विचार करें ।

आरोग्य-सूक्त ।

(३)

[ऋषिः-आङ्गिराः । देवता-भैषज्यं, आयुः, घन्वन्तरिः ।]

अदो यद्वृषावत्यवृत्कमधि पर्वतात् । तर्चे कृणोमि मेपुञ्जं सुमेपुञ्जं यथासंसि ॥ १ ॥
 आदुह्ना कुविदुह्ना शृतं या मेपुञ्जानि वे । तेषामासि त्वमुत्तममनास्त्रावमरांगणम् ॥ २ ॥
 नीचैः खंतन्त्यसुरा अरुन्नापामिदं महत् । तदास्त्रावस्य मेपुञ्जं तदु रोगमनीनश्रत् ॥ ३ ॥
 उपजीका उर्ध्वरन्ति समुद्रादार्धं मेपुञ्जम् । तदास्त्रावस्य मेपुञ्जं तदु रोगमशीशमत् ॥ ४ ॥
 अरुन्नापामिदं महत्स्पृषिव्या अच्युतृत्तम् । तदास्त्रावस्य मेपुञ्जं तदु रोगमनीनश्रत् ॥ ५ ॥

भाग्य- (मद्- यद्) वह जो (अव-कं) रक्षक है और जो (पर्वतात् अधि भवचावति) पर्वतके ऊपरसे नीचेकी ओर दौड़ता है । (तद्-वे) वह ठेरे छिये पैदा (मेपुञ्जं हृणोमि) औषध करता हूँ (यथा सुमेपुञ्जं असंसि) जिससे तेरा उत्तम औषध बन जावे ॥ १ ॥

हे (शंग शंग) शिव ! (आद् कुविद्) अब बहुत प्रकारसे (या वे) जो ठेरेसे उतरनेवाले (शतं भियजानि) सैकड़ों औषधों हैं, (तेषां) उनमेंसे (खं) (अनास्त्राव) पावको हटानेवाला और (अ-रोगं) रोगको दूर करनेवाला (उच्यते अस्मि) उच्यते औषध है ॥ २ ॥

(अमु-राः) प्राणोंको बचानेवाले वैद्य (इदं महद् अयन्-ज्ञानं) इस बड़े ज्ञानको पकाकर भर देनेवाले औषधको (नीचैः खनन्ति) नीचेसे खोदते हैं । (तद् अस्त्रावस्य मेपुञ्जं) वह पावका औषध है, (तद् उ रोगं अनीनश्रत्) वह रोग का नाश करता है ॥ ३ ॥

(उपजीकाः) जड़में काम करनेवाले (समुद्राद् अधि) समुद्रसे (मेपुञ्जं उर्ध्वरन्ति) औषध ऊपर निकालकर लाते हैं, (तद् अस्त्रावस्य मेपुञ्जं) वह पावका औषध है, (तद् रोगं अनीनश्रत्) वह रोगका नाश करता है ॥ ४ ॥

(इदं अयन्-ज्ञानं) यह फोड़ेकी पकाकर मरनेवाला (महद्) बड़ा औषध (स्पृषिव्याः अस्मि उच्यते) भूमिके ऊपरसे निकालकर लाया है । (तद् अस्त्रावस्य मेपुञ्जं) वह पावका औषध है, (तद् उ) वह (रोगं अनीनश्रत्) रोगका नाश करता है ॥ ५ ॥

भाषार्थ— एक औषध पर्वतके ऊपरसे नीचे लाया जाता है उससे उतम से उतम औषधी बनती है ॥ १ ॥ उससे तो अनेकानेक औषधियाँ बननी जाती हैं, परंतु पावकी हटाने अर्थात् रक्षकत्वकी ठीक करनेके काममें वह औषधि बहुत ही उत्तरी है ॥ २ ॥ प्राणकी बचाने वाले वैद्य लोग इस औषध को खोद खोद कर लाते हैं, उससे पावको ठीक करने का औषध बनते हैं जिससे रोग दूर हो जाता है ॥ ३ ॥ जड़में काम करने वाले भी समुद्रसे एक औषध ऊपर लाते हैं वह भी पावकी ठीक कर देता है और रोगको शान्त कर देता है ॥ ४ ॥ वह पृथ्वीपरसे लाया हुआ औषध भी फोड़ेकी ठीक करता है, पावकी भर देता है और रोगका नाश करता है ॥ ५ ॥

शं नो भवन्त्वप ओषधयः शिवाः ।

इन्द्रस्य वज्री अर्प हन्तु रक्षसं आराद्विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम्

॥ ६ ॥

अर्थ- (आपः) जल और (ओषधयः) औषधियां (नः) हमारे लिये (शिवाः शं भवन्तु) शुभ और शांति-दायक हों। (इन्द्रस्य वज्रः) इन्द्रका शस्त्र (रक्षसः भवन्तु) राक्षसोंका हनन करे। तथा (रक्षसं विसृष्टाः इषवः) राक्षसोंद्वारा छोड़े हुए ऋषि बाण हमसे (आरात पतन्तु) दूर गिरें ॥ ६ ॥

जल और औषधियां हमारे लिये आरोग्य देनेवालीं हों। हमारे छत्रियों के शस्त्र शत्रुओंको भगादेवें और शत्रुओंके हमपर फेंके हुए शस्त्र हम सबमें दूर गिरें ॥ ६ ॥

औषधि

इस सूक्तका 'अनु४-१' शब्द 'प्राण रक्षक' वैद्यका वाचक है न कि राक्षस का।

पर्वतके ऊपरसे, समुद्रके अंदरसे, तथा पृथ्वीके ऊपरसे अनेकानेक औषधियां लायीं जाती हैं, और उन से छेकड़ों रोगोंपर दवाइयां बनायी जाती हैं। इन औषधियोंसे मनुष्योंके पाव, व्रण तथा अन्दाज्य रोग दूर होकर उनको आरोग्य प्राप्त होता है। जल और औषधियोंसे इस प्रकार आरोग्य प्राप्त करके मनुष्योंका कल्याण हो सकता है।

इस सूक्तमें यदि किसी विशेष औषधका वर्णन होगा तो वह हमारे ध्यानमें नहीं आया है।

सुविज्ञ वैद्य इस सूक्तका विशेष विचार करे। इस समय इस सूक्तमें साधारण वर्णन ही हमें दिखाई देता है।

शस्त्रोंका उपयोग

क्षत्रियोंके शस्त्र शत्रुओंपर हो गिरे अर्थात् आपनमें लट्ट ई न हो, यह अंतिम मंत्र का उपदेश आपसमें एकता रखनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है, वह ध्यानमें धरने योग्य है।

इस सूक्तके षष्ठ मंत्रमें 'हमारे शत्रु पुरुषका शस्त्र शत्रुपर गिरे, परंतु शत्रुके शस्त्र हम तक न पहुंच जाय' ऐसा कहा है, हमसे अनुमान होता है कि यह सूक्त विशेष कर उन रक्त स्रवकों दृष्टिकरणके लिये है कि जो रक्तस्राव युद्धमें शस्त्रोंके आघातसे होते हैं। युद्ध करनेके समय जा एक दूसरेमें संघर्ष होता है और उसमें शीट आदि लगने तथा शस्त्रोंके घाव होनेसे जो व्रण आदि होते हैं, उनसे जंघा रक्त स्राव होता है, उसी प्रकार सूजन होना और फोड़े उत्पन्न होना भी संभव है। इस प्रकारके कष्टोंसे बचानेके उपाय बतानेके लिये यह सूक्त है। परंतु ऐसी पीडा दूर करनेके लिये कौनसा उपाय करना अथवा किस युक्तिसे आरोग्य प्राप्त करना इत्यादि बातोंका पता इस सूक्तमें नहीं लगता है। इस लिये इस समय इस सूक्तका आधिक विचार करनेमें अक्षम्य है।

जङ्गिड-मणि ।

(४)

[ऋषिः-अथर्वा । देवता-चन्द्रमाः, जङ्गिडः]

दीर्घायुत्वाय वृद्धते रणायारिभ्यन्तो दक्षमाणाः सदैव ।

मणिं विष्कन्धदूर्पणं जङ्गिडं विमृमो वृयम् ॥ १ ॥

जङ्गिडो जम्भार्द्रिशराद्विष्कन्धादभिज्ञोचंनात् ।

मणिः सहस्रवीर्यः परिं णः पातु विश्वतः ॥ २ ॥

अयं विष्कन्धं सहतेऽयं बाधते अत्रिणः । अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वहंसः ॥ ३ ॥

द्वैर्दृष्टेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा । विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥ ४ ॥

अर्थ—(दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयुकी प्राप्ति के लिये तथा (वृद्धते रणाय) बड़े आनंद के लिये (वि-रुक्न्ध-दूर्पणं) शोषक रोग को दूर करने वाले (जङ्गिडं मणिं) जंगिड मणिको (ज-रिप्यन्तः दक्षमाणाः धयं) न सजने वाले परंतु बलवत् बढानेवाले हम सत्र (विभ्रुमः) धारण करते हैं ॥ १ ॥

यह (सहस्र-वीर्यः) हजारों सामर्थ्यसे युक्त (जङ्गिडः मणिः) जंगिड मणि (जम्भारात्) जमुहाई बढानेवाले रोगसे, (वि-घरात्) शरीर क्षीण करनेवाले रोगसे, (वि-रुक्न्धात्) शरीरको शुष्क करनेवाले शोषक रोगसे (मणि-शोचनात्) रोगकी जोर प्रवृत्ति करनेवाले रोगसे (विश्वतः) सब प्रकारसे (नः परि पातु) हम सत्रका रक्षण करे ॥ २ ॥

(अयं) यह जंगिड मणि (विष्कन्धं सहते) शोषक रोगसे बचाता है, (अयं) यह मणि (अत्रिणः बाधते) मशक मरम रोगसे बचाता है । (अयं जंगिडः) यह जंगिड मणि (विश्व-भेषजः) सर्व औषधियोंका रस डी है, वह (नः अहंसः पातु) हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

(द्वैः दृष्टेन) दिव्य मनुष्यों द्वारा दिये हुए (मयोभुवा) सुख देनेवाले (जंगिडेन मणिना) जंगिड मणिले (विष्कन्धं) शोषक रोगको जोर (सर्वा रक्षांसि) सब रोगजंतुओंको (व्यायामे) संघर्ष में (सहामहे) दबा सकते हैं ॥ ४ ॥

साधार्थ— दीर्घ आयुभ्य प्राप्त करनेके लिये और नारोगताका बड़ा आनंद अनुभव करनेके लिये जंगिड मणिको शरीर पर हम धारण करते हैं, इससे हमारा क्षीणता नहीं होगी और हमारा बल भी बढेगा, क्योंकि यह मणि शुष्कता अर्थात् शोषक रोगको दूर करता है ॥ १ ॥

यह मणि साधारणतः हजारों सामर्थ्यसे युक्त है, परंतु विशेष कर जमुहाई बढानेवाले, क्षीणता करने वाले, शरीरकी सुखानेवाले, बिना कारण आंखोंमें रोगके आंसू लानेवाले रोगोंसे यह मणि बचाता है ॥ २ ॥

यह मणि शोषक रोगको दूर करता है और जिसमें बहुत अन्न खाया जाता है, परंतु शरीर ह्रस होता रहता है; इस प्रकार के मरम रोगसे भी बचाता है । इस मणिमें अनेक औषधियोंके गुण हैं, इस लिये यह हमें पापघातिसे बचावे ॥ ३ ॥ यो पुरुषोंसे प्राप्त हुआ और सुख देनेवाला यह जंगिड मणि शोषक रोग और रोग बीज भूत रोगजंतुओंसे हमारा बचाव करे ॥ ४ ॥

शृणुथ मा जङ्गिदश्च विष्कन्धाद्रुमि रक्षताम् । अरण्यादृन्य आमृतः कृष्या अन्न्यो रसेभ्यः ॥५॥
कृत्यादूर्ध्वरथं माणिरथी अरातिदूषिः । अथो सहस्वाङ्गिङ्गिः प्र णु आवृषि तरिवत् ॥ ६ ॥

अर्थ—(शृणुः च) सग और (जंगिदः च) जंगिद ये दोनों (विष्कन्धात्) लोपक रोगसे (मा मभिरक्षताम्) मेरा बचाव करें । इन में से (अन्न्यः) एक (अरण्यात् आनृतः) वन से लाया है और (अन्न्यः) दूसरा (कृष्याः रसेभ्यः) खेतीसे उत्पन्न हुए रसोंसे बनाया है ॥ ५ ॥

[अथ माणिः] यह मणि [कृत्या-दूषिः] हिंसासे बचानेवाला है [अथो] और [अ-राति-दूषिः] शत्रु-रोगों को दूर करनेवाला है [अणो] ऐसा यह [सहस्वाङ्गिङ्गिः] बलवान् जंगिदमणि [नः आवृषि तरिवत्] हमारे आयुष्योंको बचावे ॥ ६ ॥

भावार्थ— सग और जंगिद ये दोनों शोषक रोगसे हमारा बचाव करें । इनमेंसे एक वनसे प्राप्त होता है और दूसरा खेतोंसे उत्पन्न हुए औषधियोंके रसोंसे बनाया जाता है ॥ ५ ॥
यह मणि नाशसे बचाता है और आरोग्यके शत्रु र्थी रोगोंसे दूर रखता है। यह प्रभावशाली मणि हमारा आयुष्य बचावे ॥ ६ ॥

सग और जंगिद ।

इस सूक्तमें ' सग ' और ' जंगिद ' इन दो वस्तुओंका उल्लेख है (मं० ५) । सग अथवा सग यह प्रसिद्ध पदार्थ है, माषामे भी इसका यहाँ नाम है । सगके विषयमें राजवल्लभ नामक वैद्यक ग्रंथमें यह बचन है—

१ शस्युषं रसपित्ते हितं मलरोधकं च ।

बीजं शोणितमुद्विक्करम् ॥ राजव. ३ प.

२ अम्लः कषायो मलगर्माक्षयातनः घान्तिहृत्

वातकफाश्र ॥ राजनिर्घंटु च. ४.

" (१) सगका मूल रसपित्त रोगमें हितकारक है, मलरोधक है और उषका बीज रसकी शुद्धि करनेवाला है । (२) सगके ये गुण हैं—खट्टा, कषाय कर्षीवात्य, मल-गर्भ—रसका हान्य करनेवाला, घनन करनेवाला, तथा वात रोग और कफ रोगको दूर करनेवाला है । "

यैय लोग इसका अधिक विचार करें । यह सग (कृष्याः रसेभ्यः आनृतः) खेतोंसे उत्पन्न होनेवाले रसोंसे बना है (मं. ५) । यह वर्णन सग कौन पदार्थ है, इसका निश्चय करता है । सग करके जो कपडा मिलता है उसीका भागा या कपडा या रस्सी वही अपेक्षित है । रस्सी, घागा, या कपडा हो, हमारे उद्योगमें यहाँ सगका घागा अपेक्षित है; जो विविध औषधियोंके (रसेभ्यः ॥ मंत्र ५) रसोंमें भिगोकर बनाया जाता है । इस सग का नाम ' त्वक्कार ' है, इसका अर्थ होता है (त्वक्-कार) त्वकाने जिसका घत रहता है; इसलिये इसको त्वकाका घागा बनाकर, उसको विविध औषधियोंमें भिगोकर हाथपर, कमरमें लपटा गलेमें यह भागा बांधा जाता है । क्यायाम करनेके समय जब पछीना जाता है, तब उस पछीनेसे त्वक सगके घागेके औषधिके रस शरीरपर लगते हैं और शरीर पर इस प्रभाव करते हैं ।

इस सगके धागेपर कौन कौनसे रस लगाये जाते हैं और किस प्रकार यह तैयार किया जाता है, इसका विचार सुदोग्य वैद्योंको करना उचित है । क्योंकि इस संबंधमें इस सूक्तमें कुछ भी कहा नहीं है ।

शृणुः च मा जंगिदश्च कमिरक्षताम् ॥ (मं. ५)

' सग और जंगिदमणि मेरा एकदम रक्षण करें ' यह पंचम मंत्रका अर्थ है, इस अर्थमें स्पष्ट ही जाता है कि, सगके घागेमें जंगिदमणिको म्रियत करके गलेमें या शरीरपर धारण करनेका अभिप्राय इस सूक्तमें स्पष्ट है । उक्त प्रकार औषधिरसोंसे बनाया सगका घागा भी स्वयं गुणकारी है, और जंगिदमणि भी स्वयं गुणकारी है, तथा दोनों इकट्ठे हो गये, तो भी सग दोनोंका निष्कर विशेष लाभ होता संभव है । जबतक विशेष खोज नहीं हुई है, तबतक हम वही दृष्टी समझेंगे कि, सगके सूत्रमें जंगिद मणि रखकर शरीर पर धारण करनेसे मंत्रोक्त लाभ प्राप्त हो सकते हैं ।

जंगिड मणिके लाम ।

- १ दीर्घायुत्वं—आयुष्य दीर्घ होता है । (मं. १)
- आयुषि चारिषत्—आयुष्य बढाता है । (मं. ६)
- २ महद् रणं (रमणीयं)—बडा आनंद, बडा सरसाइ रहता है, जो आनंद नीरोगतासे प्राप्त होता है वह इससे मिलता है । (मं. १)
- ३ अरिष्यन्तः—अपमृत्युसे अथवा रोगसे नष्ट न होना । (मं. १)
- ४ दुक्षमाणः—(दुर्क्ष) बल बढाना, बलवान् होना । (मं. १)
- ५ विष्कंधदूषणः—शोषक रोगको दूर करना । जिस रोगसे मनुष्य प्रतिदिन छुट होता है उस रोगकी निवृत्ति इससे हो जाती है । (मं. १)
- ६ सद्दक्षवीर्यः—इस मणिमें दृढो सान्ध्यं है । (मं. २)
- ७ विश्व-मेघजः—इसमें सब औषधियां हैं । (मं. ३)
- ८ मयोभूः—सुख देता है । (मं. ४)
- ९ कृत्यादृषिः—अपने नाशसे अथवा अपनी हिंसा होनेसे बचाने वाला यह मणि है । (मं. ६)
- १० वराति-दृषिः—आरोग्यके अनुभूत जितने रोग हैं उनको दूर करनेवाला है । (मं. ६)
- ११ सद्दस्वान्—बलवान् है अर्थात् शरीरका बल बढाया है । (मं. ६)
इस जङ्घिड मणिसे निम्नलिखित रोग दूर होनेका उल्लेख इस सूत्रमें है वह भी यहाँ इस स्थानपर देखने योग्य है—
- १२ अम्भाराव पातु—जमुहाई जिससे बढती है वह शरीरका दौड़ इससे दूर होता है । (मं. २)
- १३ नि-भाराव पातु—जिस रोगसे शरीर विशेष क्षीण होता है, उस रोगसे यह मणि बचाता है । (मं. २)
- १४ वि-ष्कंधाव पातु—जिससे शरीर सूखता जाता है उस रोगसे यह बचाता है । (मं. २)
- १५ अग्नि-श्लोचनाव—जिससे रोगकी प्रवृत्ति हो जाती है उस बीमारीसे यह बचाता है । (मं. २)
- १६ अस्त्रिणः वाघते—(अद्-त्रिन्) बहुत अज खानेकी आवश्यकता जिस रोग में होती है परंतु बहुत खानेपर भी शरीर कुछ होता रहता है, उस मन्स रोगकी निवृत्ति इससे होती है । (मं. ३)
- १७ अंहमः पातु—पापवृत्तिसे बचाता है, अथवा डीन भावनः मनेसे हटाता है । (मं. ३)
- १८ रक्षांसि सहामदे—रोगबीज तथा रोगोत्पादक कृमियोंकी रक्षस् (क्षरः) कहते हैं क्योंकि इनसे शरीरके पोषक सप्त धातुओंका (क्षरण) नाश होता रहता है । इन रोगबीजों या रोग अनुजओंका नाश इससे होता है । (मं. ४)
ये सप्त गुण इस जङ्घिड मणिमें हैं । यहाँ रक्षस् शब्दके विषयमें योदावा कहना है : [पाठक कृपा करके स्वाध्याय मंदल द्वारा प्रकाशित ' वेदमें रोग अनुज शास्त्र ' नामक पुस्तक देखें, इस पुस्तकमें बताया है कि ये राक्षस अतिस्वल्प कृमि होते हैं, जो चर्मपर चिपकते हैं तथापि आंखसे दिखाई नहीं देते । ये रात्रीमें प्रबल होते हैं । इस वर्गके पदनेसे पाठकोंका निश्चय होगा कि रोग बीजोंका या रोगअनुजओंका नाम राक्षस है । इसीकी रक्षस् कहते हैं । क्षर् (क्षीण होना) इस धातुसे अक्षरकी उलटपुलट होकर रक्षस् शब्द बनता है, फलनेवाले रोगोंके रोगअनुजओंको यह मणि नाश करता है यह यहाँ भाव है, अर्थात् यह (Highly disinfectant) उच्चम प्रकारका रोगकी छूटके दोष को दूर करनेवाला है यह बात इस विवरणसे वाचकोंके मनमें आ चुकी ही होगी ।
- यह जंगिड मणि किस वनस्पतिको बनाया जाता है । वह बडा प्रयत्न करने पर भी पता नहीं चला । तथापि जो गुण उक्त मंत्रोंमें बताये हैं, उनमें से बहुतसे गुण सत्ता वनस्पतिके गुण धर्मोंके साथ मिलने जुलने हैं, इस लिये हमारा विचार ऐसा होता है कि यह मणि बचाका होना बहुत संभवनीय है, देखिये बचाके गुण—

१ बचागुणाः— टीक्ष्णा कटुः उल्ला कफामप्रंशिकोफघ्नी

वातञ्जरातिसारही घातितकृत् उन्माद्भूषही च । राजनिषण्ड व. ६

२ वचासुप्या वातकुरुत्पुष्पाणां स्मृतिवर्धिनी ।

३ वचापर्यायाः ' मङ्गल्या । विजया । इक्षोप्ती । मद्रा । '

' (१) वचाके गुण—रीङ्गता, कटुता, ठण्डता से मुक्त, कफ आम शंथि और सूजन का नाश करनेवाली । वात उवर आतिमार का नाश करनेवाली । वनन करानेवाली । उन्माद और भून्रीय का नाश करनेवाली यह वचा है ।

(२) वचाके आयुष्य बहुत है, वात-कफ-तृष्णका नाश करती है । स्मरण शक्तिकी वृद्धि करती है ।

(३) वचाके पर्याय शब्दोंका अर्थ—(मंगल्या) मंगल करनेवाली, (विजया) विजय करने वाली, (इक्षोप्ती) राक्षसोंका नाश करनेवाली, पूर्वोक्त रोगोंवादीक वृद्धियोंका नाश करनेवाली, (मद्रा) कन्द्याग करनेवाली । '

यह वचाका वैद्यकर्मयोग्य वर्णन स्पष्ट बता रहा है कि इसकी जंगिद्वे गुण परमों समानता है । पाठक पूर्वोक्त शब्दोंके साथ इसकी तुलना करेंगे, तो पता लग जायगा कि इनके गुणधर्म समान हैं । इस लिये हमारा विचार हुआ है, कि जंगिद्वे मणि संभवतः इसका ही बनाया जाता होगा । यह समानता देखिये—

वैद्यक ग्रंथ के शब्द	—[वचाके गुण]—	इस सूक्तके शब्द
१ आयुष्या	—	१ दीर्घायुत्वाय (सं. १) आयुषिं तारिषव (सं. ६)
२ इक्षोप्ती । मूलांश	—	२ रक्षांसि सहामहे (सं. ४)
३ वातघ्नी, कन्मादघ्नी	—	३ कम्माद् पातु (सं. २) आमेदोषनात् पातु । (सं. २)
४ मंगल्या, मद्रा स्मृतिवर्धिनी ।	—	४ भरिधन्तः (सं. २) दक्षमाणाः । सद्दक्षवीर्यः (सं. २)
५ विजया	—	५ अराठिदूषिः (सं. ६)
६ आतिमारघ्नी	—	६ विभारात् (वि-सारात्) पातु (सं. २)
७ शीफघ्नी, ज्वरघ्नी कुरुघ्नी, शंथिघ्नी	—	७ विद्यमेपजः (सं. ३)

इस प्रकार पाठक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि वैद्यक ग्रन्थोंके वचाके गुणधर्म और जंगिद्वेमणि के गुणधर्म प्रायः मिक्रते लुलते हैं । इससे अनुमान होता है, कि संभवतः जंगिद्वे मणि वचा से ही बनाया जाता होगा । केवल गुण साधर्म्यसे औषधि प्रचरणमें औषधियां नहीं बली जाती, अथवा नहीं बली जाती चाहे; यह हमें पूरा पता है, तथापि किसी औषधिके अभावमें उस स्थानपर जो औषधि ली जाती है वह गुणसाधर्म्य देख कर ही ली जाती है ।

चरकादि ग्रन्थोंमें जहां बड़े बड़े आयुष्य वर्षक और बहुरवर्षक रसायन प्रयोग लिखे हैं, वहां सोमादि दिव्य औषधियोंके अभावमें इसी प्रकार गुण साधर्म्यसे अन्य औषधि लेने का विधान किया है । इसलिये यदि जंगिद्वे मणिका ठीक पता नहीं चलता, तो इस मणिके गुण धर्मोंके समान गुणधर्मवाली पनहर्षतिका मणि बनाना और उसका प्रयोग करना बहुत अवश्य नहीं होगा । तथापि हम यह शर्ष सुयोग्य वैद्योंपर ही छोड़ देते हैं, तथा इस विषयमें अधिक खोज होनी शक्यतः आवश्यक है यह भी यहां स्पष्ट कह देते हैं । सुयोग्य वैद्य इस महत्त्वपूर्ण विषयकी खोज अवश्य करें ।

मणि धारण ।

यहां कई पाठक कहेंगे कि यह क्या लंघ विश्वासकी बात है, कि केवल मणि धारणसे रोगों मुक्त होने का ही विधान किया जा रहा है ? क्या इससे ताबीज, कबच, घागा, दोरा, आदिकी अंधविश्वास की बातें सिद्ध नहीं होंगी ? इस प्रकारकी शंकाएं यहां चर्चासिद्ध होना संभव है; इस लिये इस बातका यहाँ विचार करना आवश्यक है—

इस सूक्तमें जो ' जंगिडमणि ' का वर्णन है वह तार्बीज या धागा दोरा या जादूकी बीज नहीं है । यह वास्तविक औषधि पदार्थ है । इसके पूर्वके तृतीय सूक्त में पर्वत, और पृथ्वीके ऊपर होने तथा समुद्रके तलेमें उपपन्न होनेवाली औषधि वनस्पतियोंका वर्णन लघुसंदिग्ध रीतिसे आया है, इस औषधिवनस्पतियोंकी अनुसृति इस सूक्तमें है । ये दोनों सूक्त साथ साथ हैं और दोनोंका रोगनिवारण और आरोग्य साधन यह विषय समान ही है । इसलिये यह औषधीका मणि है यह बात स्पष्ट है ।

मणिपर संस्कार ।

स्वयं यह मणि वनस्पतिका है अर्थात् वनस्पतिकी लकड़ीसे यह बनता है तथा यह जिस प्राणमें बांधाजाता है वह भी विशेष गुणकारी वनस्पतिका धागा होता है, यह बात पूर्व स्थलमें बताया है । विशेष गुणकारी धागा और विशेष गुणकारी मणि इनके मिलानसे शरीरपर विशेष परिणाम होना संभव है । इसके नंतर—

अरण्याद्वय आभृतः ।

कृत्वा नन्यो रसेभ्यः ॥ (मंत्र. ५)

' एक अरण्याकी वनस्पतिसे बनता है और दूसरा दृष्टिसे उपपन्न हुए वनस्पतियोंके रसोंसे भरा जाता है ।' यह पंचम मंत्रका विधान विशेष ही मनन करने योग्य है । इसमें 'आ—मृतः' शब्द है, इसका धारण ' (आ) चारों ओर से (मृतः) पूर्ण किया, चारों ओरसे भर दिया है,' ऐसा होता है । अर्थात् मणि और धागा अनेक वनस्पतियोंके रसों में भिगोकर सुखानेसे वे सब रस उस धागेमें और मणिमें भर जाते हैं अथवा जम जाते हैं और इन सब रसोंका परिणाम शरीरपर हो जाता है । इसलिये जंगिडमणिका धारण ५ वैद्य शास्त्रका महत्त्वपूर्ण और सरास्र विषय है इसमें अन्वचिन्ताकी बात नहीं है ।

शास्त्रका तार्बीज, कवच, धागा, दोरा, जादूका पदार्थ है न कि केवल विश्वास की चीज है अथवा भावनासे उसकी कल्पना है । वैसा जंगिड मणि नहीं है । इसमें औषधियोंका संघन्य विशेष रीतिसे शरीरके साथ होता है । यद्यपि शरीरके अंदर औषधि नहीं केवल की जाती तथापि शरीरके ऊपरके स्पर्शसे लाभ पहुंचाता है ।

हमने यह बातें देखी हैं, कि तमाखूके पत्ते पेटपर बांध देनेसे वमन होता है । [इसी प्रकार शरीरकी (हिरण) की एक तीज जाती होती है, उस को दायमें घरनेसे दस्त होते हैं, ऐसा कहते हैं, परंतु यह बात अभी तक हमने देखी नहीं है ।] इसके अतिरिक्त हमने अनुभव की हुई बातें भी वहाँ निर्दिष्ट करना योग्य है, कोल्हापुर रियासतके अंदर बावडा (गगन बावडा) नामक एक छोटी रियासत है । वहाँ के श्री० नरेश के पास वनस्पतिके जड़के मणि मिलते हैं, इस मणिके धारणसे दांतकी पीडा दूर होती है । इस विषयका अनुभव हमने कई बार अपने ऊपर लिया है और अपने परिचितों पर भी लिया है । यह मणि किसी वनस्पतिकी जड़का बनाया जाता है, परंतु उस वनस्पतिका नाम अभी तक हमें पता नहीं है । इसके अतिरिक्त प्रवाज, सुवर्ण, ताम्र, विविध रत्न आदिके धारणसे बालकोंके शरीरपर विशेष प्रभाव होता है यह भी देखा है । इसलिये यदि बच्चे और मणि उलम वनस्पतियोंसे बनाकर उनको विशेष रसोंसे सुसंस्कृत करके धारण किये जाय तो रोगोंका दूर होना यात्र दृष्टिसे सुसंस्कृत प्रतीत होता है ।

बच्चा के विषयमें हमने कई बच्चोंकी संमती ली है, उनका कहना है, कि बच्चाका मणि उक्त प्रकार शरीरपर धारण किया जाय तो वह स्पर्शजन्य रोग (छूत से फैलनेवाले रोग) की बाधा से दूर रह सकता है, अर्थात् जो धारण करेगा उसको उक्त रोग होनेकी संभावना कम है । इस बातका हमने कई बार प्रयोग भी किया है और लाभ ही प्रतीत हुआ है ।

इसी प्रकार ग्रंथिक सचिवाल रोगके दिनोंमें ' इम्रोशिया ' नामक वनस्पतिके बीज धारण करनेसे कुछ लाभ होनेकी बात कई डॉक्टर कहते हैं, तथापि हमें इसका विशेष अनुभव नहीं है । परंतु सुंबर्दमें हमने देखा था कि उक्त रोगके प्रादुर्भावमें इसका धारण कई लोग करते थे ।

इस शोधसे अनुभवसे हम कह सकते हैं, कि जंगिड मणिका धारण भी एक शार्प्राय महत्त्वका विषय है और इसमें कोई लघुविश्वासकी बात नहीं है । अथ विशेष खोज करनेवालोंका यह विषय है कि वे जंगिडमणिकी ठीक छिद्रला करने की रीतिकी

खोज करें और इसका उपयोग करके आरोग्य प्राप्त करनेका निश्चित उपाय सबके लिये सुप्रसन्न करें । वैद्यशास्त्रोंके अन्वय देखनेसे बहुत कुछ पता लगना संभव है ।

खोजकी दिशा ।

यहां खोज करनेकी दिशाका भी थोड़ासा वर्णन करना आवश्यक न होगा । श्री- प्राणनाथजीने अपने भाष्यमें लिखा है, कि वाशा अंगमें जंगिक वृक्ष है इस वृक्षके विषयमें वासी प्रांतके लोग खोज करें और जो कुछ मनुभव हो वह प्रकाशित करें ।

बचा उम्रगंधी बनस्पति या चीज है । इसकी गंधसे अर्थात् उम्रवाधसे जो इससे परमायु हथामें फैल आते हैं, वे रोग-जन्तुओंका नाश करते हैं, तथा रोगके विषको भी दूर कर देते हैं । यही कारण है कि बचा का धारीपर धारण करनेसे छूट से फैलनेवाले रोग दूर होते हैं, या उनका नाश नहीं होती है । प्रायः छूटसे फैलनेवाले रोग सूक्ष्म जंतुओं द्वारा फैलते हैं, वे रोगजंतु बचा की उम्रगंधिके कारण तत्काल मर जाते हैं । ऐसे उम्रगंधी पदार्थ अन्नवादन, पूराना, लसुण, कुरा, पेररनीट आदि अनेक हैं । अर्थात् वैद्यक शास्त्रमें इन पदार्थोंका परिगणन किया है और इनको कामिनायक भी कहा है । यदि खोज करनेवाले पूर्वोक्त रोगनाशक बनस्पतिका जड़ या कण्ठके मगिरज सुवोन्मय उम्रगंधीवाले अनेक रसोंसे योग्य संस्कार करेंगे, तो इस प्रयत्नसे जगिहमणि अथवा तारुवरा मणि अथ भी प्राप्त होना संभवनीय है । इसलिये हम सुवोन्मय वैद्योंको इस विषयकी खोज करनेके लिये धातुरो^५ प्रार्थना करते हैं ।

जंगिह मणिसे दीर्घ आयुष्य ।

प्रथम मंत्रके प्रारंभमें ही ' जंगिहमणिसे दीर्घायुष्य प्राप्त होनेकी बात ' कही है । यह दीर्घायुष्य प्राप्ति किध प्रकार होती है, यह बात यहाँ विचार करके देखनी आवश्यक है । इस विचार के लिये प्रथम आयुष्य की अल्पता क्यों होती है वह देखिये ।

रोग—आधि और व्याधि—यह मुख्य कारण है जिससे आयुष्य क्षीण होता है । जंगिहमणि रोगोत्पादक विषों और रोगवर्धक जन्तुओंको दूर करता है अथवा नाश करता है, इससे बीरोगता प्राप्त होने द्वारा जो स्वास्थ्य प्राप्त होता है वह आयुष्य वर्धन करता है ।

हई लोग समझते हैं, कि आयुष्यकी वृद्धि नहीं होती है । परंतु वेदमें सेकड़ों स्थानोंपर दीर्घ आयुष्यके उपाय कहे हैं, इसलिये वैदिक दृष्टिकोणसे आयुष्यकी वृद्धि होनेके विषयमें कोई संदेह नहीं है । यदि दीर्घायुष्य होता है या नहीं, इस विषयमें हम आर्य वैद्यक की छाती देखेंगे तो हमें वह छाती अनुभूत ही होगी; क्यों कि आयुष्य वर्धन के कई रसायन प्रयोग वैद्यशास्त्रमें कहे हैं । इसलिये आर्य ग्रंथोंकी संमति आयुष्य की वृद्धि होती है इस विषयमें निश्चित है । इसलिये जो सर्व धारणाएँ जनताका विचार है, कि आयुष्य वर्धन नहीं होता वह अशुद्ध है और वैसा विचार वैदिक धर्मियोंको मनमें रखनेकी आज्ञावकता नहीं है ।

जंगिहमणि (Disinfectant) स्वयंभ्रम्य दीपघो हयनेवाला होनेके कारण यदि वह धारीपर धारण किया जाय, तो उससे रोग दूर होनेमें संका ही नहीं हो सकती और इस प्रकार यदि बीरोगता ही सिद्धता हुई और आयुष्य वर्धक अन्य द्रव्यवर्गादि वैदिक उपायोंका अवलोकन किया तो निःसंदेह आयुष्य वर्धन होगा । इसलिये पाठक इस बातका विशेष मनन करें ।

बडा रण ।

प्रथम मंत्रमें ' महते रणाय ' शब्द है । इसमें जो ' रण ' शब्द है उसका वास्तविक अर्थ रमणीयता यौमा इत्यादि होता है । यह अर्थ पूर्व स्थानमें दिया ही है । परंतु कईशक्ति मतसे यहकि रण शब्दका अर्थ युद्ध है । इसलिये ' महत् रण ' शब्द का अर्थ ' बडा युद्ध ' है । यह अर्थ लेनेसे प्रथम मंत्रके इस भाग का अर्थ निम्नलिखित होता है ।

महते रणाय जङ्गिहमणिं अर्घं बिभ्रतः ॥ (सं १)

' बडे युद्धके लिए हम अजिहम मणिका धारण करते हैं ।' अर्थात् बडे युद्धमें हमारा विजय हो इसलिये हम अजिहम मणिका धारण करते हैं । अजिहम मणिके धारण सेहमारे धारणमें ऐश बल बढेगा, कि जिससे हम उस बडे युद्धमें विजयी बनेंगे । यह युद्ध कैलाश है । यह युद्ध अपना जीवनका ही है । मनुष्यका जीवन एक बडा भारी युद्ध है ।

शताब्दीतक चलनेवाला यह युद्ध है । सौ वर्ष इस युद्धमें व्यतीत होंगे । इधरिये यह साधारण युद्ध नहीं है । शरीर क्षेत्रमें जो कार्य आत्मा द्वारा चल रहा है, उसमें विविध रोग विप्र जाते हैं और उनके साथ हमारा युद्ध चल रहा है । अपना आरोग्य स्थापित करनेसे ही इस युद्धमें हमें विजय प्राप्त होता है । जाऊँ मणिसे रोगनिग्रहद्वारा आरोग्य प्राप्त होता है इस हेतु-से यह मणि इस बड़े युद्धमें भी हमें सहायक है, ऐसा इस मंत्रमें जो कथा है वह योग्यही है ।

बलवर्धन ।

इस प्रथम मंत्रमें और दो शब्द बड़े महत्वपूर्ण हैं । ' अ-रिष्यन्तः । दक्षमाणाः ' इन दो शब्दोंका क्रमशः अर्थ 'अहिंसित होते हुए, मलिन होनेवाले' यह है । रोगादिके हमलोंके कारण अथवा अन्य दुष्ट शत्रुओंके आक्रमण के कारण हम (अरिष्यन्तः) शिथिल न हों अर्थात् हम क्षीन दुःखों जस्त सयवा नष्ट न हों, यह प्रथम पद का अर्थ है । परंतु योजासा विचार करने पर पठनेके मनमें यह बात स्पष्टताके साथ आजायगी कि केवल क्षीन न होने अथवा नष्ट न होनेसे ही अर्थात् केवल जीवन धारण करनेसे ही अग्रत् में कार्य चलना और विजय प्राप्त होना असाध्य है । विजय प्राप्त करने के लिये यह नियथात्मक गुण विशेष सहायक नहीं होगा । इस कार्य के लिये विधेयात्मक गुण अवश्य चाहिए । यह गुण (दक्षमाणाः) बलवान् इस शब्दद्वारा बताया है । इसका अर्थ बलवान् होना है । पाठक योजासा विचार करेंगे तो उनके ध्यानमें यह बात आजायगी कि-

बल और विजय ।

इस गुणसे बलों कावश्यकता है । रोग नहीं हुए, अस्वप्न न हुआ, नष्ट नहीं हुआ तो भी कार्य नहीं चलेगा, विजयही इच्छा है तो अपना बल सर्व दिशाओंसे बढ़ानेका यत्न होना आवश्यक है । जितना बल बढ़ेगा उतना विजय निश्चयसे प्राप्त होनेकी संभावना अधिक है । पाठक इन दो शब्दोंका परस्पर महत्व पूर्ण संबंध देखें और वेदकी शब्द योजनाकी गंभीरता अनुभव करें ।

दूषण ।

इस सूक्तमें ' दूषण, दूषि ' इन शब्दोंका प्रयोग विलक्षण अर्थमें हुआ है । देखिये-

दूष्णन्ध दूषण -विशुद्धको विभाजनेवाला
 कृत्वा दूषि -कृत्वाको दोष लगानेवाला
 अराति दूषि -अराति को दोष लगानेवाला

पाठक स्पष्ट देखिये देखिये तो उनके इस शब्द प्रयोगमें यह बात स्पष्ट दिखाई देगी, कि 'शत्रुमें दोष उत्पन्न करना ' यहाँ सूचित किया है । कई करते हैं कि शत्रुको मारो काटो या शत्रुका नाश करो । वेदमें भी शत्रुका नाश करनेका उपदेश कईबार किया है । परंतु यहाँ दूषी शब्दका उपदेश शत्रुको दूर करनेके विषयमें किया है । शत्रुमें दोष उत्पन्न करना, शत्रुमें हीनता उत्पन्न करना, शत्रुकी कार्यवाही में दोष उत्पन्न करना । जिस समय शत्रुका शीघ्र नाश नहीं होना है उस समय अनेक उपायोंसे शत्रुके अंदर दोषोंको बढ़ानेके शत्रुका बल घटता जाता है और अपना बल बढ़ता जाता है । यह जितना व्यक्तिगत रोगोंके विषयमें सत्य है उतनाही सामाजिक और राष्ट्रीय शत्रुओंके विषयमें भी सत्य है, शत्रुमें दोष उत्पन्न करनेसे योंसे प्रयत्नये शत्रुका पराभव होता है और अपने लिये विजय प्राप्त होता है ।

यह मणि शरीरपर धारण करनेसे शरीरके जो रोगादि शत्रु हैं उनकी शक्ति दोष उत्पन्न होता है, इससे उन शत्रुओंको शक्ति क्षीन होती जाती है और अपना बल बढ़ता जाता है ।

यह शरीरके क्षेत्रका उपदेश पाठक राष्ट्रके क्षेत्रमें देखिये तो उनके राजनीतिके शत्रुदमन विषयक एक बड़े सिद्धांत का ज्ञान हो सकता है ।

अग्नि ।

वेद मंत्रोंमें ' अग्नि ' शब्द विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। कई स्थान पर इसका अर्थ है ऋषि, कई स्थानपर राक्षस और इस सूक्तमें यह एक रोग विशेषका नाम है । इतने भिन्न अर्थोंमें इसका उपयोग होनेसे इसके विषयमें पाठकोंके मनमें संदेह होने संभव है, इसलिये इस विषयमें थोडासा लिखना लावश्यक है ।

' अद् ' (खाना) इस धातुसे यह शब्द बनता है इसलिये इसका अर्थ ' भक्षक ' है । दूसरा ' अत् ' (भ्रमण करना) इस धातुसे बनता है, इस समय इसका अर्थ भ्रमण करनेवाला होता है । पहिला अर्थ हमने इससे पूर्व दिया है । यहाँ यह अग्नि शब्द रोगवाचक होनेसे भक्षक रोग क्षयवा भस्म रोग एका क्रिया है, जिसमें रोगी अन्न बहुत खाता है परंतु कुरा होता जाता है । दूसरा अग्नि शब्द ' भ्रमण करनेवाला ' यह अर्थ बताता है, यह अर्थ रोगवाचक होनेकी अवस्थामें पागल का वाचक हो सकता है । मूर्ख मनुष्य जो मस्तिष्क बिगड़ जानेसे पागल होजाता है, कारण के बिना भी वह भटकता रहता है इस लिये इसका वाचक यह शब्द होसकता है । इससे यह भी सिद्ध होगा कि यह जांगिदमणि मस्तिष्क बिगड़ जानेके रोगमें भी दितकारी होगा । परंतु पाठक यहाँ स्मरण रखें कि यह केवल द्युरपात्तीकी बात है, इसलिये वैद्यशास्त्रमें इसका बहुत प्रमाण नहीं होसकता, जबतक कि मनुभवसे जांगिद मणिना यह उपयोग सिद्ध न हो । तथापि यह अर्थ जांगिदमणिकी खोज करनेमें सहायक होगा इसलिये यहाँ दिया है । वचाके गुणधर्मोंमें स्मृतितर्पिनी और चन्मादनाशनी ये दो गुण इस अर्थके घाषक हैं, यह खोजके समय ध्यानमें धारण करने योग्य है ।

इस प्रकार यह सूक्त महर्षव पूर्ण अनेक बातोंका वर्णन कर रहा है । पाठक विचार करते रहेंगे तो उनको इस रीतिसे बड़ा बोध प्राप्त हो सकता है ।



क्षत्रिय का धर्म ।

(५)

(ऋषिः-भृगुः आथर्वणः ; देवता-इन्द्रः)

इन्द्रं जुषस्व प्र वृहा याहि शू हरिभ्याम् ।
पिषां सुतस्य मतेरिह मघोश्चकानश्चारुर्मदाय ॥ १ ॥

इन्द्रं जठरं नव्यो न पूणस्व मघोर्दिवो न ।
अस्य सुतस्य स्वर्णोपं त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥ २ ॥

इन्द्रं स्तुरापाग्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न ।
विभेदं वलं भृगुर्न संसहे शत्रुन्मदे सोमस्य ॥ ३ ॥

आ त्वा विशन्तु सुतासं इन्द्र पूणस्व कुक्षी विद्धि शंक्र धियेहा नः
श्रुधी हवं गिरो मे जुषस्वेन्द्रं स्वयुग्भिर्मस्वेह महे रणाय ॥ ४ ॥

अर्थ— हे शूर इन्द्र ! (जुषस्व) तू प्रसन्न हो, (प्र वृह) आगे बढ़ ! (हरिभ्यां वा पाहि) घोड़ोंके साथ तू यहाँ भा । (चकानः) तूट होता हुआ तू (मदाय) हर्षके लिए (इह) यहाँ (मतेः) बुद्धिमान् पुरुषका (सुतस्य मघोः चारुः) निचोटा हुआ मधुर सुंदर रस (पिब) पिओ ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! (नव्यः न) प्रसंसीयके समान और (स्वः न) स्वर्गाय आनंद के समान (मघोः जठरं पूणस्व) इस मधुर रससे अपना पेट भर दो । [अस्य सुतस्य] इस निचोटे रसकी (स्वः न) स्वर्गके आनंदके समान सुखी और (सुवाचः मदाः) उत्तम भाषणोंके साथ आनंद (त्वा उप अगुः) तेरे पास पहुँचते हैं ॥ २ ॥

(यतीः न) बल करनेवाले पुरुषके समान (यः स्तुरापाट् मित्रः इन्द्रः) जिस त्वासे शत्रुपर हमला करनेवाले मित्र इन्द्रने [वृत्रं जघान] घेरनेवाले शत्रुका नाश किया था, तथा [भृगुः न] भूतनेवालेके समान जिसने [वलं विभेद] शत्रुके बलका भेद किया था और (सोमस्य मदे) सोमरसके आनंदमें (शत्रुन्सहे) शत्रुओंका पराभव किया था ॥ ३ ॥

हे [शक्र इन्द्र इन्द्र] शक्तिमान् प्रभु इन्द्र ! (सुतासः त्वा वा विान्तु) निचोटे हुए ये रस-तुलामें प्रविष्ट हों । (कुक्षी पूणस्व) दोनों कुक्षियोंको तू भर और [विद्धि] शासन कर [धिया नः आ—इहि] अपनी बुद्धिसे तू हमारे पास आ । हमारी (हवं श्रुधि) पुकार सुन, (मे गिरः जुषस्व) मेरा भाषण स्वीकार कर । और [इह] यहाँ [महे] रणाय) बड़े युद्ध के लिए (स्वयुग्भिः) अपनी घोड़नामोंके साथ (आ मस्व) हर्षित हो १ ४ ॥

भावार्थ— हे शूर वीर ! तू सदा प्रसन्न और आनंदित रह और उन्नतिके मार्गसे आगे बढ़ । अपने उत्तम घोड़ोंसे युक्त रथमें बैठकर इधर उधर जा । और सदा संयुष्ट रहता हुआ अपने हर्षको बढ़ानेके लिये बुद्धि वर्षक मधुर रसका पान कर ॥ १ ॥

हे शूरवीर ! प्रसंसा के योग्य और हर्ष बढ़ानेवाले मधुर रससे अपना पेट भर, ऐसा करनेसे ही उत्तम प्रसंसाकी वाणी ही तेरे पास सब ओरसे पहुँचेगी अर्थात् सब तेरी प्रसंसा करेंगे ॥ २ ॥

पुरुषार्थों, उद्यमों पुष्टिके समान प्रयत्नशील और धार्मिकके साथ शत्रु पर हमला करनेवाला शूरवीर अपने शत्रुका नाश धीमे करता है । त्रिध प्रकार भूतनेवाला मनुष्य धान्योंको भूतता है, उसी प्रकार यह शूरवीर शत्रुकी सेनाको भूत देता है और चीनरस का पान करता हुआ हर्षित और उत्साहित होकर शत्रुकी पराजय करता है ॥ ३ ॥

इन्द्रस्य नु प्रा वीचं वीर्याणि यानि चकार प्रथमार्नि वृजी ।

अहन्नाहिमन्वपस्तर्तुं प्र वृक्षणा अभिनृत्पर्वतानाम्

॥ ५ ॥

अहन्नाहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वर्षारमै वर्जं स्वर्ष्यं ततस ।

वाधा इव धेनवः स्पन्दमाना अजंः समुद्रमवं जग्मुरारपः

॥ ६ ॥

बुधायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेभ्यपिबत्सुतस्य ।

आ सायकं भृधर्वादच वज्रमहंभेनं प्रथमजामर्हीनाम्

॥ ७ ॥

अर्थ—(इन्द्रस्य वीर्याणि नु प्रवीचं) इन्द्रके पराक्रम में अरुणी प्रकार वर्णन करता हूँ । (यानि प्रथमार्नि) जो पहिले सेनाके पराक्रम [वृजी प्रकार] वृक्षवारी इन्द्रने किये थे । उसने [अहं अहन्] कम न होनेवाले शत्रुका नाश किया, और [अणः अणुतर्तुं] प्रवाहोंसे छुटा किया और [पर्वतानां] पर्वतोंके (समाप्तः प्र अभिनृत्) जगल छोड़ कर दिये ॥ ५ ॥ (पर्वते शिश्रियाणं अहिं) पर्वतके आश्रयसे रहनेवाले शत्रुको (अहन्) बध किया । [अरमै] इसके किये (वाधा इव धेनवः) क्षीरगर्भने तेज धरु बना दिया था । (वाधा धेनवः इव) रंभाठी हुई गौवोंके समान (स्पन्दमानाः वापः) वेगसे बढ़नेवाले चलनवाह (वज्रः समुद्रं अवजग्मुः) सीधे समुद्रतक जा पहुँचे ॥ ६ ॥

(बुधायमाणः) बलवान् वीर [सोमं अवृणीत्] सोम रसको प्राप्त हुआ । (सुतस्य त्रिकद्रुकेषु अपिबत्) रसका हीम उच्छ खाओमें पान किया । (सायकं वज्रं आ अहन्) इन्द्रने वाण रूप वज्र किया और (अर्हीनां प्रथमजानां पुत्रं अहन्) शत्रुओंके पहिले इस वीरको मार बाधा ॥ ७ ॥

भावार्थ— हे शक्तिमान् शूरवीर । जब मधुर रस तुम्हें प्राप्त हो और उससे तु अपना अपना पेट भर दे । उस समय तु अपने मनसे सब अन्यायी भलाईका विचार कर और उन की पुकार धरन कर तथा बड़े बोधनकृत्य में विजय प्राप्त करनेके लिये अपनी शक्ति शक्तिवोंके साथ आनन्दसे तैयार रह ॥ ४ ॥

शूर पुत्रके पराक्रमों का मैं वर्णन करता हूँ, जो कि उन्होंने किये थे । बढ़नेवाले शत्रुका उसने नाश किया और बड़े प्रवाह धरके लिये छूले कर दिये, तथा पर्वतोंके भागोंको तोड़कर खंगरु भी धाक किया ॥ ५ ॥

पर्वतके भागोंपर छिपकर रहनेवाले शत्रुओंका उन्होंने बध किया, ऐसे शूरके लिये क्षीरगर्भने विशेष प्रकारके ताँड़न शर तैयार कर दिये थे । जिस प्रकार गौवें रंभाठी हुई अपने बछड़ेके पास जाती हैं उसी प्रकार उस गौने खुले किये हुए बछड़ेके प्रवाह समुद्रतक जा पहुँचे ॥ ६ ॥

अपना बल बढ़ानेवाला शूरवीर सोमरस का पान तीन समय और तीन स्थानोंमें करता है । धनी शूरवीर अपने शर बना तैयार रखता है और अपने शरके शत्रुके अभागामा वीरका धीम नाश करता है [और इस रीतिसे अपना विजय प्राप्त करता है] ॥ ७ ॥

स्वाधर्म ।

मास्यः इन्द्र सूक्ष्मं क्षत्रियधर्मं ब्रूयात् होता है । इन्द्र शब्द मुख्यतः शत्रुका नाश करनेवाले शूरवीरका योद्धक है और उचक्र वर्णने शूरवीरके स्वाधर्मका प्रकाशक होता है । इस सूक्ष्ममें भी पाठक उक्त बात देख सकते हैं । इस सूक्ष्ममें जिन शब्दों द्वारा शूरवीर का वर्णन होकर स्वाधर्मका प्रकाश हुआ है, उन शब्दोंका अर्थ देखिये—

क्षत्रियके गुण ।

१ इन्द्रः (इन्द्र) = शत्रुका नाश करनेवाला, शत्रु वैश्याका नाश करनेवाला । (सं. १)

२ शूरः = शूरवीर । (सं. १)

३ अकानः = वृष, संवृष्ट, तेजस्वी, प्रबलमान । शत्रुका प्रतिकार करनेमें समर्थ । (सं. १)

४ मित्रः = जनताका मित्र, जनताका हित करनेवाला । सर्वप्रकाशमान । (मं. ३)

५ यतीः = प्रयत्नशील, पुरुषार्थी । (मं. ३)

६ शत्रुः = भूतनेवाला, शत्रुकी भूतनेवाला । (मं. ३)

७ सुरापांडू = त्वरासे शत्रुपर हमला चढानेवाला । (मं. ३)

८ शक्रः = समर्थ, शक्तिशाली, बलवान् । (मं. ४)

९ वज्री = वज्र आदि शस्त्रोंसे युक्त । (मं. ५)

१० वृषापमाणः = अपना बल प्रतिदिन बढ़ानेवाला, अपनी शक्ति सब प्रकारसे बढ़ानेवाला । (मं. ७)

११ मघवा (मघवान्) = धनवान् (मं. ७)

ये शब्द इत्येव सूत्रेण शूरवीर क्षत्रियके वाचक हैं । इन शब्दोंसे क्षत्रियके कर्तव्योंका भी बोध होता है । क्षत्रियके पाच कौर्ये कौर्ये पराक्रम आदि गुण जैसे चाहिये उसी प्रकार पुनः पुनः प्रयत्न करनेका गुण और बगसे शत्रुपर हमला चढानेका भी गुण अवश्य चाहिये । शत्रुसे अपना बल अधिक रखनेकी तैयारी भी क्षत्रियको करनी चाहिये, और इस सबके लिये उसके पाच विपुल धन भी चाहिये, इत्यादि क्षत्रियधर्मका ऋपदेश हमें यहाँ प्राप्त होता है । पाठक इस दृष्टिसे इन पदोंका विशेष मनन करे । अब वाक्यों द्वारा ओ क्षत्रियके कर्म इन मंत्रोंमें वर्णन हुए हैं उनका विचार देखिये—

क्षत्रियके कर्तव्य ।

१ शूर ! हरिभ्यां आयाहि = हे वीर ! घोड़ोंपर सवारी कर । घोड़ोंकी सवारी करनेका अभ्यास क्षत्रियको करना चाहिये । (मं. १)

२ म वह = आगे बढ़ । क्षत्रियकी ऐसी तैयारी चाहिये कि जिससे वह शीघ्रतासे आगे बढ़ सके । चढाई में सिकार्य न रहे । (मं. २)

३ वृष्टं ज्वान = घेरनेवाले अगवा ब्यूह बांधकर चढाई करनेवाले शत्रुका नाश करनेमें समर्थ क्षत्रिय हो । (मं. ३)

४ बलं विभेद = शत्रुके बलका भेद करे, शत्रुकी सेनामें भेद बसन्न करे, शत्रुकी सेनाकी संघशक्ति नष्ट करे, उस शत्रुसेनाको तितर बितर करे । (मं. ३)

५ शत्रून् ससहे—शत्रुका पराजय करे । शत्रुके हमलेको सहे अर्थात् शत्रुके हमलेसे पीछे न हटे । (मं. ३)

६ विद्वि (वा विद्वि) = उत्तम राज्य शासन कर । राज्यशासन करना अपना कर्तव्य है ऐसा क्षत्रिय समझे । (मं. ४)

७ महते रणाय स्वयुग्मिः मत्सव = बड़े युद्धके लिए अपनी योजक शक्तियोंके द्वारा आनंदसे तैयार रहे । शत्रु जगवा करता है, तो उसके अपनी योजना और युक्तिधोसे दूर करे । (मं. ४)

८ अहिं अहन् = शत्रुका नाश करे । (मं. ५)

९ पर्वतानां नशणाः अभिनत् = पर्वतों के तपरके घने जंगल तोड़ कर शत्रु छिप कर रहनेके स्थान हटा देवे । अथवा वहाँसे बढनेवाले नदी प्रवाह रुके करे । (मं. ५)

१० अपः शत्रु तपयं = जलके प्रवाह शत्रुके अधिकार में हों तो उनको सबके लिए रुके करे । [मं. ५]

११ पर्वते शिश्रियाणं अहिं अहन् = पहाड़ियोंका आश्रय करके लहनेवाले शत्रुका नाश करे । [मं. ६]

१२ अस्मे त्वथा स्वयं वज्रं तपय = इसके लिए लुहार तीक्ष्ण शस्त्र तैयार करके दे । अथवा राजा अपने कारीगरोंको शस्त्र तैयार करनेके काम में नियुक्त करे और आवश्यक शस्त्र तैयार करके ले । [मं. ६]

१३ तापकं वज्रं वा अहन् = बाण और वज्र आदि शस्त्र हाथमें लेवे । [मं. ७]

१४ अहीनां प्रथमज्ञां एतं अहन् = बढनेवाले शत्रुके मुख्य मुख्य वीरोंका अर्थात् सेनानायकोंका नाश करे । [मं. ७]

ये वाक्य क्षत्रियके कर्तव्य बता रहे हैं । इनकी विशेष व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये वाक्य स्वयं स्पष्ट हैं और मोक्षके मननसे इनका आशय ध्यानमें आ सकता है ।

सब राज्यशासन विषयक कर्तव्योंकी सूचना करनेवाले वाक्योंको देखिए—

राज्य शासन ।

१ मित्रः—प्रजाओंका मित्र बन कर राजा राज्य करे । कभी शत्रु बनकर राज्य न करे । [मं० ३]

२ हवं धुधि, गिरः उपस्व—पुकार सुन, वाणीका स्वीकार कर अर्थात् प्रजाकी आज्ञा श्रवण कर । प्रजाकी इच्छाका आदर कर । [मं० ४]

३ अयः अन्वः समुद्रं अयजग्मुः—समुद्रतक बढ़ने वाले नहर चलावे और उससे कृषिकी सहायता करे । [मं० ६]

इस प्रकारका राज्यशासन केवल प्रजाके हितकी दृष्टि करनेके लिए जो क्षत्रिय करता है, उसीको प्रजा प्रशंसा करती है, इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र भाग देखिए—

प्रजासे सन्मान ।

१ त्वा मदाः सुवाचः उप अयुः—तेरे पास हर्षकी उत्तम वाणी पहुँचती है अर्थात् हर्षित और आनन्दित हुई प्रजा अपने ही उत्तम वाणीसे प्रशंसा करती है । कृतज्ञतासे संमान करती है । मानपत्र अर्पण करती है । [मं० २]

प्रजा आनन्दित होनेके पश्चात् ही उत्तम राजाकी इस प्रकार प्रशंसा कर सकती है । अन्यथा प्रस्त हुई प्रजा राजाकी निंदा या राजाका द्वेष करती रहेगी । इस प्रकार राजाके अथवा क्षत्रियके राष्ट्रिय कर्तव्य क्या हैं, इस विषयमें इस सूक्तने उपदेश दिया है । यहाँ ऊपर जो वाक्य उद्धृत किए हैं, उनमें अर्थकी सुबोधताके लिए शब्दोंके अर्थोंका पुरुषभ्यत्यय करके योद्धाश परिवर्तन जानबूझ कर दिया है । यह बात संस्कृतश पाठक स्वयं जान सकते हैं । इतना परिवर्तन इस प्रकारके स्पष्टीकरणमें आवश्यक ही होता है । इसलिए इस विषयमें कुछ न लिखकर अथ क्षत्रियका व्यक्तिगत आचार भोग आदि केषा रहना चाहिए इस विषयमें इस सूक्तका उपदेश देखते हैं—

भोग ।

१ मयस्य मघोः मदाय पिब—घोमादि वनस्पतिसे निचोड़े मधुर रसका पान हर्षके लिए कर । [मं० १]

इस विधानमें मधुर रसका पान करनेका उपदेश है । यही मधुरक प्रदान है । वनस्पतिमें सोम मुख्य है । इसका प्रहण करनेसे अन्य आरोग्य और हर्षवर्धक वनस्पतियों का प्रहण स्वयं हुआ है । इस सूक्तके छतम मन्त्रमें सोम का नाम है और वहाँ इस मंत्रसे संबंधित है । इस सूक्तमें इसके उल्लेख निम्न लिखित हैं—

२ सुवस्य मघोः जठरं पूणस्व । (मं० २)

३ सुवाचः त्वा कुक्षीः आविशान्तु । [मं० ४]

४ सुवस्य सोमं शिकद्भकेषु अपिबत् । (मं० ७)

इन मंत्र भागोंका भी बही भाव है । [२] सोम रसके पीठ भर दे । [३] सोम रस से दोनों कुक्षियों भर दे, [४] निचोड़ा सोम रस तीन बर्तनों द्वारा तीन स्थानोंमें बैठ कर दिनमें तीन बार पिओ । यह सोम रस मधुर रसिवाला, हर्ष और उत्साह वर्धक, पक्कावटको दूर करनेवाला, दीर्घ आयुष्य देनेवाला, मुद्दि बढानेवाला, और रोग बीजोंको शरीरसे हटाने वाला है ।

सोम और मघ

वेद प्रणालीके अनभिज्ञ लोग सोम को शराव मानते हैं, वे इतनी भूल करते हैं, कि उससे अधिक भूल कोई भी कर नहीं सकता । घोम, सुरा, वाग्नी, आशव, अरिष्ट, मघ और शराव ये शब्द समानार्थक नहीं हैं । मघ और शराव ये शब्द समानार्थक हो गये हैं और सुरा शब्द भी उनमें संमिलित हुआ है, यह बात हमें पता है । इसलिए हम कहते हैं, कि इन शब्दोंका आशय पाठक अवश्य स्मरण रखें -

१ सोम = सोम बन्नीका रस, जो दूध, मधु (शहद), मिथ्री, भूले घान्यका भाटा, दही आदि अनेक पदार्थोंके मिश्रणके साथ अच्छा स्वादिष्ट पेय बनाकर पीया जाता है और गौ आदि पशुओंको भी खिलाया जाता है। यह पनस्पतियोंका केवल रस होता है। इसके गुण ऊपर दिए हैं।

२ सुरा = किसी रसकी भांष बना कर फिर उसका स्रोतता देकर रस बनाया जाय, तो उसका यह नाम है। (Distilled water) पानीकी भांष बनाकर फिर उस भांष का पानी बन जानेसे भी उस जलका यह नाम होता है, शुद्धजल का भी यही नाम उस कारण ही है, क्योंकि भूमि परके जलकी भांष होकर मेघ बनते हैं और उससे वृष्टि होती है। किसी भी रसकी इस प्रकार शुद्धि होती है। यह शुद्धिकी रीति है। आजकल इस रीतिसे शराब बनाते हैं, इसलिए इस नामकी खराबी हुई है, यह बात सामयिक है। वास्तव में संस्कृतका केवल सुरा शब्द उक्तविधिसे बनाये परिशुद्ध जल या रस का वाचक है।

३ बाणनी, अमरवाहणी = ये भी शब्द उक्त प्रकारके रसोंके या जलके वाचक हैं। इन पद्योंमें मादकता या दुर्गुण वास्तवमें नहीं है। परंतु आजकल इस रीतिसे शराब बनती है इसलिए ये सब नाम सुरे अर्थात् आजकल प्रयुक्त हुए हैं। प्राचीन समयमें भी क्वचित् सुरे और क्वचित् अरुचे अर्थात् इनका उपयोग दिखाई देता है।

४—५ आसव और आरिष्ट = ये नाम औषधि पद्योंके होते हैं। इनमें कुछ सजावट होनेके कारण मद्य तत्पक्ष होना अग्र-रिहाय है, तथापि इनमें मद्यकी मात्रा प्रति घातक दो भागके शरीर होती है। इसलिए शराबमें इसकी गिनती नहीं होती।

अग्निज सरकारने हनकी जांच करके निश्चय किया है, कि यह मद्य नहीं है। इधानिए देखी वैय ये आसव तथा आरिष्ट तैयार कर सकते हैं, अन्यथा सरकारी प्रतिबंध उनके पीछे लग जाता।

६—७ मद्य और शराब मादक होनेसे निःशुद्ध सुरे हानिकारक पद हैं।

पाठक इस विवरणसे समझ गये होंगे कि सोममें दोषकी कल्पना अथवा मद्यकी कल्पना यत्किंचित् भी नहीं हो सकती, दिनमें तीन बार रस निचोटा जाता है और उसी समय आहुतियां देकर पीया जाता है। सबेरे, दोपहरकी और सायंकालको, रस निचोटा और पीना होता है, उषका वर्णन इस सूक्तके सप्तम मंत्रमें आनुका है। इसलिए जो लोक घोररस की सुरा मानते हैं वे ही उक्त मत मद्यकी धुंदमें कहते हैं, ऐसा यदि किशाने कहा तो वह अशुद्ध न होगा।

इस सूक्तमें क्षत्रियका भोजन वनस्पतिका मधुर रस है यह बात स्पष्टतासे कहा है, जो शाकाहारकी पुष्टि करनेवाली है।

जीवन संग्राम ।

वेदमें “ मइते रणाय ” ये शब्द बारंबार आते हैं। “ बड़ा युद्ध ” चल रहा है, सावध रहकर अपना कर्तव्य करो, यह वेदका उपदेश जीवन संग्राममें बहनेवाले मनुष्य मात्रको मार्गदर्शक है। प्रत्येक मनुष्य सदा युद्धभूमिपर खड़ा है, किसी न किसी प्रकारके युद्धमें संमिलित हुआ है, उसकी इच्छा हो या न हो उसको युद्धमें रहना ही पड़ता है, फिर वह भागकर कहाँ जाय ? इस लिए उसको अपने युद्धका स्वरूप जानना चाहिए और उस संबंधसे उत्पन्न होनेवाला अपना कर्तव्य अवश्य करना चाहिए। अन्यथा उसका जन्म निरर्थक हो जायगा। चाहे वह अहिंसावृत्तिसे युद्ध करे या हिंसावृत्तिसे करे, युद्धके विना उसकी स्थिति नहीं है और इस युद्धमें विजय कमाने के विना उसको उन्नति नहीं है। यह हुई सब मनुष्योंकी बात, क्षत्रिय की तो पूछना ही क्या है, उसका जीवन ही युद्ध रूप है उसको युद्ध तो अनिवार्य है।

इस प्रकार यह सूक्त क्षात्र धर्मका उपदेश करता है। पाठक इसका मनन करनेके समय प्रथम काण्डके २, १५, २९, २१, २८, २५, इन सूक्तोंकी भी ध्यानमें रखें।

(वहाँ प्रथम अनुवाक समाप्त हुआ)

ब्राह्मण धर्मका आदेश ।

(६)

(ऋषिः-शौनकः सम्पत्कामः । देवता-अग्निः)

(२) समास्त्वाप्र ऋतवो वर्षयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या ।

सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ माहि प्रदिशुयत्सः ॥ १ ॥

सं चेभ्यस्वग्निं प्र चं वर्षयेममुच्चं तिष्ठ महते सौमगाय ।

मा तै रिपद्भुपसुत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते युशसः सन्तु मान्ये ॥ २ ॥

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिषो अग्ने संवरणे मवा नः ।

सुपत्नहाग्ने अमिमातिजिद्धं स्वै गये जागृद्यप्रयुच्छन् ॥ ३ ॥

अर्थ—हे अग्ने ! (समाः ऋतवः संवत्सराः) मास ऋतु और वर्ष, (ऋषयः) ऋषि लोग तथा (यानि सत्या) जो सत्यधर्म हैं वे सब (स्वा वर्षयन्तु) तुझे बडावें । (दिव्येन रोचनेन) दिव्य तेजसे (दीदिहि) उत्तम प्रकार प्रकाशित हो और [विश्वाः चतस्रः प्रादिदाः] सब चारों दिशाओं में [आ माहि] प्रकाशित हो ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (सं ह्यस्व) उत्तम रीतिसे प्रज्वलित हो [च इमं प्र वर्षय] और इमको बहुत बडावो । (च महते सौमगाय उच्छिष्ठ) वड़े ऐश्वर्यके लिये उठकर खडा रह । हे अग्ने ! (ते उपसचारः) तेरे उपासक [मा रिपद्] नष्ट न हों । और (ते ब्रह्माणः) तेरे पास रहनेवाले ब्राह्मण (यशसः सन्तु) यशसे युक्त हों [आ अन्ये] दूसरे नहीं ॥ २ ॥

हे अग्ने ! [इमे ब्राह्मणाः स्वा वृणते] ये ब्राह्मण तेरा स्वीकार करते हैं । हे अग्ने ! (नः संवरणे शिवः मवा) हमारे स्वीकार में तू शुभ हो । हे अग्ने ! [सुपत्नहा अमिमातिजित भव] वैरियोंका नाश करनेवाला तथा अमिमानियोंको जीतनेवाला हो, तथा [न—प्रयुच्छन्] भूल न करता हुआ (स्वै गये जागृद्यि) अपने धर्ममें जागता रह ॥ ३ ॥

भाषार्थ— हे तेजस्वी प्रदा कुमार ! महिने ऋतु और वर्ष अर्थात् काल, ऋषि लोग अर्थात् तत्त्वदर्शी विद्वान् और जो सब सत्यधर्म नियम हैं वे सब तुझे बडावें, इस प्रकार दिव्य तेजसे युक्त होकर तू सब दिशाओंमें अपना प्रकाश फैला दे ॥ १ ॥

तेजस्वी होकर तू इस सबको वृद्धिगत कर और बड़ा सोमग्य अर्थात् ऐश्वर्य प्राप्त करनेको तैयारी करके उठकर खडा हो और तेरे कारण तेरे छाया दुर्दशाको कमी प्राप्त न हों, इतनाही नहीं परंतु तेरे सम्बन्धमें आनेवाले ज्ञानी लोग यशसे युक्त बनें और ऐसा कमी न हो कि तेरे छाया तो दुर्दशामें जाय और तेरी गलतीसे दूसरे लोग उन्नति प्राप्त करें ॥ २ ॥

ये ज्ञानी लोग तेरा सम्मानके स्वीकार करते हैं, इसलिये तू शुभ विचारवाला हो । तेरे जो भी वैरो हैं और जो तेरे साथ स्पर्धा करनेवाले हैं, उनको जीत कर तू अपने बड़ और कमी भूल न करते हुए अपने स्थानमें जागता रह ॥ ३ ॥

क्षत्रेणाग्निं स्वेन सं रमस्व मित्रेणाग्निं मित्रघा यंतस्व ।

सजातानां मध्यमेष्टा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह

॥ ४ ॥

अति निहो अति सृधोऽत्यचिंत्नीरति द्विष्यः ।

विश्वा ह्यग्निं दुरिता तरं त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः

॥ ५ ॥

अर्थ- हे अग्ने ! (स्वेन क्षत्रेण) अपने क्षात्रतेजसे (सं रमस्व) धराम प्रकारसे बरसाहित हो । हे अग्ने ! (मित्रेण मित्रघा यतस्व) अपने मित्रके साथ मित्रकी रीतिसे व्यवहार कर । हे अग्ने ! (सजातानां मध्यमे-स्याः) सजातीयोंकी मंडलीमें मध्यस्थानमें बैठनेवाला होकर [राज्ञां वि-हव्यः] क्षत्रियोंके बीचमें भी विशेष आदरसे बुलाने योग्य होकर [इह दीदिहि] यहाँ प्रकाशित हो ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! [निहः अति] मारपीट करनेके भावका अतिक्रमण कर, [सृधः अति] हिंसक वृत्तियोंका अतिक्रमण कर, (अ-चिन्तीः अति) पापी वृत्तियोंका अतिक्रमण कर, (द्विष्यः अति) द्वेष भावोंका अतिक्रमण कर । हे अग्ने ! (विश्वा दुरिता तर) सब पापवृत्तियोंको पार कर । (अथ त्वं) और तू [अस्मभ्यं] हम सबके लिए [सहवीरं रयिं दाः] धीर पुरुषोंके साथ रहनेवाला धन दे ॥ ५ ॥

भावार्थ-अपना बल बढ़ाकर सदा उत्साह धारण कर, मित्रके साथ मित्रके समान घोषा व्यवहार कर, अपनी जातीमें प्रमुख स्थानमें बैठनेका अधिकार प्राप्त कर, इतनाही नहीं परंतु राजा लोग भी सलाह पढ़नेके लिये तुम्हें आदरसे बुलावें ऐसी तू अपनी योग्यता बढ़ा और यहाँ तेजस्वी बन ॥ ४ ॥

मारपीट अथवा धातपातके भाव दूर कर, मासक या हिंसक वृत्ति हटा दे, पापवासनाओं को अपने मनसे हटा दे, द्वेष भावोंको समाप्त न कर, तारपत्य सब हीन वृत्तियोंके परे जाकर अपने आपको पवित्र बनाओ, और हमारे लिये ऐसी संपत्ति लाओ, कि जिसके साथ सदा धीरभाव होते हैं ॥ ५ ॥

अधिका स्वरूप ।

अथर्ववेद काण्ड १ सू० ७ की व्याख्याके प्रसंगमें 'अग्नि कौन है' इस प्रकरणमें अग्नि पद ब्राह्मण अर्थात् ज्ञानी पुरुष का वाचक है यह बात विशेष स्पष्ट की है । पाठक कृपा करके वह प्रकरण यहाँ अवश्य देखें । उस प्रकरणसे अधिका स्वरूप स्पष्ट होगा तथात्त आगिका वर्णन करते हुए दस सूक्तों जो शब्द प्रयोग किये हैं उनका विचार देखिये-

हे अग्ने ! त्वं सजातानां मध्यमेष्टाः राज्ञां विहव्यः इह दीदिहि ॥ (मं० ४)

'हे अग्ने ! तू अपनी जातिमें मध्य स्थानमें बैठनेकी योग्यता धारण करनेवाला और राजा महाराजाओं द्वारा विशेष आदरसे बुलाने योग्य होकर यहाँ प्रकाशित हो ।'

यह वाक्य इस मंत्रमें या इस सूक्तमें प्रतिपादित अग्नि केवल भाग ही नहीं है, परंतु वह मनुष्यरूप है यह बात सिद्ध करता है । 'सजातानां समामं प्रमुख स्थानमें बैठनेवाला (सजातानां मध्यमेष्टाः) ये शब्द तो मिःधेदेह उसका मनुष्य होना सिद्ध करते हैं । तथा इधी मंत्रके ' (राज्ञां विहव्यः) राजाओं या क्षत्रियों द्वारा विशेष प्रकारसे बुलाने योग्य ' ये शब्द उसका क्षत्रियजातिते मित्र जातीय होना भी अंध मात्रसे सूचित करते हैं । क्षत्रिय जातिसे भिन्न, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र और निषाद ये चार जातियाँ हैं । क्या कभी क्षत्रिय अपनेसे निचली जातीका सहसा वैधा समादर कर सकते हैं ! इस प्रश्न का मनन करनेसे यहाँ इच्छा संभव दीसता है, कि यहाँ जिसका वर्णन हुआ है वह ब्राह्मण वर्णका मनुष्य ही होगा । अर्थात् इस सूक्तका अग्नि शब्द ब्राह्मण वाचक है । यह बात अथर्ववेद प्रथम काण्ड सू० ७ की व्याख्याके प्रसंगमें बताया है और उधी बातकी सिद्धि इस सूक्तके इस वाक्य द्वारा होगी है । इस प्रकार यहाँका अग्नि शब्द ब्राह्मण का वाचक है, किंवा यह कदना अधिक सत्य होगा, कि 'ब्राह्मण कुमार' का वाचक है । ब्राह्मण कुमार को इस सूक्त द्वारा बोध दिया है । वेदमें अग्नि देवताके सूक्तों द्वारा ब्राह्मणधर्म और इन्द्र देवताके

सूक्तोद्धार सात्रियधर्म विशेषतया बताया जाता है, यह बात पाठकोंने इस समय तक कई बार देखी है, इसलिये अब इस विषयमें अधिक करनेकी आवश्यकता नहीं है। अब आदि शब्दका यह भाव ध्यानमें धारण करके इस सूक्तके वाक्य देखिये—

दीर्घ आयु ।

१ हे अग्ने ! त्वांसमाः ऋतवः संवत्सराः च वर्धयन्तु—हे माया कुमार ! हे बालकी महिने ऋतु और वर्ष तेरा संवर्धन करे अर्थात् उत्तम दीर्घ आयुष्यके युक्त हो। योगादि साधनोंसे ऐसा यत्न कर कि तेरी आयु दिन के पिछे दिन, मास के पीछे मास, ऋतु के पीछे ऋतु और वर्षके पीछे वर्ष इस प्रकार बढ़ती रहे। (मं० १)

ज्ञान प्राप्ति ।

२ ऋषयः त्वा वर्धयन्तु—ऋषिलोग विद्याके उपदेशसे तुझे बढावे। अर्थात् ऋषि प्रणालीके अनुसार अध्ययन करता हुआ तू ज्ञानी बन। [मं० १]

सत्यनिष्ठा ।

३ याभि सत्यानि तानि त्वा वर्धयन्तु—जो सब सत्य धर्म नियम हैं, वे सब तुझे बढावे। अर्थात् तू सत्य धर्मनिष्ठाका उत्तम प्रकारसे पालन कर और सत्यके बलसे बलवान् हो। सत्यपालनसे ही आत्मिक बल बढ़ता है। (मं० १)

अपने तेजका वर्धन ।

दिव्येन रोचनेन सद्दीदिदि—दिव्य तेजसे पहिले स्वयं प्रकाशमान हो। पूर्वोक्त तीनों उपदेशों द्वारा तीन बल बढ़ानेकी सूचना मिली है, (१) दीर्घ आयुष्य और निरोग शरीरसे शारीरिक बल, (२) ऋषि प्रणालीके अध्ययनसे ज्ञानका बल और (३) सत्यपालनसे आत्मिक बलके प्राप्ति होती है। इन तीनोंका मिल कर जो तेज होता है वह दिव्य तेज कहलाता है। यह दिव्य तेज सचसे प्रथम अपने अंदर बढ़ाना चाहिये, जिससे यह दिव्य तेज दूसरोंको देनेका अधिकार अपने अंदर आ सकता है। (मं० १)

तेजका प्रकार ।

५ विद्याः चतस्रः प्रदिशः आभादि—सब चारों दिशाएँ प्रकाशित करो। उक्त तीन तेजोंसे स्वयं युक्त होकर चारों दिशाओंमें रहनेवाले मनुष्योंको उत्तम तेजोंसे तेजस्वी करो, अर्थात् ऐसे उपाय करो, कि जिससे चारों दिशाओंमें रहनेवाले मनुष्य उत्तम दिव्य तेजोंसे युक्त बनें। स्वयं तेजस्वी होनेके पश्चात् दूसरोंको प्रज्वलित करना आवश्यक है। अर्थात् स्वयं दीर्घायु और बलवान बनकर उसकी-मिदिके मार्ग दूसरोंको बताओ, स्वयं ज्ञानी बनकर दूसरोंको ज्ञानी करो और स्वयं सत्यनिष्ठासे आत्मिक शक्ति युक्त होकर दूसरोंमें आत्मिक बल बढ़ाओ। (मं० १)

३ सं हृष्यस्व, हृमे प्रवर्धय च—स्वयं प्रदीप्त हो और इसको भी बढाओ। पहिले स्वयं प्रदीप्त होते रहो और पश्चात् दूसरोंको प्रदीप्त करो। (मं० २)

ऐश्वर्य प्राप्ति ।

७ महते सौमगाय उरिष्ठ—बड़े ऐश्वर्यके लिये उत्कृष्ट खडा रह, अर्थात् बड़ा ऐश्वर्य प्राप्त करनेके लिए आवश्यक पुढार्य प्रयत्न करनेके उद्देश्यसे अपने आपको सदा उत्साहित और सिद्ध रखो। [मं० २]

स्वपत्नीयोंकी उन्नति ।

८ ते उपसत्तारः मा विषन्—तेरा आश्रय करनेवाले सारी अवस्थायें न गिरे। तेरा पक्ष लेनेवालोंकी, तेरे अनुगामी होकर कार्य करनेवालोंकी अवनति न हो। तू ऐसा यत्न कर कि जिससे तेरे अनुगामी दुर्गत्तों न प्राप्त हों। [मं० २]

९ ते ब्रह्माणः बदासः सन्तु, जन्ये मा—तेरे साथ रहनेवाले ज्ञानी जन यशस्वी हों, अन्य न हों। अर्थात् तेरे साथ रहनेवाले लोग यज्ञके मार्गो बनें, परंतु ऐसा कमी न हो कि तेरे साथ वाले लोग तेरी सुटीके कारण आपत्तिमें पड़े, और तेरी

गलतीके कारण तेरे प्रतिपत्नी हीं सुख भोगे । तेरी गलतीका लाभ शत्रु न सठावे, अतः सावधानीसे अपना कार्य करते हुए स्वपत्नियोंका दय्य बडाओ । [मं० ३]

१० इने ब्राह्मणाः स्वां वृणते । नः संवरणे शिवः भव—ये जनी तुझे चुनते हैं, इस चुनावमें तू सबके लिए कल्याणकारी हो । तू घदा जनताका हित करनेवाला हो जिससे सब जनी लोग विद्वांस पूर्वक तेरा ही स्वकार करें । जनताका हितकारी होकर जनताका विश्वास संपादन कर । [मं० ३]

११ सप्तमदा भूमिमातिजित् भव—प्रतिपत्नीका पराजय कर अर्थात् तू उन विरोधियोंको अपने ऊपर आक्रमण करने न दो । [मं० ३]

अपने धर्ममें जागना ।

१२ अद्रुच्छन् स्व गये जगृहि—गलती न कराता हुआ अपने धर्ममें जागता रह । अपना धर्म “ शरीर, धर्म, समाज, पत्नी, राज्य ” इतनी मर्यादा तक विस्तृत है । हर एक धर्ममें जाग्रत रहना अत्यावश्यक है । धर्मका स्वामी जाग्रत न रहा तो शत्रु धर्ममें सुखे और स्वमी को ही धर्मसे निकाल देगे । इसलिए अपने धर्मको रक्षा करने के उद्देश्यसे धर्मके स्वामीको घदा जाग्रते रहना चाहिए । [मं० ३]

उत्साहसे पुरुषार्थ ।

१३ स्वने क्षत्रेण संरमस्व—अपने क्षात्र तेजसे उत्साह पूर्वक पुरुषार्थ आरंभ कर । शत्रुका प्रतिहार करनेका बल अपने में बडाकर ससक्त अपने पुरुषार्थका आरंभ कर । [मं० ४]

मित्रभाव ।

१४ मित्रेण मित्रघा मत्स्व—मित्रके साथ मित्रके समान व्यवहार कर । मित्रके साथ कपट न कर । [मं० ४]

१५ सघातानां मध्यमेष्ठाः भव—स्वजातीयों के मध्यमें—अर्थात् प्रमुख स्थानमें बैठनेकी योग्यता प्राप्त कर । अर्थात् स्वजातीमें तेरी योग्यता हीन समझी जावे । स्वजातीके लोग तेरा नाम आदर पूर्वक लें । [मं० ४]

१६ राज्ञां वि-हृष्यः दीदिदि—क्षत्रियों अथवा राजाओंकी समामे विशेष आदरसे बुलाने योग्य बन और प्रकाशित हो । अर्थात् केवल अपनी जाती में ही आदर पानेसे पर्याप्त योग्यता हो चुकी ऐसा न समझ, परंतु राज्यका कार्यव्यवहार करनेवाले क्षत्रिय में तुझे आदरसे बुलावे, इतनी योग्यता प्राप्त कर । [मं० ४]

चित्तवृत्तियोंका सुधार ।

१७ निहः स्वघः अचिन्तीः द्विपः अति तू—सगडा करनेकी वृत्ति, हिंसाका भाव, पाप वासना और द्वेष करनेका स्वभाव दूर कर । अर्थात् इन दुष्ट मनोभावोंको दूर कर और अपने आपको इनसे दूर रख । [मं० ५]

१८ विघ्ना दुरिता तर—घब पाप भावोंकी दूर कर । पाप विकारोंसे अपने आपको दूर रख । [मं० ५]

१९ त्वं सहवीरं रविं अरमम्यं दाः—तू वीरभावसे युक्त घन हम सबको दे । अर्थात् हमें घन प्राप्त कर और साथ साथ घनकी रक्षा करनेकी शक्ति भी उत्पन्न कर । हर एक मनुष्य घन कमाने और घनकी रक्षा करनेका बल भी बडावे, अन्यथा ससक्त बलके अभावमें प्राप्त किया हुआ घन प्राप्त नहीं रहेगा ।

इस सूक्तमें उर्ध्वोप वाक्य हैं । हर एक वाक्य का भाव ऊपर दिया है । प्रत्येक वाक्य का भाव इतना सरल है कि उसकी अधिक व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है । पाठक योदाका मनन करेंगे तो उनको इस सूक्त का दिव्य उपदेश तत्काल ध्यानमें आजायगा । इस सूक्तका प्रत्येक वाक्य हृदयमें सदा जाग्रत रखने योग्य है ।

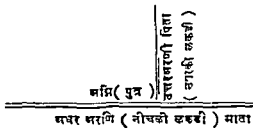
अन्योक्ति अलंकार ।

अग्निदा वर्णन या अग्निर्की प्रार्थना करनेके विषये ब्रह्मण कुमारकी उक्तिके आदेश किंप्र अपूर्व दंगसे किस् हैं, यह वेदकी आलंछारिक वर्णन करनेकी शैली यहाँ पठक ध्यानसे देखें ! यहाँ अन्योक्ति अलंकार है । अग्निके उद्देश्यसे ब्रह्मण कुमारकी उक्तिका उपदेश दिया है ।

ज्ञानी मनुष्यके हृदयकी वेदीमें जो अग्नि जलते रहना चाहिये, वह इस सूक्तमें पाठक देखें । यदि इस सूक्तके अग्नि पदका अन्योक्ति द्वारा बोध होनेवाला अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें न आया, तो सूक्तका अर्थही ठीक रीतिसे ध्यानमें नहीं आसकता । और जो केवल आग के जलनेका भावही यहां समझेंगे, वे तो इस सूक्तसे योग्य लाभ कभी प्राप्त नहीं कर सकते ।

अराणियोंसे अग्नि ।

दो अराणियों--लकड़ियों--के संघर्षनसे अग्नि उत्पन्न होता है । यज्ञमें इसी प्रकार अग्नि उत्पन्न करते हैं । अलंकारसे [अघर अराणि] नीचे वाली लकड़ी स्त्रीरूप और [उत्तर अराणि] ऊपरवाली लकड़ी पुरुषरूप मानी जाती है और वन अराणियोंसे उत्पन्न होनेवाला अग्नि पुत्र रूप माना जाता है । इस अलंकार से देखा जाय तो अग्नि पुत्ररूप है ।



यदि इस सूक्तमें सामान्यतया बालकोंको अग्नि रूप माना जाय और उन सबको इस सूक्तने वसतिष्ठ मार्ग बताया है ऐसा माना जाय, तो भी सामान्य रीतिसे चल सकता है । परंतु विशेष कर यहां का उपदेश प्राज्ञान कुमारके लिये है, इसके कारण पहिले बताये ही हैं । इस सूक्तके साथ प्रथम काण्डके ७ वें सूक्तका भी मनन काजिये ।

[सूचना--यजुर्वेद अ० २७ में इस सूक्तके पांचों मंत्र १-३, ५, ६ इस क्रमसे आये हैं । कुछ शब्दोंका पाठ भिन्न है तथापि अर्थमें विशेष भिन्नता नहीं है, इस लिए उनका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है]

शाप को लौटा देना ।

(७)

(ऋषिः—अथर्वा । देवता—मैपज्यं, आयुः, वनस्पतिः)

अथर्वा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी ।	
आपो मलमिव प्राणैर्धृत्सर्वान् मच्छुपथाँ अधि	॥ १ ॥
यथं सापत्नः शपथो जाम्वाः शपथश्च यः ।	
ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात् सर्वं तन्नो अधस्पदम्	॥ २ ॥
दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्तम् ।	
तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः ।	॥ ३ ॥
परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यदनम् ।	
अरातिनो मा तारीन्मा नस्तारिपुरभिमातयः	॥ ४ ॥

अर्थ—(अथ—द्विधा) पाप का द्वेष करनेवाली, देव—जाता) देवोंके द्वारा उत्पन्न हुई (शाप—योपनी वीरु) शाप को दूर करनेवाली औषधि (सर्वान् शापान्) सब पापोंको (मत्) मुझसे (अधि—प्र अनैक्षीत्) धो डालती है [शापः मलं इव] जल जैसा मलको धो डालता है ॥ १ ॥

[यः च सापत्नः शपथः] जो सपत्नोंका शाप, (यः च जाम्वाः शपथः) और जो जी का दिया शाप है तथा (यत् ब्रह्मा मन्युतः शपात्) और जो ब्रह्मज्ञानी क्रोधसे शाप देवे (सत् सर्वं नः अधस्पदं) वह सब हमारे नीचे हो आवे ॥ २ ॥

[दिवः मूलं अवततं] दुलोकसे मूल नीचे आया है और (पृथिव्याः अधि उच्यते) पृथिवीसे ऊपर को फैला है, (तेन सहस्रकाण्डेन) उस सहस्र काण्डवालेसे (नः विश्वतः परि पाहि) हमारी सब और से रक्षा कर ॥ ३ ॥

(मां परि पाहि) मेरी रक्षा कर, [मे प्रजां परि] मेरे संतानोंकी रक्षा कर, (नः यत् घनं परि पाहि) हमारा जो घन है उसकी रक्षा कर । (अ—रातीः नः मा तारीत्) अनुदार शत्रु हमसे आगे न बड़े और (अभिमातयः नः मा परिपुः) कुछ दुर्जन हमको पीछे न रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—वह वनस्पतिपापवृत्तिको हटाने वाली, दिव्य भावोंको बटानेवाली, क्रोधसे शाप देनेकी प्रवृत्तिको कम करनेवाली है, यह औषधी शाप देनेके मावको हमसे दूर करे जैसे जल मलको दूर करता है ॥ १ ॥

शापल भाईपैषि, बहिर्नांघे, औपुस्थोषे अथवा विद्वान् मनुष्योंके क्रोधसे जो शाप दिया जाता है वह इससे दूर हो ॥ २ ॥ इस वनस्पति का मूल तो दुलोकसे यहाँ आया है जो पृथ्वीके ऊपर लगा है; इस सहस्रों काण्डवाली वनस्पतिसे हमारा बचाव सब प्रकारसे होवे ॥ ३ ॥

मेरा, मेरी संतान का; तथा मेरे, घन ऐश्वर्य आदिका इससे संरक्षण हो । हमारे शत्रु हम सबके आगे न बड़ें और हम उनके पीछे न रहें ॥ ४ ॥

शुभारमित्तु शपथो यः सुहार्त वेन नः सह ।

चर्धुमन्त्रस्य दुर्हर्दिः पृथीरपि मृणीमसि

॥ ५ ॥

वर्ष- (शपथः शशारं पृथु) शपथ शपथ देनेवाले के पास ही वापस चलाजाये । (यः सुहार्त वेन सह नः) जो उत्तम हृदय वाला है उसके साथ हमारी मित्रता हो । (चर्धुः-मन्त्रस्य दुर्हर्दिः) आंखोंसे बुरे इशारे देनेवाले दुष्ट मनुष्यकी (पृथोः मयि मृणीमसि) पसलियां ही हम तोच देते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ- शपथ देनेवाले के पास ही उसका शपथ वापस चला जाये । जो उत्तम हृदयवाला मनुष्य हो उसके हमारी मित्रता हो । जो आंखों से बुरे इशारे करके छिप्राद मजानेवाले दुष्ट हृदय के मनुष्य होते हैं उनसे हम दूर करते हैं ॥ ५ ॥

शपथका स्वरूप । शपथको सब जानते ही हैं । गाली देना, आक्रोश करते हुये दूसरेका नाश होनेकी बात कह देना, बुरे चर्चवोचा उच्चार करना इत्यादि सब घृणित बातें इस शपथमें आती हैं । जिस प्रकार साधारण ली पुस्तक गालियां देते हैं, उसी प्रकार विद्यावान् मनुष्य भी क्रोधके समय बुरा भला कहते ही हैं । यह सब क्रोधकी लीला है । यदि क्रोध हट गया और उसके स्थानपर विचारी नात स्वभाव आगया तो शपथ देनेकी वृत्ति हट आगयी । इसलिये इस सूक्तमें 'सहस्र काण्ड' नामक वनस्पति की प्रशंसा करते हुए सूचित किया है कि, इस वनस्पतिके प्रयोगसे शपथ देनेकी क्रोधी वृत्तिको दूर किया जाय ।

दूर्वाका उपयोग । सहस्रकाण्ड वनस्पति का प्रसिद्ध नाम 'दूर्वा' है । जहां पानी होता है, उस स्थानपर इसकी बहुत उल्लेख होती है । सहस्रकाण्डके लम्बाई जोरसे यह बढ़ती रहती है । पित्तारोग, गूच्छारोग, मरिचककी अगांठि, मस्तककी गर्मी, उन्मादरोग आदिपर यह उत्तम है । इसके सेवनसे क्रोधकी उल्लेख नात होती है । इसका रस जीरा और मिर्चीके साथ पीया जाता है, याइ पादक ताजे दूध के साथ पीया जाय । शिर संतप्त होनेके समय इसकी पीसकर शिरपर घना लेप देनेसे भी मस्तक की गर्मी हट जाती है । इसलिये इस सूक्तमें कहा है कि यह वनस्पति शपथ देनेकी शोधवृत्तिके कम करतो है अथवा इसके सेवन से क्रोध कम होता है ।

प्रथम मंत्रमें इसके वर्णन के प्रथममें '(अथ-द्विष्टा) पापका द्वेष करनेवाली' यह शब्द स्पष्ट बता रहा है, कि यह दूर्वा पापवृत्तिको भी रोकती है, अर्थात् अन्याय्य इन्द्रियोंसे होनेवाले पाप भी इसके सेवनसे कम हो सकने हैं । मन ही नात हो जानेसे अन्य इन्द्रियां भी उन्मत्त नही होती, यह तात्पर्य यहां लेना है । काम क्रोध आदि दोष इसके सेवनसे कम होते हैं इसलिये संतप्त करनेकी इच्छा करनेवाले इसका सेवन करें । मन और इन्द्रियोंके मलीन वृत्तिके यह दूर करती है । इसका सेवन करनेकी कई रीतियां हैं । इसका तैल या पून बनाकर शिरपर मला जाता है, रस अंदर पीया जाता है, लेप ऊपर दिया जाता है । इस प्रकार वैद्य लोग इस विषयका अधिक विचार कर सकते हैं ।

यह पाप विचारको मनसे हटाती है, मनकी नात करती है, मनका मूल दूर कर देती है । पहिले और दूसरे मंत्रोंका यही आशय है । शपथ देना, गाली देना, आदि जो वाचाजी मलिनताके कारण दोष उत्पन्न होता है, वह इसके प्रयोगसे मेरे पांवके नांचे दब जाय, अर्थात् सब दोषका प्रभाव मेरे ऊपर न हो । यह द्वितीय मंत्रका आशय है । दूसरेने गाली दी, या शपथ दिया, तो भी उसका परिणाम मेरे मन पर न हो; और मेरे मनमें वैधा विचार कहीं न आवे; यह आशय है पांवके नांचे दोषोंके दबानेका । तीसरे मंत्रमें, यह वनस्पति स्वर्गसे यहां आगई है और भूमिसे उगी है, वह पृथोक प्रकार मनकी घातिकों स्वापना करने द्वारा मेरी रक्षा करे, यह प्रार्थना है ।

चतुर्थ मंत्रमें अपनी, अपनी संतान की और अपने घनादि ऐश्वर्यकी रक्षा इसके हो, यह प्रार्थना है । और शत्रु अपनेसे आगे न बढ़े, तथा हम शत्रुओंके पीछे न पड़ें, यह इच्छा प्रकट की गई है । इसका योद्धावा स्मृतीकरण करना चाहिये ।

मनोधिकारोंसे हानि । काम क्रोधादि सलुंखल होनेवाली मनोवृत्तियां यदि संतप्तको प्राप्त न हुईं तो वह अक्षय्य आपत्तियां लाती हैं और मनुष्यका नाश उसके परिवार के साथ करती हैं । एक ही काम के कारण कितने परिवार उध्वस्त हो गये हैं, और समयपर एक क्रोधके स्वाधीन न रहने से कितने कुटुंब मिट्टीमें मिले हैं । तथा अन्याय हीन मनोवृत्तियोंमें कितने मनुष्योंका नाश हो चुका है, इसका पाठक मनन करें, और मनमें समझें कि, मनकी अर्धव्रित वृत्तियां मनुष्यका कैसा नाश करती

। यदि एक औषधि मनको शांत कर सकती है, तो उससे परिवार और धनहीनताके शाप मनुष्यको रखा कैयी हो सकती है, यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है ।

इसके प्रयोगसे मन शांत होता है, उछलता नहीं, और मन सुविचार पूर्ण होनेसे मनुष्य आपत्तियोंसे बच जाता है । और इसी कारण मनुष्य आपका, अपने संतान का और अपने ऐश्वर्यका बचाव कर सकता है ।

यदि मन पूर्ण सुविचारी हुआ, तो योग्य समयपर योग्य कर्तव्य करता हुआ मनुष्य आगे बढ जाता है और उन्नत होता जाता है । परंतु जो मनुष्य अज्ञानतः चंचल और प्रशुभ मनोवृत्तियोंवाला होता है वह स्थान स्थानपर प्रयाद करता है और गिरता जाता है, इस प्रकार यह पीछे रहता है और इसके प्रतिपक्षी उसको पीछे रखते हुए आगे बढते जाते हैं । परंतु जो मनुष्य मनका संयम करता है, मनको उछलने नहीं देता, कामकायादियोंको मर्यादासे अधिक बढने नहीं देता, वह कर्तव्य करनेके समय गलती नहीं करता है; इस कारण सदा प्रतिपक्षियोंको पीछे ढालकर स्वयं उनके आगे बढता जाता है । चतुर्थ मंत्रका यह आशय पाठक देखें और स्व विचार करें ।

शापको वापस करना । पंचम मंत्रमें तीन उपदेश हैं और येही इस सूक्तमें गहरी दृष्टिसे देखने योग्य हैं । संपूर्ण सूक्त में यही मंत्र अति उत्तम उपदेश दे रहा है । देखिये—

शाययः शासार्तं पतु ॥ (मं० ५)

‘ शाय शाय देनेवाले के पास वापस जावे । ’ गाली गाली देनेवालेके पास वापस जावे ॥ यह किंच रीतिसे वापस जातों है यह एक मानस शास्त्रके महान् शक्तिशाली नियमका चमत्कार है । मन एक बड़ी शक्तिशाली वस्तु है मनके उच नीच, भले या बुरे विचार उठी वस्तुके न्यूनधिक आन्दोलन या रंभ हैं । ‘ ये कम्प जातं पटुं चने के लिए भेजे जाते हैं, वहाँ पटुं चकर यदि लौन न हुए या कृतकारी न हुए; तो उठी वेगसे भेजनेवाले के पास वापस आते हैं और उठी बलसे उठी भेजनेवालेका नाश करते हैं । ’ यह मानस शक्ति का चमत्कार है और गाली या शाय देनेवालेको इस नियमका अवश्य मनन करना चाहिए । इसका विचार ऐसा है—

१ एक ‘ अ ’ मनुष्यने गाली, शाय, या दुष्टभाष ‘ क ’ का नाश करनेकी प्रबल इच्छासे ‘ क ’ मनुष्यके पास भेज दिये, २ यदि ‘ क ’ भी साधारण मनोवृत्तिवाला मनुष्य रहा, तो उसके मनपर उनका परिणाम होता है उसका मन दुःख हो जाता है और वह भी फिर ‘ अ ’ को गाली शाय या नाशक शब्द बोलने लगता है ।

इस प्रकार एक दूसरे के शाय परस्परके ऊपर जाने लग, तो दोनोंके मन समानतया दूषित होते हैं और समान रीतिसे पतित भी होते हैं, परंतु—

३ यदि ‘ क ’ उच शांत मनोवृत्तिवाला मनुष्य रहा, तो ‘ अ ’ से आये हुए नीच मनोवृत्तिके कंपों को अपने मनमें रहनेके लिए स्थान नहीं देता; इसलिए आघात न मिलनेके कारण वे विचारके मात लौटकर वापस होते हैं और वे सीधे भेजनेवाले ‘ अ ’ के पास जाते हैं । और उसका मन उठी जातिका होनेके कारण ये वहाँ स्थान पाते हैं ।

इस प्रकार कुविचार वापस जानेसे चमत्कार यह हो जाता है कि, प्रथमतः कुविचार भेजनेवाले ‘ अ ’ का दुःखनाश हो जाता है । पहिले जब कुविचार उत्पन्न हुए उस समय उसका नाश हुआ ही था, और इस प्रकार उसके ही कुविचार बाहर स्थान न पाते हुए जब वापस होकर उरुके पास पहुंचते हैं, तब फिर उसका और नाश होता है । एकही प्रकारके कुविचार दोवार उसके मनमें आघात करनेके कारण उसका दुःखनाश हो जाता है । परंतु जो सज्जन शक्तिये अपने अंदर समता धारण करता हुआ, बाह्यके कुविचार अपने मनमें आये तो भी स्थिर होने नहीं देता और उनको वापस भेजता है, वह अपना मन अधिकाधिक दृढ करता है । इसलिए इस शांत मनुष्यका कल्याण होता है ।

पाठक इसके जान गये होंगे कि, बुरे विचारकी लहरें वापस भेजनेसे अपना उन्नति कैयी होती है और प्रतिपक्षी की दुःखनाश किंच कारण होती है । इस पंचम मंत्रमें इसी कारण कहा है कि, यदि किसीकी अपनी उन्नति करनेकी अभिलाषा हो, तो उसको ‘ शाय वापस करनेकी विद्या ’ अवश्य जानना चाहिए । अपने मनको पवित्र और सुदृढ बनानेका यही उपाय है ।

पाठक इसका स्व विचार करें और शाय वापस करनेका बहुत अभ्यास करें; तथा स्वयं कभी किसी भी कारण किसीको शाय गाली

कदावा सुरे विचार न भजे । क्योंकि यदि वे सुविचार वापस आगये तो प्रतिपक्षीकी अपेक्षा ने अपना ही अधिक करित करें । पाठकों ! मनःशक्तिका यह निदम ठीक तरह प्याजमें रतियं । यह निदम इस पंचम मंत्रके प्रथम चरणसे सूचित हो गया है । जो इसको ठीक तरह समझेंगे, वेही अपने इत्यादि का माधम कर सकेंगे ।

योग्य मित्र । मित्रता विषय करनेकी चाहिये, इस विषयका उपदेश पंचम मंत्रके द्वितीय चरणमें दिया है, देखिये—
'यः सुहार्त्तं सेन नः सह । (मं० ५)'

'जो उत्तम हृदयवाला हो उसके साथ हमारी मित्रता हो, उत्तम हृदयवालेके साथ मित्रता करनेसे, उत्तम हृदय वालोंकी संगतिमें रहनेसे ही मन शांत गंभीर और प्रत्यक्ष रहता है और पूर्वोक्त प्रकार काय वापस भेजने से शक्तिभी संसंगतिसे ही प्राप्त होती है । इसलिये अपने लिये ऐसे सुयोग्य मित्र चुनने चाहिये कि, जिनका हृदय मंगल विचारोंसे परिपूर्ण हो ।

दुष्ट हृदय । जो दुष्ट हृदयके मनुष्य होते हैं, उनकी संगतिसे अनगिनत रानियां होती हैं । दुष्ट मनुष्य किसी किसी समय सुरे शब्द बोलते हैं, साथ देते हैं, गालियां मोजाज देते हैं, हीन आनायवालेके शत्रु शब्द बोलते हैं, हाथसे लयका संविधानसे सुरे भाषके इशारे करते हैं, तथा (चतुः मंत्रः) आत्मकी हालचालसे ऐसे इशारे करते हैं, कि जिनका चंद्रय बहुत पुत्रा होता है । वे आंखके इशारे किसी किसी समय इतने घुरे होते हैं, कि उनसे बड़े भयानक परिणाम भी होजाते हैं । इनका परिणाम भी वापस भेजा ही होता है । चापके वापस होनेसे जो परिणाम, होते हैं, वैसे ही इनके वापस होनेसे परिणाम होते हैं । इसलिये कोई मनुष्य स्वयं ऐसे दुष्ट हृदयके भाव अपनेमें बढने न दे । किसी दुष्टके मनुष्यने ऐसे दुष्ट इशारे किये तो सबको सहायता न करे और हस्तक प्रकारसे अपने आपको इन दुष्ट प्रतिपक्षी बचावे । आंखोंके इशारे भी सुरे भावसे कभी न करे । जो दुष्ट मनुष्य होंगे, उनकी संगतिमें कभी न रहे अच्छी संगतिमें ही रहें । इस विषयमें यह मंत्र माग देखिये—

चक्षुर्मन्त्रस्य सुहार्त्तः पृथीरवि शशीमसि । (मं० ५)

"आंखसे सुरे इशारे करनेवालेकी पीठ तोड़ देते हैं ।" अर्थात् जो मनुष्य इस प्रकारके सुरे भाव प्रकट करता है उसका पीठा टाके उसको दूर भगा देना चाहिये, अपने पास नरको रखना नहीं चाहिये, नाही उसकी संगतिमें स्वयं रहना चाहिये । यह बहुमूल्य उपदेश है, पाठक इसका स्मरण रखें । सुरी संगतिसे मनुष्य सुरा होता है और भली संगतिसे मला होता है । इस कारण कभी सुरी संगतिमें न पड़े परंतु भली संगतिमें ही सदा रहे और पूर्वोक्त प्रकार सुरे विचारों को अपने मनमें स्थान न दे और उनको अपने मनसे दूर करता रहे । ऐसा श्रेष्ठ व्यवहार करनेसे मनुष्य सदा उन्नतिके मार्गमें ऊपर ही जाता रहेगा ।

सूक्तके दो विभाग । इस सूक्तके दो विभाग हैं । पहिले विभागमें पहिले चार मंत्र हैं, जिनमें औषधि प्रयोगसे मनको क्षीम रहित करनेकी सूचना दी है, यह वाद्य साधन है । दूसरे विभागमें अकेला पंचम मंत्र है । जिसमें कुम्भंगतिमें न फँसने और सुसंगति धरनेका उपदेश है और साथ ही साथ अपने मनको पवित्र रखने तथा आगे हुए सुरे विचारोंको उची क्षणमें वापस भेजनेका महत्त्व पूर्ण उपदेश दिया है । चारोंपक्षे इस उपदेशका स्वरूप यह है । यदि इस सूक्तके उपदेश मनमें पूर्वोक्त पाठक अपनायेगे तो उनकी मनः शक्तिका सुधार होगा इसमें कोई संदेहही नहीं है; पाठक इस सूक्तके साथ प्रथम चान्दके १०, ३१ और ३५ ये तीन सूक्त देखें ।

क्षेत्रिय रोग दूर करना ।

(८)

[ऋषिः-भृगुः आंगिरसः । देवता-यक्ष्मनाशनम्]

उदंगातां भगवती विचृतौ नाम तारके । वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामघ्नं पाशमुत्तमम् ॥ १ ॥

अपेयं राष्ट्र्युच्छ्रत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वंरीः । वीरुक्षेत्रियनाशन्यपं क्षेत्रियमुच्छतु ॥ २ ॥

बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाज्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या ।

वीरुक्षेत्रियनाशन्यपं क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ३ ॥

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईपायुगेभ्यः । वीरुक्षेत्रियनाशन्यपं क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ४ ॥

नमः सनिस्त्रसाक्षेभ्यो नमः सन्देश्येभ्यः ।

नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुक्षेत्रियनाशन्यपं क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ५ ॥

अर्थ—(भगवती) वैष्णवी औषधि तथा (विचृतौ नाम) तेज धरनेवाली प्रसिद्ध (तारके) तारका नामक वनस्पतियां (उदंगातां) उगी हैं । वे दोनों (क्षेत्रियस्य अघ्नं उत्तमं च पाशं) बंधसे चले जानेवाले रोगके उत्तम और अधम पाशको (वि मुञ्चताम्) खोल देंगे ॥ १ ॥

(इयं रात्री अप उच्छतु) यह रात्री चली जावे और उसके साथ (अग्नि कृत्वंरीः अपोच्छन्तु) हिंसा करनेवाले दूर हों तथा [क्षेत्रियनाशनी वीरु] बंधसे चले जानेवाले रोगका नाश करनेवाली औषधी [क्षेत्रियं अप उच्छतु] आनुवंशिक रोगको दूर करे ॥ २ ॥

(बभ्रोः कर्जुनकाण्डस्य ते यवस्य) भूरे और श्वेत रंगवाले यवके अन्नकी [पलाज्या] रक्षक शक्तिये तथा (तिलस्य तिलपिञ्ज्या) तिलकी तिलमन्त्ररीसे आनुवंशिकरोग दूर करनेवाली यह वनस्पति क्षेत्रियरोगसे मुक्त करे ॥ ३ ॥

(वे लांगलेभ्यः नमः) तेरे हलोंके लिए सत्कार है, (ईपायुगेभ्यः नमः) हलकी लकड़ीके लिये सत्कार है ॥ ४ ॥

(सनिस्त्रसाक्षेभ्यः नमः) जल प्रवाह चकाने वाले अक्षका सत्कार, (सन्देश्येभ्यः नमः) संदेहा देनेवाले का सत्कार,

(क्षेत्रस्य पतये नमः) क्षेत्रके स्वामीका सत्कार हो । (क्षेत्रियनाशनी क्षेत्रियं अप उच्छतु) आनुवंशिक रोगको हटानेवाली औषधि आनुवंशिक रोगको हटा देवे ॥ ५ ॥

मावार्य—दो प्रकारकी वैष्णवी और दो प्रकारकी तारका ज्ये चारों औषधियां काष्ठिको बढानेवाली हैं, जो भूमिपर उगती हैं । वे चारों आनुवंशिक रोगको दूर करें ॥ १ ॥

रात्री चली जाती है, तो उसके साथ हिंसक प्राणी भी चले जाते हैं, इसी प्रकार यह औषधी आनुवंशिक रोगको उसके मूल कारणोंके साथ दूर करे ॥ २ ॥

भूरे और श्वेत रंगवाले जौ के अन्नके साथ तिलोंकी मंजरियोंके तिलोंके सेवनसे यह औषधि आनुवंशिक रोगको हटा देती है ॥ ३ ॥

हल और लकड़ीकी जिधसे भूमि ठीक की जाती है, उसके पूर्वकी वनस्पतियां तैयार होती हैं, इस लिए उनको प्रशंसा करना योग्य है ॥ ४ ॥

जिधके खेतमें पूर्वकी वनस्पतियां उगाई जाती हैं, जो उनको उन्नत देता है, अथवा जिध संव्रधे पानी दिया जाता है, तथा जो इस वनस्पतिवा यह संदेह जानता तक पहुँचता है, उन सबकी प्रशंसा करना योग्य है । यह वनस्पति आनुवंशिक रोगके मनुष्यको बचावे ॥ ५ ॥

क्षेत्रिय रोग ।

जो रोग मातापिताके शरीरसे अथवा इनके भाँ पूर्वजोंके शरीरसे चला आता है, उस आनुवंशिक रोगको क्षेत्रिय कहते हैं। वैद्यशास्त्रमें क्षेत्रिय रोगको प्रायः अक्षय्य कहा जाता है। क्षेत्रिय रोग प्रायः सुषाय्य नहीं होता; इसलिए रोगी माता पिताओंको सन्तानोत्पत्ति का कर्म करना उचित नहीं है। प्रथमतः ऐसे व्यवहार करना चाहिये कि, जिनसे रोग उत्पन्न न हो, खानपान आदि आरोग्य साधक हो होना चाहिए। जो नीरोग होंगे उनको ही संगानोत्पत्ति करनेका अधिकार है। रोगी मातापिता संतान उत्पन्न करते हैं और अपने वंशजोंको क्षेत्रियरोगके कष्टमें डाल देते हैं। ऐसे अक्षय्य आनुवंशिक रोगों की चिकित्सा करनेकी विधि इस सूक्तमें बताई है, इसलिए यह सूक्त विशेष उपयोगी है।

दो औषधियाँ ।

‘मगवती और तारका’ ये दो औषधियाँ हैं जो शरीरकी कण्ठि बढ़ाती हैं और क्षेत्रिय रोगको दूर करती हैं, इन दो औषधियोंको खोज वैद्योंको बरनी चाहिए—

१ मगवती—इसको वैष्णवी, लघु पातावरी, तुलसी, अपराजिता, विष्णुकान्ता कहा जाता है, तथा—

२ तारका—इस औषधिको देवताद्वय, और इन्द्रवारुणा, कहा जाता है। इसका अर्थ पत्रशर और मोठी भाँ है।

शब्दोंके अर्थ जानने मात्रसे इस औषधकी छिद्रि नहीं हो सकती और बीजों द्वारा सन्तान करने मात्रसे ही औषध नहीं बन सकता। यह विशेष महत्वका विषय है और ये किंचि वनस्पतिके दाचक नाम यहाँ है, इसका निश्चय सुविज्ञ वैद्योंको करना चाहिए और इनके उपयोग की रीति भी निश्चित रूपसे कहना उनके ही अधिकारमें है। “मगवती और तारके” ये औषधी दाचक दोनों शब्द यहाँ द्विवचनी हैं, इससे बोध होता है कि, इस एक एक नामसे दो दो वनस्पतियाँ लेना है, इस प्रकार इन दो नामोंसे चार वनस्पतियाँ होती हैं, जो क्षेत्रियरोग को दूर करती हैं और शरीरकी कण्ठि उत्तम तेजस्वी करती हैं अर्थात् क्षेत्रिय रोगको जड़से उखाड़ देती हैं। यह प्रथम मंत्रका स्पष्ट तात्पर्य है। (मं० १)

दूसरे मंत्रमें कहा है कि, जिस प्रकार रामी जाने और दिन शुरू होनेसे हिंसक प्राणी स्वयं कम होते हैं उसी प्रकार इस औषधियोंके प्रयोगसे क्षेत्रिय रोग जड़से उखाड़ जाता है ॥ (मं० २)

तीसरे मंत्रमें इस औषधिके प्रयोग दिनेमें करने योग्य पद्य भोजन का उपदेश दिया है। जिस जौके कण्ड भूरे और श्वेत वर्णवाले होते हैं उस जौका पेष बनाना और उसमें तिलोंकी मंत्ररीसे प्राप्त किये ताजे तिल भी डालना। अर्थात् उक्त प्रकार के जौका पेष उक्त तिलोंके साथ बनाना। यही भोजन इस चिकित्साके प्रसंग में विहित है। इस पद्यके साथ सेवन किया हुआ पूर्वोक्त औषध क्षेत्रिय रोगसे मुक्त करता है यह सूक्तका तात्पर्य है ॥ (मंत्र ३)

चतुर्थ और पंचम मंत्रमें इन पूर्वोक्त औषधियोंको तथा इस पद्य अथवा सरस करनेवाले, किसान, इस खेतका चोपम सम्यक्में पानी देनेवाले, इस खेतके निये हल चलानेवाले, हल के समान ठीक करनेवाले तथा इस औषध और पद्यका संवेदा क्षेत्रिय रोगसे रोगी हुए मनुष्यों तक पहुँचाने वालोंका सरकार किया है। यदि इस पद्यसे और इन औषधियोंसे आनुवंशिक रोग सचमुच दूर होते हों, तो इन सबका योग्य आदर करना अत्यंत आवश्यक है। आज कल तो ये लोग विशेषही आदर करने योग्य हैं। (मं. ४-५)

शानी वंश इन औषधियोंका और इस पद्यका निश्चय करे और इसकी योग्य विधि निश्चित करके आनुवंशिक अतप्य क्षाय्य समक्ष हुए बीमारोंको रोग मुक्त करे।

सन्धिवातको दूर करना ।

(९)

[ऋषिः-भृगुः अङ्गिराः । देवता-वनस्पतिः, यक्षमनाशनम् ।]

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अग्नि यैर्न जग्राह पर्वसु ।

अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय

॥ १ ॥

आगादुदंगादयं जीवानां व्रातमपर्यागात् । अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः ॥ २ ॥

अर्धावीरर्ध्यागादुयमार्धि जीवपुरा अगन् । शतं ह्यस्य भिपर्जः सहस्रमुत वीरुधः ॥ ३ ॥

देवास्ते चीतिर्मविदन्द्वाण उत वीरुधः । चीतिं ते विश्वे देवा अविदन्भूम्यामार्धि ॥ ४ ॥

अर्थ-हे (दश—वृक्ष) दस वृक्ष ! (रक्षसः ग्राह्याः) राक्षसी सकटनेवाली गठिवारोग की पीडासे (हमें मुक्त) पूसे छुटादे, (या एनं पर्वसु जग्राह) जिस रोगने इसको जोगोंमें पकड़ रखा है । हे (वनस्पते) औषधि ! (एनं जीवानां लोकं उन्नय) इसको जीवित जोगोंके स्थानमें जानेयोग्य ऊपर उठा ॥ १ ॥

(अर्थ) यह मनुष्य (जीवानां व्रातं) जीवित जोगों के समूहमें (अगात्, आगात्, उदगात्) आया, आपहुंचा, उठकर आया है । अब यह (पुत्राणां पिता) पुत्रोंका पिता और (नृणां भगवत्तमः) मनुष्योंमें अत्यंत भाग्यवान् (अभूत् व) बना है ॥ २ ॥

(अर्थ) इसने (अर्धावीरः अर्ध्यागात्) प्राप्त करने योग्य पदार्थ प्राप्त किए हैं । और (जीवपुराः अग्नि अगन्) बीबीकी संपूर्ण आवश्यकतायें भी प्राप्त की हैं । [हि] क्योंकि (अस्य शतं भिपर्जः) इसके सेकड़ों बेटे हैं और (उत सहस्रं वीरुधः) हजारों औषध हैं ॥ ३ ॥

[देवाः अङ्गिराः उत वीरुधः] देव ब्राह्मण और वनस्पतियां [ते चीतिं अविदन्] तैरे आदान संदान आदिको जानती हैं; [विश्वे देवाः] सब देव (भूम्यां अग्नि) पृथिवीके ऊपर (ते चीतिं अविदन्) तैरे आदान संदान को जानते हैं ॥ ४ ॥

भाषार्थ—दशवृक्ष नामक वनस्पति गठिशा रोगको दूर करती है । यह गठिशा रोग संघियोंको जकड़ रक्ता है जिससे मनुष्य चलफिर नहीं सकता । इसकी चिकित्सा दशवृक्षों की जाय तो वह रोगी शीघ्र आरोग्य प्राप्त करके अन्य जीवित मनुष्योंकी तरह अपने व्यवहार कर सकता है ॥ १ ॥

यह आरोग्य प्राप्त करके लोकसमाजोंमें जाकर सार्वजनिक कार्य व्यवहार करता है, घरमें अपने बालबच्चोंके संबंधके कर्तव्य करता है और मनुष्योंमें अत्यंत भाग्यशाली भी बन सकता है ॥ २ ॥

यह बीरोग बनकर सब प्राप्तव्य पदार्थ प्राप्त कर सकता है, औषधोंको जो जो आवश्यकताएं होती हैं उनको प्राप्त कर सकता है । यह रोग कोई असाध्य नहीं है क्योंकि इसके चिकित्सक सेकड़ों हैं और हजारों औषधियां भी हैं ॥ ३ ॥

इसके अनेक औषधियां तो पृथ्वीपर ही हैं, उनको कैसे लेना और उनका प्रयोग कैसे करना यह सब दिव्यगुणधर्मोंके गुण ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण बंध जानते हैं ॥ ४ ॥

यश्चकार स निष्कारत् स एव सुभिपक्तमः ।

स एव तुभ्यं भेषुजानिं कृणवांश्चिपजा शुचिः

॥ ५ ॥

अर्थ— [यः चकार स निष्कारत्] जो करता रहता है वही निःशेष करता है और वही (सु-भिपक्-तमः) सब से उत्तम वैद्य होता है । (स एव शुचिः) वही शुद्ध वैद्य (भिपजा) मन्व वैद्यसे विचारणा करके [ते भिपजानि कृणवत्] तेरे छिपू औषधों से करेगा ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो यह चिकित्साका कार्य करता रहता है वही इसको प्रवीणतासे निमा सकता है। बारंबार चिकित्सा करते रहनेसे ही जो प्रारंभमें साधारणसा वैद्य होता है, वही श्रेष्ठ पुन्यन्तरी बन सकता है। ऐसा श्रेष्ठ पुन्यन्तरी अन्य वैद्योंको सम्प्रतिष्ठे रोगीकी चिकित्सा उत्तम प्रकारसे कर सकता है ॥ ५ ॥

संधिवात ।

वेदमें संधिवात रोगका नाम “ प्राही ” है क्योंकि यह (पर्वसु जग्राह) पर्वोंमें किंवा संधिस्थानोंमें जकड़ कर रहता है, हिलने डुलने नहीं देता। संधियोंकी हलचल बंद होजाती है। “ रक्षस् ” अथवा पिशाचये भी इसके नाम हैं। ये नाम रक्तके साथ इस रोगका संबंध बताते हैं क्योंकि ये नाम श्पिरीमिय अर्थात् जिनको रक्तके साथ प्रेम है, ऐसीके वाचक हैं। इधलिये ‘ रक्षः प्राही ’ का अर्थ रक्तका भिगाव होनेवाला संधिवात है।

दशवृक्ष ।

उक्त संधिवातकी चिकित्सा दशवृक्षसे की जाती है। ‘ दशमूल ’ नामके वैद्य ग्रंथोंमें दश औषधियां प्रसिद्ध हैं। वातरोग नाशक होनेके विषयमें उनको बड़ी प्रसिद्धि है। संभव है किंये ही दशवृक्ष यहाँ अपेक्षित हैं। इन दशवृक्षोंका तैल, घृत, कषाय, आसव, आरिष्ट आदि भी बनाया जाता है जो वातरोगको दूर करनेमें प्रसिद्ध है।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें ‘ मुच ’ किंया है, इस ‘ मुच ’ शब्दसे एक ‘ मोच ’ शब्द बनता है जो ‘ सोहिषना ’ या सुहेन्द्रा ष्ठाठ अर्थात् सोमान्जन वृक्षका वाचक है। यह वृक्षभी वात दोष दूर करनेवाला है। इस वृक्षको लंबी छेग आती है जो साग आदिमें उपयोगी होती है। इस सोहिषना वृक्षकी अंतरस्त्रवा यदि जकड़े हुए संधिपर बांधी जाय तो दोचार घंटोंके अंदर जकड़े हुए संधि खुल जाते हैं, यह अनुभवकी बात है। अन्य औषधियों से जो संधिरोग महिनोत्तक दूर नहीं होता वह इस अंतरस्त्रवासे कई घंटोंमें दूर होता है। रोगीको घण्टा दोघण्टे या चार घण्टेतक कष्ट सहन करने पड़ते हैं, क्योंकि यह अन्तस्त्रवा जोड़ोपर बांधनेसे कुछ समयके बाद उस स्थानपर बड़ी गर्मी या जलन पैदा होती है। दोचार घण्टे यह कष्ट सहनेपर संधिस्थानके सब दोष दूर होते हैं। यहाँ मंत्रमें “ मुच ” शब्द है और वृक्षका नाम संस्कृतमें ‘ मोच ’ है, इधलिये यह बात यहाँ कही है। जो पाठक स्वयं वैद्य हों वे इस बातका अधिक विचार करें। हमने केवल दूसरोंपर अनुभवही देखा है, इसका शास्त्रीय तत्त्व हमें ज्ञात नहीं है।

इस प्रथम मंत्रके उत्तरार्धमें आगे जाकर कहा है कि ‘ इस वनस्पतिसे सन्धिवातसे जकड़ा हुआ रोगी नीरोगी लोगोंके समूहोंमें आता है और नीरोगी लोगोंके धमान अपने कर्तव्य करने लगता है । (मं १)

मंत्र दो और तीन में कहा है कि इस औषधिसे मनुष्य नीरोगी होकर लोक सभामें आता है और घरके कार्य में कर सकता है। अर्थात् वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्य कर सकता है। सब मानवी कर्तव्य करनेमें योग्य होता है। इन मंत्रोंकी भाषा देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह चिकित्सा अति शीघ्र गुणकारी है। जो अभी बिस्तरपर जकड़कर पड़ा है वही रोगी कुछ घण्टोंके बाद मनुष्यधर्माजोंमें जाकर कार्य करने लगता है। पहिले तीन मंत्रोंका सहन रीतिसे विचार करने पर ऐसा आशय प्रकट होता है, इस शीघ्रताके दर्शक शब्द प्रयोग द्वितीय मंत्रमें पाठक अवश्य देखें—

अथं शिधानां प्रारवं अप्यगात् ।

भागात्, उदगात्, ॥ (मं० २)

“यद् जीवोके समूहोमे गया, पहुँचा, उठकर खड़ा होकर गया !” अपने पाँवसे गया अर्थात् जो वड़ा विस्तरेपर अकड़ा पड़ा या बड़ी इतनी शीघ्रतासे मनुष्य समूहोमें घूम रहा है !! यह आश्वयै व्यक्त करनेके लिये एकही आशयकी तीन क्रियाएं (आगत, अप्यगत, उदगत) प्रयुक्त की हैं । इससे यह चिह्नश्री शीघ्रगुणकारी है ऐसा स्पष्ट व्यक्त होता है ।

इस चिह्निकाधी औषधियें सहस्रो हैं और इसके चिकित्सेक भी सेंकहों हैं (मं० ३) यह तृतीय मंत्रका कथन बता रहा है कि यह सुघ्राप्य चिकित्सा है । अघ्राप्य नहीं है । ऊपर जो ‘ मोच ’ शब्दसे चिकित्सा बताया है वह प्रायः यहाँके प्रामाण्य भी जानते हैं और करते हैं इससे कुछ घण्टोंमें आरोग्य होता है ।

ये वृक्ष पृथ्वीपर बहुत हैं और उनको लाना और उनका प्रयोग करना (विषेदेवाः देवाः ब्रह्मणाः) सब भूदेव ब्राह्मण जानते हैं । अथवा ब्राह्मण तथा अन्य लोग भी जानते हैं । इसमें ‘ चांति ’ शब्द (आदान संवात्) लेना और प्रयोग करना यह भाव बता रहा है किवा (आदान-संवरण) अर्थात् औषधका उपयोग करना और औषधके दुष्परिणामोंको दूर करना, यह सब वैद्य जानते हैं । (मं० ४)

उत्तम वैद्य ।

पंचम मंत्रमें उत्तम वैद्य कैसे बनते हैं इस विषयमें कहा है वह बहुत मनन करने योग्य है ।—

यः चकार, सः निष्कारत्, स एव सुमिपक्तमः ॥ (मं० ५)

‘ जो करता रहता है वही निःशेष कार्य करता है और वही सबसे श्रेष्ठ चिकित्सक होता है ॥ ’

जो कार्य करता रहता है वही आगे जाकर उत्तम प्रवीण बनता है । इस प्रकार अनुभव लेनेवाला ही आगे उत्तमोत्तम वैद्य बन जाता है ।

प्रवीणताकी प्राप्ति ।

प्रवीणता की प्राप्ति करनेका साधन इस मंत्रमें वेदने बताया है । किसी भी बातमें प्रवीणता संपादन करना हो तो उसका सपाय यहाँ है कि—

यः चकार, सः निष्कारत् । (मं० ५)

‘ जो सदा कार्य करता रहता है वही परिश्रमी पुरुष उस कार्यको निःशेष करनेकी योग्यता अपनेमें ला सकता है । ’ हम भी अनुभवमें यही देखते हैं, जो गानविद्यामें परिश्रम करते हैं वे गवइन्द्रा बन जाते हैं, जो चित्रकारीमें दत्तचित होकर परिश्रम करते हैं वे कुशलचित्रकार होते हैं, इसी प्रकार अन्यान्य कारिगरोमें प्रवीण बननेकी बात है । एकलव्य नामक एक मील जातिका कुमार या उसको इच्छा क्षात्रविद्या प्राप्त करनेकी थी, औरव पाण्डवोंकी पाठशालामें उसको विद्या सिखाई नहीं गई, परंतु उसने प्रतिदिन आविर्भात रीतिसे अभ्यास करके स्वयंही अपने दृढ निश्चय पूर्वक किये हुए परिश्रमसे ही क्षात्र विद्या प्राप्त की । यह बात भी इस नियमके अनुकूल ही सिद्ध हुई है । यह कथा महाभारतमें आदिपर्वमें पाठक देख सकते हैं ।

इसी नियमका जो उत्तम पालन करेंगे वेही हरएक विद्यामें प्रवीण बन सकने हैं । यहां चिकित्साका विषय है इसलिये इसकी प्रवीणता भी इसीमें कार्य करनेसे ही प्राप्त होती है । बहुत अनुभवसे ज्ञानी बना हुआ वैद्यही विशेष श्रेष्ठ समझा जाता है, अन्य अनुभवही वैद्य उत्तमा श्रेष्ठ समझा नहीं जाता, इसका कारण भी यही है ।

कर्म करनेसे ही सबको श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होती है यह नियम सर्वत्र एकसा लगता है ।

इस सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें ‘ ब्राह्मणः ’ पद है । यह ब्राह्मणोंका वाचक है । इससे पता लगता है कि चिकित्साका यह व्यवस्थाय ब्राह्मणोंके व्यवसायोंमें संमिलित है । वेदमें अन्यत्र ‘ विप्रः स उच्यते मिपक् (वा० यजु० अ० १२।८०) ’ कहा है, इसमें भी ‘ वह विप्र वैद्य कहल्यता है, यह भाव है । यहाँके ‘ विप्र ’ शब्दके साथ इस मंत्रके ‘ ब्राह्मणः ’ शब्दकी संगति लगा-नेसे स्पष्ट हो जाता है, कि ब्राह्मणोंके व्यवसायोंमें वैद्यकिया संमिलित है । आंगिरसोंके वैद्य विद्यामें प्रवीणताके चमत्कार श्रद्धि ही हैं । इन सबको देखनेसे इस विषयमें संदेह नहीं हो सकता ।

यह सूक्त ‘ तनम-नाशन-गण ’ का सूक्त है । इस लिये रोगनिवारक अन्य सूक्तोंके साथ इसका अध्ययन पाठक करें ।

दुर्गतिसे वचनेका उपाय ।

(१०)

(ऋषिः-भृगुः अङ्गिराः । देवतः-निर्ऋतिः, धावापृथिवी, नानादेवताः)

क्षेत्रियाञ्चान् निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते धावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ १ ॥

शं ते अग्निः सुहाङ्गिरस्तु शं सोमः सहोपधीभिः ।

एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि ॥ २ ॥

शं ते वातां अन्तरिक्षे वर्षो धाञ्छं तं भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः । एवाहं ० ॥ ३ ॥

इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपरनीरमि स्यो विचष्टे । एवाहं ० ॥ ४ ॥

तास्तु त्वान्तर्जरस्या दधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः । एवाहं ० ॥ ५ ॥

अर्थ— (त्वा) तुलको (क्षेत्रियात्) आनुवंशिक रोगसे, (निर्ऋत्याः) कष्टोसे, (जामि—शंसात्) संबन्धितोके कारण उत्पन्न होनेवाले कष्टोसे, (द्रुहः) द्रोहसे, (वरुणस्य पाशात् मुञ्चामि) वरुणके पाशसे छुटाता हूँ । [त्वा ब्रह्मणा जनागसं कृणोमि] तुझे ब्रह्मणसे निर्दोष करता हूँ, (उभे धावा—पृथिवी ते शिवे स्ताम्) दोनों सुलीक और पृथ्वी लोक तरे लिए कल्याणकारी हों ॥ १ ॥

(ते अग्निः सह अग्निः शं भवतु) तरे लिए सब जलके साथ अग्नि कल्याणकारी हो । तथा (औपधीभिः सह सोमः शं) औपधियोंके साथ सोम तरे लिए सुखदायी हो, (एव अहं त्वां क्षेत्रियात्...मुञ्चामि) इस प्रकार ही मैं तुलको क्षेत्रिय रोगसे..... छुटाता हूँ । ० ॥ २ ॥

(अन्तरिक्षे वातः) अन्तरिक्षमें संचार करनेवाला वायु (ते वर्षः शं धात्) तरेलिए बहुतकु कल्याण देवे । तथा [अतस्रः प्रदिशः ते शं यक्ष्मन्] चारों दिशामें तरे लिए कल्याणकारी हों । (एव अहं ०.....) इस प्रकार मैं तुलको बचाता हूँ । ० ॥ ३ ॥

(इमाः या देवीः चतस्रः प्रदिशः) ये दिव्य चारों उपदिशाएं जो (वात-परनीः) वायुकी रक्षा करती हैं, वे तथा (स्योः अभिविचष्टे) जो स्यं चारों ओर देखता है वह तुलको कल्याणकारी होवे (एव अहं ०.....) इस रीतिसे मैं..... बचाता हूँ । ० ॥ ४ ॥

(तास्तु त्वा) उनमें तुलको (जरसि अन्तः दधामि) मैं मृदावस्थाके अंदर धारण करता हूँ । तरे पास से (यक्ष्मः निर्ऋतिः पराचैः प्र एतु) क्षयरोग तथा सब कष्ट नीचे मुंड करके दूर चले जाय (एव अहं...) इस प्रकार मैं..... मुन्दे बचाता हूँ । ० ॥ ५ ॥

भावार्थ— आनुवंशिक रोग, आपत्ति, कष्ट, फैलनेवाले रोग, शोथसे होनेवाले कष्ट, ईश्वरीय नियम तोड़नेसे होनेवाले बंधन आदि सब दुर्गतिरोगोंसे निर्दोष होकर धैर्य बचनेका एकमात्र उपाय ज्ञान ही है, दूसरा उपाय नहीं है ॥ १ ॥

इस शाल से ही सुलीक, अन्तरिक्षलोक और पृथ्वी लोक के अंतर्गत संपूर्ण पदार्थ अर्थात् जल, अग्नि, औषधियाँ, सोम, वायु, सब दिशाओंमें रहने वाले घन पदार्थ, सूर्य आदि सब देव दितकारक और सुखवर्धक होते हैं, आरोग्य बढ़ाकर व्याधियोंसे होनेवाले कष्टोंको दूर करते हैं ॥ २-४ ॥

अमुं कथा यक्ष्माद् दुरितादवघ्नाद् द्रुहः पाशाद् प्राह्याद्योदमुकथाः। एवाहं०।०॥ ६ ॥

अहा अरातिमविदः स्योनमपर्यभूर्भूद्रे सुकृतस्य लोके । एवाहं०।० ॥ ७ ॥

स्यैमृतं तमसो प्राह्या अर्षिं देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः ।

एवाहं त्वां क्षेत्रियाभिर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् ।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते धावापृथिवी लभे स्ताम् ॥ ८ ॥

अर्थ—(यक्ष्माद्) क्षय रोगसे, (दुरिताद्) पापसे, (अवघात्) निन्दनीय कर्मसे, (द्रुहः पाशाद्) द्रोहके बंधनसे (प्राह्याः) जकड़ने वाले सांधीरोगसे व (अमुकथाः) मुक्त हुआ है, (उव अमुकथाः) व छूट चुका है । [एव अहं...] ऐसे ही मैंतुम्हें छुड़ाता हूँ । ० ६ ॥

[अ-राति अहाः] कृपणताको तुने छोडा है, [स्योनं अविदः] सुखको तुने पाया है । [अपि सुकृतस्य नद्रे लोके अमृः] और भी पुण्यकारक तानन्ददायी लोकमें व भाग्य है । [एव अहं.....] ऐसे ही मैं.....तुम्हें बचाया हूँ । ० ७ ॥

(देवाः) देवोंने [तमसः प्राह्याः] बंधकारकी पकड़से तथा [एनसः अपि मुयन्तः] पापसे मुक्त करते हुए (अतं स्यं निः असृजन्) सब स्वरूपी सूर्यको प्रकट किया है, (एव अहं...) इसी प्रकार मैं.....तुम्हें बचाता हूँ ० ८ ॥

भावार्थ— इसी ज्ञानसे मैं तुम्हें वृद्धत्वस्याकी पूर्ण दीर्घ आयु तक ले जाता हूँ । इसी ज्ञानसे तेरे पासके सब रोग दूर भाग जायेंगे ॥ ५ ॥

इसरीग, पाप, नियतकर्म, द्रोहके पाप, संविधात आदि सब आपतियोंसे व इसी ज्ञानसे मुक्त हो सकता है और मैं भी इसी ज्ञानसे तुम्हें छुड़ाता हूँ ॥ ६ ॥

इस ज्ञानसे ही व अपने अंदरकी कृपणता छोड और सुकृतसे प्राप्त होनेवाले सुखपूर्ण भद्रलोक को प्राप्त कर । मैं भी इस ज्ञानसे ही तुम्हें आपतितसे बचाता हूँ ॥ ७ ॥

जिस प्रकार सूर्य अंधकारको हटाकर स्वयं अपना उदय करता है, इसी रीतिसे चन्द्रादि अन्य देव भी घन अंधकारको पकड़को दूर करते हुए स्वयं अपने उदयसे प्रकाशित होते हैं, इसी तरह स्वयं अपने पुण्यार्थसे अपने पाप दूर करके ज्ञानकी सहायतासे अपना बन्धन करे क्योंकि यही एक उन्नतिका सबसे सुख्य साधन है ॥ ८ ॥

दुर्गतिका स्वरूप ।

इस सूक्तमें दुर्गतिका वर्णन विस्तारसे किया है और उससे बचनेका निश्चित उपाय भी संक्षेपसे परंतु विरोध जोर देकर कहा है । अनेक आपतियोंसे अपना बचाव करने और अपना अभ्युदय करनेका निश्चित उपाय थोडे शब्दोंमें कहनेके कारण यह सूक्त बड़ा महत्वपूर्ण सूक्त है । और यह हर एक को विरोध मनन करने योग्य है । इस सूक्तमें जो दुर्गतिका वर्णन किया है वह सबसे पहिले देखिये—

१ क्षोत्रियः—जातपितासे प्राप्त होनेवाले रोग, असक्तता, अवयवों की कमजोरी आदि आपतियाँ । ये जन्मसे ही सूतके साथ ही शरीरमें आती हैं । (मं० १)

२ विक्रमतिः—अज्ञावट, विनाश, अनौगति, अपनकी फूट, सत्यनिर्घोषका पालन न होना, दुरवस्था, विरह परिस्थिति, शय, गाली, हीन विचारआदिके कारण होनेवाली हीन स्थिति । (मं० १)

३ जामिशंसः—इसमें दो शब्द हैं, जामि+शंस । इनके अर्थ ये हैं ' जामि ' = वंश, जाता, संबंध । जल । संगुभी । सम्मान्य स्त्री । पुत्री, बहिन, बहु । ये जामि शब्दके अर्थ कोशोंमें दिए हैं । अब, ' शंस ' शब्दके अर्थ देखिए प्रशंसा, प्रार्थना, पाठ, सादरपत्र, शाय, वृद्ध, आपत्ति, क्लेश, सांजन, अपकीर्ति, इन दोनों अर्थोंका भेद करनेमें ' जामिशंस 'का अर्थ निम्न लिखित

प्रकार बन सकता है ' नातेके कारण आनिवाली आपति या दुर्भारिता, जो विषयसे होनेवाला लांछन या कलंक ' इत्यादि । इसी प्रकार अन्यन्य अर्थ भी पाठक विचार करके देख सकते हैं परंतु अर्थोंमें आपति या कष्ट का संबंध अवश्य चाहिए, क्योंकि निर्रति श्रेष्ठ आदिके गणने यह ' जामितोस ' शब्द आया है, इसलिए इसका आपति दर्शक अर्थही यहाँ अपेक्षित है । (मं० १)

४ दुष्टः = शोच, घात पात, विश्वास घटेकर घात करना । (मं० १)

५ वरुणस्य पापः = वरुण नाम श्रेष्ठ परमेश्वरका है । सभसे जो 'वर' है उसको वरुण कहते हैं । उस जगदीशके पाप सब जगत्में फैले हैं और उनसे कुकर्मी पुरुष बांधे जाते हैं । जगत्में उस परमात्माको ऐसी व्यवस्था है, कि तुरे कर्म स्वर्ग पाप रूप होकर दुराचारीको बांध देते हैं और उनसे बंधा हुआ वह मनुष्य आपत्तिमें पड़ता है । (मं० १)

६ यक्ष्मः = क्षय रोग, क्षीण करनेवाला रोग । (मं० ५)

७ दुरितं = (दुः+रुत) जो दुष्टता भेदर घुसा होता है । मन बुद्धि इंद्रिय और शरीरमें जो विजातीय दुष्ट भाव या पदार्थ पुसे होते हैं जिनसे उक्त स्थानोंमें विगड होकर कष्ट होते हैं उनका नाम दुरित है । यही पाप है (मं० ६)

८ अक्षयं = मिटा करने योग्य । जिनसे अधोगति होती है आपति आती है, और कष्ट होते हैं उनका यह नाम है । (मं० ६)

९ प्राही = जो जकट कर रखता है, छोड़ता नहीं, जिसे मुक्त होना कठीन है । शरीरमें संघिवात आदि रोग जो जोड़ों को जकट रखते हैं । मनमें विषयवासना आदि और बुद्धिमें आरिभूत निबलता आदि हैं । (मं० ६)

१० वराति = (वर+रातिः) अनुदारता, कृपणता, कंजुशी । (मं० ७)

११ तमः = अज्ञान, अंधकार, आलस्य । (मं० ८)

ये शब्द मनुष्यकी दुर्गतिका स्वरूप बता रहे हैं । इन शब्दोंका शारीरिक, इंद्रियविषयक, मानसिक, बौद्धिक और आरिभूत अवनतिके साथ संबंध यदि पाठक विचार पूर्वक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इस दुर्गतिका कितना बड़ा कार्य इस मानव समाजमें है । रहा है और इस अधोगतिसे बचनेके लिये कितनी दृढताके साथ कसर कसके तथा दक्षतासे कार्य करना चाहिये । मनुष्योंके मन बुद्धि चित्त अहंकार इंद्रियगण तथा शारीरिक व्यवहारमें इस दुर्गतिके नाना रूपोंका संचार देखकर विचारी मनुष्यका मन चकरमें आता है और वह अपने कर्तव्यके विषयमें मोहित या हो जाता है, उसको इस दुर्गतिके साम्राज्यसे बचनेका उपाय नहीं सूझता, ऐसी अवस्थामें यह सूख उस मूढ़ बने मनुष्यसे कहता है कि ' हे मनुष्य ! क्यों मूढ़ बना है, मैं इस मार्गसे तुम्हें बचाता हूँ और तुम्हें निर्दोष अर्थात् पवित्र भी बनाता हूँ । ' (मं० १)

एकमात्र उपाय ।

आपत्तिगण अनंत हैं । यद्यपि पूर्वोक्त ग्यारह शब्दों द्वारा इस सूक्ष्म आपत्तियोंका वर्णन किया गया है तथापि ग्यारह शब्दों द्वारा, मानी, अनन्त आपत्तियोंका वर्णन होना है । इन अनन्त श्रेणियोंसे बचनेका एकमात्र उपाय है और वह इस सूक्ष्म के हर एक मंत्रमें ' ब्रह्म ' शब्दसे बताया है । प्रत्येक मंत्रमें—

सुखामि एवा ब्रह्मणा अनागतं कृणोमि ।

' ... तुम्हें छुड़ाता हूँ और तुम्हें शान्तिसे निर्दोष करता हूँ । ' यह वाक्य पुनः पुनः कहा है । बारंबार कहनेके कारण इस बातपर विशेष बल दिया है यह स्वयं स्पष्ट है । दुर्गतिसे मनुष्यका बचान करनेवाला एक मात्र उपाय ' ब्रह्म ' अर्थात् ' सत्यज्ञान ' ही है । ज्ञानसे ही मनुष्य बच सकता है और अज्ञानसे गिरता जाता है । जो उन्नति, जो प्रगति, जो बंधनसे मुक्ति होनी है वह ज्ञानसे ही होनी है । परम पुरुषार्थ द्वारा अपना उत्कर्ष साधन करना भी ज्ञानसे ही साध्य हो सकता है । ज्ञानहीन मनुष्य किसी भी प्रकार उन्नति नहीं कर सकता ।

ज्ञानका फल ।

ज्ञानसे क्या क्या हो सकता है इसका वर्णन करना कठिन है, क्योंकि ज्ञानसे ही सब कुछ उत्पत्ति होती है । कोई उच्च श्रेण्य ऐसा नहीं है कि जो बिना ज्ञानके सिद्ध हो सकता है । तथापि इस सूक्ष्म ज्ञानसे जो कुछ सिद्ध किया जा सकता है उसका

संज्ञानसे वर्णन किया है । अब इसी बातका विचार करेंगे । सत्यज्ञानका पहिना फल यह है—

(१) उभे चावाशुषिबी ते श्रिबे स्वाम् । (मं० १)

‘गुलोक और पृथ्वी लोक वे तेरे लिये कल्याणकारी शुभ हों’ अर्थात् जो सत्यज्ञानसे युक्त है उसके लिये पृथ्वीसे लेकर गुलोक पर्यंतके सब पदार्थ शुभकारी होंगे । पृथ्वीसे लेकर गुलोक पर्यंतके सम्पूर्ण पदार्थ अपने लिये कल्याणकारी बनानेकी विद्या अपनेले ज्ञानी मनुष्यको ही दाय्य होती है । पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि यह क्यों मारी प्रचलशाक्ति है कि जो ज्ञानीको प्राप्त होती है । तुम्हसे लेकर मूर्ख पर्यंतके सब पदार्थ उसके बराबरी होकर उसका हित करने में तय्य रहते हैं । यह अद्भुत सामर्थ्य ज्ञानीको प्राप्त करता है ।

(२) अग्निः सह अग्निः शम् ॥ (मं० २)

‘अग्निके साथ अग्नि कल्याणकारी होता है’ ज्ञानी मनुष्य ही जन्मसे तथा अग्नि से—दोनोंके संयोगसे या विशेषसे—अपना काम कर सकता है, जनताका भला कर सकता है ।

(३) औषधीभिः सह सोमः शम् । (मं० २)

‘औषधियोंके साथ सोम सुखकारी होता है ।’ सोम एक बड़ी मारी प्रभावशाली औषधि है, यह वनस्पति सब औषधियोंका राजा कहलाती है । सोम और औषधियोंसे प्राणियाय का हित साधन करनेका शान वैद्यशास्त्र में कहा है । नानाप्रकार के रोग दूर करनेके विविध औषधियोग उस शास्त्र में कहे हैं और यह विद्या आजकल प्रचलित भी है । इसलिये इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है । पूर्वोक्त कथामें जो रोगविषयक कथ होते हैं, वे सब इस विद्यासे दूर होते हैं । जलचिकित्सा और अग्निचिकित्सा भी इसी में संमिलित है ।

(३) अन्तरिक्षे वायुः वपः यो धात् । (मं० ३)

‘अंतरिक्षमें संचार करनेवाला वायु आरोग्य पूर्ण सुख देनेवाला होता है ।’ विद्यासे ही वायु लाभकारी हो सकता है । योगसाधनका प्राणायाम इस विद्याका घोटक है । प्राणायाम करनेवाले योगी वायुसे अत्यधिक बल प्राप्त करते हैं और दीर्घजीवी होते हैं । आरोग्य शास्त्रके सब नियम इस ज्ञानमें संमिलित हैं । वायुयुक्ति द्वारा आरोग्य साधन करने का विषय इस में आता है । रोगनिवारक तथा रोग प्रतिबंधक होम हवन यज्ञ याग इस विद्याके प्रकाशक हैं ।

(४) देवीः चतस्रः प्रदिताः वातपत्नीः ते शम् । (मं० ३, ४)

‘दिव्य चारों दिशाएं, जिनमें वायुका पालन होता है, तीरे लिये सुखकारक होंगे ।’ चार दिशाएं और चार उपदिशाएं अर्थात् उनके अंदर रहनेवाले सब पदार्थ ज्ञानसे ही मनुष्यके लिये लाभकारी होते हैं । इसका मान पूर्ववत् ही समझना योग्य है ।

(५) सूर्यः भूमिचिच्छे । (मं० ४)

‘सूर्य जो चारों ओर प्रकाशता है’ वह भी ज्ञानसे तेरे लिये अनुकूल हो सकता है । सूर्य प्रकाशसे मनुष्य मात्रको अंतत काम होते हैं । इस विद्याको जो जानते हैं वे इससे अपना काम कर सकते हैं ।

(६) स्वा जासि अन्तः आशुचामि । (मं० ५)

‘तुम्हसे अतिवृद्ध आयुके अंदर धारण करता हूँ’ अर्थात् ज्ञानसे तेरी आयु अति दीर्घ हो सकती है । ज्ञानसे जीवनेके सुनियम प्राप्त होते हैं और उनके पालनसे मनुष्य दीर्घायु हो जाता है ।

(७) वदमः निर्ऋतिः पराचैः पदु । (मं० ५)

‘वदमा आदि रोग तथा अन्धान्य अर्थात् पांशु कानसे दूर होगी ।’ ज्ञानसे आरोग्य अर्थात् सत्य ज्ञानसे सत्य ज्ञान होते हैं और उनके पालन से मनुष्य नीरोग होकर सुखी होता है ।

(८) वदमात्, दुर्गितात्, श्ववात्, दुहः, पाशात्, प्रासाः च अमुस्याः, उदमुस्याः । (मं० ६)

‘ज्ञानसे वदम, रोग, पाप, निरा कर्म, होड, बंधन, जकडना आदिसे मुक्ति होती है ।’ अर्थात् इनके कष्ट दूर होते हैं । यह बात पाठकोके ध्यानमें पूर्ववत् आजायगी ।

(९) स्योनं ऋविदुः (मं० ७)

'सुख प्राप्त होगा।' ज्ञानघे.हीं उत्तम और सत्य सुख प्राप्त होगा। पृथ्वीसे लेकर पुनः पर्यन्तके संयुक्त पदार्थ ज्ञानसे वरवर्षा होती है और उस कारण सुख प्राप्त होता है। यह मानवी अभ्युदय की परम सीमा है। इसीको कर्ते हैं-

(१०) सुकृतस्य भद्रे लोके अमूः । (मं० ७)

'सुकृतके कृत्याण पूर्ण स्थानमें निवास होगा।' ज्ञान से ही सुकृत क्रिये जायगे और उन सुकृतोंके कारण मनुष्यकी उत्तम गति होगी, उसको श्रेष्ठसे श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होगी। ज्ञानसे ही सब जनताकी इतनी उन्नति होगी कि यहाँ भूलोक स्वर्गपाम बन आयाग। सत्य ज्ञानके प्रचारसे इतना लाभ है इसलिये हर एक वैदिकधर्मो आर्षको सत्यज्ञान प्राप्त करके उसका प्रचार करना चाहिये।

सत्य ज्ञानके ये दस फल दस सूक्तमें कहे हैं। सब उन्नतिको यह मुख्य साधन है। इसके बिना अन्य साधन रहे टी भी उरवे कोई लाभ नहीं होगा। इसलिये पाठक ज्ञानको उन्नति का मुख्य साधन मानकर ज्ञानार्जन और ज्ञानदान के विषयमें परिश्रम करें। अब इस सूक्तमें जो उन्नतिको मार्ग बताया है वह यहाँ देखिये-

उन्नतिको मार्ग ।

अष्टम मंत्रमें एक विलक्षण अथर्व अलंकार के द्वारा उन्नतिको मार्ग दर्शाया है वह भी यहाँ अब देखना चाहिये-

तमसो माग्ना ऋषिभ्यः देवाः ऋतं सूर्यं

पमसः अमृजन् ॥ (मं० ८)

' जिस प्रकार अंधकारकी पकड़से सुजाति हुए सब देव स्वयं उठनेवाले सूर्यको अयोभवत्प्राप्ते ऊपर प्रकट करते हैं । '

अलंकार की भाषा ।

इस अष्टम मंत्रमें एक अलंकार है। सूर्य और अन्य देवोंका अर्थात् अलंकार से रूपक बनाकर यहाँ वर्णन किया है। वेदमें सूर्य और चन्द्र विषयक कई रूपक आते हैं उनमें यह क्षीरप महत्त्व का रूपक है। यह रूपक इस प्रकार देखना चाहिये-

' चन्द्र रूपी पुत्रका पालन रात्री नात्नी माता करता है और सूर्य रूपी शालक का पालन दिनप्रमा नात्नी माता करती है। प्रारंभमें सूर्य अंधेरेमें दबा रहता है, उसी प्रकार चंद्र भी गाढ अंधकार में दबा रहता है। मानो इसको मार्ग दिखानेका कार्य अन्य देव अर्थात् सब नक्षत्र, पुषिता, वायु, आदि संपूर्ण देवताएं करती हैं। सूर्य स्वयं ऊपर उठनेका चल करता ही रहता है, अंतमें वह ऊपर आता है, उदय को प्राप्त होता है, प्रतिक्षण अंधिकाधिक चमकने लगता है और मर्यादमें ऐसा चमकता है कि उस समय उसके अपरिम तोरको कोई घटने कर नहीं सकता। इसी प्रकार चन्द्र भी अपनी सभी अवस्थासे प्रगति करता हुआ पूर्वभागे अपना पूर्ण विद्यार करता है । '

अपने प्रदलसे उन्नति करनेवाले को इस संश्लेष उन्नति होती है, यह दर्शाना इस रूपक का प्रयोजन है। जो स्वयं चल नहीं करेगे उनकी उन्नति होना कठिन है। दूसरोंकी सहायता भी तब तक सहायक नहीं होती जब तक कि अपना प्रदल उसमें संमिलित नहीं होता। यह उन्नतिको मूल मंत्र है ।

स्वकीय प्रयत्न ।

इस मंत्रमें ' ऋतं सूर्यं देवाः तमसः मुञ्चतः ' अर्थात् ' स्वयं चलनेवाले सूर्य को ही देव अंधकारसे छुटा सकते हैं ' ऐसा कहा है। यदि सूर्यमें स्वयं अपना प्रयत्न न होता तो वे उसका अंधकारसे मुक्त कर नहीं सकते। इसी प्रकार मनुष्य भी जो स्वयं अपने उदारका यान राशदिन करता रहता है, उसीको अन्य गुरुजन सहायकारों होते हैं।

इस दृष्टिसे विचार करनेपर पता लग सकता है कि इस मंत्रमें ' ऋतं ' शब्द बहुत महत्त्वका भाव बता रहा है, देखिये इसका आशय। ऋतं= "योग्य, ठीक, सत्य, हलचल करनेवाला, गतिमान्, प्रत्यागच्छी, दस, सत्य नियम, ईश्वरीय नियम, सुक्ति, बंधननिश्चय, कर्मफल, आदर विश्वास, दिव्य सत्यनियम । '

जो (श्रुतं) सत्य नियम पालन करता है, वही अंधकारके परे जा सकता है और जो स्वयं प्रयत्न करता है उसको दूसरे सहायता कर सकते हैं । सूर्य स्वयं प्रकाशमान है, उदय होना चाहता है, नियम पूर्वक प्रयत्नशील है, इसलिये उदयको प्राप्त होकर ऐसा तेजस्वी बनता है, कि सब अन्य तेज उसके सामने फँके हो जाते हैं । जो मनुष्य ऐसा प्रयत्न करेगा वह भी वैसा-ही प्रभावशाली बनेगा ।

वायु जल मन्त्र आदि जगत्के देव, विद्वान् शूर आदि मानवोंके अंदरके देव, तथा इंद्रियगण ये शरीरस्थानीय देव सभी पुण्य की सहायता करते हैं कि जो स्वयं सत्सामयम पालनमें सदा दक्ष रहता है और स्वयं अपने पुण्यार्थमें अपनी उपाति करनेका प्रयत्न करता रहता है । पापसे मुक्त होकर निर्दोष बनना, पारतंत्र्यके बंधमें मुक्त होकर स्वयं साक्षित होना, रोगमुक्त होकर भीरोग होना, अपमृत्युके बंधनसे छूटकर दीर्घायु होना आदि सबके लिये स्वयं ' श्रुत-गामी ' होना अत्यंत आवश्यक है । यही उपरके मंत्रमें ' श्रुतं ' शब्द द्वारा बताया है । जो श्रुत-गामी होता है वही बंधनोंको निवृत्त कर सकता है, पापोंको दूर कर सकता है और सूर्यके समान अपने तेजसे प्रकट हो सकता है । इस प्रकार यह मंत्र अत्यंत महत्त्व पूर्ण उपदेश दे रहा है, इसलिये इस दृष्टिसे पाठक इसका अधिक विचार करें ।

प्रार्थना का चल ।

वेदमें ' ब्रह्म ' शब्दका दूसरा अर्थ ' स्तोत्र, स्तुति, प्रार्थना ' भी है । जो प्रार्थना वाचक वैदिक सूक्त हैं उनके पुरुष व्यत्ययसे दूसरे भी अर्थ होते हैं, पान्नु उनका स्तुत्यर्थ या प्रार्थना-रूप अर्थ हटाया नहीं जा सकता । ' ईश प्रार्थना ' से बल प्राप्त करना या अपने बलका विकसल करना, प्रार्थनासे आत्मिक बल प्राप्त करना, वैदिक धर्मका प्रधान अंग है । इसीलिये प्रारंभ से अंत तक वेदके सूक्तोंमें सहस्रों सूक्त प्रार्थना के हैं । जो लोग एकान्तमें जाकर दिल खोलकर ईश प्रार्थना करना जानते हैं वेही प्रार्थना का महत्त्व समझ सकते हैं, अन्य लोग उसकी राक्ति नहीं जान सकते । इस लिये यहां कहना इतना ही है कि रोगादि आपत्तियोंकी निशुक्ति के लिये जितना उपयोग औषधादि प्रयोगों का हो सकता है, उससे कई गुणा अधिक लाभ ' ईश प्रार्थना ' से हो सकता है । यह मनो एक ' प्रार्थना-योग ' ही है । ' औषधि योग ' से ' प्रार्थना योग ' अधिक बलवान है । दुःखकी बात आजकल यही हो रही है कि, लोग प्रार्थना का महत्त्व नहीं समझते और उस से होने वाले लाभसे वंचित ही रहते हैं ! यह बर्बाद मारी हानि है ।

इस सूक्तमें ' ब्रह्म ' शब्द विशेष कर स्तोत्र वाचक ही है । ईश गुणवर्गन, ईश गुणगान करते करते जिसका मन प्रभुके गुणोंमें तहलान हो जाता है वह संपूर्ण अपलियोंसे दूर हो जाता है, क्योंकि वह उस समय अद्भुत अत्यंत रस का आस्वाद लेता हुआ दुःख मुक्त हो जाता है । पाठक इस दृष्टिसे इस बातका विचार करें और अनुभव भी लें ।

मनको धीरज देना :

वेदमें ' मै छुडता हूं ' इत्यादि प्रकार कई वाक्य हैं ' वै वाक्य मानस चिकित्सा ' या ' वाचिक चिकित्सा ' के सूक्त हैं । अपने अंदरके आरोग्य पूर्ण विचार अपनी मानस शक्तियों प्रेरणासे अपने शब्दों द्वारा रोगिके निर्बल मनमें प्रविष्ट करनेसे यह चिकित्सा साध्य होती है । इसमें रोगिके निर्बल मनको धीरज देना होता है । इस समय—

- १ त्वा क्षेत्रियात्...सुंघामि । (मं० १)
- २ त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि । (मं० १)
- ३ त्वा जरासि अन्तः आदधामि । (मं० ५)
- ४ यद्मनात् अमुक्याः (मं० ६)
- ५ प्राणाः उदमुत्रयाः । (मं० ६)

ऐसे वाक्य बोलके रोगिको धीरज देना होता है जैसा — (१) तुझको संश्रिय रोगसे मुक्त करता हूं । (२) तुझे ईश प्रार्थना-द्वारा निर्दोष करता हूं । (३) तुझको प्रति दीर्घ आयुवाला करता हूं । (४) तू अब यद्यन रोगसे मुक्त हुआ है । (५) जखननेवाले रोगसे तू अब दूर हो गया है । इत्यादि प्रकारके वाक्योंसे रोगिके धीरज देकर उसके मनका आत्मिक बल बढ़ाकर और उसमें दृढ विश्वास पैदा करके आरोग्य उत्पन्न करना होता है । यह पक्का भारी गहन विषय है । जो पाठक ईश प्रार्थना का बल जानते हैं, वेही इस बातको समझ सकते हैं ।

परमेश्वर पर जो दृढ विश्वास रखते हैं, उसकी उपासना करते हैं, उसकी भक्ति करने में जिनकी प्रेम आता है, उनके पास बीमारियाँ कम आती हैं । पाठक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि परमेश्वर के विश्वासी प्रायः आनन्द में मस्त रहते हैं और अधिश्वासी ही रोगी होते हैं ।

पाठक यह विश्वास का बल अपने में बढ़ावें और अपना अत्यधिक लाभ करें ।

यह सूक्त तो तत्त्वमनाशन गण का है और वह इस गणके अन्य सूक्तों के साथ पठने योग्य है ।

—:—:—

आत्माके गुण

(११)

(ऋषिः-शुक्रः। देवता-कृत्यादपणम्)

दृष्या दूर्परसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि । आमुहि श्रेयांसमतिं सुमं क्राम ॥ १ ॥
 स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्याभिचरणोऽसि । आमुहि० ॥ २ ॥
 प्रति तन्नाभि चर् योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । आमुहि० ॥ ३ ॥
 सूरिरसि वचोषा असि तनूपानोऽसि । आमुहि० ॥ ४ ॥
 अक्रोऽसि आजोऽसि स्वरासि ज्योतिरसि । आमुहि श्रेयांसमतिं सुमं क्राम ॥ ५ ॥

अर्थ— (दृष्याः दृषिः असि) दोष को दूषित करनेवाला अर्थात् दोषका दोषीपन इतनेवाला तू है । (हेत्याः हेतिः असि) हथियारका हथियार तू है । (मेन्याः मेनिः असि) वज्र वा वज्र तू है । इसलिये (श्रेयांसं आमुहि) परम कल्याणको प्राप्त कर और (सुमं क्राम) अपने समानसे अधिक भागें बट ॥ १ ॥

(स्रक्त्यः असि) तू गाविसील है, (प्रतिसरः असि) तू भागें बटनेवाला है, (प्रत्याभिचरणः असि) तू दुष्टगार हमला करनेवाला है । ० ॥ २ ॥

(तं प्रति अभिचर) उसपर चढाईकर कि (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो अकेला हम सबका द्वेष करता है तथा (यं वयं द्विष्मः) जिस अकेलेका हम सब द्वेष करते हैं । ० ॥ ३ ॥

(सूरिः असि) तू शानी है, (वचोषाः असि) तू तेजका घात करनेवाला है तथा (तनूपानः असि) घातका रक्षक तूही है । ० ॥ ४ ॥

(अक्रोः असि) तू वीर्यवान् लयवा सुद है, (आजोः असि) तू तेजस्वी है, (स्वः असि) तू आत्मिक शक्ति से युक्त है, (ज्योतिः असि) तू तेज स्वरूपी है इसलिये तू धैर्य प्राप्त कर और समानोंके भागें बट ॥ ५ ॥

भावार्थ—आत्मा दोषोंका दोष इतनेवाला है, वही शत्रुओंका महाघात और अक्रोका महा अक्र है ॥ १ ॥

आत्मा प्रगति करनेवाला है, भागें बटनेका उद्यम स्वभाव है, और दुष्टताका दूर करनेवाला है ॥ २ ॥

जो अकेला दुष्ट सब शत्रुओंको घाता है, और जिस अकेले दुष्टका सब शत्रुजन विरोध करते हैं । उसको हटा दे ॥ ३ ॥

तू शानी है, तेजका घात है, शरीरका सचा रक्षक तूही है ॥ ४ ॥

तूही बलवान् है, तूही तेज है तथा आत्मिक बलसे युक्त है, तू स्वयं प्रकाशरूप है, इसलिये तू समान लोगोंके भागें बट और निःश्रेयस अर्थात् सुक्ति प्राप्त कर ॥ ५ ॥

शरीरमें आत्माका कार्य ।

सगुणसाकार शरीरमें निर्गुण निराकार आत्माके गुण प्रत्यक्ष करनेका उपदेश इस सूक्तमें किया है । ये गुण अब देखिये—

(१) दूष्याः दूषिः अस्ति—दोषमय को दोष देनेवाला अर्थात् दोषका दूर करनेवाला है । देखिये, अपने शरीरमें ही इस बातका अनुभव कीजिये । अपना शरीर मलपूर्ण होता हुआ भी उसको जीवित रखता है और इसीका नन्दनवन इसने बनाया है । छद्मेवाले शरीरको न छद्मनेवाला, मरनेवाले शरीरको जीवित रखनेवाला, दोषमय शरीरसे निर्दोष आनन्दधाम प्राप्त करनेवाला यह आत्मा है । (मं० १)

(२) हेत्याः हेतिः, मेन्याः मेनिः अस्ति = शल्लोका शल्ल और वज्रका वज्र यह आत्मा है । शत्रुका नाश शल्ल करता है परंतु शल्लको चढानेवाला अर्थात् शल्लका भी शल्लरूप यह आत्मा शल्लके पीछे न होगा, तो शल्ल कैसे शत्रुका नाश करेगा ? इससे आत्माकी प्रेरक शक्तिका महत्त्व ज्ञात हो सकता है । (मं० १)

(३) सूक्त्यः अस्ति = आत्मा गतिमान है । 'अत-घातल्यगमने' (सतत गति करना) इस शत्रुसे यह आत्मा शब्द बनता है । सतत प्रदानशीलताका यह द्योतक है । वही भाव इस शब्दमें है । छोटे बालकमें क्या अथवा बड़े मनुष्यमें क्या सतत प्रयत्न शीलता है । कोई भी चुपचाप बैठना नहीं चाहता, उसीगंघे अपनी उन्नति करनेकी इच्छा हरएक प्राणीमें स्पष्ट है । (मं० २)

(४) प्रतिसरः अस्ति = आगे बढ़नेवाला, शत्रुपर हमला करके उसको दूर करनेवाला, अपना अभ्युदय करनेवाला है । आत्मा 'इन्द्र' है और वह सदा अपने शत्रुका पराभव करता ही है । (मं० २)

(५) प्रत्यभिचरणः अस्ति = द्रष्टु शत्रुको पराभूत करनेवाला । (यह शब्द भी पूर्वं शब्दके समान भाववाला ही है ।) (मं० २)

यहाँतक इन दो मंत्रोंके इन पाँच शब्दों द्वारा आत्माके उन गुणोंका वर्णन हुआ है कि जिनका बाहरके द्रष्टुओंसे संबंध है । अब आत्माके आन्तरिक स्वकीय निज गुणोंका वर्णन चतुर्थ और पंचम मंत्रके द्वारा करते हैं—

(६) सूरिः अस्ति = तू ज्ञानी है । आत्मा चित्स्वरूप होनेसे ज्ञानवान है, अत एव उसे यह शब्द प्रयुक्त हुआ है । (मं० ४)

(७) वषो-वाः अस्ति = तेज बल शोच आदिका धारण करनेवाला है । शरीर में जब तक आत्मा रहता है तब तक ही इस शरीर में तेज बल शोच आदि रहता है, यह हरएक जान सकते हैं । (मं० ४)

(८) तनु-पानः अस्ति = शरीरका रक्षक है । जबतक आत्माका निवास इस शरीरमें रहता है तबतक ही शरीरकी रक्षा उत्तम प्रकार होती है । जब यह आत्मा इस शरीरसे चले जाता है तब शरीर छवने लगता है । इससे स्पष्ट होता है कि शरीरका रक्षा रक्षक यह आत्मा है । (मं० ४)

(९) शुकः अस्ति = शरीरवायु, बलवान् तथा शुद्ध है । आत्माको ही 'शुक' (यजु० ४०।८ में) कहा है । इसलिये इसका अधिक विवरण करना आवश्यक नहीं है । (मं० ५)

(१०) भ्राजः अस्ति = तेजस्वी है अर्थात् दूसरोंको प्रकाश देनेवाला है । आत्मा ही सबका प्रकाशक है, यह मन्थमें रहता हुआ सबको तेजस्वी बनाता है । (मं० ५)

(११) स्वः अस्ति = आरिभक्त बलसे युक्त है (स्व+र)—अपने निज बलसे युक्त है । अर्थात् यह स्वयं प्रकाशक है । (मं० ५)

(१२) ज्योतिः अस्ति = स्वयं ज्योति है । प्रकाश स्वरूप है । (मं० ५)

ये सब शब्द आत्माका स्वभाव धर्म बता रहे हैं । मनुष्य स्वयं अपने आपको अत्यंत निर्बल, कमजोर और पूर्ण परावलंबी मानता है और अज्ञानसे वैसा अनुभव भी करता रहता है । इस सूक्तमें आत्माके स्वभावगुणधर्म बताये हैं । जिनके विचारसे पाठकोंका निश्चय होगा कि यह आत्मा निर्बल नहीं है । इसमें भी वैसेही प्रभावशाली गुणधर्म हैं कि जैसे परमात्मामें हैं । यह आत्मा ज्ञानी, पुद्गलार्थ, प्रयत्नशील, स्वयंज्योति, प्रभावशाली, बलवान्, तथा शरीर रक्षक है । इसलिये अपने आपको सदा सर्वदा कमजोर मानना और समझना योग्य नहीं । यद्यपि यह छोटा है तथापि इसकी शक्ति विकास की मर्यादा बहुत ही बड़ी है ।

जिस समय अपने अंदर निर्बलताको लहर आती है, उस समय यदि पाठक इस सूक्तका मनन करेगे और इन शब्दोंके भावोंसे अपने आत्मामें प्रत्यक्ष देखेंगे, तो उनके मनकी कप्रचोरी दूर हो जायगी और वे इस सूक्तके बलसे निःसंदेह ही अमृत्यु-दय निःश्रेयस प्राप्त करने योग्य बलवान् बन जायेंगे । अश्वमेधादिका वर्णन करनेवाले जो अनेक सूक्त हैं उनमें यह विशेष महत्त्वका सूक्त है । यह अत्यंत सरल और बड़ा भावपूर्ण होनेसे बहुत मनन करने योग्य है । यह सूक्त निर्बलताको भी बलवान् बना सकता है ।

व्युत्पन्न मंत्रमें कहा है कि ' उस शत्रुको दूर कर, जो अनेकों को सताता है । ' इस मंत्रमें यह बातविचार करने योग्य है, कि शत्रुता करनेवाला एक है, सतानेवाला एक है और सताये जानेवाले अनेक हैं । अल्प संख्यावालों के द्वारा बहु संख्यावतों को कष्ट होनेकी कल्पना इसमें है । ऐसे प्रसंगमें शत्रुको दूर करना ही योग्य है । जो दुर्जन अनेक सज्जनों को सताता है वह निःसंदेह दण्डनीय है ।

श्रेयः प्राप्ति ।

इस सूक्तके प्रत्येक मंत्रका द्वितीय चरण एकषा ही है । वह यह है—

आप्नुवि श्रेयांसं समं अतिक्राम ॥ [मं. १-५]

' समान लोगोंके आगे बढ़ और परम कल्याण प्राप्त कर ' यह इस वाक्यका अर्थ है । ' श्रेय प्राप्त कर ' यह तो वैदिक धर्म का ध्येय है, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, श्रेय, निःश्रेयस आदि शब्द एक ही भाव बता रहे हैं । वैदिक धर्ममें दही ध्येय सबके सामने रखा है । इस ध्येय की सिद्धि प्राप्त करनेके लिए ही इस सूक्तमें अर्पणके गुण उपासकोंको निवेदन किए हैं । इन गुणोंका मनन करता हुआ आत्मा उच्चतिके पथसे आगे बढ़ता हुआ निःश्रेयस तक पहुँच जाय । इसका मार्ग यह है—

उच्चतिका मार्ग

इसकी उच्चतिका मार्ग एक ही वाक्यसे बताया है वह चिरस्मरणीय वाक्य यह है—

समं अतिक्राम । [मं १—५]

' अपने समान योग्यता वाले लोगोंके आगे बढ़ । ' यह मार्ग है । जब यह प्रथम श्रेणीमें पढ़ता हो तो यह विचार मनमें रखे कि प्रथम श्रेणीमें रहनेवालोंके आगे बढ़ूँ, जब द्वितीय श्रेणीमें पहुँचे तब यही विचार मनमें धारण करे कि मैं द्वितीय श्रेणीवालोंके आगे बढ़ूँ । इस प्रकार अपनी श्रेणीवालोंसे आगे बढ़ता हुआ वह अपनी उच्चतिका प्राप्त करे ।

अपनी उच्चतिका तो साधन दूर एक ही करना ही है, परंतु उस उच्चतिके साधन के लिये अपनी श्रेणीवालोंसे आगे बढ़नेका ध्येय सामने रखना ही उचित है । प्रथम श्रेणीमें पढ़नेवाला प्रथम श्रेणीवालोंसे आगे बढ़नेकी महत्त्वाकांक्षा मन में रखे, परंतु उस समय दूसरे श्रेणीसे आगे बढ़नेके विचार से अपनी प्रथम श्रेणीसे कर्तव्य न भूले । प्रायः लोक अश्रमव ध्येय सामने रखकर अपने कर्तव्यसे वंचित रहते हैं । ऐसा कोई न करे, इस संशयसे यह मंत्र कह रहा है, कि अंतिम साध्य जो भी हो; उसका विचार न करते हुए, इस समय तुम जिस श्रेणीमें हो उस श्रेणीमें प्रथम स्थानमें स्थित रहकर, उस समय के अपने कर्तव्य परम दक्षतासे करो । इस प्रकार करते रहनेसे सबकी यथायोग्य उच्चति होती रहेगी और दया समय सबकी उच्चतिके परम साधनपर पहुँच जायेंगे ।

परंतु अपनी श्रेणीसे निम्न श्रेणीवालोंसे स्वर्धा करते रहनेसे मनुष्यको सिद्धि मिलना कठिन होगा इतना ही नहीं परंतु अव्यवधि होना ही अधिक संभव है । यदि छोटाछा कुमारा अपनी आयुवाले अन्य कुमारोंसे मनुष्यद न करता हुआ यदि बड़े पहिलवानोंसे मल मुद्र करनेका साहस करेगा, तो न तो उसमें उसके सिद्धि मिल सकती है और नही उसकी उच्चति ही सकता है । परंतु क्रमपूर्वक अपनी श्रेणीवालोंसे कुर्ता करता हुआ वह स्वयं आगे जाकर बड़ा मल हो सकता है; इसी प्रकार अल्पान्य अमृत्युदयोंके विषयमें समझना चाहिए । मुक्तिके पथके विषयमें भी यही मार्ग अधिक सुरक्षित है ।

पाठक इसका अधिक विचार करे । हमारे विचार में यह उच्चतिके मार्गका उपदेश सबके लिये सर्वदा मनन करने योग्य है । अपनी व्यथोगति न होते हुए कथसे निःसंदेह उच्चतिका प्राप्ति होना इसी मार्गसे प्राप्त है ।

मनका बल बढ़ाना ।

(१२)

(ऋषिः-भरद्वाजः । देवता-धावापृथिव्यादिनानादैवतम् ।)

धावापृथिवी उर्वरं क्षेत्रं पत्न्युरुगायोऽद्भुतः ।
 उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने ॥ १ ॥
 इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति ।
 पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ २ ॥
 इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्त्वां हृदा शोचता जाह्वीमि ।
 वृश्यामि तं कुलिंशेनेव वृथं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ ३ ॥
 अशीतिभिस्त्विसृभिः सामगेमिरादित्येभिर्वसुभिराङ्गिरोभिः ।
 इष्टापूर्तमवतु नः पितृणामाशुं ददे हरसा दैव्येन ॥ ४ ॥

अर्थ—[धावापृथिवी] धुलोक, और पृथिवी लोक, [उर्वर अंतरिक्ष] विस्तीर्ण आकाश, (क्षेत्रस्य पत्नी) क्षेत्रका पालन करनेवाली वृष्टि [अद्भुतः उरगायः] अद्भुतः और अद्भुत प्रशंसनीय स्वयं [उत] और [वातगोपं उर अन्तरिक्ष] वायुको स्थान देनेवाला अन्तरिक्ष आदि सब [मयि तप्यमाने] मैं गण होके पर [इह ते तप्यन्तां] यहां वे सब सन्तप्त होते ॥ १ ॥
 हे [देवाः] देवो ! (ये यज्ञियाः स्थ) जो तुम सत्कार करने योग्य हो, वे सब [इदं शृणुत] यह सुनो, कि [भरद्वाजः मह्यं उक्थानि शंसति] बल बढ़ाने वाला मुझको उत्तम उपदेश देता है । परंतु [यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति] जो हमारे इस मनको बिगाड़ता है, [सः दुरिते पाशे बद्धः नियुज्यताम्] वह पापके पाशमें बंधा जाकर नियममें रखा आवे ॥ २ ॥

हे [सोम-प इन्द्र] सोमपान करनेवाले इन्द्र ! [शृणुहि] सुन कि [यत् शोचता हृदा जोह्वीमि] जो शोकपूर्ण हृदयसे मैं प्रचारता हूं । [यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति] जो हमारा यह मन बिगाड़ता है, [तं] उसको [वृथं कुलिंशेन इव] वृथको कुडारीसे काटनेके समान [वृश्यामि] काट दारूं ॥ ३ ॥

[तिसृभिः अशीतिभिः सामगेभिः] तीन छंदोंसे अच्छी मंत्रोंद्वारा सामगान करनेवालोंके साथ तथा [आदित्येभिः वसुभिः आङ्गिरोभिः] आदित्य वसु और आङ्गिरोके साथ [पितृणां इष्टापूर्त नः अवतु] पितरों द्वारा किया हुआ यज्ञयागादि शुभ कर्म हमारी रक्षा करे । मैं [दैव्येन हरसा अशुं आददे] दिव्य शोध या बलसे इस को पढ़ता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ— धुलोक, पृथ्वीलोक, अंतरिक्ष लोक तथा इष्ट अथवाश में रहनेवाले सब लोक लोकान्तर मर अनुकूल हो अर्थात् मेरे संतप्त होनेसे वे संतप्त हों और मेरे शांत होने पर वे भी शांत हों ॥ १ ॥

हे सत्कार करने योग्य देवो ! सुनो । नियम यह है कि बल बढ़ानेवाला ही दूसरों को उत्तम उपदेश करता है, परंतु बल बढ़ानेवाला भुरे विचारों की प्रेरणसे मनको दूषित करता है, उस पापीको पकड़ कर बंधनमें रखना उचित है ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! सुन कि जो मनको बिगाड़ता है उसका नाश करना योग्य है यह बात मैं हृदयके जोशके साथ कहता हूं ॥ ३ ॥

द्यावापृथिवीं अनु मा दींधीयां विश्वे देवासो अनु मा रमध्वम् ।	
आङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्हेत्वपक्वामस्य कृता	॥ ५ ॥
अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिपत्क्रियमाणम् ।	
उपूषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विपं द्यौरभिसंतपाति	॥ ६ ॥
सप्त प्राणान्ष्टौ मन्यस्तांस्ते वृक्षामि ब्रह्मणा ।	
अया यमस्य सादनमिदूतो अरकृतः	॥ ७ ॥
आ दधामि ते पुदं समिद्धे जातवेदसि ।	
अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागर्षिं गच्छतु	॥ ८ ॥

अर्थ— [द्यावापृथिवी मा अनुमादींधीयां] सुलोक और पृथ्वीलोक मेरे अनुकूल होकर प्रकाशित हों । हे [विश्वे-देवासः] सब देवो ! [मा अनु मा रमध्वं] मेरे अनुकूल होकर कार्यात्म करो । हे [आङ्गिरसः सोम्यासः पितरः] अंगिरस सोम्य पितरो ! [अपक्वामस्य कृता पावं वा प्राच्छन्तु] अनिष्ट कार्यका करनेवाला पापको प्राप्त हो ॥ ५ ॥

हे [मरुतः] मरुतो ! [यः अतीव मन्यते] जो अपने आपको ही बहुत भारी समझता रहे, [यः वानः क्रियमानं ब्रह्म निन्दिपत्] अथवा जो हमारे किये जानेवाले ज्ञान की निंदा करे । [वृजिनानि तस्मै उपूषि तन्तु] सब कार्य इसके लिये सापदायक हो । तथा [द्यौः ब्रह्मद्विपं संतपाति] सुलोक उस ज्ञानविरोधीको बहुत तप देवे ॥ ६ ॥

[ते तान् सप्त प्राणान्] तैरे उन सात प्राणों को और [ष्टौ मन्यः] आठ मज्जाप्रणियों को मैं [ब्रह्मणा वृक्षामि] ज्ञानके शक्तिसे छेड़ता हूँ या खोलता हूँ । वृ [अग्निदूतः अरकृतः यमस्य सादनं अयाः] अग्निदा दूत बनकर सिद्ध होकर यमके परम जा ॥ ७ ॥

[समिद्धे जातवेदसि] प्रदीप्त अग्निमें [ते पुदं आदधामि] तेरा स्थान रखता हूँ । [अग्निः शरीरं वेवेष्टु] यह अग्नि शरीर में प्रवेश करे [वाक् अपि असुं गच्छतु] वाणी भी प्राण को प्राप्त हो ॥ ८ ॥

भावार्थ— जिसमें तीन छन्दों के अरधी मंत्रों द्वारा सायमान करते हैं, उस दहमें वसु रुद्र आदित्यों के साथ पितरों द्वारा क्रिया-बुधा यज्ञ थापादि शुभ कर्म हमारा रक्षक होवे । उस सर्कर्मसे हमारा मन शुद्ध रहे । जो पापी हमारा मन निर्बल करनेका यत्न करता है उसको मैं दिव्य बलके साथ पकड़ता हूँ ॥ ५ ॥

सुलोक और भूलोक के अंतर्गत सब वस्तुमान मेरे अनुकूल हों, सब मन्त्र्यादि देव मेरे अनुकूल कार्य करें । हे पितरो ! अनिष्ट कार्य करनेवाला पापी बनकर पतित होवे ॥ ५ ॥

हे मरुतो ! जो धर्मही मनुष्य अपने आपको ही सबसे बड़ा समझता है, इतना ही नहीं परंतु हम जो ज्ञान उपग्रह करते हैं उसकी भी जो निंदा करता है, उसको सब कर्म कष्टप्रद हों, क्योंकि जो सत्यज्ञानका विरोध करता है उसको सुलोक बहुत तप देगा ॥ ६ ॥

तेरे सातों प्राणोंको और आठों मज्जास्थानों को मैं ज्ञानसे खोलता हूँ, वृ अग्निदूत बनकर यमके परम जा ॥ ७ ॥

इस प्रदीप्त ज्ञानाग्निमें मैं तेरा स्थान रखता हूँ । यह अग्नि तेरे अंदर प्रविष्ट होवे और तेरी वाणी भी प्राण को प्राप्त होवे ॥ ८ ॥

मानस शक्तिका विकास ।

मनही शक्तिये मनुष्य की योग्यता निश्चित होती है । जिसका मन शुद्ध और पवित्र उद् महात्मा होता है और जिसका मन अशुद्ध और मलीन विचारोंवाला वह दुष्ट कहलाता है । इसके पूर्व सूक्ष्म आत्माके गुण वर्णन करने द्वारा आरिभक्त बल बढाने

का उपाय कदा, नशी की पूर्ति करने के लिये इस सूक्ष्म मानसिक शक्ति विकास का उपाय बताया है, क्योंकि आत्मिक शक्ति विकास के लिये मानसिक शुद्धताकी भी अत्यंत आवश्यकता है । मन मजिन रहा तो आत्मिक बल बढ ही नहीं सकता ।

मानस शक्ति विकासके साधन ।

त्यागभाव ।

मानसिक बल बढ़ानेवालेका नाम इस सूक्ष्म ' मरदान्, ' अर्थात् ' (भरतु + वाजः ' = वाजः + भरतु) बल भरनेवाला कहा है । ' वाजः ' का अर्थ घी, अन्न, जल, प्रार्थना, अर्पण, दक्ष, शक्ति, बल, धन, वेग, गति, युद्ध, शब्द ' यह है । इसमें घी, अन्न, जल ये तदार्थ शारीरिक बलकी पुष्टि करनेवाले हैं, परंतु येही युद्ध सात्विक सेवन किये जाय तो मनकी भी सात्विक बनाते हैं । जल प्राणों के बलके साथ संरक्षित है । धन आर्थिक बलका चोतक है । अर्पण, आत्मसमर्पण, यज्ञ जिसमें आत्मसर्वस्वकी आहुति देना प्रचलन अंग होता है, ये यज्ञरूप कर्म आत्मिक बल बढ़ाते हैं । युद्ध क्षात्र बल बढ़ाता है । परमेश्वरकी प्रार्थना मानसिक बलकी वृद्धि करती है । वाज शब्दके जितने अर्थ हैं इनकी संगति इस प्रकार है । यहां बल बढ़ाने वाले साधनोंका भी ज्ञान हुआ । पाठक यदि इस बातका विचार करेगी, तो उनको इससे अपना बल बढ़ानेके उपाय ज्ञात हो सकते हैं । यह बल जो मर देता है, उसका नाम ' मरद् - वाजः ' होता है । तब मरदान् आत्मिक बल बढ़ाने का साधन इस प्रकार सब को कथन करता है-

शुभवचन ।

मरदानः मह्यं दक्षयानि संसृति ॥ (मं० २)

' बल बढ़ानेवाला मुझे सूख कहता है ' अर्थात् उत्तम वचन अथवा ईश गुणगानके स्तोत्र कहता है । ये शुभवचन कहनेसे, इनका मनन करनेसे, इनको अपने मनमें स्थिर करने से ही मनकी शक्ति बढ सकती है । परमेश्वर शक्ति, उपासना, सद्भावनाका मनन यही सूक्ष्मधर्म है । इससे मनकी पवित्रता होने द्वारा मानसिक शक्ति विकसित होती है ।

ज्ञान ।

इस ' ज्ञानामि ' को ही ' जात—वेद अग्नि ' कहते हैं, जिससे वेद प्रकट हुआ है वही अग्नि जातवेद है । जिससे ज्ञान प्रकाशित हुआ है वही यह अग्नि है । इसीको ज्ञानामि, ब्रह्मामि, आत्माभि, जातवेद, आदि अनेक नाम हैं । मानसिक शक्ति विकास, या आत्मिक बल वृद्धि करनेकी जिसको इच्छा है, उसको इस अग्निकी शरण लेना योग्य है । इस विषयमें अष्टम मंत्रमें कहा है—

ना दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि ।

अग्निः शरीरं वेवेष्टुवसुं वागवि गच्छतु ॥ (मं० ८)

" इस प्रदीत जातवेद नामक ज्ञानमिमें तेरा पांव मैं रखता हूं । यह ज्ञानमि तेरे शरीरके रोम रोम में प्रविष्ट होवे और तेरी वाणी भी प्राणमि के पास जावे ।" जो मनुष्य अपने आत्मिक बल तथा मानसिक बल बढ़ानेका इच्छुक है उसको अपने आत्मको ज्ञानसे संयुक्त होना चाहिये । जिस प्रकार लेहा अग्निमें पड़नेसे वह योडे सनयमें अग्निरूप होजाता है, उसी प्रकार ज्ञानामिमें पडा हुआ यह मनुष्य योडे ही सनयमें अपने आपको ज्ञानामिसे—जातवेद अग्निसे—प्रदीत हुआ देखता है । यह ज्ञाना-वस्था है ।

जीवित वाणि ।—इस समय इसके वाणीमें एक प्रकारकी प्राणशक्ति प्रकाशित होती है, मानो इसकी वाणी जीवित की हो जाती है । (वाक् अक्षुं गच्छति) वाणी प्राणको प्राप्त करती है । सामान्य मनुष्योंकी वाणी सुर्दा होती है, परंतु इस ज्ञानीकी वाणी जीवित होती है । वह सिद्ध पुरुष जो कहता है वह बन जाता है वह जीवित वाणीका साक्षात्कार है ।

शाखा छेदन ।—तेडी मेंडी काखाएं काट कर वृक्षको सुंदर बनाया जाता है । वृक्षपर बलियोंका भार बढ गया, तो इसको बढनेके लिए उस भार से मुक्त करना आवश्यक होता है । अर्थात् उद्यानके वृक्षोंको जैसे चाहिये वैसे बढने देना उचित नहीं है । इसीप्रकार इस अक्षय्य दृष्टके विषयमें जानना चाहिये । इस विषयमें श्री मगवतीनाम कहा है—

ऊर्ध्वमूलमघः शाखमकारं प्राहुरभ्यधम् ।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

अथश्रोत्रं प्रसृतास्त्वस्य शाखा गुणमनुजा विषयप्रवाहाः ।

अथश्च मूळान्यनुसन्ततानि कर्षानुबन्धोति मनुष्यलोके ॥ २ ॥

न रूपमस्यैह तथोपलभ्यते नाऽन्तो न चाऽऽदिनं च संप्रतिष्ठा ।

अथत्यमेनं सुविरूढमूलमसङ्गदक्षेण हरेन शिष्या ॥ ३ ॥ गीता १०० १५

‘ऊपर मूल और नीचे शाखा बिस्तार फैला है ऐसा यह अर्थात् वृक्ष है । ऊपर नीचे इसकी शाखाएं बहुत फैली हैं । इन शाखाओंको अर्धग पत्रधे छेद करके यहां इसको ठीक करना चाहिए’ तत्पश्चात् उच्यतेऽत्र मार्गं विदितं हो सकता है । इस विषयमें सप्तम मंत्रमें कहा है, वह अर्थ देखिये—

सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्वांस्ते वृक्षामि महणा ।

अथा यमस्य सादृशमामिद्रुतो मरुहृताः ॥ (म० ७)

‘सात प्राणोंको और आठ अर्थियोंको मैं जानने काइता हूँ या छेदता हूँ अपना खोलता हूँ । वृक्ष जमिदा सिद्ध हुए बनकर यम के घरको जा ।’ इस सप्तम मंत्रमें सात प्राणोंको और आठ मज्जाभेदियोंको (वृक्षामि) काटनेका उल्लेख है । और यहां काटनेका शब्द ‘मघ’ अर्थात् ‘ज्ञान, भक्ति, धार्यना, उपासना, स्तोत्र’ इत्यादि प्रकार का है । मघ दण्डका ज्ञान आदि अर्थ प्रसिद्ध है । पाठक यहां विचार करें कि क्या कभी ‘ज्ञान अथवा ईश उपासना’ (मघना वृक्षामि) छत्र बनकर किसी को काट सकते हैं ? यदि ये छत्र बन कर किसीको काटने होंगे तो किसको काटते हैं ? वह विचार करना चाहिए ।

असंगारूख और दृष्टारूख ।—गीतामें ‘असंगशब्द’ से वृक्ष काटनेका उल्लेख है, वहां ज्ञाना उपासनाओंको असंग शब्द काटनेका भाव है । वाद्यनाएं भी मोग को इच्छासे ही फैलती हैं और मोग भी इंद्रियोंके विषयों के ही होते हैं । अर्थात् असंग पत्रधे जिन शाखाओंको काटना है, वे शाखाएं इंद्रियमोग की वृत्तिरूप ही हैं । अथर्ववेदशास्त्रका यह आशय मनमें लेकर यदि हम इस मंत्र के सप्त प्राणोंको मघा रखने काटनेका वर्णन देखेंगे तो स्पष्ट होगा कि यहां भी एक विशेष अलंकार ही है, दोनों स्थानोंमें क्रियाशब्द अर्थ एक ही है—

अथत्यं.....असंगदक्षेण टिवा ॥ (म० गीता १५ । ३)

सप्त प्राणान्महणा वृक्षामि ॥ [अथर्व० २ । १२ । ७]

‘वृक्षामि’ का अर्थ भी ‘छेदन’ ही है । दोनों स्थानोंके छत्र भी अमैतितक हैं । (असंग) वैराग्य, और (मघ) ज्ञान उपासना; यद्यपि वैराग्य और ज्ञान ये दो शब्द भिन्न हैं, तथापि एकही बातमें कार्य होनेवाले हैं, अतमघ-साधारणों ये दोनों परस्पर उपकारक ही होते हैं । वैराग्य के बिना आत्मज्ञान होना कठिन है या असंभव है । इस प्रकार विचार करनेसे पता लगता है कि जिस साक्षात्विस्तार को भगवद्गीता काटना चाहते हैं उसी शाखाविस्तारको यह वेदमंत्र काटना चाहता है । इसकी सिद्धता करनेके लिये हमें ‘सप्त प्राण’ श्रौन है इसकी शीघ्र करना आवश्यक है—

सप्त प्राण—

१ प्राणा हृद्विवागि ॥ ताण्डयमा० २ । १४ । २; २२ । ४ । ३

२ सप्त विरसि प्राणाः ॥ ताण्डय मा० २ । १४ । २; २२ । ४ । ३

३ सप्त शीर्षेण प्राणाः । ताण्डय मा० २ । १५ । २ । ८

४ सप्त वै शीर्षेण प्राणाः । दे. मा. १ । १७; ठे. मा० १ । २ । ३ । २

‘(१) प्राण ये हृदियों ही हैं । (२-४) सिरमें सात प्राण अर्थात् इंद्रियों हैं ।’ इस प्रकार यह स्पष्टीकरण सप्तप्राणोंका वैदिक सारस्वतमें किया गया है । इससे सप्त प्राण ये सात इंद्रिय हैं इस विषयमें किसीकी संदेह नहीं हो सकता । क्योंकि मनुष्य के इंद्रिय दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख मिलकर सात हैं और क्योंकि मनुष्य के ज्ञान, तपसा, नेत्र, शिवा, नाक,

पिछ और मुख है, इन घातोंके क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, काम और भावना ये घात भोग हैं । इनके कारण उत्तम मध्यम-अथवा निम्न गति इस मनुष्यकी होती है । दोनों मतीका तात्पर्य इतनाही है, कि जिन इन्द्रियोंके साधनसे यह मनुष्य बाधनाओंके जालमें फँसता है और भोग भोगमेंकी इच्छासे रोगके चपमें प्रस्त होता है, वे घात इंद्रियोंकी शाखाएं ज्ञानके शाखे फाटना चाहिये । जिन प्रकार माली अपने उद्यान के वृक्षोंको तेज भेडा बढने नहीं देता, उसी प्रकार इस शरीर के क्षेत्रमें कार्य करनेवाला यह जीवार्थमा रूपी माली है, उसको अपने उद्यान के इन सब वृक्षोंको तेजे मंडे बढने देना उचित नहीं है, जैसे बढने लगे तो ज्ञानकी केंचीसे मर्दांशसे बाहर बढनेवाली शाखाओंको काटकर उनको अपनी मर्दांशमें ही रखना उचित है ।

इसका स्पष्ट आशय यह है कि ये ही इन्द्रिय यदि बुरे व्यवहार करने लगे तो उनको अक्षयके नियमसे नियम बद्ध करके संयमपूर्णशरीरसे दमन करना चाहिये । इन्द्रिय दमन से ही आध्यात्मिक शक्ति विकसित हो सकती है । शाखा छेदन का तात्पर्य यही है ।

आठ प्रंथी—इस सप्तम मन्त्रमें (अष्टौ मन्यः) आठ प्रंथि, या धमनियाँ हैं, उनको मो छेदन करने का विधान किया है । ये आठ मज्जा प्रंथियाँ हैं उनसे विलक्षण जीवन रस शरीरमें प्रवाहित होते हैं । गुदा, नाभि, पेट, हृदय, कण्ठ, तालु, ध्रुमध्य, मस्तिष्क इन स्थानोंमें ये प्रधान आठ मज्जा-प्रंथियाँ हैं और इनसे जो जीवन रस आता है उससे एक स्थानमें जीवन प्राप्त होता है । इसके प्राप्त होने वाला जीवन रस तो आवश्यकही है, परंतु यदि इसीसे हीन प्रवृत्ति होने लगी तो उस हीन भावना का नाश करना चाहिये । देखिये गुदाके पास फी मज्जा प्रंथीसे नीचेके साथ जीवन रस प्राप्त होता है । इसीसे ही प्रसुप्त विषयक काम होता है और इसके अतिरिक्त मनुष्य गिरता मो है; तथापि धर्ममर्यादाके अंदर काम रहा और शेष मज्जाचूर्ण पाठन हुआ तो यहाँ की ही दिव्य शक्ति ईशामाफि में परिणत होती है । इसी प्रकार अग्न्यात्म्य प्रंथियोंके विषयमें समझना चाहिये । इसके पाठक समझ गये होंगे कि जिस प्रकार बाहर दिखनेवाला इंद्रियोंका संयम आवश्यक है; उसी तरह इन प्रंथियोंकी स्वाधानता भी अत्यंत आवश्यक ही है । योगमें इसको 'प्रंथिभेद, चक्रभेद' आदि संज्ञाएँ हैं । इसका अर्थ इतना ही है कि पित्त प्रकार अपनी मनकी प्रेरणासे हाथ पाँवका हिलना या न हिलना होता है; उसी रीतिसे इन अष्ट प्रंथियोंका कार्य भी अपनी इच्छानुसार हो । इंद्रियोंकी और इन केन्द्रोंकी पूर्णतया अपने आर्षान रखनेका नाम यहाँ शाखा छेदन है । यह प्रष्ट संयम है । और यही शाखाछेदन (मज्जा वृद्धिनि) ज्ञानरूपी शाखेसे होना संभव है । अब यहाँ मंत्रोंकी धमति देखिये—

संयमका मार्ग— १ समिदे जातवेदसि पदं = जिधने प्रदीप्त जातवेद अर्थात् ज्ञान अग्निमें अपना स्थान स्थिर किया है (मं० ८) । २ ऋमिः शरीरं वेवेष्टु = जिसके शरीरके रोमरोममें यह ज्ञानाग्नि भटक उठा है (मं० ८) । ३ वाग् अपि अमुं गच्छतु = जिसकी वाणी भी प्राणमयताको अर्थात् जीवित दशाकी प्राप्त हुई है । (मं० ८) । ४ सप्त प्राणात् वृश्चामि = सप्त प्राणोंका अर्थात् सप्त इंद्रियोंका शाखा छेदन जिधने किया है अर्थात् इंद्रियों को वशमें किया है (मंत्र ७) । ५ अष्टौ मन्यान्वृश्चामि = आठ मज्जा केन्द्रोंको भी छेदन किया है अर्थात् अष्ट चक्रभेद द्वारा उनको वशवर्ता किया है ।

मरनेकी विद्या—वही आरंभिक बल से बलवान् होगा और वही मृत्युका भय दूर करेगा अपना निडर होकर उसके घर जायगा । सब प्राणी मरते ही हैं, परंतु निडर होकर मरना और बात है और दर दर के मरना और बात है । सब लोग मृत्युसे डरते रहते हैं, मृत्युका डर हटानेकी विद्या इस सूक्तने कही है । देखिये मंत्र के शब्द—

अरंभतः अभिदतः यमस्य सादनं भवाः (मं० ७)
 ' (अरंभत) अरंभतः (अभि—) ज्ञानाग्निधा (दतः) नेत्रक बनकर दमके घर जा । ' क्योंकि अब तुम्हें यमका वह घर नहीं है जो अज्ञानावस्थामें था । यह मृत्युका डर हटानेकी विद्या है । मानो यह मरनेकी विद्या है । जीवित दशामें यह विद्या प्राप्त करना चाहिये । जिधने इंद्रियोंका संयम किया है, निम्नने अपनी जीवन शक्तियोंको अपने आर्षान किया है, जिसका जीवन ज्ञानसे परिशुद्ध प्रशस्ततम कर्ममय हुआ है, और जो सत्यज्ञानके प्रकारके किये अपने आपको समर्पित करता हुआ अपना जीवनही ज्ञानाग्निमें समर्पण करता है, क्या कभी वह मृत्युसे डर सकता है ? वह तो निडर होकर ही मृत्युके पास पहुँचेगा । इसी प्रकार देखिये—

निर्भय ऋषिकुमार — ऊठे पनेरतमें कथा है कि, नचिकेता ऋषिकुमार यम के पास गया था। वह तीन रात्री यमके घर रहा, उसको देखकर यमको भी भय मालूम हुआ। उसको प्रसन्न करनेके लिये यमने तीन वर दिये। ये तीन वर मानो तीन प्रबन्ध शक्तियाँ थीं, परंतु इस ऋषिकुमारने इन तीन शक्तियोंमें अपने मोग नहीं बढाये; परंतु ज्ञान प्राप्तिमें ही इन शक्तियों का ल्यय उसने किया। यमने न ना मोग उसके सम्मुख रखे, परंतु ऋषिकुमारने अपने शान्तचित्त वासना रूपी शालाओंका उद्दन किया था, इसलिये भोगोंको स्वीकारनेकी इच्छा नहीं थी, भोगोंको छोड़कर ज्ञान प्राप्ति ही उसने इच्छा की और इस स्थानवृत्तिमें अन्त में अखिल ज्ञान प्राप्त किया। यमके साथ बराबरीके नातेसे यह ऋषिकुमार रहा, बराबरीके नातेसे बोला और बराबरीके साथ बहसि वापस आया। ऐसा क्यों हुआ? पठो! विचार तो कीजिये। नचिकेता ऋषिकुमार अग्निदा दूत बचकर, ज्ञानका सेवक बन कर, भोगेच्छाका त्याग करके यमके पास गया था; इसलिये वह निडर था। जो लोग भोगेच्छासे यम के पास जायेंगे वे डरते हुए जायेंगे, इसलिये पकड़े जायेंगे। यही भेद है साधारण मृत्युमें और ज्ञानीकी मृत्युमें। यही वेदकी मृत्युविद्या है।

आत्मबद्धाव । एकके दुःखसे दूसरा दुःखी ।

यहां तक जो आत्मोच्छ्रितिका वर्णन किया है उसका विचार करनेसे ज्ञानोंकी उच्चारणकी कठना पाठकोंको हो सकती है। उस ज्ञानोंके मनमें 'आत्मबद्धाव' इस समय जीवित और जाग्रत होता है, सब भूतोंको वह आत्मसमान मानसे देखने लगता है। जो जैसा सब दुःख इसको होता है, वैसा ही सुख दुःख दूसरोंको होता है ऐसा इसका मान इस समय बन गया है। वह अपनेमें और दूसरोंमें भेद नहीं देखता; दूसरोंके दुःखों से अपनेको दुःखी और दूसरोंके सुखसे अपनेको सुखी मानने तक उसकी उच्च मनोऽवस्था इस समय बन चुकी होती है। इसलिए जिस समय वह सचमुच सन्तप्त होता है, उस समय सब अन्त प्राणोत्सर्ग सन्तप्त हो जाते हैं। जब दूसरोंका दुःख जानी मनुष्य अपनेपर लेने लगता है, और सब जगत् के दुःखका मार लाने-दखे स्वीकारता है, उस समय इसके दुःखमें भी सब जगत् हिस्सेदार होता है। यह नियम ही है। यह परस्पर संवेदनाका सार्वत्रिक नियम है। जिस प्रकार एक स्वरमें मिलागे हुई तन्तुवाद्यकी तारें एक बसाई जानेपर अन्य सब स्वरों बजने लगती हैं, इसी प्रकार यह ज्ञानोंके 'सर्वस्वभाव' के जीवन' से सब जगत्के साथ समान संवेदना उत्पन्न होती है। यह 'आत्मबद्धाव' की परम उच्च अवस्था है। यही इस सृष्टिके प्रथम मंत्रने बताया है—

मयि तप्यमाने ते इह तादन्ता [मं ३]

'मेरे सन्तप्त हो जाने पर वे यहीं संतप्त हों।' पृथ्वी, अंतरिक्ष, गुरुलोक, शिवका अवकाश, मेघमंडल, सूर्य आदि अद्वितीय भी कुछ स्थान है और उस अपूर्ण स्थानमें जो भी भूतमात्र है उनके लक्षणोंमें अपने ऊपर लेगा हूँ, जगत् की सुखी करनेके लिये मैं अपने अपकी समर्पित करता हूँ, मैं जगत् की दुःखी नहीं देख सकता, जगत् सुखी ही और उसका दुःख मुझपर आजाय, इस प्रकार का भावना जिसके रोम रोममें मरा है, जिसके दैनिक जीवन में टाली गई है; वह अपने लक्ष्यको जगत् के साथ एकदम देखता है, जगत् को अपने आत्मके समान समझता है, या यों कहो कि वह जगत् के दुःखसे दुःखी होता है। ऐसा महात्मा जिस समय संतप्त होता है उस समय सब भूत गों संतप्त हो जाते हैं। यह अवस्था प्रथम मंत्रद्वारा बतायी है। यह मनुष्य की उन्नतिको परम उच्च अवस्था है, इस अवस्थामें मनुष्यका हुआ जानी दूसरोंके दुःखोंसे दुःखी होता है और इसके दुःखसे भी सब दूसरे दुःखी होते हैं। इस पूर्ण अवस्था में जगत् के साथ इसकी समान संवेदना होता है। मनका बल बढ़ते बढ़ते और ज्ञानोंकी शक्ति बढ़ते बढ़ते मनुष्य सदा तक ऊंचा हो सकता है। अब जो लोग इस ज्ञानमार्ग के विषयो हेतु हैं उनकी भी वया अवस्था होती है, वह संतप्त हो—

ज्ञानको विरोधी। जो ज्ञानको विरोधी होने दे, जो अपने मनको गिराने योग्य कार्य करते हैं, जो दूसरोंके मनोंको निर्बल करनेके उद्योगमें रतने हैं उनकी दशा क्या होती है, वह इस सृष्टिके मंत्रोंके उद्देश्य ही देखिये—

१ याः क्षतीव मन्थी = जो अपने आपकी ही पमंथमे ऊंचा समझता है, अपने से और अधिक अष्ट कोई नहीं है ऐसा जो मानता है, (मं ६)

२ द्वियमाणं नः द्रष्टव्यं नः निन्दिष्यत् = द्विधा जानेवाला हमारा ज्ञानसंप्रदाह जो निंदता है, हमारे ज्ञानसंपादन, ज्ञानरक्षण और ज्ञानवर्धनके प्रयत्नोंको जो निंदा करता है, (मं ६)

३ धृतिनामिं धर्मैः तर्पयि सन्नु = सब कर्म उसके लिए तृपदायक हों, उसको हरएक कर्मसे बडे कष्ट होंगे, किछीभी कर्म से उसके कर्मों शांति नहीं मिलेगी, (मं ७)

४ धीः प्रज्ञाद्विषं अभि सं तपति = प्रज्ञासमान बुलोक ज्ञानके विद्वेषोंको चारों ओरसे संतप्त करता है, ज्ञानके विद्वेषोंको किछी ओरसे भी शांति नहीं मिल सकती (मं ७)

ज्ञान के विरोधी (प्रज्ञाद्विष) का उत्तम वर्णन इस मंत्रमें हुआ है यह इतना स्पष्ट है कि इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । अत्यधिक घमंड करना भी अज्ञान या मिथ्या ज्ञानका ही घोटक है, और यह अत्यंत घातक है । यदि स्वयं ज्ञान वर्धन का प्रयत्न कर नहीं सकते तो न सही, परंतु दूसरे कर रहे हों उनका तो विरोध करना नहीं चाहिये । परंतु यदि स्वयं मिथ्याज्ञानसे मलिन हुआ मनुष्य दूसरे ज्ञानियोंको घताने लगे, तो वह अधिक ही गिर जाता है । इस प्रकारके गिरनेवाले अज्ञानी मनुष्यका हरएक प्रयत्न कष्टबंधक ही होता है, उसके कर्मसे जैसे उसके कष्ट बढ़ते हैं वैसे जनताके भी कष्ट बढ़ते हैं, क्योंकि उसके अज्ञान और मिथ्याज्ञानके कारण वह जो करता है वह भ्रांत चित्तसेही करता है, इस कारण जैसा उसका नाश होता है वैसा उसके साथ संबंध रखनेवालेका भी नाश हो जाता है । यह बात इस छंदे मंत्रने बताया है । अब इस बुरे कर्मके कर्ताको अवस्था बांधके चार मंत्रोंने बताया है, वह देखिए—

१ अदकामस्य कर्ता पापं वा क्रच्छतु । (मं ५)

२ यः अस्माकं हृद् मनः दिनत्ति स दुरिते पाप्ते बद्धः नियुज्यताम् । (मं २)

३ अर्मुं दैव्येन ह्रसा आद्रे [मं ४]

४ यः अस्माकं हृद् मनः दिनस्ति तं कुत्सितं वृथामि । (मं ३)

“ (१) इस कुकर्मके करनेवालेको पाप लगे । [२] जो हमारा मन बिगाड़ता है उसको पापके पाशमें बांधकर नियममें रखा जावे । (३) उसको दिव्य क्रोध या बडसे पकड़ रखा है । [४] जो हमारा इस मनको बिगाड़ता है उसको शस्त्रसे काटता है । ”

ये चार मंत्रोंके चार अंतिम वाक्य हैं ये एकसे एक अधिक दृढ़ बता रहे हैं । प्रकृत वाक्यने कहा है कि उसको पाप लगे । दूसरे वाक्यने कहा है कि उसको बांध कर नियममें रखा जावे यद्वा नियममें रखनेकी आशय कारागृहमें रखनेका है । तीसरे वाक्यमें देवताओंका क्रोध सभपर हो ऐसा कहा है और चतुर्थ वाक्यमें राजमें उसका चिर काटने की बात कही है । यह एकसे एक कड़ी सजा जिसकी दी जान इस विषयका योद्धासा विचार यहां करना चाहिये । मनको बिगाड़नेका पाप बडा भारी है, परंतु जो एक भार ही इस पापको करता है और एक मनुष्यके संबंधमें करता है उसका अपराध न्यून है और जो मनुष्य अपने विशेष संबंधी दूसरी जातिका मन बिगाड़नेका प्रयत्न करता है, या जातिकी ज्ञान प्राप्तिमें बाधा डालता है उसका पाप बड कर होता है । इस प्रकार तुलनासे पापकी न्यूनधिकता समझनी योग्य है और अपराधके अनुकूल दृष्ट देना उचित है । यह दृष्ट भी स्पष्टिने देना नहीं होता प्रत्युत राजसमा द्वारा देना होता है ।

दूसरे का ज्ञानवृद्धिमें बाधा डालना बडामारी पाप है, इससे जैसी दूसरेकी वैसी स्वयं अपनी भी अपेक्षित होती है । इसलिये कोई मनुष्य इस प्रकारका पापकर्म न करे ।

आनुवंशिक संस्कार— सबसे पहिली बात आनुवंशिक संस्कार की है । जिसका वंश शुद्ध होता है, जिसके वंशमें सरपु-रुप हुए हैं, जिसके मातापिता शुद्ध अंतःकरणके होते हैं; अर्थात् बचपन से जिसके घरमें शुद्ध धार्मिक वायु मंडल होता है वह अज्ञानमें फंस जानेका संभव कम है, इस विषयमें मैं कहता हूँ—

तिसृमिः असीतिसिः सामगेमि । वसुमिः अह्निगोमिः आदिभ्यमिः

पितृणां हृष्टार्थं नः भवतु ॥ (मं ५)

‘वसु, रुद्र, आदित्य देवोंका सामगान पूर्वक हमारे पितरों द्वारा किया हुआ यज्ञ याग आदि शुभ कर्म हमें बचावे ।’ परिवारमें जो जो प्रसारित कर्म होता है वह निःसंदेह परिवारिक जनोंको सुरे संस्कारोंसे बचाता है । मातापिताओंका किया हुआ शुभ कर्म इसी प्रकार बालबच्चोंको शुभ धर्मपथपर सुरक्षित रखता है । येही आनुवंशिक शुभसंस्कार हैं । हम यह नहीं कहते कि जिनको ऐसे शुभ संस्कार नहीं होंगे वे अधम मार्गपर ही जाते रहेंगे, परंतु हम यही कहते हैं कि ये शुभ कर्म अवश्य सहायक होते हैं । इसलिये पितरों के मुख्य पुत्रोंको उचित है कि वे स्वयं ऐसे कर्म करें कि जिनसे उनके पारिवारिक जनोपर शुभ संस्कार ही होते रहें, यह उनका आनन्दक कर्तव्य है ।

ईश प्रार्थना ।

आनुवंशिक संस्कार अपने आधीन नहीं होते क्योंकि उन कर्मोंको करनेवाले दूसरे होते हैं । इसलिये यदि वे अच्छे हुए तो अच्छा ही है, परंतु यदि वे सुरे संस्कार हुए तो भी कोई जरनेकी बात नहीं है । स्वयं अपनी शुद्धिक प्रयत्न करनेपर निःसंदेह शिद्धि मिलेगी । इस दिशासे आत्मशुद्धिक प्रयत्न करनेके लिये ईशप्रार्थना मुख्य साधन है, परन्तु यह प्रार्थना दिलके जलनेसे ही होनी चाहिये इस विषयमें, इस एकके शब्द बड़े मनन करने योग्य हैं—

हे सोमय इन्द्र ! शृणुहि । यथा शोचता हृदां जोह्वीमि ॥ (मं० ३)

‘हे ज्ञानियोंके रक्षक प्रभु! सुनो, जो मैं जलते हुए हृदय से तुमसे कह रहा हूँ ।’ हृदयके अंदरसे आवाज आना चाहिये, अपनी पूर्ण भावनासे प्रार्थना होनी चाहिये, हृदयकी उष्णतासे तपे हुए शब्द होने चाहिये, शोकपूर्ण हृदयसे प्रार्थना निकलनी चाहिये । ऐसी प्रार्थना अवश्य सुनी जाती है । तथा—

ये पशियाः स्य से देवा इदं शृणुत । (मं० २)

‘जिनका यजन किया जाता है वे देव गेरी प्रार्थना सुनें !’ इस प्रकार देवोंके विषयमें श्रद्धामयिके साथ दिलके शब्द निकलेंगे, तो वे सुने जाते हैं, तथा—

पावापृथिवी मा अनु दीधीयाम् । विश्वेदेवातो मा अन्वामध्वम् ॥ (मं० ५)

‘पाशापृथिवीं मुझे अनुकूल होकर प्रकाशित हो और सब देव मुझे अनुकूल होकर कार्यरत करें ।’ अर्थात् देवोंकी कृपासे मेरा मार्ग प्रकाशित हो और देवोंकी अनुकूलता के साथ मेरा कार्य चलता रहे । कोई भी ऐसा कार्य मुझसे न होने, कि जो देवताओंके प्रतिभूत या विरोधी हो । मेरे अंतःकरणमें देवताओं की कृपासे शुद्ध स्फूर्ति होती रहे, उस स्फूर्तिके अनुकूल ही मुझसे उत्तम कर्म होते रहें । देवोंके साथ अपने आपको एकरूप करना चाहिये और इस प्रकार अपने अ.प.के देवतामय अनुभव करना चाहिये ।

अपने शरीरको देवोंका मन्दिर करना चाहिये, तभी वही अनुभव विचार नहीं आवेंगे और सदा वही दैवी शुभ विचार ही कार्य करेंगे । इस प्रकार देवोंका ज्ञात निवास अपने विचारोंके अंदर भावरूपसे होने लगा तो फिर अपने मानसिक बलकी वृद्धि होनेमें देरी नहीं लगेगी और जो जो फल मानसोजति और आत्मोन्नतिके इस सूक्तके प्रार्थनिक विवरणमें कहे हैं वे सब उस उपासकको अवश्य प्राप्त होंगे ।

प्रथम वस्त्र-परिधान ।

[१३]

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-अग्निः, नानादेवताः ।)

आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने ।
 घृतं पीत्वा मधु चारु गन्धं पितेव पुत्रानामि रक्षतादिमम् ॥ १ ॥
 परिं घत्त धत्त नो वर्चसिमं जराभृदयुं कृणुत दीर्घमार्युः ।
 बृहस्पतिः प्रार्यच्छद्रास एतस्तोमायु राज्ञे परिंघातवा उं ॥ २ ॥
 परीदं वासो अधिधाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशास्तिपा उं ।
 शतं च जीवं शरदः पुरूची रायश्च पोषंमुपसंवर्यस्व ॥ ३ ॥

अर्थ-हे [अग्ने अग्ने] तेजस्वी अग्ने । तू [आयुः-दा] जीवनका दाता, [जरसं वृणान] स्तुतिका स्वीकार करनेवाला, [घृत-प्रतीकः] घृतके समान तेजस्वी और [घृव-पृष्टः] घोडा सेवन करनेवाला है । अतः [मधु चारु गन्धं घृतं पीत्वा] मीठा-सुन्दर गाय का घी पीकर [पिता पुत्रान् हव] पिता पुत्रोंकी रक्षा करनेके समान तू [इमं अभिरक्षतात्] इसकी सब ओरसे रक्षा कर ॥ १ ॥

[नः हम्] हमारे इस पुरुषको [परिघत्त] चारों ओरसे धारण कराओ, [वर्चसा घत्त] तेजसे युक्त करो, इनका [दीर्घ आयुः जराभृदयुं कृणुत] दीर्घ आयु तथा वृद्धावस्थाके पश्चात् मृत्यु करो ॥ [बृहस्पतिः एतत् वासः] बृहस्पतिने यह कपडा [सोमाय राज्ञे परिघत्तवे] सोम राजाको पहननेके लिये [उ प्रायच्छत] निश्चयसे दिया है ॥ २ ॥

[इदं वासः स्वस्तये परि अधिधाः] यह वस्त्र अपने कल्याणके लिये धारण करो, [गृष्टीनां अभिशास्तिपाः उ अभूः] तू मनुष्योंको विनाशसे बचानेवाला निश्चयसे हुआ है । इस प्रकार [पुरूचीः शरदः शतं च जीव] परिपूर्ण सौ वर्षतक जीओ । और [रायः पोषं च उप सं वर्यस्व] धन और पोषणका कपडा तुमो ॥ ३ ॥

भावार्थ- हे तेजस्वी देव । तू जीवन देनेवाला, स्तुतिको सुननेवाला, तेजस्वी और दृवनादिवे घा का सेवन करनेवाला है; अतः मधुर सुंदर गायका घी पीकर इस बालक की ऐसी उत्तम रक्षा कर कि जैसी पिता अपने पुत्रोंकी उत्तम रक्षा करता है ॥ १ ॥

इस बालक को चारों ओरसे वस्त्र धारण कराओ, इसका तेज बढ़ाओ, और इसकी आयु अतिदीर्घ करो, अर्थात् अति-वृद्धावस्थाके पश्चात् ही इसका मृत्यु हो । यह वस्त्र सबसे प्रथम कुलगुरु बृहस्पतिने सोम राजाको पहननेके लिये बनाया था, जो इस बालकको पहनाया जाता है ॥ २ ॥

यह वस्त्र अपने कल्याणको वृद्धि करनेके लिये धारण करो, मनुष्योंको विनाशसे बचानेका यही उत्तम साधन है । दृष्टः पत्तार सौ वर्षका दीर्घ आयुध्य प्राप्त करो और धनका ताना और पोषणका बाना रूप यह वस्त्र उत्तम प्रकारसे तुमो ॥ ३ ॥

एह्यर्मान्मा तिष्ठान्मा भवतु ते तनुः ।

कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥ ४ ॥

यस्य ते वासः प्रथमवास्यं ह्यर्मान्स्तं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः ।

तं त्वा आतरः सुवृषा वर्षमानुमनु जायन्तां बृहवः सुजातम्

॥ ५ ॥

अर्थ—[पति, अर्मानं आगिष्ठ] मा, तिष्ठान् पर चय, [ते तनुः अर्मान् भवतु] तेरा शरीर पत्थर जैसा रह बने । [विश्वे देवाः] सब देव [ते आयुः शरदः शतं कृण्वन्तु] तेरी आयु सी वर्षकी करी ४ ॥

[यस्य ते प्रथमवास्यं वासः ह्यर्मानः] जिस तेरे लिये पहले प्रथम पहनने योग्य ऐसा यह सब हम छाते हैं [तं त्वा विश्वे देवाः भवन्तु] उस तेरी सब देव उत्तम रक्षा करें । [तं त्वा सुजातं] उस तुझ उत्तम अग्ने हुए और [वर्षमानं] रहते हुए बालकके [बृहवः सुवृषाः आतरः अनु आयन्तां] पीछेसे बहुतसे उत्तम बढनेवाले माई उत्पन्न हों ॥ ५ ॥

मातार्यं—यहां आ, इष सिलापर खड़ा रह, तेरा शरीर पत्थर जैसा छूटने बने, और इषसे सब देव तेरी आयु सी वर्षकी बनाने ॥५॥

हे बालक ! तेरे लिये यह पहिले पहिनने के लिये बख हनने लाया है, सब देव तेरा पूर्ण रक्षा करें, ह इष उत्तम कुलमें जनमा है और यहां तू उत्तम प्रकार से बढ रहा है, इसी प्रकार तेरे पीछे बहुतसे हृष्टपुत्र और बलवान् माई उत्पन्न हों, और तेरे कुलकी वृद्धि हो ॥ ५ ॥

प्रथम वस्त्र परिधान ।

बालकके शरीरपर प्रथम वस्त्र परिधान करानेका समारंभ इष सूक्तद्वारा बताया है । इस सूक्ता प्रथम मंत्र पृथक् इवन आग्निमें हो जानेका विधान करता है, अर्थात् इवनके पूर्वका सब विधान इषसे पूर्व होखुंका है, ऐसा समझना उचित है । आग्निके अन्तर परमात्माकी शक्ति है, इस आग्निमें जो आदेश प्रदत्त किया जाता है, और उसकी आज्ञामें वस्त्र परिधान कादि विधि किया जाता है । सभी संस्कार अग्निमें इवन करनेके साथ होते हैं । परमेश्वर स्वप्ति, प्रायश्चा, उपासना, शंति, अमृतदाचनेादि पूर्वक इवन होकर प्रथम मंत्रमें प्रभु की आर्चनाकी गई है कि वह परमपिता हम सब पुत्रोंकी रक्षा करें । इस प्रकार वस्त्र परिधानकी पूर्व तैयारी होनेके पश्चात् वस्त्र लाया जाता है—

पुत्रके लिये वस्त्र ।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि यह वस्त्र न्यून देकर हुकानसे लाया नहीं रहता । परंतु अपने पुत्रके लिये माताकी कपडा चुनती है, इस विषयमें वेदमें अग्र्यत्र कथा है वह यहां देखिये—

वितन्वते धियो अस्मा अशांसि वस्त्रा

पुत्राय मातरो वयन्ति ॥ अग्नेद ५।१०।६

इस मंत्रमें दो वाक्य हैं और वे विचार करने योग्य हैं । देखिये इनका अर्थ—

(१) मातरः पुत्राय वस्त्रानि वदन्ति = माताएं अपने पुत्रके लिये कपडे चुनती हैं । और—

(२) अस्मै धियः अशांसि वितन्वते = इस बच्चेके लिये सुविचारों और शक्तियोंका उपदेश देती हैं ।

यह मंत्र पुत्रविषयक माताओंका कर्तव्य बता रहा है । माताएं अपने पुत्रके लिये कपडा चुनती हैं इसमें प्रत्येक धागेके साथ कितना प्रेम उस कपडेके तन्तुओंमें बुना जाता है इसका विचार पठक अवश्य करें । यह कपडा केवल कपडा नहीं है परंतु इसी सूक्तेके तृतीय मंत्रमें कहा है, कि—

रायः च पोषं उपसंययस्व । (सं० ३)

“यहां कपडेका ताना ऐश्वर्य है और बाना पुष्टि है । इस प्रकार यह कपडा बुना जाता है ।” सबसुख ऐश्वरी होगा, यहां माता अपने पुत्रप्रभुके अपने छोटे बालकके लिये काया चुनती होगी । धन्य है वह माता और यह बालक जो इस

प्रकार परस्पर प्रेमसे अपने कुटुंबके भूषणभूत होते हैं । इस प्रकार का कपडा लघ छोटे बालक को पहनाया जाता है, उस समय का मंत्र यह है—

परिधत्त, घत्त, नो वर्चमा इमम् ।

जामृत्युं कृणुत, दीर्घमायुः ॥ (मं० २)

“ पहनाओ, पहनाओ इस हमारे बाउकको यह वल्ल, नेत्रके साथ यह दीर्घ आयु प्राप्त करे और इससे वृद्धावस्थासे पथात् ही मृत्यु ही अर्थात् अकाल मृत्युसे यह कदापि न मरे । ” जब माता अपने पुत्रके लिये प्रेमसे कपडे बुनकर तैयार करती है, तब वह प्रेमही उभ बच्चेकी रक्षा करनेमें समर्थ होता है, इसलिये ऐसी प्रेमपूर्ण मानाके पुत्र दीर्घायु ही होते हैं ।

आगे इसी द्वितीय मंत्रमें कहा है कि ‘ देवोंके कुलपुरु वृद्धस्वामिने सोमराजाको भी इसी प्रकार वल्ल पहनाया था । ’ अर्थात् यह प्रथा सनातन है । कुलधुरोहित माता का बनाया हुआ कपडा अपने आशीर्वाद पूर्वक बच्चेको पहनाये और मन्त्र उच्चारित करने के बाद बालक का शुभ चिंतन करे । यह इस वैदिक रीतिके आधारसे स्वरूप है । पाठक इसका विचार करके यह शुभ संस्कार अपने घरमें कर सकते हैं ।

वल्ल घरमें बुननेका प्रयोजन

वल्ल घरमें क्यों बुना जावे और बाजारसे क्यों खरीदा न जावे, इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन मनन करने योग्य है, इसमें इस घरेलु व्यवसायसे चार लाभ होनेका वर्णन है ।

१ स्वस्ति ।

इदं वासः स्वस्तये अग्नि याः । (मं० ३)

“ यह कपडा अपना स्वस्तिके लिये धारण करो । ” स्वस्ति का अर्थ है ‘ सु+अस्ति ’ अर्थात् उत्तम अस्तित्व, उत्तम स्वस्ति । अपना स्थिति उत्तम होनेके लिये अपना सुनाहुआ कपडा पहनाया जायिए । दूसरेका सुना हुआ कपडा पहननेसे अपने स्थिति बुरी होती है, बिगड़ जाती है । अपना सुना कपडा पहननेसे अपना ‘ स्वस्ति ’ अर्थात् कल्याण होता है, इस लिये अपना सुना हुआ कपडा ही पहनाया जायिये ।

२ विनाशसे बचाव ।

गृहीनो अग्निस्तित्ति-ना न मनुः । (मं० ३)

‘ मनुष्य मात्रका नाशसे बचाव करनेवाला है । ’ अपना कपडा स्वयं बनाकर पहनाया केवल अपना ही लाभ नहीं करत, है परंतु अग्रे मनुष्योंका विनाशसे बचाव करता है । इससे हरएक उद्यमी होनेके कारण उस उद्यमसे ही उन “ मनुष्योंका बचाव हो जाता है । दुःस्थिति, हाव अवस्था, नाश आदिसे बचानेवाला यह वल्ल बुननेका व्यवसाय है ।

३ धन और पुष्टि ।

यह धरका सुना कपडा केवल कपडा नहीं है, इसका ताना और बाना मानो केवल सूतका बना नहीं होता है, प्रयुक्त—
रायः च पोषं वपमंभ्यमस्य । (मं० ३)

“ उसमें तानेके धागे ऐश्वर्यके सूचक और बानेके धागे पोषणके सूचक हैं । ” ऐसा मानकर ही तुम कपडा बुनो अपना कपडा स्वयं बुननेसे ऐश्वर्य और पोषण स्वयं हो जाता है और जिस कुटुंबमें और जिस परिवार में माता अपने बच्चोंके लिये कपडा बुनती है वहां तो उस परिवारका ऐश्वर्य और पोषण होनेमें कोई संकाही नहीं है । जहां इस प्रकार सुख और गोविंद रंजनी वहां ही—

४ दीर्घ आयु ।

शतं च शिव दारदः पुरुषाः । (मं० ३)

“ सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त होगी ” यह बात सहज ही से ध्यानमें ला सकते हैं । यह तृतीय मंत्र वास्तव में बाल

के लिये आशीर्वाद पढ़ा है, तथापि उसमें अपने पुत्रे इच्छा महत्त्व इस प्रकार सूदन रीतिसे दर्शाया है । पठक इसका विचार करे और इससे बोध प्राप्त करे, तथा अपने घरमें इस महत्त्व पूर्ण बातका प्रचार करे । विशेषतः जो वैदिक धर्मों हैं उनको इसका आचरण अवश्य करना चाहिये ।

सुदृढ शरीर ।

हाथसे कौते हुए सुदृढ कम्बु पदनेसे शरीरमें कोमलता नहीं आती, जैसे अन्य नरम कन्ठे पदनेसे आती है । वह कोमलता बहुत सुरी है, इससे जो वर्षेकी दीर्घमायु प्राप्त नहीं होती । अतः करना शरीर सुदृढ बनानेकी बहुत आवश्यकता है, बलकानमें ही यह उपदेश इस सूक्त द्वारा सुनाया है, इस " प्रथमवज्र परिधाय " के समय ही एकविधि बनाया जाता है जिसेमें वज्र पढ़नेसे ही उस बालकको पच्यपर रखा जाता है और वह मंत्र बोला जाता है—

पृष्टि. अरुनाने आतिष्ठ, ते तनुः मरुता मवतु ।

ते धारदः शर्वं आयुः विषे देवाः कृण्वन्तु ॥ (मं० ४)

" यहाँ आ, इस पच्यपर चढ़, तेरा शरीर पच्य प्रिया सुदृढ हो, तेरी सौ वर्षकी आयु सब दे दे । "

बालक सुदृढांग हो इस विषयका उत्तम उपदेश इस मंत्रमें है । छोटपनमें मत्तानिवा अपने बालक और बालिकाओंको सुदृढांग बनानेका यत्न करे और कभी ऐसा प्रयत्न न करे कि जिसेसे बालक मरम शरीरशाले हों । बड़ी आयु में कुमारा और कुमारीका भी अपना शरीर सुदृढांग बनानेके प्रयत्नमें दाखिल हों । इस प्रकार किया जाय तो जाती वज्रदेही बन जायगी । योगसाधन द्वारा भी वज्रधारा बनायी जाती है, इस विषयके प्रयोग योगसाधनमें पठक देखें । चित्त उन्नत आदि ऋद्धिसे सहज करनेके अन्वयाद्ये भी मनुष्यका देह सुदृढ हो जाता है ।

आगे पंचम मन्त्रके पूर्वार्धमें कहा है कि " हे बालक ! तेरे लिये जो हम यह प्रथम परिधान करने योग्य वज्र (प्रथम-वास्यं वाद्यः) लाते हैं, उस वज्रको सब देव सहायकारी हों । " इस मंत्रमें " प्रथम परिधान करने योग्य वज्र " का उल्लेख है । इससे बालककी आयुका अनुमान हो सकता है । जन्मसे कुछ मास तक विशेष वज्र पहिनाया ही नहीं जाता । चतुर्थे मंत्रमें " पच्य पर खड़ा करने " का उल्लेख है । अपने पाँवसे न भी खड़ा हो सके तो भी दूसरेकी सहायतासे खड़ा होने योग्य बालक चाहिये । इस मंत्रसे इतनी बात निश्चित है कि यह बालक कमसे कम दो तीन वर्षकी आयुवाला हो, जिस समय वह " प्रथम वज्रपरिधायण " किया जाता है । इसी आयुमें बालक क्षणभर दुखेकी सहायतासे क्यों न सही पच्य पर खड़ा हो सकता है । कमसे कम हम इतना कह सकते हैं, कि इससे कम आयु इस कार्यके लिये योग्य नहीं है । 'अरुनाने आतिष्ठ' के शब्द प्रयोग करने पाँवसे पच्य पर चढ़नेका मात्त बताने हैं । इसलिये तीन वर्षकी आयु कमसे कम मानना अनुचित नहीं है । चार या पाँच वर्षकी आयु मानना भी कदाचित् योग्य होगा । इस आयुमें यह वज्र धारण समारंभ किया जाता है । इस समय जो आशीर्वाद दिया जाता है वह भी देखिये, वह बड़ा बोधप्रद है—

तं त्वा सुव्यासं वर्षमानम्

बहवः सुवृषारः स्नातारः अनुजायन्तान् ॥ (मं० ५)

" उन्नत जन्मे और उत्तम प्रकार बहने वाले तुझ बालक के पीछे बहुतसे बहनेवाले मार्ग तुम्हारी माताओंकी उत्पन्न हों " कई माता पिता मतिवर्षे सन्तान उत्पन्न करते हैं यह ठीक है या नहीं इसका विचार इस आशीर्वाद बचनसे किया जा सकता है । तीन चार वर्ष की बालक की आयुमें यह " प्रथम-वज्र-धारण-विधि " किया जाता है, इस विषयमें इससे पूर्व बताया ही है । इसी समय यह आशीर्वाद दिया जाता है, कि " जैसा वह बालक इष्टपुत्र और तेजस्वी बनता हुआ बड़ रहा है, देखे और भी बचे इससे पीछे उत्पन्न हों । " मानलें कि यह आशीर्वाद प्रथम बालकको चतुर्दशवर्षकी आयुके समय मिला है तो पंचम वर्षमें द्वितीय बालक के जन्मका समय आत्रता है । इस प्रकार प्रत्येक दो बालकोंके जन्मके बीचमें पाँच वर्षोंका अंतर होता है । देखिये—

(१) प्रथम बालकका जन्म । (२) उसके चतुर्थे वर्षमें वह " प्रथम वज्र धारण विधि " करता है, (३) इसमें बालक को पच्य पर चढाकर खड़ा करना है और पच्य जैसा सुदृढांग बन जानेका उपदेश सुनाया है । (४) इसी समय आशीर्वाद देना है कि तुम्हें छह पुत्र जारें भी पाँचसे हों ।

यदि इसी प्रकार दूसरा बालक हो गया तो पहिले के पांचवें वर्ष दूसरे बालक का जन्म होना संभव है । सर्वात् पहिले बालकको माताका दूध अच्छीतरह मिलेगा जिससे पुनर्जा पुष्टि भी अच्छी प्रकार होगी, माताके अवयव भी द्वितीय गर्भ धारण के लिये योग्य होंगे और सब कुछ ठीक होगा । जहाँ प्रतिवर्ष गर्भ धारणा होती है, वहाँ दूध न मिलनेके कारण बच्चे कमजोर होते हैं बाँचमें पूर्ण विश्राम न मिलनेके कारण माता भी कमजोर होती है और सब प्रकार मय ही मय होता है । इसलिये पाठक इसका योग्य विचार करे और यदि यह प्रथा अपने परिवारमें साने योग्य प्रतीत हो, तो लानेका दमन करे ।

हमने प्रतिवर्ष, प्रति तीन वर्ष, प्राये पाँच वर्ष और प्रति सात वर्ष संतानोत्पत्तिका कर्म करनेवाले कुटुंब देखे हैं । पहिले की अनेका दुसरेकी और दूसरेकी अनेका तीसरेकी वार्षिक निरोधना हमने अधिक देखा है । यह विचार विशेष महत्त्व पूर्ण है इसलिये कुछ विस्तारसे यहाँ किया है । पाठक इसे अलीन न समझे क्योंकि इनके साथ परिवारके स्वास्थ्यका विचार संबंधित है ।

आशा है कि पाठक इस सूक्ष्म योग्य विचार करेंगे और लाभ उठावेंगे ।

—:—

विपत्तियोंको हटानेका उपाय ।

(१४)

[ऋषिः-चातनः । देवता-शालाप्रिदैवत्यं ।]

निःशालां घृणुं धिषणमेकवाद्यां जिघ्रत्स्वप्नि। सर्वाश्विण्डस्य नृपत्योनिशयामः सुदान्वाः ॥ १ ॥

निर्वो गोष्ठादजामसि निरक्षास्तिर्हपानसात् । निर्वो मगुन्धा दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे ॥ २ ॥

असौ यो अंधराद् गृहस्त्रत्रं सन्वरादयुः। तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ३ ॥

अर्थ—[निःशालां] घरदार न होना, [घृणुं] भयभीत रहना, अथवा दूसरोंको धराना, [एकवाद्यां धिषणं जिघ्रत्स्वं] निषधपूर्ण एक भाषण करनेवाली विषयवाचक बुद्धिवा नाग कानेवाली, तथा [चप्टस्य सर्वां नृप्यः] कोधकी सब की सब सन्तान और [स—दान्वाः] दानवाँकी राक्षस वृत्तियोंका सम [नाशयामः] नाश करते हैं ॥ १ ॥

[षः गोष्ठत् निः अजामसि] तुमको हमारी गोष्ठाकासे हम निकाल देते हैं, [अशात् निः] हमारी दृष्टिके बाहर तुमको करते हैं, [उपानसात् निः] अन्नपानके गड्ढेके स्थानसे तुमको हटाते हैं, [मगुन्धाः वः निः] मनके मोह से तुमको हटाते हैं । हे [दुहितरः] दूर रहने योग्य ! तुम्हें [गृहेभ्यः चातयामहे] घरोंसे हटाते हैं ॥ २ ॥

[असौ यः अंधराद् गृहः] यह जो नाँव धराना है [तत्र अरादपः सन्तु] वहा विपत्तियाँ रहें [तत्र सेदिः] वहाँ ही छेद्य [नि सन्तु] निवास करे [सर्वाः यातुधान्यः] सब दुष्ट वहाँ ही जायें ॥ ३ ॥

भावार्थ— आसुरी भावनाओंसे प्राप्त होनेवाली कई विपत्तियाँ हैं उनमें कुछ ये हैं—

(१) घरदार कुछ भी न होना,

(२) वदा औरोंका भय प्रतीत होना वा दूसरोंकी धराना,

भूतपतिर्निरञ्जित्विन्द्रंश्चेतः सुदान्वाः ।

गृहस्य वृद्धा आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधिं तिष्ठतु

॥४॥

यदि स्थ क्षेत्रियाणां यदि वा पुरुषेपिताः । यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सुदान्वाः ॥५॥

परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठांमिवासरन् । अजैपं सर्वानाजीन्वो नश्यतेतः सुदान्वाः ॥६॥

अर्थ—[भूतपतिः इन्द्रः] प्रजापालक राजा [सदान्वाः इतः निरञ्जतु] राक्षसी वृत्तियोंको यहाँसे दूर करे । [गृहस्य वृद्धा आसीनाः] घरकी जड़में निवास करनेवाली दुष्टताएं [इन्द्रः वज्रेण अधिं तिष्ठतु] इन्द्र अपने वज्रसे इटादेवे ॥ ४ ॥

हे [सदान्वाः] आसुरी वृत्तिये होनेवाली पीडाओ । [यदि क्षेत्रियाणां स्थ] यदि तुम वंदा संबंधी रोगसे उत्पन्न हुई हो, [यदि वा पुरुषेपिताः] यदि मनुष्य की प्रेरणासे उत्पन्न हुई हो [यदि दस्युभ्यः जाताः] यदि तुम डाकुओंसे हुई हो, तुम सब [इतः नश्यत] यहाँसे हट जाओ ॥ ५ ॥

[आसुः गाय्त्रो इव] जैसे घोडा अपने स्थान को पहुँचता है उसी प्रकार [आसा धामानि परि सरन्] इन विपत्तियोंके मूल कारणको हट कर निकाल दो । [नः सर्वान् आजीन् मजैपं] तुम्हारे सब संगमों को जीत लिया है जिसने हे [सदान्वाः] पीडाओ ! [इतः नश्यत] यहाँ से हट जाओ ॥ ६ ॥

(३) निश्चयात्मक एक बुद्धि कमी न होना अर्थात् सदा संदेह रहना,

(४) मन सदा प्रोषणवृत्तिये शुक्त होना, ये सब विपत्तियाँ हैं, इनकी पुरूपार्थसे इटाना चाहिये ॥ १ ॥

जिसप्रकार पृथिवीको विवाहादि करके घरसे दूर करते हैं उसी प्रकार इन विपत्तियोंको भी अपने पाससे दूर इटाना चाहिये । गोशालासे, घरसे, अपनी शक्तिसे, अन्नपान वा गादी रथ आदिके स्थानसे तथा मनकी वृत्ति से विपत्तियोंको इटानेका पुरूपार्थ करना चाहिये ॥ २ ॥

जो नाच वृत्तियाँके घर हैं वही विपत्ति, नाच तथा दुष्ट दुष्टचारीभी रहते हैं ॥ ३ ॥

प्रजापालक राजाको चाहिये कि ऐसे दुष्टोंको अपने सुयोग्य शासनद्वारा दूर करे । किसी भी घरके अंदर दुष्टभाव आश्रय लेने न पावे ॥ ४ ॥

इन पाँचोंमें कई तो आनुवंशिक रोगसे होनेवाली पीडाएं होती हैं, कई तो मनुष्यके अपने व्यवहारसे उत्पन्न होती हैं, कई तो डाकुओंसे होती हैं इन सबको दूर करना चाहिये ॥ ५ ॥

जिसप्रकार घोडा अपना पाँव उठा कर प्रसन्न स्थानपर पहुँचता है वहीप्रकार इन सब विपत्तियोंके मूल कारण देखकर, उन मूल कारणोंको अपनेमेंसे इटाना चाहिये । सब जीवनकालमें अपना विजय निःसन्देह हो जावे, ऐसी अपनी तैयारी करने से और हरएक जीवनयुद्धमें जयपत रहते हुए विजय प्राप्त करनेसे ही ये सब पीडाएं हट सकती हैं ॥ ६ ॥

विपत्तियोंका स्वरूप ।

इस सूक्तमें अनेक विपत्तियोंका वर्णन किया है वह क्रमशः देखिये—

१ निः साला = शाला अर्थात् घर दार न होना, निवाद्य स्थान न होना, विधामके लिये कोई स्थान न होना । (मं० १)

२ घृण्यु = सदा मयमीत रहना, दूसरेसे डरते रहना, अधिकारियोंसे या धर्मात्माओंसे डरना, ऐसे कुछ कुकर्म करना कि जिससे मनमें सदा डर रहे कि कोई आकर मुझे पकड़े । इसका दूसरा अर्थ दूसरोंको डराना भी है । दूसरोंको मय दिखाना, धरना, दूसरोंको मयमीत करके अपना स्वार्थ साधन करना इ० (मं० १)

३ एकवाद्यां विपत्तौ जिघत्स्व = एक निश्चय करनेवाली बुद्धिका नाश करनेवाला घातपातका स्वभाव । बुद्धिसे कार्य-कार्यका निश्चय होता है, इस निश्चयान्तर बुद्धिका नाश करनेवाला स्वभाव । जिसको निश्चयात्मक बुद्धि ही नहीं होती, सदा संदेहमें जो रहता है । (मं० १)

४ चन्द्रस्य सर्वा नश्यः = कोषको सब संतान । अर्थात् कोषके जो जो अपानियां आना संभव है वे सब आपत्तियां । (मं० १)

५ स-दान्वाः (स-दानवाः) = अमुकोका नाम दानव है । दानवका अर्थ है धात पात करनेवाले; गाँतामें आसुरी संगतिका बर्णन विस्तार पूर्वक है, उस प्रकारके लोक जो धात पात करते हैं उनका यह नाम है । दानव भावसे युक्त होना यह भी बड़ी भारी आपत्ति ही है । (मं० १)

६ अ-राज्यः = केंद्रकीका भाव, निर्धनता, ऐश्वर्यका अभाव । (मं० ३)

७ केदिः = क्लेश, महाक्लेश । शारीरिक क्लेश, दुर्बलता । क्लेश भी कार्य करनेकी सम्भय न होना । (मं० ३)

८ यानुषान्यः = धन्यता न होना । चोर चक्रेति करनेकाले लोभ और उनके बैसे घृणित भाव । (मं० ३)

ये सब आपत्तियां हैं। इनका विशेष विचार करनेको भी कोई लावश्यकता नहीं है क्योंकि प्रायः सबका परिचय इनके साथ है, अतः सब इनके क्लेशसे परिचित हैं । इसलिये सर्वा चाहते होंगे कि ये सब क्लेश दूर हों। इनके तीन भेद होते हैं—

तीन भेद ।

१ क्षेत्रियाः = अर्थात् कई आपत्तियां ऐसी होती हैं कि जो मनुष्य के स्वभावमें क्षेत्रसे आयी होती हैं, बंधपरंपरासे प्राप्त होती हैं, जन्म स्वभावसे होती हैं । (मं० ५)

२ पुच्छैरिता = दूसरी आपत्तियां ऐसी होती हैं कि जो (पुश्य-इतितः) अन्य मनुष्योंकी कुटिल प्रेरणासे कारण होती हैं । (मं० ५)

३ दस्युभ्यः आताः = तीसरी आपत्तियां ऐसी हैं कि जो दस्यु चोर डाकू आदि दुष्टोंसे उत्पन्न होती हैं । (मं० ५) आपत्तियोंके तीन भेद हैं (१) अपने जन्म स्वभावसे होनेवाली, (२) दूसरे मनुष्योंकी कुटिल प्रेरणासे होनेवाली और (३) दुष्टोंके साथ होनेवाली । इन सब आपत्तियोंको अत्यन्त दूर करना चाहिये ।

कई आपत्तियां क्षान्दान आदिके स्थानसे ही उत्पन्न होती हैं जैसे रोगादि आपत्तियां हैं, उनको दूर करनेके लिये उनके उद्गम स्थानमें ही प्रतिबंध करना चाहिये, इस विषयमें द्वितीय मंत्रका कथन देखिये—

आत्मशुद्धि और गृहशुद्धि ।

१ गोघ्रात निः क्षामामि— गोघ्रातासे इटाया हूँ अर्थात् गोघ्राता के कुपबंध में जिन रोगादि आपत्तियोंकी उत्पत्ति हो सकती है उसको दूर करना हूँ । गोघ्राताकी पवित्रता करनेसे इन आपत्तियोंका नाश हो सकता है । (मं० २)

२ अपानसात् निः क्षामामि — अपानके गच्छे, अपवा बहान आदिके स्थानमें जो कुछ दोष होनेसे आपत्तियां उत्पन्न होती हैं उनकी शुद्धतासे इन आपत्तियोंको मैं हटाया हूँ । (मं० २)

३ असात् निः क्षामामि— अरनी दृष्टिके दोषके जो जो बुरे भाव पैदा होते हैं, उनकी शुद्धि करने द्वारा मैं अपने अंदरके दोषोंको दूर करता हूँ । इस प्रकार संपूर्ण इंद्रियोंके शुद्धिकरण द्वारा बहुतरुण आपत्तियोंको दूर किया जा सकता है । आत्मशुद्धि की सूचना यहाँ मिलती है । (मं० २)

४ मगुन्द्र्याः निः क्षामामि = (म-गुन्द्र्याः = मन X गुन्द्र्याः) मनको मोहित करनेवाली वृत्तिये सुप्तको हटाया हूँ । मनकी मोहनिद्रा दूर करता हूँ । यह मनकी शुद्धि है । (मं० २)

इस द्वितीय मंत्रमें अपने नेत्र आदि इंद्रियोंकी शुद्धि, मनकी शुद्धि, गोघ्राताकी शुद्धि, घरकी शुद्धि, गली आदि वाहन यहाँ रखे जाते हैं उन स्थानोंकी शुद्धि करने द्वारा आपत्तियोंका दूर करनेका उपदेश है । इस मंत्रके अंदर जिन बातोंका उल्लेख है उनसे जो जो शुद्धि स्थान अवशिष्ट रहे होंगे; उन सबका ग्रहण यहाँ करना उचित है । इसका तात्पर्य यही है कि जहाँसे आपत्तियां उठती हैं और मनुष्योंको सताती हैं, उन स्थानोंकी शुद्धता करना चाहिये । पवित्रता करनेसे ही सब स्थानोंसे आपत्तियां हट जाती हैं । मत्वांनता आपत्तियोंको उत्पन्न करनेवाली और पवित्रता आपत्तियोंको दूर करनेवाली है । यह नियम पाठक प्रायः सर्वत्र लग्न सकते और आपत्तियोंको हटा सकते हैं, तथा सम्पत्तियां प्राप्त भी कर सकते हैं ।

नीचतामें विपातिका उगम ।

विपत्तिदोषा उगम नीचतामें है इस बातको अधिक स्पष्ट करनेके लिये तुल्य मंत्रका उदाहरण है । इसमें कहा है कि— 'जी यह (अथर्व मूत्रः) नीच पशुना है वहाँ ही सब केंचुभियों, विपत्तिभों, नाथ, ज्येष्ठ, कृपणा और चोरी आदि दुष्ट भाव रहते हैं । ' नीच परमें इनको उगमि है । ' अथर्व ' शब्द वहाँ नीचताका द्योतक है । जो ऊपरवाला नहीं वह नीचेबला है । जहाँ होनाता होगी वही आपत्तिदोषका उगम होगा, इनमें कोई संदेह ही नहीं है ।

राजाका कर्तव्य ।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि ' (मनुष्यः इन्द्रः) प्राणिमात्रोंका पालन कर्ता राजा करने बज्रसे (सदान्दाः) सब जाजुओं-को और (दृश्ये तुष्टा खाशानाः) परके अंदर लिये हुए सब दुष्टोंको दया देवे । ' अर्थात् राजा करने सुप्रवर्तिष्ठ राजमंत्रवसे दुष्टोंको दूर कर और करना राज्य सज्जनोंका घर जैसा बनाने । इस प्रकार वरम राज्यचक्र द्वारा दुष्टोंको प्रतिबंध होनेसे सज्जनोंका मार्ग सुख जाता है । सुराज्य होना भी एक बड़ा कष्ट है कि जिससे आपत्तियाँ कम होती हैं, वा दूर जाती हैं ।

जीवनका युद्ध ।

आपत्तिदोषके उपाय कथना करना, विपत्तिदोषके संहार और उनका पराभव करके अपना विजय संवादन करना, यह एक मात्र उपाय है, जिससे आपत्तियाँ दूर हो सकती हैं । पठक विचार करेंगे, तो इनको पता लग जायगा कि यह युद्ध हरएक स्थानपर करना पड़ता है । सार्वभौम व्यापारोंसे समझना है, समाजमें जाजुतया दुष्टोंसे संहार होता है, राष्ट्रमें विदेशी शत्रुओंसे युद्ध करना होता है और विश्वमें अनिष्टोंसे अशान्ति अशान्तिसे युद्ध करना पड़ता है । इस छोटे मोटे कार्यक्षेत्रमें छोटे मोटे युद्ध करने ही होते हैं । इन युद्धोंको विजे विना और वहाँ अपना विजय प्राप्त किये विना सुखमय जीवन होना असंभव है । वही बात इस सूक्तके पठ मंत्रमें कही है—

यः सर्वान् जाजीन् अजैपन् । (मं० ६)

' सब दुष्टोंमें मैं विजय पाता हूँ । ' इस प्रकार सब दुष्टोंमें विजय पानेसे ही मनुष्यके पाससे सब विपत्तियाँ दूर हो जाती हैं और मनुष्य ऐश्वर्य संपन्न हो जाता है । प्रत्येक युद्धमें अपना विजय होने दाय्य शक्ति करने अंदर बढानी चाहिए । अन्दा विजय होना अशक्य है । शत्रुशक्तिसे अपनी शक्ति बढी रही तभी विजय हो सकता है अन्दा पराजय होगा । पराजय होनेसे विपत्तियाँ बढेंगी । इस लिये शत्रुशक्तिसे अपेक्षा अपनी शक्ति बढानी चाहिये और अपना विजय संवादन करना चाहिये । विपत्तियों को दूर करनेका यह सुपाय उपाय है, इसका विचार पठक करें और अपनी विपत्तियाँ हटानेके प्रयत्नमें लतलत रहें ।

पहिले जितनी भी आपत्तियाँ मिली हैं उन सबके निवारण करनेके लिये यही एकमात्र उपाय है । इससे पहिले कई उपाय बढाये हैं । राज शासन सुवर्धन, आत्मशुद्धि, नाथ शुद्धि, आदि सभी उपाय उत्तम ही हैं, परंतु सर्वत्र इस आत्मशुद्धि के उपाय को विशेषता है, वह बात भूलना नहीं चाहिये ।

जिस प्रकार घोडा चरकर अपने प्राणस्थ स्थानपर पहुँचता है, उसी प्रकार मनुष्य भी प्रयत्न करके ही प्रत्येक दुःख स्थानपर पहुँचता है । इसलिये मनुष्य प्रयत्न करके ही प्रकृत्यर्थसे सिद्धिकी प्राप्त करे । प्रत्येक सुखस्थान मनुष्यको प्राप्त हो सकता है । प्रयत्नके विना विपत्तियाँ दूर होना असंभव है ।

विपत्तिदोषोंको हटानेके विषयमें यह सूक्त बड़े महत्त्व पूर्ण आदेश दे रहा है । पठक यदि इसका उत्तम विचार करेंगे तो उनको अपनी विपत्तियाँ हटानेका और संपत्तियाँ प्राप्त करनेका मार्ग अवश्य दिखाई देगा । आशा है कि पठक इस सूक्तसे लाभ प्राप्त करेंगे ।

निर्भय जीवन ।

(१५)

[ऋषिः-ऋक्षा । देवता-प्राणः, अपानः, आयुः]

यथा द्यौश्च पृथिवी च न विभीतो न रिष्यतः । एवा मे प्राण मा विभेः ॥ १ ॥
 यथाहश्च रात्रौ च न विभीतो न रिष्यतः । एवा० ॥ २ ॥
 यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न विभीतो न रिष्यतः । एवा० ॥ ३ ॥
 यथा ब्रह्म च ध्रुवं च न विभीतो न रिष्यतः । एवा० ॥ ४ ॥
 यथा सत्यं चानृतं च न विभीतो न रिष्यतः । एवा० ॥ ५ ॥
 यथा भूतं च भव्यं च न विभीतो न रिष्यतः । एवा मे प्राण मा विभेः ॥ ६ ॥

अर्थ—(द्याः च पृथिवी च । जिस प्रकार द्यौः और पृथिवी (न विभीतः) नहीं करते इसलिये (न रिष्यतः) नहीं घट होते, (एवा) ऐसे ही (मे प्राण) हे मेरे प्राण ! (मा विभेः) तू मत डर ॥ १ ॥

जिस प्रकार (अहः च रात्रौ च) दिन और रात्रि नहीं करते इसलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते ॥ २ ॥

जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र ॥ ३ ॥

ब्रह्म और ध्रुव ॥ ४ ॥

सत्य और अनृत ॥ ५ ॥

भूत और भविष्य नहीं करते इसलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते, इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू मत डर ॥ ६ ॥

भावार्थ— दुलोक पृथ्वी, दिन रात्रि, सूर्य चन्द्र, ब्रह्म ध्रुव, ज्ञानी शूर, सत्य अनृत, भूत भविष्य आदि सब किछीसे भी कभी डरते नहीं, इसलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते । इस से बोध मिलता है, कि निर्भय वृत्ति से रहनेसे विनाशसे बचनेकी संभावना है, अतः हे प्राण ! तू इस शरीरमें निर्भय वृत्तिके साथ रह और अपमृत्युके भय को दूर कर ॥ १-६ ॥

निर्भयतासे अमरपन ।

इस सूक्तका मुख्य उपदेश यह है कि ' जो नहीं डरते जो निर्भयतासे अपना कार्य करते हैं वे नाशको प्राप्त नहीं होते । ' उदाहरणके लिये द्यौः पृथ्वी, दिन रात, सूर्यचन्द्र, इनका नाम इस सूक्तमें लिखा है । दिन रात या सूर्यचन्द्र किछीका भय न करते हुए निःपशपातसे अपना कार्य करते हैं । समय होते ही उदय होना या अस्तको जाना आदि इनके सब कार्य यथाक्रम चलते रहते हैं । किछीको पर्व नहीं करते, किछीको विचारस नहीं सुनते, किछीपर दया नहीं करते अथवा किछीपर शोच भी नहीं करते । अपना निश्चित कार्य करते जाते हैं इसलिये वे किछीसे डरते नहीं; अतः ये विनाशको भी प्राप्त नहीं होते । इसलिये जो मनुष्य निडर होकर अपना कर्तव्यकर्म करेगा, वह भी विनाश को प्राप्त नहीं होगा । (मं० १-३)

ब्रह्म-ध्रुव ।

अगे चतुर्थ मंत्रमें 'ब्रह्म और ध्रुव' का उल्लेख है । इनका अर्थ 'ज्ञान और शौर्य' है किंवा ज्ञानी और शूर अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय भी है । सूर्यचन्द्रादिकोंका उदाहरण समुच्च रक्षक ब्राह्मण और क्षत्रियोंको चाहिये कि वे किछी मनुष्यसे न डरते ११ (अ. सु. भा. कां० २)

हुए अपना कर्तव्यकर्म योग्य रीतिसे करते जाय । जिन ब्राह्मण शत्रुदोने ऐसे गिद्ध भावसे अपने कर्तव्य कर्म किए हैं वे अपने पक्ष से इस समय तक अंबित रहें हैं । और भागेमो वे मार्गदर्शक बनेगे । ऐसे आदर्श माण्डनों और आर्दध छत्रियोंका उदाहरण ननुसुख रखकर अन्य लोग भी मय छोटकर अभ्यस्तवृत्तिसे अपने कर्तव्य कर्म करते रहेंगे तो वे भी अमर बनेंगे ।

सत्य और अनृत ।

सत्य और अनृत भी इसी प्रकार किसीकी अपेक्षा नहीं करते । जो सत्य होता है वही असत्य होता है और जो असत्य होता है वही सत्य होता है । कई पर्यंगोंमें सचाभारी मनुष्य अपने अधिकारके बलसे सत्यके लक्षण और असत्य धर्य कर देते हैं; परंतु वह बात थोड़े समयके बाद प्रकट होजाती है और अधिकारियोंकी पोल भी उसके साथ चुल जाती है । इस लिये सच मात्र किसीके दबावसे कुछ न कुछ बन जाय वह बात अलग है; परंतु अंतमें जाकर सत्य और अनृत अपने असलरूपमें प्रकट होने विना नहीं रहते । इसलिये सदा सत्य पसुका ही अलंकार करना चाहिये, जिससे मनुष्य निर्भय बनकर अत्यंत पदम अधिकारी होता है ।

भूत और भविष्य ।

पद्य मंत्रमें भूत और भविष्य इन दो कालोंके विषयमें कहा है कि, वे किसीसे डरते नहीं । यह बिलकुल सत्य है । सबका डर वर्तमान कालमें ही होता है । जो करनिशते बादशाह थे, जिन्होंने अपनी तलवारके स्रावसे लोगोंको सताया, वे अब मृतकालमें ही गये हैं । उनका डर अब नहीं रहा है और वे अपने असली रूपमें जनताके सम्मुख खड़े होगये हैं ! साधारणसे साधारण इतिहास तथ्यका विचार करनेवाला भी उनको अपने मत्तसे दोषी ठहराता है और वे अब उचका कुछ भी रिपाज नहीं कर सकते । क्योंकि वे मृत कालमें दब गये हैं । इसलिये बडे प्रतापी राजा भी मृत कालमें दब आनेके पश्चात् एक साधारण मनुष्य के पक्ष अग्रहाय ही आते हैं । इतना मृतकालच्य प्रभाव है । पाठक इस कालके प्रभाव को देखें । समर्पसे समर्थ भी इस मृतकालमें जब दब जाता है, तब उसका सामर्थ्य कुछ भी नहीं रहता । परंतु जो धर्मोत्सा सत्यनिष्ठ सत्पुरुष होते हैं, उनकी इसी मृतकालसे बढती जाती है । शत्रुवन्ध पशुबल उसी समय हरएकको भी दबा सकता था, परंतु भगवान् रामचंद्रकीका अस्मिक बल उस समयही विजयी हुआ, इतनाही नहीं प्रस्तुत आज भी अनेक लोगोंको मार्गदर्शक हो रहा है ! यह मृत कालका महिमा देखिये । मृतकाल निरुद्ध है किसीकी पनाह नहीं करता और सबको असली रूपमें सबके सामने कर देता है ।

भाविस्य काल भी इसी प्रकार है । अशक्तोंकी भविष्य कालमें भी अपने सत्पुत्र विजय होनेकी आशा रहती है । अथनेके सासनके अंदर दूरे लोग भविष्य कालकी ओर देखकर ही अंबित रहते हैं । क्योंकि वर्तमान कालका डर भविष्यमें नहीं रहता जैसा मृत कालका डर आज नहीं रहा है ।

पाठक इससे जान गये होंगे कि, भूत और भविष्य इन दो कालोंके निरुद्ध होनेका तात्पर्य क्या है । इस बातको देखकर ननुष्य भाव यह बात समझें कि सत्यका ही जय होता है, इसलिये सत्यके आधारसे ही मनुष्य अपना व्यवहार करें और निरुद्ध होकर अपना कर्तव्य पालन करें ।

अथय वृत्तिसे ही अमरपन प्राप्त हो सकता है ।

विश्वंभर की भक्ति ।

(१६)

(ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-प्राणः, अपानः, आयुः)

प्राणांपानौ मृत्योर्मौ पातुं स्वाहा	॥ १ ॥
द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातुं स्वाहा	॥ २ ॥
सूर्यं चक्षुषा मा पाहि स्वाहा	॥ ३ ॥
अग्नें वैश्वानरं विश्वैर्मा देवैः पाहि स्वाहा	॥ ४ ॥
विश्वंभरं विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा	॥ ५ ॥

अर्थ-हे प्राण और अपान !-तुम दोनों (मृत्योः मा पातुं) मृत्युसे मुझे बचाओ (स्वा-हा) मैं आत्म समर्पण करता हूँ ॥ १ ॥

हे तुलोक और पृथ्वी लोक ! (उपश्रुत्या मा पातुं) श्रवण शक्तिसे मेरी रक्षा करो ॥ २ ॥

हे सूर्य ! (चक्षुषा मा पाहि) दर्शन शक्तिसे मेरी रक्षा कर ॥ ३ ॥

हे वैश्वानर भग्ने ! (विश्वैः देवैः मा पाहि) संपूर्ण देवोंके साथ मेरी रक्षा कर ॥ ४ ॥

हे विश्वंभर ! (विश्वेन भरसा मा पाहि) संपूर्ण पोषण शक्तिसे मेरी रक्षा कर, (स्वा-हा) मैं आत्मसमर्पण करता हूँ ॥ ५ ॥

मावार्थ-प्राण और अपान मृत्युसे बचावें ॥ १ ॥

द्यावापृथिवी श्रवण शक्तिकी सहायतासे, सूर्य दर्शन शक्तिसे मेरा बचाव करे ॥ २-३ ॥

विश्वव्यापक पुरुष सब दिव्य शक्तियों द्वारा तथा विश्वंभर ईश्वर अपनी पोषण शक्ति द्वारा मेरी रक्षा करें। मैं अपने आपको सभीकी रक्षामें समर्पित करता हूँ ॥ ४-५ ॥

विश्वंभर देव ।

इस सूक्ते अंतिम पंचम मंत्रमें ' विश्वं-भर ' शब्द है, विश्वका भरण और पोषण करनेवाला देव यह दसका अर्थ है। सम्पूर्ण जगत्का भरण पोषण करनेवाला एक देव यहाँ ' विश्वंभर ' शब्दसे कहा है। यह विश्वंभर शब्द परमात्मविषयक होनेवाला नहीं है। और इस शब्द द्वारा यहाँ जगत् के एक देव की उगम कल्पना व्यक्त की गई है। मं० ५

इस जगत् के भरण पोषण करनेवाले इस देवके पास (विश्वेन भरसा) विश्वव्यापक पोषण शक्ति है जिससे यह देव सब जगत् का पोषण करता है।

वैश्वानर ।

चतुर्थ मंत्रमें इसीका नाम 'वैश्वानर' है इसका अर्थ है विश्वका नेता, विश्वका चालक, संपूर्ण जगत् का भरण, सब जगत् मुख्य, सब जगत् में मुख्य पुरुष। यहाँ विश्वंभर नामसे अग्ने वर्णन किया गया है। जिस प्रकार अग्नि सर्वत्र व्यापता है इसी प्रकार

यह जगत्कारक मुख्य पुरुष भी सर्व जगत् में व्यापक हो रहा है। सूर्य चंद्रादि सब (विश्वैः देवैः) अन्य देव इष्टीके वशमें रहते हैं और अपनी अपनी कार्य करते हैं। इष्टीकी आज्ञा पालन करनेवाले सब अन्य देव हैं। ये अन्य देव इष्टीके सहचारी देव हैं।

एक उपास्य ।

पाठक इस सूक्तके ये दो शब्द 'विश्वंमर और वैश्वानर' देखें और इनके मतलबसे अद्वितीय उपास्य परमात्म देवकी मक्ति करना सीखें। यह सब अमृतका मरण पोषण करनेवाला है इस लिये वह इन्द्रा भी मरण पोषण करेगा ही इसमें क्या संदेह है। विश्व ने जन्म देनेके पूर्व ही माताके स्तनमें बालरुके लिये दूध तैयार रखा होता है, उसकी-सार्वत्रिक मरण पोषण शक्ति कितनी विशाल है, इसकी कल्पना हो सकती है। ऐसे अनन्त सामर्थ्यवाली विश्वंमरकी मक्ति करना ही मनुष्य मात्रका कर्तव्य है।

देवीद्वारा रक्षा ।

सूर्य नैत्र इन्द्रियमें दर्शन शक्ति रख कर मनुष्य की रक्षा कर रहा है, पाषाण युगमें चारों ओर फैली हुई दिवाणें धर्म ईश्वरकी श्रवण शक्तिद्वारा मनुष्यकी रक्षा कर रही हैं। इष्टी प्रकार प्राण और अज्ञान शरीरमें रक्षा कर रहे हैं यह बात हरएकको यहाँ प्रत्यक्ष हो सकती है। इन्हीं तरह अन्त्यात्म देव अन्त्यात्म स्थानोंमें रहते हुए हमारी रक्षा कर रहे हैं।

यह सब उष्टी विश्वंमर की श्रवण शक्ति है इसका अनुभव करके उष्टी एक अद्वितीय प्रभुकी मक्ति करना हरएक मनुष्यके लिये योग्य है। आशा है कि इस रीतिसे विश्वंमरकी भक्ति करके पाठक वाञ्छित कल्याणके नाभी होंगे।

आत्मसंरक्षण का बल ।

(१७)

(ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-प्राणः, अपानः, आयुः)

ओजोऽस्योजो मे	दाः	स्वाहा	॥ १ ॥
सहोऽसि सहो मे	दाः	स्वाहा	॥ २ ॥
बलमसि बल मे	दाः	स्वाहा	॥ ३ ॥
आयुरस्यायुर्मे	दाः	स्वाहा	॥ ४ ॥
श्रोत्रमसि श्रोत्र मे	दाः	स्वाहा	॥ ५ ॥

अर्थ-(ओजः शक्ति) वृ शरीरिक सामर्थ्य है, (मे ओजः दाः) मुझे शरीर सामर्थ्य दे ॥ १ ॥

वृ (सहः शक्ति) सहज शक्तिसे युक्त है (मे सहः दाः) मुझे सहजशक्ति दे ॥ २ ॥

वृ बल स्वरूप है मुझे बल दे ॥ ३ ॥

वृ (आयुः शक्ति) आयु शरीरक जीवनशक्ति है मुझे वह जीवनशक्ति दे ॥ ४ ॥

वृ (श्रोत्रं) श्रवणशक्ति है मुझे वह श्रवणशक्ति दे ॥ ५ ॥

चक्षुरसि चक्षुर्मे द्वाः स्वाहा ॥ ६ ॥

परिपार्षामसि परिपार्षं मे द्वाः स्वाहा ॥ ७ ॥

(इति तृतीयोऽनुवाकः ।)

अर्थ—तू (चक्षुः) दर्शन शक्ति है मुझे दर्शन शक्ति दे ॥ ६ ॥

तू (परिपार्षं असि) सब प्रकारसे आत्मरक्षा करनेकी शक्ति है मुझे आत्मसंरक्षण करनेकी शक्ति दे । (स्वा-हा) मैं आत्मसमर्पण करता हूँ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—हे ईश्वर ! तू सामर्थ्य, पराक्रम, बल, जीवन, भ्रवण, दर्शन और परिपालन इन शक्तियों से युक्त है, इसलिये मुझे इन शक्तियोंका प्रदान कर ॥ (१—७)

(१८)

(ऋषिः-चातनः । देवता-अग्निः)

आतृव्यक्षर्यणमसि आतृव्यचार्तनं मे द्वाः स्वाहा ॥ १ ॥

सपत्नक्षर्यणमसि सपत्नचार्तनं मे द्वाः स्वाहा ॥ २ ॥

अराय-क्षर्यणमस्यराय-चार्तनं मे द्वाः स्वाहा ॥ ३ ॥

पिशाचक्षर्यणमसि पिशाचचार्तनं मे द्वाः स्वाहा ॥ ४ ॥

सदान्वाक्षर्यणमसि सदान्वाचार्तनं मे द्वाः स्वाहा ॥ ५ ॥

अर्थ—तू (आतृव्य-चातनं) वैरियोंका नाश करनेको शक्तिसे युक्त है मुझे वह बल दे ॥ १ ॥

तू सपत्नोंका नाश करनेकी शक्तिसे युक्त है, मुझे वह बल दे ॥ २ ॥

तू (अ-राय-क्षरणं) निर्धनताका नाश करनेका बल रखता है, मुझे वह बल दे ॥ ३ ॥

तू (पिशाच-क्षरणं) मांस चूसनेवालोंका नाश करनेकी शक्ति रखता है, मुझे वह बल दे ॥ ४ ॥

तू (स-दान्वाक्षरणं) आसुरी वृत्तियों को दूर करनेकी शक्ति रखता है, मुझे वह बल दे, मैं (स्वा-हा) आत्मसमर्पण करता हूँ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—वैरी, शत्रु, कंजुष, खनखुम और आसुरीवृत्तिवाले इनसे बचनेकी शक्ति तेरे अंदर है, यह शक्ति मुझमें स्थिर कर, मैं अपने आप को तेरे लिये अर्पण करता हूँ ॥ १-५ ॥

बलकी गणना ।

इन दो सूक्तोंमें आत्म संरक्षणके लिये आवश्यक बलोंकी गणना की है, वह बल ये हैं—

१ ओजः—स्थूल शरीरकी शक्ति, पुष्टीका बल,

२ सहः—शीत उष्ण अथवा अन्त्याभ्य द्बन्ध सहन करनेकी शक्ति । अपना कर्तव्य करनेके समय जो भी कष्ट सहन करनेकी आवश्यकता हो, वे कष्ट आनन्दसे सहन करनेकी सदा तैयारी रखनेका नाम सह है । शत्रुघ्न हमला आगया तो उससे न डरना तथा अपना स्थान न छोड़ना, अर्थात् शत्रुका हमला आगया तो भी अपने स्थानमें ठहरना । यह भी एक सहन शक्ति ही है । सहज ही में शत्रुसे पराभूत न होना, इतना ही नहीं परंतु शत्रुसे कभी पराजित ही न होना । शत्रुके हमले सहन करके स्वस्थानमें स्थिर रहना और शत्रुको परास्त करना या शत्रुके ऊपर आक्रमण करना ।

३ बलं—सब प्रकारके बल । आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक, इंद्रिय विषयक आदि जितने भी बल मनुष्यकी जगतीके लिये आवश्यक होते हैं वे सब बल ।

४ आयुः—दीर्घ आयु, आरोग्य पूर्ण दीर्घायु ।

५ भोजन—कल आदि इंद्रियोंकी शक्तियाँ । अन्नसे प्राप्त होनेवाली अमृतस्य शब्दविद्या ।

६ अक्षुः—बहु आदि इंद्रियोंकी शक्तियाँ । प्रत्यक्ष प्रयोगजन्य विज्ञान ।

७ परिधानं—परिधान की शक्ति । अग्नी (पूर्ण) संरक्षण करनेकी शक्ति । (परि) सब प्रकारसे अपना (पानं) संरक्षण करनेकी शक्ति ।

८ आतृष्य—अन्नसे—आतृष्य शब्दका अर्थ यहाँ विशेष मनसे देखना चाहिये । दो भाईयोंके पुत्र आपसमें आतृष्य कहलाते हैं । यह घरमें आतृष्यपन है । इसी प्रकार दो राजा आपसमें भाई होते हैं और उनकी प्रजा आपसमें " आतृष्य " कहलाती है । इनमें वारंवार युद्ध प्रसंग होते हैं । ऐसे राष्ट्रीय युद्धोंमें शत्रु पक्षका निराकरण करनेकी शक्ति अन्नमें बढानी चाहिए अर्थात् विजय होगा । अन्वया परामव होगा । राष्ट्रीय चतुरंग बलकी सिद्धता करनेकी बात इस शब्द द्वारा बताई है । यह राष्ट्रके बाहरके शत्रुसे युद्ध है ।

९ सपरमक्षयणं—युद्ध राज्यके अंदर पक्ष प्रतिपक्ष हुआ करते हैं । इन पक्ष भेदों का नाम " सपरम " है क्योंकि ये एकही पक्षके अंदर हुआ करते हैं । इनमें विविध प्रकारकी स्पर्धा होना स्वाभाविक है । इस स्पर्धामें विजय प्राप्त करने का अन्न सपरमोंको हटाकर अपना विजय सिद्ध करनेका यह नाम है । यह राष्ट्रके अंतर्गत युद्ध है ।

१० अरायद-पणं—राज शब्द पनः वाचक है और अराय शब्द निर्धनताका वाचक है । यह निर्धनता सब प्रकारसे दूर करना आवश्यक है । वैश्यों और कारीगरोंके उत्कर्षसे यह बात साध्य हो सकती है ।

११ पिशाचक्षयणं—रक्तमांस चूसनेवालोंका नाम पिशाच है । (पिशिताच्- पिशाच) रक्त पीनेवाले रोम भी हैं जिनमें रक्त की क्षीणता होती है । मनुष्योंमें वे लोग कि जो रक्त मांस भोजी होते हैं । इनमें भी कृपा मांस खाकरके विवेक पिशाच कहलाते हैं । समाज से इनको दूर रखना योग्य है ।

१२ स-दान्वाश्रयणं—(स—दानव—क्षयणं) अक्षुर राजसोंका नाश करना, या उनकी दूर करना । यह दुरासोंमें " देवा-क्षुर युद्ध " नामसे प्रसिद्ध है । आज भी अपने समाजमें क्या तथा अन्य समाजोंमें क्या देवाक्षुरोंके हान्ये चल रहा है और उनमें अक्षुरोंका परामव होना ही आवश्यक है यह सब बात रण होनेके कारण इसका आर्थिक विचार बढ़ा देनेकी आवश्यकता नहीं है ।

स्वाहा विधि ।

ये बारह बल अपने अंदर लाने चाहिये । इन बलोंका उपयोग करनेकी रीति भी विभिन्न हो सकती है । पाठक प्रत्येक बलके और उसके प्रयोग क्षेत्रका अच्छी प्रकार मनन करे तो इनको इस बातका पता लग सकता है । दूरियोंका धातनात करनेके कार्य में अपने बलका उपयोग करना तो सब जानतेही हैं, परंतु इन दो सूक्तोंमें इन बलों का उपयोग " स्वाहा " विधिसे करनेकी कहा है । " स्वाहा " विधिकी तत्पर्य " आत्मसर्वस्वका समर्पण " करना है । पूर्णकी मर्यादेके लिये अंशका दक्ष करना स्वाहाका तात्पर्य है ।

इस स्वाहा दत्त द्वारा एक शक्तियाँ अपने अंदर बढजाय और इसी स्वाहा विधि द्वारा उनका उपयोग किया जाय, यह उपदेश इन सूक्तोंमें विशेष महत्त्व रखता है ।

स्व = अपना

हा = त्याग

— आत्म—सर्वस्व—समर्पण ।

यह विधि आत्मयज्ञका ही दूसरा नाम है । यह विधि शक्तियोंका उपयोग करनेकी माध्यमद्वैत बला रहा है । साक्षात् पद-तितमें तो दूरियोंका विनाश मुख्य बात है और माध्यमद्वैतमें स्वाहा अर्थात् आत्मसमर्पण मुख्य बात है । सब शत्रुनाश, या अक्षु-धार इसी विधिसे कैसा करना यह एक बड़ी समस्या है । परंतु पाठक इसका बहुत विचार करे तो इस समस्याका हल स्वयं ही सकता है । क्योंकि यह स्वाहाविधि यज्ञका मुख्य अंगही है ।

दोनों सूक्तोंमें बारह मंत्र हैं । प्रत्येक मंत्र में जो शक्ति मांगी है, उसके साथ " स्वाहा " का उल्लेख हुआ है । पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है कि यह एक प्रचंड शक्ति है । यदि ये शक्तियाँ मनुष्यमें विकसित हो गईं और साथ साथ उसमें स्वार्थ भी बढ़ता गया तो कितनी हानी की संभावना है । एकही शारीरिक शक्तिकी बात देखिए । कोई बड़ा मज्ज है, बड़ा बलवान् है, यदि वह स्वार्थी खुदगर्ज हुआ तो वह बहुत कुछ हानि कर सकता है । परंतु यदि वह मज्ज अपनी विशाल शक्तिका उपयोग परोपकारके कर्ममें करेगा, अथवा अपने शारीरिक बलको परमात्मसमर्पणमें लगावेगा । तो कितना लाभ हो सकता है । इसी प्रकार अन्यान्य शक्तियोंके विषयमें जानना चाहिए । आत्म समर्पणसेही शक्तिका सत्था उपयोग हो सकता है । और सच्चाहित भी हो सकता है ।

इस लिए इन दो सूक्तोंमें बारह बार " स्वाहा " का उच्चार करके आत्मसमर्पण का सबसे अधिक उपदेश किया है । जो जो शक्ति अपनेमें बढ़ेगी, उस उस शक्तिका उपयोग में आत्मसमर्पण की विधिसे ही करेगा ऐसा निश्चय मनुष्य को करना चाहिए तभी उसकी उन्नति होगी और उसके प्रयत्नसे अनताकी भी उन्नति हो सकती है ।

शुद्धि की विधि ।

(१९-२३)

(ऋषिः-अथर्व । देवता १९ अग्निः, २० वायुः, २१ सूर्यः २२ चन्द्र, २३ आपः)

(१९) अग्ने यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽस्मान्द्रेष्टी यं वृयं द्विष्मः	॥ १ ॥
अग्ने यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽस्मान्द्रेष्टि ।	॥ २ ॥
अग्ने यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो०	॥ ३ ॥
अग्ने यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो०	॥ ४ ॥
अग्ने यत्ते तेजस्तेन तमेतेजसै कृणु यो०	॥ ५ ॥
(२०) वायो यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो०	॥ १ ॥
वायो यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो०	॥ २ ॥
वायो यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो०	॥ ३ ॥
वायो यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो०	॥ ४ ॥
वायो यत्ते तेजस्तेन तमेतेजसै कृणु यो०	॥ ५ ॥
(२१) सूर्य यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो०	॥ १ ॥
सूर्य यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो०	॥ २ ॥

सूर्यं यत्तुऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चं यो०	॥ ३ ॥
सूर्यं यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोचु यो०	॥ ४ ॥
सूर्यं यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो०	॥ ५ ॥
(२२) चन्द्रं यत्ते तपस्तेन तं प्रति तपु यो०	॥ १ ॥
चन्द्रं यत्ते हरस्तेन तं प्रति हरु यो०	॥ २ ॥
चन्द्रं यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चं यो०	॥ ३ ॥
चन्द्रं यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोचु यो०	॥ ४ ॥
चन्द्रं यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो०	॥ ५ ॥
(२३) आपो यद्वस्त्वपस्तेन तं प्रति तपतु यो०	॥ १ ॥
आपो यद्वो हरस्तेन तं प्रति हरतु यो०	॥ २ ॥
आपो यद्वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चतु यो०	॥ ३ ॥
आपो यद्वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचतु यो०	॥ ४ ॥
आपो यद्वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुतु योऽस्मान्द्वेदि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥	

अर्थ-दे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, और आप देवता । आपके अंदर जो (तपः) तपानेकी शक्ति है उससे (तं प्रति तप) उसको तप करो (यः अस्मान् द्वेदि) जो अनेका हम सबका द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिसका हम सब द्वेष करते हैं ॥ १ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर (हरः) हरण करनेकी शक्ति है उससे उसका (प्रतिहर) क्षोभ हरण करो जो हमारा द्वेष करता और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ २ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर (अर्चिः) क्षोभन शक्ति है उससे उसका (प्रत्यर्चं) संदीपन करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ ३ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर (शोचिः) शुद्ध करनेकी शक्ति है उससे उसको (प्रति शोच) शुद्ध करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ ४ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर (तेजः) तेज है उससे उसको (तमतेजसं) अतेजस्वी करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ ५ ॥

भाषार्थ-दे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और आप देवो । आपके प्रत्येकके अंदर तप, हर, अर्चि, शोचि, और तेज ये पांच शक्तियाँ हैं, इसलिये कृपा करके हमारे देवोंको इन शक्तियोंके परिशुद्ध करो; अर्थात् उनको तपाकर, उनके क्षोभको हटाकर, उनमें आंतरिक प्रकाश उत्पन्न करके, उनकी शुद्धि करके और उनको आपके दिव्य तेज से प्रभावित करके शुद्धि करो । जिस से वे कभी किसीका द्वेष न करेंगे और मिलजुल कर आनंदसे रहेंगे ॥

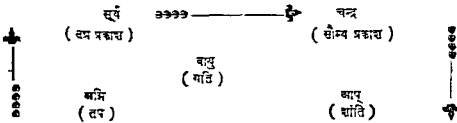
पांच देव

इन पांच सूक्तों में पांच देवताओंकी प्रार्थना की गई है अथवा दुष्टोंके सुधारके कार्य में उनके शक्तियोंकी याचना की गई है । ये पांच देवताएं ये हैं—

“ अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, इन्द्रः ”

अग्निमें तपानेकी शक्ति, वायुमें दिखानेकी शक्ति, सूर्यमें प्रकाश शक्ति, चन्द्रमें सौम्यता, और वायु (जल) में पूर्ण शांति है । अर्थात् ये देवताएं इस व्यवस्थासे एकके पश्चात् दूसरी आगई हैं कि पहिले तपानेमें प्रारंभ होकर सबको अन्तमें शांति मिल जावे । अंतिम दो देव चंद्र और वायु पूर्ण शांति देनेवाले हैं । अग्नि और सूर्य तपाने वाले हैं और वायु प्रायगति वा जीवन मटिका दाता है । यदि पाठक यह व्यवस्था देखेंगे तो उनकी दुष्टोंका सुधार करनेकी विधि निश्चयसे ज्ञात होगी ।

पंचायतन ।



पहिले अग्नि तपता है, वायु उसमें मग्न करता है और ये दोनों सूर्यके उग्र प्रकाशमें लपके रख देते हैं । उसके पश्चात् चंद्रमाका सौम्य प्रकाश आता है और पश्चात् जल तत्वकी पूर्ण शांति या शांतिमय जीवन उसे प्राप्त होता है । शुद्ध होनेका यह मार्ग है । यह क्रम विरोध महत्त्वपूर्ण है । और इसी लिए इन पांचों सूक्तोंका विचार यहां इकट्ठा किया है ।

पांच देवोंकी पांच शक्तियाँ ।

पांच देवोंकी पांच शक्तियाँ इन सूक्तोंमें वर्णन की हैं । उनके नाम ये हैं ।

“ तपः, हरः, अग्निः, शोचिः, तेजः ” ये पांच शक्तियाँ हैं । ये पांचों शक्तियाँ प्रत्येक देवके पास हैं । इससे पाठक जान सकते हैं कि हर एक की ये शक्तियाँ भिन्न हैं । अग्निका तेज, सूर्यका तेज और जलका तेज भिन्न होनेमें किशोंकी भी शंका नहीं हो सकती । इसलिये प्रत्येक देवताके पास ये पांच शक्तियाँ हैं, परंतु उनका स्वरूप और कार्य भिन्न भिन्न ही हैं । जैसा ‘हरः’ नामक शक्ति विषयमें देखिये । हरः का अर्थ है “ हरण करना ” हारवना । यहां इस एकही शक्तिका उपयोग पांच देव क्रिस प्रकार करते हैं, देखिये—

- १ अग्नि—शांतिताका हरण करता है, तपता है ।
- २ वायु—अग्निताका हरण करता है, हटाता है ।
- ३ सूर्य—मनव का हरण करता है, आयु घटाता है ।
- ४ चन्द्र—मनसःका हरण करता है, मनकी प्रसन्नता देता है ।
- ५ जल—धार्तरिक मलका हरण करता है, शुद्धता करता है ।

प्रत्येक देव हरण करता है, परंतु उसके हरण करनेके पदार्थ भिन्न हैं, इसी प्रकार “ तपन, हरण, अवन, शोचन और तेजन ”के द्वारा इन देवोंसे मनुष्यका सुधार होता है । प्रत्येक देवताके ये पांच गुण हैं और पांच देवता हैं, इसलिए सुधार होनेके

लिए पक्षीसंघान्नियोसं हाना जानेकी आवश्यकता है, यह बात पाठक विचार करनेमें सङ्ग हीमें जान जावेगे ;

यह शुद्धिकी विधि देखनेके लिए हमें यहां इन पांच गुण शक्तियोंका अवश्य विचार करना चाहिये—

१ तपः तपना, तपना । इसका महत्त्व बड़ा भारी है । सुवर्गादि धातु अभिमें तपनेसे ही शुद्ध होते हैं । काथिक शक्तिमानसिक तपसे ही मनुष्यकी शुद्धि होती है । तपना अनेक प्रकारसे होता है । तप बहुत प्रकारके हैं उन सब का उद्देश्य शुद्धि करना ही है ।

२ हरः—हरण करना, हरलेना । दोषोंको हरण करना, दोषोंको दूर करना । सुवर्गादि धातुओंको अभिमें तपनेसे दोष दूर होते हैं और उत्तम शुद्धता होती है । इसी प्रकार अन्वयण एव करनेसे दोष दूर होते हैं और शुद्धि होती है ।

३ अर्चिः—अर्च धातुका अर्थ 'पूजा और प्रकाश' है । पूर्वोक्त दो विधियों द्वारा शुद्धता होनेके पश्चात् यह पूजा या उपासना का प्रकाश उस मनुष्यके अंदर डाला जाता है । दोष दूर होनेके पश्चात् ही यह होना है इससे पूर्व नहीं ।

४ शोचिः—शुच धातुका अर्थ शोधन करना है । शुद्धता करना । तप, दोषहरण और अर्चनेके पश्चात् शोधन हुआ करता है । शोधन का अर्थ बारीकसे बारीक दोषोंको हटाना । हरण और शोधन में जो भेद है वह पाठक अवश्य देखें । स्पष्ट शोधनका हरण होता है और सूक्ष्म शोधन शोधन हुआ करता है इस प्रकार शोधन होनेके पश्चात्—

५ तेजः—तेजन करना है । तिज धातुका अर्थ तेजकरना और पालन करना है । रात्र को घारा तेज की जाती है इस प्रकारका तेजन यहां समीप है । तीखः करना, तेज करना, बुद्धिकी तीव्रता संपादन करना ।

उदाहरण के लिये लोहा लौजिये । पहिले (तपः) तपाकर उसको गर्म किया जाता है, पश्चात् उसके दोष (हरः) दूर किये जाते हैं, पश्चात् उसको किसी आकारमें ढाला (अर्चिः) जाता है, नंतर (शोचिः) पानीमें सुझाकर जल पिलाया जाता है और तत्पश्चात् (तेजः) उस रात्रको तेज दिया जाता है ; वह एक चककू सूरी आदि बतानेकी साधारण बात है, इसमें भी न्यूनताधिक प्रमाणसे इन विधियोंका उपयोगिता होती है । फिर मनुष्य जैसे श्रेष्ठ जीवकी शुद्धताके लिये इनको उपयोगिता अन्वयण रीतियोंसे होगी इसमें कल्पनेकी बन्धः आवश्यकता है ! तात्पर्य " तपन, हरण, अर्चन, शोधन, और तेजन " यह पांच प्रकारका शुद्धिका विधि है, जिससे दोषी मनुष्यकी शुद्धता हो सकती है । दुष्ट मनुष्य का सुधार करके उसको पवित्र महारमा बनानेकी यह वैदिक रीति है । पाठक इसका बहुत मनन करें ।

मनुष्यकी शुद्धि ।

अब यह विधि मनुष्यमें किस प्रकार प्रयुक्त होता है इसका विचार करना चाहिए । इस कार्य के लिए पूर्वोक्त देव मनुष्यमें बड़ा और विश्व रूपमें रहते हैं इसका विचार करना चाहिए । इसका निश्चय होनेसे इस शुद्धीकरण विधिकी पता स्वयं लग सकती है । इस लिये पूर्वोक्त पांच देव मनुष्यके अंदर बड़ा और विश्व रूपमें आवःमान हैं यह देखिये—

देवतामंचायतन ।

मनुष्यमें अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र, और आप ये पांच देवताएं निमग्नलिखित रूपसे रहती हैं—

१ अग्निः [अग्निर्विक्रि मूर्त्वा मुखं प्राविशत्] = अग्नि वागोष्ठा रूप धारण करके मनुष्यके मुखमें प्रविष्ट हुआ है । अर्थात् मनुष्यके अंदर अग्नि का रूप वाक् है ।

२ वायुः (वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्) = वायु प्राण का रूप धारण करके नासिका द्वारा अंदर प्रविष्ट हुआ है । और यह प्राण एकादश विष होकर सब शरीरमें व्यापता है ।

३ सूर्यः (सूर्यः अक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्) = सूर्य नेत्रेन्द्रिय बनकर आंखोंमें प्रविष्ट हुआ है ।

४ चन्द्रः (चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्) = चंद्र देव मनका रूप धारण करके हृदयमें आ बसा है ।

५ आपः (आपो रेतो भूत्वा शिरसं प्राविशत्) = जल रेत बन कर शिरके स्थानपर बसा है ।

ये पांच देव इन पांच रूपोंमें अपने आपको ढाक कर मनुष्यके देहमें आकर इन स्थानोंमें बसे हैं । यह बात विशेष विस्तार पूर्वक ऐतरेय उपनिषद्में लिखी है, वहां १५ ठक देखें । यद्वा जो वाक्य ऊपर लिए हैं वे ऐतरेय उपनिषद् (ऐ० उ०—११२) में यही लिए हैं । इन वाक्योंके मननसे रता लगेगा कि इन देवोंका शरीरमें निवास कहां है । अब ये अर्थ लेकर पूर्वोक्त मंत्रोंसे अर्थ देखिए—

सूत्र १९ = [अग्नि-वाणी] = हे वाणी ! जो तेरे अंदर तप है उस तपसे उसको तप्त कर जो हमारा द्वेष करता है । तथा जो तेरे अंदर हरण शक्ति है, उससे उसीके दोष हरण कर, जो तेरे अंदर दीपन शक्ति है उससे उसीका अंतःकरण प्रकाशित कर, जो तेरे अंदर घोषक गुण है उससे उसकी शुद्धी कर और जो तेरे अंदर तेज है उससे उसीको तेजस्वी बना ॥ १—५ ॥

सूत्र २० = [वायु = प्राण] = हे प्राण ! जो तेरे अंदर तप, दोष-हरण-शक्ति, दीपन शक्ति, घोषन शक्ति और तेजनशक्ति है, उन शक्तियोंसे उसके दोष दूर कर कि जो हम सबका द्वेष करता है ॥ १—५ ॥

इसी प्रकार अन्यत्र सूक्तोंके विषयमें जानना योग्य है । प्रत्येक की पांच शक्तियाँ हैं और उनसे जो शुद्धता होती है, उसका मार्ग निश्चित है, वह इस अर्थसे अब स्पष्ट हो चुका है । जो बाह्य देवनाएँ हैं उनके अंग हमारे अंदर विद्यमान हैं; उन अंगोंकी अनुकूलता प्रातिकूलतासे ही मनुष्यका सुचारु या असुचारु होता है । यह जानकर इस रीतिसे अपनी शुद्धता करनेका यत्न करना चाहिये, तथा जो द्वेष करनेवाले दुर्जन होंगे उनके सुचारुका भी इसी रीतिसे यत्न करना योग्य है ।

शुद्धिकी रीति ।

शुद्धिकी रीति पंचविध है अर्थात् पांच स्थानोंमें शुद्ध होना चाहिये तब दोषयुक्त मनुष्यकी शुद्धता हो सकती है । इसका संक्षेपसे वर्णन देखिए—

१ वाणीका तप—सबसे पहिले वाणीका तप करना चाहिये । जो शुद्ध होना चाहता है या जिसके दोष दूर करने हैं, उसको सबसे प्रथम वाणीका तप करना चाहिये । सत्य भाषण, मौन आदि वाणीका तप प्रसिद्ध है । वाणीके अंदर जो दोष होंगे उनको भी दूर करना चाहिये । वाणीमें प्रकाश या प्रसन्नता लानी चाहिये, जो बोलना है वह सावधानीसे परिशुद्ध विचारों से युक्त ही बोलना चाहिये । इस प्रकार वाणीकी शुद्धता करनेका यत्न करनेसे वाणीका तेज अर्थात् प्रभाव बहुत बढ़ जाता है और हरएक मनुष्य उसके शब्द सुननेके लिए उत्सुक हो जाता है । (सू० १९)

२ प्राणका तप—प्राणायामसे प्राणका तप होता है जिस प्रकार धोकनोंसे वायु देनेसे अग्नीका दीपन होता है उसी प्रकार प्राणायामसे शरीरके नसनाडीयोंकी शुद्धता होकर तेज बढ़ जाता है, शरीरके दोष दूर हो जाते हैं, प्रकाश बढ़ता है, घोषन होता है और तेजस्विता भी बढ़जाती है । इस अनुष्ठानसे मनुष्य निर्दोष होता है । (सू० २०)

३ आँखका तप—आँख द्वारा कुछ भावसे किसी ओर न देखना और भगलभावनासे ही अपनी दृष्टि उपयोग करना नेत्रका तप है । पाठक यहां विचार करें कि अपने आँखसे किस प्रकार पाप होते रहते हैं और किस प्रकार पतन होता है । इससे बचनेका यत्न हरएक को करना चाहिये । इसी तरह अममान्य इंद्रियोंका संयम करना भी तप है जो मनुष्यकी शुद्धता कर सकता है । अपने इंद्रियोंको सुरोपसे हटाना और अच्छे पय पर चलना वहा महत्त्वपूर्ण तप है । इसीसे दोष हटते हैं, घोषन होता है और तेज भी बढ़ता है । (सू० २१)

४ मनका तप—सत्य पालन करना मनका तप है । बुरे विचारोंको मनसे हटाना भी तप है । इस प्रकारके मनके तप कर नैसे मनके दोष दूर हो जाते हैं, मन पवित्र होता है और शुद्ध होकर तेजस्वी होता है । (सू० २२)

५ बौर्यका तप—(ब्रह्मचर्य) सिद्ध इंद्रियका, बौर्यका अथवा कामका तप ब्रह्मचर्य नामसे प्रसिद्ध है । ब्रह्मचर्यसे सब अपमृत्यु दूर होते हैं और अनन्त प्रकारके लाभ होते हैं । योगादि भय दूर होते हैं और निदर्शका आरोम मिलता है । ब्रह्मचर्यके विषयमें सर्वतोय जानते ही हैं इस लिए इनके संबंधमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है । ब्रह्मचर्य सब प्रकारसे मनुष्यमात्र के उद्धार का हेतु है । (सू० २३)

अग्नि (वाणी), वायु (प्राण), सूर्य (नेत्र आदि इंद्रिय), चन्द्रमा (मन), आपः (वायु) इन देवोंके आश्रयके मनुष्य की शुद्धि होनेका मार्ग यह है। प्रत्येक देवता की पांच शक्तियोंके मनुष्यके दोष हटजाते और उसमें गुण बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार क्रमशः मनुष्य शुद्ध होता हुआ उन्नत होता जाता है।

द्वेष करना।

इन सूक्तोंके प्रत्येक मंत्रमें कहा है कि, जो (द्वेषि) द्वेष करता है, उसकी शुद्धता तप आदि द्वारा करना चाहिए। बुर-रोका द्वेष करना इतना बुरा है ? इसके अधिक बुरा और कोई कार्य नहीं है। यह सबसे बड़ा भारी पतन का साधन है।

आज कल अस्वपारों और मणिकोमें देखिए दूसरों का द्वेष अधिक लिखा जाता है और उपातिष्ठा सम्बन्धी मार्ग कम लिखा जाता है। दो चार भिन्न इच्छे बैठें या मिले तो उनकी जो बातचित, गुरु होती है, वह भी किसी आरमोषटिके विषयपर नहीं होती, परंतु किसी न किसीकी निन्दा ही होती है। पाठक अपने अनुभव का भी विचार करेंगे तो उनकी पता लग जायगा कि मनुष्य जितना दुष्ट बोलता है उनमेंसे बहुतसा भाग दूसरोंकी निन्दा या दूसरोंका द्वेष होता है। मनुष्योंके अवनतिको यह प्रधान कारण है। यदि मनुष्य यह द्वेष करना छोड़ दे, तो उसका कितना कल्याण हो सकता है। परंतु दूसरोंका द्वेष करना बड़ा प्रिय और रोचक लगता है, इसलिए मनुष्य द्वेषही करता जाता है और गिरता जाता है।

इसलिये इन पांच सूक्तोंके प्रत्येक मंत्र द्वारा उपदेश दिया है कि " जो (द्वेषि) द्वेष करता है, उसकी शुद्धि तप आदिसे होने चाहिए। " क्योंकि सबसे अशुद्ध यदि कोई मनुष्य होगा तो दूसरोंका द्वेष करनेवाला ही है। यह स्वयंभी गिरता है और दूसरोंको भी गिराता है।

मन जिसका चिंतन करता है वैसा बनता है। यह मनका धर्म है। पाठक इसका स्मरण करें। जो लोग दूसरोंका द्वेष करते हैं वे दूसरोंके दुर्गुणोंका निरंतर मनन करते हैं, इस कारण प्रतिदिन इनके मनमें दुर्गुणों की संख्या बढ़ती रहती है, किसी कारण भी यह कम नहीं होती। पाठक विचार करें कि मनुष्य मनुष्यको अवस्था निश्चित करता है। जैसा मन वैसा मानव वह नियम अटक है। अब देखिए, जो मनुष्य दूसरोंके दुर्गुणोंका निरंतर मनन करता है उसका मन दुर्गुणमय बनता जाता है। अतः निन्दक मनुष्य दिन ४ दिन गिरता जाता है।

इसी लिए द्वेष करनेवालेको पश्चात्ताप आदि तप अवश्य करना चाहिए। और अपनी शुद्धि करना चाहिए। तथा आगेके लिए निन्दाशून्य छोड़ना भी चाहिए। अन्यथा धोये हुए कपड़ोंकी फिर कीचड़में फेंकनेके समान दुःखस्याका सुधार हो ही नहीं सकता।

पाठक इन सब बातोंका विचार करके अपनी परीक्षा करें और अपनी पवित्रता करने द्वारा अपने सुधारका मार्ग आत्मनय करें। जो धर्ममें नव प्रविष्ट या शुद्ध हुए मनुष्य होंगे उनकी सचमुच शुद्धि करनेका अनुष्ठान भी इन सूक्तोंके मननसे ज्ञान हो सकता है। नव प्रवेष्टोंकी इस प्रकार अनुष्ठान द्वारा सच्ची शुद्धि करनेका मार्ग तनके लिए खुला देनेसेही उनकी सच्ची उन्नति हो सकती है और वैदिक धर्मकी विरोधता भी उनके मनमें स्थिर हो सकती है। पाठक इन सब बातोंका विशेष विचार करें और इन वैदिक आदेशोंसे लाभ उठावें।



डाकुओंकी असफलता ।

(२४)

(ऋषिः-ऋषिः । देवता-आयुष्यम्)

शेरमकु शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।	
यस्य स्थ तर्मत्त यो वः प्राहैत्तर्मत्त स्वा मांसान्यत्त	॥ १ ॥
शेवृषक शेवृष पुनर्वो यन्तु ०।०	॥ २ ॥
श्रीकालुश्रीक पुनर्वो यन्तु ०।०	॥ ३ ॥
सर्पासुसर्प पुनर्वो यन्तु ०।०	॥ ४ ॥
जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।०	॥ ५ ॥
उपन्द्रे पुनर्वो यन्तु ०।०	॥ ६ ॥
अर्जुनि पुनर्वो यन्तु ०।०	॥ ७ ॥
मरुजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।	
यस्य स्थ तर्मत्त यो वः प्राहैत्तर्मत्त स्वा मांसान्यत्त	॥ ८ ॥

अर्थ-हे (शेरमकु शेरभ) वध करनेवाले ! हे (किमीदिनः) लुटेरे लोगो ! (वः यातवः) तुम्हारे अनुयायिः और तुम्हारे (हेतिः) शत्रु (पुनः पुनः यन्तु) लौटकर वापस जाय । (यस्य स्थ) जिसके साथी तू हो (तं मत्त) उसको खाओ । (यः वः प्राहैत्तं मत्त) जो तुम्हें लटके लिये भेजता है उसीको खानो भयवा (स्वा मांसानि मत्त) अपनाही मांस खाओ ॥ १ ॥

हे (शेवृषक शेवृष) घातपात करनेवाले ०।० ॥ २ ॥

(हे श्रीक अनुश्रीक) हे चोर और चोरोंके साथी ! ०।० ॥ ३ ॥

हे (सर्प अनुसर्प) हे साँपके समान छिपके हमला करनेवाले ! ०।० ॥ ४ ॥

हे (जूर्णि) विनाशक ! ०।० ॥ ५ ॥

हे (उपन्द्रे विह्वलनेवाले ! ०।० ॥ ६ ॥

हे (अर्जुनि) दुष्ट मनवाले ! ०।० ॥ ७ ॥

हे (मरुजि) नीच वृत्तिवाले ! तुम सबके (यातवः , अनुयायी और (हेतिः) शत्रु तथा (किमीदिनीः) लट करनेवाले जो हों सब तुम्हारे पास ही (पुनः यन्तु) वापस चले जाय । जिसके अनुयायी तुम हो (तं मत्त) उसीको खानो जो तुम्हें भेजता है उसीको खाओ, भयवा अपना ही मांस खाओ ॥ ८ ॥ (परंतु किसी दूसरेको कष्ट न दो ।)

भावार्थ-जो दुष्ट मनुष्य भयवा घातपात करनेवाले मनुष्य होते हैं वे .शास्त्राखंडे धृष्ट होकर अपने अनुयायियोंके साथ दूसरोंपर हमला करके लटमार करते हैं और शत्रुओंको मारते हैं । राजाकी सुव्यवस्थासे ऐसा प्रबंध किया जाये कि इन

दुष्टोंमें से कोई भी किसी दूसरे सज्जनोंको छूट न सके । इनके अनुयायी कृतकारी न होते हुए वापस लौट जाय, इनके शत्रु व्यर्थ ही, ये बाकूबंध भूखे मरने लगें । ये लोग कहीं भी सफलता को प्राप्त न कर सकें । विफल मनोरथ होते हुए ये बाकू आपसमें मार पीट करके एक दूसरेको खाकर स्वयं ही नष्ट हो जाय ॥ १-८ ॥

दुष्ट लोग ।

नगरमें सज्जन नागरिक रहते हैं और जङ्गलोंमें बाकू चोर लुटेरे रहते हैं । ये बाकू रात्रीके या दिन के समय नगरों पर हमला करते हैं और लूटमार करके भाग जाते हैं । इस प्रकार लूट मार पर ये अपना निर्वोद करते हैं ।

राजाका सुराज्यका प्रबंध ऐसा हो कि ये किसी भी समय सफल मनोरथ न हो सकें । सर्वदा इनका हमला निष्फल होवे । प्रतिघमय इनका हमला निष्फल होनेसे ये भोग भूखे मरने लगेंगे । पथात् आपसमें लड़ेंगे और आपसमें लड़ कर मर जायेंगे । इनके शत्रुओं जो दूसरोंके लिये ये बेही इन पर गिरेंगे, ये जो दूसरोंके मांस खाते ये बेही अपने मांस खायेंगे, क्योंकि दूसरोंके मांस इनका मिलेगा नहीं और दूसरोंकी संपत्तियां इनको लूटमारके लिये प्राप्त नहीं होगी ।

राज प्रबंध द्वारा ऐसी व्यवस्था होना और चोर लुटेरे भूखे मरने लगना ही उन दुष्टोंके सुधारका मार्ग है । ऐसा सुप्रबंध होनेसे बाकू लोग नागरिक बनने लगते हैं और उनके बाकूके व्यवहार से हानि और उत्तम नागरिक बननेसे लाभ प्रतीत होता है । पठक विचार करें और देखें कि यह भी एक दुष्टोंके सुधारनेका मार्ग है और जो विचार पूर्वक अमलमें लाया जाय तो निःसंदेह लाभकारी होगा ।



पृश्निपर्णी ।

[२५]

(ऋषिः चातनः । देवता—चनस्पतिः)

शं नो देवी पृश्निपर्ण्यं निर्वृत्त्या अकः । उग्रा हि कण्वजर्मनी ताममस्त्रि सहस्रताम् ॥ १ ॥
सहमानेयं प्रथमा पृश्निपर्ण्यजायत । तयाहं दुर्णांश्रां शिरों वृश्चामि शकुनेरिव ॥ २ ॥

अर्थ—[देवी पृश्निपर्णी नः सं] देवी पृश्निपर्णी। औषधी हमारे लिये सुख और [निर्वृत्त्ये अकः] व्याधिर्वक्ति लिये दुःख [अकः] करती है । [दि उग्रा कण्व-जर्मनी] क्योंकि यह मध्वं रोग बीज-नाशक है । [सहस्रतां तां अमस्त्रि] बलवती उस औषधिकी मैं सेवन करता हूं ॥ १ ॥

[इयं प्रथमा सहमाना पृश्निपर्णी अजायत] यह पहली विजयी पृश्निपर्णी प्रकट हुई है । [तया दुर्णांश्रां शिरः वृश्चामि] उस चनस्पतिसे तुरे नामवाले रोगोंका सिर मैं कुचढता हूं [शकुनेः इव] जिस प्रकार छोटे पक्षीका सिर तोड़ते हैं ॥ २ ॥

भाषार्थ—पृश्निपर्णी औषधी मनुष्योंको सुख देती है और रोगोंको ही मरानो है; यह रोगबीजोंको दूर करती है, रोगोंको मगाती है, इसलिये इसका सेवन करना योग्य है ॥ १ ॥

इस कार्यके लिये यही मुख्य औषधी है, इससे मानो दुष्ट रोगोंका सिरही टूट जाता है ॥ २ ॥

अरायमसुकपावानं यश्च स्फाति जिहीर्षति । गर्भदं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहैश्व च ॥३॥
गिरिमेना आ देाय कण्वाञ्जीवितयोपनान् । तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्युगिरिवानुदहंभिहि ॥४॥
पराच एनान्प्र पुन्दु कण्वाञ्जीवितयोपनान् । तमांसि यत्र गच्छन्ति तत्कण्वादा अजीगमम् ॥५॥

अर्थ— हे पृश्निपर्णि ! [अ-रायं] शोभा हटानेवाले, [असूक्-पावानं] रक्त पीनेवाले [यः च स्फाति जिहीर्षति] जो पुष्टिको रोकता है, उसको तथा [गर्भ-भदं] गर्भ खानेवाले, [कण्वं नाशय] रोगबीजका नाश कर और [सहैश्व] उसको जीत ले ॥३॥
हे [देवि पृश्निपर्णि] देवी पृश्निपर्णी औषधी ! तू [एनान् जीवितयोपनान्] इन जीवित का नाश करनेवाले [कण्वान्] रोगबीजोंको [गिरि भविष्य] पहाडपर ले जाओ और [त्वं तां भक्षिः इव अनुदहन्] तू उनको भक्षिके समान जलाती हुई [इदि] प्राप्त हो ॥ ४ ॥

[एनान् जीवित-योपनान्] इन जीवितका नाश करने वाले [कण्वान् पराचः प्रणुद] रोगबीजोंको अथोमुखसे ढकेल दे । [यत्र तमांसि गच्छन्ति] जहाँ भक्षकार होता है [तत्] वहाँ [कण्वादाः अजीगमं] मांस भक्षक रोगोंको प्राप्त किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो रोग शरीरकी शोभा हटाते हैं, खून कम करते हैं, पुष्टिका नाश करते हैं, गर्भको सुखाते हैं, उन रोगोंका नाश पृश्निपर्णी करती है ॥ ३ ॥

जिनको ये रोगबीज सताते हैं उनको पहाडपर बसाओ और पृश्निपर्णी का खेवन उनसे कराओ जिससे वह पृश्निपर्णी उसके रोग बीजोंको जला देगी ॥ ४ ॥

प्राण नाश करनेवाले इन रोग बीजोंको नीचेके मार्गसे दूर करो । जहाँ अंधेरा रहता है वहाँ ही रक्त और मांसका नाश करनेवाले ये रोगबीज रहते हैं ॥ ५ ॥

पृश्निपर्णी ।

इस पृश्निपर्णी को चित्रपर्णी कहते हैं । भाषामें इसके ' पीठवन, पीतवन, पठौनी ' कहते हैं । इसके गुण ये हैं—

त्रिदोषघ्नी वृष्योष्णा मधुरा स्या ।

हृन्वि दाहज्वरश्वासरक्तितिसारतृह्वमीः ष् ।

भा.व. पू. १ भाग. ३५० वर्ग.

'यह पीठवन औषधी त्रिदोषनाशक बलवर्धक, उष्ण, मधुर और सारक है, इससे दाह, ज्वर, श्वास, रक्तितिसार, तृष्णा और घमन दूर होता है ।' इस वनस्पतिकी वर्णन इस सूक्तने किया है । इस सूक्तमें जिन रोगोंके नाश करने के लिये इस औषधी का उपयोग लिखा है उनका वर्णन अब देखिये—

रक्त दोष

इस सूक्तमें यद्यपि अनेक रोगमूलोंका वर्णन दिया है तथापि प्रायः सभी रोगोंका मूल कारण रक्त दोष प्रतीत होता है । इस विषयमें देखिए—

१ असूक्-पावानं— (असूक्) रक्तको (पावानं) जो पीते हैं । अर्थात् जो रक्तको खावते हैं । जो रोग रक्तको शरीरमें कम करते हैं, रक्तकी शुद्धता हटाते हैं और रक्तका प्रमाण कम करते हैं (Animia) पांडुरोग जैसे रोग, जिनमें रक्तकी मात्रा कम होती है । (मं० ३)

२ अ-रायं— (राय, रे) का अर्थ श्री, शोभा, कृति, ऐश्वर्य्य है । शरीरकी शोभा, शरीरका कौटूय्य यहाँ राय शब्दसे अर्थात् है । वह इस रोगसे हटाता है । शरीरका खून कम और अशुद्ध होनेसे इस पांडु रोग आदिमें शरीरकी शोभा हटजाती है और शरीर मरियलसा होजाता है । (मं० ३)

३ ह्वाति जिह्वोर्ध्वि—पुष्टि हटाता है । शरीरका मांस कम करता है, शरीरको सुखाता है । शरीर रुच होता जाता है । शरीर का सुशूलन कम होता है । अर्थात् शरीर क्षीण होता है । (मं० ३)

४ गर्भदिं (गर्भं—अर्द्धं)—गर्भको खानेवाला रोग । मर्यादे गर्भमें ही गर्भको बचने न देनेवाला, सुखानेवाला, अर्थात् करनेवाला अथवा गर्भको मृत करनेवाला रोग । (मं० ३)

५ कण्ठः—जिह्व रोगमें रोगी अक्षतताका (कण्ठि) शब्द करते हैं, आँधे मारते हैं, हाथ हाथ करते हैं अथवा द्विध प्रकार अपनी अक्षतता व्यक्त करनेवाला शब्द करते हैं । वह नाम रोग बीजका है जिह्वे पूर्वोक्त रोग ह्रात होते हैं । (मं० १, ३—५)

६ निर्मतिः—(कति) सरल व्यवहार, मोक्ष सरल रक्षाका मार्ग । (निः—कतिः) तेरा बात चलन, अक्षय अक्षय स्वका मार्ग । इस प्रकारके व्यवहारसे उक्त रोग होते हैं । (मं० १)

७ दुर्नामा—(दुः—नामा) दुष्ट यशवाला रोग । अर्थात् बी रोग दुष्ट व्यवहार से उत्पन्न होते हैं । (मं० २)
ये छत शब्द रोगोंके लक्षण बता रहे हैं अंतिम (६ निर्मतिः, ७ दुर्नामा) ये दो शब्द रोगोत्पत्तिका कारण बता रहे हैं । अर्थात् मद्मन्वादि सुनियमोंका पालन न करने आदि तथा दुष्ट दुर्बारेके व्यवहार करनेसे रक्त दोष हुआ करता है और पाण्डु रोग, क्षय रोग आदि होते हैं । ये दो कारण बता कर इस सूक्तमें पाठकोंको सावध किया है कि वे इन पाठक रोगोंसे अपना बचाव करें । अर्थात् बी रोग मद्मन्वादि सुनियम पालन करेंगे और धर्माचार से रहेंगे वे इन रोगोंसे बच सकते हैं ।

रोगका परिणाम ।

इन रोगोंका परिणाम कितना भयानक होता है वह बात यहाँ बताया है देखिए—

जीवित-धोदनः ॥ (मं. ४-५)

" जीवित का नाश करनेवाला मह रोग है । " खून बिगड़कर पाण्डुरोग क्षयरोग रक्तपित आदि रोग हुए तो जने जीवित नष्ट होने की ही संभावना रहती है । ये रोग बने कष्ट साध्य होते हैं । इसलिये अपने आपको बचाना हीं दोष्य है ।

उत्पत्तिस्थान ।

इन रोग बीजोंका उत्पत्तिस्थान भी इस सूक्तमें स्पष्ट शब्दों द्वारा कहा है, देखिए—

तमांसि यत्र गच्छन्ति

तत्कण्ठ्यादौ अजीगमन् ॥ (मं. ५)

" जहाँ अंधकार रहता है, ऐसे स्थानोंमें रक्त मांस खाने वाले ये रोग बीज प्राप्त होते हैं । " जहाँ यदा अंधकार रहता है जहाँ वायु नहीं पहुँचता, जहाँ सूर्य प्रकाश नहीं जा सकता, ऐसे अंधेरे स्थानोंमें इन रोग बीजोंकी उत्पत्ति होती है अथवा ऐसे स्थानोंमें ये रोग बीज होते हैं । अर्थात् जो लोग यदा अंधेरे कमरोंमें निवास करते हैं, स्वच्छ वायु वाले कमरोंमें नहीं रहते सूर्य प्रकाश न पहुँचनेवाले कमरोंमें रहते हैं । अथवा जिनके निवास गृह ऐसे हैं जिनमें ये रोग होते हैं । परंतु जो लोग स्वच्छ वायुवाले स्थानोंमें तथा सूर्य प्रकाश प्रतिदिन आनेवाले स्थानोंमें निवास करते हैं उनको ये रोग कष्ट नहीं पहुँचा सकते इसलिये पाण्डुरोग क्षय आदि खून तथा मांस कम करनेवाले रोगोंसे बचाव करनेके लिए सूर्य प्रकाश और शुद्ध वायु जहाँ परिपूर्ण हो ऐसे परिशुद्ध स्थानोंमें निवास करना चाहिए ।

बचावका उपाय ?

रोग होने के पदनात् बचावका उपाय इस सूक्तमें कहा है वह अत्र देखिए—

जीवितधोपनान् एगान् काण्वान् ।

गिरि आवेशय ॥ (मं० ४)

“ जोदितका नाश करनेवाले ये रोगबीज जिनके अंदर प्रविष्ट हुए हैं अर्थात् जिन को ये रोग हो गये हैं, उनको पहाड़ पर कूड़ाओ । ” पहिली बात यह है कि ऐसे रोगियों को उत्तम वायुव ले पर्वतके उत्तम स्थानपर ले जाया । यह सबसे उत्तम उपाय है । इन रोगियोंको नगरोंमें मत रखो, जन भ्रमशोमें मत रखो, परंतु पहाड़पर ले जाओ । क्योंकि रोगबीज अंधेरे सुदबबुझीन और सूर्य प्रकाशहीन स्थानोंमें उत्पन्न होते हैं, इसलिए इन रोगबीजोंका नाश भा ऐसे स्थानोंमें होना संभव है कि जहां विपुल प्रकाश सुदबबुझ और अंधेरा न हो । नगरोंमें मकान पास पास होनेके कारण वहां वायु योग्य नहीं होता, अतः रोगीको पहाड़पर ले जाना ही योग्य है । इस मंत्र में प्राणनाशक रोगबीज (जीवितयोग्य कण) को पहाड़ पर लेजाने को कहा है, उसका अर्थ उक्त रोग बीजवाले रोगियोंको पहाड़पर ले जाना है । क्योंकि आगे दूधी मंत्रमें रोगीके लिए औषधि प्रयोग भी लिखा है, देखिए—

देवि पृश्निपर्णि ! खं तान् क्षमिः इव

अनुदहन इहि ॥ (मं० ४)

“ यह दिव्य औषधि पिठवन वन रोगबीजोंको क्षमिके समान जलती हुई प्राप्त होगी । ” अर्थात् पहाड़पर गये वध रोगियोंको इस औषधिसे सेवन करनेसे उनके अंदर प्रविष्ट हुए सब रोगबीज जल जायेंगे और रोगबीज दूर होनेसे रोग आरोग्य पूर्ण होगा । क्योंकि—

इयं प्रथमा पृश्निपर्णी सहमाना ज्ञायते । (मं० २)

“ यह पहली पिठवन विजयी होती है । ” किंवा रोगपर विजय प्राप्त करनेके लिए यह सबसे (प्रथमा) मुख्य औषधि है । इसके सेवनसे निःसंदेह विजय प्राप्त होगा और रोगबीज दूर होंगे ।

कण्वजम्बनी दग्ना हि

तां सहस्वती क्षमश्चि ॥ (मं० १)

यह रक्त सुखानेवाले रोगका नाश करनेवाली अत्यंत प्रचण्ड औषधि है । इसका सेवन (सहस्वती) बीर्यवती या बलवती होनेकी अवस्थामें ही करना चाहिए । ” इस कारण भी रोगीका पर्वत पर होना आवश्यक है, क्योंकि योग्य समयमें ताजी बनस्पति पर्वत परसे ही निकालकर तात्काल उसका सेवन कराया जा सकता है । यद्यपि बनस्पति उखाड़कर नगरमें आनेकर यह रस हीन होना संभव है ।

दूधी पृश्निपर्णी नः क्षं

निक्रैत्या क्ष—क्षं अकः ॥ (मं० १)

“ यह दिव्य औषधी पीठवन मनुष्यको मुक्त देती है और रोगियोंको ही दुःख देती है । ” अर्थात् रोगियोंको जइसे हटाती है तथा—

तथा अहं दुर्लभा दारः वृक्षामि । (मं० २)

“ इस औषधिसे मैं इन दुष्ट रोगियोंका नाश करता हूं । ” मनें इनका मिर ही तोड़ देता हूं, ताकि ये रोग अपना क्षिर क्षिर ऊपर न उठा सकें ।

जीवित—योग्योपनात् कण्वान्

पुनान् पराचः प्रशुद् ॥ (मं० ५)

“ जीवित का नाश करनेवाले इन रोग बीजोंको नीचेके द्वारसे ढकेल दो । ” नीचे मुक्त करके दूर करनेका अर्थ शीघ्र श्रद्धि द्वारा दूर करनेका है । पिठवनमें मल श्रद्धि करनेका गुण है । उक्त रोग बीज नष्ट करके उनके मलद्वारसे दूर कर देती है । यह इस बनस्पतिको गुण है ।

पृश्निपर्णिके सेवनसे रक्त दोष दूर होगा, शरीरमें रक्त बढ़ने लगेगा, शरीर पुष्ट होने लगेगा, शरीर पर तेज आवेगा, गर्भको कृपता दूर होकर गर्भ बढ़ने लगेगा, और अग्न्यान्व लान भी बहुतसे होंगे । इसके सेवनका विधि ज्ञानी वैद्योंको निश्चित करना चाहिए ।

वेदमें जहाँतक हमने देखा है एक औषधि प्रयोग (singledrug systym) ही लिखा है । अर्थात् एक्की औषधि सेवन करना । साथ साथ अनेक औषधियाँ मिलाकर सेवन करनेका उल्लेख कम है । सेवन के लिए पानीमें घोलना या कदाचित् साथ गिर्ध्रामें मिलाना यह बात और है, परंतु एक समय रोगीको एकही औषधि सेवनके लिए देना तथा शुद्ध जल वायु, शुद्ध स्थान, सूर्य प्रकाश आदि निर्गर्ग देवताओंसे ही सहायता प्राप्त करना यह वैदिक चिकित्साकी पद्धति प्रतीत होती है । इसलिए जो पाठक उक्त रोगीमें इस पीठवनका उपयोग करके लाभ उठाना चाहते हैं वे ज्ञानी वैद्यके निरीक्षणमें इसका प्रयोग करें और लाभ उठावें ।

गो-रस ।

(२६)

[ऋषिः-सविता । देवता-पशवः ।]

एह यन्तु पशवो ये पर्युर्वायुर्षेपां सहचारं जुजोष ।

त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान्नोष्ठे संविता नि पच्छतु ॥ १ ॥

इमं गोष्ठं पशवः सं संवन्तु बृहस्पतिरानयतु प्रजानन् ।

सिनीवाली नयत्वाग्रमेवामाजग्मुषो अजुमते नि यच्छ ॥ २ ॥

सं संवन्तु पशवः समश्वाः सनु पूरुषाः ।

सं धान्यस्य या स्फातिः संस्त्राव्येणि हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

अर्थ- [पशवः इह आचन्तु] पशु यहाँ आजायें । [ये परा-इयुः] जो परे गये हैं । [येषां सहचारं वायुः जुजोष] जिनका साहचर्य वायु करता है । [येषां रूपधेयानि त्वष्टा वेद] जिनके रूप त्वष्टा जानता है । [अस्मिन् तान्नोष्ठे संविता नि पच्छतु] इस गोशालामें उनको सविता बांधकर रखे ॥ १ ॥

[पशवः इमं गोष्ठं संवन्तु] पशु इस गोशालामें मिलकर आ जायें । [बृहस्पतिः प्रजानन् आनयतु] बृहस्पति जानता था उनको ले आवे । [सिनीवाली एषा अग्रमेवामाजग्मुषो] सिनीवाली इनके अग्रभागको ले आवे । हे [अजुमते] अजुमते ! आ जायुषः नियच्छ] आनेवालोंको नियममें रख ॥ २ ॥

[पशवः समश्वाः सनु पूरुषाः सं संवन्तु] पशु, घोड़े और मनुष्यभी मिल जुलकर बचें । [या धान्यस्य स्फातिः सं] जो धान्य की बढती है वह भी मिलकर बढे । मैं [सं स्त्राव्येणि हविषा जुहोमि] मिलानेवाले हविसे हवन करता हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ- जो पशु शुद्ध जलवायुमें भ्रमणके लिये गये हैं वे मिलकर पुनः गोशालामें आजायें । इनके चिन्होंको त्वष्टा जानता है । सविता उनको गोशालामें बांधकर रखे ॥ १ ॥

एव पशु मिलकर गोशालामें आजायें, आनेवाला बृहस्पति उनको ले आवे । सिनीवाली अग्रभागको ले आवे और अजुमते पशु आनेवालोंको नियममें रखें ॥ २ ॥

घोड़े आदि एव पशु तथा मनुष्यभी मिल जुलकर बचें और रहें । धान्यभी मिलकर बढे । सबको-मिलानेवाले हविसे मैं यज्ञ करता हूँ ॥ ३ ॥

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्यैन् वलं रसम् ।

संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ

॥ ४ ॥

आ हंरामि गवां क्षीरमाहार्यं धान्यं १ रसम् ।

आहृता अस्माकं वीरा आ पत्न्यैरिदमस्तकम्

॥ ५ ॥

(इति चतुर्थोऽनुवाकः ।)

अर्थ— [गवां क्षीरं सं सिञ्चामि] गोभोजका दूध सींचता हूँ । [वलं रसं आज्येन सं] बलवर्धक रसको घीके साथ मिलाता हूँ । [अस्माकं वीराः संसिक्ताः] हमारे वीर सींचे गये हैं । [मयि गोपतौ गावः ध्रुवाः] सुप्त गोपतिमें गोबे स्थिर हों ॥ ४ ॥ [गवां क्षीरं आ हंरामि] गोभोजका दूध मैं लाता हूँ । [धान्यं रसं आहार्यं] धान्य और रस मैं खाता हूँ । [अस्माकं वीरा आहृताः] हमारे वीर खाये गये हैं । और [पत्नीः इदं अस्तकं आ] पत्नियों भी इस घरमें कार्या गई हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ— मैं गोओंसे दूध लेता हूँ तथा बलवर्धक रसके साथ घी को मिलाकर सेवन करता हूँ । हमारे वीरों और बालकोंको यही पेय दिया जाता है । इस कार्यके लिये हमारे घरमें गोबें स्थिर रहें ॥ ४ ॥

मैं गोओंसे दूध लेता हूँ, और वनस्पतियोंसे रस तथा धान्य लेता हूँ । हमारे वीरों और बालकोंको इकट्ठा करता हूँ, घरमें पत्नियों भी कार्या आती हैं और सब मिलकर उक्त पौष्टिक रसका सेवन करते हैं ॥ ५ ॥

पशुपालना ।

घरमें बहुत पशु अर्थात् गोबें, बोटें, बैल आदि बहुत पाले जाय । यह एक प्रकारका धन ही है । आज कल उपयोगी हो घन माना जाता है, परंतु उपयोगकी दृष्टिसे देखा जाय तो गाय आदि पशु ही सच्चा धन है । इनको पालना योग्य रीतिसे करने के विषय में बहुतसे आदेश इस सूक्तके पहले दो मंत्रोंमें दिये हैं । आजकल प्रायः घरमें गो आदि पशुओंकी पालना नहीं होती है, कृषिदिक्षिकोंके घरमें एक दो गोएँ होंगी तो बहुत हुआ, नहीं तो प्रायः कोई नागरिक लोग पशु पालते ही नहीं । नगरके लोग प्रायः दूध आदि माल ही लेते हैं । इतना रिवाज बदल जानेके कारण इस सूक्तके आदेश स्वयं से प्रतीत होंगे । परंतु पठक-जग अपनों दृष्टि वैदिक कालमें से जाय और यह देखें कि ऋषिकालमें ऋषिलोगोंके पास हजारों गोबें होती थीं और उसी प्रमाणसे अन्यान्य पशुभी बहुतसे होते थे । ऐसे घरोंके लिये ये आदेश फलीभूत हो सकते हैं ।

अ्रमण और वापस आना ।

गाय आदि पशुओंको शुद्ध वायुमें अ्रमण के लिये लेजाना आवश्यक है, उनका संचार शुद्ध वायुमें होनेके विना तथा स्वयं प्रकाशमें उनका अ्रमण होनेके विना न तो उनका स्वास्थ्य ठीक रह सकता है । और न उनका दूध गुणकारी ही सकता है । दृष्टलिये—

येषां सहचारं वायुः सुशोष । (मं० १)

“ जिनका साहचर्य वायु करता है ” वह प्रथममंत्रका वाक्य गोओंके आरोग्यके लिए उनका शुद्ध वायुमें अ्रमण अत्यंत आवश्यक है यह बात ब । रहा है तथा—

ये पशवः परा ईयुः से हृह आपन्तु ॥ (मं० १)

“ जो पशु अ्रमणके लिए बाहर गये हैं वे मिलकर वापस आजायें ” इस मंत्रभागमें भी वही बात स्पष्टतासे है । पशु अपने स्थानसे मिलकर बाहर जाय और मिलकर वापस आजायें । आगे पीछे रहनेसे उनको पुनः हूँटना होगा । इस कष्टसे बचना—नेके लिए सब पशु कमर्षक जाय और सब इच्छे वापस आजायें ऐसा जो इस मंत्रमें कहा है वह बहुत उपयोगी आदेश है ।

जहां हजारों पशु होंगे वहां एक गोपालसे काम नहीं चल सकता । इस कार्य के लिए अपने अपने कार्यमें प्रबोध बहुतसे गोपाल होने चाहिये । उनका वर्णन सविता आदि नामोंसे इस सूक्तमें किया है—

- १ खट्वा देवां रूपानि वेद । (मं० १)
- २ सविता अस्मिन् गोष्ठे तान् नियच्छतु । (मं० १)
- ३ वृहस्पतिः प्रजानन् भानयतु ॥ (मं० २)
- ४ मिनीवाही पूर्वा अन्न भानयतु । (मं० २]
- ५ अनुमते । आन्नमुषः विपच्छ । (मं० २)

इन मंत्रोंमें देवताओंके नाम अत्येक कार्यके लिए आये हैं । इन शब्दोंके देवता वाचक अर्थ प्रसिद्ध ही हैं, परंतु इनके मूल-चातवर्ष भी यहाँ देखिए-

- १ खट्वा - सूक्ष्म करनेवाला, कुशल करीगर । (खट्-तनुकरणे)
- २ सविता - प्रेरक । (सु-प्रेरणे) चलायेवाला ।
- ३ वृहस्पतिः - ज्ञानवान्, (वृहत्) बड़ेका (पति) स्वामी । पुरोधित, निरीक्षक ।
- ४ मिनीवाही - (मिनी) अक्षके (वाही) बलसे युक्त । अक्षवाही छी ।
- ५ अनु-मतिः - अनुकूल मति रखनेवाली छी ।

इन पांच देवता वाचक शब्दोंके ये मूल शब्दार्थ हैं और इन अर्थोंके साथ ही ये शब्द यहाँ प्रयुक्त हुए हैं । ये मूल अर्थ लेकर इन मंत्र भागोंका अर्थ देखिए-

‘ कुशल करीगर गाय आदि पशुओंके आकारोंको जानता है । २ प्रेरक उनको गोपाला में कमपूर्वक नियममें रखे । ३ उनको जाननेवाला पशुओंको लावे । ४ अक्षवाली छी पशुओंके आगे चले । और ५ अनुकूल कार्य करनेवाली आनेवाले पशुओंके साथ चले ।

यही पशु पालनेके आदेश मिलते हैं । इनका विचार यह है- “ (१) पशुओंके पालन कर्ममें एक ऐसा अधिष्ठात्री होवे, कि जो पशुओंके सब लक्षण जानता हो, (२) दूसरा कार्यकर्ता ऐसा हो कि जो निरीक्षण करके देखे कि सब पशु यथा स्थान पर आये हैं वा नहीं, तथा उनका अन्य खानपानका प्रबंध ठीक हुआ है वा नहीं, (३) तीसरा निरीक्षक ऐसा होवे कि जो पशुव्यस्त्य विधाको अच्छी प्रकार जाननेवाला हो, यही पशुओंको लाने लेजानेका प्रबंध देखे, (४) जब पशु घरमें आजाय तो उनको खान पान देनेवाली छी जो आगे चले आगे जावे, उनके साथ पशुओंको देने योग्य अन्न हो, (५) तथा उसके पीछे चलनेवाली पशुओंके अनुकूल कार्य करनेवाली पीछे पीछे चले । ” इस रीतिसे सब पशुओंका योग्य प्रबंध किया जावे । पुरोधेकी अपेक्षा अन्न प्रेम पूर्वक उत्तम प्रबंध करनी है इच्छते अतिम दो शर्तोंके अर्थों से नियुक्त करनेकी सूचना वेदने ही है वह योग्य ही है ।

जहाँ सेबच्चों और हजारों गवेष पली जाती हो ऐसे स्थानोंमें ऐसा सुयोग्य प्रबंध अत्यंत आवश्यक ही है । आजकल जहाँ गोपेठ अमावसा हो गया है वहाँ ऐसे बड़े प्रबंध की आवश्यकता नहीं है, यह स्पष्ट ही है । यह आजकलकी प्रगति है जो हमें पुष्टिसे दृढ़ रखती है, इसका पाठक अवश्य विचार करें । त्रिषु घरमें दश पांच नौब-कमसे कम हों उस घरके मनुष्य गोरस खा पीकर कैसे हृष्ट पुष्ट होते हैं और त्रिषु घरमें गौवें नहीं होती, उस घरके मनुष्य कैसे मरियच्छे होते हैं इसका विचार करनेसे गो पालनेके साथ तन्दुरुस्ती का संबंध बितना घनिष्ठ है इसका पता लग सकता है । यहाँ तक पहिले दो मंत्रोंका विचार हुआ । तृतीय मंत्रमें सबसे मिन्जुलकर रहनेके लाम होगा यह बात कही है । पशु क्या और मनुष्य क्या सब मिन्जुलकर परस्पर उपयोगी होकर अपनी शक्ति करें, सब मिलकर धान्य प्राप्त करें अर्थात् खेती करके धान्य की उत्पत्ति करें । इस प्रकार धान्य, वनस्पतिरस और गोरस विपुल प्रमाण में प्राप्त करके उस के द्वारा अपनी पुष्टिको बढ़ाते हुए अपनी उन्नति करें । (मं० ३)

दूध और पोषक रस ।

दूध, दही मक्खन, घी, छाछ आदि सब प्रकारके गोरस तथा अन्यधन्य पोषक रस विपुल प्रमाणमें प्राप्त करने चाहियें, और इनका सेवन भी पर्याप्त प्रमाणमें करना चाहिये, इस विषयमें मंत्र ४ और ५ स्पष्ट शब्दोंद्वारा आदेश वे रहे हैं । इन मंत्रोंमें

'वीराः' शब्द है, इस शब्दका प्रसिद्ध अर्थ शूरावर है, परंतु वेदमें इसका अर्थ, 'पुत्र, बालकमे संतान' भी है। वहां इन दोनोंमें 'पलाय' के दाह्यवर्षके कारण यही अर्थ विशेषतः लभ्यो है।

'मै गौओषे दूध लाता हूं, वनस्पतियोंका बलबर्धक रस और धान्य लाता हूं, धी मी लाऊ-हैं। घरमें धर्मपरिनिवा है और बालकमे मी हूकठे हुए हैं अथवा इष्ट मित्र वीर पुत्र मी जमा हुए हैं, इन सबको इच्छाके अनुसार यह सब साध्य हो सिध जाता है। (मं० ४-५)

इन दो मंत्रोंका यह आशय है। ' संशिक्षता अस्माकं वीराः ' हमारे वीर वा बालककोके ऊपर यह रस सोचा गया, जिस प्रकार वृष्टिमें जानेसे सब मींग जाता है उस प्रकार बालककोवर दूध धी आदि सब रसोंकी वृष्टि की गई है। 'संशिक्ष' घातुका अर्थ ब्रह्म प्रकाशसे संशिक्षण करना, भिगोना है। बालकको दूध दही मनुष्यन धी, रस आदिमें पूरे पूरे भंगि जाय इतना गोरस घरमें पारिष्ठे। इष्टपुष्टता तो तब आ सकती है। वैदिक धर्म वैदिक धर्मोंको यह उपदेश दे रहा है कि अपनी पूष्ट व्यवस्था देखी करो कि जिससे धर्म इतना विपुल गोरस प्राप्त हो और उसका सेवन करके सब बालक इष्टपुष्ट हो। आजकल नाना प्रकारकी बीमारियां बढनेका कारण ही यह है कि गोरस न्यून होनेके कारण मनुष्यमें जीवन शक्ति ही कम होगई है। पाठक इसका विचार करें और इस विषयमें जो हो सकता है करके अपनी जीवन शक्ति बढायें। सब अल्प आरोग्य जीवन शक्तिकी वृद्धि होनेसे ही प्राप्त होगी। गोरस, गोवर्धन तथा गोसंशोषण करनेकी कितनी आवश्यकता है और राष्ट्रीय किंवा जातीय जीवन की दृष्टिसे मी इस विषयकी कितनी आवश्यकता है इसका पाठक विचार करें।

वैदिक अग्नेय-मन्त्रधारणमें लानेका विचार जो लोग कर रहे हैं-उनको इस सूक्तका बहुत मनन करना योग्य है, क्योंकि यह आदेश ऐसा है कि इसके व्यवहारमें लाते ही काम होने का प्रत्यक्ष अनुभव लावेगा।

विजय-प्राप्ति ।

(२७)

(ऋषिः-कपिलः । देवता-१-५ वनस्पतिः, ६ रुद्रः, ७ इन्द्रः ।)

नेच्छन्नुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि ।

प्राशं प्रतिप्राशो जहन्नसान्कृण्वोपधे

॥ १ ॥

सुपर्णास्त्वान्विन्दत्सकुरस्त्वांसनभसा । प्राशं०

॥ २ ॥

अर्थ—[सन्तुः प्राशं न इष्ट जयाति] प्रतिपक्षी मेरे प्रक्षपर नहीं निक्षयसे विजय प्राप्त कर सकता। क्योंकि तू [सह-माना अभिभूः भूमि] जहन्तीस और प्रमादशाली है। [प्राशं प्रतिप्राशः वहि] प्रत्येक प्रक्षपर प्रतिवादीको जीत को। [अपधे । अस्मान् कृणु] हे अपधे ! तू प्रतिपक्षियोंको मीरस कर ॥ १ ॥

[सुपर्णः त्वा जनु जविन्दत्] गरुडने तुझे प्राप्त किया है और [सकुरः त्वा नसा जहन्नद] सुजरने तुझे मारके छोड़ा है ॥ २ ॥

भावार्थ—मेरे प्रक्षसे प्रतिपक्षी का पराजय होगा। क्योंकि मेरी दह शक्ति जय शक्तिनी और प्रमादपुष्ट है। इषीतिसे प्रत्येक प्रक्षसे प्रतिपक्षीका पराजय होगा। अपधे मी प्रतिपक्षियोंको शुष्क बनावे ॥ १ ॥

इष्ट वनस्पतिको गरुडपक्षी प्राप्त करता है और सुजर खोटा है ॥ २ ॥

इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्य स्तरीविवे । प्राशुं०	॥ ३ ॥
पाटामिन्द्रो व्याध्नादसुरेभ्य स्तरीविवे । प्राशुं	॥ ४ ॥
उयाहं शत्रून्त्सास इन्द्रः सालावुकां इव । प्राशुं०	॥ ५ ॥
रुद्र जलापमेपज्ञ नीलीशिवण्ड कर्मकृत् ।	
प्राशुं प्रतिप्राशो जह्रासान्कृष्वोपधे	॥ ६ ॥
तस्य प्राशुं त्वं जहि यो न इन्द्रामिदासति ।	
अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि भासुचरं कृषि	॥ ७ ॥

अर्थ— [इन्द्रः असुरेभ्यः स्तरीविवे स्वा बाही इ चक्रे] इन्द्रने असुरोंसे अपने रक्षा करनेके लिये तुझे बाहव्य धारण किया या ॥ ३ ॥

[असुरेभ्यः स्तरीविवे] असुरोंसे बचाव करनेके लिये [इन्द्रः पायां व्याध्नात्] इन्द्रने इस पाया बधत्सुषोको साधा या । ० ॥ ४ ॥

[अहं तथा शत्रून् सास] मैं इस वनस्पतिले शत्रुओंको परास्त करवा हूँ [इन्द्रः सालावुकां इव] जैसे इन्द्र मेरा शत्रुओंको दूर करता है ॥ ५ ॥

हे [जलाप-मेपज्ञ] अटसे विक्रिसा करनेवाले [नील-शिवण्ड] नील गिरावाले [कर्मकृत् रुद्र] दुश्चारी रुद्र । [प्राशुं प्रतिप्राशः] प्रत्येक प्रसङ्गे प्रति प्रतिवादीको [बहि] जीत लो । [जोषधे जह्रात् ह्यु] हे जोषधे ! दं प्रतिपक्षीको शुष्क कर ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! [यः नः अमिदासति] जो हमें दास बनाया चाहता है [तस्य प्राशुं त्वं जहि] उसके प्रसङ्गे तू जीत लो [शक्तिभिः नः अधिब्रूहि] शक्तियों के साथ हमें कह और [प्राशि भासुचरं कृषि] प्रसङ्गप्रसङ्गमें तुझे अधिक उपन कर ॥ ७ ॥

भावार्थ— इन्द्रने यह औषधि असुरोंके पराभव करनेके लिये अपने शरीरपर धारण की थी ॥ ३ ॥

तथा अशनिं इषद्धा धेवन भी किया या ॥ ४ ॥

उषधिं शत्रुओंको भगा देता हूँ ॥ ५ ॥

हे जल विक्रिसक नील शिखाधारी उषण पुरुषार्थी रुद्रदेव ! प्रति प्रसङ्गे प्रतिवादीको परास्त कर और हे जोषधे ! दं प्रतिपक्षीको शुष्क बना दे ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! जो हमें दास बनानेकी चेष्टा करता है उसको प्रतिप्रसङ्ग में जीत लो, प्रतिप्रसङ्गमें मेरा विजय कर और शक्तियोंके साथ हमें उपन कर ॥ ७ ॥

विजय के क्षेत्र ।

एक विजय वाद विवादमें होता है, दूसरा युद्धमें होता है । इन दोनों बीचोंबीच प्राप्ति करनेके लिये विभिन्न शक्तियों की आह्वयकता रहती है ।

वादी और प्रतिवादी ।

प्रसङ्ग करनेवाला 'प्राश' अर्थात् वादी होता है और उसके प्रतिपक्षीको 'प्रतिप्राश' करते हैं । 'वादी और प्रतिवादी' इन दो शब्दोंके समानही वे 'प्राश और प्रतिप्राश' शब्द हैं । पाठक इनमें समानता देखें । पहिला शब्द तथा आगेगी कई मंत्रोंमें कहा है कि प्रसङ्गवादी नो समझिये कि कतर दावा भी अपने पक्षका ज्ञान इतना रखे, और इस प्रकार कुण्डलापे प्रसङ्ग के कि एक ही वा

योद्धे प्रशंसे ही प्रतिपक्षीका मुख फाँका पड़जाय । कई चतुर लोग ऐसे होते हैं कि वे शान्तिसे एक दो प्रश्न ऐसे ढंगसे पूछते हैं कि उन प्रश्नोंको उत्तर देते देते प्रतिपक्षी स्वयं परास्त हो जाते हैं । अपने विषयका ज्ञान इतना प्राप्त करना और प्रश्न पूछनेका कौशल्य अपनेमें ऐसा बढाना कि शिष्यसे सहज ही में वाद विवादमें विजय प्राप्त हो सके । इस सूक्तके मंत्र भागोंमें ऐसी तैयारी करनेकी सूचना-कई बार दी है । वाद विवादमें विजय प्राप्त करनेका आत्म विश्वास अपने अंदर हो और किसी प्रकारका संदेह न हो । यह वाद विवादके विजय के विषयमें हुआ ।

युद्धमें विजय ।

अब दूसरा विजय युद्धमें शत्रुओंपर प्राप्त करनेका है इसमें भी अपनी आवश्यक पूर्व तैयारी करना योग्य ही है । जिसे तैयारी से अपने विजय का निश्चय हो सके और कदापि संदेह न रहे ।

दोनों युद्धोंमें पूर्व तैयारी अत्यंत आवश्यक है और जितनी पूर्व तैयारी अधिक होगी उतनी ही विजयकी संभावना अधिक होगी ।

पाटा औपधी ।

इस सूक्तमें उक्त विजयके लिये एक औषधि प्रयोग लिखा है । इस औषधिका नाम 'पाटा या पाठा' (मं० ५) है इस औषधिके गुण ये हैं—

तिक्ता गुरुद्वया वातपित्तज्वरघ्नी ।

ममसंधानकरी पित्तदाहातीसारशूलघ्नी च । राज नि० व. १

श्लेष्मी मुखवाषिका । कफकण्ठरुजावहा । नावप्र० ।

'यह पाटा या पाठा वनस्पति तिक्त, गुह, उष्ण है, वात पित्त ज्वर नाशक, दूधेदुहको ओसनेवाली, पित्त दाह अतिशार का नाश करनेवाली है । यह श्लेष्कारिणी, मुखमें वाणीके दोष दूर करनेवाली, तथा कण्ठकी पीडाको हटानेवाली है ।' भाषामें इस पाठा वनस्पतिको ' चक्रपाठा, आकनामी, निमुखा' कहते हैं ।

वाग्बिवाद के समय यह वस्त्री मुखमें घरेनेसे या कण्ठपर बांधनेसे शोलनेके समय कण्ठ उत्तम रहता है और बहकृत्यसे होने-वाले कष्ट नहीं होते । यह वात भक्षकपादादि भ्रंशोंमें भी कही है । कण्ठमें कफ होने या अन्य प्रकार शब्द स्फुट न होने आदिके ओ कष्ट होते हैं वे इसके प्रयोगसे नहीं होते । इसलिये इस औषधिसे वाग्बिवादमें विजय प्राप्त होनेका वर्णन इस सूक्तमें किया है । इसके अतिरिक्त यह और उत्तेजक होनेसे थकावटमी नहीं होती । इससे भी विजय होनेमें सहायता होती है ।

युद्धमें भी यह वनस्पति इसलिए उपयोगी है कि इसके दूधे हुए अवयव जोड़े जाते हैं, भाव शीघ्र भर जाते हैं । महाभारतमें भी देखते हैं कि वहाँके वीर युद्धसमाप्तिके नंतर कुछ वनस्पति सेवन करते थे तथा शरीरपर लेपन भी करते थे । जिससे रात्री स्वप्नतां होती ही वीर पुनः युद्ध करनेके लिए सिद्ध हो जाते थे । नहीं तो पहिले दिनके युद्धमें घायल हुए वीर दूसरे दिन फिर किंच प्रकार युद्ध कर सकते थे, इस शंकाका उत्तर इस वेद मंत्रने बताया है । महाभारतमें कहीं औषधिका नाम नहीं दिया, केवल औषधि जड़ी बूटी सेवन की जाती थी इतनाही लिखा है । इस सूक्तने " पाठा " नाम दिया है । ज्ञानी वैद्य इसका अन्वेषण करें कि यह वनस्पति कौनसी है और उसका उपयोग कैसा किया जाता था ।

यह औषधि अपने पास रखना, बाहुपर या गलेमें लटकाना, मुखमें धारण करना अथवा पेटमें सेवन करना उक्त रीतिसे लाभकारी है, देखिये—

१ इन्द्रः बाहौ चक्रे । (मं० ३)

२ इन्द्रः पाठां व्याप्तात् । (मं० ५)

इन मंत्र भागोंमें शरीरपर धारण करने और पेटमें सेवन करनेकी बात लिखी है । यदि ज्ञानी वैद्य इस वनस्पतिकी योग्य शोध करेंगे, और सेवनविधिका नियम करेंगे तो बड़े उपकार हो सकते हैं । भारतीय युद्धके समय वीर लोग इसका उपयोग,

करते थे और लाभ उठाते थे । बागोंमें रक्ष पूरित हुए वीर तथा सोते सार्यकाल इसके सेवन करनेसे पुनः दूसरे दिन दुष्ट करने-में समर्थ हो जाते थे । यदि यह केवल कविशिल्पना न होगी और यदि इस मंत्रमें भी वशी बात हम देखते हैं तो इसका अन्वेषन होना योग्य है ।

शक्तिके साथ वक्तृत्व ।

सप्तम मंत्रमें एक बात विशेष महत्त्वकी कही है देखिए—

शक्तिभिः मधिमिदि । (मं० ७)

“ अनेक शक्तियोंकी अपने साथ रखकर ही जो बोलना हो सो बोल दो । ” अपने पास शक्तिदा न रहते हुए बोलना और बड़ा वक्तृत्व करना कुछ प्रयोजन नहीं रखता, उस शक्तिहीन वक्तृत्वसे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, इस लिए अपने पास और अपने पीछे कार्यकारिणी शक्ति कितनी है, इसका विचार करके ही जो कुछ वक्तृत्व करना हो तो वह उस शक्तिके प्रमाणसे ही करना योग्य है । अपनी शक्तिये अधिक दिया हुआ वक्तृत्व न शत्रुवर प्रभाव उत्पन्न कर सकता है और नहीं अपना बल बढ़ा सकता है । इसलिए वेदकी यह महत्त्व पूर्ण सूचना पाठक अवश्य स्मरण रखे । तथा—

यः नः अभिदासति सं जहि । (मं० ७)

“ जो हमें दास बनाना चाहता है उसे जित लो । ” यह उपदेश भी पूर्वोक्त आदेशके अनुसंधानसे कार्यमें लाया जाय तो बड़ा लाभकारी हो सकता है । अपना बल बढ़ाना, उतना ही बोलना कि जितना करके दिलाया जा सकता है, इतना होनेके पश्चात् अपने को दास बनानेवालेका परामर्श करना । यह अपनी शक्ति बढ़ाकर अपने कार्यक्षेत्रका विस्तार करनेका योग्य मार्ग है ।

अभिदासन का निषेध ।

वेद में हम देखते हैं कि अभिदासन का पूर्ण और तीव्र निषेध स्थान स्थानपर किया है । यहाँ तक यह निषेध है कि “ अभिदास ” का अर्थ “ विनाश ” ही माना है । पूर्ण नाश होना और दास बनाना यह वेदकी दृष्टिसे एकही बात है । किसी भी अवस्थामें वेद दास प्रलाम- बनना पसंद नहीं करता । पठक इस बातका यहाँ मनन करे और धर्ममयी वीरहृति अपने अंदर बढ़ानेका यत्न करे ।

जलचिकित्सक ।

षष्ठ मंत्रमें जलचिकित्सक, नीलशिखाबाल, पुरुषार्थो यदवा वर्धन है। “ जलाय मेपत्र ” शब्द जलचिकित्साका भाव बता रहा है । जलाय का अर्थ प्रलवही है । नील शिखाबाल का अर्थ नील शिखाबाल है, यह तदप्य जवान आरोग्य पूर्ण मनुष्य का बोध करता है । वृद्धको शिखा श्वेत होती है, तरुणकी ही नीला या काली होती है । “ कर्म—हृत् ” शब्द पुरुषार्थका वाचक है । अपने चिकित्सा कर्म में कुशल । “ इद ” शब्द का अर्थदा (इदं०) कलानेवाले रोगीको दृढनेवाला है । ये सब शब्द उत्तम चिकित्सकका भाव बताते हैं । यह चिकित्सक का नाम यहाँ इसलिए लाया है कि यहाँ मुद्गमें प्रतितांग वीरोंकी आरोग्य प्राप्त करानेका संबंध है । तथा पाठा औषधिका प्रयोग भी करना है । इसलिए सुविज्ञ वैद्यकी आवश्यकता है ।

यह सूक्त जिस विषयका प्रादिपादन कर रहा है वह प्रलस्य अनुभवका विषय है, इसलिए ज्ञानी वैद्योंकी ही इसकी प्रलस्यता करनेका यत्न करना चाहिये, अन्यथा यह विद्या केवल शब्दों में ही रहेंगी ।

दीर्घायुष्य प्राप्ति ।

(२८)

[ऋषिः-शम्भुः । देवता-जरिमा, आयुः]

तुम्भ्वेव जरिमन्वर्धतामयं भेममन्ये मृत्यवो हिंसिपुः श्रुतं ये ।
 मातेर्षु पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं मित्रियात्पात्वहंसः ॥ १ ॥
 मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ ।
 तद्गार्हिहोता वृषुनानि विद्वान् विश्वा देवानां जनिमा विवक्षित ॥ २ ॥
 त्वमीशिपे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः ।
 मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिपुमो अमित्राः ॥ ३ ॥

अर्प-हे (जरिमन्) वृद्धावस्था । (तुम्भ्वे एव अयं वर्धताम्) तेरे लिये ही यह मनुष्य बने । (इम ये अन्ये शर्तं मृत्यवः) इसको जो ये सौ अणुमृत्यु हैं (मा हिंसिपुः) मनु हिंसित करें । (म-मनाः माता पुत्रे वपस्थ ह्य) प्रसन्नमन वाली माता पुत्रको जैसे गोदमें लेती है उसी प्रकार (मित्रः मित्रियात् एनसः एनं पातु) मित्र मित्रसंबंधी पापसे इसको बचावे ॥ १ ॥

(मित्रः रिशादसः वरुणः वा) मित्र और शत्रुनाशक वरुण (संविदानौ एनं जरामृत्युं कृणुतां) दोनों मित्रकर इसको वृद्धावस्थाके पश्चात् मरनेवाला करें । (होवा वयुवानि विद्वान् अमिः) दाता और सब कर्मोंको क्यावत् जाननेवाला अमि (तत् विश्वा देवानां जनिमा विवक्षित) उसको सब देवोंके जन्मों को कहता है ॥ २ ॥

(ये जाताः उत वा ये जनित्राः) जो जन्मे हैं और जो जन्मनेवाले हैं उन (पार्थिवानां पशूनां एवं हांसये) पृथ्वी के ऊपर के प्राणियोंका वं स्वामी है । (इमं प्राणः मा, अपानः च मा हासीत्) इसको प्राण और अपान न छोड़ें । तथा (मित्राः इमं मा वधिपुः) मित्र इसे न मारें और (मः अमित्राः) शत्रु भी न मारें ॥ ३ ॥

भावार्थ- मनुष्य पूर्ण वृद्धावस्थातक दीर्घायुषी होवे । बीचमें सेकड़ों अणुमृत्यु प्रवृत्त करनेपर भी इसे न मार सकें । जिस प्रकार अपने त्रिपुत्र की माता गोदमें लेकर प्रेमके साथ पालती है, उसी प्रकार सबका मित्र देव इस पुरुषको मित्र संबंधी पापसे बचावे ॥ १ ॥

शत्रुनाशक मित्र और वरुण ये मिलकर इसको अनिदीर्घ आयुवाला करें । सब नारिष्ठव जाननेवाला तेजस्वी देव इसके सब देवताओंके जीवन चरित्र कहे ॥ २ ॥

हे ईश्वर ! तू पृथ्वीपर के संपूर्ण जन्मे हुए और जन्मनेवाले सब प्राणियोंका स्वामी है, तेरी कृपासे प्राण और अन्न इसे बीचमें ही न छोड़ें तथा मित्रोंसे वा शत्रुओंसे इसका वध न होवे ॥ ३ ॥

१४ (अ. सु. भा. कां० २)

घौष्ट्या पिता पृथिवी माता ज़रामृत्युं कृणुतां संविदाने ।

यया जीना अदितेरुपस्यै प्राणापानाम्यां गुपितः शतं हिमाः ॥ ४ ॥

इममंभ आयुषि वर्षसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्रराजन् ।

मातेर्वास्मा अदिते शर्म यच्छु विधे देवा ज़रदष्टिर्घास्त ॥ ५ ॥

अर्थ— (घौः पिता पृथिवी माता संविदाने) घौष्पिता और पृथ्वी माता मिश्रकर (त्वा ज़रामृत्युं कृणुतां) सुसुको वृद्धावस्थाके पश्चात् मरनेवाला करे । (यया आदितेः उपस्ये) जिससे मातृभूमि की गोदमें (प्राणापानाम्यां गुपितः) प्राण और अपानसे सुरक्षित होकर (शतं हिनाः जीवाः) सौ वर्षतक जीवित रहे ॥ ४ ॥

हे (जसे मित्र वरुण राजन्) जसे और मित्र तथा वरुण राजा । (मिये रेतः) प्रिय भोग और दीर्घ का बल देकर (इमं आयुषे वर्षसे नय) इसको दीर्घ आयुष्य और तेज प्राणिके लिये के जा । हे (अदिते) आदिशक्ति । तू (माता एव जस्मै शर्म वच्छ) माता के समान इसे सुख दे । हे विधे देवो ! (यया अरदष्टिः अस्तत्) यह मनुष्य जिससे वृद्धावस्था तक जीवित रहे वैसी सहायता करो ॥ ५ ॥

भावार्थ— गुपिता स्यै और मातृभूमि ये दोनों मिलकर इसको अति दीर्घ आयुष्यतक जीवित रखें और यह मनुष्य अपनी मातृभूमि की गोदमें प्राण और अपानसे सुरक्षित होता हुआ सौ वर्षकी दीर्घ आयुतक जीवित रहे ॥ ४ ॥

हे जसे वरुण मित्र राजन् । इसको प्रिय भोग और दीर्घता बल देकर दीर्घायुसे युक्त तेजस्वी जीवन प्राप्त कराओ । आदिशक्ति माता के समान इसे सुख देवे । और अन्यान्य सब देव इसको ऐसी सहायता करें कि यह सुख से अतिदीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सके ॥ ५ ॥

दीर्घ आयुष्यकी मर्यादा ।

“ शतायु ” शब्द दीर्घ आयुष्यकी मर्यादा बता रहा है । इस सूक्तके (मं० ४) में भी (शतं हिमाः जीवाः) “ सौ वर्षतक जीवो ” कहा है इससे ही वर्षका दीर्घायु प्राप्त करना, इस सूक्तका उद्देश्य है । छोटी आयुके बालक को यह आशीर्वाद दिया जाता है, और सब दिलसे चाहते हैं कि वह सौ वर्षतक जीवित रहे । तथा—

ये अन्ये शतं मृत्यवः ये इमं मा हिसियुः । (मं० १)

“ जो सैकड़ों अमृत्यु हैं वे इसका बीचमें ही न मार सकें । ” अर्थात् सौ वर्षके पूर्व कोई अमृत्यु देवका नाश न कर सके । बीचमें किसी किसी समय कोई अमृत्यु इसके पास आ भी गया, तो वह इसके पास घटल मनोरथ न हो सके, वह दवा कहना है । लोग अपनी दीर्घ आयु करनेके लिए ऐसे हठव्रती हों, और खान पान भोग व्यवहारआदिके नियम ऐसे दुरुत्तम पालन करें कि वे बीच हीमें मृत्युके बलमें कमी न चले जाय ।

साधन ।

दीर्घजीवन प्राप्त करनेका साधन चतुर्थे मंत्रमें छोड़प से कहा है, देखिए—

प्राणापानाम्यां गुपितः शतं हिमा जीवाः । (मं० ४)

“ प्राण और अपानसे रक्षित होता हुआ सौ वर्ष जीवो । ” इस मंत्र मागमें दीर्घ जीवन का साधन कहा है । यदि इसका विचार मनुष्य करेगा, तो प्रायः वह दीर्घायु प्राप्त कर सकेगा । प्राण और अपानसे अपनी सुरक्षितता प्राप्त करना चाहिए । अर्थात् प्राणका और अपान का बल अपनेमें बढाना चाहिए । नाभिके ऊपर प्राणका राज्य है और नीचे अपानका राज्य है । ये ही शरीरमें मित्र और वरुण हैं । इनका लक्ष्य इसी सूक्तमें अन्यत्र (मं० २, ५ में) पाठक देख सकने हैं । इसी एक साधनसे मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त कर सकता है ।

इनका कार्य क्षेत्र ।

प्राण और उच्छ्वास रूप प्राणका कार्य हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है । प्राणायामसे इस प्राणका बल बढ़ता है और इनकी सब क्रियाएँ भी ठीक प्रकार चल सकती हैं । साधारण भ्रष्टा और उज्ज्वली प्राणायाम इस अनुष्ठानके लिए पर्याप्त हैं । भ्रष्टा प्राणायाम कौंकनीकी गतिके समान वेगसे प्राण उच्छ्वास करनेसे होता है । यह थोड़े समय तक ही होता है । अधिक होनेवाला सुगम प्राणायाम उज्ज्वली है । जो स्वरुद्ध और शांत वेगसे श्लाघीच्छ्वास नाकसे करनेसे होता है । श्रावका भी शब्द हो और उच्छ्वास का भी हो । इच्छानुसार कुंठन किया जावे या न किया जावे । यह अतिशुभम और सुसाध्य प्राणायाम है और बिना आबाध विषय समय चाहे हो सकता है । यह सौम्य होता हुआ भी इस कार्यके लिए अति उपयोगी है ।

इस प्रकार प्राणका बल बढ़ानेका अनुष्ठान होनेसे इसी का परिणाम अपान क्षेत्र पर भी होता है । और अपानके कार्य भी उत्तम रीतिसे होने लग जाते हैं । अपानके कार्य मलमूत्रोत्सर्ग और कोष्ठगत वायुका नीचे भागसे गमन आदि हैं, वे इसके होते हैं । अन्यान्य योगसाधन भी सुविज्ञ साधकसे जाने जा सकते हैं ।

इस योगसाधने प्राण और अपानका बल बढ़ानेसे दीर्घायु प्राप्त करनेका हेतु सिद्ध हो सकता है । हितमित्र पथ्य भोजन, संवमभूति, मन्त्रचर्च आदि जो धर्मन्यायके साधन हैं, वे हरएक अवस्थामें आवश्यक हैं वे सर्व साधारण होनेसे उनका विचार बड़ा करनेकी आवश्यकता नहीं है । प्राण अपानके बलसे अपने आपकी सुरक्षित करना यह एक मात्र अनुष्ठान यहाँ इस कार्यके लिए इस सूत्रसे बताया है और यह योग ही है ।

ये दोनों कार्य ठीक प्रकार होने लगे, तो शौचशुद्धिके संबंधमें कोई हेतु नहीं होगा, भूख उत्तम लगेगी, छातीमें भी कोई रुकावटकी भाषा नहीं होगी । इस प्रकार शरीरके सब व्यवहार बिना रुद्ध होने लगेंगे, तो समझना कि दीर्घायुकी प्राप्ति के मार्ग पर अपना पग है । परंतु यदि इनके कष्ट होने लगे तो समझना निम्न है, कि अपानः पग दूरसे मार्गपर पड़ा है । यही तृतीय मंत्रमें कहा है ।

इमं प्राणः मा हासीत्, मा अपानः [मंत्र ३]

“ प्राण अपवा अपना इसे बीचमें ही न छोड़ दें । ” अर्थात् यह मनुष्य जो वर्षों की पूर्ण आयु तक उत्तम प्रकार जीवित रहे और इसके शरीरमें अन्ततक प्राण और अपान अपना अपना कार्य ठीक रीतिसे करते रहे । जो पाठक अपने स्वास्थ्यके संबंधमें विचार करते हैं उनको अपने शरीरके प्राण और अपानके कार्यका विचार करना चाहिए, क्योंकि ये कार्य ठीक चलते रहे तो ही शरीरका स्वास्थ्य ठीक रहेगा ।

स्वास्थ्य की तथा दीर्घ आयु प्राप्त होने की यह कुंजी है । (प्राण.पानाम्नां प्रवितः) प्राण और अपान द्वारा जो सुरक्षित होता है, वह निश्चयसे ही वर्ष जीवित रहेगा । इच्छालिए दीर्घायु के इच्छुक लोग अपने शरीरके शरीर इन दोनों बलोंको बचावें ।

वध ।

प्राण अपान भी बलवान् हुए और शरीर स्वास्थ्य भी उत्तम रहा तो भी वध, कलह, अपघात आदि आपत्तियाँ हैं जिनके मनुष्यको मृत्यु हो सकती है । धर्मशुद्धि प्रसंग छोड़ दिए जाय, क्योंकि वहाँ जाकर मरना तो धर्म ही होता है, अन्य बधभीकम नहीं है । परंतु इनको हत्याना मनुष्य के स्वाधीन नहीं होता है । कई प्रसंगोंमें अपने शरीर अर्द्धमात्र बल और सार्वत्रिक प्रेमशक्ति शक्ति करनेसे घातक लोगों के मन का भी सुधार होता है, परंतु यह सिद्ध योगानुष्ठानसे और दीर्घ आयुसमयमेंसे साध्य है । इच्छालिए सबको यह प्राप्त होना कठिन है । अतः सर्वसाधारणके लाभार्थ ईश्वरप्रेमना ही एक सुगम साधन है, इच्छालिए मंत्र ३ में कहा है कि—

ईशप्रार्थना ।

हमं मित्राः मा वधिषुः मा भमित्राः (मं० ३)

“ हे ईश्वर ! तैर्य कृपासे मित्र इच्छा वध न करे और भमित्र भी न करे । ” तृतीयमंत्र परमेश्वर प्रार्थना विषयकी है, “ भूत मानव्य कालके सब प्राणियों का एक ईश्वर है, सबका पालन वही करता है, उधी की कृपासे इस मनुष्यका वध न होवे और इच्छा स्वास्थ्य भी उत्पन्न रहे । ” यह तृतीय मंत्रका मान ईश प्रार्थनाका बल प्राप्त करनेकी सूचना देता है । सब चराचर जगत् का पालनद्वारा परमारा है, उधकी भक्ति करनेसे जो श्रद्धाका बल बढ़ता है, वह अपूर्व है । ध्यानान् लोग ही उध बलकी अनुभव करते हैं । और प्रायः यह अनुभव है कि श्रद्धा मन्त्रसे परमारा भक्ति करनेवाले उपासक उदात्त स्वास्थ्यसे संगत होते हैं । इस लिये इस धीर्ब्राह्मण प्राणिके सूक्तमें (एवं ईशिवे) इस तृतीय मंत्रद्वारा जो ईश भक्ति पाठ दिया है वह धीर्ब्राह्मण प्राप्त करनेके लिए अत्यन्त आवश्यक है । पाठक इस बलसे संवित न रहे । इस बलके प्राप्त होने पर अन्य साधन लाभकारी हो सकते, हैं परन्तु इस बलके न होने की अवस्थामें अन्य साधन कितने भी पाठ हुए तो भी वे इतना लाभ नहीं पहुंचा सकते । पाठक इसका विचार करके ईशमन्त्रिका बल अपने शरीर बढावे जिससे सब विषय पूरे हो सकते हैं ।

देवचरित्र श्रवण ।

दीर्घ आयु प्राप्त करनेके लिए श्रवण अपना पठन देवताओंके चरित्रोंका ही करना चाहिए । देवों अपना देवताके समान सगुरुओंके जीवन चरित्र श्रवण करने चाहिए, उन्हीं संयोग पठन करना चाहिए और उनके चरित्रोंका ही मनन करना चाहिए । आज कल उपन्यास आदि पुस्तकें ऐसे छिपित क्या कतापोंसे युक्त प्रकाशित हो रही हैं कि जिन के पठन पाठनसे पढ़ने व लेने रागद्वेष मटते हैं, दीर्घ भ्रष्ट होता है, प्रदुर्भाव दूट जाता है, और नाना प्रकारकी आपत्तियां बढ़ जाती हैं । परन्तु वे पुस्तक आज कल बंद रहे हैं, अपने देशमें क्या और इतर देशोंमें क्या हानि दर्ज के लोग लेखन व्यवहार में उनके कारण हानि घोरतः प्रचलित हुआ है, इससे सब प्रकारकी हानि ही हानि हो रही है, इससे बचने के उद्देश्यसे इस सूक्तने साधना की सूचना द्वितीय मंत्रमें दी है, देखिए—

समुमानि विद्वान् होता भमिः

एव विश्वा देवानां भनिमा विश्वि ॥ (मं० २)

“ सब कर्मोंकी समानता जाननेवाला दाता अग्निके समान तेजस्वी उपदेशक सब देवोंके जीवन चरित्र उच्च सुनवे । ” यह मंत्र वही दृष्टिसे मनन करने योग्य है । इसमें सबसे पहिले उपदेशक के गुण कहे हैं, उपदेशक दाता उदार मनवाला होने, अपने उर्वरका (होता) हवन करनेवाला हो, (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी हो और (समुमानि विद्वान्) कर्त्तव्यता की समानता जाननेवाला हो । इसी प्रकारका समुद्र उपदेशक लोगोंका मार्गदर्शक बने, लोगोंको धर्म मार्गका उपदेश करे और लोगोंको (देवानां) जिनप्राणि देवताओंके जीवनचरित्र सुनवे । देवोंने अपने जीवन में कैसे शुभ कर्म किये हैं, रीतिसे परीपकार किया, जनताका उदार सेवा किया, इत्यादि सभी बातें लोगोंको समझा देवे । राक्षसों और पिशाचोंके जीवन चरित्र पढ़ने नहीं चाहिए अपितु देवोंके दिव्य चरित्र ही अपने धामने रखने चाहिए । आदर्श जीवन देवोंका हुआ करता है । राक्षस और पिशाचों, धूर्तों और डाकुओंका जीवन तो न सुनने योग्य होता है । यही उच्च जीवन मनुष्य अपने धामने आदर्शके लिए रखने तो उनके जन्मोंका भी सुधा होगा और उनके आयु भी बढ़ेगा । आयु बढ़ानेके लिए भी यह एक उत्तम साधन है कि लोग श्रीरामचंद्रका जीवन अपने आदर्शके लिए लें और राक्षसका जीवन न लें । आजकल की उपन्यासदि पुस्तकें जो मानवी संतःकरण का ही विषय कर रही हैं, उनसे बचने की सूचना वहां वेदने दी है । इसका पालन जितना हो सकता है उतना लाभकारी होगा ।

आज कल जो चरित्र मिलते हैं वे मनके विचार बढानेवाले मिलते हैं । संयम सीझता बढानेवाले चरित्र कम हैं । इस लिए समुद्रमंत्र पठन यह एक आजकल दुःसाध्य बात हो रही है । तथापि श्रावणोंकी कृपासे रामायण महाभारत मंत्र तथा

अन्यान्य ऋषिपणीत चरित्र है, उनका मनन करनेसे बहुत लाभ हो सकता है । जो लोग इस बातको आवश्यक समझते हैं उनको उचित है कि वे ऐसे सचरित्र अथवा श्रेष्ठ श्रेय निर्माण करें और करावें कि जिनके पठन पाठन से आगामी संतान सुधारके पथपर सुगमतासे चल सके । परन्तु । इस मंत्र भागने “ दिव्यचरित्रोद्योत श्रवण और मनन ” यह एक साधन दीर्घायुष्य प्राप्तिके लिए कहा है वह अत्यंत आवश्यक है, इसलिए जो दीर्घायु प्राप्त करना चाहते हैं वे ऐसे चरित्रोद्योत मनन करें ।

पापसे बचाव । दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके लिए पापसे अपना बचाव करनेको आवश्यकता है । पापसे पतन होता है । और रोगादि बहू आनेके कारण आयुष्य क्षीण ही होती है, इसलिए इस सूक्तके पहिले ही मंत्रने पापसे बचनेकी सूचना दी है, देखिए—

मित्र एनं मित्रियात् बहंस. पातु । (मं० १)

“ मित्र इस मनुष्यको मित्रसंबंधी पापसे बचावे । ” शत्रु संबंधसे होनेवाले पापसे तो बचना ही चाहिए । कई लोग मनसे ऐसा मानते हैं कि मित्र के लिए मित्रके हित साधनके लिए, कुछ भी बुरागमना किया जाय तो वह हानिघरक नहीं है । परन्तु पाप जो है वह हमेशा ही पाप होता है वह किसीके लिए किया जावे, जब पापाचरण होगा तब उसका गिरावटका परिणाम अवश्य ही भोगना होगा । इसलिए जो मनुष्य दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके इच्छुक हैं उनको अपने आपको पापसे बचाना चाहिए । मित्र अपने मित्रको पापकर्म करनेसे रोके और उसको धीरे धीरे मार्गपर चलाने की सलाह देवे । मनुष्य स्वयं भी विचार करके जाने कि पाप कर्मसे पतन अवश्य होगा, इसलिए हरएक मनुष्य अपना मित्र बने और अपने आपको बुरे मार्गसे बचावे । मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र और अपना शत्रु होता है इसलिए कभी ऐसा कार्य न करे कि जिससे स्वयं अपना शत्रु समान बन जाय तात्पर्य यह है कि दीर्घ आयुष्य प्राप्त करना हो तो अपने आपको पापसे बचाना चाहिए । पाप कर्म करते हुए दीर्घ आयुष्य प्राप्त करना असंभव है ।

भोग और पराक्रम ।

मनुष्यको भोग भी चाहिए और पराक्रम भी करना चाहिए । परन्तु भोग बहुत भोगनेसे रोग बढ़ते हैं और बीर्यका संवम करनेसे ही आरोग्य पूर्व दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है । मनुष्यको भोग प्रिय लगते हैं । और भोगोंमें अपने बीर्यका नाश करना साधारण मनुष्यके लिए एक सद्व्यवहार ही की बात है, इसलिए इसका योग्य प्रमाण होना चाहिए वह बात पंचम मंत्रमें स्पष्ट की गई है, देखिए—

इमं प्रियं रेतः आयुषे लघंसे नव । (मं० ५)

“ इस मनुष्यको प्रिय भोग देकर, तथा बीर्य पराक्रम भी देकर दीर्घ आयुष्यके साथ प्राप्त होनेवाले तेजके लिए ले चको । ” अर्थात् यह मनुष्य अपने लिए प्रिय भोग भी योग्य प्रमाणमें भोगे और बीर्य रक्षण द्वारा पराक्रम भी करे, परन्तु यह सब ऐसे सुयोग्य प्रमाणमें हो कि जिससे उसका आयुष्य और तेज बढ़ता जाय । परन्तु भोग भोगने और बीर्यके कार्यमें प्रमत्तता अतिरेक नहीं न हो, जिससे बीर्य हीमें अक्षय शून्य इसके प्राणोंको ले चले । अपना समय भोग और पराक्रमसे व्यर्थके लिए देना बाटना चाहिए कि भोग भी प्राप्त हो और बीर्यके सब कार्य भी बन जाय, और यह सब दीर्घायु और तेजकी प्राप्तिमें बाधा न डाल सके । अपने कार्य इस सूचनाके अनुसार करने चाहिए । रेतके योग्य उपयोगसे संतानोत्पत्ति भी होती है, बल भी बढ़ता है, परन्तु उसके अतिरेक से अक्षयवी नाश द्वारा नाना प्रकारके कष्ट उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार अन्यान्य भोग की कठोरके विषयमें समझना योग्य है । इस आशय को ध्यान में धारण करके यदि मनुष्य अपना व्यवहार करेंगे तो उनको भोगभी प्राप्त होगे और दीर्घ आयु भी मिलेगा ।

देवोंकी सहायता ।

१ मित्रः रिशादसो बहनाः संविद्वानो जराभृशुं कृणुतां । (मं० २)

२ शौभिता वृषिषी माया संविद्वाने त्वा जराभृशुं कृणुतां ॥ (मं० ३)

३ अदिने । माता इव धर्मं यच्छ । (मं० ५)

४ विधे देवाः । वरदाष्टिः यया असत् । [सं० ५]

“ मिय और मनुनासक ब्रह्म वे दोनों मिलकर इसकी दीर्घ आयु करें—॥ सुलोक और मातृमृमि मिलकर इसकी दीर्घायु करें ॥ हे अविनाया आदि शक्ति ! तू माता के समान सुख दे ॥ हे सब देवों ! इसकी पूर्ण आयुवाला अतिबृद्ध करो ॥ ”

यहां मित्र, ब्रह्म, सूर्य, श्रियवी, आदिति और सब अन्य देव इसकी दीर्घ आयु करने में सहायक हों, यह प्रार्थना की है। इस से स्पष्ट होता है कि दीर्घ आयु चाहने वाले मनुष्य को इन देवोंके साथ अविरोधी बर्ताव करना चाहिए। यदि इनकी अनु-मूलतासे आयुभ्रंश कृष्टि होनी है तो उनके साथ विरोध करना योग्य नहीं यह स्पष्ट ही हुआ। सूर्य देव अपने प्रकाशसे सबैत्र सुदृढता करता है और हमें दीर्घ आयु देता है, परंतु सूर्य प्रकाशसे बांभित नहीं रहना चाहिए, अन्यथा वह हमें सहायता कैसी पहुंचावेगा ! चरुणदेव समुद्रका देव है, समुद्रजल, वृष्टिजल, सामान्य जल उसीके अतिव सागर हैं। यदि मनुष्य इन जलोंसे अपनी निर्मलता करे अथवा अन्य रीतिसे काम उठावे तब ही अलंदेव वरुणसे काम प्राप्त हो सकता है। मातृमृमि की योग्य उपासना करनेसे जो राष्ट्रीय स्वातंत्र्य प्राप्त होता है, उससे मनुष्य कार्यक्षम और दीर्घायुवी हो सकता है, इसी प्रकार अन्यदेव देवोंका संबंध है जिसका विचार पाठक करें और उनसे काम प्राप्त करके दीर्घायुवी बने ।

दीर्घायु, पुष्टि और सुप्रजा ।

(२९)

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-नाना देवताः ।)

पार्थिवस्य रते देवा मर्गस्य तन्त्रोऽं बले ।

आयुष्यमिस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धादृहस्पतिः

॥ १ ॥

आयुरस्मै वैहि जातवेदः प्रजा त्वंष्टरिनिर्घंष्टस्मै ।

रायस्पोषं सवितुरा मुवास्मै श्रुवं जीवाति श्रुदस्तवायम्

॥ २ ॥

अर्थ—हे (देवाः) देवो ! अग्नि सूर्य और वृहस्पति (अस्वै) इस मनुष्य के लिये (पार्थिवस्य तन्त्रः मगस्य) पार्थिव शरीरके ऐश्वर्य संभरने (रते बले) रत्न और बलके अंशसे प्राप्त होनेवाला (आयुष्यं वर्चः) दीर्घ आयुष्य और तेज (आ धादृ) देवे ॥ १ ॥

हे (जातवेदः) ज्ञान देनेवाले देव ! (अस्मै आयुः षेदि) इसके लिये दीर्घ आयु दे । हे (त्वष्टः) रचना करनेवाले देव ! (अस्मै प्रजां भावि निर्घेदि) इसके लिये प्रजा दे । हे (सवितः) प्रेरक देव ! (अस्मै रायः पोषं आ सुव) इसके लिये धन और पुष्टि दे । (एव अयं श्रुवं शरदः जीवाति) तेरा यह बनकर सौ वर्ष जीवित रहे ॥ २ ॥

भावार्थ— हे देवो ! इस मनुष्यको अग्नि सूर्य वृहस्पति आदि देवताओंकी कृपासे ऐसा दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो, कि जिसके साथमें पार्थिव ऐश्वर्य कुछ अथ एव बल तेज और नीरोग जीवन होते हैं ॥ १ ॥

हे देवो ! इसकी उत्तम छन्दान, ऐश्वर्य कुछ उत्तम, पुष्टि, और दीर्घ आयुष्य हो ॥ २ ॥

आशीर्षिं ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दसं घत्तं द्रविणं सचेतसी ।
 जयं धेत्राणि सहसायनिन्द्र कृपानो अन्यानर्चरान्स्त्वपत्नान् ॥ ३ ॥
 इन्द्रेण तो बरुनेन शिष्टो मुरुङ्गिरुग्रः प्रहितो न आर्गन् ।
 एष वां घावापृथिवी उपस्थे मा क्षुण्णमा तृषन् ॥ ४ ॥
 ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती घत्तं पयो अस्मै पयस्वती घत्तम् ।
 ऊर्जमस्मै घावापृथिवी अंघातां विधे देवा मरुत ऊर्जेनार्पः ॥ ५ ॥
 सिवामिष्टु हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः ।
 सवामिनो पिबतां मन्यमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम् ॥ ६ ॥
 इन्द्रं एतां संसृजे विद्वो अग्रं ऊर्जा स्वधाम्जरां सा त एषा ।
 तथा त्वं जीव शरदः सुवर्चा मा त आ सुन्नोऽद्रिपर्वस्ते अक्रन् ॥ ७ ॥

अर्थ—(नः आशीः) हमारे लिये आशीर्वाद मिले तथा हे (सचेतसी) उत्तम मनवालो! (ऊर्जं उत सौप्रजास्त्वं) बल तथा उत्तम सन्तान, (दसं द्रविणं) दशवा और घन हने (घत्तं) दो । हे इन्द्र ! (जयं सहसा) यह धपने बलसे (क्षेत्राणि जयं) विविध क्षेत्रों और विजयको प्राप्त (कृपानः) करुणा हुआ (अन्यान् सररान् भवतार) अन्य अनुजोंको नीचे दबाया है ॥ ३ ॥

यह (इन्द्रेण दत्तः) प्रभुने दिया है, (बरुनेन शिष्टः) शालकके द्वारा धासित हुआ है, (मुरुङ्गिः प्रहितः) उत्साही शीरो द्वारा प्रेरित हुआ है और इस काल (उग्रः नः आगन्) उग्र बनकर हमारे पास आया है । हे (घावापृथिवी) पुच्छोके और पृथिवी ! (वां उरस्थे) आरके पास रहने बाछः (पयः) यह (मा क्षुण्ण, मा तृषन्) सुखा और तृप्तसे पीरित न हो ॥ ४ ॥

हे (ऊर्जस्वती) हे अश्ववाली ! (अस्मै ऊर्जं घत्तं) इसके लिये अन्न दो, (पयस्वती अस्मै पयः घत्तं) हे वृषवाली ! इसके लिये वृष दो पुच्छोके और पृथ्वीलोके (अस्मै ऊर्जं अघत्तां) इसके लिये बल देते हैं । तथा (विणे देवाः नदराः आराः) सब देव, अरुद्र, आरा ये सब इसके लिये (ऊर्जं) शक्ति प्रदान करते हैं ॥ ५ ॥

(सिवामिः ते हृदयं तर्पयामि) कृपयालयको विषाजोंद्वारा तरे हृदयको मैं तृप्त करा हूँ । न् (अनमीधः) विरोध और (सुवर्चाः) उत्तम तेजस्वी होकर (मोदिषीष्ठाः) आनन्दिय हो । (सवामिनो) मित्रघ्न विनाश करनेवाले तुम दोनों (अश्विनोः रूपं) अश्विदेवोंके रूपको और (मायां परिधाय) बुद्धि तथा कर्म शक्तिको प्राप्त होकर (एवं मन्यं निरर्गं) इस रसको पान करो ॥ ६ ॥

(निद्रः इन्द्रः) मरुत किया हुआ प्रभु (एतां अजरां ऊर्जा स्वधां अग्रे संसृजे) इस अश्वीन अन्नयुक्त सुखा को उत्पन्न करता है, देता है । (सा एषा ते) यह यह सब तरे लियेही है । (तथा त्वं सुवर्चाः शरदः जीव) उसके द्वारा न् उत्तम तेजस्वी बनकर बहुत वर्ष जीवित रह । (ते मा आनुजोत्) तरे लिये देवर्ष न घटे (वे निषन्नः अक्रन्) तरे लिये यँघोंने उत्तम रसयोग्य बनाये हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—हे देव ! हमें आशीर्वाद दे, हमें बल, सुप्रजा, दशता और घन प्राप्त हो । मनुष्य अपने विषयके विविध कार्य-क्षेत्रोंमें विजय प्राप्त करे, और अनुजोंको नीचे मुक्त किए हुए मगा देवे ॥ ३ ॥

यह मनुष्य परमात्मा द्वारा बनया, युक्तके द्वारा नियंत्रित बना, शीरो द्वारा उत्पन्नित हुआ है, इसलिए यह शरीर बनकर हमारे अन्दर आया है, और कार्य करता है । मानुष्यको उत्पन्नता करनेवाला यह वीर मुख और प्यासे कर्म कष्ट को प्राप्त न हो ॥ ४ ॥

सूर्य पिता और भूमि माता इसकी अन्न, रस, बल और ओज देंगे । जल आदि सब देव इसकी सहायता करें ॥ ५ ॥
 शुभ विद्याओं द्वारा तेरे हृदय को सुप्त करता हूँ । तू नीरोग और तेजस्वी बनकर सदा अर्निदित हो जाओ । मितकर
 रहो और अपना सौंदर्य, अपनी बुद्धि और कर्मोंकी शक्ति बढ़ाकर इस रसको पीओ ॥ ६ ॥

प्रभुने ही यह बलवर्धक अमृततम प्रारंभमें उत्पन्न किया है, इसका सेवन करके तेजस्वी और बलिष्ठ बनकर तू दीर्घ
 आयु की समाप्तक जीवित रह । तेरी आयु में ऐश्वर्य की म्यूनता कर्मा न हो । और तेरे लिए वीर लोग उत्तम योग तैयार
 करें, जिससे तू नीरोग और स्वस्थ रहकर उत्पत्तिकी प्राप्त हो ॥ ७ ॥

रस और बल ।

हमारा स्थूल शरीर पार्थिव शरीर कहलाता है, क्योंकि यह पार्थिव परमाणुओंका बना है । पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले
 विविध रसोंके सेवनसे इसकी पुष्टि होती है और उक्त रस न मिलनेसे इसकी क्षीणता रहती है । अर्थात् शरीर का बल
 बढ़ाना हो तो पार्थिव रसोंका सेवन करना अत्यंत आवश्यक है । शरीरका ऐश्वर्य, बल, आयुष्म और तेज इस रससेवनपर
 निर्भर है ।

पार्थिव रसका पार्थिव शरीरके संबंधमें वह संबंध है इतना माननेसे अग्नि, सूर्य आदि देवताओंका संबंध इससे बिल्कुल
 नहीं है ऐसा नहीं सिद्ध होसकता; क्योंकि अग्निही उत्पत्ता; सूर्य चिह्नोका (स्वप्नगुण और अलका रस इन सबका संमिश्रण होकर
 ही पृथ्वीसे रस उत्पन्न होता है । इन सम्पूर्ण देवताओंके अंग इस रसमें होनेसे ही वह इस मानो देवताओंका ही रस है । इसलिए
 उसके सेवनसे देवताओंके स्वर्वाका का ही सेवन होता है । जिस प्रकार गौ घास खाकर दूध रूपी जीवन रस देती है, इसी प्रकार
 यह भूमि अपने योग्य पदार्थ सेवन करके घान्य, फल, द्राक, कंद, मूल आदि रूपसे रस देती है । पाठक विचार करके देखेंगे
 तो उनको पता लग जायगा कि यद्यपि यह रस भूमिसे उत्पन्न होता है, तथापि उसके साथ आप, अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र आदि
 सब देवोंका घनिष्ठ संबंध है । यदि कोई बनस्पति सूर्य प्रकाशसे संबंध रखी जाय अर्थात् ऐसे स्थानपर रखी जाय कि जहाँ
 सूर्य प्रकाश नहीं है, तो वह दुर्बल हो जाती है । यह बात देखनेसे पाठक रसमें जान सकते हैं कि पृथ्वीसे रस उत्पन्न
 होनेमें सूर्यादि देवोंका भी भारी संबंध है । पाठक यहाँ अनुभव करें कि, वे सब देव मनुष्य मात्रके लिए अथवा अंग अंग
 करनेमें कैसे दक्षिण होकर कार्य कर रहे हैं ! यही इन देवोंकी पालक शक्ति है, जो प्राणीमात्रका पालन कर रही है ।

“ अग्नि सूर्य बृहस्पति आदि सब देव पार्थिव ऐश्वर्यके रससे और शारीरिक बलसे उक्त आयुष्म और तेज देते हैं । ”
 यह प्रथम मंत्रका कथन उक्त तात्पर्य बताता है । इसलिए दीर्घायु आरोग्य और बलपूर्ण तेज चाहनेके लिये सूर्यादि देवोंसे
 मिलनेवाले लाभ प्राप्त करें और उक्त गुणोंसे युक्त अथवा रस लेकर अपना बल बढ़ावें । यह प्रथम मंत्रका
 बोध है । (मं० १)

अथायु वनो ।

द्वितीय मंत्र कहता है कि “ जानवेदसे आयु, लक्षण सुप्रजा, धृतिवर्धक पुष्टि और धन प्राप्त करके यह मनुष्य
 सौ बर्ष जीवित रहता है । ” (मं० २) इस मंत्रमें दीर्घायु प्राप्त करनेकी युक्ति बताई है । जातवेद, नवधा और सविरा ये
 तीन देव हैं कि जिनकी रूपसे दीर्घायु प्राप्त होती है । इसलिए इनका विशेष विचार करना आवश्यक है -

१ जातवेदः- (जात-वेदस्) जिससे वेद अर्थात् ज्ञान बना है; जिससे ज्ञान का प्रवाह चला है । जिसके पास ज्ञान है
 और जिससे वह ज्ञान चारों ओर फैला है । (जातं वेत्ति) जो बने हुए पदार्थ मात्रको जानता है अर्थात् पदार्थ मात्रके
 गुणधर्मोंको जाननेवाला ज्ञानी । (आतस्य वेदः) उत्पन्न हुए वस्तु मात्र का ज्ञान । इस अर्थमें यह शब्द पदार्थविद्याका वाचक
 है । जिसीमा प्रकार विचार किया जाय तो यह शब्द ज्ञानवाचक स्पष्ट है, मंत्रमें कहा है कि यह आयु देता है, इससे स्पष्ट सिद्ध
 होता है कि “ ज्ञानी अथवा ज्ञानकी सहायतासे आयु बढ़ाई जा सकती है । ” यदि आयु बढ़ाना अभीष्ट हो तो वस्तुमात्रका ज्ञान
 अर्थात् पदार्थ विद्या प्राप्त करना चाहिए और उस विद्यासे अक्षरघादिकोंका योग्य सेवन करके अपनी आयु
 बढ़ानी चाहिए ।

२ लक्ष्य-कारीक करना, बारिकारीके कार्य करना, कुशलता से कार्य करना, कारीगरीका कार्य करना, इत्यादि कार्य करनेवा-
लेका लक्ष्य नाम है । परमेश्वर सब जगत् का बड़ा सारी कारीगर है, इसलिए उसके लक्ष्य कहते हैं । अन्य कारीगर भी छोटे
लक्ष्य हैं । " लक्ष्य इस मनुष्यके लिए प्रजा देवे " यह इस मन्त्रभागका कथन है । योग्य सन्तति बनाना इमके आधीन है,
परमात्माकी रूपसे इसके योग्य और उत्तम सन्तति प्राप्त हो । जो मनुष्य कारीगरीके कार्योंमें कुशल होता है, उसमें सुन्दरताका
ज्ञान अन्यासे अधिक होता है, इसलिए ऐसे मनुष्यकी अर्थोकी श्रेया अधिक सुदौल सन्तान होना सम्भव है । मातापिताके
अन्दर सुन्दरताकी कल्पना जितनी अधिक होगी उतनी सुन्दरता अथवा सुदौलपन सन्ततियों आना सम्भव है । लक्ष्यसे प्रजा
का सम्बन्ध यह है ।

३ सविता—प्रेरणा कर्मवाच्य और रसक प्रदान करनेवाला । सूर्य सबको जगता है और वनस्पतियोंमें रसक; सञ्चार
करता है इसलिए उसका नाम सविता होता है । यह भूमिक ऊपर वनस्पति आदिकोंमें रस उत्पन्न करके प्राणियोंकी (पौध
पुष्टि करता है और उनही (रासः) रोमा वा ऐश्वर्य भा बढाता है ।

इस रीतिसे वे देव मनुष्यकी सहायता करते हैं और इनको दार्शन्य देते हैं । मनुष्योंकी वाहिए कि वह इनसे यह
ज्ञान प्राप्त करें ।

अन्न, बल, धन, सुसन्तान और जय ।

अग्रे तृतीय मन्त्रमें मनुष्यकी सम्पूर्ण आकांक्ष शोका वर्णन संक्षेपसे किया है । ' हमें अन्न, बल, धन, सुसन्तान और जय
प्राप्त हो और शत्रु नीचे दब जाय । ' यही सब मनुष्योंकी मनकामना होना स्वामाधिक है । अक्षय शरीर की मूय
शान्त होती है, उससे बल बढता है; धन हर एक व्यवहार का साधक होनेसे सब चाहते ही हैं, इसके पश्चात् संवित्स्तार के
लिए सुसन्तानकी आभिलाषा मनुष्य करता है । इसके अनन्तर अपने विजयका इच्छुक होता है । यह प्रायः हर एक मनुष्यकी
इच्छा है, परन्तु यह विद्व कैये हो, इसका उपाय पूर्व दो मन्त्रोंमें कहा है; ' महेन्द्रो यदस्य प्रान्तो ह्यस्य संकतो ह्ये । इसके साथ
साथ ध्यान रखने योग्य विशेष महत्त्वकी बात इस मन्त्रमें कही है; उसकी बन्धुत्वानाम मन्त्रभाग यह है—

अस्य सहसा जयं कृत्वानः क्षेत्राणि । (मं. ३.)

' यह अपने बलसे विजय करता हुआ क्षेत्रोंको प्राप्त करे । ' इन्द्र मंत्र भागमें (सद्ः) अपने अंदर के बलही - संकट
है । ' सद्ः ' नाम है ' निजबल ' का । जिस बलसे शत्रु का हमला सहाजता है, जिस बलसे शत्रु का हमला अपने पर भी
बनना सुकसान कुछ भी नहीं होता है, उसका नाम सद् है । मनुष्यकी यह ' मह ' संकट बल अपने अंदर प्रदान वाहिए । यह
बल जिनका बड़ेगा उनका ही विजय प्राप्त होगा और विजय कार्य क्षेत्रोंमें उन्नति हो सकेगी । और इसीके प्रभावसे
शत्रु परास्त होगे । इसके न होनेकी अवस्थामें अन्य साधनोपसाधन कितने भी पास हुए तो उनका कोई प्रभाव नहीं होगा ।
इसलिए इस मंत्र भागमें जो " मह " संकट बल अपने अंदर बढानेकी सूचना दी है, उसकी ध्यानमें धारण करके, वह बल
अपने अंदर बढावें और उसके आधारसे अन्न, बल, धन, सुसन्तान आदिके साथ विजय हमारे ।

शत्रुयं मंत्रमें कहा है कि यह मनुष्य यावापियों के अंदर जो आग है वह ' इन्द्रे आशा दिया हुआ, वरुण द्वारा
प्राप्त बना हुआ, और मरुतो द्वारा चलाया हुआ आशा है, इसलिए यह वहाँ आकर मूय और प्वाससे बुझा न बने । ' (मं. ३.
८) प्रत्येक मनुष्य अपने आपको इन देवों द्वारा प्रेरित हुआ समझे । अपने पीछे इतने देव प्रेरणा करने और रक्षा करनेवाले
हैं, यह जान मनमें लानेसे मनकी शक्ति बड़ी प्रभववाली बन जाती है । मरे श्वाशरी इतने देव हैं यह विश्वास बड़ा बल
बढाने वाला है । जिस मनुष्य की उन्नति करने के लिए इतने देव कार्य करते हैं, भूमि आप अग्नि सूर्य आदि देव इसके
लिए अक्ष तैयार करते हैं, वृद्धस्पति इसे ज्ञान देता है, जलवेदा इसके विद्या देता है, सूर्य तेज देता है, अग्न्यायदेव इसकी
अन्नप्रकार की सहायता करते हैं और रक्षा भी करते हैं, क्या ऐसा मनुष्य अपनी शक्तिये चरों और विजय प्राप्त करके अपने
शत्रुओंको दूर नहीं कर सकता ? कर सकता है, परंतु इसके कठिण होकर अपने पीवरर बचा होना चाहिए ।

“ अक्षवाली भूमि इसे अक्ष अर्पण करती है, दुधवाली गौँवें इसके लिए दूध देती है, यावा पृथिवी इसके लिए बल उठाती है और आप देवता इसे वाँय प्रदान करती है । (मं० ५)

पाठक इसका अनुभव करें । इतनी देवताएं मनुष्यको सहायता कर रही हैं, कुछ न मांगती हुई सहायता देती हैं । तनी सहायता परमात्माकी मंगलमयी योजनाओं पर रही है । इसके बाद भी यदि मनुष्य अपना बल न बढ़ावे और विषय न -पादन करे; तो फिर दोष किसका हो सकता है ? कृपया सब पाठक इसका उत्तर दें और अपना उत्तरदातृत्व जानकर अपना प्रदर्शार्थ करनेके लिए कटिबद्ध हों । मनुष्य अपनी उन्नतिके लिए कटिबद्ध हुआ तो ये सब देव उसके सहायक होते हैं और सबको अखंड उन्नति दो सकता है ।

हृदयकी तृप्ति ।

अब प्राप्त हुआ, शरीरका बल भी बढ़ा, संतति भी बहुत हुई, तथा अन्यान्य भोग और ऐश्वर्य भी मिले, तो भी हृदयकी तृप्ति नहीं हो सकती । जबतक हृदयकी तृप्ति नहीं होती, तबतक शान्ति भी नहीं मिल सकती । इसलिए पुराण -श्रौ द्वारा अभ्युदयका मार्ग बताकर यह मंत्रमें निःश्रेयसका मार्ग बताया जाता है । हृदयकी तृप्तिका मार्ग यह है—

ते हृदयं शिवाभिः सर्वयामि । (मं० ६)

“ तेरा हृदय मंगल शक्तियोंसे तृप्त करता हूँ । ” शिवा शब्द शुभता का वाचक है । जो मंगलमय है वह शिव है, फिर यह भावना हो सकती है, कामना हो सकती है और विद्या भी हो सकती है । कुछभी हो जो शिव है उसीसे हृदयकी सन्तुष्टि होती है, किछो अन्य बातसे नहीं । पाठक यहाँ अनुभव करले कि जब कभी मुरा विचार उनके मनमें आता है, तब मन कैसा धरांत होता है और जब कभी शुभ भावना आती है तब मन कैसा प्रसन्न हो जाता है । शुभ विचार, शुभ उच्चार और शुभ, आचार ही मनुष्यके हृदयका संशोधन कर सकता है । इनके मनमें स्थिर होनेसे मनुष्यका हृदय तृप्त शीत और मंगलमय हो जाता है । इस हृदयकी शोभन अवस्थासे मनुष्य दीर्घायु, नीरोग, तेजस्वी, बलस्वी, तथा बलवान् होता है और ऐसे शान्तिपूर्ण मनुष्यको ही सुखदाता होती है । पाठक यहाँ देखें कि हृदयकी शान्तिका महत्त्व कितना है और हृदयकी अशान्तिसे हानि कितनी है । यहाँ गत आगेके मंत्र भागमें कही है—

अनमीवाः सुवर्णाः मोदिषीष्टाः (मं० ६)

“ नीरोग और उत्तम तेजस्वी होकर आनन्दित हो ” अर्थात् पुराणके रीतिसे हृदयकी शान्ति स्थिर होनेसे मनुष्य नीरोग और उत्तम तेजस्वी होकर आनन्दित हो सकता है, इसलिए मनुष्यको उचित है कि वह अपने अंतःकरणमें शान्त और महत्त्व-युक्त भावों और अशान्तिसे दूर रहे । इतनाही नहीं परन्तु अशान्त अवस्था चारों ओर खड़ी होने पर भी अपना अंतःकरण शान्त और शुभ मंगल कामनाओंसे परिपूर्ण रखे । यह जो अंतःकरण के निबलत्व के विषयमें उपदेश हुआ । बाहरका व्यवहार तथा करना चाहे इस विषयमें इसी मन्त्रका उत्तरार्थ देखिए—

सवासिनौ मायां परिषाय मन्ये पिबतम् । (मं० ६)

“ सब मिलकर एक स्थानपर रहते हुए औसल्यको धारण करके रस का पान करो ” इसमें निम्नलिखित उपदेशोपपन्न महत्त्व पूर्ण है—

१ स-वासिनौ—एकत्र निवास करनेवाले, समान अधिकारसे एक स्थानपर रहनेवाले । उदनीच मेदको न बढ़ाते हुए समान विचारसे इकट्ठे रहने वाले । एक प्रकारके आचार व्यवहारसे रहनेवाले ।

यह शब्द एकताका बल अपने समानमें बढ़ानेका उपदेश दे रहा है । परस्पर विद्वेष न बढ़े, परन्तु एकताका बल बढ़े; यह मात्र यहाँ स्मरण रखने योग्य है ।

२ मायां परिषाय—माया का अर्थ कुशलता, हुनर, कर्म करनेकी प्रयोगता, शौशल आदि प्रकार का है । यह शब्द बुद्धि और कर्मशक्तिको समानतया प्रयुक्त होता है । कुशलतासे कार्य करनेकी बुद्धि और शक्ति धारण करने की सूचना इस

शब्दद्वारा मिलती है । जगत् का व्यवहार करनेके लिए यह कुशलता अत्यन्त आवश्यक है । कुशलताके बिना कार्य करनेवाल यथाका भागी नहीं हो सकता ।

एकता के साथ, समताभावके साथ रहनेवाले और कुशलतासे कार्य व्यवहार करनेवाले लोग ही भोगरूपी रथ पान कर आनन्द प्राप्त कर सकते हैं । पाठक इस आशय को मनमें रखकर इस मंत्रका विचार करें और बोध प्राप्त करें ।

स्वधा ।

मंत्र ७ में ' स्वधा अन्न और बलवती है, यह इन्द्रकी बनाई है, इसका सेवन करके तेजस्वी बनकर सो वर्ष जीओ यह उपदेश है । यह स्वधा क्या चीज है, इसका विचार करना चाहिए—

' स्वधा ' अपनी धारण शक्तिका नाम स्वधा है । त्रिषु शक्तिसे अपने शरीरके विविध अणु इकट्ठे रहते हैं उसव स्वधा शक्ति कहते हैं । यह स्वधा शक्ति जितनी मनुष्यमें होती है उतनी ही उसकी आयु होती है । शरीरकी स्वधाशक्ति कम होनेपर कोई औषधि सहायक नहीं होती । जबतक वह स्वधाशक्ति शरीरमें कार्य करती है तबतक ही मनुष्य जीवित रह सकता बच सकता और विजय पासकता है । यह स्वधा शक्तिका महारथ है । इसके बिना मृत्यु निश्चित है । इसीलिए सप्तम मन्त्र कहा है कि " यह स्वधाशक्ति अन्न है " अर्थात् यह जरा वाली नहीं है, इससे (जरा) बुझाया जलदी नहीं आता, वृद्ध आयुमें भी खवानी रहती है । यह स्वधा (ऊर्जा) बल बढ़ानेवाली है, इसीकी सहायतासे मनुष्य (सुवर्चाः) उत्कृष्टतावाला तेजस्वी और प्रभावशाली होता है और (सतं जीव) सौ वर्षकी पूर्ण निरोग आयु प्राप्त व सकता है ।

इसलिए ब्रह्मवर्षादि सुनियमोंका पालन करके तथा आयुष्यगणके सूक्ष्मोंमें कहे उपदेशोंके अनुकूल आचरण करके मनुष्य अपनी स्वधाशक्तिको बढ़ावे और मनुष्यको प्राप्त होनेवाले अनेक कार्यक्षेत्रोंमें विजय कमावे तथा इस धृष्टके यह मन्त्रमें उपदेशानुसार अपने अन्तःकरणको शुभ भावोंसे शान्त और गंभीर बनावे और इह पर लोकमें कृतकृत्य बने । यही—

“ नः आशीः ”

“ हमार लिए आशीर्वाद मिले ” और सर्वत्र निर्वैरता और शान्तिका बड़ा आभाष्य हो ।

पति और पत्नीका मेल ।

(३०)

(ऋषिः-प्रजापतिः । देवता-अश्विनौ)

यपेदे भूम्या अश्वि तृणं चार्तो मध्यायति ।
 एषा मध्यामि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापरां अंसः ॥ १ ॥
 सं चैन्नयापो अश्विना कामिना सं च वर्षयः । ॥ २ ॥
 सं वां मगांसो अगमत् सं चित्तानि सभू व्रता ॥ ३ ॥
 यत्सुपूर्णा विवक्ष्वो अनमीवा विवक्ष्वः । ॥ ४ ॥
 तत्र मे गच्छताद्वै श्रुत्य इव कुर्महं यथा ॥ ५ ॥
 यदन्तरं तद्वाह्यं पद्वाह्यं तदन्तरम् । कन्यानां विश्वहराणां मनो गृमायौषधे ॥ ६ ॥

जपं—(यथा वातः) जैसा वातु (भूम्याः अश्वि । मृगिर (इदं दृग् मयायति) यह धान दिखाता है, (पर
 ते मनः मध्यामि) मैसा ही तरा मन में दिखाता हू जितसे तू (मां कामिनां असः) मेरी इच्छा करनेवाली होवे वी। यथा
 मय इव-याः न असः) मुझसे दूर जानेवाली न होवे ॥ १ ॥

(हे कामिनी अश्विनौ) परस्पर क मना करनेवाले दो बलवानो ! (च इत् सं नयापः) मिटकर चलो, (च सं वर्षयः)
 और मिटकर जाओ बटो । (वां मगांसः सं अगमत्) तुम दोनों को पेश्वर्य इच्छुं प्राप्त हो, (चित्तानि सं) तुम दोनोंके
 चित्त परस्पर मिले और (मयापि सं) मुझसे कर्म भी परस्पर मिल जुल कर हो ॥ २ ॥

(यत्) यहाँ (विवक्ष्वः सुर्याः) खोलनेवाले सुंदर पंखवाले पक्षी जाते हैं और (विवक्ष्वः अनमीवाः) खोलनेवाले
 नीरोग मनुष्य जाते हैं, (तत्र) यहाँ (मे इदं गच्छतात्) मती प्रेरणातुसार जाओ, (यथा शम्भः कुर्महं इव) जैसा
 बाण की नोक निशानेपर जाती है ॥ ३ ॥

(यत् कन्तरं तद् वाह्यं) जो अंदर है वही बाहर है और (यत् वाह्यं तद् अन्तरं) जो बाहर है वही अंदर है ।
 हे औषधे ! (विश्वहराणां कन्यानां) विश्विष्य रूपवाली कन्याओंका (मनः गृमाय) मन प्ररण कर ॥ ४ ॥

भाष्य—विषय विहिते वायु प्रायः दिन ता है उस रातिस में तेरा मन हिलाता हूँ, विश्वे तू मेरे ऊपर प्रीति करनेवाली
 होकर उदा मेरे साथ रहनेवाली तथा मेरेसे दूर न होनेवाली हो ॥ १ ॥

हे परस्पर प्रेम करनेवाले श्री पुरुषो ! तुम दोनों मिटकर चलो, मिटकर जाओ बटो, मिटकर ऐश्वर्य प्राप्त करो, दृग्
 दोनोंके चित्त परस्पर मिले रहें और तुम्हारे कर्म भी मिल जुल कर हांते रहें ॥ २ ॥

जहाँ सुन्दर पक्षुवाले पक्षी शब्द करते हैं और जहाँ नीरोग मनुष्य अमन करने जाते हैं ऐसे सुंदर स्वानवर व मेरी प्रे-
 दासे चल ॥ ३ ॥

जो हमारे अंदर है वही बाहर है और जो बाहर है वही अंदर है । मैं विश्ववट भावसे रक्षा करता हूँ और इस विश्ववट
 भावरणसे मैं विश्विष्य रूपवाली कन्याओंका मन आकर्षित करता हूँ ॥ ४ ॥

एयमग्न्यातिकामा जनिंकामोऽहमागमम् ।

अश्वः कनिक्रद्वद्यथा भगेनाहं सुहागमम्

॥ ५ ॥

अर्थ—(इयं पति-कामा या अगन्) यह कन्या पतिकी इच्छा करती हुई आयी है और (जनि-कामः महं या अगमं) स्त्री की इच्छा करनेवाली मैं आयी हूँ । (महं भगेन सह या अगमं) मैं धनके साथ आयी हूँ, (यथा कनिक्रद्वत् अश्वः) वैसा दिनदिनाता हुआ घोडा आया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—पतिकी इच्छा करनेवाली यह स्त्री प्राप्त हुई है और स्त्री की इच्छा करनेवाला घोडेके समान दिनदिनाता हुआ मैं धनके साथ आयी हूँ । हम दोनोंका इस रीतिसे मेल अर्थात् विवाह हुआ है ॥ ५ ॥

अश्विनी देव ।

यह सूक्त विवाह के विषयमें बड़े महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है । इस सूक्त की देवता 'अश्विनी' है । ये देव सदा युग्ममें रहते हैं, कभी एक दूसरेसे पृथक् नहीं होते । विवाहमें भी स्त्रीपुरुष एकद्वार विवाह हो जानेपर कभी पृथक् न हों, आभारण विवाह बंधन से बंधे रहें, इस उद्देश्यसे इस सूक्तकी यह देवता रत्नी है । जिस प्रकार अश्विनी देव सदा इक्के रहते हैं कभी विपुक्त नहीं होते, वसी प्रकार विवाहित स्त्रीपुरुष गृहस्थाश्रम में इक्के रहें और परस्परसे विपुक्त न हों अर्थात् विवाह बंधन तोड़कर स्वैर वर्तन कभी करनेवाले कभी न बनें ।

द्वितीय मंत्रमें "कामिनौ अश्विनौ" कहा है, अर्थात् परस्पर की कामना करनेवाले अश्विनी देव जिस प्रकार एक कार्यमें इक्के रहते हैं; वसी प्रकार विवाहित स्त्री पुरुष गृहस्थाश्रममें मिल जुलकर रहें और एक दूसरे से विभक्त न हों । वहाँ "अश्विनी" शब्द 'अश्वशान्तिसे युक्त' होनेका भाव बता रहा है । पुरुष गर्भोधान करनेमें समय होनेके लिये वैद्य शास्त्रमें "बाबीकरण" के प्रयोग लिखे हैं । बाजीकरण, अश्वीकरण ये शब्द समानार्थक ही हैं । स्त्रीपुरुष अश्विनी हों, इसका अर्थ बाजीकरणसे प्राप्त होनेवाली शक्ति से युक्त हों, अर्थात् गर्भोधान करनेकी शक्तिसे युक्त पुरुष हो, और गर्भधारण करनेकी शक्तिसे युक्त स्त्री हो । "अश्वि" शब्दका यह ऋष्यार्थ यहाँ पाठक अवश्य देखें । स्त्री पुरुष परस्पर "कामिनौ" अर्थात् परस्परकी इच्छा करनेवाले हों, स्त्री पुरुष की प्रातिकी इच्छा करे और पुरुष स्त्रीकी प्रातिकी इच्छा करे । इस शब्दसे विवाहका समय भी निश्चित हो सकता है । देखिए—

विवाह का समय ।

मंत्र पांचमें निम्नलिखित मंत्र माग आता है, उससे विवाहका काल निश्चित हो सकता है—

इय पतिकामा या अगन् ॥

अहं जनिंकामः या अगमम् (मं० ५)

"यह स्त्री पतिकी इच्छा करती हुई आई है और मैं स्त्रीकी इच्छा करता हुआ आया हूँ ।" यह समय है जो विवाहके लिए योग्य है । स्त्रीके अंदर पतिकी प्रातिकी इच्छा और पतिके अंदर स्त्री की प्रातिकी इच्छा प्रबल होनी चाहिए । इस समय विवाह करना चाहिए । परंतु यहाँ यह भी संभव माना जा सकता है कि यह गर्भोधानका समय हो । फिर सजावट करनेके पूर्व विवाह करनेकी बात प्रथम काण्ड सूक्त १४ में लिखी है । यदि विवाह पहिले हुआ तो यह समय गर्भोधान का मानना पड़ेगा । तथापि निश्चय यहाँ प्रतीत होता है कि मन्त्रार्थ समाप्तिके पश्चात् पीठ और गृहस्थाश्रम योग्य स्त्री पुरुष होनेके पश्चात् ही विवाह करना चाहिये । इस विषयमें इधो मंत्रमें आगे देखिए—

यथा कनिक्रद्वत् अश्वः ।

अहं भगेन सह आगमम् ॥ (मं० ५)

'जैसा दिनदिनाता हुआ घोडा आता है वैसा मैं धनके साथ आयी हूँ ।' यहाँ उत्तम ताक्य और गर्भोधान की अथुगत शक्ति जिसके शरीरमें है ऐसे तक्षणका वर्णन है; वही विवाह के लिए योग्य है । विवाह के लिए न केवल ताक्य और

वीर्य की आवश्यकता है, प्रसूत (भग) धनकी भी आवश्यकता है । कुटुंब का पालन पोषण करनेके लिए आवश्यक धन कमानेकी योग्यता पुरुष प्राप्त करे, धन कमजोरी लगे और तत्पश्चात् विवाह करे; यह शेष यहाँ मिलता है । पहले प्रपंचयं पालन करे, तक्षण बने, वीर्यवान और बलवान् हो, धन कमजोरी लगे और पश्चात् सुयोग्य स्त्रीसे विवाह करे । यह पंचम मंत्रका आद्य षष्ठ षडभिर्म धारण करने योग्य है ।

द्वितीय मंत्रमें “ कामिनौ अश्विनौ ” शब्द है, इनका आशय इससे पूर्व बताया ही है । ‘ कामिनौ ’ शब्दका विशेष स्पष्टीकरण पंचम मंत्रके पूर्वार्धने किया है और ‘ अश्विनौ ’ का श्रद्धांशरण पंचम मंत्रके तृतीय चरण द्वारा हुआ है । यह बात पाठक मनव पूर्वक देखेंगे, तो ‘ अश्विनौ ’ शब्द यहाँ तत्तम गारभ्यसे युक्त पतिपत्नीका वाचक है और ‘ अश्व ’ शब्द शान्तिकरण विद् वीर्यवान् पुंस्य का विशेषतया वाचक है, यह बात स्वयं स्पष्ट हो जायगी ।

पंचम मंत्रमें धन कमजोरीके पश्चात् विवाह करनेका उपदेश तो विशेष ही मनन करने योग्य है । ‘ धीः, धीः, धीः ’ यह वैदिक ऋम प्रसिद्ध है ।

निष्कपट वर्ताव ।

श्री पुरुषोक्त परस्पर वर्ताव, पतिपत्नीका परस्पर व्यवहार निष्कपट भावसे और हृदय को एकता से ही होना चाहिए । तभी गृहस्थाश्रमी पुरुषों को सुख प्राप्त हो सकता है । इस विषयमें चतुर्थ मंत्रका उपदेश विशेष महत्वपूर्ण है—

यदन्तरं तद्ग्राह्यं बह्नाद्यं यदन्तरम् । (मं० ४)

‘ जो अंदर है वही बाहर, जो बाहर है वही अंदर है । ’ यह निष्कपट व्यवहारका परम उचित आदर्श है । पति पत्नीके विषयमें तथा पत्नी पतिके विषयमें अंतर्बाह्य एक जैसा व्यवहार करें, अंदर एक भाव रखते हुए बाहर दूसरा भाव न रखें । गृहस्थियोंके लिए व्यवहारका आदर्श यहाँ देनेसे मुसोबत शब्दोंद्वारा बताया है । वैदिक धर्मका पालन करनेवाले गृहस्थों इसका अवश्य आचरण करें और अपना गृहस्थपनका सुख बढ़ावें ।

विश्वरूपानो कन्यानां मनः गुमाय ॥ (मं० ४)

‘ विविध रूपवाली कन्याओंका मन इस प्रकार आकर्षित किया जावे । ’ कोई तरण किसी कन्याके साथ बातचीत करते तथा अन्य व्यवहार करनेके समय अपना अंदर बाहरका वर्ताव सीमा और कपट रहित रखे । कपट भावसे कन्याओं को बाध देकर उसको फँसानेका यत्न कोई न करे । सरल निष्कपट भावसे ही अपनी धर्मपत्नी बननेके लिए किसी कन्याका मन आकर्षित किया जाय । कभी कोई छल या कपट न किया जाय । श्री पुरुष व्यवहारके विषयमें इस मंत्रका यह उपदेश अत्यंत महत्वपूर्ण है, गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेवाले और प्रविष्ट हुए पाठक इस मंत्रका बारंबार मनन करें ।

आदर्श पतिपत्नी ।

चतुर्थ मंत्रमें परस्पर निष्कपट व्यवहार करनेका उपदेश दिया है, उस उपदेशके पालन करनेसे आदर्श कुटुंब बन सकता है इसमें कोई संदेहही नहीं है, इसका योगासा नमूना द्वितीय मंत्रमें बताया है, इसमें पांच उपदेश हैं, देखिए—

- १ संवययः—छन्मागंधे चलो और चलाओ । एक मत से चलो । एक मतसे संघारा चलाओ । श्री और पुरुष एक दिग्धे चलें और परिवारको बलावें ।
- २ संवययः—मिलकर आगे बढ़ो । श्री और पुरुष एक विचारसे आगे बढ़ने तथा उत्तमि संवादन करनेका प्रयत्न करें ।
- ३ भगासः सं भगमत्—सब मिलकर ऐश्वर्य प्राप्त करें । मिलकर ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे विपुल धन प्राप्त हो जावे ।
- ४ चित्तानि सं—आपके चित्त मिले हुए हों ।
- ५ ब्रह्मानि सं—आपके धर्म भी निष्कपट कर किए जाय ।

अर्थात् पतिपत्नीमें वैर भाव, द्वेष भाव या कठोर भाव न हो । यद्वातक एकता का भाव हो कि ये दोनों मिलकर एकही शरीरके अवयव हैं ऐसा माना जाये । यहाँकि ये शब्द यद्यपि सामान्यतः पतिपत्नीके कर्तव्य बतानेके लिए प्रयुक्त हुए हैं, तथापि सामान्यतः ऐक्य प्रतिपादन परक भी इस मंत्रका भाव लिया जा सकता है और इस दृष्टिसे यह मंत्र सामाजिक ऐक्य भावका उत्तम उपदेश दे रहा है । पाठक इस दृष्टिसे भी इस मंत्रका विचार करें और आदर्श पतिपत्नीके विषयमें इसका उचित उपदेश स्मरण रहें ।

भ्रमण का स्थान ।

पतिपत्नीको मिलकर भ्रमण के लिए जाना हो, तो किस प्रकारके स्थानमें जाय, इस बातका उपदेश तृतीय मंत्रमें किया गया है उसको भी यहाँ देखिये—

पत् सुपर्णा विवक्षवः ॥

अनमीवा विवक्षवः ॥

तत्र मे हवं गच्छताम् ॥ (मं० ३)

“जहाँ सुंदर पंखवाले पक्षी शब्द करते हैं और जहाँ नीरोग पुरुष वार्तालाप करते हुए आते हैं, वही प्रेरणानुसार जाय ।” ऐसे स्थानमें पतिपत्नी परस्परकी इच्छानुसार अथवा प्रेरणानुसार, परस्परकी रुचीके अनुकूल भ्रमण के लिये जाय । जहाँ सुंदर सुंदर पक्षी मंजुल शब्द कर रहे हैं और जहाँ नीरोग मनुष्य जानेके इच्छुक होते हैं वहाँ जाय । यह स्थानका वर्णन कितना मनोरम है ! पाठक ही इसका अनुभव अपने मनमें कर लें । उत्तम भाग्यसे ही ऐसे वन अथवा उद्यान जहाँ पुरुषोंको भ्रमण के लिए प्राप्त हो सकते हैं । यहाँ वेदने आदर्श स्थानही भ्रमण के लिए बताया है, यदि ऐसा स्थान हर एक परिवारके लिए न मिला, तो इसी प्रकारका कोई अन्य स्थान भ्रमण के लिए पसंद करें और निष्कण्ठ भावसे उत्तम वार्तालाप करते हुए गमन करें ।

स्त्रीके साथ बर्ताव ।

पुरुष स्त्रीके साथ कैसा बर्ताव करे और स्त्री भी पुरुषके साथ कैसा बर्ताव करे, इस विषयमें एक उत्तम उपमा प्रथम मंत्रमें ली है और इस विषयका उपदेश किया है । ‘जिस प्रकार वायुसे घास हिलाया जाता है उस प्रकार स्त्रीका मन हिलाता हूँ ।’ (मं० १) यह कथन बड़ा बोधप्रद है । वायुके अंदर प्रचण्ड शक्ति है, वायु वेगसे चलने लगा, तो बड़े बड़े वृक्ष भी टूट जाते हैं, परंतु वही वायु कोमल घासको नहीं तोड़ता, परंतु केवल हिलाता है । इसी प्रकार वीर पुरुषका कोप प्रबल शत्रुको छिन्न-भिन्न कर सकता है, परंतु वही वीर पुरुष क्रियोंसे वैसा क्रूरताका बर्ताव न करे । जिस प्रकार वृक्षोंकी तोड़नेवाला वायु घासको केवल हिलाता है, उसी प्रकार शत्रुको नष्टभ्रष्ट करनेवाला पुरुष भी क्रियोंसे कोमल रीतिसे ही बर्ताव करे । कठोर व्यवहार कभी न करे ।

स्त्रियों भी अपने अंदर घासके समान कोमलता धारण करें और प्रचण्ड वायु चलने पर भी जैसा घास टूटता नहीं, उसी प्रकार अपने कुटुंबके स्थानसे कभी विचलित न हों ।

यहाँ इस उपमासे दोनोंके उत्तम कर्तव्य बताया है । इस उपमाका विचार जितना अधिक किया जाय उतना अधिक बोध मिल सकता है । यह पूर्ण उपमा है, इतनी योग्य उपमा अन्यत्र नहीं मिल सकती । पाठक इसका विचार करें और बोध लें और वह बोध अपने परिवारमें डाल दें ।

यह सूक्त पतिपत्नीके सहस्रपथमेंका आदर्श बता रहा है, यदि पाठक इसका अधिक विचार करेंगे, तो उनकी बहुत उत्तम उपदेश मिल सकता है । विवाह विषयक अन्धान्य सूक्तोंके साथ पाठक इस सूक्तका विचार करें ।

रोगोत्पादक किमि ।

(३१)

(ऋषिः-काण्वः । देवता-मही)

इन्द्रस्य या मही द्रुपत्किमेर्विशस्य तर्हीणी ।	
तयां पिनप्ति सं किमीन्दुपदा खल्वी इव	॥ १ ॥
द्रुष्टमद्रष्टमतृहमयो कुरुहमतृहम् ।	
अलग्ण्डून्सर्वाञ्छुनान्क्रिमीन्वर्चसा जम्मयामसि	॥ २ ॥
अलग्ण्डून्हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अर्भूवन् ।	
शिशानश्चिष्टानि तिरामि वाचा यया किमीणां नकिहच्छिपाते	॥ ३ ॥
अन्वाङ्ग्यं शीर्षण्यंमयो पाष्ट्यं किमीन् ।	
अवस्कृवं व्यध्वरं क्रिमीन्वर्चसा जम्मयामसि	॥ ४ ॥

अर्थ—[इन्द्रस्य या मही इत्यद्] इन्द्रकी जो बड़ी शिखा है जो [विशस्य किमेः तर्हीणी] सब किमियोंका नाश करनेवाली है [यया किमीन् सं विनामि] इससे मैं किमियोंको पीस द्राष्टं [द्रुष्टदा खल्वान् इव] जैसे पत्थरसे बज्रको पीसते हैं ॥ १ ॥

[एवं अद्रष्टं अतृहम्] शीखने वाले और न दिखाई देनेवाले द्रुप दोनों प्रकारके किमियोंका मैं नाश करता हूँ । [अयो कुरुहं अतृहम्] और भूमिपर रंगनेवाले किमियोंको भी मैं नष्ट करता हूँ । [सर्वांश्च अलग्ण्डून्] सब बिस्वरे जादि मैं रहनेवाले तथा [शुनानान्] बेगले हुएर खुरर चरनेवाले सब [किमीन्] किमियोंको [वर्चसा जम्मयामसि] बचाके द्वारा हटाता हूँ ॥ २ ॥

[अलग्ण्डून् महता वधेन हन्मि] विविध स्थानोंमें रहनेवाले किमियोंको बड़े भाषासे मैं मारता हूँ । [दूनाः अदूनाः अरसाः अर्भूवन्] चरनेवाले और न चरनेवाले सब किमी रहनीन होगये । [शिशान् चिष्टान् वाचा नि तिरामि] बचे हुए और न बचे हुए भी सब किमियोंको बचाके मैं नाश करता हूँ । [यया किमीणां नकिः छिच्छिपाते] जिससे किमियोंमेंसे कोई भी न बचे ॥ ३ ॥

[अन्वाङ्ग्यं] आतोंमें होनेवाले, [शीर्षण्यं] शिरमें होनेवाले [अयो-पाष्ट्यं किमीन्] और पसाड़ियोंमें होनेवाले किमियोंको तथा [अवस्कृवं] रंगनेवाले और [व्यध्वरं] बुरे मार्गपर होनेवाले सब किमियोंको मैं [वर्चसा जम्मयामसि] बचा औषधसे हटाता हूँ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—सब प्रकारके किमियोंका नाश करनेमें समर्थ इन्द्र अर्थात् आरमाकी दृढ शक्ति है इससे मैं रोगोत्पादक किमियोंका नाश करता हूँ ॥ १ ॥

अस्यवे दिखाई देनेवाले और न दिखाई देनेवाले तथा भूमिपर रंगनेवाले अनेक प्रकारके द्विभयोंके बचा औषधसे हटाता हूँ ॥ २ ॥

बचा औषधसे मैं सब किमियोंको हटाता हूँ जिससे एक भी न बच सके ॥ ३ ॥

आतोंमें, शिरमें, पसलियों जो दृमि कुर्माण के आचरणसे होते हैं उन सबको मैं बचा से हटाता हूँ ॥ ४ ॥

ये क्रिमियः पर्वतेषु वनेष्वोर्षधीषु पशुष्वपस्वन्तः ।

ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्वन्मि जनिमः क्रमीणाम्

॥ ५ ॥

(इति पञ्चमोऽनुवाकः ।)

अर्थ—[ये पर्वतेषु क्रिमयः] जो पहाड़ियोंपर क्रिमि होते हैं, (वनेषु, ओषधीषु, पशुषु, अप्सु अन्तः) वन, औषधि, पशु, अन्न आदिमें होते हैं, और (ये अस्माकं तन्वं आविविशुः) जो हमारे शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं [त्वं क्रिमिणां सर्वं जनिमः इति] यह क्रिमियोंका सम्पूर्ण जन्म मैं नष्ट करता हूँ ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो पर्वतोंमें, वनोंमें, औषधियोंमें, पशुओंमें तथा अन्नमें क्रिमि होते हैं तथा जो हमारे शरीरोंमें प्रविष्ट हैं वन सब क्रिमियोंका मैं नाश करता हूँ ॥ ५ ॥

क्रि. योंकी उत्पत्ति ।

रोगोत्पादक क्रिमियोंकी उत्पत्ति 'पर्वत, वन, ओषधि, पशु, और जल इनके बीच में होती है' (मं० ५) तथा ये क्रिमि-

अस्माकं तन्वं आविविशुः । (मं० ५)

'हमारे शरीरमें प्रविष्ट हैं' और पाँच करते हैं, इसलिये इन क्रिमियोंको हटाकर आरोग्य प्राप्त करना चाहिये । यह पंचम मंत्रका कथन विशेष विचार करने योग्य है । जलमें सहाय्य होनेसे विविध प्रकारके क्रिमि होते हैं, पशुके शरीर में अनेक जंतु होते हैं, हरी वनस्पतियोंपर अनेक क्रिमि होते हैं, वनों में जहाँ दलदलके स्थान रहते हैं वहाँ भी विविध जाति के क्रिमि होते हैं और इनका संबंध मनुष्य शरीरके साथ होनेसे विविध रोग उत्पन्न होते हैं । शरीरमें ये कहीं जाते हैं इसका वर्णन मंत्र ४ कर रहा है-

अभ्यान्त्यं शीर्षणं अपो पाठेयं क्रिमिन् । (मं० ४)

"आंतोंमें, शिरमें, पक्षियोंमें ये क्रिमि जाते हैं और वहाँ बढते हैं ।" इस कारण वहाँ नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं । इसलिये आरोग्य चाहनेवालों को इनको दूर करना चाहिये । इनकी उत्पत्तिके विषयमें मंत्र ४ में दो शब्द बड़े महत्त्व के हैं ।-

“ अवदृष्टव, वयस्वर ” (मं० ४)

१ अवदृष्टव— (अव+दृष्टव) नीचे गमन । नीचे स्थानमें गमन करनेसे इनकी उत्पत्ति होती है । वहाँ आचरणकी नीचता समझना योग्य है ।

२ वयस्वर— (वि-अप्-र) विरह मार्ग पर रमना । धर्म विरह व्यवहारके जो जो मार्ग हैं उनपर रमनेसे रोगके बीज उत्पन्न होते हैं । अन्नभर्यादि निषेधोंका न पालन करना आदि बहुतसे धर्म विरह व्यवहार हैं जो रोगोत्पन्न करनेमें हेतु होते हैं । इस दृष्टिसे ये दोनों शब्द बड़े महत्त्वके हैं ।

दूर करनेका उपाय ।

इन क्रिमियोंको दूर करनेका उपाय दो प्रकारका इस सूक्तमें कहा है—

१ बाष्पा-ववा नामक वनस्पतिक उपाय करना । माथामें इसको बच कहते हैं । क्रिमि नाशक औषधियोंमें इसका महत्त्व सबसे अधिक है । इसका चूर्ण शरीरपर लगावसे क्रिमि बाष्प नहीं होती, ववाका मणि गलेमें या शरीरपर धारण करनेसे भी क्रिमियोंका दूर होता है और जलमें घोलकर भी इसका सेवन करनेसे पेटके अंदरके क्रिमियोंको दूर हो जाते हैं । औषधि अन्न उपायोंमें यह सुलभ और निश्चित उपाय है ।

२ इन्द्रय मही इवत्-इन्द्रका बवा पत्थर । इस नामका कोई पदार्थ है वा वह आध्यात्मिक शक्तिका नाम है, इस विषय में अमीतक कोई निश्चय नहीं हो सका । इन्द्र शब्दका अर्थ आराम है, उषका बवा पत्थर अर्थात् जिधर टकरा साकर ये रोग जन्तु मर जाते हैं वह उषकी प्रथम जीवन शक्ति है । आराम शक्तिसे मुझबन्धमें इन रोगक्रिमियोंकी उत्पन्न शक्ति उद्भूत नहीं सकती । यह सब ठीक है, परंतु इस विषयमें अधिक शोध होनेको आवश्यकता है । ये क्रिमि इतने स्थान होते हैं, कि आँखसे दिखाई नहीं देते ।

(अष्ट), दूसरे ऐसे होते हैं कि जो आँखों से दिखाई देते हैं । कई तरीक़ों पर होते हैं, कर्मों पर चिक्के हैं बिल्वों होते हैं, इस प्रकार विविध स्थानों में इनकी उत्पत्ति होती है । इनका नाश उक्त प्रकार करनेसे इनकी पीड़ा दूर होती है और आरोग्य मिलता है ।

क्रिमि-नाशन ।

[३२]

(ऋषिः-ऋष्यः । देवता-आदित्यः)

उद्यसादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः । ये अन्तः क्रिमयो गविं ॥१॥

विषरूपं चतुर्ध्रं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् । शृगाम्यस्य पृथीरपि वृक्षामि यच्छिरः ॥२॥

अग्निवहः क्रिमयो हन्मि कण्ठवर्जमदाग्निवत् ।

अगस्त्यस्य ऋक्षणा सं पिनम्पुहं कुमीन् ॥३॥

इतो राजा क्रिमीणां मुतैषां स्थपतिर्हृतः । इतो हतमाता क्रिमिर्हृतभ्राता हतस्वला ॥४॥

अर्थ—[उद्यन् आदित्यः क्रिमीन् हन्तु] उद्यन् होता हुआ सूर्य क्रिमियों का नाश करे । [निम्रोचन् रश्मिभिः हन्तु] अस्तको जाश हुआ सूर्य भी अपने किरणों से क्रिमियों का नाश करे । [ये क्रिमयः गवि भन्तः] जो क्रिमि भूमि पर हैं । [विषरूपं] अनेक रूपवाले [चतुर्ध्रं] चार आँखवाले, [सारङ्गं मर्जुनं क्रिमिं] शीतलेवाले शेरगंके क्रिमि होते हैं । [अगस्त्यः पृथीः शृगामि] इनकी हाडियोंको मैं तोड़ता हूँ । [ऋषि यत् पिथः वृक्षामि] इनका जो सिर है वह भी तोड़ता हूँ ॥ २ ॥

हे [क्रिमयः] क्रिमियो ! [अग्निवत्, कण्ठवत्, जमदग्निवत्] अग्नि, कण्ठ और जमदग्नि के समान [यः हन्मि] तुमको मार डालता हूँ । [अहं अगस्त्यस्य ऋक्षणा] मैं अगस्त्यकी विद्या से [क्रिमीन् सं पिनम्पि क्रिमीणोको पीत बालता हूँ ॥ ३ ॥

[क्रिमीणां राजा इतः] क्रिमियोंका राजा मारा गया । [इत एषां स्वपतिः हतः] और इनका स्वपति भी मारा गया । [इत-भ्राता, हतभ्राता, हत-स्वला क्रिमिः हतः] क्रिमीकी माता, भाई, बहीन तथा वह क्रिमि भी मारा गया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सूर्य उद्यन् होनेके पश्चात् अस्त होने तक अपने किरणोंसे रोगोत्पादक क्रिमियोंका नाश करता है । ये क्रिमि भूमि पर रहते हैं ॥ १ ॥

ये क्रिमि बहुत प्रकारके विविध रूपधारी होते हैं, कई खेत होते हैं और कई अन्य रंगोंके होते हैं । इनमेंसे कईको चार अथवा अनेक आँख होते हैं ॥ २ ॥

अग्नि, कण्ठ, जमदग्नि और अगस्त्य इन नामों द्वारा सूचित होनेवाले उपाय हैं कि जिनसे इन रोग वाञ्छित नाश हो जाता है ॥ ३ ॥

इन उपायोंसे इन क्रिमियोंके मूल बीज ही नष्ट होते हैं ॥ ४ ॥

हृतासौ अस्य वेशसो हृतासुः परिविशसः ।

अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते किमयो हृताः

॥ ५ ॥

प्र ते शृणामि शृङ्गे याम्यां वितुद्रायसि । भिनाधि ते कुपुम्भं यस्तै विपुधानः ॥ ६ ॥

अर्थ—[अस्य वेशसः हृतासः] इसके परिचारक मार गये । [परिवेशसः हृतासः] इसके सेवक पीसे गये । [अथो ये क्षुल्लकाः इव] सब जो क्षुल्लक किमी हैं [ते सर्वे किमयो हृताः] वे सब किमी मरे गये ॥ ५ ॥
[ते शृणो प्र शृणामि] तरे दोनो सींग तोड़ डालता हूं [याम्यां वितुद्रायसि] जिनसे तू काटता है । [ते कुपुम्भं भिनाधि] तरे विपके आशयको मैं तोड़ता हूं [यः ते विपधानः] जो तेरा विपका स्थान है ॥ ६ ॥

भाषार्थ—इन्के सब परिवार पूर्णतः दूर हो जाते हैं ॥ ५ ॥

इनमें जो विपका स्थान होता है उसका भी पूर्वोक्त उपायोंसे ही नाश हो जाता है ॥ ६ ॥

सूर्यकिरण का प्रभाव ।

सूर्य किरणोंमें ऐसी जीवन शक्ति है कि जिससे संपूर्ण प्रकारके रोगबीज दूर होते हैं । इसलिए जिस स्थानपर रोग जन्मनेके बहनेसे रोग उत्पन्न हुए हों, उस स्थानमें सूर्य किरण पहुंचानेसे वे सब रोग दूर हो जाते हैं । जिस घरमें रोग उत्पन्न हुए हों, उस घरके छप्परमें से सूर्य किरण विपुत्र प्रमाणमें उस घरमें प्रविष्ट करनेसे वडाके रोग दूर हो जाते हैं । क्योंकि रोगबीजोंको हटानेवाला सूर्यके समान प्रभावशाली दूसरा कोई भी नहीं है ।

क्रिमियोंके लक्षण ।

इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें इन क्रिमियोंके कुछ लक्षण बड़े हैं, देखिए (मं० २)—

१ अर्जुनः—श्वेत रंगवाला,

२ सारंगः—विविध रंगवाला, चित्रविविन्न वर्ण वाला, घबरे जिसके शरीरपर हैं ।

३ अतुराक्षः—चार नेत्र वाला, चारों तर्फ जिसेके शरीरमें नेत्र हैं ।

४ विषरूपः—विविध रंगरूप वाला ।

इन लक्षणोंसे ये क्रिमि पहचाने जा सकते हैं ।

रोग बीजोंके नाशकी विद्या ।

इन रोग बीजोंका नाश करनेकी विद्या तृतीय मंत्रमें कही है । इस मंत्रमें इस विद्याके चार नाम आगे हैं, देखिए—
(१) अत्रि, (२) कष्व, (३) जमदग्नि और (४) भगस्य के (ब्रह्मणा) ब्रह्मसे अर्थात् इनकी विद्याओं में रोग बीजमूल क्रिमियोंका नाश करता है । रोगबीजों का नाश करनेकी विद्याके ये चार नाम हैं । प्राचीन विद्याकी खोज करनेवालोंको उचित है कि वे इन विद्याओंकी खोज करें । इस समय तक हमने जो खोज की उससे कुछभी परिणाम नहीं निकला है ।

विषस्थान ।

इन क्रिमियोंके शरीरमें एक स्थान ऐसा होता है कि जहां विष रहता है, (मं० ६) यह विष ही मनुष्य के शरीरमें पहुंचना है और वहां विविध रोग उत्पन्न करता है । इसलिए इनसे बचने के उपाय की शक्ति ऐसी चाहिए कि जिससे यह विष दूर हो जाय और मनुष्य के शरीर पर यह विष अनिष्ट परिणाम न कर सके ।

यक्ष्म नाशन ।

(३३)

(ऋषिः-ऋक्षा । देवता-यक्ष्मविवर्धणं, चन्द्रमाः, आयुष्यम् ।)

अक्षीम्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां ह्युपुक्तादधि ।	
यक्ष्मं शीर्ष्यं भ्रिस्तिकाजिह्वाया वि वृहामि ते	॥ १-॥
प्रीवाम्यस्त उष्णिहाभ्युः कीकसाभ्यो अनुक्यात् ।	
यक्ष्मं दोष्यं मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते	॥ २ ॥
हृदयात्ते परिं ह्योस्रो हलीक्ष्णात्पार्श्वभ्याम् ।	
यक्ष्मं मत्सनाभ्यां ह्योस्रो यक्नस्ते वि वृहामि	॥ ३ ॥
अन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुद्रादधि ।	
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते	॥ ४ ॥
ऊरुभ्यां ते अष्टीवद्भ्यां पार्श्वेभ्यो प्रपदाभ्याम् ।	
यक्ष्मं मसृद्यं श्रोत्रिभ्यां मासदं मंससो वि वृहामि ते	॥ ५ ॥
अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो घमनिभ्यः ।	
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते	॥ ६ ॥

अर्थ-(ते अक्षीम्यां नासिकाभ्यां) तेरे नासिके और दोनों नयुनेसे (कर्णाभ्यां उपुक्तादधि) कानोंसे, और दोहीमेंसे, (ते मरिस्तिकाजिह्वाया) तेरे मस्तकसे तथा जिह्वासे (शीर्ष्यं यक्ष्मं वि वृहामि) सिर संबंधी रोग को बढ़ाता हूँ ॥ १ ॥

(ते प्रीवाम्यः उष्णिहाभ्यः) तेरे गले से और गुरी की नाथीसे (कीकसाभ्यः अनुक्यात्) हंसली की हृदिषीसे और रीढ़से और (ते मंसाभ्यां, ते बाहुभ्यां) तेरे कंधोंसे और गुमाकोंसे (दोष्यं यक्ष्मं वि वृहामि) झुकनेके रोगको बढ़ाता हूँ ॥ २ ॥

(ते हृदयात्, ह्योस्रोः हलीक्ष्णात्) तेरे हृदयसे केकड़ेसे और पित्ताशयसे, (पार्श्वभ्यां परि) दोनों कानोंसे (ते मत्सनाभ्यां) तेरे गुठोंसे (अन्त्रेभ्यः यक्नः) तिष्ठो और जगिरसे (यक्ष्मं-वि वृहामि) रोग को बढ़ाता हूँ ॥ ३ ॥

(ते अन्त्रेभ्यः गुदाभ्यः) तेरी नासिके और गुदासे (वनिष्ठोः रुद्राद् अधि) मलत्यागसे और रुद्रसे (ते कुक्षिभ्यां प्लाशेः नाभ्याः) तेरी कौलोंसे शंकर की नौसे और नाभिले (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग बढ़ाता हूँ ॥ ४ ॥

(ते ऊरुभ्यां अष्टीवद्भ्यां) तेरी जंघाओंसे और घुटनोंसे (पार्श्वेभ्यो प्रपदाभ्यां) पार्श्वोंसे और पैरोंसे, (ते श्रोत्रिभ्यां) तेरे कूहोंसे (मंससः मसृद्यं मासदं) गुदास्थानसे कटिके संबंधके गुदा (यक्ष्मं वि वृहामि) रोगको मैं बढ़ाता हूँ ॥ ५ ॥

(ते अस्थिभ्यः मज्जभ्यः) तेरी हड्डियोंसे और मज्जासे (स्नावभ्यः घमनिभ्यः) घुट्टोंसे और नाथियोंसे (ते पाणिभ्यां अङ्गुलिभ्यः नखेभ्यः) तेरे हाथ, अंगुठि और नाखनोंसे (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग को बढ़ाता हूँ ॥ ६ ॥

ब्रह्मे लोभिलोभि यस्तु वर्षयिषर्वणि ।

यक्ष्मं त्वच्चस्व ते वयं कश्यपस्य वीवर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि ॥ ७ ॥

वर्ष- (वः वे) जो वे (ब्रह्मे षडे कोभि कोभि वर्षणि पर्वणि) प्रत्येक अंग प्रत्येक रोम और प्रत्येक गाँठमें (ते त्वच्चर्व विष्वञ्चं वयं) वेरी त्वचा संबंधी केशनेत्राद्ये सब रोगको (कश्यपस्य विवर्हेण) कश्यपके उपासते (वयं विवृहामसि) हम हरा देते हैं ॥ ७ ॥

आचार्य-आँसू नाक खान बाहु आदि स्थान शरीरके मोटे अक्षयवासे, हृदय दोहा बहुत आदि आंतरिक अक्षयवासे, आँसू मज्जा आदि भातुओंके अथवा जहाँ कहीं रोग हो वहाँसे कश्यप की विद्यासे हम रोगको हटा देते हैं १-७-१

कश्यप-विष्वहण ।

पूर्व सूक्तमें अग्नि, कव, जमरशि और अगस्त्य नामके रोगद्वीकरण की विद्या आगई है । उसी प्रकारकी कश्यप विष्वहण नामक विद्याका उल्लेख इस सूक्तमें आया है । खान करनेवालोंकी उन विद्याओंके साथ इस विद्याकी भी खोज करनी चाहिये । इस समय तो यह विद्या भ्रष्ट हो गई है ।

[यह सूक्त कुछ पाठ भेदके ऋ० १०।११३ में आया है]

मुक्ति का सीधा मार्ग ।

(३४)

(ऋषिः-अथर्वा । देवता-पशुपतिः ।)

य ईशं पशुपतिं पशुनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ।

निष्क्रीतः स यच्चिर्यं भागमेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम् ॥ १ ॥

प्रमुञ्चन्तो भुवनेस्य रेतो गातुं घञ्च यजमानाय देवाः ।

उपाकृतं यद्यमानं यदस्यास्त्रियं देवानामप्येतु पाथः ॥ २ ॥

अथ- [यः पशुपतिः] जो पशुपति [यः द्विपदां उत चतुष्पदां ईशे] द्विपाद और चतुष्पादोंका स्वामी है [सः निष्क्रीतः] वह पूर्ण रीतिसे प्राप्त हुआ हुआ [यच्चिर्यं भागं एतु] यजनीय विभागका प्राप्त होवे । [रायः पोषाः यजमानं सचन्ताम्] घन और पुष्टियां यज्ञ करनेवालेको प्राप्त हों ॥ १ ॥

हे [देवाः] देवो ! [मुनस्य रेतः प्र मुञ्चन्तः] मुन के वीर्यका दान करते हुए [यजमानाय गातुं घञ्च] यज्ञ करनेवाले के लिये सन्मार्ग प्रदान करो । [यतः शासमानं उपाकृतं देवानां त्रियं पाथः अस्यात्] जो सोमरूप सुसंस्कृत देवोंका त्रिषु अन्न है वह हमें [एतु] प्राप्त हो ॥ २ ॥

आचार्य-जो द्विपाद और चतुष्पाद आदि सब प्राणियोंका स्वामी एक ईश्वर है, वह विशेष रीतिसे प्राप्त होनेके पश्चात् पूरके स्वानमें पूरित होता है और उसकी कृपासे सब प्रकारके घन और पुष्टियां उपासक को प्राप्त होती हैं ॥ १ ॥

सब देव इस उपासक को संसारका वीर्य प्रदान करते हुए सन्मार्ग बताते हैं और वनशक्ति सर्वोपुसंस्कृत देवोंके लिए त्रिषु देवोंको अन्न होता है वह इसको देते हैं ॥ २ ॥

यं ब्रह्मर्मानुमनु दीर्घ्यानां अन्वैक्षन्तु मनस्तां चर्तुषा च ।

अभिधानग्रे प्र मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजयां संरक्षणः ॥ ३ ॥

ये प्राण्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः ।

वायुधानग्रे प्रमुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजयां संरक्षणः ॥ ४ ॥

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गैर्म्यः पर्याचरन्त्वम् ।

दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पृथिमिदेवधानैः ॥ ५ ॥

अर्थ—[ये दीर्घ्यानाः] जो प्रकाशमान [ब्रह्मर्मानं अनु] बंधे हुए जो अनुकूलता के साथ [मनसा च चर्तुषा अन्वैक्षन्तु] मनसे नौर भाँसते देखते हैं, [विश्वकर्मा प्रजया संरक्षणः देवः अग्निः] विश्वकर्मा प्रजासे रमनेवाला प्रकाशमान देव [तां अमे प्रमुमोक्तु] उनको सबसे पहले मुक्त करे ।

[ये प्राण्याः विश्वरूपाः पशवः] जो प्राणी विविधरंग रूपवाले पशु [बहुधा विरूपाः संतः एकस्याः] बहुत करके अनेक रूपवाले होनेपर भी एक रूप होनेके समान ही हैं (प्रजया संरक्षणः प्रजापतिः वायुः देवः) प्रजाके साथ रमने वाला प्रजापाक प्राण देव [तां अमे प्रमुमोक्तु] उनको पहले मुक्त करे ॥ ४ ॥

[पूर्वे प्रजानन्तः] पहले विदेश आनेवाले ज्ञानी [पर्याचरन्तं प्राणं] चारों स्थानोंमें भ्रमण करनेवाले प्राणको [अंगैर्म्यः प्रतिगृह्णन्तु] सब जगत्से ग्रहण करें । [शरीरैः प्रथितम्] सब शरीरोंमेंसे प्रथित रह, पशवः [देवधानैः पृथिमिः स्वर्गं याहि, दिवं गच्छ] देवोंके जाने योग्य मार्गसे स्वर्गको जा, प्रकाशमय स्थानको प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भाषार्थ— जो तेजस्वी ज्ञानी पुरुष अपने मनसे और आँसुसे बद्ध स्थितिमें रहे हुए प्राणोंकी अनुकम्पा की दृष्टिसे देखते हैं, उनको— ही विद्वद्वा निर्माण करनेवाला और प्रजाओंमें रमनेवाला प्रकाशमय देव सबसे पहले मुक्त करता है ॥ ३ ॥

प्राण्य पशु जो वास्तवमें विविध रंगरूपवाले होते हुए भी एक रूपवाले जैसे होते हैं, उनको भी सब प्रजाओंके साथ रहनेवाला प्राणोंका प्राणदेव पहिले मुक्त करता है ॥ ४ ॥

जो ज्ञानी शीघ्र सब शरीरोंमें संचार करनेवाले प्राणकी सब जगत् और अवयवोंसे इच्छा करके अपने अधिकारमें लाते हैं, वे शरीरसे मुक्त होते हुए दिव्य मार्गसे सीधे स्वर्गको जाते हैं और प्रकाश का स्थान प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

प्राणका आयाम ।

शरीरमें प्राण एक अद्भुत शक्ति है । वास्तवमें यह एकही प्राण शरीरके विभिन्न अवयवों और अंगोंमें कार्य करनेके कारण अनेक प्रकारका माना जाता है और इसी एकको अनेक नाम भी दिए जाते हैं । ईश्वरों नियमसे एक प्राण अनेक अवयवोंमें जाता है और वहसे स्वेच्छासे निकल जाता है । यदि इस प्राणपर मनुष्यकी इच्छाका स्वामित्व होगा, अर्थात् मनुष्यकी इच्छाके अनुसार प्राणका अंगों और अवयवोंमें गमन होगा, और इच्छानुसार इसकी शरीरमें स्थिति हो सकेगी, तो शरीरका कोई भी अवयव कभी रोगी न होगा और इच्छा मरण की शक्ति भी प्राप्त होगी । यह सब बात प्राणपर प्रभुत्व प्राप्त होने पर ही निर्भर है । इसी लिए पशुम मंत्रमें कहा है—

प्रजानन्तः पूर्वे पर्याचरन्तं प्राणं ब्रह्मैर्म्यः प्रतिगृह्णन्तु । (मं० ५)

“ जाननेवाले बड़े लोच संचार करनेवाले प्राणको सब जगत्से इच्छा करके अपने स्वामी बन लेंगे । ” इस मंत्रमें इस कर्मके अधिकारी कौन है यह भी कहा है, प्राणका कार्य बताया है और प्राणको स्वामी बननेका भी उपाय दिया है; स्वका अनुबंधान देखिए—

१ प्र—जानन्तः पूर्वे = (प्र—जानन्तः) विशेष जाननेवाले अर्थात् शरीर शास्त्र और योगशास्त्रके विशेष ज्ञाता । प्राणायामके शास्त्रको उचित प्रकारसे जाननेवाले योगी (पूर्वे) पहले, अर्थात् नवीन सीखनेवाले नहीं, जो पुराने अनुभवही हैं) के भोग अपने अंगों और अवयवोंसे प्राणको इकट्ठा करके अपने आधीन करें ।

२ पर्याचारम् प्राणं—(परि+आचरन्) चारों ओर संचार करनेवाले प्राणको स्वाधीन करें । प्राण संपूर्ण शरीरमें संचार कर रहा है, स्वेच्छासे संचार कर रहा है, उसको अपनी इच्छासे कार्य करनेमें लगावे । प्राणका संचार जहाँ योग्य रीतिसे नहीं होता है वहाँ रोग होते हैं; इसलिए प्राणको अपनी इच्छासे प्रेरित करनेकी शक्ति प्राप्त होना ही तो सब शरीर बीरोगी रचना और दीर्घ आयु प्राप्त करना भी संभवनीय है ।

३ अङ्गेभ्यः प्राणं प्रतिगृह्णन्—शरीरके अंगों और अवयवोंसे प्राणको इकट्ठा करना और अपनी इच्छानुसार उसे शरीरमें प्रेरित करना यहाँ सूचित किया है ।

योग शास्त्रमें प्राणायाम विधि कही है । इसके अनुष्ठान से यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है । जो पाठक इस विषयमें अधिक परिश्रम करना चाहते हैं, वे अच्छे योगीके पास रहकर ब्रह्मचर्य आदि सुनिश्चित अनुष्ठान करके अपनी इस सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं । अपने शरीरके सब अंगों और अवयवोंसे प्राणको इकट्ठा करना और पुनः प्रत्येक अवयवमें उसको भेजना यह सब किया अपने आधीन होनी चाहिए, इससे कौनसी सिद्धि हो सकती है इसका वर्णन इसी मंत्रमें देखिए—

शरीरः प्रवृत्तिष्ठ । (मं० ५)

“अपने शरीरोंके साथ स्थिर हो” यह पहिली सिद्धि है । स्थूल सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर हैं, इसी प्रकार सात शरीर भी गिने जा सकते हैं, अंगों और अवयवोंकी गिनती करनेसे बहुत सूक्ष्म विचारमें जाना पड़ेगा, इसलिये वह विचार हम छोड़ देते हैं । इन शरीरोंके साथ मनुष्य सुदृढ़ और सुप्रतिष्ठित हो सकता है । जो पूर्वोक्त साधन करेगा और प्राणको अपने आधीन बनायेगा, वह शरीरसे बीरोग, सुदृढ़ तथा दीर्घायु ही संकलता है । यह तो प्रत्यक्ष लाभ हुआ, परंतु प्राणायाम साधन करनेसे अप्रत्यक्ष भी बहुत से लाभ होते हैं । इस अप्रत्यक्ष लाभ के विषयमें यही मंत्र इस प्रकार बडता है—

दिवं गच्छ । देवयानैः पयिभिः स्वर्गं याहि । (मं० ५)

“प्रकृत्यग्रथम स्थान प्राप्त कर । देवोंके मार्गसे स्वर्गमें जा ” यह है अन्तिम सिद्धि, जो इस प्रकाशके मार्गसे और प्राणके वशीकरणसे प्राप्त हो सकती है । योग साधनके द्वारा प्राप्त होनेवाली यह अन्तिम सिद्धि है, जो प्रायः सब धर्म ग्रंथोंमें वर्णित ही लुकी है ।

पशुपति रुद्र ।

पूर्वोक्त पंचम मंत्रमें प्राण का वर्णन किया है, उसके वशीकरणसे लाभ बताये और उसकी विधि भी कही है । इसी प्राणके वेदमें “रुद्र, पशुपति” आदि नाम आये हैं । प्राण शब्द परमात्माका वाचक हो, या शरीरस्थ प्राणका वाचक हो, दोनों अवस्थामें ये शब्द उसके वाचक होते हैं । यजुर्वेदके ह्यग्न्यायमें ये रुद्रके वाचक कहे हैं और प्राण रुद्र है, यह बात उपपत्त्यादि साक्ष्योंमें अनेक-बार कहा जा चुकी है । इसलिये पशुपति शब्द रुद्र और प्राण एकही अर्थमें प्रयुक्त होनेमें किसीको संदेह नहीं हो सकता ।

शरीरमें “पशुमान” है, स्थूलशरीरमें पाशवी बल रहता है, इन्द्रियोंमें ओभेच्छा, काम क्रोध आदि पशुभाव हैं, मनमें कुपाशना आदि पशुभाव हैं, इस प्रकार स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरोंके क्षेत्रोंमें बहुतेरे पशु विद्यमान हैं, उनको वशमें रखनेवाला, उनका स्वामी यह प्राणही है । प्राणके वशमें होनेसे ये सब पशु वशमें हो जाते हैं और कोई, कष्ट नहीं देते । पशुपति होना यह भी एक बड़ी भारी सिद्धि है, जो प्राणको वश करनेसे प्राप्त हो सकती है । प्राणका वर्णन अन्यत्र इसी प्रकार हुआ है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।

यो मुक्तः सर्वैस्त्वेषरो यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम् । अथर्व. १११ (६)। ३।१

“प्राणके लिये प्रणाम है जिसके वशमें यह सब है, जो सबका स्वामी है और जिसमें सब ठहरा है ।” यह प्राणका वर्णन देखिये और इस सूक्तका प्रथम मंत्र देखिये—“त्रिपाद और चतुष्पाद पशुओंका जो पशुपति स्वामी है वह अपना वशमें लिये पशुपति वह पूज्य स्थानमें जाता है और मन तथा पुष्टिवां बपासकको मिसली है ॥ ” (मं० १)

हिवाद् और चतुष्पादोंके शरीरका ब्रह्मनिवाला प्राणही है, इसके होनेसे सब इन्द्रिय कार्य करते हैं और इसके बन्धे बानेसे यह शरीर मुर्दा हो जाता है, इसलिये हिवाद् चतुष्पादोंका स्वामी प्राण है। यह प्राण (निः-कीर्तः) पूर्ण रीतिसे खरीदा जाय, तभी वह आधीन हो जाता है। कोई पदार्थ खरीदा जाने परही अपने स्वामीत्व में आ जाता है। वह प्राण किस रीतिसे खरीदा जा सकता है, इसका विचार करना चाहिये।

इससे देकर अन्य पदार्थ खरीदे जाते हैं, वैसे यह प्राण बनसे खरीदा नहीं आ सकता। इसके योगानुष्ठानरूपी तपके द्वारा खरीदनेकी आवश्यकता है। वैराग्य और धन्यास द्वारा यह खरीदा जाता है अर्थात् यह पूर्ण स्वाधीन हो जाता है। स्वाधीन होनेके पश्चात् " यह (यज्ञियं भागं) पूजाके स्थानमें प्राप्त होता है, " यह रूपमें यह प्राप्त होता है, योगी जन इसकी शान्ता-शाम द्वारा उपपन्ना करते हैं, जिससे—

रायस्योपाः यत्रमानं सचन्वाम् । (मं० १)

" शोभा और पुष्टिवां यत्रमानको मिलती हैं। " मंत्रमें ' राय ' शब्द है जो ' धन, शोभा ' आदिवा शब्द है। गोग-मार्गसे प्राणकी उपासना करनेसे वह प्रत्यक्ष फल प्राप्त होता है। इसके साथ " शरीर—प्रतिष्ठा " अर्थात् शरीर स्वास्थ्य रूप फल जो कि मंत्र ५ में कहा है, वह भी वहाँ देखने योग्य है, क्योंकि " शरीरकी प्रतिष्ठा " भी शरीरकी शोभा और पुष्टि होने से ही हो सकती है।

बीजशक्ति ।

इस प्राणके अनुष्ठानसे और एक महत्त्व पूर्ण शक्ति प्राप्त होती है, उसका वर्णन द्वितीय मंत्र द्वारा हुआ है—

अुवनस्य रतः प्रसुञ्जन्तः देवाः गान्तुं पच । (मं० २)

" त्रिभुवनका बीज फैलनेवाले देव इसके योग्य मार्ग देते हैं। " त्रिभुवनके अंदर अनंत पदार्थ हैं और उन पदार्थोंके अनंत सूक्ष्म बीज हैं, यही त्रिभुवनका ' रत ' अथवा बीर्य है। यह बीर्य सूर्यादि देवोंके पास है। यह बीज शक्ति इन देवोंसे इस प्रकारकी प्राप्त होती है जो प्राणकी पूर्ण प्रकृति वक्ष करता है। मन्त्रार्थमें प्रतिष्ठासे जो बीर्य लाभ होनेका वर्णन योगश्रौतमें है वह बीर्य यही है। पाठक विचार करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि बीजमें केन्द्रीभूत शक्ति होती है और वह बड़ी शारी शक्ति है, उसका विस्तर अपरिमित हो सकता है। यह बीजशक्ति वेदि अपने अंदर आगई, षठी या छुट्टिगत हुई, तो अपनी शक्ति बहुत ही बढ़ सकती है। योगोंके अंदर जो विलक्षण शक्ति आती है उसका कारण यही है कि, वह सूर्यादि देवोंसे बीजशक्ति प्राप्त करता है और उसका उपयोग करता है।

योगीका अन्न ।

द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धमें योगीके सेवन करने योग्य सांख्यिक अन्नका वर्णन हुआ है—

यत् शशामानं उपाकृतं देवानां त्रियं पायः अल्पात्

तत् अपि पतु ॥ (मं० २)

" जो वनराजोंके संघंधी उसमें संस्कार किया हुआ देवोंके प्रिय अन्न होता है वह अन्न हमें प्राप्त हो। " इसमें दिग्ब अन्नका योकाशा वर्णन है। अन्न नरम अर्थात् सुपच हो, हाजमा बिगाड़नेवाला न हो। "शशमानं" शब्द चन्द्र वा शोम औषधि का शब्द है। यह देवोंका अन्न है। सोम वनस्पतिजा रस ही है। इस रसमें गीका ताजा दूध मिलाया जाता है और सपू मी मिला होता है। यह रस पुष्टि कान्ति और बल बढ़ानेवाला है। अन्न (देवानां त्रियं) देवताओंके लिए प्रिय हो, देव शब्दका अर्थ इन्द्रिय भी है। यह अर्थ सेनेसे अन्न ऐसा हो कि जो इंद्रियोंका हित करनेवाला, अर्थात् इन्द्रियोंके लिए हितकारी हो, यह अर्थ इसी वाक्यसे मिलता है। कोई पदार्थ ऐसा नहीं लेना चाहिये कि जो शरीरकी हानि करनेवाला हो और इन्द्रियोंके निर्वल करने-वाला हो। इस मंत्रका " पायः " शब्द भी पीने योग्य अन्नका बोध करता है। यह सब वनस्पतिजन्य रसरूप बलवर्धक और पुष्टिकारक अन्नका बोध करनेवाला वर्णन है। दूध के साथ सोमरस या अन्न, अथवा औषधिरस आदि सेवन करना योग्य है। सोमरस पानकी विधि यज्ञप्रकरणमें प्रसिद्ध है।

मुक्तिका मार्ग ।

द्वान्त्र मंत्रमें मुक्तिका शोभा मार्ग बनाया है, जो हरएक को मनमें धारण करना चाहिए—

ये दीध्यानाः मनसा चक्षुषा च तप्यमानेऽस्तु मन्त्रैश्चरन्त । (मं० ३)

“ जो तेजस्वी लोग बद्ध हुए को मनमें और आँखमें अनुकम्पाकी दृष्टि देखते हैं, ” वे मुक्तिके अधिकारी हैं। वेही बंधनमें छूट सकते हैं और केवल्य धाम में पहुँच कर विराजमान हो सकते हैं ।

स्वयं (दीध्यानाः) तेजस्वी होते हुए, पूर्वोक्त तपेनुष्ठानमें अपना तेज भिन्न महात्माओंमें बढाया है, उनको चाहिए, कि वे अपने (मनसा) मनमें, अपने अन्तःकरण के गहरे भाँधमें तथा अपने (चक्षुषा) आँखमें बंधनमें फँसे, गुलामोंमें सनैकत्वे, परतंत्र जीवोंपर दयाकी दृष्टिसे देखें अर्थात् यहाँ केवल आँखोंही देखना नहीं है अपितु अंतःकरणमें उनको हीन अवस्थाको धोचना है, उस अवस्थाका दिलमें मनन करना है और उनकी सहायता करनेके लिए अपनी आँखें जहाँ तक हो सक्ता है वहाँ तक दल भी करना है । उनकी सहायताके लिए आत्मसमर्पण करना है । जो महात्मा दीनोंके तदारके लिए आत्म समर्पण करते हैं वेही मुक्तिके अधिकारी हैं । परमात्माको दीनोंके अंतःकरणमें अनुभव करते उनकी सेवा करना, अथवा दीनोंके तदारके प्रयत्नमें परमात्माकी उपासना करना, आदि कार्य जो करते हैं वे मुक्तिके अधिकारी हैं । इनकी मूर्त कैश होती है वह भी देखिये-

प्रजया संरतागः विचकमां अग्निः देवः

अग्ने तान् घमुमोस्तु । [मं ३]

“ प्रजाके छाप रहनेवाला विचक्षा कना तेजस्वी देव पहले उनको मुक्त करे । ” इस मंत्रमें स्पष्ट शब्दों द्वारा कहा है कि ईश्वर प्रजाके-छाप रहता है, अर्थात् प्रजाओंके अन्तःकरण में रहता है । दीन प्रजाओंमें उसको जो ब्रह्म होते हैं, वे ब्रह्म हीन प्रजाकी सेवा करनेसे ही दूर होनेके कारण दीन प्रजाकी सेवा करना ही परमात्माकी मक्ति करना है । इधिलिये इस मंत्रके पूर्व-धर्में कहा है कि “ बद्ध स्थितिमें दीन और दुःखी बने हुए जनको अनुकम्पा की दृष्टिसे मनमें और आँखमें देखनेवाले सबसे पहले मुक्त होते हैं । ” पठक यहाँ परमात्मोपासना का सच्चा मार्ग देखें और उस मार्गमें चलकर मुक्तिके अधिकारी बनें ।

विश्वरूपमें एकरूपता ।

विश्वका रूप अनेक प्रकारका है, विविधता इस विश्वमें स्थान स्थानपर दिखाई देती है, एकसे दूसरा भिन्न और दूसरे से तीसरा भिन्न, वह भेदकी प्रतीति इस जगत्में सर्वत्र है । विचार होता है कि क्या वह भेद सदा रहना है अथवा इसका अन्त होनेकी कोई सुक्ति है । चतुर्थ मंत्र कहता है कि भेदमें अन्त देखनेका अन्गुष्ठ करो, जैसा—

विश्वरूपा विश्वरूपाः सन्तः बहुधा एकरूपाः । (मं० ४)

‘ विश्वमें दिखाई देनेवाले रूप (विविध प्रकारके रूप होनेपर भी वे बहुत प्रकारसे एकरूप ही हैं । ’ उदाहरण ग्रन्थ पञ्चशैलीजिये-गौर्व रूप रंग और आकारसे भिन्न हैं; वह भेद दृष्टि है । इस दृष्टिसे देखनेसे भिन्नता अनुभवमें आती है। अब वह दृष्टि छेड़ दें और “ सौन्दर्य ” (गौर्व) को सामान्य दृष्टिसे सब गौर्वोंको देखिये, इस दृष्टिसे सब विविध गौर्वें एक गोजातिमें मिल जाती हैं। जाति दृष्टिसे अभिन्नता और व्यक्ति दृष्टिसे भिन्नता का इस प्रकार अनुभव आता है । अब प्रामाण्य पशुओं में गौ, बैल, घोड़ा, खेडा, बकरी, बेंग, घवा, गधों आदि अनेक पशु आते हैं, ये परस्पर भिन्न हैं इसमें किछी को भी घंटा नहीं हो सकती । परंतु वह सब जाति भेदको भिन्नता ‘ पशुत्व ’ सामान्य में अर्थात् ये सब ‘ पशु ’ हैं, इस दृष्टिसे देखनेसे छुट्ट हो जाती है और पशुभाव में सब एक दिखाई देते हैं । पशु और मनुष्य निःसंदेह भिन्न हैं, परंतु ‘ प्राणी ’ होनेके कारण दोनोंकी एकता ‘ प्राणी ’ भावमें होती है । इसी प्रकार भिन्नता और अभिन्नता का विचार करना उचित है और किछ दृष्टिसे भिन्नता अनुभवमें आती है और किछ दृष्टिसे अभिन्नता दिखाई देती है, इसका निश्चय करना चाहिये । चतुर्थ मंत्र कहता है कि ‘ विविध रूप होनेपर भी बहुत प्रकार से एक रूपता है ’ और इस एकरूपताका ही विचार करना चाहिये । अपने सटीरमें ही देखिये, प्राण दस स्थानोंमें विभक्त होनेके कारण सबको दस नाम प्राप्त होते हैं, परंतु वह दस प्रकारका नहीं है, विभिन्न दस कार्य करने पर भी वह सब मिलकर एक ही है ।

विभिन्न प्राणोंमें अभिन्न प्राणके कार्यकी देखना ही शक्ति ही है । इसी प्रकार विभिन्न इंद्रियोंमें अभिन्न इन्द्रियों (अहमाकी) शक्ति कार्य कर रही है, यह अनुभव करना आजकी दृष्टिसे देखना होता है । इंद्रियोंकी मिलता बन्ना भी जान सकता है, परंतु उनमें एक सामाजी शक्ति समान नियमसे कार्य कर रही है, यह देखना विद्येय अन्वयसे ही साध्य हो सकता है । एही प्रकार जल, अग्नि, वायु, सूर्य आदि विभिन्न नैतिय देवताओंमें एक अभिन्न अहमाकी परम शक्ति कार्य कर रही है, विविध प्रकारके विभिन्न जगत्में अभिन्न रीतिसे वह अंतर्गत हुई है, इस दृष्टिसे जगत् की ओर देखना यह एक उच्च दृष्टि की आवश्यक है, इस उच्च दृष्टिसे जगत्की ओर देखना यह एक उच्च दृष्टि की आवश्यक है, इस उच्च दृष्टिसे देखनेवाले महान्मा सुवितके अधिकारी है । इस विषयमें चतुर्थ मंत्रका उत्तरार्ध देखिये-

प्रजया संरक्षणः प्रजापतिः वायुः देवः
 तान् अग्ने मनुमीकृतु ॥ (मं० ४)

"प्रजाके साय रहनेवाला प्रजाका पालक प्राण देव उन महान्माओंको पहले मुक्त को" जो विविध प्रकारके विभिन्न जगत् में अभिन्न एक शक्तिके कार्यका अनुभव करते हैं । पूर्वोक्त मुक्तके अधिकारोंका यह भी एक सत्य है । इस रीतिसे इस सूक्तमें मनुष्यकी अरिच उन्नतिका मार्ग क्रमशः बताया है । यदि पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका अन्वय करिये तो उनकी बड़ा बोध प्राप्त हो सकता है । मन्त्र-के लिये यहाँ संक्षेपसे फिर सारांश कह देते हैं-



- १ ज्ञानी योगी अपने सब शरीरमें संभार करनेवाले प्राणको अपने सब अवयवों और इंद्रियोंके इच्छा करके अपने आरोग्य करे । इससे शरीरकी दृढता होगी और प्रजापतिके दिव्य मार्गसे स्वर्गकी प्राप्ति भी होगी । (मं० ५)
- २ प्राण सब द्विपाद चतुष्पादोंका संचालक है, वह स्वाधीन होकर पुष्टी और शोभा बढ़ाता है । (मं० १)
- ३ प्राणको वक्षमें करनेसे विष्वक्कालक सूर्यदि देवोंसे बड़ी बोरिकी शक्ति प्राप्त होती है, इसके लिये दिव्य सुसंस्कार विद्या हुआ भोजन करना योग्य है । (मं० २)

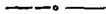
४ जो अपने मनसे और आँखसे दोनोंको अनुकंपा की दृष्टिसे देखता है और उनके बदार करनेके लिये आत्मसमर्पण करता है, उसको विश्वकर्ता देव सबसे पहले मुक्त करता है (मं० ३)

५ जगत् की विविधतामें जो एक शक्तिकी अभिन्न एकताका अनुभव करता है, उसको प्रजापालक देव सबसे पहले मुक्त करता है । (मं० ४)

यह साराखंड इस सूक्तका तात्पर्य है । पाठक यदि इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको इस दिव्य मार्ग संबंधी अनेक बोध प्राप्त हो सकते हैं ।

पशु ।

पशु वाचक शब्द प्रयोग द्वारा इस सूक्तमें बड़ाही महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया है । यहाँ पशु शब्दसे गाय घोड़े आदि पशु ऐसा कार्य समझने की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि मनुष्य भी एक पशुही है । जब तक इसके पशु भावका पूर्णतया नाश नहीं होता है तब तक यह पशुही रहता है । जितने प्रमाण से इसका पशु भाव दूर होगा, उतने ही प्रमाणसे इसके मनुष्यत्व का विकास होगा । मनुष्य शरीरके अंदर सब इंद्रियाँ पशुरूप ही हैं । इस शरीररूपी रथको ये इंद्रिये पशु जोते हैं । इन पशुओंके उन्मत्त होनेसे इसका सर्वस्व नाश हो सकता है । इसलिये इन पशुओंकी स्वार्थीन करनेका प्रयत्न मनुष्यको करना चाहिये । मनके अंदर भी काम क्रोधदि पशुभाव हैं । इन सब पशुओंको सुशिक्षासे बसा करना चाहिये और मनुष्यत्व (मननशीलत्व) का विकास करना चाहिये । मनुष्य बननेका पारमं डोनेके पश्चात् ही इस सूक्तके उपदेशका अनुष्ठान करनेका अधिकार मनुष्यको प्राप्त हो सकता है । इत्यादि विषय पाठक करें और इस सूक्तमें अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त करनेकी प्रार्थना करें ।



यज्ञमें आत्मसमर्पण ।

(३५)

(ऋषिः—अंगिराः । देवता—विश्वकर्मा)

ये भक्षयन्तो न वर्धन्पानुधुर्यानुग्रयो अन्वर्तयन्तु धिषण्याः ।

या तेषामव्या दुरिंष्टिः स्विष्टिं नृस्तां कृणवद्विश्वकर्मा

॥ १ ॥

यज्ञपतिमूर्पय एनंसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुत्पद्यमानम् ।

मथ्यव्यान्तिस्तोकान् पयान्तराद्य सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा

॥ २ ॥

अर्थ—(ये भक्षयन्ताः) जो मनुष्य अन्न सेवन करते हुए भी (वर्धन्पानुधुः) अच्छी बातोंकी वृद्धि नहीं करते, तथा (व्या दुरिंष्ट्या अग्रयः) जिनके संबंधमें बुद्धिके अग्नि (अन्वर्तयन्तु) पश्चात्ताप करते हैं, (तेषां या अव्या दुरिंष्टिः) उनकी जो अव्यतिकारक सदोष दृष्टिको पढ़ति है, (विश्वकर्मा तां नः सुनष्टिं कृणवत्) विश्वका रचयिता देव उसको हमारे लिये उत्तम दृष्टि बनावे ॥ १ ॥

(प्रजाः अनुत्पद्यमानं) प्रजाओंके संबंधमें अनुत्पाप करनेवाले (यज्ञपति मथ्यवः एनंसा निर्भक्तं साहुः) यज्ञके पति को ऋषि पापसे मुक्त कइते हैं । (या मथ्यव्यान् रतोकात् अप रराध) जिन मथने योग्य रसभागोंको समर्पित करता रहा (विश्वकर्मा तेभिः नः सं सृजतु) विश्व की रचना करनेवाला उनके साथ हमें संयुक्त करे ॥ २ ॥

भावार्थ—जो अन्न खाते हुए भी भ्रष्ट कर्तव्योंको नहीं करते, जिसके कारण उनको बुद्धियोंके अंदर रहनेवाले अग्नि भ्रष्टा पश्चात्ताप करते हैं, उनसे जो दोष होते हैं वे सुधर जाय और विश्वकर्ताकी कृपासे वे हमारे सत्कर्ममें संमिलित हों ॥ १ ॥

अदान्यान्तसोमपान्मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः

यदेभंश्चकृवान्यद् एष तं विश्वकर्मन्प्र भुञ्चा स्वस्तये

॥ ३ ॥

घोरा ऋषयो नमो अस्त्वैभ्यश्चक्षुर्यदेपां मनसश्च सत्यम् ।

बृहस्पतये महिष द्युमन्मो विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्यस्मान्

॥ ४ ॥

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा भोत्रेण मनसा जुहोमि ।

इमं यज्ञं वित्तं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः

॥ ५ ॥

अर्थ- (सोमपानं अदान्यान् मन्यमानः) सोमपान-यज्ञ करनेवालों को दान देने अथवा समझनेवाला (न यज्ञस्य विद्वान्) न तो यज्ञ का ज्ञाता होता है और (न समये धीरः) न समयापर धैर्य धरनेवाला होता है । (एषः बहो षप एनः चकृवान्) यह बहू हुआ मनुष्य जो पाप करता है, हे (विश्वकर्मन्) विश्वके रक्षिता ! (तं स्वस्तये प्रमुञ्च) उसको कष्टपाणके लिये सुखा कर दो ॥ ३ ॥

(ऋषयः घोराः) ऋषि लोग बड़े तेजस्वी होते हैं, (एभ्यः नमः यन्तु) इनके लिये नमस्कार होवे । (यद् एपां चक्षुः मनः च सत्यं) क्योंकि इनका आँख और मन सत्यभावसे पूर्ण होता है । हे (महिष विश्वकर्मन्) विश्वके बखान् रक्षिता ! (बृहस्पतये द्युमन् नमः) शान पतिके लिये श्वक नमस्कार हो, (मन्सान् पाह्य) हमारी रक्षा कर, (ते नमः) तेरे लिये नमस्कार हो ॥ ४ ॥

(यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिः मुखं च) जो यज्ञका आँख, मरणकर्ता और मुखके समान है उसको (वाचा भोत्रेण मनसा जुहोमि) वाणी कान और मनसे मैं अर्पण करता हूँ । (सुमनस्यमानाः देवाः) बखान मनवाले देव (विश्वकर्मणा वित्तं इमं यज्ञं आप्यन्तु) विश्वके कर्ताद्वारा फैलाये हुए इस यज्ञके प्रति आर्षाव ॥ ५ ॥

भाषार्थ- दुष्टी प्रजाजनों के संबंध में हृदयसे तपनेवाले यज्ञकर्ता पुरुषोंका निष्पाप समझते हैं, जो सोम का मन्यन करके वाग करता है उनके साथ विश्वकर्माही कृपासे हमारा संबंध जुड़ जाय ॥ २ ॥

जो यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणोंकी दान देनेके लिए अथवा समझता है, न उधरों यज्ञ तत्त्व समझता होता है और न वह समयापर धैर्य दिखानेमें समर्थ होता है । यह अज्ञानी मनुष्य इस बहू अवस्थामें जो पाप करता है, उधरसे विश्वकर्ता ही उसे सुखावे और उधरका कष्टपाण करे । ३ ॥

एष्विष्वे बड़े तेजस्वी और प्रभावशाली होते हैं क्योंकि उनके मनमें और आँखमें सत्य चमकता रहता है । उधर ज्ञानी के लिए हम प्रणाम करते हैं, हे सर्वशक्तिमान विश्वके कर्ता ! हमारी सब प्रकारसे रक्षा कर, तेरे लिए हम नमन करते हैं ४ ॥

मैं अपनी वाणी कान और मनसे यज्ञ के चक्षु पेट और मुखमें आर्षाव करता हूँ क्योंकि विश्वकर्ताने यह यज्ञ फैलाया है, जिसमें सब देव आकर कार्य करते हैं ५ ॥

अयाजकोंकी निन्दा ।

प्रथम और तृतीय मंत्रमें अयाजकोंकी निन्दा की है । कहा है कि—“ जो अन्न खाते हुए भी यज्ञ जैसे सत्त्वोंको करनेकी रक्षा नहीं रखते, अन्य सत्त्वमें भी नहीं करते, छद्मावना भी नहीं फैलाते ” (मं० १) उनकी छद्मति कैसी होगी ! मनुष्यकी बुद्धिमें कई प्रकारके अग्नि हैं, वे सत्त्वमें, छद्मावना और छद्मिषारके अभाव के कारण, इसकी बुद्धिमें बलवत्के कारण पक्काताप करते हैं । क्योंकि कुछ मार्गमें यह मनुष्य सदा रत होनेके कारण उन बुद्धि सक्तियोंका विकास नहीं होता । “ धियणा ” शब्द बुद्धिका वाचक है उसमें रहनेका “ धियाप्यः अग्निः ” है । हरएक मनुष्यकी बुद्धिमें यह रहता ही है । एषा मनुष्य जो बुद्धिमें करता है, उधरसे उधरकी परमात्मा ही बचावे और यह सुधरकर प्रशस्ततम यज्ञकर्ममें रत हो जावे (मं० १) । यज्ञ करनेवाले

ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं, इस विषयमें किशोको भी संदेह नहीं हो सकता । परंतु “ जो मनुष्य ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको भी दानके लिए पात्र नहीं समझता, न तो उसको यज्ञका तप और न उसको समय का महत्त्व समझा जाता है । यह उसकी बद्ध स्थिति है, इस स्थितिमें जो वह कुछ कर्म करता है वह तो पापमय होनेमें संदेह ही नहीं है, परमात्माही उसे इस पापसे बचावे और सन्मार्गपर चलावे । (मंत्र० ३) ”

इस रीतिसे इन दो मंत्रोंमें अयाजकोंकी निन्दा की है ।

याजकोंकी प्रशंसा ।

द्वितीय मंत्रमें याजकोंकी प्रशंसा की है । “ जो दान और दुखी प्रजाकी ओर अनुतापकी भावनासे देखता है और उनके कल्याणका चिंतन करता है वह याजक निष्ठा है, ऐसे याजकोंके साथ परमात्माकी कृपासे हमारा स्थिर संबंध होवे । ” (मं० २) यज्ञसे ही पाप दूर होता है और दूसरोंकी भलाईके लिए आत्मसमर्पण करना यज्ञ है जो पाप दूर करनेमें समर्थ है ।

ऋषियोंकी प्रशंसा ।

चतुर्थ मंत्रमें ऋषियोंकी प्रशंसा इन प्रकार की है— “ ऋषि बड़े तेजस्वी हैं और उनके मनमें तथा आंखमें सत्य रहता है, इन ऋषियोंके लिए नमस्कार है । ” (मं० ४)

इस वर्णनमें (चौरा ऋषयः) ऋषियोंके लिए “ चौर ” वह विशेषण आया है । इसका अर्थ “ उद्यत ” श्रेष्ठ उन्नत एषा होता है । ऋषि उन्नत होनेका हेतु इस मंत्रमें यह दिया है कि “ उनके मनमें और आंखमें सदा सत्य रहता है । ” वे असत्य विचार कभी मनमें नहीं लाते और उनकी दृष्टि सत्यसे उज्वल हुई होती है । यह बात तो ऋषियोंके विषयमें हुई । परंतु यहां हमें बोध मिलता है कि त्रिषके मनमें और आंखमें अतिशय सत्य बढेगा, वह पुरुष भी ऋषियोंके समान उच्च बनेगा, उच्च होनेका यह उपाय है । सत्यकी पालना करनेसे मनुष्य उच्च होता है ।

विश्वकर्ता की पूजा ।

इस सूक्तकी देवता ‘ विश्वकर्मा ’ है । विश्वका कर्ता एक प्रभु है, उसकी उपासना करना मनुष्य मात्रका कर्तव्य है । “ इसी प्रभुने यज्ञरूपी प्रकृततम सत्कर्मका प्रारंभ किया है । ” (मं० ५) इस प्रभुने, आत्मसमर्पण करके संपूर्ण जीवोंकी भलाईके लिए विश्वरूपी महान् यज्ञकी रचना सबसे प्रथम की है, इसको देखकर अन्यान्य महात्माओंने भी विविध यत्न करना प्रारंभ किया । इस लिए ऐसे “ विश्वकर्ताको हम नमन करते हैं, वह हम सबकी रक्षा करे । ” (मं० ४) इस रीतिसे उस प्रभुकी उपासना और पूजा करना मनुष्य मात्रके लिए योग्य है ।

इस प्रकार यह सूक्त वृद्धमें आत्मसमर्पण करनेका उपदेश दे रहा है । यह सूक्त प्रत्येक मनुष्यकी कइता है कि—

वाचा श्रोत्रेण मनसा च जुहोमि । (मं० ५)

“ वाणी, कान और मनसे अर्पण करता हूँ । ” यज्ञमें आत्मसमर्पण करनेकी तैयारी हरएक मनुष्य करे, समर्पण करने के समय पीछे न हटे । क्योंकि इन प्रकारके समर्पणसे ही उच्च अवस्था प्राप्त होती है ।

विवाहका मंगल कार्य ।

(३६)

(ऋषिः-पतिवेदनः । देवता-अग्नीषोमी)

आ नो अग्ने सुमतिं संभ्रुलो गमेद्विषां कुमारीं सह नो भवेन ।

जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुरोषं पत्या सौमंगमस्त्वस्यै ॥१॥

सौमंजुष्टं ब्रह्मजुष्टमयं ग्णा संभ्रुतं भगम् । धातुर्देवस्य सुत्येन कुणोमि पतिवेदनम् ॥२॥

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्टु सोमो हि राजा सुमगां कुणोति ।

सुवानी पुत्रान्महिषी भवाति गत्वा पतिं सुमगा वि राजतु ॥३॥

यथासुरो मघवंश्वारोष प्रियो मृगाणां सुषदां बभूव ।

एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी सम्प्रिया पत्याविंशायन्ती ॥४॥

अर्थ— हे ऋषे ! (अग्ने सह) धनके साथ (सं-मङः) उत्तम वक्ता पति (इयां नः नः सुमतिं कुमारीं) इस हमारी उत्तम बुद्धिवाली कुमारी कन्याको (वा गमेत्) प्राप्त होवे । (नरस्यै पत्या सौमंगं नस्तु) इसको पतिके साथ सौभाग्य प्राप्त होवे । क्योंकि यह कन्या (वरेषु जुष्टा, समनेषु वल्गु) अष्टोमिं प्रिय और उत्तम मनवालोंमें मनोरम है ॥ १ ॥

(सोमजुष्ट) सोम द्वारा सेवित, (ब्रह्मजुष्टं) ब्राह्मणों द्वारा सेवित, (अयं ग्णा संभ्रुतं भगं) अष्ट मनवालोंसे इकट्ठा किया हुआ धन (धातुः देवस्य सत्येन) धारक देवके सत्य नियमसे (पति-वेदनं कुणोमि) पतिकी प्राप्ति के लिये योग्य करता हूँ ॥ २ ॥

हे ऋषे ! (इयं नारी पतिं विदेष्टु) यह स्त्री पतिको प्राप्त करे । (हि सोमः राजा सुमगां कुणोति) क्योंकि सोम राजा इसको सौभाग्यवती करता है । यह (पुत्रान् सुवानी महिषी भवाति) पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई घरकी राती होवे । यह (सुमगा पतिं गत्वा विराजतु) सौभाग्यवती पतिको प्राप्त करके शोभित हो ॥ ३ ॥

हे (मघवन्) इन्द्र ! (यथा एव आखरः) जैसा यह गुराका स्थान (मृगाणां प्रियः सुषदाः बभूव) पशुओंके लिये प्रिय और बंटने योग्य स्थान होता है (एवा) ऐसी ही (पत्या न-विंशायन्ती) पतिके विरोध न करती हुई और (भगस्य जुष्टा इयं नारी) ऐश्वर्यसे सेवित हुई यह स्त्री पतिके लिये (सं प्रिया) उत्तम प्रिय (नस्तु) होवे ॥ ४ ॥

भाष्यार्थ—जिधने धन प्राप्त किया है, ऐसा उत्तम विद्वान् वक्ता पति इस हमारी बुद्धिमती कुमारीको प्राप्त होवे । यह हमारी कन्या धैर्यको प्रिय और उत्तम मनवालोंमें सुंदर है, इस लिए इस कन्याको इस पतिके साथ उत्तम सुख प्राप्त होवे ॥१॥ सौम्यता, ज्ञान और अष्ट मन द्वारा संभ्रुत और सत्यमार्गसे प्राप्त किया हुआ यह धन केवल पतिके लिये है ॥२॥ यह स्त्री पतिके प्राप्त करे, परमेश्वर इसे सुखी बनावे; यह स्त्री परमेश्वरकी समान बनकर पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई सुखी होकर शोभित होवे ॥ ३ ॥

भगस्य नात्रमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम् । तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः ॥५॥

आ क्रन्दय घनपते वरमामनसं कृणु । सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः ॥६॥

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वपमौक्षो अयो भगः ।

एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥ ७ ॥

आ तं नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः । त्वमस्यै घेषोषधे ॥ ८ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

(इति द्वितीयं काण्डम् ।)

अर्थ— हे स्त्री ! (पूर्ण अनुपदस्वती) पूर्ण और बहुत (भगस्य नावं आरोह) देव्य की इस नौकापर सब और (तथा उपप्रतारय) उससे उसके पास तैरकर जा कि (यः वरः प्रतिकाम्यः) जो वर तेरी कामना के योग्य है ॥५॥
हे घनपते ! (वरं आक्रन्दय) अपने वर को बुझा और (आ मनसं कृणु) अपने मनके अनुकूल वातावरण कर । (सर्वं प्रदक्षिणं कृणु) सब उसके दहिनी ओर कर कि (यः वरः प्रतिकाम्यः) जो वर तेरी कामना के योग्य है ॥६॥
(इदं गुल्गुल्व हिरण्यं) यह उत्तम सुवर्ण है, (अयं औक्षः) यह बेल है और (अयो भगः) यह घन है ।
(एते त्वां पतिकामाय वेत्तवे) ये तुझे पतिकी कामना के लिये और तेरे लाभ के लिये (पतिभ्यः अदुः) पतिको देते हैं ॥ ७ ॥

(सविता ते आ नयतु) सविता तुझे चलावे । (यः प्रतिकाम्यः पतिः) जो कामना करने योग्य पति है वह (नयतु) तुझे ले आवे । हे औषधे ! (त्वं अस्यै घेषि) तू इसके लिये धारण कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—यह स्त्री-पतिषु कमी विरोध न करे और ऐश्वर्यसे प्रीतिन देती हुई सबको प्रिय होवे ॥ ५ ॥
स्त्री इस गुल्गुल्वम कृषी पूर्ण और सुदृढ नौका पर चढ़े और अपने प्रिय पतिके साथ संसार का समुद्र पार करे ॥ ५ ॥
जो वर अपने मनके अनुकूल हो उस वरको बुझकर उसके साथ अपने मनके अनुकूल वातावरण करके उसके साथ सम्मान पूर्वक व्यवहार करे ॥ ६ ॥

यह उत्तम सुवर्ण है, यह गाय और बैल है, और यह घन है । यह सब पतिको देते हैं इसलिये कि तुझे पति प्राप्त होवे ॥ ७ ॥

सविता तुझे मार्ग बतावे, तेरा पति तेरी कामनाके अनुकूल चलता हुआ तुझे उत्तम मार्गसे ले चले । औषधियोंसे तुझको पुष्टि प्राप्त हो ॥ ८ ॥

वरकी योग्यता ।

विवाहका कार्य अत्यंत मंगलमय है, इसलिये उसके संबंधके जो जो कर्तव्य हैं, वे भी मंगल मानना से करना उचित है । विवाहके मंगल कार्योंमें वर और बधु का सबसे प्रधान स्थान होता है । इसलिये इनके विषयमें इस सूक्तके आदेश प्रथम देखेंगे । वरके विषय में इस सूक्तमें निम्नलिखित बातें कही हैं—

१ संमलः = (सं+मलः) उत्तम प्रहार व्याख्यान करनेवाला । (मं० १) जो किसी विषयका उत्तम प्रतिपादन करता है । विशेष विद्वान् ।

यह शब्द वरकी विद्वता बता रहा है । वर विद्वान् हो, साम्राज्य ज्ञाता हो, चतुर और सम्मान्य विद्वान् हो, केवल विद्वान् होनेसे पत्नी नहीं है, कुटुंब पोषणके लिये आवश्यक धन कमानेवाला भी चाहिये, इस विषयमें कहा है—

२ भगन सह कुमारीं आगमेत्-धनके साथ आकर कन्याको प्राप्त करे (मं० १) । अर्थात् पहले धन कमावे और पश्चात्

वन्दनाको प्राप्त परे, विवाह करे । धन प्राप्त न होने की अवस्था में विवाह न करे, क्योंकि विवाह होनेके पश्चात् कुटुम्बका परिवार बढ़ेगा, इसलिये उद्योग करनेकी योग्यता इसमें अवश्य होनी चाहिये ।

३ पतिः नयतु—पति अपनी धर्मपत्नीको सम्भोगसे चलावे । धर्मनैतिके मार्गसे चलावे, परंतु साथ साथ वह (प्रति-काम्यः) पत्नीकी मन कामनाके अनुकूल भी चले । इसका तत्पर्य यह है कि पति अपनी धर्मपत्नीके साथ अन्य कारणसे कभी सगठान न करे, धर्मपत्नीपर प्रेम करे, परंतु उद्योगे सचे धर्म मार्गपर चलनेका दल करे । (मं० ८)

इह—सूक्तमें इतने आदेश पतिके लिये दिये हैं । इसमें पुनः विवाह विषयक कई सूक्त आलुके हैं, उनमें पतिके शुण धर्म और कर्म बताने हैं; उनके साथ इस सूक्तके आदेशोंके विचार करना चाहिये ।

वधुकी योग्यता ।

वधुके विषयमें बहुतसे उपदेश इस सूक्तमें कहे हैं जो पारिवारिक जगत्में रहनेवालोंको अवश्य मनन करना सोचने हैं । देखिये—

१ कुमारी—कुमार और कुमारी ये शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं । पूर्ण ब्रह्मचर्य रियर होनेका भाव सूचित करनेवाले वे शब्द हैं । तरुण स्त्री पुरुषोंमें जो विद्यारी भाव मनके बंदर उत्पन्न होता है, वह जिनके मनमें उत्पन्न नहीं हुआ, उनको " कुमारी " कहते हैं । यह शब्द अश्लेष रियर ब्रह्मचर्य धारण करनेवाले का शीतक है । जब तक मनमें कुमार भाव रहता है, तबतक वीर्यशेष उत्पन्न होता ही नहीं । इस अधम मंत्रमें " कुमारी " शब्द आया है, जो कन्याका बोध करता है । कन्या ऐसी हो कि जो कुमारी हो अर्थात् पुष्ट विषयक काम विचार संबंधों चंचलभाव जिसके मनमें क्षिपित भी उत्पन्न न हुए हों । यहाँ विवाह के लिये योग्य कुमारी का वर्णन किया है । जिससे तादृश्यके कारण उत्पन्न होनेवाले दोष जिस कन्यामें उत्पन्न न हुए हों उसका बोध होता है । इससे छोटी आयुमें विवाह करने की प्रवृत्ति बतलाई जाती है ऐसा मनना अत्युक्त है, क्योंकि इससे पूर्व बताया ही है कि " पतिही इच्छा करनेवाली स्त्रीका विवाह है । " [देखो कां० २ सू० ३०] इसलिये इस सूक्तमें छोटी आयुमें विवाह करने की संभावना नहीं है । इस कारण यहाँका " कुमारी " शब्द ऐसी कन्याका बोध करता है कि जो श्रद्धे ती हो, पतिही इच्छा तो करती हो, परंतु मनके चंचल विचारोंसे पूर्णतया अलिप्त हो । पाठक इससे समझें कि वेदकी दृष्टिसे कन्याओंकी शिक्षा कभी होनी चाहिये और विवाहके पूर्व उनके मन कैसे पवित्र रहने चाहिये । (मं० १)

२ सुमतिः—कन्या उत्तम मतिवाली हो, उत्तम बुद्धिवाली हो । जिसके मनपर सुव्यवहार हुए हैं ऐसी पवित्र मति धारण करनेवाली कन्या हो । (मं० १)

३ सुमेधु वेषु जुष्टा वस्तु—उत्तम मनवाले श्रेष्ठ पुरुषोंमें सेवा करने योग्य और सुंदर कन्या हो । समताके विचार मनमें रखनेवाले, विषम भावना मनमें न रखनेवाले जो श्रेष्ठ लोग होते हैं उनमें जाकर विद्याका मनन करनेवाली और अपने शत्रुत्वके कारण मनोहर ऐसी परिशुद्ध विचारवाली कन्या हो । ' श्रेष्ठोंमें जाने योग्य ' (वेषु जुष्टा) इतना कहने मार्गसे कन्याका धार्मिक दृष्टिसे पवित्र बोधित होता है । कन्या ऐसी हो कि जिसका आचरण काया वाचा मनसे कभी बुरा नहीं हुआ है । शुद्ध आचारसे संपन्न हो और साथ साथ मनोरम तथा दर्शनीय भी हो । कन्याएं ऐसी बनें, इस प्रकारकी शिक्षा उनकी मिलनी चाहिये । (मं० १)

इस रीतिसे कन्याके शुद्धाचारके विषयमें वेदका आदेश है । यह हरएक वैदिक धर्मांकी सदा मनमें धारण करने योग्य है । कुमार और कुमारीकाओंकी पवित्रता रक्षकर उनको विवाह संबंधसे जोड़ना वेदको अर्थात् है । इसलिये विवाह के पूर्व कुमार और कुमारीकाओंका इस प्रकारका मेल वेदको अर्थात् नहीं है कि जो अनैतिके मार्गमें उनको ले जानेकी संभावना रख सकता हो । पाठक इससे सब कुछ समझ लें ।

विवाहके पश्चात् ।

विवाह होनेके पश्चात् स्त्रीपुरुषोंका परस्पर बर्ताव कैसा हो इस विषयमें इस सूक्तके आदेश उत्तम उपदेश दिये हैं—
नगरस्य जुष्टा इयं नारी, पत्या भविष्यत्पत्नी,
समिया वस्तु ॥ (मं० ४)

“ ऐश्वर्य को प्राप्त हुई यह स्त्री, पतिसे विरोध न करती हुई, पतिको अत्यंत प्रिय हो ” विवाह होनेके पश्चात् स्त्री अधिक ऐश्वर्य में जाती है, इसलिये यह मंत्र सूचित करता है, कि विशेष माग्य और ऐश्वर्य में पहुँचने के कारण यह स्त्री उन्नत न हो, परन्तु पतिके साथ प्रेमसे रहे और पतिमें कर्मा विरोध न करे । धर्मधर्म आकर पतिका अपमान कभी न करे, परन्तु ऐसा आचरण करे कि जिससे दोनोंका प्रेम दिन प्रतिदिन बढ़जाय । तथा—

सर्वं प्रदाक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः । (मं० ६)

“ जो करना है वह पतिको प्रदाक्षिणा करके कर जो वर तैरों कामना रूप है । ” प्रदाक्षिण करनेका आशय है सम्मान करना आदर प्रदाक्षित करना, उत्कार करना । पतिका उत्कार करते हुए जो करना है करना चाहिये । पत्नी का “ प्रति-काम ” पति ही होता है । अपने मनके अंदर जो (काम) इच्छा होती है उसका जो बाह्य स्वरूप होता है उसको “ प्रति काम ” कहते हैं । अपना रूप होता है और शरीरमें जो दिखाई देता है उसको “ प्रतिरूप ” कहते हैं, लेखकी दूसरी प्रति करने का नाम “ प्रति लेख ” है । इसी प्रकार स्त्रीके मनके अंदर के कामका ‘ प्रति काम ’ पति है । पत्नी अपने पतिको अपना “ प्रतिकाम ” समझ और उसका उत्कार करके दूरएक कर्तव्य करे । तथा—

पत्या ब्रह्मै सौम्यायं ब्रह्मु । (मं० ३)

“ पतिसे इसको शोभा प्राप्त हो । ” स्त्रीको शोभा पति ही है । पतिविरहित स्त्री शोभा रहित होती है । यह भाव मनमें रखकर धर्मपत्नी मनमें समझे कि अपनी संपूर्ण शोभा पतिके कारण ही, है और उस कारण मनसे पतिका सदा उत्कार करे । तथा—

पतिं गत्वा सुभगा विराजतु ॥

पुत्रान् सुवाना महिषी भवाति । (मं० ३)

“ यह स्त्री पतिको प्राप्त करके ऐश्वर्यसे विराजती रहे और उत्तम पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई घरकी रानी बने । ” यदा पतिको प्राप्त करके पतिके साथ रहना, पतिके ऐश्वर्यमें अपने आपको ऐश्वर्यवती समझना, पुत्रोंको उत्पन्न करना और घरकी स्वामिनी बनना स्त्रीका कर्तव्य बताया है । कई शिक्षित स्त्रियां संतान उत्पन्न करनेके अपने कर्तव्यसे परावृत्त होती हैं । यह योग्य नहीं है । स्त्रीको शरीर रचना ही इस कर्तव्यकी सूचना देती है और वही बात इस मंत्र द्वारा बताई है । सुसंतति, सुदृढ संतान उत्पन्न करना विवाहित स्त्रीका कर्तव्य ही है । यह बात ध्यानमें रखकर उत्तम सतति निर्माण करने योग्य अपना शरीरस्वास्थ्य रक्षनेमें स्त्रियां प्रथमसे ही दत्तचित्त हो । जो स्त्रियां पहलेसे अपने स्वास्थ्यका विचार नहीं करती, वे आग-संतानोत्पादि करनेमें असमर्थ हो जाती हैं । इसलिये स्त्रियोंके स्वास्थ्यका विचार प्रारंभसे ही करना योग्य है ।

ऐश्वर्य की नौका ।

‘ पञ्चम मन्त्रमें गृहस्थाश्रमको ऐश्वर्यकी नौका की उपमा दी है । यह उपमा बही बोधप्रद है । देखिये

पूर्णां अनुप-दस्त्वतीं भगव्य नावं आरोह ।

यः प्रतिकाम्यः वरः, तथा रूप प्रतारथ ॥ (मं० ५)

“ सब प्रकारसे परिपूर्ण और कभी न टूटनेवाली ऐश्वर्यकी नौका यह है, उसपर चढ़ और जो तैरा पति है उसको इस नौका के आश्रयसे परतार पर ले जा । ” यह गृहस्थाश्रम रूपी नौका है, जिसपर पति पत्नी बस्तुतः इकट्ठी ही सवार होती हैं; परन्तु स्त्री घरकी सम्राज्ञी होनेके कारण इस स्त्री की ही नौका चलानेवाली इस मंत्रमें कहा है । वह स्त्रीका बड़ा भारी सम्मान वेदने किया है और साथ साथ स्त्रीके हाथमें बड़ा भारी अधिकार भी दिया है । वास्तविक घर गृहिणी ही है, इतना घर घर नहीं है । इसी प्रकार स्त्रीके होनेसे ही गृहस्थाश्रम होता है और स्त्रीके न होनेसे गृहस्थाश्रम नहीं रहता । इसलिए गृहस्थाश्रममें स्त्रीका महत्त्व विशेष ही है । इस हेतुसे इस मंत्रमें स्त्रीके उद्देश्यसे कहा है कि इस गृहस्थाश्रम रूपी नौकापर स्त्री चढ़े और इस नौका को ऐसे ढंगसे चलावे कि यह सब नौका अपने पहुँचनेके स्थानपर सीधी पहुँचे और मार्गमें कोई कष्ट न हो । इसी प्रकार स्त्रीके अधिकार के विषयमें निम्न लिखित मंत्र भाग देखने योग्य है—

१८ (अ. सु. भा. कां० २)

धनपति । धरं आक्रम्य । आभनसं कृणु । (मं० ९)

“ हे गृहस्थाश्रमके संपूर्ण धनके स्वामिनि । अपने पतिको सुलाकर उसको अपने मनके अनुकूल कर । ” यह अधिहार है गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट स्त्रीका । यह स्त्री गृहस्थाश्रम के संपूर्ण ऐश्वर्य का स्वामिनी है और यदि पति हीन मार्गपर चलने लगे, तो उसको सम्मार्गपर लानेका उसका अधिहार ही है । त्रियोंको यह अपना अधिहार जानना चाहिए और इस अधिहारके अन्तर्गतकी योग्यता अपने अंदर लानेका प्रयत्न भी उनको करना चाहिए ।

पुरुषकी स्थान ।

जब स्त्रीको गृहस्थाश्रम में इतना अधिहार प्राप्त हुआ है, तब पुरुषका स्थान गृहस्थाश्रममें कहा है, इसका भी विचार करना यहाँ प्राप्त है, देखिए यह स्थान—

यः प्रतिकाम्यः पतिः नपतु । (मं० ८)

“ कामनाके अनुकूल पति है वह चलावे ” अर्थात् गृहस्थाश्रम का रथ चलावे । स्त्रीको सम्मार्गपर चढावे, गृहस्थाश्रममें यदि कुछ मुटियाँ रहें, तो उनको ठीक करे, गृहव्यवस्थाको दोषयुक्त रहने न दें । यह पुरुष गृहस्थाश्रममें रहता हुआ—

सविता ये न्ना नपतु (मं० ८)

“ यह पति सूर्यके समान स्त्रीको ले आवे । ” यह पति घर में सूर्यके समान है । जिस प्रकार सूर्य अपनी यह मालाका संचालक है, उसी प्रकार यह गृहस्थाश्रमका सूर्यपति संपूर्ण गृहस्थाश्रमका चालक है । यह पत्नीको धाय लेकर संपूर्ण गृहस्थाश्रम को चलावे । यहाँ पाठक स्मरण रखें कि गृहस्थाश्रम का चलाना तो केवल पतिवे नहीं हो सकता और ना ही केवल स्त्री ही सकता है, दोनोंके द्वारा वस्तुतः यह गृहस्थाश्रम चलाया जाना है । इसीलिए इस सूक्तमें स्त्रीको भी कहा है कि वह गृहस्थाश्रम चलावे और पुरुषको भी वैश्याही कहा है । इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि, दोनों मिलकर घरघरों के विचार से गृहस्थाश्रम चलावें । दोनोंका समान अधिहार होनेसे दोनोंको समान आज्ञा द्वारा कहा है । यह देखकर गृहस्थाश्रममें स्त्री पुरुष अपने-अपने अधिहारों को जानकर मिलजुलकर समानतया अपना कार्यका बोझ उठावें और आनंदेश इस संसार यात्रा को पूर्ण करें । तथा—

सोमो हि राजा सुभगां कृणोति । (मं० ३)

“ सोम राजा इस स्त्री को ऐश्वर्य युक्त करता है । ” यह पति घरमें राजाके समान है । पत्नीको महारानी इससे पूर्व कहा भी है । जब पत्नी रानी है, तब पति राजा होनेमें कोई संका नहीं है । यह राजा रानी एक मतसे इस गृहस्थाश्रमका राज्य चलावें । परस्पर में विरोध न होने दें । एक दूसरेके सहायक बनकर उन्नति करते जायें ।

इस दृष्टिको वेदने पतिका स्थान गृहस्थाश्रममें निश्चित किया है । दोनोंको उचित स्थान दिया गया है । इसका विचार करके दोनों अपने स्थानके योग्य व्यवहार करके आदर्श गृहस्थी बनें ।

पतिके लिए धन ।

पत्नीको ओरसे अपना बंधुके घरसे कुछ धन वरको दिया जाता है । देवके रूपमें यह धन बंधुके घरसे वरके पास जाता है, इस विषयमें धर्म बड़ा स्पष्ट है—

इदं गुण्यं हि विसृज्य, न्ययं शोषः, अयो भगः,

पुत्रे स्वा पवित्र्यः अदुः ॥ (मं० ७)

“ यह सुंदर सुवर्ण है, ये मौं और बेल हैं, यह धन है, यह सब पतिको दिया है । ” यहाँ सम्मान के लिए पति धन्यवाद बतुवचन हुआ है । धिवाहके मंगल कार्योंमें पतिका ही विशेष सम्मान होना उचित है । यहाँ स्मरण रहे कि यद्यपि यह दृष्टिको घरसे पतिके घर आनी है, तथापि यह धन कुमार्गसे कमाया नहीं होना चाहिए । इस विषयमें द्वितीय मंत्र देखिए—

सोमशुद्धं, ब्रह्मशुद्धं, अर्घ्यमा संभृतं भगम् ।

भातुर्देवस्य सत्येन पतिवेदनं कृणोमि ॥ (मं० २)

“ सोम्यशुद्धिं, ज्ञानसे और श्रेष्ठ मनोवृत्तिसे प्राप्त और इच्छा किया हुआ धन विधाता ईश्वरकी सत्यनिष्ठासे पतिको प्राप्त होने योग्य करता हूँ । ”

“ सोम, ब्रह्म और अर्घ्यमा ” ये तीन शब्द क्रमशः ‘ सोम्य वृत्ति, विद्या—ज्ञान और श्रेष्ठ मन ’ के बोधक हैं । ‘ अर्घ्य-मन ’ का अर्घ्यमन् बना है, जो श्रेष्ठ मनवालेका योक्तक है । त्रिषका उच्य मन है वह अर्घ्यमा कहलाता है । ब्रह्म शब्द ज्ञान और विद्याका वाचक प्रसिद्ध है, सोम शब्द सोम्यता का केन्द्र होनेमें शंका नहीं है । ये तीन शब्द शांत और श्रेष्ठ विद्यासे सुसंस्कृत मनोवृत्तिके वाचक हैं । इस मनोवृत्तिसे कमाया हुआ, संगृहित किया हुआ और बढाया हुआ धन परमेश्वर विषयक सत्यनिष्ठाके साथ पतिको समर्पित किया जाना चाहिए । अथवा इस प्रकार प्राप्त किया हुआ धन पतिको समर्पित करना चाहिए । हीन वृत्तिसे इच्छा किया हुआ धन पतिको नहीं देना चाहिए । यहां कन्या विचार करे कि जो धन पतिको दहेजके रूपमें दिया जाता है, वह किस रीतिसे कमाया हुआ है । हीन वृत्तिसे कमाया धन पतिके घरमें हीनता उत्पन्न करेगा । इसलिए सावधानीसे और विचारसे दहेजका धन पतिको देना चाहिए । जो दिया जाय वह पवित्र विचारसे कमाया हुआ हो और पवित्र विचार के साथ दिया जाय ।

इस प्रकार इस विवाहके मङ्गल कार्यका विचार इस सूक्तमें दर्शाया है । इस सूक्तका विचार विवाह विषयक अन्य सूक्तोंके साथ पाठक करेंगे, तो उनको बहुत बोध प्राप्त हो सकता है और ऐसे तुलनात्मक विचारसे वैदिक विवाहकी पद्धति भी ज्ञात हो सकती है ।

यहां शत्रु अनुवाक और
द्वितीय काण्ड समाप्त ।





अथर्ववेद द्वितीय काण्ड का ।

थोडासा मनन ।

गणविभाग ।

अथर्ववेदके इस द्वितीय काण्डमें ३६ सूक्त, ६ अनुवाक और २०७ मंत्र हैं । प्रथम काण्डमें ३५ सूक्त, ६ अनुवाक और १५३ मंत्र थे । अर्थात् प्रथम काण्डकी अपेक्षा इस द्वितीय काण्डमें ५४ मंत्र अधिक हैं । इसमें गणोंके विचारसे सूक्तोंके ऐसे विभाग होते हैं—

१ शांतिगण— इस द्वितीय काण्डमें शांतिगणके निम्न लिखित सूक्त हैं,— २, ५-७, ११, १४, ये छः सूक्त शांति गणके हैं । इनमें ७ वॉ सूक्त भार्गवी शांति, ११ वॉ सूक्त बार्हस्पत्या महाशांति और १४ वॉ सूक्त बृहस्पति के प्रकरण बता रहे हैं । अन्य सूक्त सामान्यतया “ महाशांति ” का विषय बताते हैं ।

२ अमनाशन गण— सूक्त ८—१० ये तीन सूक्त इस गणके हैं ।

३ आयुष्यगण— सूक्त १५, १७, २८, ३३ ये सूक्त आयुष्य गणके हैं । इनमें ३३ वॉ सूक्त आयुष्यगणका होते हुए भी “ पुरुषमेध ” प्रकरणमें समाविष्ट है । पाठक यहां इस सूक्तका विषय देखकर पुरुषमेधके वास्तविक स्वरूपका भी विचार कर सकते हैं । ३३ वॉ सूक्त “ यमनाशन ” अर्थात् रोगको दूर करनेका विषय बताता है । मनुष्यके संपूर्ण शरीरके अवयवों से सब प्रकारके रोग दूर करनेका विषय इस सूक्तमें है और इस कारण यह सूक्त “ पुरुषमेध ” प्रकरणके अन्दर आया है । जो लोग समझते हैं कि पुरुषमेध, नरमेध, आदि मेंचोंमें मनुष्यादि प्राणियोंका वध होता है, वे इस सूक्तके विचारसे जान सकते हैं कि मेधमें मनुष्यादि प्राणियोंके बन्की आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत पुरुषमेध प्रकरणमें मनुष्यके संपूर्ण रोग दूर करके उसको उत्तम आरोग्य देनेका विचार प्रमुख स्थान रखता है । यदि पाठक यह बात इस सूक्तके विचारसे जानेंगे तो उनको न केवल पुरुषमेध प्रकरण प्रत्युत गोमेध आदि प्रकरण भी इसी प्रकार गौ आदिकोंके स्वास्थ्य साधनके प्रकरण होनेके विषयमें सन्देह नहीं रहेगा । पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करें ।

४ अपराजित गण— २७ वॉ सूक्त अपराजित गणका है ।

पाठक इन गणोंके इन सूक्तोंका विचार प्रथम काण्डके इन गणोंके सूक्तोंके साथ करें और एक विषयके सूक्तोंका साथ साथ विचार करके अधिकसे अधिक बाध प्राप्त करें ।

विषय—विभाग ।

द्वितीय काण्डमें प्रथम काण्डके समान ही बड़े महत्त्वपूर्ण विषय हैं । इनके विभाग निम्न लिखित प्रकार हैं—

१ अघ्यात्मविद्या— इस द्वितीय काण्डमें अघ्यात्मविद्याके साथ संबंध रखनेवाले आठ सूक्त हैं । प्रथम सूक्तमें “ गुह्य अघ्यात्मविद्या ” का अत्यंत उग्रम वर्णन है । द्वितीय काण्डके प्रारंभमें ही यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण सूक्त आया है । पहले पढ़ते मन अघ्यात्मरसमें मग्न होता है और इसके मननसे जो आनंद होता है, उसका वर्णन शब्दों द्वारा नहीं हो सकता । यदि पाठक इसको कंठ करके प्रतिदिन ईश्वर उपासनाके समय इस का मननपूर्वक पाठ करेंगे, तो पाठक भी इससे वैसाही आनंद प्राप्त कर सकते हैं । द्वितीय सूक्तमें “ एक पूजनीय ईश्वर ” का गुणगान है । यह विषय भी आत्माके साथ ही सम्बन्ध रखनेवाला है । १६ वॉ सूक्तमें “ विश्वम्मात्री मांजि ” करनेकी सूचना है । इस अंकसे ही आध्यात्मिक उन्नति होती है । इसके अतिरिक्त क्रमशः निम्नलिखित सूक्त इस अघ्यात्मप्रकरण के साथ सम्बन्ध रखते हैं ।

सूक्त	विषय
११ ऋ सूक्त ...	आत्माके गुण,
१२ " ...	मन का बल बढ़ाना,
१७, १८ " ...	आत्मसंरक्षण का बल,
३४ " ...	सुखिका सीधा मार्ग,
१५ " ...	निर्भय जीवन,
३५ " ...	यज्ञमें आत्मसमर्पण।

ये सात सूक्त और पूर्वोक्त तीन सूक्त मिलकर दस सूक्त आचार्य आत्म विषयक इस द्वितीय काण्ड में आये हैं। प्रथम काण्डकी अपेक्षा यह विषय इस काण्डमें सुस्पष्टतया विशेष प्रतिपादन किया है। पाठक इसलिये इन दस सूक्तोंका साथ साथ मनन करे और ठकित बोध प्राप्त करे। अथर्ववेदका यही मुख्य विषय है, इसलिये पाठक इस विषयकी ओर सदाश्रीमताये न देखे।

सू० १२ "मानसिक बल बढ़ाना," और सू० १५ "निर्भय जीवन" ये दो सूक्त आचार्य आत्म विषयके अतिरिक्त स्वतंत्र महत्त्व रखते हैं और आरोग्य विषयके साथ भी संबंध रखते हैं, तथापि इनका विशेष संबंध अथर्वतत्त्विक विषयके साथ होनेसे वे यहाँ दिये हैं।

२ आरोग्य और स्वास्थ्य— द्वितीय काण्डका तीसरा सूक्त "आरोग्य" विषय का प्रतिपादन करता है। इसके साथ—

सूक्त ४ ...	अज्ञिक मणि से आरोग्य,
" ८ ...	क्षेत्रियरोग दूर करना,
" ९ ...	सन्धिवात " "
" २५ ...	पृथिवीरोग आरोग्य,
" ३३ ...	यज्ञ नशान,
" ३१, ३२ ...	रोगोत्पादक किमियोंका दूर करना।

आरोग्य और स्वास्थ्य से संबंध रखनेवाले इतने सूक्त इस द्वितीय काण्डमें हैं। पाठक इन सूक्तोंका इच्छा विचार करे, तो उनके आरोग्य और स्वास्थ्यके साथ साथ वेदकी भैरव्य विद्या का भी पता लग सकता है। वसुधैव कुटुम्बकम् "अज्ञिक मणि" धारणसे आरोग्य प्राप्त होनेका अद्भुत उपाय कहा है। यह अथर्व वेदकी विशेष विद्या है। जो वेद इस विषयकी खोज करना चाहें वे अथर्ववेदमें इसी प्रकारके कई विषय देखेंगे। कई लोग "मणि" शब्दका अर्थ बदल कर इन सूक्तोंके अर्थ अर्थ करना चाहते हैं। यह प्रयत्न उनके अज्ञानका प्रकाशक है। वेदके विषयका ऐसा विपरीत करना किशोरी भी ठकित नहीं है। "मणि धारण विधि" यह शास्त्रीय उपाय है इसलिये पाठक इसकी खोज प्रेमके साथ करे। विशेष कर सुविज्ञ वैद्य यदि इसकी खोज करेंगे तो चिकित्साका एक नया मार्ग निकाल सकते हैं।

३ दीर्घायुष्म मासि— पूर्वोक्त विषयके साथ ही यह विषय संबंधित है। चिकित्साका अथवा वैद्यशास्त्रका नाम "आयुर्वेद" है। इसमें माँ वैद्य शास्त्र का संबंध "दीर्घ आयुष्म" के साथ कितना है यह बात पाठक जान सकते हैं। इस विषयके सूक्त इस काण्डमें निम्न लिखित हैं—

सूक्त १८ ...	दीर्घायुष्म,
" २९ ...	दीर्घायु, पुष्टि और सुप्रजा।

ये दो सूक्त इस विषयमें इच्छा रखने योग्य हैं।

४ पुष्टि— पूर्वोक्त २९ वें सूक्तमें पुष्टिका संबंध है । इस पुष्टिके साथ २९ वों " गोरघे " का वर्णन करनेवाला सूक्त बड़ा संबंध रखता है । गोरघे ही मनुष्योंकी पुष्टि होती है ।

५ विवाह— पूर्वोक्त २० वें सूक्तमें सुप्रजाका वर्णन है, विवाहसे ही सुप्रजा निर्माण होना संभव है । इस विवाह विषयका उपदेश देनेवाले तीन सूक्त इस काण्डमें हैं—

सूक्त	३०	...	पति और पत्नीका मेल,
"	३६	...	विवाहका मंगल कार्य,
"	३३	...	प्रथम वस्त्र परिधान ।

इनमें सू० १३ " प्रथम वस्त्र परिधान " का वर्णन करनेवाला सूक्त विवाहित स्त्रियों पुरुषोंका कर्तव्य बताता है । इसलिये इन तीन सूक्तोंका विचार इष्टता करना योग्य है ।

६ वर्णवर्म— वर्णवर्म का वर्णन करनेवाले निम्न लिखित दो सूक्त इस काण्डमें हैं—

सूक्त	६	...	ब्राह्मण धर्मका वर्णन
"	५	...	क्षत्रिय धर्मका वर्णन,

इसके साथ संबंध रखनेवाले निम्नलिखित चार सूक्त हैं, इस कारण इनका विचार इच्छा ही होना योग्य है—

सूक्त	२७	...	विजय की प्राप्ति,
"	२४	...	बाहुओंकी अवफलता,
"	१४	...	विपत्तियोंको हटाना,
"	१७	...	दुर्गतिसे बचना ।

ये चार सूक्त क्षत्रिय धर्मके साथ संबंध रखनेवाले हैं और ब्राह्मण धर्मसे संबंध रखनेवाले सूक्त निम्नलिखित छः हैं—

सूक्त	७	...	शापको लौटा देना
"	१९-२३	...	शुद्धि की विधि

इस प्रकार इन सूक्तोंका विषयानुसार विभाग है । जो पाठक वेदका अध्ययन मननपूर्वक करनेके इच्छुक हैं, वे इस प्रकार सूक्तोंका विषयानुरूप विभाग देखकर एक एक विषयके सूक्त साथ साथ मनन करते जायेंगे, तो वेदके मर्मको अधिक शीघ्र जाननेमें समर्थ होंगे ।

विशेष द्रष्टव्य ।

निर्मय जीवन ।

विषयके महत्त्व की दृष्टिसे इस द्वितीय काण्डमें कई ऐसे विषय हैं, कि जिनकी ओर पाठकोंका ध्यान विशेष रीतिसे खींचना अत्यंत आवश्यक है । इस प्रकारका विषय सूक्त १५ में " निर्मय जीवन " नामसे ज्ञाया है, वह पाठक अवश्य वारंवार मनन पूर्वक देखें ।

मयही मृत्यु है, जिसके मनमें मय है, जो सदा बरता रहता है, सब वस्तुके मनुष्यको आनंद कदापि प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् मय और आनंद कदापि इच्छे नहीं रह सकते । मनुष्य तो आनंद प्राप्तिके लिए यत्न करनेवाला प्राणी है, इसलिए उसके अपने अंदरकी मयकी भावना दूर करना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा वह आनंद का भागी न कदापि नहीं हो सकता । इस पंद्रहवें सूक्तमें कहा है कि " निर्मय होनेके कारण सूर्य क्षीण नहीं होता " इसका अर्थ यह है कि जो कोई निर्मय होकर अपना कर्तव्य पालन करेगा वह भी कदापि क्षीण, अशक्त अथवा दुर्बल नहीं होगा इतना ही नहीं, प्रत्युत बढ़ता जायगा । शरीरको पुष्टि, मन की बलिष्ठता, आत्माकी शक्ति सब प्रकारसे निर्मयतापर अवलंबित है । निर्मयता के बिना मनुष्यकी उन्नति किसी रीतिसे भी नहीं हो सकती । चार वर्णोंके कर्तव्य, चार आश्रमोंके अथवा अन्य जो भी कर्तव्य मनुष्यको करने होते हैं वे ठीक प्रकार करनेके लिए सबसे प्रथम निर्मयता को आवश्यकता है । पाठक इस गुणका इतना महत्त्व जानकर इस गुणको अपने अंदर बढ़ावें और अपनी उन्नतिको साधन करें ।

जो पाठक निर्भेदता का संबंध मानवी उन्नतिके साथ देखते अथवा अनुभव कर सकते हैं, वेही इस सूक्त का गंभीर संदेश जान सकते हैं ।

शुद्धि करण ।

इसी प्रकार ' शुद्धिकरण विधि ' का अंशतः महत्त्व है । सूक्त १९ से २३ तक के पांच सूक्त इस एकही विषयका प्रकाश कर रहे हैं । इनमें उपदेश देनेका ढंगही और है, अन्मोक्ष अर्लंकार भी अर्पूर्व श्लोक यहां पाठक देख सकते हैं । वैदिक उपदेश में ' अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और आप ' ये पांच देवताएं कृतना महत्त्व रखती हैं, इसकी साक्षी इन सूक्तोंके मननसे मिल सकते हैं । वेदका उपदेश जिस समय होता है उस समय सूर्य, चन्द्र आदि देव जड़ नहीं रहते, वे जांबित और जामत रूपमें उपदेशका अंगत देते हैं ।

बात देवताओंके अंश बनार अपने शरीरमें वहां और वैसे हैं और उनका वाश जगत् से तथा अपनी उन्नतिसे क्या संबंध है, इस बातका ज्ञान जिनको हुआ है, वेही इन पांच सूक्तोंको ठीक प्रकार समझ सकते हैं । अन्प लोग उतना लाभ प्राप्त नहीं कर सकते । क्योंकि वेदका शावाभूत पान करनेके पूर्व उक्त बात ठीक प्रकार समझमें आना अंशतः आवश्यक है । इन सूक्तोंके स्पष्टीकरणमें इस अर्पूर्व वैदिक पद्धतिको थोडासा आविष्कार किया है । जो पाठक मननपूर्वक इन सूक्तोंका अभ्यास करेंगे वे इस पद्धतिको समझ सकते हैं ।

मुक्तिका सीधा मार्ग ।

द्वितीय काण्डके ३४ वें सूक्तमें इस मुक्तिके संधि और सरल मार्गका उपदेश हुआ है । मुक्तिका मार्ग बतानेवाले ग्रंथ आर्य शास्त्रों में अनंत हैं, परंतु जो बात अन्व संघों में वहां भी नहीं कही है, वह अर्पूर्व बात इस सूक्तमें कही है और इस दृष्टिसे इस सूक्त का महत्त्व अंशतः है ।

' दीन और दुःखी जनोंकी सेवा करके उनके कष्टोंको दूर करना ' यह एक मात्र सच्चा मार्ग है जो सीधा मनुष्यको मुक्ति प्राप्त तक ले जाता है । परमेश्वर जैसा ज्ञानी शूर और धनी मनुष्यों के अंतःकरणों में रहता है, उसी प्रकार दीन, दुःखी और अनाथ जनोंके हृदयों में भी रहता है । परंतु पूर्वोक्त तीनों लोग समर्थ होनेके कारण वे दूसरोंसे सेवा अपने अधिकारसे ही ले सकते हैं । परंतु जो दीन और अनाथ रहते हैं, उनके कष्ट कौन दूर कर सकता है ? वे तो दुःखमें सड़ते ही रहते हैं । दीन जनोंकी जो अपने परिवारमें देखता है, नहीं नहीं, जो दीन जनोंकी अपना ही सपसता है, और अपना सुख देखनेके समान भावसे जो दीनोंको सुखी करनेका विचार करता है और तद्दुःखल आचरण करता है वही मुक्तिके सीधे मार्ग पर है । जो दीन और दुःखी मनुष्योंको अपना कहता है, वही महात्मा है और परमात्मा वहां रहता है । किसी दीन मनुष्यको दुःखी देखकर जो सुखका अनुभव कर-नहीं सकता, परंतु जिसका आत्मा तडकड़ता रहता है वही मुक्तिका अधिकारी है । निर्गन्धित, दीन और दुःखी मनुष्योंकी रक्षा करनेके लिए ही श्रेष्ठ पुष्टयोंने आत्मार्पण किया और उसी कारण वे पूज्य बने हैं ।

इस प्रकार स्पष्ट शब्दोंद्वारा मुक्तिका सीधा मार्ग बतानेका वेद का ही अधिकार है । पाठक वहां वेदकी अर्पूर्वता देखें और इस सीधे मार्ग पर चलते हुए मुक्तिका परम आनंद प्राप्त करें ।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।



अथर्ववेद का सुबोध भाष्य ।

द्वितीय काण्ड की विषय सूची ।

सबका पिता	२	ब्राह्म उपासना का फल	२१
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य		अपने अंदरकी जीवनशक्ति	"
द्वितीय काण्ड	३	प्राण का प्राण	२२
ऋषि-देवता-छन्द-सूची	"	ऐसा क्यों कहा है ?	"
ऋषिक्रमसे सूक्त	६	विरोधाळङ्कार	२३
देवताक्रमसे सूक्त	"	व्यवहारकी बात	"
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य		जड़चेतन का सन्धि-प्राण	"
द्वितीय काण्ड		स्थूलसे सूक्ष्मका ज्ञान	२४
१ गृह्य-अध्यात्म-विद्या	७	प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्ष	"
गृहविद्या	८	प्राणों का भ्रान्त और जाना	२५
गृहविद्याका अधिकारी	९	प्राणों का पति	"
पूर्व तैयारी (प्रथम अवस्था)	"	महाण्ड देह	२६
द्वितीय अवस्था	१०	सारांश—	"
तृतीय अवस्था	"	३ स्वास्थ्यसूक्त	२७
पूर्वावस्था	११	औषधि	२८
सूत्रात्मा	१२	शस्त्रों का उपयोग	"
अमृतका पाम	"	४ जङ्गल मणि	२९
गुदा	"	सण और जङ्गल	३०
चारभाग	१३	जङ्गल मणि के लाभ	३१
एकरूप	"	मणिचारण	३२
अनुभवका स्वरूप	१४	मणिपर संस्कार	३३
जगत्का ताना और बाना	१५	खोजकी दिशा—	३४
एकके अनेक नाम	"	जङ्गल मणिसे दीर्घायुष्य	"
वह एकही है	"	बड़ा रण	"
देवोंका अमृतपान	१६	बळवर्धन	३५
२ एक पूजनीय ईश्वर	१७	बळे और विजय	"
गंधर्व और अप्सरा	१८	दूषण	"
महान् गन्धर्व	१९	अग्नि	३६
ब्रह्मकी ब्राह्म उपासना	२०	५ क्षत्रिय का धर्म	३७
नामस्मरण	२१	क्षत्रिय के गुण	३८

क्षत्रिय के कर्तव्य—	३९	मनको धीरज देना	६१
राज्यशासन	४०	११ आत्माके गुण	६२
प्रजासे सम्मान, भोग	,,	परीरमें आत्माका कार्य	६३
सोम और सद्य	,,	श्रेयः प्राप्ति, उच्चतिका मार्ग	६४
जीवन संप्राप्त	४१	१२ मनका बल बढ़ाना	६५
दि ब्राह्मणधर्म का आदेश	४२	मानस शक्तिका विकास	६६
भूमिका स्वरूप	४३	त्यागभाव, शुभवचन, ज्ञान	६७
दीर्घायुष्य, ज्ञान, सत्य	४४	जीवितवाणी, शाखाछेदन	,,
वेजका वर्धन	,,	नसंगाख और मझाख	६८
तेजका प्रकार, ऐश्वर्य	,,	सप्तप्राण	,,
स्वपक्षियों की उच्चति	,,	भाठ ग्रंथी, संपत्तिका मार्ग	६९
अपने घरमें जागना, उखाड़ पुरुषार्थ	४५	मरनेकी विधा,	,,
निर्मन्नाह, वित्तवृत्तियोंका सुधार	,,	निर्मन्थकप्रियकुमार	७०
अन्योक्तिमलंकार—	,,	आत्मवद्राव, एकसे दुःखसे दूसरा दुःखी	,,
भरनिर्घोसे भूमि	४६	ज्ञानके विरोधी	,,
७ शापको लौटा देना	४७	आनुवंशिक संस्कार	७१
शापका स्वरूप	४८	ईश्वरार्पण	७२
दूषाका उपयोग	,,	१३ प्रथम बख्र परिधान	७३
मनोविकारोंसे दानि	,,	पुत्रके लिये बख्र	७४
शापको वापस करना	४९	घरमें बख्र बुननेका प्रयोजन	७५
योग मित्र	५०	स्वस्ति, विनाशसे बचाव	,,
हुष्ट हृदय	,,	घन, पुष्टि, दीर्घायु	,,
८ क्षेत्रिय रोग दूर करना	५१	सुख शरीर	७६
क्षेत्रिय रोग, दो औषधियाँ	५२	१४ विपत्तियोंको हटानेका उपाय	७७
९ सन्धिघातको दूर करना	५३	विपत्तियोंका स्वरूप	७८
संधिघात	५४	तीनभेद, आत्मशुद्धि और शूद्रशुद्धि	७९
दृष्टवृक्ष	,,	नीचतामें विपत्तिका उगम	८०
उत्तम वैश	५५	राजा का कर्तव्य, जीवनशुद्ध	,,
प्रवीणताकी प्राप्ति	,,	१५ निर्मम्य जीवन	८१
१० दुर्गातिसे बचनेका उपाय	५६	निर्मम्यतासे अमरण	,,
दुर्गातिका स्वरूप	५७	मझ-क्षम,	,,
एक मात्र उपाय, शानका फल	५८	सत्य और अनृत मूल और भविष्य	८२
उच्चतिका मार्ग	६०	१६ विश्वमरुकी भक्ति	८३
मलंकारकी भाषा—	,,	पैश्वानर,	,,
स्वकीय मयलन	,,	एक उपाय देवों द्वारा रक्षा	८४
प्रार्थनाका बल	६१	१७, १८ आत्मसंरक्षण का बल	८५-८६

बलकी गणना	८५	२९ दीर्घायु, पुष्टि और सुप्रज्ञा	११०
स्वाहा विधि	८६	रस और बल	११२
२२-२३ शुद्धिकी विधि	८७	शतायु	"
पांच देव, पंचायतन	८९	शुद्ध, बल, धन, सुसन्तान और ज	
पांच देवोंकी ' पांच शक्तियां '	"	हृदयकी तृप्ति	११४
मनुष्यकी शुद्धि, पंचायतन		स्वधा	११५
शुद्धिकी रीति	९१	३० पति और पत्नीका मेल	११ ६
द्वेष करना	९२	शक्तिनी देव	११७
२४ डाकुओंकी असफलता	९३	विवाहका समय	"
दुष्ट लोग	९४	निष्कपट बर्ताव	११८
२५ पृश्निपर्णी	"	आदर्श पतिपत्नी,	"
रक्त दोष	९५	भ्रमणका स्थान	११९
रोगका परिणाम, उत्पत्तिस्थान बचावका उपाय	९६	स्त्रीके साथ बर्ताव	"
२६ गोरस	९८	३१ रोगोत्पादक क्रिमि	१२०
पशुपाठना	९९	क्रिमियोंकी उत्पत्ति	१२१
भ्रमण और वारस आना	"	क्रिमियोंको दूर करनेका उपाय	"
दूध और पोषक रस	१००	३२ क्रिमिनाशन	१२२
२७ विजय—प्राप्ति	१०१	सूर्य किरणका प्रभाव	१२३
विजय के क्षेत्र, वादी और प्रतिवादी	१०२	क्रिमियों के लक्षण	"
युद्धमें विजय	१०३	रोगबीजनाश की विद्या, विषस्थान	"
पाटा और घी	"	३३ यक्ष्मनाशन	१२४
शक्ति के साथ बकनृत्व	१०४	कश्यप—विबर्हण	१२५
अभिदासन का नियम	"	३४ मुक्तिका सीधा मार्ग	"
जलचिकित्सक	"	प्राणका आयाम	१२६
२८ दीर्घायुष्य प्राप्ति	१०५	पशुपति रुद्र	१२७
दीर्घ आयुष्य की मर्यादा साधन,	१०६	बीजराक्ति	१२८
कार्यक्षेत्र, वध	१०७	योगीका शुद्ध	"
ईश्वरार्पण	१०८	मुक्तिका मार्ग	१२९
देवचरित्रभ्रमण	"	विश्वरूपमें एकरूपता	"
पारले बचाव, भोग और पराक्रम	१०९	पशु	१३१
देवोंकी सहायता	"		

३५ यज्ञमें आत्मसमर्पण	१३१	ऐश्वर्यही नौका	१३०
अयाजकोंकी विन्दा	१३२	दुदपका स्थान	१३८
याजकोंकी प्रशंसा	१३३	पतिने लिये धन	"
ऋषियोंकी प्रशंसा	"	अथर्ववेद द्वितीय काण्डका थोडासा मन्तन	१४१
विश्वकर्ता की पूजा	"	गणविभाग	"
३६ विवाह का मंगलकार्य	१३४	विशेष दृष्टय	१४३
वरही योग्यता	१३५	निर्मय बीजव	"
वधूही योग्यता	१३६	शुद्धिकाम	१४४
विवाहके पश्चात्	"	शुद्धि साधा मार्ग	"

अथर्ववेदका
द्वितीय काण्ड समाप्त



अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य

तृतीयं काण्डम्

अपने राष्ट्रका विजय !

*

* *

समहमेपां राष्ट्रं स्वामि समोजौ वीर्यैः षडम् ।
वृथासि शत्रूणां बाह्वननेन हविषाहम् ॥ २ ॥
नीचैः पंचन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मध्वानं पृतन्यान् ।
क्षिणासि ब्रह्मणामित्रानुर्भयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥
एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्षयामि ।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेष्टुषां चित्तं विसेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥

अधर्व० का० ३।१९

“ मैं इन अपने लोगोंके राष्ट्रको बल, वीर्य और प्रभावसे युक्त करता हूँ, तथा मैं शत्रुओंके बाहुओंको इस आह्वानके साथ काटता हूँ ॥ २ ॥

हमारे शत्रु नीचे गिर जाय, जो हमारे ज्ञानियों और धनिकोंपर सेनासे हमला चढाते हैं ये नीचे गिर जाय ॥ ३ ॥

मैं इनके आयुधोंको तीक्ष्ण बनाता हूँ, मैं इनका राष्ट्र उत्तम वीरतासे युक्त कराके वढाता हूँ, इनका क्षत्रतेज अजर और विजयों हं।, इनके चित्तको सब देव सचेत करें ॥ ५ ॥ ”



अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

तृतीय काण्ड ।

इस तृतीय काण्डका प्रारंभ 'अग्नि' शब्दसे हुआ है। यह अग्नि देवता प्रकाशकी देवता है। अंधेरेका नाश करना और प्रकाशको फैलाना इस देवताका कार्य है। प्रकाश मनुष्यका सहायक और मित्र है और अंधेरा मनुष्यका घातक और शत्रु है। प्रकाशमें मनुष्य बढ़ता है और अंधेरेमें घटता है। इस लिये प्रकाशको देवताका महत्त्व अधिक है और इसलिये इसका नाम मंगल-कारक समझा जाता है। ऐसे मंगल वाचक अग्नि शब्दसे इस काण्डका प्रारंभ हुआ है।

त्रिस प्रकार प्रथम कांडमें चार मंत्रवाले सूक्त और द्वितीय काण्डमें पांच मंत्रवाले सूक्त अधिक थे, इसी प्रकार इस तृतीय काण्डमें छः मंत्रवाले सूक्त विशेष हैं, देखिये—

६ मंत्रवाले	१३ सूक्त हैं,	इनकी मंत्रसंख्या ७८ है,
७ मंत्रवाले	६ सूक्त हैं,	इनकी मंत्रसंख्या ४२ है,
८ मंत्रवाले	६ सूक्त हैं,	इनकी मंत्रसंख्या ४८ है,
९ मंत्रवाले	२ सूक्त हैं,	इनकी मंत्रसंख्या १८ है,
१० मंत्रवाले	२ सूक्त हैं,	इनकी मंत्रसंख्या २० है,
११ मंत्रवाला	१ सूक्त है,	इसकी मंत्रसंख्या ११ है,
१३ मंत्रवाला	१ सूक्त है,	इसकी मंत्रसंख्या १३ है।

कुल सूक्तसंख्या ३३ कुल मंत्रसंख्या ३३०
प्रथम, द्वितीय और तृतीय इन तीन काण्डोंकी तुलना मंत्रसंख्याकी दृष्टिसे अब देखिये—

काण्ड	प्रपाठक	अनुवाक	सूक्त	काण्डप्रकृति	मंत्रसंख्या
१	२	६	३५	सूक्तोंमें ४ मंत्र	१५३
२	२	६	३६	सूक्तोंमें ५ मंत्र	२०७
३	२	६	३१	सूक्तोंमें ६ मंत्र	२३०

सूक्तोंमें मंत्रोंकी जो संख्या होती है वह उसकी प्रकृति होती है, जैसा प्रथम काण्डके सूक्तोंकी प्रकृति 'मंत्र चार' है अर्थात् इस काण्डके सूक्तोंमें चार मंत्रवाले सूक्त अधिक हैं और जो अधिक मंत्रवाले सूक्त हैं वे भी कई सूक्तोंमें चार मंत्रवाले बनाये जा सकते हैं, इसी प्रकार द्वितीय कांडकी प्रकृति पांच मंत्रकी है और तृतीय काण्डकी छः मंत्रकी है, इस विषयमें अथर्व सर्वाधिकमनीषा कथन यह है—

घेनस्तादिति प्रभृतिराकाण्डपरिसमाप्तेः

पूर्वकाण्डस्य सप्तमं चतुर्ध्वं प्रकृतिरित्येवमुत्तरोत्तरं काण्डेषु षष्ठं यावदेकैका तावत्सूक्तेष्वगिति विज्ञानीयात् । (अथर्व० बृ० सर्वांतु. १।१।११)

अग्निर्नः इति ... षडृचं प्रकृतिरन्या विकृतिरिति विज्ञानीयात् । (अथर्व० बृ० सर्वांतु. २।१।१)

' पहिले काण्डकी चार ऋचाओंकी प्रकृति, द्वितीय काण्डकी पांच ऋचाओंकी प्रकृति, इस प्रकार छठे काण्डतक एक एक ऋचा सूक्तमें बढ़ती है। तृतीय काण्डकी छः ऋचाओंकी प्रकृति है, अन्य विहृति है। '

यद्यपि प्रथम, द्वितीय और तृतीय काण्डकी प्रकृति क्रमशः चार, पांच और छः ऋचाओंकी है, तथापि इन काण्डोंमें कई सूक्त ऐसे हैं कि जो इस प्रकृतिसे अधिक मंत्रसंख्यावाले हैं, इसको अथर्व-बृहत्सर्वानुक्रमनिकारने विहृति नाम दिया है। विहृतिका अर्थ प्रकृतिमें कुछ विशेषता (विशेष कृति) है। यह विशेषता कई प्रकारकी होती है और विशेष रीतिसे मंत्रोंका निरीक्षण करनेसे इसका पता भी लग सकता है, जैसा द्वितीय काण्डके दशम सूक्तको देखिये। द्वितीय काण्डकी प्रकृति पांच मंत्रोंके सूक्तोंकी है, परंतु इस दशम सूक्तमें आठ मंत्र हैं,

अर्थात् यह विकृति है । यह विकृति इस कारण हुई है कि 'यवाहं स्वा ०-० स्ताम् ।' यह मंत्रभाग इस सूक्तमें चारवार आगया है । यदि यह चारवार आया हुआ मंत्रभाग अलग किया जाय और एक मंत्रके साथ ही रखा जाय और वेग मंत्रभागके दो दो चरणोंके मंत्र माने जाय तो केवल पांच मंत्रोंका ही यह सूक्त हो सकता है । इसी प्रकार कई अन्य

रीतियाँ हैं कि जो अन्य सूक्तोंको लग सकती हैं और विकृतियों प्रवृत्ति बनाई जा सकती है । इससे पाठक जान सकते हैं कि यह विकृति भी बुद्धिपूर्वक ही हुई है और इसके होनेसे सूक्तकी प्रकृतिमें कोई दोष नहीं आता है । इस प्रकार इस काण्डकी प्रकृतिका विचार करनेके पश्चात् अब हम तृतीय काण्डके सूक्तोंके क्रमशः ऋषि, देवता और छन्द देखते हैं—

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
प्रथमोऽनुवाकः । प्रथमः प्रपाठकः ।				
१	६	अथर्वी	सेनामोहनं, बहुदैवत्यं	त्रिष्टुप्; २ विराड्गर्मा भूरिक्; ३, ६ अनुष्टुप् ५ विराट्पुरवणिग् ।
२	६	अथर्वी	बहुदैवत्यं	त्रिष्टुप्; २-४ अनुष्टुप् ।
३	६	अथर्वी	अग्निः, नाभादेवताः	त्रिष्टुप्; ३ च. भूरिक् पंक्ति, ५, ६ अनुष्टुप् ।
४	७	अथर्वी	इन्द्रः	त्रिष्टुप्; १ जगती; ४, ५ भूरिक्
५	८	अथर्वी	सोमः	अनुष्टुप्; १ पुरोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप्, ८ विराडुरोवृहती ।
द्वितीयोऽनुवाकः ।				
६	८	जगद् बीजं पुरयः	वानस्पत्याभर-देवत्यं	अनुष्टुप् ।
७	७	मृगु-अंगिराः	यक्ष्मनाशनं बहुदेवता	अनुष्टुप्; ६ भूरिक् ।
८	६	अथर्वी	मित्रा, विश्वेदेवाः	त्रिष्टुप्; २, ६ जगती; ४ च. विराड्वृहतीगर्मा, ५ अनुष्टुप् ।
९	६	वामदेवः	यावापृथिवी, विश्वेदेवाः	अनुष्टुप्; ४ च. निचृद् वृहती; ६ भूरिक् ।
१०	१३	अथर्वी	अष्टका	अनुष्टुप्; ४, ६, १२ त्रिष्टुप्; ७ त्र्य- ब. विराट्गर्मातिजगती ।
तृतीयोऽनुवाकः ।				
११	८	प्रज्ञा-मृगु-अंगिराः	दन्द्रः, अग्निः, आनुष्यं, यक्ष्मनाशनं	त्रिष्टुप्; ४ शक्वरीगर्मा जगती ८ त्र्य. प. वृहतीगर्मा जगती; ५, ६ अनुष्टुप्; ७ वणिगम्ब- हतीगर्मा पथ्यापंक्तिः ।
१२	९	प्रज्ञा	वास्तोष्पतिः, शाला	त्रिष्टुप्; ३ वृहती; ६ शक्वरी गर्मा जगती; ७ आर्षोऽनुष्टुप्; ८ भूरिक्; ९ अनुष्टुप्

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१३	७	सुगुः	वरुणः, सिन्धुः	अनुष्टुप्; १ निचृत्; ५ विराट्-जगती; ६ निचृदनुष्टुप्
१४	६	ऋद्धा	नारादेवता: गोष्ठदेवता	अनुष्टुप्; ६ आर्षोत्रिष्टुप्
१५	८	अथर्वा (पथ्यकामः)	विश्वेदेवा: इन्द्राग्नी	त्रिष्टुप्; १ भूरिक्; ४ त्र्य. ष. वृहतीगर्भा विरान्त्यष्टि; ५ विराट्जगती; ७ अनुष्टुप्; ८ निचृत् ।
चतुर्थोऽनुवाकः । द्वितीयः प्रपाठकः ।				
१६	७	अथर्वा	वृहस्पतिः बहुदेवःस्यं	त्रिष्टुप्; १ आर्षोजगती; ४ भूरिक्पंक्तिः ।
१७	९	विश्वामित्रः	सीता	अनुष्टुप् : १ आर्षो गायत्री; २, ५, ९ त्रिष्टुभः; ३ पथ्यापंक्ति; ७ विराट्पुराणिकं ८ निचृत् ।
१८	६	अथर्वा	वनस्पतिः	अनुष्टुप्; ४ अनुष्टुगर्भा चतु० त्रिष्टुभः; ६ उष्णिगर्भा पथ्या पंक्तिः ।
१९	८	वसिष्ठः	विश्वेदेवाः, चंद्रमाः, इन्द्रः	अनुष्टुप्; १ पथ्यावृहती; ३ भूरि-वृहती; ६ त्र्य. ष. त्रि. क. गर्भोत्तिजगती; ७ विराट्स्वार-पंक्ति; ८ पथ्यापंक्तिः ।
२०	१०	वसिष्ठः	अग्निः मंत्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्; ६ पथ्यापंक्तिः; ८ विराट्जगती ।
पञ्चमोऽनुवाकः ।				
२१	१०	वसिष्ठः	अग्निः	त्रिष्टुप्; १ पुरोनुष्टुप्; २, ३, ८ भूरिक्; ५ जगती; ६ उपरि-ष्टाद्विराट्वृहती; ७ विराट्गर्भा; ९ निचृदनुष्टुप्; १० अनुष्टुप् ।
२२	६	वसिष्ठः	वृहस्पतिः, विश्वेदेवाः	अनुष्टुप्; १ विराट्त्रिष्टुप्; ३ पंचपदा परानुष्टुविराट्तिजगती; ४ त्र्ययश्चानापदपदाजगती
२३	६	ऋद्धा	चन्द्रमाः, योनिः	अनुष्टुप्; ५ उपरिष्टाद्भूरिवृहती; ६ रक्षोर्षोर्षोवृहती ।
२४	७	सुगुः	वनस्पतिः प्रजापतिः	अनुष्टुप्; २ निचृत्-पथ्यापंक्तिः ।
२५	९	सुगुः (जायाकामः)	मित्रावरुणौ कामेपुदेवता	अनुष्टुप्

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
पद्योऽनुवाकः ।				
२६	६	अथर्वा	रुद्रः अग्न्यादिबहुदेवत्वं	त्रिष्टुप्; २ त्रिष्टुप्; २, ५, ६ जगती; ३, ४ भुरिक् ।
२७	६	अथर्वा	रुद्रः	अष्टिः; २ अत्यष्टिः; ५ भुरिक् ।
२८	६	ब्रह्मा	यामिनी	अनुष्टुप्; १ अतिरास्वरीगर्मा ष. अ. जगती; ४ दधनम्या विराट् ऋग्यु; ५ त्रिष्टुप्; ६ विराट्-गर्मा प्रस्तारपंक्तिः ।
२९	८	उद्दालकः	धितिपादविः ७ कामः; ८ भूमिः	अनुष्टुप्; १, ३ पथ्यापंक्तिः; ७ ष. घ. उपरिशाद्द्वीवृहती ४ कु० ग० विराट्जगती; ८ अपरिशाद्द्वीवृहती ।
३०	७	अथर्वा	चन्द्रमाः चामनरवं	अनुष्टुप्; ५ विराट्जगती; ६ प्रस्तारपंक्तिः ७ त्रिष्टुप् ।
३१	११	ब्रह्मा	पाथम-हा	अनुष्टुप्; ४ भुरिक्; ५ विराट्-प्रस्तारपंक्तिः ।

तृतीय काण्डके सूक्तोंके ये ऋषि देवता और छन्द हैं । अथर्ववेदिका विभाग श्रद्धिक्रमानुसार देखिये—

१ अथर्वी- १-५, ८, १०, १५, १६, १८, २६, २७, ३० ये तेरह सूक्त ।

२ ब्रह्मा- ११, १२, १४, २३, २८, ३१ ये छः सूक्त ।

३ वसिष्ठः- १९, २०, २१, २२ ये चार सूक्त ।

४ भृगुः- १३, २४, २५ ये तीन सूक्त ।

भृगु-संगिराः- ७, ११ ये दो सूक्त ।

५ जगद्गीजं पुरुषः- ६ वाँ एक सूक्त ।

६ चामदेवः- ९ वाँ एक सूक्त ।

७ विश्वामित्रः- १७ वाँ एक सूक्त ।

८ उद्दालकः- २९ वाँ एक सूक्त ।

ये ऋषिक्रमानुसार सूक्त हैं । अथर्वदेवताक्रमानुसार सूक्त देखिये—

१ यह्युदेवत्वं, नाना देवताः- १, २, ३, ७, १४, १६, २६, २७ ये आठ सूक्त ।

२ विश्वेदेवा- ८, ९, १५, १९, २२ ये पाँच सूक्त ।

३ अग्निः- ३, ११, २०, २१ ये चार सूक्त ।

४ इन्द्रः- ४, ११, १९ ये तीन सूक्त ।

५ चन्द्रमाः- १९, २३, ३० ये तीन सूक्त ।

६ वृहस्पतिः- १६, २२ ये दो सूक्त ।

७ रुद्रः- २६, २७ ये दो सूक्त ।

८ धनस्पतिः- १८, २४ ये दो सूक्त ।

९ यक्ष्म नाशन- ७, ११ ये दो सूक्त ।

१० सेना मोहन- १, २ ये दो सूक्त ।

११ इन्द्राग्नी- १५ यह एक सूक्त ।

१२ सोमः- ५ यह एक सूक्त ।

१३ धनस्पत्यश्वत्थः- ६ यह एक सूक्त ।

१४ मित्रः- ८ यह एक सूक्त ।

१५ धावापृथिवी- ९ यह एक सूक्त ।

१६ वरुणः- १३ यह एक सूक्त ।

१७ प्रजापतिः- २४ यह एक सूक्त ।

१८ मित्रावरुणौ- २५ यह एक सूक्त ।

१९ भूमिः- २९ यह एक सूक्त ।

- २० अष्टका- १० यह एक सूक्त ।
 २१ सिंधुः- १२ यह एक सूक्त ।
 २२ आयुष्यं- ११ यह एक सूक्त ।
 २३ वास्तोष्पतिः- १२ यह एक सूक्त ।
 २४ शाला- १२ यह एक सूक्त ।
 २५ गोष्ठः- १४ यह एक सूक्त ।
 २६ सीता- १७ यह एक सूक्त ।
 २७ योनिः- २३ यह एक सूक्त ।
 २८ कामेयुः- २५ यह एक सूक्त ।
 २९ यामिनी- २८ यह एक सूक्त ।
 ३० कामः- २९ यह एक सूक्त ।
 ३१ सामनस्यं- ३० यह एक सूक्त ।
 ३२ पाम्प-द्वा- ३१ यह एक सूक्त ।
 ३३ शिष्टिपाद्विः- ३९ यह एक सूक्त ।
 ३४ मंत्रोक्ताः- २० यह एक सूक्त ।

इस प्रकार इन सूक्तोंके मंत्रोंकी देवताएँ हैं । इनके और भी देवताएँ हैं जिनका संबंध पाठक विवरणके समय स्वयं समझ आयेंगे । अब इन सूक्तोंके गणोंका विचार देखिये—

सूक्तोंके गण ।

इस तृतीय काण्डके सूक्तोंके गण इस प्रकार लिखे हैं—

- १ अपराजितगण- १९ वॉ सूक्त ।
 २ तक्मनाशनगण- ७, ११ ये दो सूक्त ।
 ३ चर्चस्यगण- १६, २२ ये दो सूक्त ।
 ४ आयुष्यगण- ८, ११ ये दो सूक्त ।
 ५ रौद्रगण- २६, २७ ये दो सूक्त ।
 ६ अंहोळिगण- ११ वॉ एक सूक्त ।

७ पाम्प-द्वा-गण- ३१ वॉ एक सूक्त ।

८ बृहच्छान्तिगण- २१ वॉ एक सूक्त ।

इस प्रकार ये सूक्त इन गणोंके साथ संबंध रखते हैं । इस काण्डके अन्य सूक्तोंके गणोंका पता नहीं चलता । इस काण्डके सूक्तों द्वारा कुछ शक्तियाँ सूचित होती हैं उनके नाम ये हैं—

१ आंगिरसी महाशान्ति- ५, ६ ये दो सूक्त ।

२ कौमारी महाशान्ति- ७ वॉ एक सूक्त ।

३ ब्राह्मी महाशान्ति- २२ वॉ एक सूक्त ।

इन सूक्तोंका संबंध इन शान्तियोंके साथ है । इस लिये अध्ययन करनेके समय पाठक इन बातोंका विचार करें । खोज करनेवालोंको उचित है कि वे इस शक्ति प्रकरणकी खोज करें अर्थात् इन शक्तियोंका तात्पर्य क्या है और इनकी विधि भी कैसी होती है इत्यादि खोजका विषय है । संभव है कि इस खोजसे अर्ध शान प्राप्त होगा । इस काण्डमें शत्रुसेनाके संमोहनका विषय पहले दो सूक्तोंमें आया है और सामनस्य अर्थात् एकताका विषय तीसवें सूक्तमें आया है—

शत्रुसेनासंमोहनं- १, २ में दो सूक्त ।

सामनस्यं- ३० वॉ एक सूक्त ।

ये सूक्त विशेष विचारपूर्वक इस दृष्टिसे पढ़ने योग्य हैं । इसके अतिरिक्त इस तृतीय काण्डका १५ वा 'इन्द्र महोत्सव' के विषयका सूक्त है, ऐसा कौशितकी सूत्रमें कहा है । इसलिये इस इन्द्र महोत्सवके विषयमें भी विचार होना चाहिये ।

ये सब विषय बड़े गंभीर हैं इसलिये आशा है कि पाठक भी इसका विचार गंभीरताके साथ करेंगे । इतनी भूमिकाके साथ अब तृतीय काण्ड शुरू किया जाता है ।





अथर्ववेद का सुदोष माध्य ।

तृतीय काण्ड ।

शत्रुसेना का संमोहन ।

(१)

(कविः— अथर्वा । देषता — सेनामोहनं, बहुवैषत्यम् ।)

अग्निर्नः शत्रुप्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहंभिमिश्रितमरातिम् ।
 स सेनां मोहयतु परेषां निहंस्तान् कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥
 युयमुग्रा मरुत ईहये स्यामि प्रेत मृणतु सहष्वम् ।
 अमीमृणन्वसपो नाशिता इमे अभिर्षेपां दूतः प्रत्येतु विद्वान् ॥ २ ॥

अर्थ— (विद्वान् अग्निः) विद्वान् अभिसमान तेजस्वी वीर (अभिशस्ति अराति) घातपात करनेवाले शत्रुको (प्रति दहन्) जलाता हुआ (नः शत्रुन् प्रत्येतु) हमारे शत्रुओंपर चढ़ाई करे । (सः जातवेदाः) वह शानी (परेषां सेनां) शत्रुओंकी सेनाको (मोहयतु) मोहित करे (च निहंस्तान् कृणवत्) और उनको हस्तप्रेत करे ॥ १ ॥

हे (मरु-उतः) मरुतोंके लिये तैयार वीरो ! (ईहये यूयं उग्राः स्य) ऐसे समयमें तुम बड़े वीर हो, इस लिये (अभि-प्र-इत, मृणत, सहष्वम्) आगे बढ़ो, काटो, और जीत लो । (इमे नाशिताः वसवः) ये बलवान् वसनेवाले वीर (अमीमृणन्) काटते रहे हैं । (एषां दूतः विद्वान् अग्निः) इनका दाहकर्ता शानी अग्निके समान तेजस्वी वीर (प्रत्येतु) विशेष चढ़ाई करे ॥ २ ॥

भाषार्थ— राजनीतिको जाननेवाले विद्वान् और तेजस्वी पुरुष घातपात करनेवाली शत्रुसेनाको जलाते हुए शत्रुओंपर चढ़ाई करें । सेनासंमोहनकी विषयको जाननेवाले शानी शत्रुसेनाको मोहित करें और उनको हस्तप्रेत जैसे बना दें ॥ १ ॥

हे मरुतोंके लिये सिद्ध हुए शूरा वीरो ! ऐसे युद्ध समयमें तुम बड़े वीर हो, इस लिये आगे बढ़ो, शत्रुको काटो और उनको जीत लो । ये बलवान् अपने देवनिवासी वीर शत्रुको काटते हैं; इनका साथी शानी तेजस्वी वीर भी शत्रुको जलाता हुआ शत्रु-पर चढ़ाई करे ॥ २ ॥

अभिज्ञसेनां मघवन्नसाञ्छत्र्यतीमभि ।

युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नप्रिश्च दहतं प्रति

॥ ३ ॥

प्रसृत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून् ।

जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक्सत्यं कृणुहि चिचमेपाम्

॥ ४ ॥

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् ।

अग्नेर्वातस्य धाज्या तान्विपूर्वो वि नाशय

॥ ५ ॥

इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो ध्रन्त्वोर्जसा ।

चक्षुष्यमिरा दक्षां पुनरेतु पराजिता

॥ ६ ॥

अर्थ— हे (मघवन् वृत्रहन् इन्द्र) धनवान् शत्रुनाशक सम्राट् तथा (च अग्निः) हे ज्ञानी ! (युवं) तुम दोनों मिलकर (ससान् शत्रुपती अभिज्ञ-सेनां) हमारी शत्रुता करनेवाली शत्रुसेनाको (अभि) पराभूत करके (तान् प्रति दहतं) उनको जला दो ॥ ३ ॥

हे (इन्द्र) नरेन्द्र ! (प्रवता ते हरिभ्यां) वेगसे तेरे हरणशील वेगों द्वारा (प्रसृतः वज्रः) चलाया हुआ वज्र (शत्रून् प्रमृणन् प्र+एतु) शत्रुओंको काटता हुआ आगे बड़े । (प्रतीचः, अनूचः, पराचः) संसुख, पीछे और परे भागनेवाले शत्रुओंकी (जहि) हनन कर दे और (पर्यां चिचं) इन शत्रुओंके चित्तको (सत्यं विष्वक् कृणुहि) ठीक प्रकार चारों ओर भटका दे ॥ ४ ॥

हे (इन्द्र) नरेश ! (अभिज्ञाणां सेनां मोहय) शत्रुओंकी सेनाको घबराओ । (अग्नेः घातस्य धाज्या) अग्निके और वायुके प्रथक वेगसे (तान्) उन शत्रुसैनिकोंको (विष्वक् विनाशय) चारों ओर भटकाकर नाश कर डाल ॥ ५ ॥

(इन्द्रः सेनां मोहयतु) नरेश शत्रुसेनाको मोहित कर, (मरु-उतः) मरनेके लिये सिद्ध हुए वीर (अोजसा ध्रन्तु) वेगसे हनन करें । (अग्निः चक्षुषि आदक्षां) अग्नि अर्थात् प्रकाश उनके आँसोंको ले लेवे । इस प्रकार शत्रुओं (पराजिता) पराभूत हुई सेना (पुनः एतु) फिर भी पीछे हटे ॥ ६ ॥

भाषार्थ— हे धनवान् शत्रुनाशक नरेश ! तथा हे तेजस्वी ज्ञानी वीर ! तुम दोनों मिलकर हमारी शत्रुता करनेवाली शत्रुसेनाको पराभूत करो और उनको जला दो ॥ ३ ॥

हे नरेश ! वेगसे चलाया हुआ वृत्रहारा शस्त्रका समुदाय शत्रुओंको काटता हुआ आगे बड़े । संसुखसे, पीछेसे और चारों ओरसे भागनेवाली शत्रुसेनाका हनन करके उनके चित्तमें ऐसी घबराहट उत्पन्न करो कि जिससे वे चारों दिशाओंमें भाग जाय ॥ ४ ॥

हे नरेश ! अत्यन्तके दाहसे और वायुध्वास्त्रके वेगसे शत्रुसेनाको ऐसा घबराओ कि वे चारों दिशाओंमें भाग जाय और इस शीघ्रसे उनका नाश कर ॥ ५ ॥

नरेश शत्रुके सैन्यको घबराये, घर वीर वेगसे शत्रुसेनाका हनन करें और शत्रुसेनाको ऐसी घबराहट करें कि जिससे उनको कुछ भी न दीख पड़े और इस प्रकार शत्रुका पूर्ण पराजय होकर उनका पूर्ण नाश हो जावे ॥ ६ ॥

इसी विषयका द्वितीय सूक्त है इसलिये उस सूक्तका भी अर्थ हम यहाँ पहले देखते हैं, और पश्चात् दोनों सूक्तोंका मिलकर विचार करेंगे । द्वितीय सूक्त यह है—

(२)

(ऋषिः— अथर्षा । देवता — सेनामोहनं, यदुद्देयत्वम् ।)

अग्निर्नो द्रुतः प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहंस्त्रिभिरातिम् ।

स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः

॥ १ ॥

अयमग्निर्मूमुहघानि चित्तानि वो हृदि ।

वि वो घमत्वोक्तसुः प्र वो घमतु सर्वतः

॥ २ ॥

इन्द्रं चित्तानि मोहयन्नुवाङ्माकृत्या चर ।

अग्नेर्वीरस्य ध्राज्या तान्निर्घृत्नो वि नाशय

॥ ३ ॥

व्याकृतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत ।

अथो यदघैषां हृदि तदैषां परि निर्जहि

॥ ४ ॥

अर्थ— (नः द्रुतः विद्वान् अग्निः) हमारा द्रुत ज्ञानी तेजस्वी वीर (अग्निश्चास्ति अरातिं प्रतिदहन्) पात-पात करनेवाले शत्रुको जलाता हुआ (प्रत्येतु , चर्गाई करे । (सः जातवेदाः परेषां चित्तानि मोहयतु) वह ज्ञानी शत्रुओंके चित्तोंको मोहित करे और उनको (निर्हस्तांश्च कृणवत्) हस्तहीन जैसै करे ॥ १ ॥

(यानि चः हृदि) जो तुम्हारे हृदयमें संरक्षित हैं वे (चित्तानि) चित्त (अयं अग्निः अमूमुहत्) यह तेजस्वी वीर घबराहटमें डालता है । वह (चः ओक्तसुः विघमतु) तुमको-शत्रुको-पारसे निकाल देवे और (यः सर्वतः प्रघमतु) तुमको-शत्रुको-सर्व प्रदेघसे हटा देवे ॥ २ ॥

हे (इन्द्रं) नरेश ! शत्रुके (चित्तानि मोहयन्) चित्तोंको मोहयुक्त करता हुआ तू (आकृत्या अर्थात् चर) शत्रुसंकल्पसे हमारे पास आ । (अग्नेः वातस्य ध्राज्या) अग्नि और वायुके वेगसे (तान् विघृत्नः चिनाशय) उनको चारों ओरसे नष्ट भ्रष्ट कर दे ॥ ३ ॥

हे (एषां) इन शत्रुओंके (व्याकृतयः) संकल्पों ! (वि) तुम परस्पर विरुद्ध हो जाओ, पश्चात् तुम (इत) हट जाओ (अथो चित्तानि) और इनके चित्तों ! (मुह्यत) मोहित होओ । (अथो अथ) और आज (यत् एषां हृदि) जो इनके हृदयमें संकल्प है (एषां यत् परि निर्जहि) इनका वह संकल्प पूर्णतासे नाश कर ॥ ४ ॥

भावार्थ— हमारे ज्ञानी स्वयंसेवक वीर घातपात करनेवाले शत्रुसेना पर चर्गाई करें, शत्रुओंको घबराहटमें डालें और उनको हस्तहीन जैसै बना दें ॥ १ ॥

शत्रुके चित्तोंको मोहित करे, उनको चारोंसे निकाल देवे और सब देशसे उनको हटा देवे ॥ २ ॥

हे राजन् ! तू शत्रुसेनाके चित्तोंको मोहित कर, अग्नि और वायुका वेगसे उनको चारों दिशाओंमें भगा दे और पश्चात् विरुद्धपूर्ण शत्रु संकल्पसे हमारे पास आ ॥ ३ ॥

शत्रुओंके संकल्प आपसमें एक दूसरेके विरोधी हों, उनके दिलोंमें घबराहट पैदा हो, और उनके दिलोंमें जो संकल्प आज हैं वे संकल्प कल तक भी स्थिर न रहें ॥ ४ ॥

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्ये परेहि ।

अभि प्रेहि निर्देह हृत्सु श्लोकैर्प्राणामित्रांस्तर्मसा विध्यु शश्रून्

॥ ५ ॥

असौ या सेना महतः परंपामसानैत्यभ्योर्जसा स्पर्धमाना ।

तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैपामन्यो अन्यं न जानात्

॥ ६ ॥

अर्थ— हे (अप्ये) व्याधि ! (अमीषां चित्तं प्रतिमोहयन्ती) इनके चित्तको मोहमें डालती हुई शत्रुसेनाके (अंगानि गृहाण) अवयवोंको पकड़े रखी और (परा इहि) परे तक चली जा : (अभि प्र इहि) सब प्रकारसे आगे बढ़ । (हृत्सु श्लोकैः निर्देह) हृदयके श्लोकोंके साथ शत्रुको जला दे । तथा (प्राणा तमसा) जहकनेवाले रोगसे और मूर्च्छा रोगसे (अमित्रान् शश्रून् विध्य) दुष्ट शत्रुओंको प्रस्त कर दे ॥ ५ ॥

हे (अपव्रतः) मरनेके लिये सिद्ध वीरो ! (परेषां असी या सेना) शत्रुओंको यह जो सेना (स्पर्धमाना अस्मान् जोजसा अभि-प्रा-पति) स्पर्धा करता हुई हमपर वेगसे चढ़ाई करके आती है, (तां अपव्रतेन तमसा विध्यत) उसको कर्महीन करनेवाले अंधकारसे मोहित कर डालो, (यथा) जिससे (परां अन्यः अन्यं न जानात्) इनमेंसे एक दूसरेको भी न जान सके ॥ ६ ॥

भाष्यार्थ— व्याधियों तथा अन्य भय भी शत्रुके दिलको भयभीत कर दे, शत्रुसैनिकोंके अंगप्रसंग व्याधियोंसे जहक जाय, शत्रुसेना रोगसे और नाना प्रकारके मयोंसे प्रतप्त हो जाय । संघिपात और मूर्च्छा रोग शत्रुको चबला देवे ऐसे कठिन समयमें उनपर हमला कर और शत्रुके हृदयोंको शोकसे जला दे ॥ ५ ॥

हे वीर पुरुषो ! जो सेना हमारे साथ स्पर्धा करती हुई हमपर चढ़ाई करके आ रही है उसका ऐसा मोहित करो कि वे पुरुषार्थहीन होकर मूर्च्छितसे ही जाय और उनमेंसे एक मनुष्य दूसरेको जान भी न सके ॥ ६ ॥

सेनाका संमोहन ।

ये दो सूक्त शत्रुसेनाके संमोहनका विषय बता रहे हैं । जो शत्रुकी सेना मारती और काटती हुई अपने राष्ट्रपर अथवा अपने सैनिकोंपर चढ़ाई करके आ रही है, वह मोहित करके, घबराकर पराभूत करनी चाहिये और उसको मग्न देना चाहिये । इसका नाम है 'सेना-संमोहन' ।

कई लोग कल्पना करते हैं कि यह शत्रुकी सेनाका संमोहन मंत्रसामर्थ्यसे होता है, परंतु वास्तविक बात ऐसी नहीं है । यह संमोहन केवल घबराहट ही है अर्थात् शत्रुसेना पर ऐसे हमले करने कि शत्रुसैनिकोंको कर्तव्यमूढ बन कर भाग जाना ही एक मार्ग जीव बचानेके लिये अवशिष्ट रहे ।

ये दोनों सूक्त स्पष्ट हैं और इतने ही विषयका यही अधिक विवरण करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है । तथापि इन सूक्तोंमें कई शब्दप्रयोग ऐसे किये गये हैं, कि जिनका विशेष स्पष्टीकरण करना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा संदेह उत्पन्न होना संभव है । इन सूक्तोंमें 'अभि, इन्द्र, महत्' आदि शब्द हैं, जिनके अर्थ देवता प्रसंगमें अभि, विद्युत्, वायु आदि लिये

जाते हैं, तथा अभ्यात्म प्रसंगमें वाणी, मन और प्राण लिये आते हैं; इस विषयका स्पष्टीकरण पूर्व काण्डोंमें आ चुका है । ये दोनों प्रसंग इन दोनों सूक्तोंमें नहीं हैं । इन सूक्तोंका विषय युद्ध है, शत्रुसेना मोहनका संबंध है, अपनी सेना और शत्रु सेनाका झगडा होनेका अवसर है, इत लिये यह न अभ्यात्मका विषय है और ना ही आधिदेवतका विषय है । प्राणियोंके परस्परके संबंधका वर्तन आधिभौतिक प्रकरणमें हुआ करता है । इस कारण आधिभौतिक प्रकरणको प्राणि समष्टि विषयका प्रकरण कहा जाता है और इस प्रकरणमें तत्क शब्दोंके अर्थ प्राणि-विषयक होते हैं अर्थात् वही मनुष्यप्राणि विषयक भाव समझना उचित है । अब उक्त शब्दोंके अर्थ देखिये—

१ इन्द्र ।

(इन्द्र) शत्रुसेनाका भेदन करनेवाला, यह इसका धात्वर्थ है परंतु मुखिया इस अर्थमें इस शब्दका प्रयोग होता है, जैसा—
मृगेन्द्र = मृगोंका मुखिया, सिद्ध, खगेन्द्र = पक्षियोंका मुखिया, गन्द्र, नरेन्द्र = मनुष्योंमें मुख्य राजा अथवा सम्राट् इ० । इन्द्र शब्दके ये अर्थ प्रसिद्ध हैं, परंतु प्रायः लोग केवल 'इन्द्र'

शब्दका अर्थ 'राजा' करनेके समय करते हैं। उनको इन दो सूक्तोंका अच्छा मनन करना उचित है। इस मननसेउनको पता लग जायगा कि ऐसे प्रसंगोंमें मनुष्य विषयक ही इन्द्रादि शब्दोंका अर्थसेना योग्य है। इस विषयको अच्छी प्रकार समझमें आनेके लिये इन दो सूक्तोंके कई वाक्य उदाहरणके लिये लेते हैं—

३ वृञ्जहन् ।

' (वृज) घेरनेवाले शत्रुको (हन्) हनन करनेवाला । अर्थात् जो शत्रु घेरकर हमला करता है अथवा मार्ग रोकता है उसको अपने शस्त्रोंके प्रभावसे मारता है, उसका यह नाम है ।

इस प्रकार इन्द्रवाचक शब्द और उसके वर्णनपरक मंत्र वीर राजाके कर्तव्य बता रहे हैं। पाठक यह वैदिक शैली जानेंगे तो उनको बहुत मंत्रोंका गभीर आशय इस रीतिसे स्पष्टतया ध्यानमें आ सकता है। इन्द्रके साथ ' मरुत् ' रहते ही हैं, इनके विषयमें अब देखिये—

४ मरुतः ।

(मरुत्+त्) मरनेके लिये जो उठकर खड़े हुए हैं, मरनेके लिये जो तैयार हुए हैं, शत्रुका पराभव करनेके लिये अपने प्राणोंकी आहुती देनेके लिये जो कटिबद्ध हुए हैं, उन वीरोंका यह नाम है। इन्द्रकी सेनाके मरुत् नामक जो वीर हैं उनका अर्थ वर्णन भी इस अर्थकी सार्थकता बता रहा है। यह शब्द सैनिकोंका उत्साह बता रहा है। इस प्रकारके उत्साही वीर जिस सेनामें होंगे उनका विजय निःसंदेह हो सकता है। इस शब्दका प्रयोग अिन मंत्रोंमें है उनके उदाहरण यहा देखिये—

१ हे मरुतः ! ईदृशे यूयं उग्राः स्थ । अभिप्रेत,
मृणत, सहध्वम् । (सू. १, मं. २)

२ मरुतः औद्यसा मृन्तु । (सू. १, मं. ६)

३ हे मरुतः ! या अस्मी परेषां सेना स्वर्षमाना
अस्मान् अभ्येति, तां अपघ्नतेन तमसा
विष्यत, यथा पर्यां अन्यः अन्यं न जानात् ॥
(सू. २, मं. ६)

' (१) हे मरनेके लिये तैयार वीरों ! ऐसे प्रसंगमें तुम सब बड़े उग्र हो । इस लिये आगे बढ़ो, काटो और वीरोंको पराभूत करो ॥ (२) वीर लोग बलके साथ वीरोंको काटें ॥ (३) हे वीरों ! यह जो वीरोंकी सेना हमारे साथ स्वर्षा करती हुई हमपर भौंसा कर रही है, उसको कर्महीन मोहमय तमसे विद्ध करो, जिससे उनका एक मनुष्य दूसरेको पहचान न सके ॥ '

ये मरुतोंके मंत्र स्पष्टतया सैनिक वीरोंके कर्तव्य बता रहे हैं। युद्धमें सेनाके वीर कैसा उत्तम कर्म करें, उसका उपदेश यहाँ इस प्रकार मिल रहा है। इसका मनन करके क्षात्रतेजसे युक्त वीर पुरुषोंको बड़ा उत्साह आ सकता है। इसके गन्तर ' वसवः ' शब्द देखिये—

१ इन्द्र ! ते प्रसूतः वज्रः शशून् प्रमृणन् पतु ।
प्रतीचः अनुचः जहि ।

पर्यां चित्तं विध्वक् कृणुहि ॥ (सू. १, मं. ४)

२ इन्द्र ! अभिप्राणां सेनां मोहय ।
अग्नेः वातस्य ध्राज्या विपुषः तान् विनाशय ॥
(सू. १, मं. ५)

३ इन्द्रः सेनां मोहयतु ॥ (सू. १, मं. ६)

४ इन्द्र ! चित्तानि मोहयन् आकृत्या अर्वाह्व चर ॥
(सू. २, मं. ३)

' (१) हे राजन् ! तेरे द्वारा चलाया हुआ शस्त्र शत्रुओंको काटता हुआ आगे चले। सब ओरके शत्रुओंका हनन कर । इन शत्रुओंके चित्तको चारों ओर भटकानेवाला कर ॥ (२) हे राजन् ! शत्रुकी सेनाको मोहित कर । अग्नि और वायुके प्रवाहसे शत्रुसेनाको चारों ओर भगा दे ॥ (३) राजा शत्रुसेनाको घबरा देवे ॥ (४) हे राजन् ! शत्रुसेनाको मोहित करके अपने शुभ संकल्पसे हमारे पास चला आ ॥ '

- इस प्रकारके ये मंत्र इन्द्र शब्द द्वारा राजाका कर्तव्य बता रहे हैं। यहाँ ' राजा, नरेन्द्र, सम्राट् ' आदि प्रकारका ही इस शब्दका अर्थ है। यहाँ इन्द्र शब्द सात्रशिरोमणों वीर राजाका वर्णन कर रहा है, जो स्वयं युद्ध भूमिमें उपरिष्ठत रहकर अपनी सेनाको चलाता है, और केवल सेनापति पर ही निर्भर नहीं रहता है। इसी इन्द्रके अन्य पर्याय भी इन सूक्तोंमें आ गये हैं वे अब देखिये—

२ मघवन् ।

' (मघ) धन (वन्) वाला । जिसके पास धन है। जो राजा अपने पास बहुत धनसंग्रह रखता है वही युद्धमें विजय पा सकता है। युद्धमें विजय प्राप्त करनेका यह एक बड़ा भारी साधन है, धनहीन राजा यदि युद्धका प्रारंभ करेगा तो उसके पराभूत होनेमें कोई संदेह ही नहीं है। इस शब्दसे बोध होने वाला यह अर्थ पाठक देखें और राजाका बल धनकोशमें होता है यह बात जान लें । '

५ वसवः ।

वसनेवालोंका नाम ' वसु ' है । जो अपने राष्ट्रमें अपने अधिकारसे वसना चाहते हैं, शत्रुके हमले होनेपर भी स्वयं अपने स्थानसे हिलना नहीं चाहते वे ' वसु ' होते हैं । इन वसुओंके विषयमें अथर्ववेदमें ही अन्य स्थानमें कहा है—

संवसव इति वो नामधेयं उभयपदयोरार्षभृतो

हास्ताः ॥

(अथर्व. ७।१-१।६)

' आपका नाम संवसु (संवसवः) है, आप देखनेके लिये अति उम हैं और राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाले हैं और आप राष्ट्रके (अग्निः) आंक ही हैं । ' इस मंत्रमें वसु उम राष्ट्रस्य हैं ऐसा कहा है । इसलिये हम यहाँ इस सूक्तके प्रसंगमें ' वसु ' पदका अर्थ ' उम राष्ट्रस्य ' अर्थात् ' घरबारे राष्ट्रीय स्वयंसेवक ' करते हैं । यह अर्थ लेनेसे प्रचलित सूक्तके मंत्रभागका अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है देखिये—

इमे नाथिता वसवः भर्मानृणान् ।

एषां दूतः अग्निः विद्वान् मन्व्येतु ॥ (सू. १, मं. २)

' ये प्रभावशाली राष्ट्रस्य वैरी सेनाको काटते हैं । इनका विद्वान् दूत अग्नि वैरीपर चढ़ाई करे । ' इस मंत्रमें हमें पता लगता है कि यहाँका अग्नि शब्द वसुओंमेंसे एक वसुका वाचक है अर्थात् यदि उक्त प्रकार ' वसु ' राष्ट्रस्य है, तो ' अग्नि ' भी वसुओंमेंसे एक राष्ट्रस्य अथवा राष्ट्रका दूत ' है जो समय-समय है और बड़ा बलुर भी है । इन्द्र और अग्निमें यह भेद है, पाठक इसका मनन करें । इन्द्र स्वयं सम्राट् अथवा राजा है, वह स्वयंसेवक या राष्ट्रस्य नहीं है, और अग्नि राजा नहीं है परंतु राष्ट्रस्य है । अग्नि विद्वान् है और इन्द्र धनवान् है । ये विशेषणों द्वारा शतायें भेद पाठक मननपूर्वक देखे और सोचें । ये भेद ही वैदिक राज्यशास्त्रिका स्वरूप स्पष्ट कर देते हैं । इस प्रकार वसु शब्दका अर्थ देखनेके पश्चात्, और अग्निको उनमेंसे एक जाननेके पश्चात् अब अग्निका अर्थ देखते हैं—

६ अग्निः ।

वसु शब्दके जो लक्षण पूर्व शब्दके वर्णनके प्रसंगमें बताये हैं वे इसके साथ भी संगत होते हैं । यह प्रकाशका देव है, शत्रुको जलाता है और उपासकको तेजप्रदान करता है । यह (विद्वान्) शान्ति है, समयज्ञ है, कर्तव्य अर्हताव्यक्तो ठीक प्रकार समझता है । यह (जात-वेदाः = जातं वेदि) बने हुए वस्तु-स्थितिको स्यावत् जाननेवाला है । पाठक देखें कि ऐसा योग्य राष्ट्रस्य (दूतः) राष्ट्रका दूत, कितना उपयोगी होगा, और

ऐसे युद्धके प्रसंगमें इस प्रकारके राष्ट्रदूतकी सेवाका कितना लाभ राष्ट्रको हो सकता है ।

अग्नि प्राज्ञ तेज और इन्द्र स्यात्रतेज व्यक्त करता है, जिस समय राष्ट्रपर आघात आती है उस समय वे दोनों मिलजुलकर राष्ट्रकार्य करें, इस विषयकी सूचना इन सूक्तोंमें निकली है । इस विषयका मंत्र देखिये—

हे वृत्रहन् इन्द्र ! अग्निः च यूयं तान् प्रतिदहतम् ।

(सू. १, मं. १)

' हे वीर राजन् ! तू और शान्ति राष्ट्रस्य दोनों मिलकर शत्रुको जला दो । ' यहाँ मिलकर कार्य करनेका उपदेश है । स्यात्रतेज और स्यात्रतेज इच्छा होकर वैरीका नाश करें । देवा कभी न हो कि वैरी राष्ट्रके द्वायमें उपस्थित होने और राष्ट्रके वे दोनों भाग आपसमें समझते रहें । यह तो राष्ट्रशातकी अस्थता होगी, इसलिये प्राज्ञान सृष्टियोंकी रचना अमेय ऐश्वर्य रखना चाहिये और अपने राष्ट्रकी उन्नतिमें ही अपनी उन्नति देखनी चाहिये ।

शत्रुको चवरानेकी रीति ।

वैरीको चवराना, उसके मोहित करना, उसको भ्रमित करना और उसको परास्त करना, इत्यादिके उपाय इन दो सूक्तोंमें कहे हैं । जिनमेंसे हमले करनेकी कई विधियों इसके पूर्वके स्पष्टीकरणमें आ चुकी हैं । अब कुछ विशेष ध्यानसे देखें करना है जो यहाँ करिये—

१ अग्न्यत्न और वायव्यात्न के प्रयोगसे वैरीका नाश करनेकी पहिली रीति इन सूक्तोंमें कही है—

अग्नेः वातस्य ध्राज्या तान् विनाशय ॥

(सू. १, मं. ५। सू. २, मं. २)

' अग्निके वेगसे और वायुके वेगसे उन शत्रुओंका नाश कर । यहाँ ध्राज् शब्द है, अग्नि (प्राज्ञी) महावेग और वायुका महावेग, इनके धकेसे शत्रुका नाश करना लिखा है । प्राज्ञी शब्दका अर्थ केवल वेग, गति इतना ही नहीं है, जिस वेगके धकेसे मनुष्य नष्टप्रथ होते हैं, मनुष्य अपने स्थानपर ठहर नहीं सकते, उस महावेगके प्रबल धकेका आशय इस ' प्राज्ञी ' शब्दमें है । इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँके ' अग्नेः प्राज्ञी, वातस्य प्राज्ञी ' ये दो शब्द क्रमशः अग्न्यत्न और वायव्यात्न अथवा इसी प्रकारके शस्त्रात्र विशेषके वाचक होंगे । इसी स्पष्टीकरणमें इसके पूर्व अग्नि शब्दका अर्थ मनुष्य वाचक बताया है, परंतु वह अर्थ यहाँ नहीं है । एक ही सूक्तमें एक ही अग्नि शब्दके दो परस्पर भिन्न अर्थ हैं यह बात यहाँ स्पष्ट

इचना चाहिये, अन्यथा अर्थका विपर्यास होनेमें देरी नहीं होगी ।

२ तमसास्त्र— तमसास्त्रका प्रयोग भी इसमें है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है—

तां विध्यत तमसापत्रेन यथैयामन्यो अन्यं न जानात् । (सू. २, मं. ६)

‘ उस शत्रुसेनाको पुरुषार्थहीन करनेवाले तमसास्त्रके प्रयोगसे विद्वद् बरो जिससे उनका एक सैनिक दूसरे सैनिकको न पहचान सके । ’ इस मंत्रमें ‘ अपनतं तमः ’ शब्दका प्रयोग है । तम शब्दका अर्थ ‘ अन्धकार ’ है । अपत्रतका अर्थ ‘ कर्महीन ’ है । दोनोंका तात्पर्य ‘ कर्महीन करनेवाला अंधेरा ’ है । इससे शत्रुसेनाको वेध करना है । वेध करनेके लिये शास्त्राज्ञ ही चाहिये, अन्यथा वेध नहीं हो सकता । इसलिये इस मंत्रमें तमसास्त्रका उल्लेख है ऐसा स्पष्ट दीख रहा है । अन्धकारास्त्रके प्रयोगसे ही सैनिक एक दूसरेको पहचाननेमें असमर्थ होंगे । इसी अर्थका एक मंत्रभाग प्रथम सूक्तमें है—

अग्निः अक्षुपि आदत्ताम् । (सू. १, मं. ६)

‘ अग्नि शत्रुकी भाँके जे जेवे ’ इस वाक्यका भी आशय तमसास्त्र प्रयोगका ही है क्योंकि यहाँ इरएकही भाँके निकाल देनेका आशय नहीं है, परंतु उनको कुछ भी न दीख पड़े यही आशय है । तथा और देखिये—

अमित्रान् अत्रान् तमसा विध्य । (सू. २, मं. ५)

‘ शत्रुओंको अन्धकारास्त्रसे विद्वद् कर । ’ यहाँका ‘ विष्य ’ शब्द भी अस्त्ररूप तमसा सूचित करता है । यह मंत्र अन्यत्र आगया है वह भी यहाँ देखिये—

अन्घेन तमसा अमित्रान् सचन्ताम् ।

(ऋ० १०।१०।३।१२; यजु० १७।४४;

साम उ० ९।३।५; निरु० ९।३३)

तां गृह्यत तमसापत्रेन यथाभी अन्यो अन्यं न जानात् । (यजु० १७।४७)

‘ शत्रुओंको अन्धतमसे ढाँप दो ’ इत्यादि मंत्रभागोंमें भी किसी प्रकारके अस्त्रका ही उल्लेख है अन्यथा वेध करना असंभव है ।

३ अप्वा, प्राही— सूक्त २, मं. ५ में ‘ अप्वा और प्राही ’ इन दो रोगोंके द्वारा शत्रुके बित्तोंको मोहित करने

अथवा उनको त्रस्त करनेका उल्लेख है । ‘ प्राही ’ शब्दका अर्थ संघिवात इसी अर्थवैदमें इससे पूर्व अनेक बार आया है । यह अर्थ यदि यहाँ लिया तो संघिवात जैसे जकड़नेवाले रोगद्वारा शत्रुको त्रस्त करनेकी बात व्यक्त हो सकती है । अप्वा शब्दका अर्थ रोग, व्याधि अथवा मय है । परंतु यह युद्ध प्रसंग है इस लिये इन शब्दोंके कोई दूसरे अर्थ भी होना संभव है । यद्यपि ठीक पता नहीं है तथापि ‘ प्राही ’ शब्दका अर्थ ‘ पाश ’ होना संभव है, जिससे शत्रुको पकड़ा जाय और जकड़कर बांधा जाय । ‘ अप-वे ’ धातुसे यदि ‘ अप्वा ’ शब्द बनाया जाय तो ‘ वे ’ धातुका अर्थ ‘ तन्तु-संतान ’ होनेके कारण अप्वा शब्दका अर्थ ‘ जल अथवा जाल ’ होना संभव है । मंत्रमें—

अप्वे ! परेहि; अमीथां चिन्तानि प्रतिमोहयन्ती अज्ञानि गृहाण ॥ (सू. २, मं. ५)

‘ हे अप्वे ! आगे बढ़, इनके चिन्तोंको मोहित करके उनके अंगोंको पकड़ रख । ’ यह अप्वा अस्त्रका वर्णन स्पष्ट बता रहा है कि इस नायका किंधी प्रकारका जाला शत्रुपर फेंका जाता है, जिसमें पकड़े जानेके कारण शत्रु मोहित हो जाते हैं और पश्चात् उनके शरीर पकड़ वा जकड़कर बांधे जाते हैं । इस मंत्रमें ‘ परेहि, अंगानि गृहाण ’ आदि वर्णन यह ‘ अप्वा ’ कोई शत्रुपर फेंकने योग्य जालेका अस्त्र है ऐसा निश्चय करता है । अर्थात् ‘ प्राही और अप्वा ’ जे दोनों जालेके समान शत्रुको पकड़नेके कुछ साधन विशेष होंगे ऐसा हमारा तर्क है, इस विषयके अर्थके लिये इस समयतक कोई प्रमाण हमें मिला नहीं है । खोज करनेवाले पाठक इस विषयका विशेष खोज करके अर्थनिश्चय करनेमें सहायता दें ।

मंत्रोंकी समानता ।

इन दोनों सूक्तोंमें मंत्रोंकी समानता है । दोनों सूक्तोंका पहला मंत्र कुछ थोड़े पाठभेदसे करीब एक जैसा ही है । प्रथम सूक्तका ५ वाँ मंत्र और द्वितीय सूक्तका ३ रा मंत्र करीब एक जैसा ही है । प्रथमार्थमें योरा पाठभेद है । यह समानता पाठक अवश्य देखें ।

इन दोनों सूक्तोंके मननसे युद्ध विषयक बहुत ही बोध प्राप्त हो सकता है । आशा है कि इस दृष्टिसे पाठक इन सूक्तोंका अध्ययन करके लाभ उठावेंगे ।

राजाकी स्वराज्यपर पुनः स्थापना ।

(३)

(ऋषिः- अथर्षा । देयता- भूमिः, नानादेयताः)

अचिक्कदत्स्वपा इह भुवदग्ने व्यचिस्व रोदसी उरुची ।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदसु आमुं नय नमसा रातहव्यम् ॥ १ ॥
दुरे चित्तन्तमरुपासु इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम् ।
पद्मायत्री बृहतीमर्कमसै सौत्रामण्या दधूपन्त देवाः ॥ २ ॥
अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्ययतु सोमस्त्वा ह्ययतु पर्वतेभ्यः ।
इन्द्रस्त्वा ह्ययतु विड्म्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश्व आ पतेमाः ॥ ३ ॥
श्येनो हव्यं नयत्वा परसादन्यक्षेत्रे अर्पुरुद्वं चरन्तम् ।
अश्विना पन्यां कणुतां सुगं त इमं सजाता अभिसंविशध्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (इह स्व-पाः भुवत्) यहाँ अपना रक्षण करनेवाला मनुष्य होवे ऐसा (अचिक्कदत्) पुकारकर ध्या गया है । हे (अग्ने) भूमि ! (उरुची रोदसी व्यचस्व) विश्वतः यानापृथिवीयामं अपना तेष फैलाओ । (विश्ववेदसु मरुतः त्वा युञ्जन्तु) सब जाननेवाले मरुत तुझे योग्य बनावे । (रात-हव्यं अमुं) हवनोप पदायोंको देनेवाले इस पुकारको (नमसा आनय) नमस्कारपूर्वक यहाँ ला ॥ १ ॥

(दुरे चित् सन्तं विप्रं इन्द्रं) दूर रहनेवाले प्राज्ञ इन्द्रको भी (अरुपासः सख्याय आच्यपाचयन्तु) तेजस्वी लोक मित्रताके लिये यहाँ ले आवे । (यत् देयाः) क्योंकि सब देव (सौ-त्रामण्या) शौत्रामणिके द्वारा (गायत्री बृहती अर्क अस्मै दधुपत) गायत्री बृहती रूप अर्चन इसके लिये धारण करते हैं ॥ २ ॥

(अरुणः राजा) राजा वरुण (अद्भ्यः त्वा ह्ययतु) जलके लिये तुझे बुलावे, (सोमः त्वा पर्वतेभ्यः ह्ययतु) नीम तुझे पर्वतोंके लिये बुलावे (इन्द्रः त्वा आभ्यः विड्म्यः ह्ययतु) इन्द्र तुझे इन प्रजाओंके लिये बुलावे । (श्येनः भूत्वा इमाः विशः व्यापत) तू श्येन पक्षीके समान वेग धारण करके इन प्रजाओंमें जा जा ॥ ३ ॥

(अन्यक्षेत्रे अपरुद्वं चरन्तं हव्यं) अन्य देशमें छिपकर पूजनेवाले बुलाने योग्य राजाओं (श्येनः परसाद आनयतु) श्येनवत् शीघ्रगामी दूरसे देगसे ले आवे । (अश्विनी सुगं ते पन्यां कणुतां) दोनों अश्विनी सुहृद आने योग्य तेरा मार्ग बनावे । (सजाताः इमं अमि सं विशध्वं) सजातीय लोग इसको प्रविष्ट करावें ॥ ४ ॥

भाषार्थ— इस जगत्में मनुष्यको अपना संरक्षण स्वयं करना चाहिये, यह बात पुकार पुकारकर सब आतपुरुषोंने कही है । मनुष्य अभिवृत्त तेजस्वी बने और अपना प्रकाश जगत्में फैलावे । ऐसे अपने राजाओं सब जाननेवाले वीर यत्किमान करें और उसको नमनपूर्वक अपने राज्यगर्होपर स्थापित करें ॥ १ ॥

राजा दूर भी क्यों न गया हो उसको अपने राज्यके दितके लिये तेजस्वी वीर पुनः ले आवें, उलम रक्षण करनेके योग्य प्रबंधसे उसका उलम सरकार करें ॥ २ ॥

अलस्थानकी रक्षाके लिये जलाधिपति, पर्वतोंकी रक्षाके लिये पर्वतोंका अधिकाारी, जनोंकी रक्षाके लिये मनुष्योंका अधिकाारी किंवा मुखिया सम्राट्की बुलावें, तब सम्राट् अपने प्रजाओंमें शीघ्रतासे जाकर विराजे ॥ ३ ॥

हृष्यन्तु त्वा प्रविज्जनाः प्रति मित्रा अंबृषत ।

इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विश्वि क्षेममदीधरन्

॥ ५ ॥

यस्ते हवँ विवदत्सजातो यश्च निष्टयः ।

अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वायेममिहावँ गमय

॥ ६ ॥

अर्थ— (प्रतिजनाः त्वा हृष्यन्तु) प्रत्येक प्रकारके लोग दुष्टे बुरावें। (मित्राः प्रति अंबृषत) मित्र तेरा बल बढावें। (इन्द्राग्नी विश्वेदेवाः) इन्द्राग्नी और सब देव (विश्वि ते क्षेमं अदीधरन्) प्रजाजनोमें तेरे लिये क्षेम पारण करें ॥ ५ ॥

हे (इन्द्र) नरेन्द्र ! (यः सजातः) जो सजातीय है (च यः निष्टयः) और जो विजातीय है (ते हवँ विश्व-वृत्) तेरे आदरपायिताके नियमों विवाद करे, (तं अपाञ्चं कृत्वा) उसको बाहिष्कृत करके (यथ इमं इह अव गमय) पश्चात् इसको यहाँ लाजो ॥ ६ ॥

भाषार्थ— राजा संकट समयमें अन्य देशमें छिप छिपकर भी क्यों न रहता हो, उसको पुनः अपनी राजगद्दीपर लाकर सिट्ठाना उचित है, ज्ञानी उसका मार्ग सुगम करे और सजातीय लोग उसको अपने राज्यमें प्रविष्ट करावें ॥ ५ ॥

मित्रजन उस राजाका बल बढावें और उसकी सहायता करें, सब देव प्रजाके समेत उस राजाका कल्याण करें ॥ ५ ॥ यदि सजातीय अथवा विजातीय कोई मनुष्य इस योग्य राजाका विरोध करनेवाला हो तो उसको राज्यसे बाहर करके बड़े आदर सत्कारसे राजाका प्रवेश अपने राज्यमें कराना चाहिये ॥ ६ ॥

यहाँ तृतीय सूक्तका अर्थ और भावार्थ हुआ। इसीके साथ चतुर्थ सूक्तका अर्थत घनिष्ठ संबंध है इसलिये उसका अर्थ और भावार्थ पहले देखकर पश्चात् दोनों सूक्तोंका मिलकर विचार करेंगे—

राजा का चुनाव ।

(४)

(ऋषिः— अथर्वा । देवता— इन्द्रः, नानादेवताः)

आ त्वां गन्धर्षं सह वर्चसोर्दिहि प्राङ् विश्वां पतिरेकुराद् त्वं वि राज ।

सर्वांस्त्वा राजन्प्रदिशो हृष्यन्तूपसद्यो नमस्यो मवेह

॥ १ ॥

अर्थ— हे राजन् ! (राष्ट्रं त्वा आगन्) यह राष्ट्र तुझको प्राप्त हुआ है, अब (वर्चसा सह उद्+इदि) तेजके साथ उदयको प्राप्त हो। (विश्वांपतिः प्राङ् एकुराद् एवं विराज) प्रजाओंका स्वामी प्रसन्न एक सभात् होकर तू विराजमान हो। (सर्वाः प्रदिशः हृष्यन्तु) सब दिशा और उपदिशाएं तुझे पुकारें और (इह उपसद्यः नमस्यः मय) यहाँ पास पहुंचने योग्य और नमस्कारके लिये योग्य हो ॥ १ ॥

भाषार्थ— हे राजन् ! यह राष्ट्र अब तुझको प्राप्त हुआ है अब अपने तेजको प्रकाशित कर, सब प्रजाओंका एक सभात् होकर विराजमान हो। सब दिशा और उपदिशाओंमें रहनेवाले सब लोग तुझे ही पारें और तू सबके लिये प्राप्त होनेवाला बनकर सबसे सुपूजित हो ॥ १ ॥

३ (अथर्व. भाष्य, काण्ड ३)

त्वां विशो वृणतां राज्यायि त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः ।
 वर्ष्मन्नाष्टस्य ककुदिं श्रयस्व ततो न उग्रो वि भञ्जा वसूनि ॥ २ ॥
 अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाता अग्निर्दूतो अजिरः सं चराते ।
 जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहु वृलिं प्रति पश्यासा उग्रः ॥ ३ ॥
 अश्विन! त्वाग्रै मित्रावरुणोभा विश्वे देवा मरुतस्त्वा ह्यन्तु ।
 अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो वि भञ्जा वसूनि ॥ ४ ॥
 आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते चावापृथिवी उभे स्ताम् ।
 तदयं राजा वरुणस्तथाह स त्वायमह्वत्स उपेदमेहि ॥ ५ ॥

अर्थ— (विशः त्वां राज्याय वृणतां) प्रजायें तुझको राज्यके लिये स्वीकार करें (इमाः देवीः पञ्च प्रदिशः)
 ये दिग्ब्य पांच दिशाये (त्वां वृणतां) तुझको राज्यके लिये स्वीकार करें । त् (नाष्टस्य वर्ष्मन् ककुदि श्रयस्व) राष्ट्रके
 ऐश्वर्यमय उच स्थानपर आश्रय कर (ततः उग्रः) पश्चात् उग्र बीर बनकर (नः वसूनि वि भञ्जा) हम सबके लिये धनका
 विभाग कर ॥ २ ॥

(हविनः सजाताः त्वा अच्छ यन्तु) बुलानेवाले सजातीय लोग तुझको सम्मानपूर्वक मिलें (अग्निः अजिरः
 दूतः संचराते) अग्नि वेगवान् दूत संचार करे । (जायाः पुत्राः सुमनसः भवन्तु) त्रिवी और पुत्र उत्तम मनवाले
 हों । (उग्रः बहु वृलिं प्रति पश्यासौ) उग्र होकर तू बहुत भेटको देख ॥ ३ ॥

(अश्वे) आगे (अश्विनौ, मित्रावरुणौ, विश्वेदेवाः, मरुतः) अश्विनौ, मित्रावरुण, सब देव और मरुत (त्वा
 त्वा ह्यन्तु) तुझको बुलावे । (अध वसु-देयाय मनः कृणुष्व) पश्चात् तू धनका दान करनेके लिये अपना मन कर
 (ततः उग्रः नः वसूनि वि भञ्जा) पश्चात् उग्र होकर हम सबको धनका भाग दे ॥ ४ ॥

(परमस्याः परावतः आ प्रद्रव) अति दूर देशसे यहाँ आ । (उभे चावापृथिवी ते शिवे स्तां) दोनों
 चावापृथिवी तेरे लिये वरदानकारी होंवे । (तथा अयं राजा वरुणः) वैसा ही यह वरुण राजा (तत् आह) यह कहता
 है (सः अयं त्वा अहत्) वह यह तुझको बुलावे (सः इदं उप-आ-रहि) वह तू हम राष्ट्रको प्राप्त कर ॥ ५ ॥

भाषार्थ— सब प्रजाएं राज्य चलानेके लिये तेरा ही स्वीकार करें। सब दिशा और उपदिशाओंमें रहनेवाले प्रजाजन
 तुझे ही पबंध करें । तू राष्ट्रके परम उच ऐश्वर्यवान् राजपदपर आरुढ़ होकर, बीर बनकर, हम सबके लिये धनको योग्य विभागेसे
 बांट दे ॥ २ ॥

तेरी इच्छा करनेवाले सजातीय लोग सम्मानपूर्वक तेरे पक्षमें रहें, अग्निके समान तेरे तेजस्वी दूत चारों दिशाओं संचार
 करें । तेरे राष्ट्रमें धर्मपरिन्यां और बालबच्चे उत्तम मनवाले हों । तू शरीर होकर बहुत भेट प्राप्त कर ॥ ३ ॥

सब देवताएं तेरी सहायता करें । तू धनका दान करनेमें अपना मन स्थिर कर और शरीर होकर हम सबमें योग्य
 विभागेसे धन बांट दे ॥ ४ ॥

यदि तू दूर देशमें भी गया तो भी अपने राष्ट्रमें शीघ्र ही वापस आ । सब देव तेरी सहायता करें । तू सदा अपने राष्ट्रमें
 ही रह ॥ ५ ॥

इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः ।

स त्वायर्महत्स्वे सधस्ये स देवान्यक्षत्स उ कल्पयाद्विशः

॥ ६ ॥

पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः सुद्वत्य वरीयस्ते अक्रन् ।

तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्ययन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह

॥ ७ ॥

अर्थ— हे (इन्द्र-इन्द्र) राजाओंके महाराजा ! (मनुष्याः परेहि) मनुष्योंके समान परे जा और (हि वरुणैः संविदानः) बरिष्ठोंसे मिलकर तू (सं ह्यज्ञास्थाः) ठीक प्रकार जान सकता है । (सः अयं स्वे सधस्ये त्वा अहत्) वह यह अपने घर तुझे सुलावे (सः देवान् यक्षत्) वह देवोंका मंत्र करे, और (स उ विशः कल्पयात्) वह निश्चयसे प्रजाओंको समर्थ करे ॥ ६ ॥

(पथ्याः रेवतीः) सम्मार्गसे चलनेवाली धनवाली (बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य) बहुत प्रकारसे विविध रूपवाली सब प्रजाएं मिलकर (ते वरीयः अक्रन्) तेरे लिये श्रेष्ठ स्थान बनाती हैं । (ताः सर्वाः संविदानाः त्वा ह्ययन्तु) वे सब एकमत होकर तुझे सुलावे पथात् तू (इह उग्रः सुमनाः दशमीं वश) यहाँ उग्र और उत्तम मनवाला होकर दसवीं दशकतक राज्यको वशवर्ती कर ॥ ७ ॥

भावार्थ— तू साधारण मनुष्योंके समान ही अपने आपकी मानकर देशमें सर्वत्र भ्रमण कर और राष्ट्रेके वरिष्ठ मनुष्योंमें मिलकर सब बातें ठीक प्रकार समझ ले । ऐसा करनेसे लोग अपने घरमें तुझे आदरसे सुलावेंगे और वे यशवाग भी करेंगे । इस प्रकार प्रजाओंके साथ मिलजुलकर सब प्रजाको सब प्रकारसे समर्थ कर ॥ ६ ॥

प्रजा सम्मार्गसे चलनेवाली हो, और धनवाली हो । बहुत प्रकारके रंगरूपोंसे विभिन्न रहनेपर भी सब प्रजा मिलकर एक भावसे तुझे श्रेष्ठ माने और सब एकमतसे तेरी प्रशंसा करे । इस प्रकार वीरतासे और शुभ मनोभावसे राज्य करता हुआ तू सौ वर्षतक राज्य अपने वशमें रख ॥ ७ ॥

पूर्व सम्बन्ध ।

इस तृतीय काण्डके प्रारम्भके दो सूक्तोंमें युद्ध विषय है । शत्रुघेनाके साथ युद्ध करके उसका पूर्ण पराभव करनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश इन दो सूक्तोंमें है । इस प्रकार विजय प्राप्त होनेके पश्चात् अपने राजाका राजधानीमें प्रवेश होता है, उस समयके उत्सवके ये मंत्र हैं, अथवा इस विजयको प्राप्त करके राजा बापस आगया तो उस समय उसे करने योग्य उपदेश इन दो सूक्तोंमें है । तृतीय और चतुर्थ सूक्त विशेष युद्ध दृष्टिसे देखनेसे और एक बात प्रतीत होती है, वह यह है कि— 'किसी समय शत्रुघ्न्य द्वारा परास्त हुआ राजा किसी दूसरे देशमें या जंगलोंमें छिपकर रहता है और उसके राज्यपर दूसरे विदेशी राजाका अधिकार होता है । ऐसे समयमें राज्यमें रहनेवाले लोग तथा पुराने समयके अधिकारसंपन्न वीर राजवक्रान्ति करनेका यत्न करें, पुरुषार्थ प्रयत्नसे शत्रुका पराभव करें और अन्ते पुराने राजाको लौट कर बडे सम्मानके साथ पुनः राजगद्दीपर स्थापित करें ।' यह भी उपदेश यहाँ दिखाई देता है ।

पुराणोंमें इन्द्रकी एक कथा भी इस प्रकारकी रची हुई है, कि अशुरोंके द्वारा इन्द्रका पराभव हुआ, वह भाग गया और छिपकर किसी प्रदेशमें रहा, देवोंने अपने पुरुषार्थ प्रयत्नसे अशुरोंका पराभव करके इन्द्रको ढूंढा और पुनः इन्द्रपदपर स्थापित किया । यह कथा महाभारत उद्योगपर्व अ० १० से १५ तक पाठक देख सकते हैं । पाठक इन सब राजकीय घटनाओंको मनमें रखते हुए इन दो सूक्तोंका अभ्यास करें और मनन करें । ऐसा करनेसे ही इन सूक्तों द्वारा राजनीतिका बहुतसा उपदेश मिल सकता है ।

आत्मरक्षा ।

तृतीय सूक्तने सबसे प्रथम आत्मरक्षाका बड़ा महत्त्वपूर्ण संदेश प्रारंभमें ही कहा है । यह संदेश हरएक वैदिकधर्मियोंके ध्यानमें धारण करना चाहिये—

इह स्व-पा भुवत् (इति) अचिक्रदत् ॥

(सू. ३, मं. १)

'यहाँ आत्मरक्षा करनेवाला मनुष्य बने, ऐसा पुकार पुकार

कर कहा गया है । ' इष जगत्तमं यदि मनुष्यस्यो संमानये जीवित इहना है तो (स्वपाः) आत्मरक्षा करना उसके लिये अत्यावश्यक है । यह बात जैसी एक मनुष्यके लिये सत्य है वैसी ही एक समाज और एक राष्ट्रके लिये भी सत्य है । जिस समय एक समाज आत्मरक्षा करनेमें दक्ष नहीं रहता उस समय दूसरा समाज उसपर हमला चढ़ानिमें प्रवृत्त होता है । इषी प्रकार जिस समय एक राष्ट्र आत्मरक्षा करनेमें समर्थ नहीं होता है, उषी समय दूसरा राष्ट्र उसपर आक्रमण करता है और उसको परतंत्र बनाकर उसपर अधिकार चलाने लगता है । आत्मरक्षा करनेकी असमर्थता बड़ा भारी अपराध है, जो राष्ट्र परतंत्र हुए है वे स्वानुभवसे इस वैदिक उपदेशका महत्त्व जान सकते हैं । आत्मरक्षाका अर्थात् महत्त्व है इषीलिये इष मंत्रने कहा है कि यह बात वारंवार पुकार पुकार कर कही है । जो बात अर्थात् महत्त्वकी होती है वही वारंवार पुकार पुकार कर कही जाती है । इस कारण जो बात वेदने अनेक बार पुकार पुकार कर कही है वह मनुष्यमात्रकी उत्पत्तिकी दृष्टिसे अर्थात् महत्त्वपूर्ण है इसमें कोई संदेह ही नहीं है । पाठक इष दृष्टिसे इस आत्मरक्षाके वैदिक उपदेशका स्मरण रखें ।

आत्मरक्षाका सामर्थ्य न रखनेवाला राष्ट्र और उषका राजा ही परास्त होता है और आपत्तिमें गिरता है । आत्मरक्षा करनेवालेकी तेजोवृद्धि होती है इस विषयमें इषी मंत्रका अगला भाग देखिये

अग्ने ! उरुची रोदसी व्यचस्व ॥ (सू. २, मे. १)

' अग्निसे समान तेजस्वी ! तू इस विद्याल यावापृथिवीके अंदर फैल जाओ । ' आत्मरक्षा करनेवालेका आदर्श अग्नि है, यह अग्नि सदा उर्व्वं गतिसे अलता और प्रकृतता है । ' अग्नेः ऊर्ध्वज्वलनं ' अग्निकी ज्वलनकी गति उच्चगति है । उच्चगतिवाले सदा उन्नत ही होते रहेंगे और अपना तेज फैलानेमें और संपूर्ण जगत्की प्रकाशमान करेंगे । आत्मरक्षा करनेवालोंकर यश जगत्तमं चारों दिशाओंमें फैलता ही है । आत्मरक्षा करनेवालेकी गति ही अग्निसे प्रबंध प्रकाशसे बतलाई है । जिसको नित्य देखकर वैदिकधर्मा आत्मरक्षा करनेके अपने कर्तव्यको कभी न भूलें । अब देखिये कि आत्मरक्षा न करनेवालेकी अवस्था क्या होती है—

अन्यक्षत्रे अपरुक्षं चरन्तं ॥ (सू. १, मं. ४)

' दूसरेके देशमें प्रतिबंधमें भरकटा है । ' जो आत्मरक्षा नहीं करता वह दूसरेके अधिकारमें प्रतिबंधमें पड़ता है, दूसरे देशमें छिपछिपकर रहता है, किसी न किसी प्रकार बंदिखानेमें

सब्धता रहता है । यह आत्मरक्षा न करनेका परिणाम है । यह परवशताका मयानक परिणाम आत्मरक्षा न करनेसे प्राप्त होता है यह जानकर मनुष्य, समाज, राष्ट्र तथा राजा आत्मरक्षाका अपना परमधेय कर्तव्य कभी न भूलें; यह आदेश वेद इस सूक्तद्वारा देता है और वारंवार उद्घोषित करता है कि मनुष्य इस आत्मरक्षाकी बातको कभी न भूलें ।

सौत्रामणी याग ।

' सौत्रामणी ' नामक एक बड़ा भारी यज्ञ है । इसमें मुख्य ध्येय अथवा साम्य क्या है वह तैत्तिरीय संहिताके बचनसे स्पष्ट होता है—

इन्द्रस्य सुसुषानस्य दशद्येन्द्रियं चीर्यं परापतत् ।
तदेवाः सौत्रामण्या सममरन् ॥

(तै. सं. ५.१.११४)

' इन्द्रका चीर्य दश दिशाओंमें विभिन्न मार्गोंसे विभक्त हो गया था, वह देवोंने सौत्रामणी यागसे एकत्रित किया । ' अर्थात् इस सौत्रामणी यागका साम्य विघ्नी हुई शक्तिको इकट्ठा करना है । ' सुसुषानम् ' शब्दका अर्थ है (सु) उत्तम (शानम्) रक्षा करनेकी सुद्विपूर्वक शक्ति । यह जिससे प्राप्त होती है उसको ' सो-त्राम-णी याग ' कहते हैं । पूर्वोक्त तैत्तिरीय संहिताके बचनमें भी विघ्नी हुई इन्द्रकी शक्ति इकट्ठी करनेके लिये ही सौत्रामणी याग बनाया गया और उस यागसे वह शक्ति केन्द्रीभूत होगई इत्यादि बात स्पष्ट है । अर्थात् सौत्रामणी यागसे संगठन होता है और राष्ट्रीय शक्ति बढ़ती है । इषीलिये इस तृतीय सूक्तके द्वितीय मंत्रमें सौत्रामणी यज्ञके द्वारा राज्यघ्नत राजाको फिर राज गद्दीपर उतार दें, ऐसा कहा है—

दूरे सन्तं विप्रं इन्द्रं सखपाय अरुपासः
आचपाययन्तु । (सू. २, मं. २)

' राज्यसे दूर हुए ज्ञानी नरेन्द्रको सख्यके लिये तेजस्वी लोग उस गुप्त स्थानसे यहाँ लवें । ' राज्यघ्नत राजा बंगलीमें या (अन्य-क्षेत्रे अरुक्षं चरन्तं । मं. ४) दूरे देशमें छिप छिपकर रहता है उसको पुनः राज्यपर स्थापित करनेके लिये ज्ञानी लोग अपने राज्यमें ले आवें; उसका सख्य पुनः अनताके साथ पूर्ववत् हो; और ज्ञानी इन्द्र ही राजगद्दीपर बैठ जावे; इसलिये वह सब प्रयत्न है । यह सब प्रयत्न करनेके लिये सौत्रामणी याग किया जाता है ऐसा इसी द्वितीय मंत्रके उक्तार्थमें कहा है—

देवाः अस्मै गायत्र्यं वृहतीं अर्कं सौत्रामण्या
वृष्टयन्त । (सू. २, मं. २)

‘ देव इस राजाके लिये गायत्री, बृहती आदि रूप अर्चन सत्स्य घौत्रामणी यागके द्वारा करते हैं । ’ राजगद्दीपर राजाको विठलनेका प्रबंध करनेके लिये घौत्रामणी याग करते हैं; इस यागसे अपनी बिखरी हुई शक्तिको इकट्ठा करते हैं और उस शक्ति द्वारा उस राजाको अपने राज्यमें लाकर उसका बन्धन साकार करते हैं । इस सत्कारका स्वरूप देखिये—

वरुणो राजा त्वा अद्भ्यः ह्ययतु ।

सोमः त्वा पर्वतेभ्यः ह्ययतु ।

इन्द्रः त्वा आभ्यः विद्भ्यः ह्ययतु ॥

(सू. ३, मं. ३)

अश्विना ते सुगं पन्यां कृणुताम् ॥

(सू. ३, मं. ३)

प्रतिजनाः त्वा ह्ययन्तु, मित्राः प्रति अयुयत ॥

(सू. ३, मं. ५)

‘ वरुण राजा जलस्थानेके संरक्षणके लिये तुझे बुलावे, सोम राजा पर्वतोंको रक्षाके लिये तुझे बुलावे, इन्द्र तुझे इन प्रजाजनकोंकी सुखवस्थामें लिये बुलावे । अग्निदेव यहाँ अग्निका तेरा मार्ग सुगम करे । प्रलेक प्रजाजन आदरसे तुझे बुलावे और मित्र सदा तेरा बल-बँडावे । ’

राज्य प्रबंधमें समुद्र किनारेका प्रबंध, पर्वत स्थानोंका प्रबंध ये दो प्रबंध अन्तर्राष्ट्रीय महारथके हैं और प्रजाजनकोंके सुप्रबंधका कार्य राष्ट्रके अंतर्गत व्यवहारका है । समुद्रमें नौका, जलदुर्ग आदिकी रक्षाका प्रबंध करना होता है और पर्वतोंपर भी कौलि आदिका प्रबंध आवश्यक होता है । प्रजाकी सुखवस्थाका प्रबंध तो राज्यशासनका मुख्य भाग है ही, इसमें कोई संदेह नहीं है । इन प्रबंधोंकी करनेके लिये राजाको पुनः राजगद्दीपर स्थापित किया जाय, यह तार्थ्य यहाँ है । राजाके चर्तव्योंकी भी सूचना यहाँ मिलती है । सब देवताओंकी सहायता भी इस राजाको प्राप्त हो और इस प्रकार देवताओंकी सहायतासे बलवान बना हुआ अपने देशका राजा सत्रुके लिये असशय हो, यह इच्छा प्रजाजनोंके नेताओंके अन्तःकरणमें रहना चाहिये । देखिये इस विषयमें अगला मंत्र ही कहता है—

इन्द्राग्नी विश्वे देवाः विशि ते क्षेमं अन्वीधरन् ।

(सू. ३, मं. ५)

‘ इन्द्र, अग्नि और संपूर्ण अन्य देव प्रजामें तेरा कल्याण संवर्धित करें । ’ अर्थात् इन देवोंकी कृपासे तेरी प्रजाका भी कल्याण होने और प्रजाके आनंदके साथ तेरा भी कल्याण होने । यहाँ—

ते क्षेमं विशि ।

(सू. ३, मं. ५)

‘ तेरा (राजाका) कल्याण प्रजामें वसता है । ’ अर्थात् प्रजाजनोंके कल्याण होनेसे ही राजाका कल्याण होना संभव है अन्यथा नहीं । जो राजा प्रजाके कल्याणके साथ अपने कल्याणका संबंध नहीं आनता वह सच्चा राजा ही नहीं है । यजुर्वेदमें भी कहा है कि—

विशि राजा प्रतिष्ठितः । (यजु. २०।९)

‘ प्रजाके आश्रयसे राजा सुप्रतिष्ठित होता है । ’ प्रजा न हो तो राजा कहा रहेगा ? परन्तु राजा न होनेकी अवस्थामें प्रजा रद्द सकती है, इस कारण कहने हैं कि राजा प्रजाके आश्रयसे रहता है, परन्तु प्रजा राजाके आश्रयके बिना भी रह सकती है । अतएव राजाका कल्याण प्रजाके कल्याणमें है । ‘ ते क्षेमं विशि ’ इस अर्थमें मंत्रका दृष्ट हृष्टिसे पाठक मनन करें । ऐसे राजाको सजातीय लोग अपने राज्यमें पुनः स्थापन करें, इस विषयमें दस सूक्तका चतुर्थ मंत्र देखिये—

सजाताः इमं (राजानं) अभि-सं-विशध्वम् ॥

(सू. ३, मं. ४)

‘ सजातीय लोग इस राजाको (अभि) चारों ओरसे (सं) ठीक प्रकार (विशध्वं) प्रवेष्ट करायें । ’ राजा अपने राज्यमें आवे तो सजातीयोंके साथ ही आवे । वे उसकी सुरक्षितताका प्रबंध करें और चारों ओर उत्तम प्रबंध रखें, राजाकी सुरक्षितताके लिये उत्तम यत्न किया जाय और स्वराष्ट्रमें ऐसे सुप्रबंधके साथ उसका प्रवेश कराया जाय । सजातीय (सजाताः) लोग ही राजाके रक्षक हो सकते हैं, परजातीय लोग किस समय योक्षा देने इसका कोई नियम नहीं है, इसलिये राजा भी स्वजातीय लोगोंके ऊपर अधिक विश्वास रखे और जनका योग्य सम्मान करता रहे । नहीं तो कई राजा ऐसे होते हैं कि जो विदेशियों और परकीयोंपर तो अधिक विश्वास रखते हैं और स्वदेशीयों तथा स्वजातीयोंपर अविश्वास करते हैं । इस अज्ञान-घातके बतौबत्ता परिणाम उसको अंतमें बुरी तरह भोगना पड़ता है । इसलिये इस मंत्रमागने स्वजातीय लोगोंको विश्वासमें लेनेकी सूचना की है जो राजनीतिमें विशेष महत्त्वकी है । जहाँ स्वजातीय लोग सहायताके लिये तैयार हैं वहाँ राजा विश्वासघने वेगपूर्वक जायें और अपना कार्य प्रारंभ करे; इस विषयमें यह मंत्र देखिये—

इयेनः मृत्वा इमाः विद्याः आपत ॥ (सू. ३, मं. ३)

‘ इयेन पक्षीके समान वेगसे इस प्रजामें आ पठ ’ अर्थात् वहाँ प्रजाजनोंके मद्द पुरुष सहायता करनेको तैयार हैं वहाँ राजाको स्वराके साथ पहुँचकर अपना प्रजापालनका कार्य करना चाहिये ।

विरोधी मनुष्य ।

सम्राट्तीय लोग प्रायः सदा राजाकी सहायताके लिये तैयार ही रहेंगे, क्योंकि राजाका गौरव बढ़नेसे उनका भी दश बढ़ता ही है, तथापि कई लोग शत्रुपक्षको मिलकर उत्तम राजाको राष्ट्रमें पुनः स्थापित करनेके विरोधी भी होना संभव है, उनका क्या किया जाय, यह संका यहाँ हो सकती है; इस संकाका उत्तर इस सूक्तके षष्ठ मंत्रने दिया है, देखिये—

यः सजातः, यः च निष्टयः, ते ह्ये च विचदत्,
तं अपाञ्चं कृत्वा, अथ इमं इह अवगमय ॥

(सू. ३, मं. ६)

‘ कोई सम्राट्तीय अथवा कोई विज्रातीय या विदेशीय मनुष्य तेरे राज्यारोहणके द्युम प्रसंगके विरुद्ध विवाद खडा करनेवाला हो तो उसको बहिष्कृत करके, पचात् इस राजाको यहाँ ले आओ । ’

सर्व संमतिसे जिस राजाको राज्यकी गद्दी दी जाती है, उसके विरुद्ध कार्यवाही करनेवाला यदि कोई मनुष्य हो तो (अपाञ्चं तं कृत्वा) उसको अलग करके ही अन्य श्रेष्ठ लोगोंको अपना प्रशास्य कर्तव्य करना चाहिये। राज्यकी अंतर्गत व्यवस्था करनेके प्रसंगमें इस प्रकारके कई झगडे होते ही रहते हैं, इस लिये उसको दूर करनेका एक उपाय यहाँ बताया है, इसके अन्तःसंधानसे पाठक अन्य उपद्वय दूर कर सकते हैं ।

चतुर्थ सूक्त ।

यहाँ तृतीय सूक्तका विचार समाप्त हुआ और अब इषी विषयसे संबंध रखनेवाले चतुर्थ सूक्तका विचार करते हैं । तृतीय सूक्तका संबंध बाहर रहनेवाले राजाको पुनः स्वराज्यमें लाकर राज्यपर स्थापित करनेके महत्त्वपूर्ण कार्यके साथ है और इस चतुर्थ सूक्तका संबंध सर्वसाधारण राजाको और विशेषतः प्रजाके जुने हुए राजाको राजगद्दीपर बिठलानेके कार्यके साथ है, इसलिये इस चतुर्थ सूक्तका संबंध एक रीतिसे तृतीय सूक्तके साथ है और दूसरे विचारसे देखा जाय तो यह चतुर्थ सूक्त स्वतंत्र भी है । राजाका राज्याधिक्य इस चतुर्थ सूक्तका मुख्य विषय है । इस सूक्तमें प्रजाद्वारा राजाका चुनाव होनेका वर्णन मुख्य स्थान रखता है, वही पहले देखेंगे—

राजाका चुनाव ।

राजाका पुत्र ही अथवा नया ही योग्य होकर हो, उसको प्रजाकी संमतिले ही राज्य प्राप्त होता था । भीरामचंद्र जैसे सर्वमान्य पुरुषोंको भी राज्य प्राप्त होनेके लिये प्रजाकी अनुमति लेनी पड़ी थी, इस बातको देखनेसे प्रजाकी संमति प्रबल शक्ति

रखती थी ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है, इस सूक्तने इस वैदिक रीतिपर बहुत ही उत्तम प्रकारा बाला है, देखिये—

प्रदिशः देवाः इमाः पञ्च विशाः त्वां राज्याय
वृणताम् । (सू. ४, मं. २)

‘ दिशा उपदिशाओंमें रहनेवाली यह दिव्य पांच प्रकारकी प्रजा तुझको राज्यके अधिपत्यके लिये चुनें । ’ प्रजा राज्यप्राप्तन चलानेके लिये तेरा स्वीकार करे, ऐसा कहने मात्रसे राजगद्दीपर राजाको रखने या न रखनेका अधिकार प्रजाके आधीन है यह बात स्वयं सिद्ध होती है । अथर्ववेदमें इस बातको बतानेवाले कई सूक्त हैं, उनका विचार उनके स्थानपर यथावत्थाप्य होगा, पाठक भी ऐसे स्थान स्थानपर आनेवाले उल्लेखोंको इकट्ठा करके सरस्य मितकर इकट्ठा विचार करेगे तो उनको वैदिक राजनीति शास्त्रका ज्ञान होगा । अस्तु । इस प्रकार राजाका चुनाव करके उनकी राज्यपदके लिये स्वीकार करनेवाला अधिकार प्रजाका है यह बात इस मंत्रभाग द्वारा सिद्ध होगई, अब इस सूक्तके इसी भावके शेषक मंत्रभाग यहाँ देखिये—

हे राजन् ! सर्वाः प्रदिशः (प्रजाः) त्वा ह्यन्तु ।
(सू. ४, मं. १)

हविनः सजाताः त्वा अच्छ यन्तु । (सू. ४, मं. २)

बहुधा विरूपाः सर्वाः (प्रजाः) संगत्य ते

घरीयः अकन् । (सू. ४, मं. ७)

ताः संविदानाः सर्वाः (प्रजाः) त्वा ह्यन्तु ।
(सू. ४, मं. ७)

‘ हे राजन् ! सब दिशाओंमें रहनेवाली सब प्रजा तुझे पुकारें । भेंट देनेवाले स्वराज्यीय लोग तेरे संमुख आ जावें । बहुत करके विभिन्न रूपवाली सब प्रजा एकत्र समा करके तुझे श्रेष्ठ बनावें । वह जानेवाली सब प्रजा तुझे ही चुल्लवें । ’ इत्यादि मंत्रभाग प्रजाकी अनुमति, राजाके लिये अत्यंत आवश्यक है यही बात बता रहे हैं । इसलिये इस सूक्तका स्पष्ट आशय यही है कि प्रजाद्वारा स्वीकृत होकर ही राजा राजगद्दीपर आ जावे । किसी पुरुषको जन्मतः राजगद्दीका अधिकार नहीं हो सकता, परंतु जिसको प्रजा स्वीकृत करे वही राजपदके लिये योग्य हो सकता है । इस सूक्तके उपदेशोंमें यह महत्त्वपूर्ण बात पाठक अवश्य देखें और वैदिक धर्मके अनुकूल प्रजाविशुक्त तथा प्रजासंमत ही राजा है यह स्मरण रने ।

प्रजाका पालन ।

राज्याधिक्यके समय ही प्रजाके जुने और पसंद किये राजाको राजगद्दीपर अधिकार होनेके समय बताया जाता है कि अब तेरा प्रजापालनरूप कर्तव्य है । देखिये—

- १ राष्ट्रं त्वा आगन्,
- २ सर्वसा सह उदिदि,
- ३ विशां पतिः प्राङ् पकराट् त्वं विराज,
- ४ उपसद्यः नमस्यः च इह भव ॥ (सू. ४, मं. १)

' हे राजन् ! (१) अब तेरे पास यह राष्ट्र आगया है, (२) अपने प्रकाशके साथ उदयको प्राप्त हो, (३) प्रजाका पालक मुख्य एक राजा होकर तू विशेष प्रकाशमान हो, (४) तथा सब प्रजाओंको पास जाने योग्य और नमस्कार करने योग्य बन । ' इस प्रथम मंत्रमें ' प्रजा-पति ' बन, यह आदेश है । पति शब्दका यद्यपि प्रसिद्ध अर्थ स्वामी या मालिक है तथापि यह शब्द ' पा ' धातुसे बननेके कारण (पति रक्षति) पालन करनेवालेका वाचक ही मुख्यतया यह शब्द है । जो पालन करता है वही पति कहलाने योग्य है, इसलिये प्रजापति (विशां पतिः) ये शब्द प्रजापालन रूप राजाका कर्तव्य बताते हैं । राजा शब्द मो वस्तुतः अनियंत्रित राजाका वाचक नहीं है, प्रसूत (रंजयति) प्रजाका रंजन करनेवाले वरम राजाका वाचक है । इस प्रकार यहां प्रजापालन रूप राजाका मुख्य कर्तव्य बताया है । ऐसे राजाको ही प्रजा प्रेमसे (नमस्यः) नमन करती है अर्थात् उचीका स्तकार करती है । राजा ऐसा हो कि जो आवश्यकता पड़नेपर प्रजाको (उपसद्यः) मिल सके । त्रिसका दर्शन प्रजा कर सके ऐसा राजा हो । जो राजा सदा मंत्रियोंसे घिरा रहता है और त्रस्त प्रजाका दर्शन भी नहीं कर सकता वह प्रजासे नमस्कार कैसा प्राप्त कर सकता है ? इससे स्पष्ट हो सकता है कि प्रजाका नमस्कार प्राप्त करनेके लिये प्रजाको मिलना आवश्यक ही है ।

इस मंत्रके (राष्ट्रं त्वा आगन्) राष्ट्र तेरे पास आ गया है इस वाक्यमें स्पष्ट हो रहा है कि राष्ट्र अपनी संमतिसे तेरे समीप आया है, अर्थात् राष्ट्रके पांच प्रकारके प्रजाजनोंने राजगृहीके लिये तुझे चुनाव है इसलिये उनकी निज संमतिसे ही यह राष्ट्र तुझे प्राप्त हुआ है, इस कारण तुझे उचित है कि तू राष्ट्रका पालन ऐसा कर कि सदा सर्वदा मत्विष्य कालमें राष्ट्रकी संमति तेरे अनुकूल ही रहे और कभी प्रतिकूल न बने । इस मंत्रका विचार करके पाठक जानें कि राजाको प्रजाकी अनुकूल संमतिकी कितनी आवश्यकता है । प्रजाकी अनुमतिके बिना राजा राजगृहीपर रह ही नहीं सकता, यह स्पष्ट आशय यहां प्रतीत होता है ।

धनोका विभाग ।

प्रजाओंमें धनका विषय विभाग हुआ तो अति धनी बने हुए लोग निर्धनोंपर बड़ा दबाव डालते हैं और उस कारण

निर्धन लोग पीछे जाते हैं । इसलिये राजाके आवश्यक कर्तव्योंमेंसे एक यह कर्तव्य वेदने बताया है कि वह प्रजाओंमें योग्य प्रमाणसे वधुविभाग करे । धनकी विषमता प्रजामें न हो इस विषयमें वेदमें स्थान स्थानपर आदेश है—

- १ राष्ट्रस्य धर्मनं ककुदि अयस्व
ततः उग्रः (भूत्वा) नः वसूनि वि भज ॥
(सू. ४, मं. २)
- २ अघ मनः वसुदेयाय कृणुष्व
ततः उग्रः (भूत्वा) नः वसूनि वि भज ॥
(सू. ४, मं. ४)

' (१) राष्ट्रके ऐश्वर्यमें उच्च स्थानपर लड़कर, उग्र बनकर हमारे लिये धनको विभक्त कर । (२) पथात् अपना मन धनके दानके लिये अनुकूल कर, उग्र बनकर हमारे लिये धनका विभाग करके बांट दे । ' इन दो मंत्रभागोंमें पहले कहा है कि ' हे राजन् ! तू सबसे पहले राष्ट्रके अत्यंत उच्च स्थानपर अर्थात् राजगृहीपर आरूढ हो, पथात् उग्र बन अर्थात् नरम दिलवाला न बन और प्रजामें धनका विभाग कर । '

यद्यपि राजा प्रजाकी अनुमतिसे ही राजगृहीपर बैठता है तथापि उसको गृहीपर बैठनेके पथात् उग्र बनना चाहिये । यदि वह नरम दिलवाला बनेगा तो उससे राजाके कर्तव्य ठीक प्रकार विभागे जाना अशक्य है । धर्मोपमंका निर्णय करके अथमानरण करनेवालेको योग्य शासन करनेका कार्य उग्र बननेके बिना नहीं हो सकता । इसलिये राजाको उग्र बनना अत्यंत आवश्यक है । उग्र बनकर और पशुपात छोड़कर अपना कर्तव्य राजाको करना चाहिये ।

धनविभाग ठीक प्रकार करनेके लिये राजाको न तो बनि-कौका पशुपात करना योग्य है और ना ही निर्धनोंका फल लेना चाहिये । राष्ट्रमें धन विषम प्रमाणमें न बंट जाय यह देखते हुए अपना वधुविभागका कर्तव्य पूर्ण करना चाहिये । यह बड़ा कठिन है, परंतु राज्यकी सुस्थितिके लिये अत्यंत आवश्यक है । धनकी विषमता, अधिकारकी विषमता, ज्ञानकी विषमता और जातीकी उच्चनीचताकी विषमता आदि अनेक विषमताएं होती हैं, उनमें धन और अधिकारकी विषमता बड़ी पाठक होती है, इस विषमताके कारण दूबे हुए मनुष्य उठना कठिन हो जाता है और जो दूबे जातीकी भयानक स्थिति होती है वह सष धानते ही हैं । इसलिये वधुविभाग नामक राजाके कर्तव्योंमें धनविषयक विषमता दूर करनेका उपदेश किया है । इसका महत्त्व पाठक समझें ।

शुभसंकल्प ।

प्रजाजनोंको शुभसंकल्पवाले बनाना भी राजाका एक सुन्दर कर्तव्य है, इसका प्रारंभ राष्ट्रकी माताओं और राष्ट्रके सुगुणोंसे होना योग्य है इस विषयमें देखिये—

जायाः पुत्राः सुमनसाः भवन्तु । (सू. ४, मं. ३)

हे राजन् । तू अपने राज्यमें शिक्षाप्रद प्रबंध ऐसा कर कि जिससे ' बियाँ और बालबच्चे उत्तम विचारवाले बनें । ' जिस राष्ट्रकी माताएं और बालबच्चे सब उत्तम विचारवाले बने हों उस राष्ट्रकी गणना स्वर्गमें ही हो सकती है । सुविचारवाली कन्याएं और शुभसंकल्पवाले कुमार राष्ट्रमें बढ़नेसे ही प्रजननकी वायुमंडल बन सकता है, अन्याया जो होना संभव है वह आजकल प्रलय ही दिखाई दे रहा है । राष्ट्रमें विद्याके अधिकारी, शिक्षक तथा अन्य प्रबंधके शासनाधिकारी जिस समय उत्तम प्रवृत्तियों हो सकते हैं उस समय ही राष्ट्रकी सब कन्याएं और सब कुमार उत्तम संकल्पवाले हो सकते हैं । पाठक इस बातका स्व विचार करे । यह एक अनूठे उपदेश वेदने बड़ा बताया है जो प्राचीन समय व्यवहारमें आया था, परन्तु अब वह फिर योग्य व्यवहारमें आना ऐसा दिखाई नहीं देता । क्योंकि आधुनिक वायुमंडल बुरा रहा है । इसलिये वैदिककालमें आर्योंको सचिंत है कि वे कुमारी और कुमारोंके अन्दर पवित्र विचारका वायुमंडल उत्पन्न करनेका प्रयत्न करें और यह आदर्श अपने मनमें सदा जाग्रत रखें ।

राजाका रहना सहना ।

राजाका व्यवहार सांप्रदायिक हो, राजा साम्राज्य मनुष्य जैसा बनकर किसी किसी समय राष्ट्रमें भ्रमण भी करे और प्रत्यक्ष जनताका सुख-दुःख अवलोकन करे । इस विषयमें आदेश देखिये—

इन्द्रेन्द्र ! मनुष्याः (घट्) परेत्यि,
घरुषीः संविदानः सं महास्वयाः ॥
स अये त्वा स्वये सघृह्ये बहव्,
स ल देवान् परतद् ; विशाः कल्पयात् ॥

(सू. ४, मं. ६)

' हे राजन् ! साम्राज्य लोगोंके समान बनकर दूर दूर तक जनतामें भ्रमण कर, वहाँके श्रेष्ठ मनुष्योंके साथ मिलजुलकर उनकी शक्तों अवस्थाको जान । वे तुझे अपने घर बुलावें और यत्न करें; इस प्रकार प्रजाओंकी उन्नति कर । '

यह मंत्र बहुत दृष्टियोगि मननपूर्वक देखने योग्य है । सबसे पहिले इसमें यह कहा है कि राजा किसी किसी समय अपने

दरबारों यादको अलग करके स्वयं साम्राज्य मनुष्योंके देशमें होकर साम्राज्य मनुष्योंके समान बनकर नगरोंमें भ्रमण करे और अपने आँखोंसे देखे कि अपने प्रजाकी आस्था कैसी है, क्या प्रजा किसी प्रकार कष्टमें है या सुखमें है । अपने कर्मचारी प्रजाके साथ कैसा व्यवहार करते हैं । वहाँके जो (वरुणः = वरः) प्रमुख लोग हों जो विशेष समझदार हों उनसे मिलकर सब अवसरको जान लो कि किस बातमें सुधार करके प्रजाका सुख बढ़ाना चाहिये । ऐसा स्वयं देखनेसे तुम्हें पता लग जायगा कि राज्यप्रबंधमें दोष कहाँ है और सुगु कहाँ है ।

दूसरी बात इसी मंत्रमें जो कही है वह यह है कि प्रजाके लोग राजाको विशेष समय अपने घर बुलावें, राजा वहाँ जावे, उनके साथ मिलजुलकर बातचीत करे, सब मिलकर नष्ट, नाश आदि करे; इस रीतिसे राजा प्रजाको समर्थ बनावे और प्रजाकी उन्नति करे ।

ये सभी उपदेश उत्तम हैं और जैसे राजाको वैसे ही राज-पुराणोंकी भी सदा मनन करने योग्य हैं ।

दूतका संचार ।

राजा स्वयं अपने राज्यमें भ्रमण करे और सब अवस्था स्वयं अपने आँखोंसे देखे, इस विषयमें ऊपर कहा ही है; परंतु अकेला राजा कदाचित् भ्रमण कर सकता है और कदाचित् देख सकता है, राजा लोग दूतोंके आँखोंसे ही देख सकते हैं, इसलिये दूतोंका संचार करानेके विषयमें तृतीय मंत्रमें कहा है—

व्यजिः दूतः संचराते । (सू. ४, मं. ३)

' दूता दूत संचार करे । ' राष्ट्रमें दूतोंका संचार करके राजा सब जानने योग्य बातें जान लेवे । और इस ज्ञानसे अपने शासन प्रबंधमें जो कुछ न्यूनताधिक करना हो वह करता रहे । अर्थात् दूत संचार यह शासनका एक आवश्यक कर्म है क्योंकि इससे राजाको शासन विषयक प्रजाके सुख-दुःखोंका पता लगता है । इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करके अपना शासन चलानेवाला राजा प्रजाको अक्षंत प्रिय होता है, इसलिये प्रजा भी उस राजाका उत्तम विविध प्रकारका भेंट देकर करती है । इस विषयमें देखिये—

(१) हविनाः सजाताः त्वा अच्छ यन्तु ॥

(सू. ४, मं. १)

(२) उपमः बहुं बलिं प्रति पदयासि ॥ (सू. ४, मं. १)

(१) ' हवि लेकर सजातीके लोग तेरे अनुष्ठान उपासित हों । (२) तब बनकर बहुत भेंट तू देखेगा । ' इसलिये प्रकार प्रजासे बड़ा उत्तम राजा प्राप्त कर सकता है । तथा—

(१) ते यावापृथिवी शिथे स्ताम् । (सू. ४, मं. ५)

(२) उमः सुमनाः इह दशर्मा यथा ।

(सू. ४, मं. ७)

(१) 'हे राजन् ! तेरे लिये यावापृथिवी कल्याणपूर्ण हो, और (२) तू उम तथा उषन मनवाला बनकर यहाँ सौ वर्ष-एक शत्रुको अपने बशमें कर ।' इहाँ प्रकार 'सब देवोंकी प्रधानता इस राजाको मिले' (मं. ४) इत्यादि प्रकारकी इच्छा लोग उसी समय करेंगे कि जिस समय राजा भी प्रजाका मुख बढानेमें दक्षिण होता हो। जो राजा प्रजाके मुखकी पूर्वाह न करता हो उसके दिताहितकी छिन्न प्रजा भी नहीं करती। इसलिये हरएक राजाको सदा ध्यानमें यह बात रचना चाहिये कि 'मेरे पास जो राजपद आया है वह प्रजापालन करनेके लिये आया है, न कि अपने मुखमोग मोगनेके लिये।' यह भाव मनमें रखता हुआ राजा अपना कर्तव्य योग्य रीतिसे पालन करे।

वरुण ।

यहाँ एक वैदिक वर्णन शैलीकी विशेषता आ गई है वह अवश्य देखने योग्य है। इन्द्र, वरुण आदि शब्द देवतोंके वाचक ही होते हैं अन्य किसीके वाचक नहीं हो सकते। ऐषा सामान्य-तया साधारण लोग समझते हैं। परंतु ये शब्द कभी कभी विशेषरूप होकर किसी अन्यके गुणबोधक होते हैं और कभी स्वयं किसी अन्य पदार्थके वाचक भी होते हैं। यहाँ वरुण शब्द बहुवचनमें आया है इसलिये यह वरुण देवता वाचक निःसंदेह नहीं है, क्योंकि जिस समय वरुण देवताका वाचक यह शब्द होता है उस समय यह सदा एकवचनमें ही होता है। यह बहुवचनमें होनेके कारण यह यहाँ प्रजाबर्माका वाचक है। 'वरुण, वरण, वर्ण' इस प्रकार यह 'चार वर्णोंके लोगों' का वाचक हो सकता है किंवा वर अर्थात् श्रेष्ठोंका भी वाचक हो सकता है। यहाँ हमारे मतसे 'वर्ण' अर्थ लेना अधिक योग्य है, तथापि इसका अधिक विचार पाठक करें।

राजा और राजाके बनानेवाले ।

(५)

(ऋषिः — अपर्या । देवता — सोमः)

आयमंगन्पर्णमणिर्वली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान् ।

ओजो देवानां पय ओपधीनां वर्चसा मा जिन्वत्त्वप्रयावन्

॥ १ ॥

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद्रुषिम् ।

अहं राष्ट्रस्यामीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः

॥ २ ॥

अर्थ— (अयं बली पर्णमणिः) यह बलवान् पर्णमणि (बलेन सपत्नान् प्रमृणन्) बलसे शत्रुओंका नाश करता हुआ (आ अगन्) आया है। यह (देवानां ओजः) देवोंका बल और (ओपधीनां पयः) औपधियोंका रस है। यह (अप्रयावन् वर्चसा मा जिन्वत्) विरोध न करता हुआ तेजसे मुझे संयुक्त करे ॥ १ ॥

हे पर्णमणे ! (मयि क्षत्रं) मुझमें क्षात्रबल और (मयि रयि धारयतात्) मुझमें धन धारण कर। (अहं राष्ट्रस्य अमीवर्गे) मैं राष्ट्रके भास्वरुषोंमें (उत्तमः निजः भूयासं) उत्तम निज बनकर रहूँ ॥ २ ॥

भाषार्थ— यह पर्णमणि बड़ बढानेवाला, अपने बलसे शत्रुओंका नाश करनेवाला, देवोंका शक्तिरूप और औपधियोंके रससे बननेवाला है, यह मुझे अपने तेजसे युक्त करे ॥ १ ॥

इसके मुझमें क्षात्रबल और ऐश्वर्य बडे और मैं राष्ट्रका हितसाधन करनेवाला, अर्थात् राष्ट्रका निजर्षवर्षी बनकर रहूँगा ॥ २ ॥

४ (अपर्व. भाष्य, काण्ड ३)

यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम् ।	
तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे	॥ ३ ॥
सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रैण दुचो वरुणेन शिष्टः ।	
तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय	॥ ४ ॥
आ मारुक्षत्पर्णमणिर्महा अरिष्टतातये ।	
यथाहसुं चरोऽसान्यर्यम्ण उत्र संविदः	॥ ५ ॥
ये धीवानो रथकाराः कर्मारो ये मनीषिणः ।	
उपस्तीर्णर्णं मह्यं त्वं सर्वाङ्कण्वमितो जनान्	॥ ६ ॥
ये राजानो राजकुर्वः सूता प्रामण्यश्च ये ।	
उपस्तीर्णर्णं मह्यं त्वं सर्वाङ्कण्वमितो जनान्	॥ ७ ॥

अर्थ— (यं गुह्यं प्रियं मणिं देवाः वनस्पतौ निदधुः) जिस गुण और प्रिय मणिको देवोंने वनस्पतिमें धारण किया था, (तं देवाः अस्मभ्यं आयुषा सह भर्तवे ददतु) उस मणिको देव हमें आयुके साथ पीपणके लिये देवें ॥ ३ ॥

(इन्द्रेण वक्षः) इन्द्रने दिया हुआ, (वरुणेन शिष्टः) वरुण द्वारा संस्कृत बना (सोमस्य पर्णः) सोम देवताका यह पर्णमणि (उग्रं सहः आ अगन्) उग्र बरुषे युक्त होकर प्राप्त हुआ है । (तं) उस मणिके लिये (बहु रोचमानः) बहुत तेजस्वी मैं (दीर्घायुत्वाय शतशारदाय) दीर्घ आयुके लिये और शौर्षके जीवनके लिये (प्रियासं) प्रिय करके ॥ ४ ॥

(पर्णमणिः मह्यं अरिष्टतातये) यह पर्णमणि बड़े कल्याणके फलानेके लिये (मा आ अरुक्षत्) मुझपर आरुद्ध हुआ है । (यथा अहं अर्यम्णः) जिससे मैं श्रेष्ठ मनवाले (उत्र संविदः) और ज्ञानीशे भी (उत्तरः अस्मानि) अधिक श्रेष्ठ हो जाऊँ ॥ ५ ॥

(ये धीवानः रथकाराः) जो बुद्धिवान् और जो रथ करनेवाले हैं तथा (ये मनीषिणः कर्मारोः) जो बुद्धिवान् लुहार हैं, हे (पर्णं) पर्णमणे । (त्वं सर्वाङ्कण्वमितो मह्यं उपस्तीन् कणु) तू सब जनोंको मेरे चारों ओर उपस्थित कर ॥ ६ ॥

(ये राजानः राजकुर्वः) जो राजा और जो राजाओंको बनानेवाले हैं, (ये सूताः प्रामण्यः च) और जो सूत और प्रामके नेता हैं, हे पर्णमणे । तू सब जनोंको मेरे चारों ओर उपस्थित कर ॥ ७ ॥

भावार्थ— जिस मणिको देवोंने वनस्पतिसे बनाकर धारण किया था, उस मणिको देव हमें आयु और पुष्टिको दृष्टिके लिये देवें ॥ ३ ॥

यह वनस्पतिसे बना हुआ, वरुणेने इन्द्रसेधारण किया हुआ और इन्द्रने हमें पहले दिया हुआ, दीर्घ और बलकी दृष्टि करनेवाला मणि है । उस मणिको मैं शौर्षकी दीर्घ आयुके लिये प्रेमपूर्वक धारण करता हूँ ॥ ४ ॥

यह मणि मेरे शरीरपर धारण करनेसे मेरा सुख बढ़ावे और इससे मैं श्रेष्ठ मनवाले और ज्ञानी पुरुषसे भी अधिक श्रेष्ठ होऊँगा ॥ ५ ॥

जो बुद्धिमान् रथकार और कुशल लुहार हैं वे सब मेरे पास उपस्थित हों ॥ ६ ॥

जो सरदार और राजाका चुनाव करके राजाको बनानेवाले हैं और जो सूत और प्रामके नेता हैं वे सब मेरे चारों ओर उपस्थित हों ॥ ७ ॥

पुणोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरि वीरेण मया ।

संबत्सरस्य तेजसा तेन वधामि त्वा मणे

॥ ८ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (मणे) पर्णमणे ! तू (पर्णः तनूपानः असि) पर्णरूप और शरीररक्षक है, (मया वीरेण सयोनिः वीरः असि) मरु वीरके साथ समान उत्पत्तिवाला वीर है, इसलिये मैं (त्वा संबत्सरस्य तेन तेजसा वधामि) तुझको संबत्सरके उस तेजके साथ बांधता हूँ ॥ ८ ॥

भावावार्थ— यह मणो उत्तम शरीररक्षक है और वीरताका उत्साह बढानेवाला है, इसको मैं एक वर्षपर्यंत स्थिर रहनेवाले तेजके साथ धारण करता हूँ ॥ ८ ॥

पर्ण मणि ।

इस सूक्तमें पर्णमणिके धारणका उल्लेख है । अथर्ववेद काण्ड २, सू. ४ में जज्ञिद मणिका वर्णन है, उस प्रसंगमें मणिधारणके विषयमें जो लेख लिखा है वह पाठक यहाँ भी देखें । यह पर्णमणि इसलिये कहा जाता है कि यह औषधियोंके खरससे बनाया होता है, देखिये—

१ पर्णमणिः ओषधीनां पयः । (सू. ५, मं. १)

२ पर्णः (पर्णमणिः) सोमस्य उग्रं सहः ।
(सू. ५, मं. ४)

३ देवाः (पर्ण-) मणि वनस्पती निदधुः ।
(सू. ५, मं. ३)

(१) ' पर्णमणि औषधियोंका दूध ही है । (२) यह पर्णमणि सोमजडाका उग्र बल है । (३) देवोंने पर्णमणिको वनस्पतिमें रखा है । ' ये इसके वर्णन स्पष्टतासे बता रहे हैं कि यह मणि वनस्पतियोंके दूधसे बनाया जाता है । ' पर्ण-मणि ' यह शब्द भी स्वयं अपना स्वयं व्यक्त कर रहा है कि यह (पर्ण) पर्णोंका मणि है अर्थात् वनस्पतिके पत्तोंके रससे बना है । इसके धारणसे वनस्पति-रसके बीर्यके कारण शरीरपर बड़ा प्रभाव होता है, इस विषयमें देखिये—

१ अयं पर्णमणिः वली । (सू. ५, मं. १)

२ पर्णः तनूपानः । (सू. ५, मं. ८)

३ वलेन सपत्नान् प्रमृणन् । (सू. ५, मं. १)

४ देवानां भोजः ... मा वर्षसा जिन्वधुः ।
(सू. ५, मं. १)

५ मयि क्षत्रं मयि रयिं धारयतात् । (सू. ५, मं. २)

६ आयुषे भर्तवे च तं अस्मभ्यं ददतु ।
(सू. ५, मं. ३)

७ पर्णः उग्रं सहः ... दीर्घायुस्वाय शतशारदाय ।
(सू. ५, मं. ४)

८ पर्णमणिः अरिष्टतातये मा आरुक्षत् ।
(सू. ५, मं. ५)

(१) ' यह पर्णमणि बल बढानेवाला है, (२) यह (तनू-पानः) शरीरका रक्षक है, (३) यह अपने बलसे रोगरूपी मनुष्योंको नाश करता है, (४) यह (देवानां) इन्द्रियोंका बल बढानेवाला है यह मेरा तेज बढाने, (५) यह मुझमें क्षात्रतेज और शरीरकी कान्ति बढावे, (६) दीर्घ आयुष्य और शरीरकी पुष्टि इससे बड़े, (७) यह मणि बड़ा बल बढानेवाला है, इससे सौ वर्षकी दीर्घायु मुझे प्राप्त हो, (८) यह मणि शरीरपर धारण करनेपर मेरी शक्ति बढावे । '

इस प्रकारके वर्णन बता रहे हैं कि इन ' पर्णमणि ' के अंदर बड़ा प्रभाव है और इसके शरीरपर धारण करनेसे शरीरमें नित्य उत्साह रहता है, बलके कार्य करनेके योग्य शरीरकी शक्ति होती है, शरीरका तेज बढता है और मनुष्यबड़ा तेजस्वी होनेके कारण प्रभावशाली दिखाई देता है । यह वनस्पतिके रसोंका प्रभाव है । वैद्य लोग इस मणिकी खोज करें ।

राष्ट्रका निज बनना ।

' राष्ट्रका निज ' बनकर रहनेका उपदेश इस सूक्तमें विशेष मनन करने योग्य है । जो लोग राष्ट्रमें रहें वे निज बनकर

रहेंगे तो ही राष्ट्रका भला हो सकता है; इस विषयमें द्वितीय मंत्र मानन करने योग्य है—

अहं राष्ट्रस्य अर्माधर्मे निजो भूयासमुत्तमः ।

(सू. ५, मं. २)

‘ मैं इस राष्ट्रके दितचितक वर्गमें उत्तम निज बनकर रहूँगा । ’ यहाँ राजा, राजमुद्रण, अधिकारी वर्ग आदि सब राष्ट्रके निज बनकर रहें यह उपदेश स्पष्ट है । राष्ट्रमें रहता हुआ कोई मनुष्य राष्ट्रके लिये पराया बनकर न रहे । यहाँ निज बनकर रहनेका भाव क्या है और पराया बनकर रहनेका भाव क्या है यह अवश्य देखना चाहिये । अपने यहाँका ही उदाहरण लीजिये । इस भारतवर्षमें जागनी, चीनी, अफिरिकन और मोरोपीयन आते हैं और रहते भी हैं, परंतु इनमेंसे कोई भी ‘ भारतवर्षका निज ’ बनकर नहीं रहता । जो वे आते हैं वे ‘ उररी ’ बनकर आते हैं, उररी बनकर यहाँ रहते हैं, उररी बनकर यहाँका कारोबार करते हैं और पचास चले जाते हैं । इस कारण इनके उररी भावसे भारतवर्षका अहित ही होता है । इसलिये उररी भावसे रहना राष्ट्रके लिये घातक है । जो ‘ निजभाव ’ से रहेंगे, राष्ट्रका जो हित और अहित है वह अपना हित और अहित है, इस दृष्टिसे व्यवहार करेंगे उनसे राष्ट्रका अहित नहीं होगा । यह तो साधारण मनुष्योंकी बात होगई है, परन्तु जो राष्ट्रके कर्मचारी हैं, यदि वे उररी या पराये भावसे राष्ट्रमें रहने लगे, तो राष्ट्रका नुकसान कितना होगा इसका हिसाब लगाना कठिन है । इस दृष्टिसे पाठक देखें कि ‘ राष्ट्रका निज ’ बनकर रहनेका भाव कितना उत्तम है और राष्ट्रहितकी दृष्टिसे कितना आवश्यक है । ‘ निजभाव ’ से रहनेके कारण विदेशी लोग भी खदेरीके समान राष्ट्रहित करनेवाले बनेंगे और ‘ निज भाव ’ न रखनेवाले खदेरी लोग भी परदेशी लोगोंके समान राष्ट्रहितका घात करनेवाले बनेंगे । यहाँ पाठक ‘ राष्ट्रका निज ’ बनकर रहनेका कितना महत्त्व है यह देखें और अपने राष्ट्रके निज बनकर रहें ।

राजाको निर्माण करनेवाले ।

इस सूक्तके सप्तम मंत्रमें ‘ राज-कृतः ’ शब्द है इसका अर्थ ‘ राजाको निर्माण करनेवाले (King makers) ’ है । राजाको किस रीतिसे निर्माण करते हैं यह प्रश्न यहाँ उत्पन्न हो सकता है । इसका उत्तर इसके पूर्वके षट्पद सूक्तमें ही दिया है, राजाका चुनाव प्रजा द्वारा होता है और राजमहोदर आता है, इसीकी प्रजा द्वारा राजाका निर्वाचन, राजाका स्वीकार, राजाका नियोजन अथवा राजाका चुनाव कहते हैं । जिसका चुनाव प्रजा करती है, उसका मानी ‘ निर्माण ’ ही प्रजा करता है । इस प्रकार राजाके पितृ या मातृस्थानमें प्रजा होती है, इसीलिये राजसभाके सदस्य राजाके ‘ पितर ’ हैं ऐसा वेदमें ही अन्वय कहा है (देखो अथर्व. कां. ७, सू. १२, मं. १-२) । प्रजाके जो महाबल नेता अथवा शिष्ट लोग होते हैं वे राजाका चुनाव करते हैं और उसकी निर्माण करते हैं, इसीलिये प्रजाकी रक्षा करना राजाका परम धर्म कर्तव्य है । मातृरक्षाके समान ही प्रजारक्षाका यह राजधर्म है ।

मंत्र ६ और ७ में कहा है कि रथकार, सुदार, उदार, शानी पुरुष, मंत्री, सूत, प्रामनेता, सरदार तथा राजाका चुनाव करनेवाले ये सब लोग राजाके पास रहें, राजाके अनुयायी बनें, राजाके साथ रहकर राजाको योग्य सलाह दें । इस प्रकार राज्यका शासन प्रजाके द्वारा निपुण क्रिये राजपुरुषों द्वारा प्रजाके हितके लिये प्रजाकी अनुमतिसे चलाया जावे । इसीसे राष्ट्रका सच्चा हित हो सकता है ।

यद्यपि यह सूक्त वस्तुतः पणनपिका दर्शन करता है, तथापि प्रसंगसे राष्ट्रका निज बनकर रहना, राजाका चुनाव प्रजाद्वारा करना इत्यादि महत्वपूर्ण बातोंका उपदेश होनेके लिये वैदिक राजनीति शास्त्रकी दृष्टिसे यह सूक्त बड़े महत्त्वपूर्ण आदेश दे रहा है । इसलिये पाठक भी इसी दृष्टिसे इस सूक्तका मनन करें ।

यह संपूर्ण अनुवाक राजप्रकरणका ही उपदेश देता है ।

॥ यहाँ प्रथम अनुवाक समाप्त ॥

वीर पुरुष ।

(६)

(शक्तिः - अगद्वीजं पुरुषः । धेवता - धानस्पतिः, अश्वत्थः)

पुमान्पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधि ।	
स हन्तु शत्रून्माम्कान्याहं द्वेष्मि ये च माम्	॥ १ ॥
सान्श्वत्थ निः शृणीहि शत्रून्वैवाघदोधतः ।	
इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च	॥ २ ॥
यथाश्वत्थ निरर्भतोऽन्तर्महृत्यर्षिबे ।	
एवा तान्सर्वाग्निर्महृग्घि यानहं द्वेष्मि ये च माम्	॥ ३ ॥
यः सहमानश्चरसि सासहान इव ऋषभः ।	
तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्साहिपीमहि	॥ ४ ॥

अर्थ— जैवा (खदिरात् अघि अश्वत्थः) खैरके वृक्षके ऊपर अश्वत्थ वृक्ष होता है इसी प्रकार (पुंसः पुमान् परिजातः) वीर पुरुषके वीर पुरुष उत्पन्न होता है । (सः माम्कान् शत्रून् हन्तु) वह मेरे शत्रुओंका वध करे (यान् अहं द्वेष्मि, ये च माम्) जिनका मैं द्वेष करता हूँ और जो मेरा द्वेष करते हैं ॥ १ ॥

हे (अश्व-त्थ) अश्वके समान बलिष्ठ वीर ! (तान् वैवाघदोधतः शत्रून्) उन विविध बाधा करनेवाले शत्रुओंको (निः शृणीहि) मार डाल और (वृत्रघ्ना इन्द्रेण मित्रेण वरुणेन च मेदी) वृत्रका नाश करनेवाले इन्द्र, मित्र और वरुणके मित्रता कर ॥ २ ॥

हे अश्वत्थ ! (यथा महति अर्णवे निरर्भतः) जैसे बड़ समुद्रम तू भदन करता है, (एव) उसी प्रकार (तान् सर्वाग्निर्महृग्घि) उन सबको छिन्न मिन्न कर (यान् अहं द्वेष्मि ये च मां) जिनका मैं द्वेष करता हूँ और जो मेरा द्वेष करते हैं ॥ ३ ॥

हे अश्वत्थ ! (यः सहमानः सासहानः) जो तू शत्रुको दबानेवाला बलवान् (ऋषभः इव) बैलके समान होकर (चरसि) विचरता है, (तेन त्वया वयं सपत्नान् साहिपीमहि) उस तेरे साथ हम शत्रुओंको पराजित करेंगे ॥ ४ ॥

भाषार्थ— खैरके वृक्षपर अश्वत्थ वृक्ष उगता है और उसीपर बढता है, इसी प्रकार वीर पुरुषके वीर संतान उत्पन्न होती है और वीरोंके साथ ही बढती है । ऐसे वीर हमारे बैरियोंको हटा दें ॥ १ ॥

हे वीर ! तू शत्रुनाश करनेवाले वीरोंके साथ मिलकर विशेष बाधा करनेवाले शत्रुओंको मार डाल ॥ २ ॥

हे शूर ! जिस प्रकार नौकासे बड़े समुद्रके पार होते हैं उसी प्रकार तू उन सब शत्रुओंका भेदन करके पार हो ॥ ३ ॥

हे बलवान् ! जो तू बलिष्ठ होकर शत्रुको दबाते हुए सर्वत्र संचार करता है, उस तेरी सहायतासे हम अपने सब शत्रुओंको पराजित कर सकते हैं ॥ ४ ॥

सिनात्वेनात्रिर्भ्रतिर्मुक्त्योः पार्श्वैरमोक्ष्यैः ।

अश्वत्थं शत्रून्मामकान्यानहं द्वेषिषु ये च माम् ॥ ५ ॥

पर्याश्वत्थ वानस्पत्यान् आरोहन्कृणुपेऽधरान् ।

एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग्भिन्दद्द सहस्र च ॥ ६ ॥

तेऽधराञ्चः प्र षुवतां छिन्ना नौरिव् वन्धनात् ।

न वैवाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥ ७ ॥

प्रेणांनुदे मनसा प्र चित्तेनोत् ब्रह्मणा ।

प्रेणांन्वृक्षस्य शाखयाश्वत्थस्य नुदामहे ॥ ८ ॥

अर्घ्य— हे अश्वत्थ ! (निर्ऋतिः सृष्ट्योः अमोक्ष्यैः पार्श्वैः एतान् मामकान् शत्रून् सिनात्तु) आपत्ति मरुदके न दूटनेवाले पार्श्वसे इन मेरे शत्रुओंको बाध देवे जिनका मैं द्वेष करता हूँ और जो मेरा द्वेष करते हैं ॥ ५ ॥

हे अश्वत्थ ! (यथा आरोहन् वानस्पत्यान् अधरान् कृणुपे) जैसा तू ऊपर रहता हुआ अन्य वृक्षोंको नीचे करता है, (एवा) इसी प्रकार (मे शत्रोः मूर्धानं विष्वक् भिन्दद्द) मेरे शत्रुओंके सिरको सब ओरसे तोड़ दे और (सहस्र च) उसको जीत लो ॥ ६ ॥

(वन्धनात् छिन्ना नौरिः इव) बन्धनसे छूटी हुई मोटाके धनान (ते अधराञ्चः प्र षुवतां) वे अश्वत्थके मार्गसे बहते बले जावे (वैवाधप्रणुत्तानां पुनः निवर्तनं न अस्ति) विशेष बाधा करनेवालोंका पुनः लौटना नहीं होता है ॥ ७ ॥

(एतान् मनसा प्र नुदे) इन शत्रुओंको मनसे मैं हटाता हूँ । (चित्तेन उत ब्रह्मणा प्र) मैं चित्तसे और ज्ञानसे हटाता हूँ । (अश्वत्थस्य वृक्षस्य शाखया) अश्वत्थ वृक्षकी शाखासे (एतान् प्र नुदामहे) इनको इन हटा देते हैं ॥ ८ ॥

भावार्य— हे शक्तिमान् । मेरे वैरी आपत्तियोंके पार्श्वसे बांधे जावें अर्थात् वे आपत्तियोंमें पड़ें ॥ ५ ॥

त्रिस प्रकार पीपलका वृक्ष अन्य वृक्षोंपर उगता है और उनको नीचे दबाता है उसी प्रकार वीर मेरे शत्रुओंको नीचे दबा देवे और उनके सिर तोड़ देवे ॥ ६ ॥

विशेष बाधा करनेवाले शत्रु अधोगतिसे नीचेकी ओर गिरते जायंगे । ऐसे एक बार गिरे हुए फिर कभी उठते नहीं ॥ ७ ॥

मनसे, चित्तसे और अपने ज्ञानसे मैं शत्रुओंको हट करता हूँ ॥ ८ ॥

अश्वत्थकी अन्व्योक्ति ।

यह सूक्ष्म अश्वत्थकी अन्व्योक्ति है । अन्व्योक्ति अलंकार पाठक जानते ही हैं । एकका प्रत्यक्ष उल्लेख करके दूसरेके ही विषयमें कहनेका नाम अन्व्योक्ति है । इसी प्रकार यहाँ अश्वत्थ वृक्षका वर्णन करते हुए वीर पुरुषका वर्णन किया है । इसलिये यह अन्वयान्व्योक्ति है ।

बलवत् शब्दके बहुत अर्थ हैं— (१) पीपल वृक्ष; (२) [अश्व-स] अश्वके समान बलवान् बनकर रहनेवाला वीर; (३) [अ-श्व-स्य] जो बल रहेगा ऐसा निश्चय नहीं

कहा जाता, वधर; (४) सूर्य; (५) अश्विनी नक्षत्र; इत्यादि अनेक जर्ग्य इस शब्दके हैं । यहाँ पढ़ने दो अर्थोद्धित हैं ।

अश्वत्थ अर्थात् पीपल वृक्ष दूसरे वृक्षोंपर उगा हुआ दिखाई देता है—

यथा अश्वत्थ वानस्पत्यान् आरोहन् अधरान् कृणुपे । (सू. ६, मे. ६)

इस दरपर काव्य दृष्टिसे यह अलंकार ही सङ्गता है कि यह अश्वत्थ वृक्ष बड़ा भारी वीर है जो अन्य वृक्षोंको अपने पार्श्वसे नीचे दबाता है और अन्य वृक्षके सिरपर अपना पांव रखकर

वधा हो जाता है । जिस प्रकार वीर पुरुष शत्रुको धिरेको अपने पाँवके नीचे दबाता है उसी प्रकार मानो पीपलका यह कृष्ण है । इसलिये अश्वत्थ वृक्षको अन्योंकेसे इस सूक्तमें शूर पुरुषका वर्णन किया है । पाठक इस दृष्टिसे यह सूक्त पढ़ें ।

आनुवंशिक संस्कार ।

इस सूक्तके प्रथम ही मंत्रमें कहा है कि 'पुंसः पुमान् परिजातः' धीरेसे वीर संतान उत्पन्न होती है, वीरके कुलमें वीर उत्पन्न होते हैं । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अन्य कुलमें वीर उत्पन्न नहीं हो सकते, परंतु यहाँ वीर संतान उत्पन्न होनेके योग्य वायुमंडल कहा रहता है यही शिक्षाया है । बचपनसे वीरताकी बातें श्रवण करनेके कारण वीरके संतान वीरतासे युक्त होना अत्यंत स्वाभाविक है, यहाँ यहाँ कहनेका तात्पर्य है ।

यह वीर सब प्रकारके शत्रुओंको हटा देवे, यही सब मंत्रोंमें कहा है और मंत्रोंका यह आशय सरल होनेसे इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

शत्रुका लक्षण ।

इस सूक्तमें 'वै-बाध' (विशेष बाधा करना) यही एक वैरी होनेका लक्षण कहा है (मं. १; ७) । वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक, राजकीय आदि अनेक प्रकारके शत्रु हो सकते हैं और इन केन्द्रोंमें ये शत्रु विशेष प्रकारकी बाधा भी करते हैं । यह अनुभव पाठकोंको ही है । ये सब शत्रु दूर करने चाहिये और जनताका सुख बढाना चाहिये । यह इस सूक्तके उपदेशका सार है । शत्रुको दूर करनेका उपाय इस प्रकार करना चाहिये—

मनसा, चित्तेन उत ब्रह्मणा मनान् प्र मुदे ।

(सू. ६, मं. ८)

'मन, चित्त और ज्ञानसे शत्रुओंको दूर करनेके उपाय सोचने चाहिये' और उन उपायोंका मनन करना चाहिये । मनसे शत्रुनाश करनेका मनन करना चाहिये, चित्तसे इसी बातका चिंतन करना चाहिये, और अपना ज्ञान बढाकर उस ज्ञानसे ऐसी योजनाएं करना चाहिये कि जिससे शत्रु शीघ्र ही नष्ट हो जावे । तात्पर्य हरएक प्रकारका युक्ति करके शत्रुको हटाना चाहिये ।

गिरावटका मार्ग ।

जो विशेष बाधा करते हैं, जो जनताको सताते हैं, जो लोगोको उपद्रव देते हैं वे स्वकर्मसे ही गिरते हैं । उनके बुरे कर्मके कारण वे स्वयं अशोभितके मार्गसे गिरते रहते हैं, इस विषयमें सप्तम मंत्रका कथन हरएक मनुष्यके लिये मनन करने योग्य है—

बन्धनात् छिन्ना नौः इव, ते अधराश्रुः प्र
प्लुक्तस्य । वैबाधप्रयुक्तानां पुनः निवर्तनं नास्ति ॥
(सू. ६, मं. ७)

'बंधनसे नौका छेती छूटती है और जलप्रवाहसे बहती जाती है उस प्रकार वे जनताको विशेष कष्ट देनेवाले दुष्ट लोग अशोभितके मार्गसे गिरते जाते हैं । उनके उठनेकी कोई आशा नहीं है । जो दुष्ट जनताको विशेष बाधा करते हैं और उस कारण पतित होते जाते हैं, उनके ऊपर उठनेकी कोई आशा नहीं है ।'

इस मंत्रने पाठकोंको सावधान किया है कि वे अपने चरित्रका अवलोकन करें और सोचें कि अपनी धोरसे तो किसीको कष्ट नहीं होते हैं ! क्योंकि जो दूसरोंको कष्ट देते हैं उनकी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है । एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको कष्ट देगा, एक जाती दूसरी जातीको कष्ट देगी, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको सतायेगा, तो वह सतानेवाले अन्य रीतिसे गिरते जाते हैं और उनके उठनेकी कोई आशा नहीं होती है । जो राष्ट्र दूसरे देशोंको परतंत्रतामें रखते हैं वे इसी प्रकार गिरते जाते हैं । साम्राज्यवादके कारण भी इस प्रकार गिरावट होती जाती है । यदि किसीको दबाकर एक स्थानपर रखना हो तो जैसा दबे हुएको वहाँ दबकर रहना पडता है, उसी प्रकार दबानेवालेको भी वहाँ ही रहना पडता है । इसी प्रकार अन्य बातें पाठक जान सकते हैं । तात्पर्य यह है कि कोई भी जाती जो दूसरोंपर अत्याचार करती है, स्वयं अशोभितके मार्गसे गिरती जाती है और जबतक वह अपना अत्याचार बंद नहीं करती, तबतक उसके उठनेका कोई माने नहीं होता है । यह जानकर कोई किसी दूसरेपर कभी अत्याचार न करे । दूसरेपर अत्याचार न करनेसे ही उन्नतिकी मार्ग खुला रह सकता है ।

विजयकी तैयारी ।

इस सूक्तमें 'सहमान, सासहान' (मं. ४) ये दो शब्द हैं, अन्य स्थानोंमें 'सहमान, असह्य' ये शब्द हैं, जो विजयकी तैयारीके सूचक हैं—

१ सहमान— शत्रुके हमले होनेपर जो अपना स्थान नहीं छोडता ।

२ असह्य, सासहान— इसके हमले शत्रुपर होनेपर शत्रु इसके संसुख ठहर नहीं सकता ।

विजय प्राप्त करना हो तो अपनी तैयारी ऐसी करनी चाहिये । तभी विजय होगा ।

पाठक इस सूक्तका इस दृष्टिसे विचार करें । और शत्रुको दूर भगानेके विषयमें योग्य बोध प्राप्त करें ।

आनुवंशिक रोगोंका दूर करना ।

(७)

(ऋषिः— भृगुः । देवता— हरिणः, तारके, आपः, यक्ष्मनाशनम्)

हरिणस्य रघुप्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम् ।

स क्षेत्रियं विपाणया विपूचीनमनीनशत् ॥ १ ॥

अनु त्वा हरिणो वृषा पुद्भिश्चतुर्भिरक्रीत् ।

विपाणि वि प्यं गुप्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि ॥ २ ॥

अदो यद्वरोचते चतुष्पक्षमिव छुदिः ।

वेनां ते सर्वं क्षेत्रियमङ्गैर्म्यो नाशयामसि ॥ ३ ॥

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके ।

वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामघर्म पाशमुत्तमम् ॥ ४ ॥

आप इद्वा उं भेषजीरापो अमीवचातनीः ।

आपो विश्वस्य भेषजीतास्त्वां मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ॥ ५ ॥

अर्थ— (रघुप्यदः हरिणस्य शीर्षणि अधि) वेगवान् हरिणके हिरके अंदर (भेषजं) औषध है । (सः विपाणया) यह सींगसे (क्षेत्रियं विपूचीनं अनीनशत्) क्षेत्रिय रोगको सब प्रकारसे नष्ट कर देता है ॥ १ ॥

(वृषा हरिणः चतुर्भिः पुद्भिः) बलवान् हरिण चारों पांशोंसे (त्वा अनु अक्रीत्) तेरे अनुकूल आक्रमण करता है । हे (विपाणे) सींग । तू (यत् अस्य हृदि गुप्पितं क्षेत्रियं) जो इसके हृदयमें गुप्त क्षेत्रिय रोग है उसको (वि प्यं) नाश कर दे ॥ २ ॥

(अदः यत्) वह जो (चतुष्पक्षं छुदिः इव) चार पक्षवाले छतके समान (अद्वरोचते) चमकता है (तेन ते अङ्गैर्म्यः) उससे तेरे अंगोंसे (सर्वं क्षेत्रियं नाशयामसि) सब क्षेत्रिय रोगको हम नाश करते हैं ॥ ३ ॥

(अमू ये दिवि) वे जो आकाशमें (सुभगे विचृतौ नाम तारके) उत्तम प्रकारमान् दो सतारे हैं— वनस्पतिपां-
हैं । (क्षेत्रियस्य अघर्म उत्तमं पाशं वि मुञ्चतां) क्षेत्रिय रोगके नाश और ऊंचे पाशको छुटा देने ॥ ४ ॥

(आपः इत् वै उं भेषजाः) जल नि.सन्देश औषध है, (आपः अमीवचातनीः) जल रोगनाशक है (आपः विश्वस्य भेषजीः) जल सब रोगोंकी दवा है । (ताः त्वा क्षेत्रियात् मुञ्चन्तु) वह जल तुझे क्षेत्रिय रोगसे छुटा देने ॥ ५ ॥

भाषार्थ— वेगसे दौड़नेवाले हरिणके सींगमें उत्तम औषध है उस सींगसे क्षेत्रिय रोग दूर होते हैं ॥ १ ॥
बलवान् हरिणके सींगसे हृदयमें गुप्त अस्थामें रहा हुआ क्षेत्रिय रोग दूर हो जाता है ॥ २ ॥

यह चार पंखवाले छतके समान हरिणका सींग चमकता है उससे सब अंगोंमें रहनेवाले क्षेत्रिय रोगका नाश होता है ॥ ३ ॥
वे जो प्रकाशमान सतारोंके समान तारका नामक दो औषधियां हैं उनसे बंधके रोग दूर होते हैं ॥ ४ ॥

जल उत्तम औषध है, उससे सब रोग दूर होते हैं, सब रोगोंके लिये यह एक ही औषध है उससे क्षेत्रिय रोग दूर होता है ॥ ५ ॥

यदासुतेः क्रियमाणायाः क्षेत्रियं त्वां व्यानश्चे ।

वेदाद् तस्य भेषजं क्षेत्रियं नाशयामि त्वत्

॥ ६ ॥

अपवासं नक्षत्राणामपवास उपसामुत् ।

अपासत्सर्वं दुर्भूतमर्षं क्षेत्रियमुच्छतु

॥ ७ ॥

अर्थ— (यत् क्रियमाणायाः आसुतेः) यदि विगडनेवाले रससे (क्षेत्रियं त्वां व्यानश्चे) क्षेत्रियरोग तेरे अन्दर व्याप्त है। तो— (तस्य भेषजं अहं वेद) तबका औषध मैं जानता हूँ और उससे मैं (त्वत् क्षेत्रियं नाशयामि) तुझसे क्षेत्रियरोगको नाश करता हूँ ॥ ६ ॥

(नक्षत्राणां अपवासे) नक्षत्रोंके छिपनेपर (उत् उपसां अपवासे) उसके चले जानेपर (सर्वं दुर्भूतं अस्तु अप) सब अनिष्ट हम सबसे दूर होवे तथा (क्षेत्रियं अप उच्छतु) क्षेत्रिय रोग भी हट जावे ॥ ७ ॥

भावायं— यदि विगडे जलके निमित्तसे तेरे अन्दर क्षेत्रिय रोग प्रकट हुआ है तो उसके लिये औषध मैं जानता हूँ और उससे रोग भी दूर करता हूँ ॥ ६ ॥

नक्षत्र छिपनेपर और उवा चली जाते ही सब रोगबीज हम सबसे दूर होवे और हमारा क्षेत्रिय रोग भी दूर होवे ॥ ७ ॥

मातापितासे संतानमें आये क्षेत्रिय रोग ।

जो रोग मातापितासे संतानमें आते हैं उनको क्षेत्रिय रोग कहते हैं। ये क्षेत्रिय रोग दूर होना कठिन होता है। इनकी चिकित्सा इस सूक्तमें कही है।

हरिणके सींगसे चिकित्सा ।

जो कृष्ण मृग होता है, जिसके सींग बड़े भारी होते हैं, उन सींगोंमें क्षेत्रियरोग दूर करनेका गुण होता है। 'हरिणके सिरमें औषध है जो सींगमें आता है जिसके कारण क्षेत्रिय रोग दूर होते हैं। (मं. १)' हरिणके सींगके विषयमें वैद्यकग्रंथका—

मृगशृङ्गं भस्महृद्रोगं त्रिकशलादी शस्तम् ।

— वैद्यक शब्द सिधु ।

'मृगका सींग, भस्मरोग, हृदयरोग और त्रिक शलादि रोगोंके लिये प्रशस्त है। यह कथन इस सूक्तके कथनके साथ संगत होता है।

हृदय रोग ।

इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें 'हृदि सुपितं क्षेत्रियं' (मं. २) हृदयमें रहनेवाला गुप्त क्षेत्रिय रोग, यह प्रायः हृदयरोग ही होगा। तृतीय मंत्रमें 'अंगभ्यः क्षेत्रियं' (मं. ३) सब अंगोंसे क्षेत्रिय रोग दूर करनेकी बात कही है। प्रथम मंत्रमें सामान्य क्षेत्रिय रोगोंकी वर्णन है। ये सब रोग हरिणके सींगसे

५ (अथर्व. भाष्य, काण्ड ३)

दूर होते हैं। हरिणका सींग बंदनके समान परधरपर जलमें घिसकर सिरपर लगाया जाता है अथवा थोड़ा थोड़ा अल्प-प्रमाणमें पेटमें भी लेते हैं। इस प्रातमें छोटे बालकोंको उक्त प्रकार किंचित जलमें घोलकर पिलाते भी हैं और माताएं कहती हैं कि इससे संतानोंको आरोग्य होता है। सिरमें गर्मी चढनेपर सिरपर लगानेसे गर्मी दूर होती है। मस्तिष्क पागल होनेकी अवस्थामें यह उपाय औषध है।

औषधि चिकित्सा ।

चतुर्थ मंत्रमें 'सुभगा और तारका' ये दो शब्द हैं। इसी प्रकारका मंत्र काण्ड २, सू. ८ में आया है, देखिये—

मगवती और तारका ।

भग-वती विचृतौ नाम तारके ॥

(कां. २, सू. ८, मं. १)

इसके साथ इस सूक्तका मंत्र भी देखिये—

सु-भगे विचृतौ नाम तारके ॥

(कां. ३, सू. ७, मं. ४)

इसमें विधानकी समता है। इसीलिये द्वितीय काण्डके अष्टम सूक्तके प्रथममें 'भगवती और तारका' वनस्पतियोंके विषयमें जो लिखा है, वही यहाँ पाठक यममें। सुभगा और मगवती ये दो शब्द एक ही वनस्पतिके वाचक होंगे। और तारका शब्द दूसरी वनस्पतिके वाचक होगा। ये दो वनस्पतियाँ

क्षेत्रियरोगको दूर करनी है । इनस किसका बोध लेना है इस विषयमें का. २, सू. ८, मं. १ का विवरण देखिये ।

शुलोक और मूलोकमें समान औषधियां ।

वनस्पतियोंके साथ शुलोकका संबंध बताया है । घोंघ मूलोकमें है और पृथ्वीपर भी वनस्पतिरूप है । इसी प्रकार 'सुभगा (मृगवती) और तारका' ये दो औषधियां नी वनस्पतिरूपसे पृथ्वीपर हैं और तेजस्वरूपसे शुलोकमें हैं । यह वर्णन वनस्पतिका प्रशंसापरक प्रतीत होता है ।

जलाचिकित्सा ।

क्षेत्रिय रोग दूर करनेके लिये जलाचिकित्सा करनेका उपदेश इस सूक्तके पंचम मंत्रमें है । इस मंत्रमें कहा है कि 'जल सब रोगोंकी एक दवा है इसलिये क्षेत्रिय रोग भी इससे दूर हो

सकते हैं ।' जलके आरोग्यवर्धक गुणके विषयमें का. १, सू. ४-६ ये तीन सूक्त देखिये ।

षष्ठ मंत्रका आशय यह है कि यदि रोग अथवा क्षेत्रिय रोग बिगड़े खान या पानसे हुए हों, तो पूर्वोक्त प्रकार दूर हो सकते हैं । अर्थात् पूर्वोक्त पांच मंत्रोंमें कहे उपाय ही सब रोग दूर करनेके लिये पर्याप्त हैं ।

उक्त उपायोंसे अति जोड़े समयमें रोग दूर हो सकते हैं । यदि रोगका प्रारंभ आज हुआ है तो रात्रीके तारामग्न छिय जानेके समय तथा उपःकाल दूर होकर दिनका प्रकाश शुरु होते ही ये सब रोग दूर होते हैं । यदि यह वर्णन काव्यपरक माना जाय तो उसका अर्थ इतना ही होगा कि 'अतिशीघ्र रोग दूर होंगे ।'

राष्ट्रीय एकता ।

(८)

(ऋषिः— अथर्वी । देवता— मित्रः, विश्वेदेवाः, नानादेवता)

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेश्यन्पृथिवीमुत्तियाभिः ।

अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्वृहद्वाष्ट्रं संवेश्यं दधातु ॥ १ ॥

घाता रातिः संवितेदं जुपन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति ह्यन्तु मे वचः ।

हुवे देवीमदितिं शरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्टा यथासानि ॥ २ ॥

अर्थ— (उत्तियाभिः पृथिवीं संवेश्यन्) किरणोंसे पृथ्वीको संयुक्त करता हुआ (ऋतुभिः कल्पमानः मित्रः) ऋतुओंसे साथ समर्थ होता हुआ (मित्रः) मित्र (आयातु) आवे (अथ) और (वरुणः वायुः अग्निः) वरुण, वायु और अग्नि (अस्मभ्यं संवेश्यं वृहत् वाष्ट्रं) हम सबके लिये उत्तम प्रकार रहने योग्य बड़े राष्ट्रको (दधातु) धारण करे ॥ १ ॥

(घाता रातिः सधिता) धारण कर्ता, दाता सधिता (मे हृदं वचः) मेरा यह वचन (जुपन्तां) प्रीतिसे श्रुने और (इन्द्रः त्वष्टा) इन्द्र और त्वष्टा कारीगर (मे हृदं वचः प्रति ह्यन्तु) मेरा यह वचन स्वीकार करें । (शरपुत्रां देवीं अदितिं हुवे) शरपुत्रोंकी लक्ष्मण देवी माताको मैं बुलाता हूँ (यथा सजातानां मध्यमे-स्थाः असानि) जिससे मैं स्वजातियोंमें मध्य-प्रमुख स्थानपर रहनेवाला हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ— अपने किरणोंसे पृथ्वीको प्रकाशित करनेवाला और ऋतुओंके साथ सामर्थ्य बढ़ानेवाला सूर्य, वरुण, वायु और अग्नि ये सब देव इमें ऐसा बड़ा विशाल राष्ट्र देवें कि जो हमारे रहने योग्य हो ॥ १ ॥

सबका धारणकर्ता, दाता सधिता और इन्द्र तथा त्वष्टा ये मेरा वचन श्रुने और मानें, तथा मैं शर पुत्रोंकी माता देवी अदितिकी भी कहता हूँ कि इन सबका ऐसा सहाय्य मुझे प्राप्त हो कि जिससे मैं स्वजातियोंमें विशेष प्रमुख स्थानपर विराजमान होनेकी योग्यता प्राप्त कर सकूँ ॥ २ ॥

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे ।

अयमभिर्दीदायर्दीर्घमेव संजातैरिद्वोऽप्रतिब्रुवद्भिः ॥ ३ ॥

इहेदंसाय न परो गमायेयो गोपाः पुष्टपतिर्वि आर्जत ।

अस्मै कामायोर्प कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥ ४ ॥

सं वो मनांसि सं व्रता समाकृतीर्नमामसि ।

अमी ये विव्रता स्यन् तान् वः सं नमयामसि ॥ ५ ॥

अहं गृष्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।

मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्तमान एतं ॥ ६ ॥

अर्थ— (अहं सोमं सवितारं विश्वान् आदित्यान्) मैं सोम, सविता और सब आदित्योंको (उत्तरत्वे) अधिक भेद्यताकी प्रातिक्रिये (नमोभिः हुवे) अनेक सत्कारोंके साथ बुलाता हूँ । (अ-प्रति-ब्रुवद्भिः संजातैः इद्वः) विरुद्ध भाषण न करनेवाले स्वभाषियोंके द्वारा प्रदीप्त किया हुआ (अयं अग्निः) यह आग्नि (दीर्घ एव दीदयत्) बहुत कालतक प्रकाशित रहे ॥ ३ ॥

(इह इत् असाय) यहा ही रहो, (परः न गमाय) दूर मत जाओ । (इर्यः गोपाः) अबबहुक गौधाल पालन करनेवाला (पुष्टपतिः वः आर्जत, पोषण करता हुआ तुमको यहाँ लावे । (विश्वे देवाः) सब देव (अस्मै कामाय) इस कामनाकी पूर्तिकी (कामिनीः वः) इच्छा करनेवाली तुम प्रजाओंको (उप उप संयन्तु) एकताके विचारसे संयुक्त करें ॥ ४ ॥

(वः मनांसि सं) तुम्हारे मनोको एक भावसे युक्त करो, (व्रता सं) तुम्हारे कर्मोंको एक भावसे युक्त करो (आकृतिः सं नमामसि) संकल्पोंको एक भावसे झुकाते हैं । (अमी ये विव्रताः स्यन्) यह जो तुम परस्पर विरुद्ध कर्म करनेवाले हो (तान् वः सं नमयामसि) उन सब तुमको एक विचारमें हम झुकाते हैं ॥ ५ ॥

(अहं मनसा मनांसि गृष्णामि) मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोको लेता हूँ । (मम चित्तं चित्तेभिः अनु आ-इत) मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाकर आओ । (मम वशेषु वः हृदयानि कृणोमि) मेरे वशमें तुम्हारे हृदयोंको मैं करता हूँ । (मम यातं अनुवर्तमानः आ-इत) मेरे चालचलनके अनुकूल चलनेवाले होकर यहाँ आओ ॥ ६ ॥

भावार्थ— मैं नमन पूर्वक सोम, सविता तथा सब आदित्योंको बुलाता हूँ कि वे मुझे ऐसी सहायता दें कि मैं अधिक भेद्य योग्यता पाके योग्य होऊँ । परस्पर विरोध न करनेवाले स्वजातीय लोगोंके द्वारा जो यह एक राष्ट्रीयताका आग्नि प्रदीप्त किया गया है वह बहुत देरतक हमारे लोगोंमें जलता रहे ॥ ३ ॥

तुम सब यहाँ एक विचारसे रहो, परस्पर विरोध करके एक दूसरेसे दूर न हो जाओ । अन्न अपने पात्र रखनेवाला कृषक और गौओंका पालन करनेवाला, तुम्हारी पुष्टि करनेवाला बैस तुमको इकट्ठा करके यहाँ लावे । एक इच्छाकी पूर्तिके लिये प्रयत्न करनेवाली सब प्रजाओंको सब देव एकताके विचारसे संयुक्त करें ॥ ४ ॥

तुम्हारे मन एक करो, तुम्हारे कर्म एकताके लिये हों, तुम्हारे सङ्कल्प एक हों जिससे तुम सबदशांशसे युक्त हो जाओगे । जो ये आपसमें विरोध करनेवाले हैं उन सबको हम एक विचारसे एकत्र झुका देते हैं ॥ ५ ॥

सबसे प्रथम मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोको आकर्षित करता हूँ । मेरे चित्तके अनुकूल तुम अपने चित्तोंको बनाकर यहाँ आओ । मैं अपने वशमें तुम्हारे हृदयोंको करता हूँ । मैं जिस मार्गसे जाता हूँ वध मार्गपर चलते हुए तुम मेरे पीछे पीछे चले आओ ॥ ६ ॥

अधिक उच्चता ।

मनुष्यके अंदर अधिक उच्चताकी प्राप्ति करनेकी इच्छा स्वभावतः रहती है । कोई भी मनुष्य मनसे यह नहीं चाहता कि अपनी उन्नति न हो । हरएक मनुष्य जन्मतः उन्नति ही चाहता है । इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन विचारणीय है—

दुधे सोमं सयितारं नमोभिः

दिश्वानादित्याँ अदमुत्तरत्वे ॥ (मू. ८, मं. ३)

'सोम, सविता और सब आदित्योंको उच्च होनेकी स्पर्धामें सहायताके लिये बुलाता हूँ ।' अर्थात् मैं देवताओंसे ऐसी सहायता चाहता हूँ कि जिसमें मैं दिव्य मार्गसे उन्नतितो प्राप्त कर सकूँ ।

'उत्, उत्तर' ये शब्द एक बटकर अवस्थाके द्योतक हैं । साधारण अवस्थासे 'उत्' अवस्था बनकर और उससे 'उत्तर' अवस्था अधिक श्रेष्ठ होती है । मनुष्य सदा 'उत्तरत्व' की प्राप्तिका प्रयत्न करे यह तृतीय मंत्रकी सूचना है । अर्थात् मनुष्य अपनेसे उच्च अवस्थामें चढ़नेका यत्न तो अवश्य ही करे परंतु उससे भी एक सीढ़ी ऊपर होनेका ध्येय अपने सम्मुख रखे । 'उत्-तर-त्व' शब्दमें यह सब अर्थ हैं जो पाठकोंको अवश्य देखना चाहिये ।

यह अधिक उच्च अवस्था देवमार्गसे ही प्राप्त करना चाहिये । 'श्रेय और प्रेय' अथवा 'दैव और अशुर' ऐंम मार्ग मनुष्यके सम्मुख आते हैं, उनमेंसे श्रेय अर्थात् दैव मार्गका अवलंबन करनेसे मनुष्यका कल्याण होता है और दूसरे मार्गपरसे चलनेसे मनुष्यकी हानि हो जाती है । आशुर मार्गको दूर करनेके लिये और श्रेय मार्गपर जानेकी प्रेरणा करनेके लिये हीं इस मंत्रमें 'देवताओंकी नम्रतापूर्वक प्रार्थना' करनेकी सूचना दी है । देवताओंकी नम्रतापूर्वक प्रार्थना करनेवाला मनुष्य सदा निकृष्ट मार्गपर अपना गांव नहीं रख सकता । देवताओंकी सहायताकी प्रार्थना इस प्रकार मनुष्यत्वके विकासका हेतु है । एक बार इस देवी मार्गपर अपना पांव रखनेके बाद भी कई मनुष्य आशुरी खलसाओंमें फँस आते हैं । इस प्रकारकी गिरावटसे बचानेके हेतु चतुर्थ मंत्र कइता है कि—

इद इत् असाथ, न परो गमाथ । (मू. ८, मं. ४)

'इसी देवी मार्गपर रहो, इसको छोड़कर अन्य मार्गसे न जाओ ।' यह सावधानीकी सूचना विशेष ध्यान देने योग्य है । कई बार ऐसा देखा गया है कि मनुष्य आत्मोन्नतिके पथसे उन्नत होता चला जाता है और फिर एकदम गिरता है । ऐसा न होनेके लिये इस चतुर्थ मंत्रने यह सूचना दी है । यदि

पाठक इस सूचनाको ध्यानमें धारण करेंगे तो 'निःसंदेह' इससे उनका बचव हो सकता है ।

उन्नतिका मार्ग ।

मनुष्यको उन्नतिके लिये, मनुष्य सामाजिक प्राणी होनेके कारण, उसको अधिक जीवनमें रहना आवश्यक है । यह अलग अलग रहकर उन्नत हो नहीं सकता । वैयक्तिक जीवनके लिये इतने स्वार्थलागड़ी आवश्यकता नहीं है जितनी कि सामुदायिक जीवनके लिये आवश्यकता है । इस कारण सामुदायिक जीवन स्थित करनेवाले मनुष्योंके लिये उचित है कि वे अपना श्वद्वार ऐसा करें कि जिससे समाजमें परस्पर विरोध पैदा न हो, इस विषयमें पंचम मंत्रका उपदेश देखिये—

यः मनांसि सं, यः प्रतानि सं, यः आकृतीः सम् ।

(मू. ८, मं. ५)

'तुम्हारे मन, तुम्हारे बर्न और तुम्हारे संकल्प सम्पत्की रीतिसे एकताको बढ़ानेवाले हों ।' इस मंत्रमें जो 'सं' उपसर्ग है वह 'उत्तमता और एकता' का द्योतक है । मनुष्योंके संकल्प, उनके मानसिक विचार और सब प्रकारके कर्म ऐसे हों कि जेः एकताकी तथा उत्तमताकी वृद्धि करनेवाले हों । कई लोग बाहरसे कोई सुरा कार्य करेंगे नहीं, परन्तु मनसे ऐसे सुरा विचार और सुरे संकल्प करेंगे, कि जिनका परिणाम आपसमें फिसाद मचानेका हेतु बने । ऐसा नहीं होना चाहिये । संकल्प, विचार और कर्म सभी सदा शुभ होने चाहिये और कभी वैरका भाव उसमें नहीं आना चाहिये । यदि अपने समाजमें कोई इसके विरुद्ध बर्तान करनेवाला हो तोः उसको भी समझाकर समाजपर लाना चाहिये, इस विषयमें पंचम मंत्रका उपसर्ग देखने योग्य है—

अनी ये चिन्वता स्थन तान्मः स नमयामसि ॥

(मू. ८, मं. ५)

'ये जो विरुद्ध आचरण करनेवाले हैं उनको भी एकताके मार्गपर हम हल्ला देते हैं ।' इस प्रकार विरोधी लोगोंको भी समझाकर एकताके मार्गपर लाना चाहिये । समाजके शासनकी सेवा प्रबंध होना चाहिये कि जिसमें रहनेवाले लोग विरुद्ध मार्गपर चल ही न सकें । सज्जन तो सदा शुभ मार्गपरसे चलेंगे ही, परन्तु दुर्जन भी विरोधके मार्गपर जाना छोड़ दें और शुभ मार्गपर चलनेमें हों अपना लाभ है इस बातको अच्छी प्रकार समझ जाय । इस प्रकार सब जनताको एकताके मार्गपर लानेसे और समाजसे दुर्जन करनेवाले मनुष्योंको दूर कर देनेसे अथवा उनको सुधारनेसे जनताकी उन्नतिका मार्ग सीधा हो सकता है ।

सुधारका प्रारंभ ।

हमेंशा यह बात ध्यानमें धारण करना चाहिये कि सुधारका प्रारंभ अपने अन्तःकरणके सुधारसे होता है । जो लोग अपने अन्तःकरणके सुधार करनेके विना ही दूसरोंके सुधार करनेके कार्यमें लगते हैं, वे न तो उस कार्यको निभा सकते हैं और न स्वयं उन्नत हो सकते हैं । इसलिये वेदने इस सूक्तके छठे मंत्रमें अपने सुधारसे जगत्का सुधार करनेका उपदेश किया है, वह अवश्य देखिये—

अहं मनसा मनांसि गृण्णामि ।

मम वशेषु वः हृदयानि रुणोमि ॥

(सू. ८, मं. ६)

‘ मैं अपने मनसे अन्य लोगोंके मन आकर्षित करता हूँ । इस प्रकार मैं अपने वशमें अन्योंने हृदयोंको करता हूँ । ’

इस मंत्रमें ‘ अपने शुभाचरणसे अन्योंने दिलोंको आकर्षित करनेका उपदेश ’ इरण्वकको ध्यानमें रखने योग्य है । पाठक ही विचार करें और अपने चारों ओर देखें कि कौन दूसरोंके मनोको आकर्षित कर सकता है ? क्या कभी कोई दुर्गचारी अशुभ संकल्पवाला मनुष्य जनताके मनोको आकर्षित कर सकता है ? ऐसी बात कभी नहीं होती । सत्पुरुष और शुभ संकल्पवाले पुण्यात्मा ही जनताके मनोको आकर्षित कर सकते हैं । औचित्य अवस्थामें ही नहीं प्रश्रुत मरनेके पश्चात् भी उनके सद्भावधरित शब्द जनताके मनोका आकर्षण करते रहते हैं । यह उनमें सामर्थ्य उनके शुभ और सत्य संकल्पोंके कारण ही उत्पन्न होता है । ऐसे पुरुष जो सोलते हैं वैसा जनता करती है, यह उनकी तपस्याका फल है । इरण्व मनुष्यको यह सामर्थ्य प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये । अपने संकल्पोंकी पवित्रता करनेसे ही यह बात सिद्ध हो जाती है । जो अपनी पवित्रता जितनी करेगा उतनी सिद्धि उसकी प्राप्त होगी । इसके पश्चात् वह पुण्यात्मा कह सकेगा कि—

मम चित्तं चित्तेभिः अनु एत ।

मम यातं अनु चतर्मान एत ॥ (सू. ८, मं. ६)

‘ मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाओ, मेरे अनुकूल चलते हुए मेरे मार्गसे चलो । ’

वस्तुतः जो पुण्यात्मा सत्य मार्गपर चलके अपने शुभ मंगल संकल्पोंसे जनताके मनोको आकर्षित करते हैं उनके लिये वह सिद्धि अनायास ही प्राप्त होती है । अर्थात् उनके बहनेके विना ही अन्य लोग उनके अनुकूल अपने चित्तोंकी दृष्टते हैं और उनके मार्गसे ही चलनेका यत्न करते हैं । यह स्वयं होता रहता है । परन्तु जनताको ‘ अपने मार्गसे चलो ’ ऐसा कहनेका यदि

किसीको अधिकार होगा तो ऐसे पुण्यात्माओंको ही होता है, यह बात यदा कदा है । इस प्रकार अपना सुधार करनेवाले पुण्यात्मा जनताके मार्गदर्शक होते हैं । जगत्का सुधार करनेका सच्चा मार्ग इस प्रकार आत्मसुधारमें ही है । इसलिये जो प्रयत्न अयोग्य पुरुष जनताके सुधारके लिये करते हैं, उतना प्रयत्न यदि वे आत्मसुधारके लिये करेंगे तो अधिक भला ही सकता है । जो शक्ति आती है वह आत्मसुधार करनेके कारण ही आती है । आत्मसुधार करनेके मार्गके विना सच्चे सुधारका कोई मार्ग नहीं है । जब इस मार्गसे शक्तिकी वृद्धि होती है और जब वह अपने मनसे दूसरोंके मनोको आकर्षित कर सकता है, तभी उसकी जनताको ‘ अपने पीछे चलो ’ ऐसा कहनेका अधिकार आता है । वह कहता है कि—

‘ मेरे मार्गसे मेरे साथ साथ चलो । मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाकर चलो । (मं. ६) । ’ अर्थात् जिस मार्गसे मैं जाता हूँ उसी मार्गसे तुम आओ । इसी मार्गसे चलनेपर तुम्हारा भला होगा । इस प्रकार इस अवस्थामें यह मनुष्य जनताका मार्गदर्शक होता है । उसका आचरण और उसका जीवन अन्य जनोके लिये मार्गदर्शक अर्थात् आदर्श होता है ।

संवेदन्य राष्ट्र ।

उक्त प्रकारके मार्गदर्शक आदर्श जीवनवाले धर्मात्मा और पुण्यात्मा जिस राष्ट्रमें अधिक होते हैं और जहाके लोग उनके अनुकूल अपने आचरण बनाकर चलते हैं, उस राष्ट्रको ‘ संवेदन्य राष्ट्र ’ कहते हैं, क्योंकि उसमें (संवेशन) प्रवेश करके वहां रहने योग्य वह राष्ट्र होता है । मनुष्य वहां जाय और रवे और आनंद प्राप्त करें । इस प्रकारका राष्ट्र हमें देवताओंकी कृपासे प्राप्त हो यह प्रथम मंत्रमें प्रार्थना है, देखिये—

अस्मयं० वृहद्राष्ट्रं संवेदन्यं दधातु ।

(सू. ८, मं. १)

‘ हम सबके लिये देव प्रवेश करने योग्य बड़ा राष्ट्र दें । ’ अर्थात् देवोंकी कृपासे हमें ऐसा उत्तम आदर्श राष्ट्र प्राप्त होये अथवा हमारा राष्ट्र वैसा ही बने । इस प्रकारके राष्ट्रमें ‘ मैं प्रमुख बनूँगा ’ यह महत्वाकांक्षा जनताके अन्तःकरणमें रहेगी, क्योंकि इसमें किसी कारण भी किसीके साथ पक्षपात नहीं होगा, इसका सूचक वाक्य द्वितीय मंत्रमें है—

यथा सजातानां मध्यमेष्ठा अस्तानि ।

(सू. ८, मं. २)

‘ स्वजातियोंकी समामें मुख्य स्थानमें बैठनेके योग्य मैं होऊँगा । ’ यह इच्छा ऐसे राष्ट्रके लोगोंके अन्तःकरणमें रहेगी,

इस विषयमें विशेष करनेकी आवश्यकता नहीं है। जो पूर्वोक्त आदिमसुधारके मार्गसे अपनी शक्तिका विकास करेंगे वे एक स्थानमें जाकर विराजेंगे, अन्य लोग अपनी अपनी योग्यताके अनुसार अपने योग्य स्थानमें अपना कर्तव्य करेंगे। परन्तु किसीको भी उच्चतमके मार्गमें प्रतिबंध नहीं होगा। सब लोग अपने पुण्यार्थसे अपनी उन्नतिका साधन करेंगे और सब मिलकर अपने राष्ट्रको उन्नतिके शिखरपर ले जायेंगे। इस विषयमें एक प्रकारकी सार्विक स्पर्धा ही होती है जिसको तृतीय मंत्रने ' वसवस्त्वकी स्पर्धा ' कहा है। इस स्पर्धामें परस्परका घात नहीं होता प्रत्युत परस्परकी उन्नति होती है। सब जनताके मनुष्य एक भावसे इस राष्ट्रीयताके अग्नि प्रदीप्त करते हैं और उसमें अपने अपने कर्मकी आहुतिया दालते हैं, इस विषयमें तृतीय मंत्रका उत्तरार्ध देखिये—

राष्ट्रीय अग्नि ।

अयमग्निर्दादायद्दीर्घमेव सजातैस्त्रिन्दोःप्रतिभुवद्भिः॥
(सू. ८, मं. ३)

(अ-प्रति-भुवद्भिः) आपसमें विरोधका भाषण न करनेवाले (स-जातेः) स्वजातियोंके द्वारा प्रदीप्त किया हुआ यह एक राष्ट्रीयताका अग्नि बहुत दीर्घ कालतक प्रदीप्त स्थितिमें रहे। ' अर्थात् यह बीचमें अथवा अल्पकालमें ही न बुझ जावे। क्योंकि इसी अग्निकी गर्भसे सब राष्ट्रीय अनुरोध सफल और सुफल होते रहते हैं। इसलिये यह राष्ट्रीय अग्नि सदा प्रदीप्त रहना चाहिये। यह अग्नि वे ही मनुष्य प्रकल्पित रख सकते हैं कि जो (अ-प्रति-भुवत्) आपसमें विरोधके शब्द नहीं बोलते, आपसमें झगडा नहीं करते, आपसमें द्वेष नहीं बढाते; प्रत्युत आपसमें मेल मिलाप करनेकी ही भाषा बोलते हैं। ऐसे सज्जन ही राष्ट्रीयताके महान् अभिधा चयन करते हैं।

इस सूत्रमें ' सजात ' शब्द आया है और यह शब्द वैदिक-मंत्रोंमें अनेक बार आया है। ' सजातीय, समान जातीय, स्वजातीय ' इत्यादि अर्थमें यह शब्द प्रयुक्त होता है। जिनमें जातिभेदकी भिन्नता नहीं है ऐसे एक जातिवाले, एक राष्ट्रीयतावाले लोग, वह अर्थ इस शब्दका है। जातिभेदके कारण एक दूसरेसे लड़नेवाले लोग ' सजात ' नहीं कहलायेंगे। एक राष्ट्रके लोग परस्पर ' सजात ' ही होते हैं, परन्तु उनमें राष्ट्रीयताकी भावना प्रबल रहनी चाहिये और छोटी जातपातकी भावना गौण होनी चाहिये। ऐसे लोग जब आपसमें एकताके प्रेमसे कोई कार्य करते हैं तब उनमें एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न होती है, वही अग्नि शब्द द्वारा तृतीय मंत्रमें कही है। यही

राष्ट्रभक्तिका अग्नि है जो कि संपूर्ण राष्ट्रकी उन्नतिमें सहायक होता है।

राष्ट्रका पोषक ।

इस प्रकारके राष्ट्रके सबके पोषक दोही लोग होते हैं, उनका वर्णन ऋग्य मंत्र द्वारा हुआ है—

इयौ गोपा पुष्टपतिर्धं आजत् । (सू. ८, मं. ४)

(' इयः) अन्नका उत्पन्न करनेवाला और (गो-पा) गौओंकी रक्षा करनेवाला ये दो आप लोगोंकी पुष्टि करनेवाले हैं। ' यह मंत्रभाग बहुत मनन करने योग्य है। अन्नकी उत्पत्ति करनेवाला किसान और गौओंकी रक्षा करनेवाला गवालिया ये दो वर्ग राष्ट्रकी पुष्टिके लिये आवश्यक हैं। राष्ट्रकी बुनियाद ठीक करनेका कार्य ये लोग करते हैं, इसलिये राज्यशासनमें इनकी स्थिति अच्छी करनेका विशेष प्रबंध होना अत्यंत आवश्यक है। यदि अन्न उत्पन्न करनेवाले किसान और गोरेणिके ये दो वर्ग राष्ट्रमें अवनत हुए तो राष्ट्रकी कदापि पुष्टि नहीं हो सकती। पाठक इस दृष्टिसे इनका महत्त्व जानें और यह उपदेश इस प्रसंगमें देनेमें वेदने कितनी महत्त्वपूर्ण बात कही है यह भी स्मरण रखें।

शूरपुत्रोंवाली माता ।

राष्ट्रकी बुनियाद ' संतान ' है। पुत्र और पुत्रियां ही राष्ट्रका मावी उत्कर्ष या अपकर्ष करनेवाली होती हैं। इनकी सच्ची शिक्षा माताके द्वारा होती है। माता अपने बालबच्चोंकी किछ प्रकार शिक्षा देवे इसकी सूचना द्वितीय मंत्रमें दी है। इस विषयके सूचक शब्द ये हैं—

शूरपुत्रां अदितिं देवां ह्ये । (सू. ८, मं. २)

' शूरपुत्रोंकी अदीना देवी माताको मैं तुमला हूँ। ' अथवा उनकी मैं प्रशंसा करता हूँ। यहाँका ' अदिति ' शब्द ' अदीन, प्रतिबंधमें न रहनेवाली, राष्ट्रके स्थायीताके विचार रखनेवाली ' इत्यादि भाव रखता है। ' शूरपुत्रा ' शब्दका भाव स्पष्ट है। राष्ट्रमें देवियां ऐसी हों जिनकी अदीन और वीरपुत्रा कदा जावे। ' वीरसूत्रैव ' अर्थात् वीर पुत्र उत्पन्न कर यह वैदिक आशीर्वाद सुप्रसिद्ध है। वही बात अन्य रीतियोंसे यहाँ बताई है।

राष्ट्रीय शिक्षा ।

इस प्रकारकी वीरमाताएं जहाँ होंगी वहाँ ही राष्ट्रीयताके भाव परम उत्कर्षतक पहुँच सकते हैं। देवियोंकी, भद्रियोंकी और पुत्रियोंकी किस बंगसे शिक्षा देना चाहिये इसका विचार भी यहाँ निश्चित हो जाता है। जिस शिक्षासे माताएं वीरपुत्र उत्पन्न करनेवाली हों ऐसी शिक्षा उनकी देनी चाहिये।

देवी सहायता ।

उक्त राष्ट्रीयताके विचारोंकी पूर्णता होकर संपूर्ण जनता इस रीतिमें समर्थ राष्ट्रशक्तिसे युक्त होवे, इस विषयमें चतुर्थ मंत्र देखिये—

असौ कामायोप कामिनीर्विभ्वे वो देवा उप-
संयन्तु ॥ (सू. ८, मं. ४)

‘शुभ देव इस कामनाकी पूर्तिकी इच्छा करनेवाली तुम सब प्रजाओंको एकताके विचारसे युक्त करें।’ अर्थात् तुम सब लोगोंमें एकताका विचार बढ जावे । यह एक प्रकारसे पूर्ण और उच्च आशीर्वाद है । जो पाठक परमेश्वर भक्तिपूर्वक राष्ट्रोन्नतिके

लिये प्रयत्नशील होंगे वे ही इस आशीर्वादको प्राप्त करनेके अधिकारी हो सकते हैं ।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ।

इस सूक्तके अन्य मंत्रभागमें ‘मित्र, वरुणादि देवोंकी सहायता हमें राष्ट्रशक्ति बढानेके कार्यमें प्राप्त हो’ यह आशय है । यह आशय आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक कार्यक्षेत्रमें देखकर अर्थबोध लेनेकी रीति इससे पूर्व कई प्रसंगोंमें वर्णन की है । (विशेषकर काण्ड १, सू. ३०, ३१ के विवरण देखिये) इसलिये उक्त यहाँ पुनः विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है । उक्त दृष्टिसे पाठक इस सूक्तका अधिक विचार करें और बोध प्राप्त करें ।

केश-प्रतिबन्धक उपाय ।

(९)

(क्रोधिः - वामदेवः । देवता - धावापृथिवी, देवाः)

कर्शफंस्य विश्वस्य द्यौः पिता पृथिवी माता ।

यथामिचक्र देवास्तथाप कृणुता पुनः

॥ १ ॥

अश्रेष्माणो अधारयन्तथा तन्मर्तुना कृतम् ।

कृणोमि वधि विस्कन्धं मुष्कावर्हो गवांमिव

॥ २ ॥

अर्थ— (कर्श+फंस्य = कृशस्य) कृश अथवा निर्बलकी अथवा उसी प्रकार (विश्व+फंस्य) प्रबलकी मी (माता पृथिवी) माता पृथ्वी है और उन्का (पिता द्यौः) पिता युलोक है । हे (देवाः) देवा ! (यथा अमिचक्र) जैसा पराक्रम किया था (तथा पुनः अपकृणुता) उसी प्रकार फिर शत्रुओंका प्रतिहार करो ॥ १ ॥

जैस (अ-श्रेष्माणः अधारयन्) न करनेवाले ही किसीका धारण करते रहते हैं (तथा तत् मनुना कृतम्) उसी प्रकार वह कार्य मननशीलने मी किया होता है । (मुष्कावर्हः गवां इव) जैसा अण्डकोश तोड़नेवाला मनुष्य बैलोंको निर्बल कर देता है उसी प्रकार मैं (वि-स्कन्धं वधि कृणोमि) तोगादि विघ्नको निर्बल करता हूँ ॥ २ ॥

भाषार्थ— बलवान और निर्बल इन दोनोंके माता-पिता भूमि और युलोक हैं । अर्थात् ये दोनों प्रकारके लोग आपसमें भाई हैं । देवता लोग पराक्रम करके शत्रुका पराभव करते हैं, शत्रुका हटा देते हैं और निर्बलोंका संरक्षण करते हैं ॥ १ ॥

न करते हुए परिश्रम करनेवाले ही विशेष कार्य करनेमें धर्मय होते हैं । मननशील मनुष्य भी वैसा ही पुरुषार्थ करते हैं । मैं भी उसी प्रकार शत्रुको तथा विघ्नोंको निर्बल करता हूँ; निध प्रकार अण्डकोश तोड़नेवाले बैलका अण्डकोश तोड़कर उसको निर्वाय कर देते हैं ॥ २ ॥

पिशङ्गे श्वेत्रे स्वर्गलं तदा वंभन्ति वेधसः ।

श्रवस्युं शुष्मं कावचं चाग्निं कृष्वन्तु वन्धुरः ॥ ३ ॥

येनां श्रवस्यवृथारयं देवा ईवासुरमायया ।

शुनां कपिरिव दूषणो वन्धुरा कावचस्य च ॥ ४ ॥

दुष्ट्यै हि त्वां भस्त्यामि दूषयिष्यामि कावचम् ।

उद्राशत्रो रथा इव शपथेभिः सरिष्यथ ॥ ५ ॥

एकशतं विष्कन्वानि विष्टिता पृथिवीमनु ।

तेषां त्वामग्र उज्जहर्षमणिं विष्कन्मदूषणम् ॥ ६ ॥

वर्थ— (वेधसः) सनी लोग (पिडाङ्गे सूत्रे) भूरे रंगबाले सूत्रमें (तत् स्वर्गलं आवाभन्ति) उद मणिसे बाँधते हैं । (वंधुरः) घमन करनेवाले, श्रवस्युं शुष्मं कावचं) प्रसिद्ध प्रबल शीघ्र रोगको (चाग्निं कृष्वन्तु) निर्बल करे ॥ ३ ॥

हे (श्रवस्यवः) दशस्त्री पुण्या । (येन) त्रिष्वे (असुरमायया देवाः इव स्वस्थ) जीवन दानादी दुष्टलतामे युक्त देवोंके समान आचरण करने हो तथा (कपिः शुनां दूषणः इव) बंदर तैसा हुरोको तुच्छ मानता है वैठे (वन्धुरा कावचस्य च) घमन करनेवाले रोगवा अयथा दुःखदा प्रतिबंध करते हैं ॥ ४ ॥

(दुष्ट्यै हि त्वां भस्त्यामि) दुष्टतासे हटानेके लिये मैं तुझे बाधूंगा । और (कावचं दूषयिष्यामि) बिपत्रो निर्बल बना दूंगा । (आद्राशः रथाः इव) शीघ्र चलनेवाले रथोंके समान तुम (शपथेभिः उत् सरिष्यथ) शान्तिके बंधनसे दूर हो जाओगे ॥ ५ ॥

(एकशतं विष्कन्वानि) एक सौ एक विपत्र (पृथिवीं अनु विष्टिता) पृथ्वीपर रहे हैं । (तेषां अग्रं) उनके सामने (विष्कन्मदूषणं त्वां मणिं) कष्टनाशक तुम मणिको (उत् उज्जहः) ऊंचा उठाया है । सबमे बचकर माना है ॥ ६ ॥

भावार्थ— भूरे रंगके सूत्रसे ज्ञानी लोग मणिको बाँधते हैं जिससे प्रसिद्ध शीघ्र रोगको निर्बल बना देते हैं ॥ ३ ॥

गसतीं पुरुष जीवनके देवों मार्गसे जाते हैं और शत्रुको दूर करते हैं, बंदर वृक्षपर रहता हुआ शत्रुको तुच्छ मानता है, इसी प्रकार रोग प्रतिबंधकी विद्या जाननेवाले रोगको दूर करते हैं ॥ ४ ॥

दुष्ट शक्तिको दूर करनेके लिये योग्य प्रतिबंध करना चाहिये, उसी प्रकार रोगादि विपत्रोंको निर्बल करना चाहिये । जैसे वेगवाले रथसे मनुष्य पहुँचनेके स्थानपर शीघ्र पहुँच जाता है, उसी प्रकार लक्ष मार्गसे मनुष्य दुष्ट अवस्थामें सुख हो जाता है ॥ ५ ॥

पृथ्वीपर एकसौ विपत्र और दुःख हैं । उनके प्रतिबंधक उपायोंमें दुःखप्रतिबंधक मणि विशेष प्रभावशाली है जिसकी धारण किया जाता है ॥ ६ ॥

गह सुक्त ममज्ञानके लिये बंधा कठिन और अज्ञान दुर्बोध है । इस सुक्तके 'काण्ड, विशुक्त, मृगल, कावच' ये शब्द अन्यत्र दुर्बोध हैं और बहुत प्रयत्न करनेपर भी इन शब्दोंका यनाधानकारक अर्थ इस समयटक पता नहीं लगा । जो पाठक वेदके वर्णकी खोज कर रहे हैं वे इस विषयकी खोज अवश्य करें ।

सर्वके माता पिता-।

प्रथम मंत्रके प्रथमार्धमें एक महत्त्वपूर्ण बात बंदी है वह सबके बंधुभावकी बात है ।

कर्षफस्य विश्वस्य धीः पिता पृथिवी माता ।

(सू. १, मं. १)

जगत्में दो प्रकारके मनुष्य हैं, एक (कर्मात्मक = कृश) अनाक बलहीन अथवा जगत्की स्पष्टता (कर्मात्मक) बुरे खुरबाले अर्थात् जो अपना बचाव कर नहीं सकते; और दूसरे (विभक्तात्मक) अपने आपका प्रवेश दूर दूर तक कर सकते हैं और दूसरोंका प्रायश्चर्य करके अपना अधिकार दूसरोंपर जमा देते हैं । इसी शब्दका दूसरा अर्थ यह है कि (विभक्तात्मक) विशेष खुरबाले अर्थात् जो पशु दूसरोंको कायें मारनेमें समर्थ होते हैं । ' विशाक ' के दोनों अर्थोंमें समान भाव यह है कि ' पाशवी शक्तिसे युक्त । '

विश्वबन्धुत्व ।

जगत्में ये दो प्रकारके लोग हैं, एक (विभक्तात्मक) पाशवी शक्तिसे युक्त और दूसरे (कर्मात्मक) पाशवी शक्तिसे हीन । सदा ही ऐसा देखा जाता है कि पाशवी शक्तिसे बली बने हुए लोक निर्बल लोगोंको दबाले रहते हैं । इस कारण सामाजिक, राजकीय और धार्मिक विषयमत्ता बढ जाती है और उसी प्रमाणसे जनताके क्रेम बढते जाते हैं । इन क्लेशोंके निवारणका एक मात्र उपाय यह है कि ' सब लोग परस्पर भाई हैं और एक परम पिता और एक परम माताकी संतानें हैं, ' इस उच्च भावको जागृत करना । यदि निर्बल और सबल दोनों मानेंगे कि ' हम सबका परम पिता और परम माता एक ही है, इसलिये हम सब मनुष्य आपसमें भाई भाई हैं ' तो पथात् एक दूसरेमें झगडा करनेका कारण ही नहीं रहेगा । क्योंकि जो झगडा होता है वह परकीयताके भावसे होता है, वह परकीय भाव इस प्रकार हट गया तो झगडा ही नहीं रहेगा । सामाजिक, राजकीय और धार्मिक झगडे हटानेका पहला उपाय वेदने यह बताया है ।

मातृभूमिकी अपनी माता मानना और सूर्य, बुलोक अथवा (प्रकृतमय देवकी अपना पिता समझना, यह झगडा मिटानेके लिये उत्तम उपाय है । मातृभूमिकी मक्ति यदि जनताके मनमें जाग्रत हो गई तो उनमें सबकी एकता होनेमें विरोध नहीं लगेगा । मातृभूमिकी भक्ति ही ऐसी एक वस्तु है कि जो राष्ट्रीय एकताको विकसित कर देती है और सबमें अद्भुत सामर्थ्य उत्पन्न कर देती है । मातृभूमिकी भक्तिमें विशेषतः स्वदेशप्रेम ही आता है परन्तु भूमिमाताका विस्तृत अर्थ लेनेपर ' विश्वबन्धुत्वकी कल्पना भी आती है ।

पराक्रम ।

मातृभूमिका हित करनेका उद्देश्य अपने समुच्च रक्षक, उस संवेधने उत्पन्न होनेवाले अपने कर्तव्य करनेके लिये और उस उच्च कर्मके लिये आवश्यक साधन करनेके लिये मनुष्योंको (अथर्व. भाष्य, काण्ड ३)

प्रेम रचना चाहिये । जिस प्रकार, देवायु मुझमें देव असुरोंको हटानेके कार्यों बढा पराक्रम करते हैं, असुरोंपर आक्रमण करते हुए उनको हटा देते हैं, उसी प्रकार मनुष्योंको हटानेके कार्योंमें बढा पुष्टवर्ण करना चाहिये । शत्रुका पराभव करना और उनको दूर करना ये दो बातें इस पुराणार्थमें मुख्य हैं—

यथाऽभिवृत्तं देवास्तथाऽप कृणुता पुनः ॥

(सू. १, मं. १)

' जैसा (अभिवृत्त) शत्रुपर हमला करना चाहिये वैसा ही (अपकृणुता) उनको दूर करना चाहिये । ' हमला करके शत्रुका पराभव करना चाहिये और उनका अपने स्थानसे परे भी हटाना चाहिये । इतना सब करके अशरणाका रक्षण करना चाहिये ।

यह सब होनेके लिये, सब लोगोंका बंधुत्व व परमात्माको सधका माता पिता मानना, इन दो बातोंकी आवश्यकता है । पाठक इस अतिश्रेष्ठ उपदेशका अच्छी प्रकार मनन करें ।

परिश्रमसे सिद्धि ।

परिश्रम करनेके बिना कुछ भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती है । जो सिद्धि होती है वह प्रयत्नसे साध्य होती है । जो भी निबन्धी लोग हुए हैं वे यथावत्से प्रयत्न नहीं करते थे । वे परिश्रम करनेके लिये बरते नहीं थे, इसलिये उनमें धारक शक्ति उत्पन्न हुई और वे बातियों, समाजों और राष्ट्रोंका पारण कर सके । इसी-लिये मंत्रमें कहा है—

सम्यग्भाषाणां संधारयन् तथा तन्मनुनां कृतम् ॥ (सू. १, मं. १)

' जो परिश्रम करनेसे नहीं सकते वेही धारण करते हैं । मननशीलने भी वैसा ही कर लिया था । ' परिश्रम करनेके बिना धारक शक्ति नहीं आ सकती । और जो मननशील लोग हैं वे भी अपनी मनन शक्तिसे इसी परिणामतक पहुँचें हैं । प्रयत्न शीलता ही मनुष्य मात्रका उद्धार करनेवाली है । इस लिये हर एक मनुष्यको प्रयत्न शीलताका महत्त्व ध्यानकर पुष्टवर्ण प्रयत्नसे अपना उद्धार करना चाहिये और अपने राष्ट्रका भी सम्युद्भव साधन करना चाहिये ।

परिश्रमी पुष्ट्य अपने प्रयत्नसे सब विघ्न दूर कर सकता है, उसके लिये सब ही अवसरार्थ प्रयत्न साध्य होता है, उसके लिये अशक्य और अप्राप्य ऐसा कोई स्थान नहीं होता है, वह निश्चयपूर्वक कहेता है कि—

कृणोमि धमि दिक्कन्धे मुक्काबहो गंधामिय । (सू. १, मं. २)

‘मै निधमसे विप्रको निर्बल करता हूँ जिस प्रकार अन्ध-
कोशको तोड़नेवाले लोग बैलको निधमसे विवर्षण करते हैं।’
पुरोषार्थ प्रदत्तसे सब विष्णु, सब प्रतिबंध, सब आधिप्याधिक्यके
रूप दूर हो सकते हैं। पुरोषार्थ प्रदत्तके अनुसूचये विष्णु उदर
ही नहीं सकते।

यहाँ बैलके अन्धकोश तोड़कर उनको प्रजननके कार्यके लिये
ससमर्थ बनानेकी विद्याकी सूचना है। खेतोंके लिये इसी
प्रकारके बैलोंका उपयोग होता है।

असुर—माया ।

‘असुरमाया’ का विषय चतुर्थ मंत्रमें आया है। ‘माया’
शब्दका अर्थ ‘कौशल्य, हुनर, कला, प्रवर्णनाका कर्म’ है।
‘असुर’ शब्दका अर्थ ‘(अ-सुर) दैत्य अथवा (असु-र)
बीचनकी विद्या जाननेवाले और उस विद्याका प्रकाश करनेवाले’
है। इसलिये ‘असुर—माया’ का अर्थ ‘असुरोंके पासका कला-
कौशल्य, हुनर अथवा बीचनके साधन प्राप्त करनेकी विद्या’ है।
दह असुर माया अपनी अपनी अंगकी देवोंके पास भी रहती है
और दैत्योंके पास भी होती है। देव सम्पूर्ण प्रकारकी यह
विद्या प्राप्त करते हैं और अपनी उन्नति सिद्ध करते हैं और
अंशतः प्राप्त करते हैं, इस विषयमें कहा है—

असुरमायाया देवा इव भयस्यथः चरथ ।

(सू. ९, मं. ४)

‘इस जीवनकी विद्यासे जैसे देव चलते हैं, वैसे तुम भी
मशाली और प्रशंसित होकर चले।’ देव जैसे इस जीवन
विद्यासे मशाली होते हैं वैसे ही तुम भी होओ। दह चतुर्थ
मंत्रका कथन मनुष्योंकी पुरोषार्थके मार्गपर चलानेके लिये ही
है। जो मनुष्य इस मार्गसे चलेंगे, वे देवोंके समान पृथ्वीय
होंगे और यशके भी भागी बनेंगे।

सैकडों विष्णु ।

इस पृथ्वीपर विष्णु तो सैकड़ों हैं, क्योंकि, समात्र, ज्वाती
और राक्षसी उचितमें सैकड़ों किल्लके विष्णु होते हैं। जो भी
पुरोषार्थ करनेका कार्य चला हो, उसमें विष्णु तो अवश्य ही
होंगे, परंतु उनसे डरना नहीं चाहिये। इन विष्णुओंके विषयमें
कहा है—

एकशतं विष्कन्धानि विष्टिता पृथिवीमनु ।

(सू. ९, मं. ६)

‘सैकड़ों विष्णु पृथ्वीपर हैं।’ जब ये विष्णु हैं और हर एक
कार्यमें ये रहेंगे ही तब उनसे डरनेकी कोई आवश्यकता नहीं

है। उनको प्रतिबंध करते हुए भाग बचना चाहिये। काम
बढ़नेके लिये अपना वेग बढाना चाहिये—

आशयो रया इव शपथेभिः उत सरिष्यथ ।

(सू. ९, मं. ५)

‘श्रीगणेशी रथ जैसे शीघ्र भागे बढ़ते हैं उसी प्रकार
पुरोषार्थ प्रदत्त करनेसे तुम भी विष्णुओंकी पीछे धाकड़ भागे बढ़
जाओगे।’ अपना वेग बढ़ानेसे विष्णु पीछे हटते हैं, परंतु जो
अपना वेग कम करते हैं, वे विष्णुसे द्रष्ट होते हैं। इसलिये
अपनी पुरोषार्थ शक्ति बढ़ानेसे मनुष्य विष्णुओंकी परास्त करके
विजयका मार्ग सुनार सकते हैं। इस विषयके उदाहरण देखिये—

शुभ्रां दूषणाः कपिः इव । (सू. ९, मं. ४)

‘कुत्तोंका तिरस्कार करनेवाला बंदर बैला होता है।’ बंदर
धुंधरा रहते हैं इसलिये वे कुत्तोंकी पराई नहीं करते। वे
कुत्तोंको दूषक समझते हैं क्योंकि वे कुत्तोंकी अनेका बहुत ऊंचे
स्थानपर रहते हैं, जतः कुत्ते उन बंदरोंकी कोई विष्णु कर नहीं
सकते। इसी प्रकार जिन स्थानोंमें विष्णु होते हैं उन स्थानोंकी
छोड़कर उनसे ऊंचे स्थानोंमें रहनेसे कोई विष्णु, कष्ट नहीं दे
सकते। जैसे बंदर धुंधरा रहनेके कारण कुत्तोंके कष्टोंसे बचे
रहते हैं, इसी प्रकार हर एक विप्रसे मनुष्य अपने आपकी
बचाव। विप्रका जो स्थान होगा उससे अपना स्थान ऊंच
करनेसे मनुष्य उनसे दूर रह सकता है। इसी विषयके
सूचक निम्न निम्नित मंत्र हैं—

अवस्युं शुष्मं काचवं वाग्निं कृण्वन्तु वन्दुरा ॥

(सू. ९, मं. ३)

कायस्य च वन्दुराः ॥ (सू. ९, मं. ४)

काचवं दूषयिष्यामि ॥ (सू. ९, मं. ५)

‘विप्रोंका प्रतिबंध करनेवाले लोग प्रसिद्ध शीघ्रक विप्रोंका
निर्बल करें; विप्रका प्रतिष्ण्व करें। मैं विप्रोंकी परास्त
करूंगा।’

ये सब विद्याय विप्रोंका प्रतिबंध करनेके सूचक हैं। विप्रोंकी
परास्त करना अथवा विप्रोंको दूर करना दह मनुष्यका ध्येय है
और इसके उपाय इससे पूर्व दिये जाँ हैं। शारीरिक आधिपत्यके
अपने आपका बचाव करनेके लिये मणि धारणका उपाय इससे
पूर्व कई सूत्रोंमें कहा गया है। (देखो काण्ड २, सूत्र ४) इस
प्रकारके मणि धारणसे रोगोंका प्रतिबंध हो जाता है इसलिये
मणि धारणकी सूचना देनेके लिये इस सूत्रमें निम्नलिखित मंत्र-
भाग हैं—

पिशंगे सूत्रे खगलं तदा बध्नन्ति वेधसः ।

(सू. ९, मं. ३)

दुश्रयै द्वित्वा मन्थ्यामि ।

(सू. ९, मं. ५)

तेषां त्वानप्र उज्जह्वर्मणि चिष्कन्ध-दूषणम् ॥

(सू. ९, मं. ६)

‘ मूर्ते रंगवाले सूत्रने ज्ञानी लोग इन मणिको बांधते हैं ।
दुरवस्था हटानेके लिये तुम बांध्याः । मणिको चित्रोंका निबन्ध
करनेवाला कबसे मुख्य बनाय मानकर करार ठठते और धारय
करते हैं । ’

इन मंत्र मार्गले स्पष्ट होजाता है कि ब्यक्तिके शारीरिक
रोगरूपी आधिभ्यावियोंकी हटानेके लिये यह मणिकारण एक
उत्तम उपाय है । धार्माधिक और राष्ट्रीय विन्नोंको दूर करनेके
लिये विश्वबहुत्वकी कल्पनाका फलदाय करनेका उपाय प्रसुख
स्थान रक्ता है । तथा अन्त्यान्व संपूर्ण विष्णोको हटानेके लिये
परिश्रम करने धर्यान् पुत्र्यार्य करनेकी शक्ति मनुष्यमें पर्याप्त
है । इस सूक्तका अन्धा मनन पाठक करेगे तो उनके अपनी
उन्नतिको मार्ग विनरहित करनेका उपाय निःसंदेह प्राप्त हो
सकता है ।

कालका यज्ञ ।

(१०)

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — एकाष्टका, नानादेवता)

प्रथमा इ व्युत्थास सा धेनुर्मवद्यमे ।

सा नः पर्यस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समां

॥ १ ॥

यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुर्मुपायतीम् ।

संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली

॥ २ ॥

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वां राष्ट्र्युपासहे ।

सा न जायुष्मती प्रजां रायस्पोषेण संसृज

॥ ३ ॥

अर्थ— (प्रथमा इ व्युत्थास) पत्नी उपायकी वेला उद्यको प्राप्त हुई । (सा यमे धेनुः अमवद्यत्) वह
निनमने धेनु जैसी हुई । (सा पर्यस्वती) वह दूध देनेवाली धेनु (नः उत्तरां उत्तरां समां दुहां) हमारे लिये उत्तरो-
त्तर अर्थात् आनेवाले बराने दूध देती रहे ॥ १ ॥

(देवाः) देव (यां उपायतीं रात्रिं धेनुं) जिस आनेवाली रात्री रूपी धेनुको देखकर (प्रतिनन्दन्ति) आनन्दित
होते हैं । (या संवत्सरस्य पत्नी) जो संवत्सरकी पत्नीरूप है (सा नः सुमङ्गली अस्तु) वह हमारे लिये उत्तम मंगल
करनेवाली होवे ॥ २ ॥

हे (रात्रिं) रात्री ! (यां त्वां) जिस दुहको (संवत्सरस्य प्रतिमां) संवत्सरकी प्रतिमा मानकर (उपासहे)
इन सब मंत्रों हैं, (सा नः जायुष्मती प्रजां) वह हमारी सौर्ष आयुवन्की प्रजाको (रायः पोषेण संसृज) धनको
पुष्टिसे संयुक्त कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— पत्नी तथा उपायकी प्राप्त हुई है । जो मुनियनोंका पाठन करता है उसके लिये यह वेला कामवेलु जैसी
अमृत रस देनेवाली बनती है । इसलिये यह वेला हमारी भविष्यको आयुमें हमें सौ अमृत रस देनेवाली बने ॥ १ ॥

प्रातः होनेवाली इस रात्री रूपी कामधेनुको देखकर देव आनंदित होते हैं । यह संवत्सरकी पत्नी रूपी वेला हमारे लिये
उत्तम मंगल करनेवाली बने ॥ २ ॥

संवत्सरकी प्रतिमा रूप यह रात्री है, इसकी उपासना हम करते हैं, इसलिये यह हमारे संतानोंको सौर्ष आयु, धन और
पुष्टि देने ॥ ३ ॥

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छद्वास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।
 महान्तो अस्यां महिमानो अन्वर्ध्वर्जिगाय नवगजनित्री ॥ ४ ॥
 वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृष्वन्तः परिवन्सरीणम् ।
 एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्वाम् पतयो रयीणाम् ॥ ५ ॥
 इडायास्पदं घृतवत् सरीसृपं जातवेदुः प्रति हव्या गृमाय ।
 ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु ॥ ६ ॥
 आ मां पुष्टे च पोषे च रात्रिं देवानां सुमतीं स्वाम् ।
 पूर्णां देवं परां पत् सुपर्णां पुनरा पतं ।
 सर्वाण्यन्नान्तसंभ्रजतीपमूर्जं न आ भर ॥ ७ ॥

अर्थ— (इयं एव सा) यही वह है कि (या प्रथमा व्यौच्छद्) जो पहले प्रकट हुई और जो (वासु इतरासु प्रविष्टा चरति) इन इतरोंमें प्रविष्ट होकर चलती है । (अस्यां अन्तः महान्तः महिमानः) इसके अन्दर बड़ी महिमाएँ हैं । (नव-गत् वधूः जनित्री जिगाय) यह नवन कुलवधु जननी होती हुई विजय करती है ॥ ४ ॥

(परिवन्सरीणं हविः कृष्वन्तः) सावत्वारिक दहनका अन्न बनानेवाले (वानस्पत्याः ग्रावाणः घोषं अक्रत) वनस्थानिके साथ संघेय रखनेवाले पत्थर घण्ट कर रहे हैं । हे (एकाष्टके) एक अष्टका । (वयं सुप्रजसः सुवीराः) हम सब उत्तम संतानवाले और उत्तम वीरोंवाले तथा (रयीणां पतयः स्वाम्) उनके स्वामी होवें ॥ ५ ॥

हे (जातवेदुः) उत्पन्न पदायोंकी जाननेवाले अग्नि ! (इडायाः घृतवत् सरीसृपं पदं प्रति) गौके घोषे कुछ खननेवाले स्थानके प्रति (हव्या गृमाय) हव्यकी प्रहण कर । (ये ग्राम्याः विश्वरूपाः पतयः) जो ग्रामीण अनेक रूपवाले पशु हैं (तेषां सप्तानां रन्तिः मयि अस्तु) उन पशुओंकी प्रति मुझमें होवें ॥ ६ ॥

हे (रात्रि) रात्री ! (पुष्टे च पोषे च मा आ भर) पुष्टि और पोषणके संबन्धमें मुझकी भर दे । इन (देवानां सुमतीं स्वाम्) देवोंकी मुझमें रहें । हे (देवं) वनस ! तू (पूर्णां परा पतः) पूर्ण मरी हुई-दूर जा और (सुपर्णां पुनः आपत) उत्तम पूर्ण होकर पुनः पास आ । (सर्वाण्यं संभ्रजती) सब यज्ञोंका उत्पन्न प्रकार लेवती करती हुई (न इयं ऊर्ज आ भर) हमारे लिये अन्न और बल लाकर भर दे ॥ ७ ॥

भावार्थ— यही वेला-वह है कि जो पहले प्रकट हुई थी और जो अन्य वेलाओंके साथ संयुक्त होकर चलती है । इस वेलामें अनेक महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ हैं । यह वेला विजय करती है अति प्रकार नवीन कुलवधु प्रथम संतान उत्पन्न करती हुई कुलकायन करती है ॥ ४ ॥

१) आन सावत्वारिक दहनकी सामग्री बनानेवाले- सोमरस निकालनेवाले- पत्थर और काष्ठयंत्र आनाज कर रहे हैं । हे एकाष्टके ! हम सब उत्तम संतान युक्त और उत्तम वीरोंसे युक्त होकर बहुत धनके स्वामी बनें ॥ ५ ॥

२) हे-जातवेद ! तू गौके घोषे युक्त तथा जिझसे गौका पी चू रहा है ऐसा घोषे पूर्ण भिगा हुआ हव्य प्रहण कर । जो अनेक रूपरूपवाले ग्राम्य साथ पशु हैं वे मेरे स्तार प्रेम करते हुए मेरे साथ रहें ॥ ६ ॥

३) हे-रात्री ! हमें बहुत पुष्टि और शक्ति दे । देवोंकी संगठनभी मति हमें सहारा देती रहे । हे वनस ! तू घोषे पूर्ण होकर अग्निमें आहुति देनेके लिये आग बढ, और वहाँकी देवीशक्तिसे पूर्ण होकर हमारे पास फिर लौट आ और हमारे लिये अन्न और बल विपुल प्रमाणमें दे ॥ ७ ॥

आयमंगन्तसंवत्सरः पतिरिकाष्टके तत्र ।

सा न् आयुष्मती प्रजां रायस्पोषेण सं सृज

॥ ८ ॥

ऋतुर्न्यज ऋतुपतीनार्ववानुत हायनान् ।

समाः संवत्सरान्मासान्भुवस्तु पतये यजे

॥ ९ ॥

ऋतुर्म्यद्वातर्वेभ्यो माद्भ्यः संवत्सोर्म्यः ।

घात्रे विघात्रे समृषे भूतस्य पतये यजे

॥ १० ॥

इड्या जुह्वतो वयं देवान्युतवता यजे ।

गृहानलुभ्यतो वयं सं विंशुमोषु गोमंतः

॥ ११ ॥

एकाष्टका तपसा तुप्यमाना ज्ञान गमि महिमान्मिन्द्रम् ।

तेन देवा व्यसिहन्तु शत्रुंहन्ता दस्यूनामभवच्छरीपतिः

॥ १२ ॥

अर्थ— हे (एकाष्टके) एकाष्टके : (अयं संवत्सरः) यह संवत्सर (ते पतिः) तेरा पति होकर (आयमन्) काम है । (सा) वह त (नः आयुष्मती प्रजां) हमारी दीर्घायुवाली प्रजाको (रायः पोषेण सं सृज) धरकर पुष्टि करे ॥ ८ ॥

(मासान् ऋतुर्न्यज ऋतुपतीनां ऋतुपतीनां) माल, ऋतु, ऋतुसंबंधी ऋतुपतियोंकी तथा (उत हायनान् समाः संवत्सरान् यजे) अन्नबर्ष, वनबर्ष और संवत्सरको अर्पण करता हूं और (भूतस्य पतये यजे) भूतके कामके लिये यज्ञ करता हूं ॥ ९ ॥

(माद्भ्यः ऋतुर्म्यः आतर्वेभ्यः संवत्सोर्म्यः) मदिने, ऋतु, ऋतुसे संबंध रखनेवाले तथा वर्ष इन सबके लिये और (घात्रे, विघात्रे, समृषे) घाटा, विघाटा तथा सृष्टिके लिये (भूतस्य पतये यजे) भूतके पतिके लिये मैं अर्पण करता हूं ॥ १० ॥

(इड्या जुह्वतो जुह्वतः) गौ द्वारा प्राप्त पीछे कुछ अर्पण द्वारा हवन करनेवाले (वयं देवान् यजे) हम सब देवोंका यजन करते हैं । (अलुभ्यतो गोमंतः गृहान्) विघमें न्यूनता नहीं है, जो गौओंके कुछ है, ऐसे परमि (वयं उपसं विशेम) हम प्रवेश करते हैं ॥ ११ ॥

(एकाष्टका तपसा तुप्यमाना) यह एक अष्टक तपसे तपती हुई (महिमान् इन्द्रं गमि ज्ञान) बड़े महिमावाले इन्द्र गमि गमि प्रकृत रही । (तेन देवाः शत्रुं वि-असिहन्तु) हमसे देवोंने शत्रुओंको खीन लिया । (दस्यूनां हन्ता शरीपतिः अभवत्) क्योंकि शत्रुओंका नाश करनेवाला शक्तिशाली प्रपट हुआ है ॥ १२ ॥

भाष्यार्थ— हे एकाष्टके ! यह संवत्सर तेरा पतिरूप है, उसकी पत्नीरूप तू हमारे बालकवृत्तिके लिये दीर्घ आयुष्म, धन और पुष्टि दे ॥ ८ ॥

मैं अपने दिन, पशु, मत्स्य, ऋतु, काल, अयन और संवत्सर आदि कालविभागोंको भूतपति परमेश्वरके यजनके लिये समर्पण करता हूं और अपनी आयुकी यज्ञके लिये अर्पण करता हूं ॥ ९ ॥

माल, ऋतु, [शीत, उष्ण, कुटिसंबंधी तीन] काल, अयन, संवत्सर आदि मेरी आयुके कालविभागोंकी घाटा, विघाटा, सृष्टिके लिये अर्पण करता हूं और (भूतस्य पतये यजे) भूतके लिये समर्पण करता हूं ॥ १० ॥

गौके पीछे मैं देवोंका यजन करता हूं और ऐसे यज्ञ करता हुआ मैं अपने परमेश्वरके प्रवेश करता हूं । हमारे परमेश्वरके यज्ञ करनेवाली गौएँ सब रहें और हमारे परमेश्वरके लिये पदार्थकी न्यूनता न हो ॥ ११ ॥

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितारिं प्रजापतेः ।

कामान्साकं पूर्य प्रति गृह्णाहि नो हविः

॥ १३ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (इन्द्रपुत्रे) इन्द्र जैसे पुत्रवाली ! हे (सोमपुत्रे) चन्द्रमा जैसे पुत्रवाली ! तू (प्रजापतेः दुहिता अस्ति) तू प्रजापतिकी दुहिता है, (नः हविः प्रति गृह्णाहि) हमारा हवि तू स्वीकार कर (अस्माकं कामान् पूर्य) और हमारी कामनाओंको पूर्ण कर ॥ १३ ॥

भाषार्थ— यह एकाष्टका तप करती हुई बड़े शभावशाली इन्द्र नामक गर्भको धारण करती है और पश्चात् प्रकट करती है । इस इन्द्रके प्रभावसे रात्रु दूर भाग जाते हैं अथवा पूर्ण पराल्त होते हैं । यह शक्तिशाली इन्द्र रात्रुओंका नाशक है ॥ १३ ॥

हे इन्द्रको जन्म देनेवाली ! और हे सोमकी जन्म देनेवाली अष्टके । तू प्रजापतिकी दुहिता है । इस यज्ञमें जो हवि हम अर्पण कर रहे हैं उसका स्वीकार कर और हमारी संपूर्ण इच्छाएं पूर्ण कर ॥ १३ ॥

कामधेनु ।

काल अर्थात् समय अथवा बेला, वह एक बड़ी शक्तिशाली कामधेनु है । यह किस मनुष्यके लिये कामधेनु होती है और किसके लिये नहीं होती, इस विषयमें प्रथम मंत्रका कथन मनन करने योग्य है—

प्रथमा ह व्युवास, सा धेनुर्भवधमे ॥

(सू. १०, मं. १)

'पहली उषा प्रकाशित हुई है, वही नियमोंका पालन करनेवालेके लिये दूध देनेवाली गौ जैसी होती है ।' उषा ही बेलाकी सबसे प्रथम अवस्था है, इस उपासे कालके मापनका प्रारंभ होता है । यह बेला 'यम' के लिये ही दूध देनेवाली योग्यता बनती है । यह यम कौन है ? यम यह है—

यम ।

वर्हिंसासत्यास्तेयमह्वचर्यापरिग्रहा यमाः ।

(योगदर्शन)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम हैं ।' ये मनुष्यके चालचलनके नियम हैं, इन्हींके साथ 'शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति ये पांच नियम लगे हैं ।' इनका पालन करनेवाला अर्थात् इन नियमोपनियमोंके अनुसार अपना आचरण करनेवाला 'यम' कहलाता है । नियमसे चलनेवाला मनुष्य बड़ा प्रभावशाली महात्मा होता है, इसी मनुष्यके लिये यह 'समय' कामधेनु बनता है । परन्तु अनियमसे व्यवहार करनेवालेके लिये यह काल

मयानक कालरूप बनता है । इसलिये उच्यते चाहनेवाला मनुष्य उत्तम नियमोंके अनुकूल चले, समयका उपयोग उत्तम रीतिसे करे और अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्त करके यशका भागी बने । हरएक मनुष्य चाहता है कि—

सा नः पयस्वती दुहामुक्षरामुक्षरं समाम् ॥

(सू. १०, मं. १)

'वह काल हमारे लिये उत्तरोत्तरीका आमुमें अव्यत रख देनेवाला होवे ।' यह हरएकको इच्छा रहना स्वाभाविक है, क्योंकि सुख तो हरएकको चाहिये । परन्तु बहुत बड़े लोग कालका उपयोग उत्तम रीतिसे करना जानते हैं और नमनियमोंका उत्तम रीतिसे पालन करनेवाले तो उनसे भी बड़े होते हैं । इसलिये हरएकको इच्छा होती है कि मैं बहुतसे मनुष्योंके लिये काल प्रतिकूल होता है और जो पूर्वोक्त प्रकार नमनियमोंसे अपने आपका आचरण मुदोमय बनाते हैं, उनके लिये ही यह अनुकूल होता है । पाठक यह नियम सबसे प्रथम ध्यानमें धारण करें, क्योंकि उचितके लिये यह सबसे प्रथम आवश्यक है ।

उपासे यह काल प्रारंभ होता है, कालका प्रारंभ उपाने है । जब यह जानते हैं कि उपासे दिनका प्रारंभ होता है, इसलिये कई स्थानोंमें उपाकी दिनकी नाता कहा है । रात्री प्रायः निद्रामें जाती है इसलिये 'नियमोंको आचरणमें लाना, कालका योग्य उपयोग करना' इत्यादि बातें प्रायः दिनके साथ संबंध रखती हैं । रात्रीका सात आठ घण्टोंका समय निद्रामें जाता है, इसको छोड़कर ओ कार्यका समय अवशिष्ट रहता है, उपाकी

सुप्तमोग अथवा उरुप्तमोग मनुष्य कृता है और उत्तत या भ्रवन्त होता है ।

एक पूर्ण दिनमें ' दिन और रात्री ' ये दो विभाग हैं । इतने समयके आठ प्रहर होते हैं । आठ प्रहरोंका नाम ' अष्टक अथवा अष्टका ' है, एक पूरे दिनकी यह ' एकाष्टका ' है अर्थात् प्रहरोंका समय है । दिनमें चार प्रहर और रात्रीमें चार प्रहर होते हैं, इन सबका मिलकर नाम ' एकाष्टका ' है, यही इस सूक्तकी देवता है । दिनके आठ प्रहरोंका उत्तम उपयोग कैसा करना यह बताना इस सूक्तका उद्देश्य स्पष्ट है । प्रत्येक दिनका योग्य उपयोग होता रहा तो सब आयुका उत्तम उपयोग होगा । सब आयुका यज्ञ करनेका यही तात्पर्य है ।

अन्धकारमयी रात्री ।

दिनमें प्रकाश रहता है इसलिये मनुष्य प्रायः निर्भय रहते हैं । रात्रीमें अन्धकार होनेके कारण मनुष्य भयभीत होते हैं इसलिये प्रकाशमय दिनके संबंधमें कुछ कथन करनेकी अपेक्षा अन्धकार पूर्ण रात्रीके विषयमें ही कुछ कहना आवश्यक होता है, यह कार्य द्वितीयसे चतुर्विंशतक तीन मंत्रों द्वारा हुआ है, इन मंत्रोंका आशय यह है—

' देव भयदायिनी अन्धकारमयी रात्रीका आनन्दसे स्वागत करते हैं, क्योंकि यह रात्री संवत्सरकी पत्नी है, वह हम सबके लिये उत्तम मंगल करनेवाली बने (मं. २) । इस रात्रीको संवत्सरकी छोटी प्रतिमा मानकर उसका स्वागत करना चाहिये, वह हमें दीर्घायु प्रसा, धन और पुष्टि देवे (मं. ३) । यही वह है कि जिससे पदली तथा उदित हो गई थी, यही इतर वेना दिमागोंमें प्रविष्ट होकर चञ्चली है । इस रात्रीमें बड़ी महिमार्प है, वह वीर पुत्रको अन्न देनेवाली कुलवधुके समान यशस्विनी रात्री है (मं. ४) ।'

यह भावार्थ इन तीन मंत्रोंका है । इन मंत्रोंमें रात्रीकी मयानकृता दूर करके उसकी मंगलमयता बतायी है । जिस रात्रीको आधारेण लोग डरावनी मानते हैं, उसीको वेद देखी मंगलमयी, अनंत महिमाओंसे युक्त और कुलवधुके समान भारी यशकी सूचक बताता है । सुष्टिकी घटनाओंकी ओर देखनेका यह वेदका पवित्र दृष्टिकोण है । पाठक इसी दृष्टिकोणसे जगत्की ओर देखें और उसमें परमात्माकी महिमा अनुभव करें । जैसा दिनमें प्रकाशमय स्वरूप परमात्माका दिखाई देता है उसी प्रकार रात्रीमें उसीका शीत स्वरूप प्रकट होता है, दिनमें विविधताका अनुभव होता है और रात्रीमें वह विविधता मिट जाती है । इस प्रकार दिनमें और रात्रीमें

परमात्माका मंगल स्वरूप देखना चाहिये यही वेदको अर्थात् है ।

संवत्सरकी प्रतिमा ।

तृतीय मंत्रमें रात्रीको संवत्सरकी प्रतिमा कहा है । संवत्सर वर्षका नाम है । वर्ष बड़े आकारवाला है उसकी प्रतिमा यह रात्री है । प्रतिमाका अर्थ ' प्रतिमान ' है अर्थात् मापनेका साधन । दिन रात्री या दोनों मिलकर अहीरात्र संवत्सरका माप करनेका साधन है, दिनसे ही वर्ष मापा जाता है । यही रात्री संवत्सरकी पत्नी है । संवत्सर पति है और रात्री उसकी पत्नी है । वार्षिक कालका विशाल रूप संवत्सर है और छोटा रूप दिन या रात्री है । यह रात्री—

सा नो अस्तु सुप्तमंगली । (सू. १०, मं. २)

सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्योपेण सं सृज ।

(सू. १०, मं. ३)

महान्तो अस्यां महिमानो अन्तः ।

(सू. १०, मं. ४)

' यह रात्री हमें मंगलमयी होवे । यह रात्री हमें धन और पुष्टिके साथ दीर्घायु प्रजा देवे । इस रात्रीमें बड़े महिमा है ।' यह रात्रीका वर्णन निःसंदेश सत्य है । रात्री सचमुच सुप्तमंगली है । इसी रात्रीमें निद्रासे विधाम लेते हुए मनुष्य इतना आराम प्राप्त करते हैं कि त्रिषका वर्णन नहीं हो सकता और त्रिषका अनुभव हरएकको है । ' जो रात्रीमें रतिक्रिया करते हैं वे ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं । (प्रश्न उप० १।१३) ' यह उपनिषद्बचन कहता है कि गृहस्थी लोग गृहस्थधर्मके नियम पालनपूर्वक रात्रीकालमें रति करते हुए और उस आश्रमके योग्य आचरण करते हुए भी ब्रह्मचर्य ही पालन करते हैं । इससे उत्तम सुखान्तान उत्पन्न होती है जो दीर्घायु और तेजस्वी भी होती है । इस प्रकार इस रात्रीमें अनेक महिमार्प हैं और इस कारण रात्री बड़ी उपकारक है । पाठक इस रीतिसे रात्रीका उपकार देखें और इस रात्रीका स्वागत करें । कई बहगे कि रात्रीमें चोरादिकोंका तथा हिंसक प्राणियोंका उपद्रव होता है इसलिये रात्री भयदायक है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसी कारण आत्मरक्षाकी शक्ति मनुष्योंमें उत्पन्न होती है और उससे धैर्य, शौर्य, वीर्य, पराक्रम आदि गुण बढते हैं । इस दृष्टिसे भी रात्रीके बड़े उपकार ही हैं ।

हवन ।

आगे पंचम मंत्रमें परहरोंके द्वारा सोम औषधिका रस निकालना और यज्ञमें हवन करनेके लिये हवि तैयार करनेका वर्णन

है । षष्ठ मंत्रमें हरएक प्रकारका इवि घोषे पूर्वतया निगो कर, घो चूता है ऐसी अवस्थामें हवन सामग्रीको आहुतियों डालनी चाहिये इत्यादि वर्णन है । यह सब राजकोंके लिये लक्ष्यपूर्वक देखने योग्य है । घोंके अन्दर हवाका दोष दूर करनेका सामर्थ्य है, इस कारण हवा शुद्धिके लिये हवन इष्ट हो है । ननुप्य अपने व्यवहारके अनेक प्रकारके विष हवामें फेरता है, इसलिये उन रोगोत्पादक विषोंका उपशम करनेके लिये इस प्रकारका हवन करना अत्यंत आवश्यक है । इस प्रकार हवनादि द्वारा वायुको शुद्धता करनेसे गृहस्थो लोग सुखी, बलवान्, नरोग और सुप्रज्ञसे युक्त होंगे, यह सूचना पंचम मंत्रके उत्तरार्धमें मिलती है, वह सूचना हरएक गृहस्थीको मनमें धारण करना चाहिये । षष्ठ मंत्रके ' उत्तरार्धमें प्रामाण्य सप्त पशु मनुष्योपर प्रेम करते हुए परमें रहें ' ऐसा वक्ष्य है । यह गृहस्थाश्रमका स्वल्प है । गृहस्थके घरमें गाय बैल, घोडे घोडीयां, भेड़ बकरा आदि पशु और उनके बछे रहें, यह घरकी शोभा है, इनका उपयोग भी है ।

सप्तम मंत्रके द्वितीय भागसे आहुति लालनेवाले चमसका वर्णन करते हुए एक बड़े महत्त्वपूर्ण बातका उपदेश किया है । ' आहुति देनेवाला चमस पूर्ण भरकर आग्नेके पास चला जावे और वहासे आग्नेसे तेजस्विता लेकर वापस आवे और यह हवन करनेवालीको तेजस्विता बढावे ।

पूर्णा दधे परापत, सुपूर्णा पुनरा पत ।

(सू. १०, मं. ७)

' चमस पूर्ण भरकर दान देनेके लिये आगे बडे और वापस आनेके समय भी वहीते तेज भरकर वापस आवे । ' इसमें चमसका भरकर जाना और भरकर आना लिखा है । दान देनेके समय चमस भरकर उसके पास जाय और अपनी आहुती दे देवे, दान देनेके समय कञ्चुषी न की जावे, यह बोध यहाँ मिलता है । त्रिष देवताको दान दिया है उस देवताके प्रशंसित गुण उस चमसमें आते हैं, चमस खाली होते ही मानो वह देव अपने गुण उस चमसमें भर देता है । उन गुणोंका प्रहण करके वह चमस वापस आवे और दानदाताको गुणी बनावे । यह आशय यहाँ है । इस मंत्रके मननसे पाठक बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं । ' यज्ञ ' का ' दान और आदान ' इस मंत्रके मननसे अच्छी प्रकार ज्ञात हो सकता है । ' जो अपने पास है वह दूसरोंके हितार्थ दान देना और दूसरोंमें जो धैर्य गुण हो उनको अपनाना ' यह यज्ञका तत्त्व इस मंत्रके स्पष्ट हो रहा है । पाठक इसका मनन करें ।

आग्ने अष्टम मंत्रका आशय द्वितीय और तृतीय मंत्रोंके

आशयके समान ही है इसलिये इन मंत्रपर अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है ।

कालका यज्ञ ।

नवन और दशम मंत्रोंमें कालके अवयवोंका माननिर्देश करते उन कालवयवोंका यज्ञ करनेके संबंधमें बड़ा महत्त्वपूर्ण उपदेश है—

(१) मास = महिना । (२) ऋतु = दो मासका समव ।

(३) वार्षिक काल = दो ऋतुओंसे बनेवाला काल, ऋतु काल, उष्ण काल, वर्षा काल । (४) अयन = तीन ऋतुओंका समय, वर्षके दो अयन होते हैं, दो अयनोंके मानसे गिने हुए वर्षका नाम ' हायन ' होता है । (५) समाः = तीस दिनोंका एक मास, ऐसे बारह मासोंका अर्थात् ३६० दिनोंका एक वर्ष ' समाः ' नामसे प्रसिद्ध है क्योंकि इस प्रकारके वर्षके महिनोंके दिन समवर्षदावाले होते हैं । (६) संवत्सर = सौर वर्ष, इस वर्षके ३६५ दिन होते हैं, और मासिक दिनोंमें न्यूनाधिकता होती है । [इसके अतिरिक्त चांद्रवर्ष होता है इसका जल्दय यहाँ नहीं किया है उसके दिन ३५४ होते हैं, इसके महिनोंके दिनोंकी संख्या भी न्यूनाधिक होती है ।]

इस प्रकारका ' जो मेरी आयुका काल है वह सब मैं सब भूतोंका पालन करनेवाला जो परमात्मा है उसके लिये समर्पित करता हूँ, अर्थात् मेरी आयुका यज्ञ मैं करता हूँ । अपनी आयुका विनियोग जनताकी भलाई करनेके धर्ममें करनेका नाम ही आयुधका पक्ष है । परमात्माका कार्य ' सज्जनोंका पालन और दुर्जनोंका दण्डन करना ' है । यही जनताके हितका कार्य है, इस कार्यके लिये अपना सर्वस्व तन, मन, धन अर्पण करना ' आत्म दश ' करना ही है । इस प्रकारका अपनी आयुका यज्ञ करनेका उपदेश नवन और दशम मंत्रोंमें है, इसलिये ये मंत्र अत्यंत मनन करने योग्य हैं ।

यज्ञका कार्य ।

इन मंत्रोंमें जो यज्ञ करना है वह ' (प्राप्ति, विप्राप्ति, समृद्धि, भूतस्य पतये । मं. ९-१०) ' धारक, निर्माता, समृद्धिकर्ता, और भूतोंके पालनकर्ताके लिये करना है, अपनी आयु इन कार्योंके कर्ताके लिये समर्पित करना है । (१) जो प्रजाओंका धारण करता है, (२) जो जनताके लिये सद्यथायन निर्माण करता है (३) जो जनताकी समृद्धिकी शक्ति करता है और (४) जो उन सबका पालन करता है उसके कार्यके लिये अपनी आयुका धनर्पण करना आत्मदशका तात्पर्य है । अर्थात् प्रजाहितके इतने कार्योंके लिये अपनी आयुका विनियोग करनेका

नाम यज्ञ है । इस प्रकारका आत्मयज्ञ जो करते हैं वे लोकोत्तर दिव्य पुत्र सर्वथ पूजनीय होते हैं ।

अगरहवें मंत्रमें यज्ञका हो वर्णन करते हुए कहा है, कि—

अलुभ्यतः घर्षं गृह्णान् उप संघिशोम ।

(सू. १०, मं. ११)

‘ लोम न करते हुए अपने घर्षमें हम प्रवेश करेंगे । ’ अर्थात् हम लोम न करते हुए घर्षोंमें व्यवहार करेंगे, अथवा हमारे घर्षोंका वायुमंडल ही ऐसा होगा कि वहाँ किसीका लोम या स्वार्थ करनेकी आवश्यकता नहीं होगा । जो लोग अपनी आयुका पूर्वोक्त प्रकार यज्ञ करते हैं उनके घर्षोंका वायुमंडल ऐसा ही होगा इसमें कोई शन्देह नहीं है ।

शात्रुनाशक इन्द्र ।

आरहवें और तेरहवें मंत्रमें एकाष्टकके गर्भधारण करनेका और इन्द्र नाम पुत्रको जन्म देनेका वर्णन है । एकाष्टका अहोरात्री है और इसीके गर्भमें सूर्य रहता है और रात्रीके प्रसूत होनेपर सूर्य बाहर आता है, जो प्रकाशके शत्रुओंका पूर्ण नाश करता है । जो लोग कालका यज्ञ पूर्वोक्त प्रकार करते हैं उनके प्रयत्नसे भी इन्द्र संज्ञक ऐसा विशाल तेज उत्पन्न होता है कि उससे

उनके सब शत्रु परास्त होते हैं । यह वेला बड़ी महिमाएं अपने अन्दर रखती है, इसीका पुत्र (इन्द्र) प्रकाशका उत्तम देव है और इसीका पुत्र (सोम) चाँतिका देव भी है । (मं. १३)

रात्रीका अथवा उषाका पुत्र सूर्य है, इसीको दिवस्पुत्र भी वेदने कहा है । रात्रीका दूसरा पुत्र चन्द्र है इसीको सोम भी कहते हैं । ये दोनों प्रकाशका फैलाव और अन्धकारका नाश करते हैं और जनताको प्रकाश देते हुए मार्ग बता देते हैं । वेदमें इनका विविध प्रकारसे वर्णन हुआ है और बड़ बड़ा बोधप्रद है ।

इससे यह बोध लेना होता है कि मनुष्य स्वयं ज्ञान प्राप्त करे और दूसरोंको अपने ज्ञानका प्रकाश देवे । कलानिधि चन्द्रमाके संग्राम मनुष्य भी स्वयं विविध कलाओंमें पूर्ण प्रवीणता संपादन करके स्वयं कलानिधि चन्द्रमाके कलाओंका अर्थात् हुनरोंका ज्ञान देकर जनताकी उत्थिति करे । माताएं अपने संतानोंको इस प्रकारका शिक्षा देकर बालकोंकी पूर्ण उत्थिति करें ।

यह इसकी महिमा जानकर प्रत्येक मनुष्य इस सूक्तके उपदेशके अनुसार अपनी आयुका उत्तम यज्ञ करे और यज्ञका भागी बने ।

॥ यहाँ द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

हवन से दीर्घ आयुष्य !

(११)

(ऋषिः— ब्रह्मा, ऋग्वह्निराः । देवता— इन्द्राग्नी, आयुष्यं, यक्षमनाशनम्)

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कर्मज्ञातयक्ष्मादुत रजियक्ष्मात् ।

ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्मा इन्द्राग्नी प्र मुञ्चुक्तमेनम् ॥ १ ॥

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।

तमा हरामि निश्चैतरुपस्यादस्पर्शमेनं शतशारदाय ॥ २ ॥

सहस्राक्षेणं शतवीर्येण शतायुषा हविषाहर्षिमेनम् ।

इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥ ३ ॥

शतं जीव शरदो वर्षमानः शतं हेमन्तान्छतमु वसन्तान् ।

शतं च इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहर्षिमेनम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (कं जीवनाय) ब्रह्मपूर्वक दीर्घ जीवनके लिये मैं (त्वा) तुमको (अज्ञात-यक्ष्मात् उत राज-यक्ष्मात्) अज्ञात रोगसे और राजयक्ष्मा नामक क्षयरोगसे (हविषा मुञ्चामि) हवनसे छुटाता हूँ । (यदि ग्राहिः पतत् एनं जग्राह) यदि बरकनेवाले रोगने इसको इस प्रकार पकड़ रखा हो तो (तस्याः इन्द्राग्नी एनं प्रमुमुक्तं) उस पीडासे इन्द्र और अग्नि इसको छुटावें ॥ १ ॥

(यदि क्षितायुः) यदि समाप्त आयुवाला अथवा (यदि वा परेतः) यदि मरनेके करीब पहुंचा हो किंवा (यदि मृत्योः अन्तिकं नीतः एव) यदि मृत्युके समीप में पहुंचा हुआ क्यों न हो, (तं निश्चैतेः उपस्थात् आहरामि) उसको मैं विनाशके पाससे वापस लाता हूँ और (एनं शतशारदाय अस्पर्शम्) इसको सौ वर्षके दीर्घायुके लिये सुरक्षित करता हूँ ॥ २ ॥

(सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषा एनं आहार्यं) सौ शकियोंने युक्त, सौ वीर्योंने युक्त, शतायु देनेवाले हवनसे इसको मैंने लाया है । (यथा विश्वस्य दुरितस्य पारं) जिससे सम्पूर्ण दुःखोंके पार होके (एनं इन्द्रः शरदः अति नयति) इसको इन्द्र सौ वर्षकी पूर्णायुके भी परे पहुंचावे ॥ ३ ॥

(वर्षमानः शतं शरदः जीव) बरता हुआ सौ शरद ऋतुओं तक जीता रह (शतं हेमन्तान्, शतं च वसन्तान्) सौ हेमन्त ऋतुओं तक तथा सौ वसन्त ऋतुओं तक जीवित रह । (इन्द्रः अग्निः सविता बृहस्पतिः ते शतं) इन्द्र, अग्नि, बृहस्पति और सविता, तेरे लिये सौ वर्षकी आयु देवें । (एनं शतायुषा हविषा आहार्यं) मैंने इसको सौ वर्षकी आयु देनेवाले हविषे यदा लाया है ॥ ४ ॥

भावार्थ— तुझे सुखमय दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो इसलिये तुझे ज्ञात और अज्ञात रोगोंसे हवनके द्वारा छुटाता हूँ । बरकनेवाले रोगोंने यथापि तुझे पकड़ रखा हो, तथापि इन्द्र और अग्निकी सहायतासे तू उन कष्टोंसे मुक्त हो सकता है ॥ १ ॥

आयु समाप्त हुई हो, करीब मरनेको अवस्था प्राप्त हुई हो, करीब करीब मृत्युके समीप में पहुंचा हुआ हो, तो भी उसको उस विनाशकी अवस्थासे मैं वापस लाता हूँ और सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त करता हूँ ॥ २ ॥

हवनमें हजारों शकियों हैं और षैकलों बरिये हैं, ऐसे हवनसे इसको मैंने वापस लाया है । यह मनुष्य अब सम्पूर्ण कष्टोंसे पार हुआ है, अब इसको इन्द्र सौ वर्षके भी परे ले जायेगा ॥ ३ ॥

प्र विंशतं प्राणापानावनुद्वाहाविव व्रजम् । व्युन्त्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छ्रुतम्	॥ ५ ॥
इहैव स्तं प्राणापानौ मापं गातमितो युवम् । शरीरमस्याङ्गानि जरसें वहतं पुनः	॥ ६ ॥
जरार्यै त्वां परिं ददामि जरार्यै नि धुवामि त्वा । जरा त्वां भद्रा नेष्ट व्युन्त्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छ्रुतम्	॥ ७ ॥
अमि त्वां जरिमाहितं गामुक्षणमिव रज्ज्वां । यस्त्वां मृत्युरभ्यघत्तं जायमानं सुपाश्यां । तं तं सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद्वृहस्पतिः	॥ ८ ॥

व्यर्थ— हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान ! (प्र विंशतं) प्रवेश करो (अन्द्वाहौ व्रजं इव) जैसे बैल गोशालामें प्रवेश करते हैं । (अन्ये मृत्यवः वि यन्तु) दृष्टेरेनेक अपमृत्यु दूर हो जावें, (यान् इतरान् शतं आहुः) जिनको इतर सौ प्रकारके कहा जाता है ॥ ५ ॥

हे (प्राणापानौ !) प्राण और अपान ! (युवं इह एव स्तं) तुम दोनों यहाँ ही रहो, (इतः मा अप गातं) यहाँसे मत दूर जाओ । (अस्य शरीरं) इसका शरीर और (अंगानि) सब अवयव (जरसे पुनः वहतं) वृद्धावस्थाके लिये फिर ले चलो ॥ ६ ॥

(त्वां जरार्यै परि ददामि) तुझे वृद्धावस्थाके लिये अर्पण करता हूँ । (त्वां जरार्यै निधुवामि) तुझको वृद्धावस्थाके लिये पहुँचाता हूँ । (त्वां जरा भद्रा नेष्ट) तुझे वृद्धावस्था सुख देवे, (अन्ये मृत्यवः वि यन्तु) अन्य अपमृत्यु दूर हो जावें, (यान् इतरान् शतं आहुः) जिनको इतर सौ प्रकारके कहा जाता है ॥ ७ ॥

(उक्षणं गां इव रज्ज्वा) जैसे बैलको अथवा गौको रस्सीसे बांध देते हैं उस प्रकार (जरिमा त्वा अमि आहते) तुझपेने तुझको बांधा है । (यः मृत्युः जायमानं त्वा सुपाश्या अभ्यघत्तं) जिस मृत्युने उत्पन्न होते हुए ही तुझको उषम पाशसे बांध रखा है (ते तं) तेरे उस मृत्युको (सत्यस्य हस्ताभ्यां वृहस्पतिः उदमुञ्चत्) सत्यके दोनों हाथोंसे वृहस्पति छुटा देता है ॥ ८ ॥

भावार्थ— मैंने तुझे सौ वर्षकी आयु प्रदान करनेवाले हवनसे मृत्युसे वापस लाया है । इन्द्र, अग्नि, सविता और वृहस्पति तुझे सौ वर्षकी आयु देवें । अब तू सब प्रकारसे बढता हुआ सौ वर्षतक जीवित रह ॥ ४ ॥

हे प्राण और अपान ! तुम दोनों इस मनुष्यमें ऐसे प्रवेश करो जैसे बैल गोशालामें प्रवेश करते हैं । अन्य सैकड़ों अपमृत्यु इससे दूर भाग जावें ॥ ५ ॥

हे प्राण और अपान ! तुम दोनों इसके शरीरमें निवास करो, यहाँसे दूर मत जाओ । इसके शरीरको और संपूर्ण अवयवोंको पूर्ण वृद्ध अवस्थातक अच्छी प्रकार चलाओ ॥ ६ ॥

हे मनुष्य ! मैं अब तुझको वृद्धावस्थाके लिये समर्पित करता हूँ । वृद्धावस्थातक मैं तुझको आयु देता हूँ । तुझे आरोग्यपूर्ण पुदापा प्राप्त हो और सब अन्य अपमृत्यु इससे अब दूर हों ॥ ७ ॥

जैसे गाय या बैलको एक स्थानपर रस्सीसे बांध देते हैं वैसे अब तेरे साथ वृद्धावस्थाको पूर्ण आयु बांधा गई है । जो अपमृत्यु जन्मते ही तेरे साथ लगा हुआ या उध अपमृत्युसे तुझको सत्यके हाथोंसे वृहस्पति छुटा देता है ॥ ८ ॥

हवनसे दीर्घायुष्यकी प्राप्ति ।

हवनकी बन्धी भारी प्राक्ति है, इससे आरोग्य, बल, दीर्घ आयुष्य आदि प्राप्त हो सकता है। यज्ञयागोंमें हवन होता है, ये यज्ञयाग ऋतुओंकी संधियोंमें किये जाते हैं और इनसे ऋतु-परिवर्तनके कारण होनेवाले रोगादि दूर हो जाते हैं इस विषयमें कहा है—

औषधियोंके यज्ञ ।

भैषज्ययज्ञा वा पते। तस्मादनुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते ।
ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते ॥

(गी. वा. उ. प्र. १।१९)

ये औषधियोंके महामुख हैं, इसलिये ऋतुसंधियोंमें ये यज्ञ किये जाते हैं इसका कारण यह है कि ऋतुसंधियोंमें व्याधियाँ होती हैं ।

ऋतुपरिवर्तनके कारण हवा विगड़ती है, इससे रोग होते हैं। इन रोगोंका प्रतिबंध करनेके लिये ये औषधियाँ किये जाते हैं। रोगनाशक, आरोग्यवर्धक और पुष्टिकारक तथा बलवर्धक औषधियोंका इनमें हवन किया जाता है। जो यज्ञ रोगनाशक, आरोग्यवर्धक, पुष्टिकारक और बलवर्धक होंगे वे दीर्घ आयु देनेवाले निःसंदेह होंगे इसमें किसीकी भी संदेह नहीं हो सकती। इसलिये इस सूत्रमें जो हवनसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेका संदेश दिया है वह अवश्य विचार करने योग्य है।

हवनसे रोग दूर करना ।

हवनसे रोग दूर करनेके विषयमें इस सूत्रका ध्यान मनन करने योग्य है—

अज्ञातयष्टमात् उत राजयष्टमात् त्वा मुञ्चामि ।
(सू. ११, मं. १)
तस्याः (प्राणाः) इन्द्राग्नी एनं प्रमुमुकम् ।
(सू. ११, मं. १)

‘अज्ञात रोग और ज्ञात रोग, या राजयष्टमा रोग इन रोगोंके रोगमुक्त कर देते हैं। पकड़नेवाले रोगसे इन्द्र और अग्नि इस रोगीकी मुक्त कर देते हैं ।’

इस मंत्रमें हवनसे ज्ञात और अज्ञात रोगोंकी दूर हो जानेकी संभावना दर्शायी है। ज्ञात रोग वे होते हैं कि जिनकी पहचान संपूर्ण लक्षणोंसे आसानीसे होती है। तथा अज्ञात रोग उनको कहते हैं कि जो ठीक प्रकार पहचाने नहीं जाते अथवा जिनके विषयमें वैद्योंकी परीक्षामें मतभेद हुआ करता है। कोई वैद्य

एक रोग बताता है तो दूसरा वैद्य दूसरा ही रोग बताता है। इस प्रकार रोग ज्ञात हो अथवा अज्ञात ही, उसको हवन द्वारा दूर किया जा सकता है, अर्थात् अग्निमें योग्य औषधियोंका हवन करनेसे रोगी रोगमुक्त हो जाता है। विविध रोगोंकी निवृत्तिके लिये अन्यान्य औषधियोंका हवन करनेकी आवश्यकता है और कुछ पदार्थ ऐसे भी हमनमें होते होंगे कि जिनसे सामान्यतया आरोग्य प्राप्त होता है। ऐसे योग्य औषधियोंके संश्लेषित हवनसे मनुष्य पूर्ण नीरोग और दीर्घायुष्य मुक्त हो जाता है।

हवनका परिणाम ।

हवनका परिणाम यथातक होता है कि आसन्न मरण रोगी भी रोगमुक्त होकर आरोग्य प्राप्त करता है। इस विषयमें द्वितीय मंत्र स्पष्ट शब्दों द्वारा कहता है कि, ‘यदि यह रोगी शरीर मरनेकी अवस्थायक पहुंच चुका हो, मृत्युके पास भी गया हो, इसकी आयु भी समाप्त हो चुकी हो, तो भी हवनसे इसकी सब अपात्ति दूर हो सकती है और इसको सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त हो सकती है।’ (मं. २)

शतायु करनेवाला हवन ।

इस वर्णनसे हवनका अपूर्व आरोग्यवर्धक परिणाम ज्ञात हो सकता है। शतायु मंत्रमें हवनका नाम हो ‘शतायु हवि’ कहा है अर्थात् इस हवनसे सौ वर्षकी आयु प्राप्त हो सकती है। इस ‘शतायु हवि’के अंदर शतवार्षिक अर्थात् सौ प्रकारके ऋतु होते हैं और (सहस्र-अष्ट) हजार प्रकारकी शक्तियाँ होती हैं। इससे—
नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ।

(सू. ११, मं. ३)

‘सब दुरितको दूर किया जाता है।’ दुरित नाम पापका है। यह ‘दुरित’ (दुः-इत) वह है कि जो दुःख उत्पन्न करनेवाला शरीरमें घुसा होता है; यह शरीरमें छुटकर नाना प्रकारकी पीड़ाएँ उत्पन्न करता है। हवनसे यह दुरित अर्थात् रोगोत्पादके द्रव्य शरीरसे दूर किया जाता है।

चतुर्थ मंत्रमें विद्यासपूर्वक कहा है कि अब तो ‘हवन किया गया है, इन्द्र, अग्नि, सविता, बृहस्पति आदि देवताओंके शक्तियाँ प्राप्त की गई हैं, अब तू विद्यासपूर्वक अपनी सब शक्तियाँ बढाता हुआ सौ वर्षतक जाता रह। अब इन्द्रें मृत्युका भय नहीं है। (मं. ४)’ हवनका ऐसा परिणाम होता है और इतना विद्यास उत्पन्न हो जाता है। यह हवनका परिणाम मननपूर्वक देखने योग्य है।

पचम आर वष मंत्रोंमें प्राण और अपानको आदेशपूर्वक कहा है कि— ' हे प्राण और अगान ! तुम अब इसी पुरुषके देहमें सुखो, यहाँ ही अपने कार्य करो और इसके शरीरको तथा संपूर्ण इन्द्रियोंको पूर्ण आयुकी समाप्तिक अपने अपने कार्य करनेके योग्य रखो । तथा इसके शरीरसे पूयकू न होओ । तुम्हारे कार्यसे इसके संपूर्ण अणुमृत्यु दूर हो जावे (मं. ५-६) । ' जब पूर्ण आरोग्य प्राप्त होता है और हवनसे शरीरमें नवजीवन संचारित होता है; तब शरीरमें स्थिर रूपसे प्राणपान रहेंगे ही । यह हवनका परिणाम है ।

षष्ठम मंत्रमें कहा है कि— ' हे मनुष्य ! अब मैं तुझको वृद्ध अवस्थाके लिये समर्पण करता हूँ, तुम सुखमयी वृद्ध अवस्था प्राप्त होवे और सब अणुमृत्यु तुझसे दूर हो जावे ' (मं. ७) । वृद्ध अवस्थाकी मोदमें समर्पण करनेका तात्पर्य यही है कि पूर्ण वृद्धावस्था होनेतक अर्थात् सौ वर्षकी पूर्ण आयुतक जीवित रहना ।

मरणका पाश ।

अष्टम मंत्रमें एक बड़ा भारी शिदांत कहा है कि हरएक मनुष्य जन्मते ही मृत्युके पाशसे बांधा जाता है—

यस्त्वा मृत्युरभ्याघच जायमानं सुपाशया ।

(सू. ११, मं. ९)

' मृत्यु तुझको अर्थात् हरएक प्राणिमात्रको जन्मते ही उत्तम पाशसे बांधकर रखता है । ' कोई मनुष्य अथवा कोई प्राणी मृत्युके इस पाशसे छूटा नहीं होता । जो जन्मको प्राप्त हुआ है वह अवश्य किसी न किसी समय मरगा हो । सब उत्पन्न हुए प्राणिमात्रोंको मृत्युने अपने पाशोंसे ऐसा जकड़ कर बांधा है कि वे इधर उधर जा नहीं सकते और सब मृत्युके वशमें होते हैं ।

' सब जन्म लेनेवाले प्राणियोंको एक बार अवश्य मरना है ' यह इस मंत्रका कथन हरएकको अवश्य विचार करने योग्य है । हरएकको स्मरण रखना चाहिये कि अपने शिरपर मृत्युने पाव रखा हुआ है । इस विचारसे मनुष्यको सत्य धर्मका पालन करना चाहिये । सत्य ही इस मृत्युसे बचानेवाला है ।

सत्यसे सुरक्षितता ।

मृत्युके पाशसे बचानेवाला एकमात्र उपाय ' सत्य ' है यह अष्टम मंत्रने बताया है—

तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद्वृहस्पतिः ।

(सू. ११, मं. ८)

' वृहस्पति तुमसे सत्यके संरक्षक हाथोंसे उस मृत्युसे बचाता है । ' अर्थात् जो मनुष्य सत्यका पालन करता है उसका बचाव परमेश्वर करता है । वस्तुतः सत्यसे ही उसका बचाव होता है । सत्यका रक्षण ऐसा है कि जिससे दूसरे किसी रक्षणकी तुलना नहीं हो सकती, अर्थात् एक मनुष्य अपना बचाव सत्यके हाथोंसे करता है और दूसरा मनुष्य अपना बचाव राज्ञाज्ञासे करता है तो सत्यसे अपना बचाव करनेवाला मनुष्य अधिक सुरक्षित है, अपेक्षा उसके कि जो अपने आपको राज्ञासे सुरक्षित समझता है । सत्याग्रहसे अपनी रक्षा करना प्राज्ञबल है और राज्ञाज्ञासे अपनी रक्षा करना धात्रबल है । धात्रबलसे प्राज्ञबल अधिक श्रेष्ठ है इसमें किसीको संदेह ही नहीं है ।

सत्यपालनसे दीर्घायुकी प्राप्ति ।

यदां हमें सूचना मिलती है कि दीर्घायुकी प्राप्ति करनेकी इच्छा करनेवालेको सत्यका पालन करना अत्यंत आवश्यक है । सत्यके संरक्षक हाथोंसे सुरक्षित हुआ मनुष्य ही दीर्घजीवी हो सकता है ।

इस मंत्रमें जो हवनका महत्त्व वर्णन किया है वह यज्ञशास्त्रमें प्रसिद्ध है । यज्ञसे जनताकी भलाई, आरोग्यप्राप्ति आदि होनेका वर्णन सब यज्ञ शास्त्र कर रहे हैं । इस दृष्टिसे यह सूक्त एक आरोग्यप्राप्तिका नवीन साधन बता रहा है ।

किस रोगके दूर करनेके लिये किस हवन सामग्रीका हवन होना चाहिये इस विषयमें यहाँ कुछ भी नहीं कहा है, परन्तु हवनका सर्वप्रामाण्य परिणाम ही यहाँ बताया है । हरएक रोगके दूर करनेके लिये विशेष प्रकारके हवनोंका ज्ञान अन्यान्य सूक्तोंसे प्राप्त करना चाहिये । वैदिक विद्याओंकी खोज करनेवालोंके लिये यह एक बड़ा महत्त्वपूर्ण खोजका विषय है । खोज करनेवाले इसकी खोज अवश्य करें । इससे जैसा व्यक्तिका भला हो सकता है, वैसा ही राष्ट्रका भी भला हो सकता है ।

गृह निर्माण ।

(१९)

(ऋषिः — प्रहा । देवता — शाला, चास्तोष्पतिः)

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमं तिष्ठाति घृतमुद्यमाणा ।	
तां त्वां शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम	॥ १ ॥
इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्रावती गोमती सूनुतावती ।	
ऊर्जस्वती घृतवती पर्यस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभाग्य	॥ २ ॥
घृण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पतिधान्या ।	
आ त्वां वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः	॥ ३ ॥
इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन् ।	
उक्षन्तूद्रा मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु	॥ ४ ॥

अर्थ— (इह एव ध्रुवां शालां निमिनोमि) इहाँ स्थानपर सुदृढ शालाको बनाता हूँ । यह शाला (घृत उद्यमाणा क्षेमं तिष्ठाति) धी सीवती हुई हमारे कल्याणके लिये ठहरी रहेगी । हे (शाले) पर । (तां त्वा सर्ववीराः अरिष्टवीराः सुवीराः उप संचरेम) तेरे चारों ओर इन सब वीर विनष्ट न होते हुए उत्तम पराक्रमी बनकर खिटे रहेगे ॥ १ ॥

हे शाले ! (अश्रावती गोमती सूनुतावती) घोड़वाली, गौआँवाली और मजुर भाषणवाली होकर (इह एव ध्रुवा प्रति तिष्ठ) यहाँ ही स्थिर रह । तथा (ऊर्जस्वती घृतवती पर्यस्वती) अश्रवाली, घोवाली और दूधवाली होकर (महते सौभाग्य उच्छ्रयस्व) बड़े सौभाग्यके लिये तंबी बनकर खड़ी रह ॥ २ ॥

हे शाले ! (बृहत्-छन्दाः पतिधान्या) बड़े छतवाली और पवित्र धान्यवाली तथा (घृण्यसि) धान्यादिका भण्डार धारण करनेवाली तू है । (त्वां वत्सः कुमारः वा गमेत्) तेरे अंदर बछ्छा और बालक आ जावे । (आस्पन्दमाना धेनवः सायं वा) दूधती हुई गौवे सायंकालके समय आ जावे ॥ ३ ॥

(इमां शालां) इस शालाको सविता, वायु, इन्द्र और बृहस्पति (प्रजानन् निमिनोति) जानता हुआ निर्माण करे । (मरुतः उद्रा घृतेन उक्षन्तु) मरुत् गण जलसे और धीसे धाँचें, तथा (भगः राजा नः कृषिं नि तनोतु) भाग्यवान् राजा हमारे लिये कृषिको बढ़ावे ॥ ४ ॥

भाषार्थ— इस उत्तम स्थानपर मैं उत्तम और सुदृढ घर बनाता हूँ, जिसमें धी आदि खाने पीनेके पदार्थ बहुत हैं और जो सब प्रकारके स्वास्थ्य लाभनेसे परिपूर्ण हो । हम सब प्रकारके शीर्षवीर्यादि गुणोंसे युक्त होकर और किसी प्रकार कष्टोंको प्राप्त न होते हुए इस घरके चारों ओर घूमा करेंगे ॥ १ ॥

इस घरमें घोड़े, गौवें, बैल आदि पशु बहुत हों, यह घर उत्तम मछिे भाषणसे युक्त हो, अन्न, धी, दूध आदि खाद्य पदार्थ इधमें बहुत हों और इधमें रहनेवालोंको बड़े सौभाग्यकी प्राप्ति हो ॥ २ ॥

इस घरमें धान्यादिका बड़ा भण्डार हो, उस भंडारमें शुद्ध और पवित्र धान्य भरा रहे । ऐसे घरमें बालक और बछ्छे घूमते रहें और सायंकालमें आनंदसे नाचती हुई गौवें आ जायें ॥ ३ ॥

इस शालाके निर्माणमें सविता, वायु, इन्द्र और बृहस्पति ये देव सहायता दें । मरुत् गण इस घरमें विपुल धी देनेमें सहायक हों तथा राजाः भय कृषि बढ़ानेमें सहायता दें ॥ ४ ॥

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निर्मितास्यग्रे ।

तृणं वसना सुमना असस्त्वमयास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥

श्रुतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नपं वृद्धस्तु शत्रून् ।

मा ते रिपन्नुपसृचारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥ ६ ॥

एमां कुमारस्तरुण आ वृत्सो जगता सह ।

एमां परिश्रुतः कुम्भ आ दुघ्नः कलशैरगुः ॥ ७ ॥

पूर्णं नारि प्र मरं कुम्भमेतं घृतस्य घारांममृतेन संभृताम् ।

इमां पातूनमृतेना समङ्गधीष्टापूर्वमभि रंध्रात्पेनाम् ॥ ८ ॥

इमा आपः प्र मराम्ययद्भामा यद्भमनाश्रिनीः ।

गृहानुपु प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ ९ ॥

अर्थ— हे (मानस्य पत्नि) संमानकी रक्षक, (शरणा स्योना देवी) अंदर आश्रय करने योग्य, सुखदायक, दिव्य प्रकाशमान ऐसी (देवोभिः अग्रे निर्मिता अस्ति) देवों द्वारा पहले बनायी हुई है । (तृणं वसना त्वं सुमनाः असः) पादको पहने हुए व उत्तम मनवाली हो (अथ असमभ्यं सहवीरं रयिं दाः) और हम सबके लिये वीरोंके युक्त धन दे ॥ ५ ॥

हे (वंश) बाप ! तू (श्रुतेन स्थूणां अधिरोह) अपने सीधेपनसे अपने आधारपर चढ़ और (वघ्नः विराजन् शत्रून् अपवृद्धव) सभ बतकर प्रकाशता हुआ शत्रुओंको हटा दे । (ते गृहाणां उपसृचारः मा रिपन्) तेरे शत्रुके आश्रयसे रहनेवाले क्षिप्त न होंगे । हे शाले ! हम (सर्ववीराः शतं शरदः जीवेम) सब वीरोंके युक्त होकर सौ वर्ष जीते रहेंगे ॥ ६ ॥

(इमां कुमारः आ) इस शालाके पास बालक आवे, (तरुणः आ) तरुण पुरुष आवे, (जगता सह वरसः आ) चलनेवालोंके साथ बड़का भी आवे । (इमां परिश्रुतः कुम्भः) इसके पास मयुररससे मरा हुआ घना (दघ्नः कलशैः आ अगुः) दहोंके कलशोंके साथ आ जावे ॥ ७ ॥

हे (नारि) स्त्री ! (एतं पूर्णं कुम्भं) इस पूर्ण मरे घड़ेको तथा (अमृतेन संभृतां घृतस्य घारां) अमृतसे मरी हुई चीकी चाराको (प्र मरं) अच्छी प्रकार मरखर ला । (पातून अमृतेन सं अङ्गिधि) पीनेवालोंको अमृतसे अच्छी प्रकार मर दे । (इष्टापूर्ते एनां अभिरक्षति) दत्त और अन्नदान इस शालाकी रक्षा करते हैं ॥ ८ ॥

(इमाः यद्भमनाश्रिनीः अयद्भामाः आपः) ये शेषगायक और स्वयं शेषाहित जल (प्र आमराभि) मैं मर लाता हूँ । (अमृतेन अग्निना सह) अमृत अग्निके साथ (गृहानुपु प्र सीदामि) घरोंमें जाकर बैठता हूँ ॥ ९ ॥

मावार्थ— घर अंदर निवास करने योग्य, सुखदायक है, यह एक संमानका साधन भी है । पहले यह देवों द्वारा बनाया गया था । पादके छपरसे भी यह बनता है । ऐसे परसे हमारा मन शुभ संकल्पवाला होवे और हमें वीरोंके युक्त धन प्राप्त हो ॥ ५ ॥

सीधे शतम पर सीधे बांध रखे जावें और इस रीतिसे विरोधीयोंको दूर किया जावे । शत्रुके आश्रयसे रहनेवाले कुशों, कष्टों या विनष्ट न हों । इसमें रहनेवाले सब वीर-होकर सौ वर्षतक जीवित रहें ॥ ६ ॥

इस शरके पास बालक, तरुण आदि सब आ जावें । बड़के और अन्य शरके पशु, पक्षी भी घूमते रहें । इस घरमें शरदके मीठे रससे मरे हुए घड़े तथा दहोंसे मरे हुए घड़े बहुत हों ॥ ७ ॥

अग्निना इन घड़ोंको मरखर जावें और शरके घड़े भी बहुत लावें और पीनेवालोंको यह दूध, दही, घी आदि सब रूच, मरपूर निखवें । क्योंकि इनका दान ही शरकी रक्षा करता है ॥ ८ ॥

घरमें पीनेके लिये ऐसा जल लाया जावे कि जो शोणगायक और आरोग्यवर्धक हो । घरमें अगती भी हो जिसके पास जाकर लोग शीतका निवारण करके आनंद प्राप्त करें ॥ ९ ॥

घरकी बनावट ।

जो गृहस्थी हैं उद्योग पर बनाकर रहना आवश्यक है, फिर वह घर पाससे बनाई हुई (घृणो वसना। मं. ५) शौचकीके समान हो अथवा बड़ा साँप हो। पर किसी भी प्रकारका हो, परंतु गृहस्थीके लिये वह अवश्य चाहिये, नहीं तो गृहस्थका 'गृह-स्थ-पन' ही नहीं सिद्ध होगा।

घर बनाने योग्य स्थान ।

घरके लिये स्थान भी योग्य होना चाहिये, रमणीय होना चाहिये और आरोग्यकारक होना चाहिये, इस विषयमें इस सूक्तमें निम्नलिखित निर्देश देखने योग्य हैं—

१ क्षेमे (मं. १) = सरभित, याति देनेवाला, मुखकारक, आरोग्यदायक, निर्भय, ऐसा स्थान घरके लिये हो।

२ भुवा (मं. १, २) = स्थिर, सुदृढ, जहाँ बुनियाद स्थिर और दृढ हो सकती है।

इस प्रकारकी भूमिपर घर बनाना चाहिये और वह घर अपनी सामर्थ्यके अनुसार सुदृढ, (धृवा) स्थिर और मजबूत बनाना चाहिये, ताकि बारंबार लचकते मरम्मत करनेका भय उठाना न पड़े।

घर कैसा बनाया जावे ?

घरके करने जहाँतक हो सके बड़ातक विस्तारण बनाये जावे। 'गृहव-संदाः' (मं. ३) अर्थात् बड़े बड़े छतवाले कमरोंके युक्त घर हो। घरमें संकुचित स्थान न हो क्योंकि छोटे छोटे कमरोंमें रहनेवालोंके विचार भी संकुचित बनते जाते हैं। इसलिये अपनी चाँफके अनुसार जहाँतक विस्तारण बनाना संभव हो बड़ातक प्रयास घर बनाया जावे, जहाँ बहुत इष्टमित्र आतिथि आदि (शरणा। मं. ५) जा जाय और (स्योना। मं. ५) विधाम ले सकें।

संमानका स्थान ।

घर गृहस्थीके लिये बड़ा संमानदा (शाला मानस्य पत्नी। मं. ५) स्थान है, अपना निब्रह्म घर होनेसे वह एक प्रतिष्ठाका स्थान हो जाता है। इष्टमित्रोंके सुख पहुँचानेका वह एक बड़ा स्थान होता है। इसलिये पूर्वीक प्रकार घर बनाना चाहिये। घर बनते ही घरमें अन्याय घाघन इच्छे करने चाहिये, इस विषयमें निम्न लिखित संकेत विचार करने योग्य हैं—

१ अश्वार्थता (मं. २) = घरमें घोड़े हों, अर्थात् गृहस्थीके पास घोड़े, घोड़ियाँ हों। यह घोड़ेका साधन है।

२ गोमती (मं. २) = घरमें गौएँ हो। यह पुष्टिघ्न साधन है, गाँवें दूध मिलता है जिसकी पीकर मनुष्य पुष्ट होते हैं। बैलेंके खेती होती है।

घनवः आस्पन्दमानाः सार्यं वा (मं. ३) = घरमें कालके समय गाँवें आनंदसे नाचती हुई जा जावें।

३ पर्यस्वती (मं. २) = घरमें बहुत दूध हो।

४ घृतवती (मं. २) = घरमें विपुल घी हो।

५ घृतं उक्षमाणा (मं. १) = घी देनेवाला, अर्थात् आतिथि आदिके लिये विपुल घी देनेवाला घर हो। परके लोग अन्नदानमें कंजूशी न करें।

६ ऊर्जस्वती (मं. २) = घरमें बहुत अन्न हो, खानपानके पदार्थ विपुल हों।

७ धरुणी (मं. ३) = जिसमें घान्नादिका बड़ा भंडार हो, जिसमें संप्रदृष्टान हो, और वहाँ सब प्रकारके पदार्थ उत्तम अवस्थामें मिलें।

८ पूतिघान्या (मं. ६) = घरमें पवित्र घान्य हो, जो रोपादि उपज करनेवाला न हो, उत्तम अवस्थामें हरएक प्रकारके पदार्थ हों, जो खानेसे शरीरकी पुष्टि और मनका समानान हो। घरमें घान्य उतनेके समय वह केवल घस्ता मिलता है इसलिये त्याग न जाय, परंतु उतनेके समय देखा जाय, कि यह पवित्र, शुद्ध, नीरोग और पोषक है वा नहीं।

९ परिष्टुतः कुम्भः (मं. ७) = मधुर गृहदूधे मधु हुआ पटा जयवा जनेक घंटे घरमें सदा रहे।

१० दध्नः क्लृष्टौः (मं. ७) = दहीसे परिपूर्ण मरे हुए क्लृष्ट घरमें हों।

११ घृतस्य कुम्भम् (मं. ८) = उत्तम घीसे मरे हुए घृत घरमें हों।

१२ अयक्ष्मा यक्ष्मनादिनीः आपः (मं. ९) = नीरोग और योग दूर करनेवाले शुद्ध जल घरोंमें भर कर घरमें रखा जावे।

इत्यादि घन्टों द्वारा इस सूक्तमें घरका वर्णन किया है। इन घन्टोंके मननसे पाठक स्वयं जान सकते हैं कि घरमें कैसी व्यवस्था रखना चाहिये और घर कैसा बनवाना चाहिए बनाया चाहिये। तथा—

१ घत्सः आगमेत् (मं. ३, ७) = घरमें बहने बेल्टे रहे, घरके पास बहने नाचते रहे।

१ कुमारः आ गमेत् (मं. ३, ७) = घरमें और बाहर बालबच्चे, कुमार और कुमारिकाएं आनंदसे खेलकूद करते रहें ।

३ तरुणः आ गमेत् (मं. ७) = युवा, तरुण पुरुष और तरुणियां घरमें और बाहर भ्रमण करें ।

प्रसन्नताका स्थान ।

अर्थात् घर ऐसा हो कि जिसमें बालबच्चे खेलते रहें और तरुण तथा अन्योन्य आयुवाले स्त्री-पुरुष अपने अपने कार्योंमें आनंदसे द्वाचित्त हों । सबके मुखपर आनंद देखे और घरका प्रत्येक मनुष्य प्रसन्नताकी मूर्ति दिखाई देवे । हरएक मनुष्य ऐसा कहे कि—

गृहान् उप प्र स्नादामि । (सू. १२, मं. ९)

‘ मैं अपनी पराकाष्ठा करके अपने घरके प्रसन्नताका रमणीय स्थान बनाऊंगा । ’ यदि घरका प्रत्येक मनुष्य अपने घरको ‘ प्रसन्नताका स्थान ’ बनानेका प्रयत्न करेगा तो सबसुख वरद घर प्रसन्नताका केन्द्र अवश्यमेव बन जायगा ।

पाठक इस उपदेशका अधिक मनन करें क्योंकि इससे हरएक पाठकपर एक विशेष उत्तरदायित्व आता है । अपने प्रयत्नसे अपने घरको ‘ प्रसन्नताका स्थान ’ बनाना है, यह कार्य दूसरेपर छोपा नहीं जा सकता, यह तो हरएकको ही करना चाहिये । यह उपदेश देनेके पश्चात् हरएक पाठकसे वेद पूछेगा कि ‘ क्या इस उपदेशानुसार अपना कर्तव्य तुमने किया ? ’ पाठक इसका योग्य उत्तर देनेकी तैयारी करें । घरको प्रसन्नताका स्थान बनानेके लिये ऊपर लिखे हुए साधन इकट्ठे तो करने ही चाहिये परंतु केवल इतनेसे ही वह प्रसन्नता नहीं आवेगी कि जो वेदको अमीष्ट है, इसलिये वेदने और भी निर्देश दिये हैं, देखिये—

१ स्मृतावती (मं. २)— घरमें सभ्यताका सचा मापण हो, प्रेमपूर्वक वार्तालाप होता हो, सच्ची उषतिकता घल मापण हो, छल, कपट, घोखा आदिके मापण न हों ।

२ सुमनाः (मं. ५)— उत्तम मनसे उत्तम व्यवहार करनेवाले मनुष्य घरमें कार्य करें ।

घरको मंगलमय बनानेके लिये जैसे खानपानके अच्छे पदार्थ घरमें बहुत चाहिये उसी प्रकार घरके स्त्रीपुरुषोंके अंतःकरण भी जेष्ठ विचारोंसे युक्त चाहिये । तभी तो घर प्रसन्नताका स्थान बन सकता है । घरमें धनदीलत तो बहुत रही, और घरवालोंके (अथर्व. माष्य, काण्ड ३)

मन छली घोर कपटी हुए तो उस घरको घर कोई नहीं कहेगा वह तो एक दुःखका स्थान होगा । इसलिये पाठक— जो अपने घरको प्रसन्नताका स्थान बनाना चाहते हैं वे— इन शब्दोंसे उचित बोध प्राप्त करें । शीत कालमें तथा श्राद्धिके दिनोंमें सर्दी बहुत होती है, इसलिये शीतके निवारणके लिये घरमें अगदी रखना चाहिये जिससे शीतके त्रस्त मनुष्य सेक लेकर आनंद प्राप्त कर सकता है । दूसरी बात यह है कि ‘ अमृत अग्नि ’ (मं. ९) जो परमेश्वर है उसकी उपासनाका एक स्थान घरमें बनना चाहिये, जहां अग्निहोत्र द्वारा अग्न्युपासनासे लेकर ध्यानधाराणा द्वारा परमात्मोपासनातक सब प्रकारकी उपासना करके मनुष्य परम आनंदको प्राप्त करे । जिस घरमें ऐसी उपासना होती है वही घर सबसुख ‘ प्रसन्नताका केन्द्र ’ हो सकता है । इसी प्रकारका घर—

महते सौभाग्य उच्छ्रयस्व । (सू. १२, मं. २)

‘ बड़े शुभमंगलकी प्राप्तिके लिये यह घर उठकर खड़ा होके । ’ अर्थात् यह घर इस प्रकारसे बड़ा सौभाग्य प्राप्त करे । जिस घरमें पूर्वीक प्रकार अन्तर्बाह्य व्यवस्था रहेगी वहां बड़ा शुभमंगल निवास करेगा इसमें कोई संदेह ही नहीं है ।

वीरतासे युक्त धन ।

सौभाग्य प्राप्तिके अन्दर ‘ भग ’ अर्थात् धन कमाना भी समिलित है । परंतु धन कमानेके पश्चात् उसकी रक्षा करनेकी शक्ति चाहिये और उसके शत्रुओंकी दूर करनेके लिये शौर्य, धैर्य, वीर्य आदि गुण भी चाहिये । अन्यथा कमाया हुआ धन दूसरे लोग लूट लेंगे । इसलिये इस सूक्तने सावधानीकी सूचना दी है—

अस्मर्ग्यं सहवीरं रयिं दाः । (सू. १२, मं. ५)

‘ हमारे लिये वीरतासे युक्त धन दे । ’ धन प्राप्त हो और साथ साथ उसके संभालनेके लिये आवश्यक वीरता भी प्राप्त हो । हमारा घर वीरताके वायुमंडलसे युक्त हो—

१ सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम ।

(सू. १२, मं. १)

२ शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ।

(सू. १२, मं. ६)

‘ हम सब प्रकारसे वीर, उत्तम वीर, नासको न प्राप्त होनेवाले वीर, सौ वर्षं जीवित रहकर धर्मही रक्षा करनेके लिये तैयार रहनेवाले वीर होकर अपने अपने घरोंमें संचार करेंगे । ’

ये मंत्र स्पष्ट शब्दों द्वारा कह रहे हैं कि घरोंका वायुमंडल 'वीरताका वायुमंडल' चाहिये। भीरुताका विचारतक वहां आना नहीं चाहिये। घरोंके पुरुष धर्मवीर हों और स्त्रियां वीरतावाले हों, ऐसे स्त्री-पुरुषोंके जो संतान होंगे वे 'कुमार-वीर' ही होंगे इसमें क्या संदेह है? इसीलिये वेदमें पुत्रका नाम 'वीर' आता है। पाठक इसका विचार करें और अपने घरका वायुमंडल ऐसा बनावें ।

अतिथि सत्कार ।

ऐसे मंगलमय वीरताके युक्त घरोंमें रहनेवाले धर्मवीर पुरुष अतिथि सत्कार करते हैं। इस विषयमें कदा है—

पूर्ण नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धाराम-
मृतेन संभृताम् । इमां पानूनमृतेना समद्घो-
ष्टापूर्तमभि रक्षाल्येनाम् ॥ (सू. १२, मं. ८)

'गृहपत्नी अतिथियोंको परोसनेके लिये घोंका घसा लवे, मसुररससे भरा घसा लवे और पीनेवालोंको जितना चाहिये रतना पिलावे, कंजुषी न करे । इस प्रकारका अन्नदान करना ही घरकी रक्षा करता है ।'

अतिथि सत्कारमें अन्नपान अथवा अन्य पदार्थोंका दान खुले हाथसे देना चाहिये, उसमें कंजुषी करना योग्य नहीं है । क्योंकि दान ही घरका संरक्षण करता है । जिस घरमें अतिथियोंका सत्कार होता है उस घरका यश बढ़ता जाता है ।

यहां अतिथियोंके लिये अन्न परोसनेका कार्य करना स्त्रियोंका कार्य लिखा है । यहां पर्दा नहीं है । पढ़ेवाले घरोंमें अतिथियोंको भोजन देनेका कार्य या तो नौकर करता है अथवा घरका मालिक करता है । यह अतिथि सत्कारकी अवैदिक प्रथा है । अतिथिके लिये भोजन, स्नानपान आदि गृहपत्नीको देना चाहिये यह वेदका आदेश यहां है, जिसकी ओर घरमें पढ़ेकी प्रथा रखनेवाले पाठकोंका मन आकर्षित होना आवश्यक है ।

देवों द्वारा निर्मित घर ।

घर देवोंने प्रारंभमें बनाया इस विषयमें यह निम्न लिखित मंत्र देखना चाहिये—

शरणा स्योना देव्या (शाला) देवैर्मिनिमितास्यप्रे ।
तृणं घसाना सुमनाः ... ॥ (सू. १२, मं. ५)

'अन्दर आश्रय करने योग्य, सुखदायक, घासके छप्परवाला, परंतु उत्तम विचारोंसे युक्त दिव्य घर प्रारंभमें देवोंने बनाया ।' दिव्य वीर पुरुषोंके द्वारा जो पहला घर निर्माण हुआ वह ऐसा था । यद्यपि इसपर घासका छप्पर या तथापि उसके अन्दर उत्तम विचार होते थे, अन्दर जानेसे आराम मिलता था और सुख भी होता था । इसका तात्पर्य यही है कि घर छप्परका ही क्यों न हो परंतु वह दिव्य विचारोंका दिव्य घर होना चाहिये, वह कूर विचारोंका 'राक्षसमवन' नहीं होना चाहिये । 'देवोंका घर' धनसे नहीं होता है प्रयुक्त अन्दरकी शांति और प्रसन्नतासे होता है । पाठक प्रयत्न करके अपना घर ऐसा 'देव भवन' ही बनावें और वैदिक धर्मको अपने घरमें प्रकाशित रूपमें प्रकट करें ।

देवोंकी सहायता ।

घर ऐसे स्थानमें बनाया जाने कि जहां सूर्य, चंद्र, वायु, इन्द्र, आदि देवोंके सहायक शक्ति विपुल प्रमाणमें प्राप्त होती रहे—

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो गृहस्पतिर्वि-
मिनोतु प्रजानन् । उल्लन्तुद्गा मरुतो घृतेन
भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥ (सू. १२, मं. ४)

'सूर्य, वायु, इन्द्र, गृहस्पति जानते हुए इस घरकी सहायता करें । मरुद् नामक बर्साती वायु जलसे सहायता करें और भग राजा कृषि फलानेमें सहायक हो ।'

घरके लिये सूर्यप्रकाश विपुल मिले, शुद्ध वायु मिले, इन्द्र वृष्टि द्वारा सहायता करे, वृष्टि करनेकाले वायु योग्य वृष्टिसे सहायता करें और कृषिका देव भूमिसे कृषिकी योग्य उत्पत्ति करने द्वारा सहायक हो । घर ऐसे स्थानमें अथवा देशमें बनाया चाहिये कि जहां सूर्यादि देवताओं द्वारा योग्य शक्तियोंकी सहायता अच्छी प्रकार मिल जाय, भूमि उपजाऊ हो, वायु निर्दोष हो, जल आरोग्यदायक और पाचक हो, इस प्रकारके उत्तम देशमें गृहका निर्माण करना चाहिये ।

जल ।

(१३)

(ऋषिः — शृगुः । देवता — वरुणः, सिन्धुः, आपः, इन्द्रः)

यद्बुदः संप्रयुत्तीरहावर्नदता हते ।

तस्मादा नद्योऽहं नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः ॥ १ ॥

यत्प्रेषिता वरुणेनाच्छीर्षं समवहगत ।

तदांमोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनु घ्न ॥ २ ॥

अपकामं सन्दमाना अवीवरत वो हि कम् ।

इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद्द्वानाम वो हितम् ॥ ३ ॥

एको वो देवोऽप्यतिष्ठत् सन्दमाना यथाबुधम् ।

उदानिपुर्महीरिति तस्माद्बुदकमुच्यते ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (सिन्धवः) नदियो ! (सं-प्र-यतीः) तम प्रहारसे सदा चलनेवाली तुम (अहो हते) मेघके बनन होनेके पश्चात् (अद्ः यत् अनदत्) यह जो बहा नाद कर रही हो, (तस्माद् आ नद्यः नाम स्थ) उस कारण तुम्हारा नाम ' नदी ' हुआ है (ताः घः नामानि) वह तुम्हारे ही योग्य नाम हैं ॥ १ ॥

(यत् आत् वरुणेन प्रेषिताः) जब यज्ञसे वरुण द्वारा प्रेरित हुए तुम (यतीं समवहगत) शीघ्र ही मिलकर चलने लगी, (तत् इन्द्रः यतीः घः आमोत्) तब इन्द्रने गमनशील ऐसे तुमको ' प्राप्त ' किया, (तस्मात् अनु आपः स्थन) उसके पश्चात् तुम्हारा नाम ' आपः ' हुआ ॥ २ ॥

(सन्दमानाः वः) बहनेवाले तुम्हारी गतिका (इन्द्रः हि अप-कामं कं अवीवरत) इन्द्रने विवेक कार्यके लिये मुखपूर्वक नि ' वारण ' किया (तस्मात् देवीः वः यार् नाम हितं) तबसे देवी जैसे तुम्हारा नाम ' वारि ' रख है ॥ ३ ॥

(एकः देवः यथावत् सन्दमानाः वः) अकेले एक देवने जैसे बहने जैसे बहनेवाले तुमको (अपि अतिष्ठत्) अधिकारसे देवा और कहा कि (महीः उदानिपुः) बड़ी शक्तियाँ ऊपरको श्वास लेती हैं, (तस्मात् उदकं उच्यते) तबसे तुमको ' उदक ' [उत्-अक] नामसे बोला जाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— मेघकी कृष्टिसे अथवा वर्ष पिघल जानेसे जब नदियोंको महापूर आ जाता है तब जलका बहा नाद होता है, यह ' नाद ' होता है इसीलिये जलप्रवाहोंको ' नदी ' (नाद करनेवाली) कहा जाता है ॥ १ ॥

जब वरुणराजसे प्रेरित हुआ जब शीघ्र गतिसे चलने लगता है, तब इन्द्र उसे प्राप्त करता है, ' प्राप्त ' होनेके कारण ही जलका नाम ' आपः ' (प्राप्त होने योग्य) होता है ॥ २ ॥

जब वेपसे बहनेवाले जलप्रवाहोंके मार्गको इन्द्रने विवेक कारणके लिये मुखपूर्वक बहनेके हेतु विशिष्ट मार्गसे चलनेके लिये निवारित किया, तब उस कारण जलका नाम ' वारि ' (वारि = निवारित किया गया) हुआ ॥ ३ ॥

सौच्छासे बहते जानेवाले जल प्रवाहोंको जब एक देवने अधिकारमें लाया और उनको ऊर्ध्व गतिसे ऊपरकी ओर चलाया, तब इस जलका नाम ' उदक ' (उत् अक = ऊपरकी ओर प्राण गति करना) हो गया ॥ ४ ॥

आपो भद्रा घृतमिदारप आसन्नमीपोमौ विभ्रत्याप इत्ताः ।

तीव्रो रसो मधुघृत्चामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत् ॥ ५ ॥

आदित्पश्याम्युत वां शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाह् मांसात् ।

मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अर्तुपं यदा वैः ॥ ६ ॥

इदं वै आपो हृदयमयं वृत्स श्रुतावरीः ।

इहेत्यमेतं शकरीर्यत्रेदं वैश्यामि वः ॥ ७ ॥

अर्थ— (आपः भद्राः) जल कल्याण करनेवाला और (आपः इत् घृतं आसन्) जल निःसंदेह तेज बढ़ानेवाला है । (ताः इत् आपः अग्नीपोमौ विभ्रतः) वह जल अग्नि और सोम धारण करते हैं । (मधुघृत्चां अरंगमः तीव्रः रसः) मधुरतासे परिपूर्ण तृप्ति करनेवाला तीव्र रस (प्राणेन वर्चसा सह) जीवन और तेजके साथ (मा आगमेत्) मुझे प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

(आत् इत् पश्यामि) निश्चयसे मैं देखता हूँ (उत वा शृणोमि) और सुनता हूँ (आसां घोषः घाक् मा आगच्छति) इनका घोष और शब्द मेरे पास आता है । हे (हिरण्यवर्णाः) चमकनेवाले वर्णवाले ! (यदा वः अर्तुपं) जब मैंने तुम्हारे सेवनसे तृप्ति प्राप्त की (तर्हि अमृतस्य भेजानः मन्ये) तब अमृतके भोजन करनेके क्षमता मुझे प्रतीत हुआ ॥ ६ ॥

हे (आपः) जलो ! (इदं वः हृदयं) यह तुम्हारा हृदय है । हे (श्रुतावरीः) जलधाराओ ! (अयं वृत्सः) यह मैं तुम्हारा बच्चा हूँ । हे (शकरीः) शक्ति देनेवालो ! (इत्थं इह आ इत्) इस प्रकार यहाँ आओ । (यत्र वः इदं पश्यामि) जहाँ तुम्हारे अन्दर यह मैं प्रवेश करता हूँ ॥ ७ ॥

भाषार्थ— यह जल निःसंदेह कल्याणकारक है, यह नियमपूर्वक तेज और पुष्टिको बढ़ानेवाला है । अग्नि और सोम इसका धारण करते हैं । यह जल नामक रस ऐसा मधुर रस है कि यह पान करनेसे तृप्ति करता है और जीवनके तेजसे युक्त करता है ॥ ५ ॥

मनुष्य जलको आँसुसे देखता है, और जलका शब्द दूरसे सुन भी सकता है । शुद्ध निर्मल जल सृष्टिकके समान चमकता है । जब मनुष्य इसको पीता है तब उसको अमृतपान करनेके समान आनन्द होता है ॥ ६ ॥

जलका यह आन्तरिक तार है, मनुष्य जलका ही पुत्र है, जल मनुष्यपर आता है और मनुष्य भी जलमें गोता लगाता है ॥ ७ ॥

जलके प्रवाह ।

इस सूक्तमें जलके प्रवाहोंका वर्णन है । जलके अनेक नाम हैं, उनमेंसे बानसा नाम किंच प्रकारके जलका होता है यह बात इस सूक्तके मंत्रों द्वारा बताया गई है ।

मेषोषे वृष्टिं हवीं है और नदियोंको महापूर आता है । नदियां मरनेका यह एक कारण है । नदियोंके महापूरका दुःख भी एक कारण है, वह है बर्फका पिघलना । परन्तु वाचक प्राजा आदि को शब्द मेषवाचक करके माने जाते हैं वे वस्तुतः मेष-वाचक नहीं हैं, परन्तु पहाड़ोंपर या भूमिपर गिरनेवाले बर्फके

तथा ओलोंके वाचक होते हैं । सर्षी प्रकारका अहिशब्द है । अतः इसका अर्थ पहाड़ी बर्फ मानना योग्य है और इसके पिघलनेसे नदियोंका भर जाना भी संभव है । इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों कारणोंसे महापूर आनेसे जलप्रवाहोंका बहा नाद होता है, इसलिये नाद करनेके हेतु जलप्रवाहका नाम 'नदी' होता है, अर्थात् जिस जलप्रवाहका बहा शब्द न होता हो उसको नदी नहीं कहना चाहिये ।

नदीका प्रवाह अत्यंत बेगसे चलता हो और उस बेगमेंसे जल किसी मुक्तिसे ऊपर या अन्य स्थानमें खींचकर प्राप्त किया हो तो उस जलको 'आप' कह सकते हैं ।

अपनी इच्छासे जैसे चाहे जैसे प्रवादित होनेवाले बलको नहर आदि कृत्रिम मार्गोंके द्वारा अपनी खेती आदिके विशेष कार्योंको सिद्ध करनेके लिये जो अपनी इच्छानुसार चलाया जाता है उसको 'वारि' (वार, वारं) कहा जाता है ।

जो जल-सूर्यकिरणों द्वारा बनी मांससे हो या अग्नि द्वारा बनी हुई मांससे हो- पहले मांस बनकर फिर उस मांसको शीतलता लगाने द्वारा जो फिर उसका जल बनता है उसको 'उदक' कहते हैं । (उद्) मांस द्वारा ऊपर जाकर जो (आनिषुः) जो ऊपरले प्राणके साथ मिलकर वापस आता है उसका नाम उदक है । मेघोंकी श्रुतिसे प्राप्त होनेवाले उदकका यह नाम मुख्यतया है । कृत्रिम रीतिसे शृंगार्यंत्र द्वारा बनाये जलको भी यह गौण वृत्तिसे दिया जा सकता है ।

विविध प्रकारके जलोंके ये नाम हैं यह स्वयं इस सूक्तने ही कहा है, इसलिये इन शब्दोंके ये अर्थ लेना ही योग्य है । यद्यपि संस्कृत भाषामें ये सब उदक वाचक शब्द पर्याय शब्द माने जाते हैं और पर्याय समझकर उपयोगमें भी लाये जाते हैं, तथापि संस्कृत भाषामें एक वस्तुके वाचक अनेक शब्द वस्तुतः

उस वस्तुके अन्तर्गत भेदोंके वाचक होते हैं, यह बात इस सूक्तके इस विवरणसे ज्ञात हो सकती है ।

यह जल (भद्राः । मं. ५) कल्याण करनेवाला है, बल, पुष्टि और तेज देनेवाला है, तथा जीवनका तेज बढ़ानेवाला है । (मं. ५)

शुद्ध रफ़टिक जैसा निर्मल जल पीनेसे ऐसी तृप्ति होती है कि जो तृप्ति अमृत मोक्षनसे मिल सकती है ।

प्राणिमात्र जलके कारण जीवित रहते हैं इसलिये जलसे ही इनको उत्पत्ति मानना योग्य है, अतः ये जलके पुत्र हो गये । जल इन सबकी माता है इसीलिये जलको 'माता' वेदमें अन्यत्र कहा है । इस माताका आश्रय करनेसे मनुष्य नीरोग पुष्ट और बलवान हो सकते हैं ।

मनुष्य जलमें प्रविष्ट होकर नित्य ज्ञान करें अथवा किसी तैरने आदिकी संभावना न हो तो अन्य प्रकारसे जल प्राप्त करके ज्ञान अवश्य करें । यह जलज्ञान बड़ा आरोग्यप्रद होता है । इत्यादि उपदेश पंचम और षष्ठ मंत्रोंके शब्दोंके मननसे प्राप्त हो सकते हैं ।

गोशाला ।

(१४)

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता— नानादेवता, गोष्ठदेवता)

सं वो गोष्ठेन सुपदा सं रय्या सं सुभृत्या ।
अहर्जातस्य यन्नाम तेनां वः सं संजामसि

॥ १ ॥

अर्थ— हे गौत्रो ! (वः सुपदा गोष्ठेन सं) तुमको उत्तम बैठने योग्य गोशालासे युक्त करते हैं, (रय्या सं) उत्तम बलसे युक्त करते हैं और (सु-भृत्या सं) उत्तम रहनेसे अथवा उत्तम प्रजननसे युक्त करते हैं । (यत् अहर्जा-तस्य नाम) जो दिनमें श्रेष्ठ वस्तु मिल जाय (तेन वः सं संजामसि) उससे तुमको युक्त करते हैं ॥ १ ॥

भाषार्थ— गौत्रोंके लिये उत्तम, प्रशस्त और स्वच्छ गोशाला बनानी जान । गौत्रोंके लिये उत्तम जल पीनेको दिया जाय, तथा गौत्रोंके उत्तम शुभयुक्त संतान उत्पन्न करानेकी दृष्टता सदा रखी जाय । गौत्रोंके इतना प्रेम किया जाय कि दिनके समय गौत्रोंके योग्य उत्तमसे उत्तम पदार्थ प्राप्त कराकर वह उनको अर्पण किया जाय ॥ १ ॥

सं वः मृजत्वयमा सं पूषा सं बृहस्पतिः ।	
समिन्द्रो यो घनञ्जयो मयि पुष्यत यदसु	॥ २ ॥
संजग्माना अविभ्युपीरस्मिन् गोष्ठे करीपिणीः ।	
बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन	॥ ३ ॥
इहैव गाव एतनेहो शकैव पुष्यत ।	
इहैवोव प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु चः	॥ ४ ॥
शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशकैव पुष्यत ।	
इहैवोव प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि	॥ ५ ॥
मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्युः ।	
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुपं वः सदेम	॥ ६ ॥

अर्थ— (अयमा वः सं सृजतु) अयमा तुमको मिलावे, (पूषा सं, बृहस्पतिः सं) पूषा और बृहस्पति भी तुम्हें मिलावे । (यः घनञ्जयः इन्द्रः सं सृजतु) जो घन प्राप्त करनेवाला इन्द्र है वह तुमको घनसे संयुक्त करे । (यत् यस्तु) जो घन आपके पास है वह (मयि पुष्यत) सुझनें तुम पुष्ट करो ॥ २ ॥

(अस्मिन् गोष्ठे संजग्मानाः अ-विभ्युपीः) इस गोशालामें मिलकर रहती हुई और निर्भय होकर (करी-पिणीः) गोबरका उत्तम खाद उत्पन्न करनेवाली तथा (सोम्यं मधु बिभ्रतीः) शांत मधुररस-दूध-का धारण करती हुई (अन्-अमीवाः उपेतन) नीरोग अवस्थामें हमारे पास आओ ॥ ३ ॥

हे (गावः) गौओ । (इह एव पतन) यहाँ ही आओ । और (इहो शका इव पुष्यत) यहाँ साँके समान पुष्ट होओ । (उत इह एव प्र जायध्वं) और यहाँ ही बच्चे उत्पन्न करके बढो । (वः संज्ञानं मयि अस्तु) आपका लगन-प्रेम-सुझनें होवे ॥ ४ ॥

(वः गोष्ठः शिव भवतु) तुम्हारी गोशाला तुम्हारे लिये हितकारी होवे । (शारि-शका इव पुष्यत) शालिबी साँके समान पुष्ट होओ । (इह एव प्र जायध्वं) यहाँ ही प्रजा उत्पन्न करो और बढो । (मया वः सं सृजामसि) मेरे साथ तुमको भ्रमणके लिये ले जाता हूँ ॥ ५ ॥

हे (गावः) गौओ । (मया गोपतिना सचध्वं) मुझ गोपतिके साथ मिली रहो । (वः पोषयिष्युः अयं गोष्ठः इह) तुमको पुष्ट करनेवाली यह गोशाला यहाँ है । (रायः पोषेण बहुलाः भवन्तीः) गोमाको दृष्टिके साथ बहुत बढती हुई और (जीवन्तीः वः जीवाः उप सदेम) जीवित रहनेवालीं तुमको हम सब प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

मावायं— अयमा, पूषा, बृहस्पति तथा घन प्राप्त करनेवाला इन्द्र आदि-धर्म देवतागण गौओंकी पुष्टि करें । तथा पुष्ट गौओंसे जो पोषक रस मिल सकता है वह दूध मेरी पुष्टिके लिये मुझे मिले ॥ २ ॥

उत्तम खाद कृषी गोबर उत्पन्न करनेवाली, दूध बैधा मधुररस देनेवाली, नीरोग और निर्भय स्थानपर बिचरनेवाली गौवें इस उत्तम गोशालामें आकर निवास करें ॥ ३ ॥

गौवें इस गोशालामें आवें, यहाँ बहुत पुष्ट हो, और यहाँ बहुत उत्तम संतान उत्पन्न करें और गौओंके स्वामिके ऊपर प्रेम करती हुई आनन्दसे रहे ॥ ४ ॥

गोशाला गौओंके लिये कल्याणकारिणी होवे । यहाँ गौवें पुष्ट होवें और संतान उत्पन्न करके बढें । गौओंका स्वामी सब गौओंकी म्यवस्था देखे ॥ ५ ॥

गौवें स्वामीके साथ आनन्दसे मिलजुल कर रहें । यह गोशाला अत्यन्त उत्तम है इसमें रहकर गौवें पुष्ट हों । अपनी गोमा और पुष्टि बढाती हुई यहाँ गौवें बहुत बढें । हम सब ऐसे उत्तम गौओंको प्राप्त करेंगे और पावेंगे ॥ ६ ॥

गो संवर्धन ।

यह सूक्त अत्यंत सुगम है, इसलिये इसके अधिक विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसमें जो बातें कही हैं उनका सारांश यह है कि 'गौओंके लिये उत्तम गोशाला बनाई जावे और वहां उनके रहने सहने, पाष, दानापानी आदिका सब उत्तम प्रबंध किया जावे। स्वामी गौवोंसे प्रेम करे और गौवें स्वामीसे प्रेम करें। गौवें निर्भयतासे रहें उनको अधिक भयभीत न किया जावे, क्योंकि भयभीत गौवोंके दूधपर क्षुरा परिणाम होता है। संतान उत्पन्न करानेके समय अधिक दूध-वाली और अधिक नीरोग संतान उत्पन्न करानेके विषयमें

दक्षता रखी जाय। गौवोंकी पुष्टि और नीरोगताके विषयमें विशेष दक्षता रखी जाय अर्थात् गौओंको पुष्ट किया जाय और उनसे नीरोग संतान उत्पन्न हो। ऐसा सुप्रबंध किया जाय। गोपालनका उत्तममे उत्तम प्रबंध हो, किसी प्रकारकी सनमें बीमारी उत्पन्न न हो। उनके गोबर आदिसे उत्तम खाद करके उस खादका उपयोग शाली अर्थात् चावल आदि धान्योंके लिये किया जावे।'

इत्यादि प्रकारका बोध इस सूक्तके पढ़नेसे मिल सकता है। यह सूक्त अति सुगम है इसलिये पाठक इसका मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें।

वाणिज्य से धनकी प्राप्ति ।

(१५)

(ऋषिः — अथर्वा (पण्यकामः) । देवता — विश्वेदेवाः, इन्द्राग्नी)

इन्द्रंमुहं वणिर्लं चोदयामि स न्नेतुं पुरपुता नो अस्तु ।

नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥ १ ॥

ये पन्यानां बहवो देवयानां अन्तरा द्यावापृथिवीं संचरन्ति ।

ते मां जुपन्तां पयसा घृतेन यथां क्रीत्वा धनमाहराणि ॥ २ ॥

अर्थ— (अहं वणिजं इन्द्रं चोदयामि) मैं वणिक् इन्द्रको प्रेरित करता हूँ (सः नः पेतु) वह हमारे प्रति आवे और (नः पुर-पुता अस्तु) हमारा अणुवा होवे। (परिपन्थिनं मृगं अरातिं नुदन्) मार्गपर छट करनेवाले पाशवी प्रायसे युक्त शत्रुको अलग करता हुआ (सः ईशानः मह्यं धनदाः अस्तु) वह समय मुझे धन देनेवाला होवे ॥ १ ॥

(ये देवयानाः बहवः पन्यानाः) जो देवोंके जाने योग्य बहुतसे मार्ग (द्यावापृथिवीं अन्तरा सञ्चरन्ति), द्यावापृथिवीके बीचमें चलते रहते हैं, (ते पयसा घृतेन मां जुपन्तां) वे दूध और घीसे मुझे तृप्त करें (यथां क्रीत्वा धनं मां हारामि) जिससे क्रयविक्रय करके मैं धन प्राप्त कर लूँ ॥ २ ॥

भावार्थ— मैं वाणिज्य करनेवाले इन्द्रकी प्रार्थना करता हूँ कि वह हमारे अन्दर आवे और हमारा अग्रगामी बने। वह प्रभु हमें धन देनेवाला होवे, और वह हमारे शत्रुओंको अर्थात् बटमार, छुंटेरे और पाशवी शक्तिसे हमें सतानेवालोंको हमारे मार्गसे दूर करे ॥ १ ॥

शुलोक और पृथ्वीके मध्यमें जाने-आनेके जो दिव्य मार्ग हैं वे हमारे लिये दूध और घीसे भरपूर हों, जिन मार्गोंसे जाकर और व्यापार करके हम बहुत लाभ प्राप्त कर सकें ॥ २ ॥

इध्मेनाम इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे चलाय ।
 यावद्दीशे ब्रह्मणा चन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥ ३ ॥
 इमामेधे शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम् ।
 शुनं नो अस्तु प्रपूर्णा विक्रयश्च प्रतिपणः फलिने मा कृणोतु ।
 इदं हव्यं संविदानौ जुषेयां शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ॥ ४ ॥
 येन धनेन प्रपूर्णं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।
 तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्रे सातध्नो देवान्हाविषा नि वैध ॥ ५ ॥
 येन धनेन प्रपूर्णं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।
 तस्मिन् इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥ ६ ॥

अर्थ— हे अमे ! (इच्छमानः इध्मेन घृतेन तरसे चलाय हव्यं जुहोमि) मैं लामकी इच्छा करनेवाला इध्न और धीसे संकटसे बचनेके लिये और बल प्राप्तिके लिये इध्न करता हूँ । (यावत् इमां देवीं धियं ब्रह्मणा चन्दमानः शतसेयाय ईषे) जिससे इस बुद्धिका ज्ञान द्वारा सम्मान करता हुआ मैं सैकड़ों सिद्धियोंके प्राप्त करनेके योग्य होऊँ ॥ ३ ॥

हे (अग्ने) अमे ! (नः इमां शरणिं मीमृषः) इस हमारा अशुद्धिकी क्षमा कर । (यं दूरं अध्वानं अगाम) जिस दूरके मार्गतक हम आ गये हैं । (नः प्रपणः विक्रयः च शुनं अस्तु) वहाका हमारा रुप और विक्रय लामकारक हो । (प्रतिपणः फलिने नः कृणोतु) प्रलेक व्यवहार मुझको लामदायक होवे । (इदं हव्यं संविदानौ जुषेयां) इस हविषके जानकर सेवन करो । (नः चरितं उत्थितं च शुनं अस्तु) हमारा व्यवहार और हमारा उत्थान लामदायक होवे ॥ ४ ॥

हे देवाः ! (धनेन धनं इच्छमानः) मूल धनसे लामकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाला मैं (येन धनेन प्रपूर्णं चरामि) जिस धनसे व्यापार करता हूँ (तत् मे भूयः भवतु) वह मेरे लिये अधिक होवे और (मा कनीयः) शोभा न होवे । हे अमे ! (हाविषा सातध्वान् देवान् निषेध) इध्नसे मुझ होकर लामका नाश करनेवाले खिलाड़ियों पर निषेध कर ॥ ५ ॥

हे देवो ! (धनेन धनं इच्छमानः) धनसे धन कमनेकी इच्छा करनेवाला मैं (येन धनेन प्रपूर्णं चरामि) जिस धनसे व्यापार करता हूँ (तस्मिन् मे रुचि) उधमें मेरी रुचिको (इन्द्रः प्रजापतिः सविता सोमः अग्निः) इन्द्र, प्रजापति, सविता, सोम, अग्नि देव (या दधातु) स्थिर कर देवे ॥ ६ ॥

भाषार्थ— मैं लाम तथा बल प्राप्त करना और संकटको दूर करना चाहता हूँ, इसलिये मैं धी और अग्निसे इध्न करता हूँ । इससे मैं ज्ञान प्राप्तिपूर्वक उत्तम बुद्धिसे प्रशस्त कर्मको करता हुआ अनेक व्यापारोंमें सिद्धियां प्राप्त करके लाम प्राप्त करूँगा ॥ ३ ॥

हम अपने घरसे बहुत दूर विदेशमें आ गये हैं । हे प्रभो ! यहाँ कोई वृद्धि हमसे हो गई तो क्षमा कर । यहाँ जो व्यापार हम कर रहे हैं उधमें हमें बहुत लाम प्राप्त हो, हमें क्रयमें भी लाम हो और विक्रयमें भी हमें धन बहुत मिले, प्रलेक व्यवहारे हमें लाम होगा जाय । हमारा जाना जाना और हमारा अभ्युत्थान अर्थात् स्पर्धाकी चडाई करना भी हमें लामकारी होवे । इसके लिये हम यह इध्न करते हैं, उरुका सेवन कर ॥ ४ ॥

मैं मूल धनसे व्यापार करके बहुत लाम प्राप्त करना चाहता हूँ, इसलिये जितने धनसे मैं यह व्यवहार कर रहा हूँ, वह धन मेरे कार्यके लिये पर्याप्त होवे और कम न होवे ! मैं जो यह इध्न कर रहा हूँ इससे संतुष्ट होकर, हे प्रभो ! तू मेरे व्यवहारमें लामका नाश करनेवाले जो कोई होंगे उनको दूर कर ॥ ५ ॥

उपं त्या नमसा वयं होतर्वैश्वानर स्तुमः ।

स नः प्रजास्वात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि

॥ ७ ॥

विश्वाहा ते सदमिद्धरेमाश्वयिव तिष्ठते जातवेदः ।

रायस्पोषेण समिषा मर्दन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम

॥ ८ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (होतः वैश्वानर) याज्ञक वैश्वानर । (वयं नमसा त्या उप स्तुमः) हम नमस्कारसे तेरा स्तवन करते हैं । (सः नः आमसु प्राणेषु प्रजासु गोषु जागृहि) वह तू हमारे आत्मा, प्राण, प्रजा और गौओंमें रखणके लिये जागता रह ॥ ७ ॥

हे (जातवेदः) जातवेद ! (विश्वाहा ते इत् सदं भरेम) प्रतिदिन तेरे हां स्थानको हम भोगे (तिष्ठते अश्वाय इव) जैसा स्थानपर बंधे हुए घोड़ोंको अन्न देते हैं । (रायः पोषेण इया सं मर्दन्तः) धन, पुष्टि और अन्नसे आर्नदित होते हुए (ते प्रतिवेशा मा रिषाम) तेरे उपासक हम कभी नष्ट न होंवें ॥ ८ ॥

भाषार्थ— अपने मूल धनसे व्यापार करके मैं बहुत धन कमाना चाहता हूँ, इसके लिये धन लगाकर उससे जो व्यवहार मैं करना चाहता हूँ, उसमें प्रभुकी कृपासे मेरी सबि लाभ होनेतक स्थिर होंवें ॥ ६ ॥

हे प्रभो ! मैं तुझे नमस्कार करता हूँ और तेरी स्तुति करता हूँ, तू संतुष्ट होकर हमारे आत्मा, प्राण, प्रजा और गौ आदि पशुओंको रखा कर ॥ ७ ॥

हे प्रभो ! जिस प्रकार अश्वशालामें एक स्थानपर रखे हुए घोड़ोंको खिलानेका प्रबंध प्रतिदिन किया करते हैं उसी प्रकार हम तेरे उद्देशसे प्रतिदिन स्तवन करते हैं । तेरी कृपासे हम बहुत धन, पुष्टि और अन्न प्राप्त करेंगे, बहुत आर्नदित होंगे और कभी दुःखसे ग्रस्त न होंगे ॥ ८ ॥

वाणिज्य व्यवहार ।

बनिया जो क्रय विक्रयका व्यवहार करता है उसका नाम वाणिज्य व्यवहार है । व्यापारके पदार्थ किसी स्थानसे खरीदना और किसी स्थानपर उसको बेचना और इस क्रयविक्रयमें योग्य लाभ प्राप्त करना इस व्यापार व्यवहारसे होता है । कुशल बनिये इसमें अच्छा लाभ प्राप्त करते हैं ।

पुराना बनिया !

इस सुक्तके पहले मंत्रमें सब जगत्के प्रभु (इन्द्र भगवान्) को ' वाणिजं इन्द्रं ' (वाणिक् इन्द्र) कहा है, यह बहुत ही काव्यमय वर्णन है और इसमें अद्भुत उपदेश भरा है । परमेश्वर सर्वत्र छिपा है और प्रयत्न करनेपर भी दिखाई नहीं देता, इसलिये उसकी एक मंत्रमें (तायु । ऋ. १।६।५।१) चोर भी कहा है । जिस प्रकार यह अद्भुत अलंकार है उसी प्रकार प्रभुको बनिया कहना भी अलंकार है ।

जिध प्रकार बनिया एक रु. लेकर उतने मूल्यका ही धान्य आदि देता है, न अधिक और न कम, इसी प्रकार यह पुराना सबसे बड़ा बनिया ' मनुष्योंको सुखदुःख उसी प्रमाणसे देता है कि जितना भला बुरा कर्म मनुष्य करते हैं अथवा जितना अर्पण से परोपकारार्थ करते हैं उतना ही उनको पुण्य मिलता है । इस प्रकार इस इन्द्र बनियाने जगतके प्रारंभसे यह अपना व्यापार चलाया है, न यह कर्मा पक्षपात करता है और न कभी उधारका व्यवहार करता है । इस प्रकार यह सबसे पुराना पुण्य बनियाका व्यवहार करता है, उसको जितना दिया जाय उतना ही उससे नापस मिलेगा । इसलिये मनुष्यको यह आदि कर्म करने चाहिये जिनको देखर उससे पुण्य खरीदा जाय, वह उपदेश यहाँ मिलता है ।

व्यापारका व्यवहार बताते हुए भी वेदने उसमें परमात्माके सब व्यवहारका उपदेश देकर बताया है कि व्यापार भी सत्य-

स्वरूप परमेश्वरकी निद्रासे ही होना चाहिये और छल, कपट तथा धोखा उद्यम कभी करना नहीं चाहिये ।

हवनका निर्देश मं. ३ और ५ इन दो मंत्रोंमें है । हवनका अर्थ है 'अपना समर्पण' । अपने पासके पदार्थ परमार्थके लिये अर्पण करना और स्वार्थका भाव कम करना यही यज्ञ है । ऐसे यज्ञोंसे ही अगुत्का उपकार होता है, इसलिये ऐसे धर्मपरमान्तके पास पहुँचते हैं और उनका यज्ञ कर्ताकी मिलता है । इसलिये व्यापार-व्यवहारसे धन प्राप्त करनेपर उसका योग्य माग परोपकारके लिये समर्पण करना चाहिये अर्थात् उसकी यज्ञमें लगाना चाहिये । धन कमानेवाले इस आदेशका योग्य विचार करें । जो कमाया हुआ धन स्वयं उपभोग करता है वह पापी होता है । इसलिये कमाये धनमेंसे योग्य माग परोपकारमें लगाना योग्य है ।

व्यापारका स्वरूप ।

इस सूक्तमें व्यापार विषयक जो शब्द आ गये हैं वे अब देखिये—

- १ धनं = मूल धन, सरमाया, जिस मूल धनसे व्यापार किया जाता है । (मं. ५, ६)
- २ धनं = लाभ, लाभसे प्राप्त होनेवाली रकम । (मं. ५, ६)
- ३ वाणिक् = व्यापारी, कर्षविक्रय करनेवाला । (मं. १)
- ४ धनदा = व्यापारके लिये धन देनेवाला धनपति, जिससे धन लेकर अन्य छोटे व्यापारी अपना काम चंदा करते हैं । साहुकार । (मं. १)
- ५ प्रपणः = सौदा, खरीद फरोक । (मं. ५)
- ६ विक्रयः = खरीदा हुआ माल बेचना । (मं. ४)
- ७ प्रतिपणः = प्रत्येक सौदा । (मं. ४)
- ८ फली (फालिन्) = लाभ युक्त होना । (मं. ४)
- ९ गुनं = कल्याणकारी, लाभकारी, हितकर । (मं. ४)
- १० चरितं = व्यवहार करनेके लिये हलचल करना । (मं. ४)
- ११ उरिचतं = उठाव, चढ़ाई । प्रतिस्पर्धिके साथ स्पर्धिके लिये चढ़ाई करना । (मं. ४)
- १२ भूयः (धनं) = व्यापारके लिये पर्याप्त सरमाया होना । (मं. ५)

ये म्भारह शब्द व्यापार विषयक नीतिकी सूचना देते हैं । इनके मननसे पाठकोंकी पता लग सकता है कि बनियाके कार्योंमें कौन कौनसे विभाग होते हैं और उन विभागोंमें क्या क्या कार्य करना चाहिये ।

प्रथम मूल धन व्यापार-व्यवहारमें लगाना चाहिये । यदि अपने पास न हो तो किसी साहुकार (धन-दा) के पाससे लेकर उस धनपरसे अपना व्यवहार चलाना चाहिये । जिस पदार्थका व्यापार करना हो उस पदार्थका 'क्रय' कहा करना योग्य है और उसका 'विक्रय' कहा करनेसे अधिकसे अधिक लाभ हो सकता है इसका विचार करना चाहिये । दिन दिनोंमें, जिस देशमें खरीदी और जिस स्थानपर विक्री (प्रतिपण) करनेसे अधिक लाभ होना संभव है, इसका योग्य अनुसन्धान करनेसे निःसन्देह लाभ हो सकता है । इन्हीका नाम ऊपर लिखे शब्दोंमें 'चरितं' कहा है ।

इन सब शब्दोंमें 'उरिचतं' शब्द बड़ा महत्त्व रखता है । उठाव, उठना, चढ़ाई करना इत्यादि अर्थ इसके प्रसिद्ध हैं । मालका उठाव करनेका तात्पर्य अब जानते ही हैं । इस उठानके दो भेद होते हैं, एक 'वैयक्तिक उठान' और दूसरा 'समुदायिक संभूय समुत्थान' है । एक व्यक्ति चढ़ाईकी नीतिसे व्यापार करता है उसको वैयक्तिक उठान कहते हैं और जहाँ अनेक व्यापारी अपना संघ बनाकर उठाई करते हैं उसको 'संभूय समुत्थान' कहते हैं । व्यापारमें केवल ऊपर लिखा 'चरितं' ही कार्य नहीं करता, परंतु यह दोनों प्रकारका उठान भी बड़ा कार्यकारी होता है । पठक इसका उत्तम विचार करें ।

व्यापारके विरोधी ।

- १ सातप्रः = (सात) लाभका (प्र) नाश करनेवाले । जिनके कारण व्यवहारमें हानि होती है । (मं. ५)
- २ सातप्रः देघः = लाभका नाश करनेवाला जूदेबाज, खिलाही, (दिव्- 'जुना खेलना') इस धानुसे यह देव शब्द बना है । व्यवहारमें हानि होनेवाली आदतों-वाला मनुष्य । (मं. ५)
- ३ परिपन्थिन् = बटमार, चोर, छुटेरे, मार्गपर ठहरकर आनेजानेवालोंको जो छुटेरे हैं । (मं. १)
- ४ मृगः = पशु, पशुभाववाला मनुष्य । (मं. १)
- ५ अ-रातिः = कंजूस, दान न देनेवाला । (मं. १)
- ६ कर्त्नीयः (धनं) = व्यापारके लिये जितना धन चाहिये उतना न होना, धनकी कमी । (मं. ५)

इनके कारण व्यापार-व्यवहारमें हानि होती है, इसलिये इनसे बचनेका उपाय करना चाहिये ।

व्यापार-व्यवहार करनेमें जो विघ्न होते हैं उनका विचार इन शब्दोंद्वारा इस सूक्तमें किया है । पहले विक्रयी 'सातप्र देव'

है। पठक देवोंकी यहाँ विप्रकारी देवकर वाधर्मकित हो
जाये। परंतु वैदा मम करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

‘देव’ शब्दके अर्थ ‘जुआजी, खेलमें समय बितानेवाला’ ऐसा
भी होता है। यह अर्थ ‘दिव्’ धातुका ‘जवा खेलना’ अर्थ
है उस धातुसे सिद्ध होता है। जो व्यापारी अपना समय ऐसे
कर्मोंमें खर्च करेगा वे अपना मुक़्तान करेंगे और अपने
साथियोंको भी दुबा देंगे। यह उपलक्ष्य मानकर जो जो
व्यवहार व्यापारमें हाथि करनेवाले होंगे उन व्यवहारोंको
करनेवाले ‘साध्य देव’ समझना यहाँ उचित है। (साठ)
लामका (म) भाग करनेवाले (देव) व्यवहार करनेवाले लोग
यह इच्छा धर्य्य है। ‘देव’ शब्द ‘व्यवहार करनेवाले’
इस अर्थमें प्रचलित है।

‘परिपन्थी’ शब्दका प्रसिद्ध अर्थ खर दिना ही है। इसका
दूसरा अर्थ यह होता है कि ‘जो लोग कुमार्गसे जानेवाले हैं।’
धीरे राजमार्गसे न जाते हुए अन्य कुमार्गसे जाना बहुत समय
हासिहारक होता है। विशेष कर यह अर्थ यहाँ अभिप्रेत है
ऐसा हमारा विचार है।

व्यापारका मूठ घन अपना घरमाया भा कम नहीं रहने
चाहिये अन्यथा अन्य सब बातें ठीक होते हुए भी व्यापारमें
लाम नहीं हो सकता। इसलिये पंचम मंत्रकी सूचना कि (भा
कनीयः। मं. ५) अत्यंत ध्यान देने योग्य है। बहुत व्यवहार
कामकारी होते हुए भी आवश्यक घनकी कमी होनेके कारण वे
मुक़्तान करनेवाले होते हैं। जो मुक़्तान इस प्रकार होया वह
किसी अन्य युक्तिसे वा बुद्धिकी फ़लतासे पूर्ण नहीं होता,
क्योंकि यह कमी हरएक प्रसंगमें दृष्टाष्ट रूपसे करनेवाली होती
है। व्यापार करनेवाले शठक इससे योग्य शेष प्राप्त करें।

दो मार्ग ।

व्यापार करनेके लिये देशदेशांतरमें जाना आवश्यक होता
है। अन्यथा बना व्यापार होना असम्भव है। देशदेशांतर और
द्वीपद्वीपान्तरमें जानेके लिये संचन और सुरक्षित मार्ग चाहिये।
देशान्तरमें जानेके कई मार्ग सुरक्षित होते हैं और कई अय-
दानक होते हैं। जो सुरक्षित मार्ग होते हैं उनको ‘देवयानाः
पन्थानः’ (मं. २) कहा है। देवयान मार्ग वे होते हैं कि
बिनगर देवता सरय लीय जाते आते हैं, इस कारण वे मार्ग
रक्षित भी होते हैं ऐसे मार्गपर सटनार नहीं होती, व्यापारी
लोग अपना माल सुरक्षित रीतिसे ले जाते हैं और ले आते

हैं। जहा आनेजानेके ऐसे सुरक्षित मार्ग ही बड़ा ही व्यापार
करना लाभदायक होता है।

दूसरे मार्ग राज्ञां, अमूर्तों और पिशाचोंके होते हैं बिनपर
इन पिशाचोंका आना जाना होता है। ये ही ‘परिपन्थी’
अर्थात् बटमार, चोर लुटेरे बनकर धर्मवाहोंको लूट देते हैं।
इन मार्गोंसे जानेसे व्यापार व्यवहार अच्छा लाभदायक नहीं
हो सकता। इसलिये जहाँके मार्ग सुरक्षित न हों वहाँके मार्ग
सुरक्षित करनेके लिये प्रयास होना आवश्यक है। धामिज्यकी
बुद्धि करनेके लिये यह अत्यंत आवश्यक कर्तव्य है।

व्यापार अच्छी प्रकार होनेके लिये दूसरी आवश्यकता इस
बातकी है कि मार्गमें जहाँ जहाँ मुक़ाम करना आवश्यक हो
वहाँ खानपानके पदार्थ मनके अनुकूल सुगमसाधे मिलने चाहिये।
रहने सोने और खानपान आदिका सब प्रबंध बज्ञानाया रहना
चाहिये। उचित धन देकर घट्टेका प्रबंध विना खानाच होना
चाहिये, इस विषयमें द्वितीय मंत्र देखिये—

ते (पन्थानः) मा जुपन्तां पयसा घृतेन ।
तथा कीत्वा घनमाहरामि ॥ (स. १५, मं. २)

‘वे देशदेशान्तरमें जाने आनेके मार्ग सुधे सुखपूर्वक दूध,
धी आदि उपमोयके पदार्थ देनेवाले हों, जिससे मैं क्य आदि
करके धन कमनेका व्यवहार कर सकूँ।’ शत लो उक्त है कि
यदि देशदेशांतरमें प्रमण करनेवालेको मोत्रनादिखा सब प्रबंध
अपना खर्च ही करना पड़े तो उसका समय सधामें चला
जायगा, अनेक कष्ट होंगे, विदेशमें स्थानका परिचय न होनेके
कारण सब आवश्यक सामान इकट्ठे करनेमें ही व्यर्थ समय बला
जायगा। इसलिये मंत्रके कथनानुसार, ‘मार्ग ही उपमोयके
पदार्थोंसे तैयार रहेंगे’ तो अच्छा है। यह उपदेश बड़ा महत्व
पूर्ण है और व्यापार शुद्धिके लिये सर्वत्र इस प्रबन्धके होनेकी
अत्यंत आवश्यकता है।

ज्ञानयुक्त कर्म ।

हरएक कार्य ज्ञानपूर्वक करना चाहिये। इस विषयमें तृतीय
मंत्रका कथन अत्यंत विचारणीय है—

देवीं धियं ब्रह्मणा बन्द्मानः शतसेयाय ईडे ।
(स. १५, मं. ३)

‘दिव्य बुद्धि और कर्मशक्तिका ज्ञानसे उत्कार करता हुआ
मैं देवों सिद्धियोंकी प्राप्ति करनेका अधिकारी बनवा हूँ।’

यहाँका 'धी' शब्द 'प्रज्ञा, बुद्धि और कर्मशक्ति' का याचक है। ज्ञानपूर्वक हर एक कर्म करना चाहिये। जो काम करना हो, उस विषयमें जितना ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है उतना पहले करना और पश्चात् उस कार्यका आरंभ करना चाहिये। तभी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यह सिद्धिका सरल मार्ग है। दूसरी बात जो सिद्धिके लिये आवश्यक है वह यह है कि आरंभ किये कार्यमें रुकी स्थिर होनी चाहिये—

तास्मिन् स्थिं वा दधानु । (सू. १५, मं. ६)

'उस कार्यमें रुकी स्थिर होवे' यह बात अत्यंत आवश्यक है। नहीं तो कोई लोगोकी ऐसी चंचल वृत्ति होती है कि वे आज एक कार्य करते हैं, कल तीसरा हाथमें लेते हैं और परसू

पांचवेंका विचार करते हैं। ऐसे चंचल लोग कभी सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकते।

परमेश्वर मक्ति ।

सब कारोकी सिद्धिके लिये परमेश्वरकी मक्ति करनी चाहिये। इस विषयमें सप्तम और अष्टम मंत्रोंका कथन बड़ा मननीय है। 'ईश्वरकी नम्रतापूर्वक स्तुति, प्रार्थना, उपासना करना चाहिये।' क्योंकि वही शरण जाने योग्य है और उसीकी शक्तिद्वारा सबकी रक्षा होती है। प्रतिदिन नियत समयपर उसकी उपासना करनी चाहिये। अत्रिसे वह सब कामधन्देमें यश देगा, और धन, पुष्टि, सब आदि प्राप्त होंगे और कभी गिरावट नहीं होगी। ईश्वर उपासना तो सबकी उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक है। संपूर्ण सिद्धियोंके लिये इसकी बहुत आवश्यकता है।

॥ यहाँ तृतीय अनुषाक समाप्त ॥



प्रातःकालमें भगवान्की प्रार्थना ।

(१६)

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — बृहस्पतिः, बहुदेवत्यम्)

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विनौ ।	
प्रातर्मर्गं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोमंमुत रुद्रं हवामहे	॥ १ ॥
प्रातर्जितं मर्गमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदितेयोर्विंघता ।	
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुराश्विद्राजां चिद्यं मर्गं मक्षीत्याहं	॥ २ ॥
भग प्रणेतुर्मग सत्यराघो मगेमां धियमुदेवा ददन्नः ।	
भग प्र णौ जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम	॥ ३ ॥

अर्थ— (प्रातः अग्नि) प्रातःकाल अग्निकी, (प्रातः इन्द्र) प्रातःकालमें इन्द्रकी, (प्रातः मित्रावरुणौ) प्रातःकालके समय मित्र और वरुणकी, तथा (प्रातः अश्विनौ) प्रातःकाल अश्विनी देवोंकी (हवामहे) हम स्तुति करते हैं । (प्रातः पूषणं ब्रह्मणस्पतिं मर्गं) प्रातःकाल पूषा और ब्रह्मणस्पति नामक भगवान्की (प्रातः सोमं उत रुद्रं हवामहे) प्रातःकाल सोम और रुद्रकी हम प्रार्थना करते हैं ॥ १ ॥

(वयं प्रातर्जितं अदितेः उग्रं पुत्रं मर्गं हवामहे) हम प्रातःकालके समय अदितिके विजयी शूर पुत्र मर्गकी प्रार्थना करते हैं, (यः विघ्नतां) जो विधेय प्रकार धारण करनेवाला है । (आध्रः चित्) अशक भी और (तुरः चित् यं) बलवान् भी जिसकी तथा (राजा चित्) राजा भी (यं मन्यमानः) जिसका सन्मान करता हुआ (' मर्गं मक्षि ' इति ब्राह्मण) ' धनका माग मुझे दे ' ऐसा कहता है ॥ २ ॥

हे (भग) भगवन् । हे (प्र-नेतः) बड़े नेता । हे (सत्यराघः भग) सत्य सिद्धि देनेवाले प्रभो ! (इमां धियं ददत् नः उत अथ) इस बुद्धिकी देता हुआ तू हमारी रक्षा कर । हे (मर्गं) भगवन् ! (गोभिः अश्वैः नः प्रजनय) गौओं और घोड़ोंके साथ संतानवृद्धि कर । हे (भग) भगवन् ! हम (नृभिः नृवन्तः स्याम) अच्छे मनुष्योंके साथ रहकर मनुष्योंसे युक्त होंगे ॥ ३ ॥

भावाार्थ— प्रातःकालमें हम अग्नि, इन्द्र, मित्रावरुणौ, अश्विनौ, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम और रुद्र नामक भगवान्की प्रार्थना करते हैं ॥ १ ॥

हम इस प्रातःकालके समय अदीनताके वीर भगवान्की प्रार्थना करते हैं, जो भगवान् सनका विशेष प्रकारसे धारण करनेवाला है और जिसकी अशक और अशक, रंक और राजा, धर्मो एक प्रकारसे परम पूज्य मानते हुए, ' अपनेको भाग्यवान् ' करनेकी इच्छासे प्रार्थना करते हैं ॥ २ ॥

हे हम सबके बड़े नेता । हे सत्य सिद्धि देनेवाले प्रभो ! हे भगवन् ! हमारी इस शुद्ध बुद्धिकी शक्ति करता हुआ तू हमारी रक्षा कर । गौओं और घोड़ोंकी श्रद्धिके साथ साथ हमारी संतान वृद्धि होने दें । तथा हमारे साथ सदा श्रेष्ठ मनुष्य रहें, ऐसा कर ॥ ३ ॥

उतेदानां भगवन्तः स्यामोत् प्रपित्व उत मध्ये अह्वाम् ।
 उतोर्दितौ मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥

भग एव भगवाँ अस्तु देवस्तेनां वयं भगवन्तः स्याम ।
 तं त्वां भग सर्वं इज्जोहवीमि स नो भग पुरएता भवेद्द ॥ ५ ॥

समञ्चरायोपसो नमन्त दधिक्रावैव शुचये पदार्यं ।
 अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रयमिवाश्नां वाजिन आ वहन्तु ॥ ६ ॥

अश्वावतीर्गोमतीर्न उपासो वीरवतीः सदर्मुच्छन्तु मद्राः ।
 घृतं दुहाना विश्वतुः प्रपीता यूयं पात्र स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

अर्थ— (उत इदानां भगवन्तः स्याम) हम इस समय मागवान होवें (उत प्रपित्व उत मध्ये अह्वाम्) और सायंकालमें भी और दोपहरमें भी । हे (मघवन्) भगवन् ! (उत सूर्यस्य उदितौ) और सूर्यके उदयके समय (वयं देवानां सुमतौ स्याम) हम देवोंकी सुमतिमें रहें ॥ ४ ॥

(भगवान् भगः देवः अस्तु) भगवान् भगदेव मेरे साथ होवें (तेन वयं भगवन्तः स्याम) उसकी सहायतासे हम मागवान् होवें । (हे भग) भगवन् ! (तं त्वा सर्वं इत् जोहवीमि) उस दुसके मैं सब रीतिसे मज्जा हूँ (भग) भगवन् ! (सः नः पुरएता इह भव) वह तू हमारा लयुता यहाँ हो ॥ ५ ॥

(उपसः अश्वराय सं नमन्त) उपासो यज्ञके लिये उत्तम प्रकार झुकती रहें । (शुचये पदार्यं दधिक्रावा इव) जिस प्रकार शुद्ध स्थानपर पद रखनेके लिये धोना चाहता है । (वाजिनः अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे आ वहन्तु) जैसे इस और घनवाले भगवान्की मेरे पास ले आवें (अश्वा रयं इव) जैसे घोड़े रयको खाते हैं ॥ ६ ॥

(अश्वावतीः गोमतीः वीरवतीः मद्राः उपासाः) घोड़े, गौएँ और वीरोंसे युक्त कल्याणमयी उपासो (नः सदर्मुच्छन्तु) हमारे घरोंकी प्रकाशित करें । (घृतं दुहानां) धीकी प्राप्त करते हुए (विश्वतः प्रपीताः) सब प्रकार दूधपुष्ट होकर (यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात्र) तुम सब अनेक कल्याणोंके साथ सदा हमारी रक्षा कर ॥ ७ ॥

मावाये— हम प्रातःकाल, दोपहरके समय और सायंकालके समय ऐसे शुभकर्म करें कि जिससे हम मागदाता बनते जायें । हम सूर्यके उदयके समय देवोंकी उत्तम मतिके साथ युक्त हों ॥ ४ ॥

भगवान् परमेस्वर हयें माग्य देनेवाला होवें, उसकी कृपासे हम माग्यशाली बनें । हे भगवन् ! हम सब तेरा भजन करते हैं, इससे तू प्रसन्न हो और हम सबकी योग्य मार्गपर चलानेवाला हमारा मुन्दिया बन ॥ ५ ॥

उपःकालका समय अहिंसामय, अङ्कटिल, सङ्कर्मकी दिशाकी ओर झुक जाय और उन कर्मोंसे घनवान्, भगवान् हमारे अधिक सन्निध होते जायें ॥ ६ ॥

जिन उपासोंके समय घोड़े, गौएँ और दोग्रपुष्ट उत्साहसे कायोंमें लगे होते हैं ऐसी उपासों हमारे घरोंकी प्रकाशित करें । और ऐसी ही उपासों घृतकी प्राप्त करती हुई और सबकी दुग्धपान कराती हुई अनेक कल्याणोंके साथ हम सबकी रक्षा करें ॥ ७ ॥

प्रातःकालमें भगवान्की प्रार्थना ।

प्रातःकाल उठकर प्रभुकी प्रार्थना करना चाहिये । अपना मन शुद्ध और पवित्र बनाकर एकाग्रताके साथ यह प्रार्थना होनी चाहिये । इस समय मनमें कोई विरोधका विचार न उठे और परमेश्वरकी भक्तिका विचार ही मनमें जागता रहे । ऐसे शुद्ध मावसे उसके पवित्र समयमें की हुई प्रार्थना परमेश्वर देव सुनते हैं । इसीलिये—

सबका उपास्य देव ।

आध्वर्युचं मन्यमानस्तुरखिद्राजा चिचं मगं
मझीत्याह ॥ (सू. १६, मं. २)

इस समय 'निर्बल और बलवान्, प्रमानन और राजा समान मावसे प्रभुका आदर करते हुए उसके प्रार्थना करते हैं और उसके पास अपने माग्यका भाग मांगते हैं ।' क्योंकि निर्बल और बलवान्, शासित और शासक ये उसके सम्मुख समान मावसे ही रहते हैं । इस मंत्रके शब्द अधिक विचारकी दृष्टिसे देखने योग्य हैं इसलिये उन शब्दोंके अर्थ अब देखिये—
१ आध्वर्युः = आभार देने योग्य, जिसको दूसरेके सहारेकी आवश्यकता होती है, निर्बल, अशक्त, निर्धन ।

२ तुरः = त्वायुष, शांतासे कार्य करनेवाला, वेगवान्, आगे बढ़नेवाला, बलवान्, सामर्थ्यवान्, घनवान्, अपनी शक्तिसे आगे बढ़नेवाला ।

३ राजा = शासन करनेवाला, हुकूमत करनेवाला, दूसरोंपर आधिकार करनेवाला ।

यस राजा शब्दके अनुसंधानसे यही शासित होनेवाली प्रजाका भी बोध होता है । निर्बल, अशक्त, निर्धन, शासित, आदि लोग तथा बलशाली, समर्थ, धनी और शासन करनेवाले लोग ये सब यद्यपि जगत्में साधारण दृष्टिसे नीच और उच्च समझे जाते हैं; तथापि जगद्विघ्नता प्रभुके सम्मुख ये समान मावसे ही रहते हैं, उसके सामने न कोई उच्च है और न कोई नीच है, इसलिये उस प्रभुकी प्रार्थना तैसा ही समझते हैं । इस प्रकार अपने माग्यकी दृष्टि होगी ऐसा ही समझते हैं । इस प्रकार यह भगवान् परमपिता सबका एक जैसा पालक है । यह—

यः विघ्नतां । (सू. १६, मं. २)

'सबका विशेष रीतिसे धारण करनेवाला है' अन्य साधारण धारणकर्ता बहुत हैं, परन्तु यह प्रभु तो धारकोंका भी आभार है, इसीलिये इनके विशेष धारक कहते हैं । यह—

प्रातर्व्रित्तं अदितेः पुत्रं मगं । (सू. १६, मं. २)

' (प्रातः व्रित्तं) प्रातःकालमें ही विजयी है, अर्थात् अन्य वीर तो युद्ध करेगे और पश्चात् विजयी होंगे, इस कार्यके लिये उनको विजय कमानेके लिये कुछ समय अवश्य लगेगा, वैसा इसके लिये नहीं है । यह तो सदा विजयी ही है, काल गुरु होनेका प्रारंभ उषःकालसे होता है, उस उषःकालके प्रारंभमें ही यह विजयी होता है अर्थात् पश्चात् तो इसका विजय होगा ही, परन्तु इसका प्रारंभ ही विजय हुआ है, यह बात यदा बतायी है ।

अदीनताका रक्षक ।

'दिति' नाम पराधीनता या दानताका है और 'अदिति' का अर्थ है स्वतंत्रता, स्वाधीनता या अदीनता । इस स्वाधीनताका यह (पु-त्र = पुनरिति च प्रायते च इति पुत्रः) पवित्रता युक्त कारण करनेवाला है । इसीलिये यह माग्यवान् होनेसे 'मग' कहलाता है । जो कोई इस पवित्रताके साथ स्वाधीनताकी रक्षा करेगा वह भी माग्यवान् होगा और ऐश्वर्यवान् भी होगा । 'अ-दितिका पुत्र' होना बड़े पुण्यकार्यका कार्य है, यह साधारण बात नहीं है । परमात्मा तो स्वयंभूद स्वाधीनताका रक्षक है, इसलिये उसको यह सिद्धि स्वमावसे ही भिद है अर्थात् विना प्रयत्न प्राप्त है । पुरुषार्थी मनुष्य अपनेपुरुषार्थसे स्वाधीनताका रक्षक होता है, इसको यह सिद्धि परमात्मोपासनासे ही प्राप्त हो सकती है । इसकी उपासना कौन किस रूपमें करते हैं इसका वर्णन प्रथम मंत्रमें दिया है—

उपासनाकी रीति ।

'अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, अश्विनी, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम, स्वरूप भयकी हम उपासना करते हैं । (मं. १)' यह इस मंत्रका अर्थ है । एक ही परमात्मान देवके ये गुणबोधक विशेषण हैं । इस सूक्तमें 'मग' अर्थात् ऐश्वर्यकी प्रधानता होनेसे इस सूक्तमें 'मग' शब्द मुख्य और अन्य शब्द उसके विशेषण हैं । परन्तु यदि किसीको अन्य गुणोंकी उपासना करना हो तो उस गुणका वाचक शब्द मुख्य मानकर अन्य शब्दोंको उसके विशेषण माना जा सकता है । जैसा—

(१) माग्यप्राप्तिकी इच्छा करनेवाला 'मग' नामको मुख्य मानकर उपासना करे । (२) ज्ञानप्राप्तिकी इच्छा करनेवाला 'ब्रह्मणस्पति' नामको मुख्य मानकर उपासना करे । (३) प्रभुत्वका सामर्थ्य चाहनेवाला 'इन्द्र' नामको मुख्य मानकर उसीकी उपासना करे । (४) पुष्टि चाहनेवाला 'पूषा' नामको मुख्य मानकर उसकी उपासना करे । (५) शक्ति चाहनेवाला 'सोम' नामको मुख्य मानकर अन्य नामोंके उसके

विशेषण माने और उपासना करे । (६) उग्रताकी इच्छा करने-
वाला 'उग्र' नामकी मुख्य मानकर उपासना करे, इन्हीं प्रकार
अन्यन्य नामोंको मुख्य या गौण अपनी कामनाके अनुसार माने
और उन्हीं प्रभुकी उपासना कर अपनेमें उस गुणकी वृद्धि करे ।
उन्हीं एक प्रभुके ये नाम हैं, क्योंकि 'एक ही प्रभुके अग्नि आदि
अनेक नाम होते हैं, एक ही सद्ब्रह्मका कवि लोग भिन्न भिन्न
नामोंसे वर्णन करते हैं ' इस वैदिक शैलिके अनुसार इस प्रथम
मंत्रमें अग्नि सप्त शब्द एक ही परमात्माके वाचक हैं । इस
कारण किन्हीं गुणको प्रधान मानकर प्रभुकी उपासना ही जाय
तो उसीकी उपासना होती है और जिस गुणका चिन्तन किया
जाय उसीकी वृद्धि होती जाती है । मन जिसका ध्यास लेता है
वह गुण मनमें बढ़ता है, इस नियमके अनुसार वह उपासना
होती है । इन गुणोंका चिन्तन करनेको सुविधा होनेके लिये यहाँ
इन शब्दोंके विशेष अर्थ देते हैं—

- १ अग्निः = तेज, प्रकाश उष्णता, और गति करनेवाला ।
- २ इन्द्रः = शत्रुओंको दूर करनेवाला, ऐश्वर्यवान्, नियामक,
शासन करनेवाला, राजा ।
- ३ मित्रः = मित्र दृष्टिसे सबोंपर प्रेम करनेवाला, सबका हित
करनेवाला ।
- ४ वरुणः = श्रेष्ठ, निष्पक्षपाततासे सत्यासत्यका निरीक्षण
करनेवाला, वरिष्ठ ।
- ५ अश्विनौ = धन और ऋण शक्तिसे युक्त, बेगवान् । सर्व-
व्यापक, सर्वत्र उपस्थित ।
- ६ भृगुः = मायवान्, ऐश्वर्य युक्त, धनवान् ।
- ७ पूषा = पोषक, पुष्टि करनेवाला ।
- ८ ब्रह्मण्यस्पतिः = ज्ञानका स्वामी, ज्ञानी ।
- ९ सोमः = शांत, आत्मादायक, क्लान्तिधि, क्लान्तान्,
मधुर, प्रसन्नता करनेवाला ।
- १० रुद्रः = उग्र, प्रचण्ड, भयानक, गर्जना करनेवाला, वीर,
धर, वीरभद्र, शत्रुविध्वंसक वीर, शत्रुको रक्षानेवाला ।

प्रथम मंत्रोक्त दस शब्दोंके ये अर्थ हैं । पाठक इन शब्दोंके
मनसे प्रभुकी उपासना कर सकते हैं । जिस गुणकी अपनेमें
बढ़ानेकी इच्छा हो उस गुणवाचक शब्दसे प्रभुका ध्यान करना
और अन्य शब्द उन्हींके गुणबोधक विशेषण मानना यह उपा-
सनाकी रीति है । इस प्रकार मनन और निदिध्यासन करनेसे
मनका वायुमंडल ही उस प्रकारका बनता है और आवरणक गुण
मनमें विकसित होने लगता है । यहाँ पाठक स्मरण रखें कि,
अपनी उन्नतिके लिये अपने मनके अंदरका वायु मंडल वैसा
बनानेको आवश्यकता है, इसीलिये तृतीय मंत्रमें कहा है—

धारणा ।

इमां धियं ददध्नः उद्व । (सू. १६, मं. ३)

' इस बुद्धिको बढ़ाते हुए हमारी उन्नत अवस्था करके हमारी
रखा कर ' यहाँ प्रार्थनामें धन नहीं मागा है, परन्तु 'बुद्धि'
मांगी है, यह ' धारणावती बुद्धि ' जो कर्म शक्तिये युक्त रहती
है वह है, यह बात विशेष रीतिते ध्यानमें धरना आवश्यक है ।
भाग्य प्राप्त करना हो, धन ऐश्वर्य बढ़ाना हो अपना प्रभुत्व
संपादन करना हो, तो इस सबके लिये पुढार्याय करनेमें समर्थ
धारणावती बुद्धिकी आवश्यकता है, इसके बिना उन्नति असंभव
है । धी शब्दमें जैसा बुद्धिमत्ताका भाव है उसी प्रकार पुढार्या-
मयी कर्मशक्ति का भी भाव है यह भूतना नहीं चाहिये । यह
धी जितनी बढ़ेगी उतनी मनुष्यकी योग्यता बढ़ जाती है ।
जिस बुद्धिमें ज्ञानशक्ति पुढार्याय शक्तिके साथ संमिलित रहती
है वह बुद्धि हमें चाहिये यह इच्छा ' इमां धियं ' शब्दोंमें है ।
प्रथम और द्वितीय मंत्रोंमें जो बुद्धि और कर्मशक्ति विकसित
करनेका उपदेश किया गया है वह बुद्धि यहाँ तृतीय मंत्रमें
(इमां धियं ददध्नः) ' इस बुद्धिको दो ' इन शब्दोंमें मांगी
है । यहाँ प्रश्न होता है कि कीनकी बुद्धि प्रथम द्वितीय मंत्रोंमें
कहीं है ? इसका उत्तर उक्त मंत्रोंके मनसे मिल सकता है ।
मन करनेके लिये इससे पूर्व शब्दार्थ दिये ही हैं, परन्तु विशेष
स्पष्टताके लिये यहाँ थोड़ा स्पष्टीकरण करते हैं—

उपासना --(और उससे सिद्ध होनेवाली)-- धारणा ।

मंत्रका शब्दार्थ --(और उससे उद्दीपित होनेवाला)-- बुद्धिका भाव ।

प्रथम मंत्र ।

(अग्नि) तेजस्वी, परन्तु (सोमं) शांत मीठे स्वभाववाले
(मित्रा-वरुणौ) मित्र दृष्टिसे सबको देखनेवाले और निष्पक्ष-
पाती होकर सत्यासत्य देखनेवाले (पूषण) पोषणकर्ता
(ब्रह्मण्यस्पति) ब्रह्महानी देवकी प्रार्थना में प्राप्तःकालमें
करवा है ।

(१)

(१) मैं तेजस्वी बनूँगा, परन्तु (२) शांत और मीठा
स्वभाव धारण करके, (३) मित्रदृष्टिसे सब भूतमात्रको देखूँगा,
(४) निष्पक्षतासे सत्यासत्यकी परीक्षा करूँगा, (५)
अन्तोंकी यथाशक्ति सहायता देकर उनका पोषण करूँगा और
(६) अपने अन्दर ज्ञान बढ़ाऊँगा ।

(अधिनो) वेगवान् धनद्वय शक्तिकाले और (ह्रं) शत्रुको धननेवाले (मगं) माग्य युक्त (इन्द्रं) शत्रुओंको दूर करनेवाले शासनकर्ता प्रभुकी मैं प्रातःकालके समय प्रार्थना करता हूँ ।

द्वितीय मंत्र ।

(प्रातर्जितं) नित्य विजयो (उमं) सप्त शरवीर प्रभुकी मैं प्रातःकाल प्रार्थना करता हूँ । इसी प्रभुकी भक्ति अथक और सशक्त, रंक और राजा धर्म करते हैं और अपने माग्यका माग्य उद्योग मांगते हैं, क्योंकि वह (विषर्ता) सबका धारक और (अदितेः) बंधन रहित अजरका (पु-त्रः) पावन-कर्ता और तारककर्ता है ।

उपासनाके मंत्रोच्चि धारणा किस प्रकार होती है यह रीति यहाँ दी है । पुत्र पिताके समान बनता है, पिता करता है वह पुत्र करने लगता है, यहाँ बात परम पिताके गुणगानके संबंधमें होती है । क्योंकि इस आवात्मरूप 'अमृत पुत्र' ने परमात्माके समान सच्चिदानन्द स्वरूपको प्राप्त करना ही है, उसी मार्गपर यह चल रहा है और इसीलिये वह उपासना करता है ।

(१) 'परमेश्वर ज्ञानी है' इतना वाक्य कहते ही मनमें भावना उठती है कि 'मैं भी ज्ञानी बनूँगा और अधिक ज्ञान प्राप्त करूँगा ।' (२) 'परमेश्वर शत्रुनिवारक है' इतना कहते ही मनमें भावना उठती है कि 'मैं भी शत्रुओंका निवारण करके शत्रुहित हो जाऊँ ।' (३) इसी प्रकार 'परमेश्वर ऐश्वर्यमय है' इतना कहते ही मनमें भावना उठती है कि 'मैं भी ऐश्वर्य कमालका पुत्रप्राप्त करूँ ।' (४) इसी रीतिसि 'परमेश्वर इस सब विश्वका कर्ता है' इतना कहते ही मनमें यह भावना खड़ी होती है कि 'मैं भी कुछ हुनर बनाऊँ ।' इसी प्रकार अन्यान्य उपासनाका धारणायें संबंध हैं । यह जो बुद्धिमें स्थिर रूपमें विशिष्ट विचारकी भावना कम जाती है उसका नाम 'धी' है । पाठक जब समझ गये होंगे कि प्रथम और द्वितीय मंत्रकी उपासनासे जो धारणावर्ती बुद्धि बनती है वह कर्ममयी ज्ञानसाधक कैसी है और वह मनुष्य मात्रका उद्धार करनेके लिये किस प्रकार सहायक हो सकती है ।

इमां धियं ददन् नः उत् अव । (सू. १६, मं. ३)
'इस धारणावर्ती बुद्धिके देकर हमारी उन्नती करते हुए हमारी रक्षा कर ।'

इस तृतीय मंत्रके उपदेशमें कितना महत्वपूर्ण भाग है, इसका विचार पाठक करें और इस ईश्वर मंत्रकी उपासनामय वाणीसे अपने उद्धारका मार्ग जानकर पाठक अपने अमृतदय और निःश्रेयसका साधन करें ।

१० (अथर्व. भाष्य, कण्ड ३)

(१) मैं अपना वेग बढाकर (२) शत्रुको धनाने योग्य पराक्रम युद्धमयिपर करूँगा और (३) माग्यवान् बनकर अपने सब शत्रुओंको दूर करके उत्तम व्यवस्थासे शासन करूँगा ।

(२)

मैं प्रातःकालमें अपने विजय साधनका विचार करता हूँ, उसके लिये आवश्यक उपाय धारण करूँगा और परमेश्वर भक्तिपूर्वक अपनी अशंका और स्थायीताकी रक्षाके लिये अर्पणमय यत्न करूँगा तथा अपने अन्दर सब प्रकारकी पवित्रता बढाना हुआ अपने अन्दर रक्षकशक्ति भी बढाऊँगा ।

सत्यका मार्ग ।

तृतीय मंत्रमें 'प्रणेतः' और 'सत्यराधः' ये दो शब्द विशेष महत्त्वके हैं । 'प्र-नेता' का अर्थ 'उत्कर्षकी ओर ले जानेवाला नेता' तथा 'सत्य-राधः' का अर्थ 'सत्यके मार्गमें सिद्धि प्राप्त करनेवाला' है । ये दोनों शब्द परमात्माके गुण बता रहे हैं । परमात्मा सबको उन्नतिकी मार्गकी ओर ले जा रहा है और सत्यमार्गसे ही सबको सिद्धि देता है, उसलिये ये दो शब्द परमात्मामें साध्य होते हैं । ये दो शब्द मनुष्योक्ति वाचक भी होते हैं, उस समय इनका अर्थ बड़ा बांधपट्ट है । मनुष्य तथा मनुष्योक्ति नेता इन शब्दोंको अपन आचारणमें अपनेमें धरितार्थ करें । मनुष्योक्ति नेता अपने अनुशासकोंको उत्कर्षके मार्गमें ले जावें और सिद्धिके लिये सत्यके साध मार्गमें ही अपना कार्य करें और यश प्राप्त करें । ऐसे सत्य मार्गमें सिद्धि प्राप्त करनेवाले मनुष्योंको ही 'तु अयथा नर' कहते हैं और ऐसे श्रेष्ठ सत्य नेताओंके साथ रहनेसे ही मनुष्यको मनुष्योक्ति साथ रहनेका सुख प्राप्त हो सकता है, इसीलिये कहा है—

तुभिः नृवन्तः स्याम । (सू. १६, मं. ३)

'श्रेष्ठ मनुष्योंके साथ होनेसे हम मनुष्य युक्त बननेगे । यहाँका 'नृवान्' शब्द 'मानुमान्, पितृमान्' शब्दके समान अर्थवाला है, जैसा — (मानुमान्) प्रशंसनीय गुणवाली मातासु युक्त, (पितृमान्) प्रशंसनीय मूलवाले पितासु युक्त, इसी प्रकार (नृवान्, नृवान्) प्रशंसनीय श्रेष्ठ मनुष्योंसु युक्त । नहीं तो हरएक मनुष्यके साथ कैसे भी मनुष्य रहते ही हैं । चोकि साथ में उनके साथी रहते ही हैं, तथापि उस चोकि 'नृमान्' नहीं कहा जा सकता । अन्तरे मनुष्योंके साथ रहनेसे ही मनुष्यका अमृतदय होना संभव है, इसलिये 'अपने साथ अच्छे मनुष्य रहें' ऐसी इच्छा यहाँ पकट की गई है । इस प्रकार

अच्छे मनुष्योंकी साधनितनेसे निःसंदेह मनुष्योंका कल्याण हो सकता है ।

द्वौकी सुमति ।

' हम प्रातःकाल, दोपहरके समय और सायंकाल ऐसे कर्म करें, कि जिससे हम (भगवन्तः) भाग्यवान बनते प्रायः । तथा हम देवोंकी उलान मारिमें रहें । (मं. ४) ' यह चतुर्थ मंत्रका कथन है । यहाँ दिन भर पुरुषार्थ प्रयत्न करनेकी सूचना है । प्रातःकाल क्या, दोपहरके समय क्या और सायंकालके समय क्या अपना ऐश्वर्य बढ़ानेका पुरुषार्थ करना चाहिये । कलमार्गसे चलते हुए ऐसे कर्म करना चाहिये कि जिससे भाग्य प्राप्त हो ।

यहाँ भाग्य प्राप्त होना है, यहाँ मनुष्यमें स्वार्थ उत्पन्न हो सकता है और कल तथा कलमार्गका विचार भाग्यकी धुंधले रह नहीं सकता, इसलिये भाग्यप्राप्तिका उपाय करनेका उपदेश करनेवाले इस मंत्रमें कहा है कि—

वयं देवानां सुमतेः स्याम । (सू. १६, मं. ४)

' हम देवोंकी सुमतिमें रहें । ' अर्थात् भाग्य प्राप्त करनेके समय हमसे ऐसा आचरण हो कि जिससे देव असंतुष्ट न हों, हमारे ऊपर अप्रसन्न न हों, प्रसुप्त हमारे दिव्यमें उत्तम भाव ही उनके मनमें सदा रहे । हमसे ऐसे कर्म हों कि जिनसे वे सदा संतुष्ट रहें । इस मंत्रमें यह आश्वासनाकी सूचना अज्ञात महत्त्व रखती है, क्योंकि भाग्य और ऐश्वर्य ऐसे पदार्थ हैं कि जो प्राप्त होनेसे अथवा जिनकी प्राप्तिकी इच्छासे मनुष्य सुमार्गपर रहना कठिन है । पन्ध्र वेदकी सुमार्गपरसे मनुष्योंको बलाते हुए ही उनको भाग्य देना अभीष्ट है, इसलिये यहाँ मिलनेकी संभावना होती है यहाँ ही इस प्रकारकी आश्वासनाकी सूचना दी होती है । ताकि मनुष्य न गिरे और भाग्य भी प्राप्त करें । पंचम मंत्रमें—

स नो भगः पुरपता मघेह । (सू. १६, मं. ५)

' यह भगवान् ही हमारा अनुपा बने ' यह उपदेश कहा है यह भी इसी उद्देशसे है, कि मनुष्य परमात्माको ही अपना अमगामो समझें और अपने आपको उसके अनुयायी समझें और उधीके प्रकाशमें कार्य करते हुए अपनी सञ्जातिके कार्य करते हुए अपनी सञ्जातिके कार्य करें । गिरावटसे बचानेके हेतुसे यह उपदेश है । सर्वत्र परमेश्वर अपना निरीक्षण है वह विश्वास मनुष्योंको गिरावटसे बहुत प्रकारसे बचा सकता है ।

अहिंसाका मार्ग ।

यह मंत्रमें अश्वरके मार्गसे जानेका उपदेश है, यह अश्वरका

मार्ग देखनेके लिये अश्वर शब्दका अर्थ ही देखना चाहिये—

अश्वर— (अ-श्वरा) अश्वदिलता, यहाँ ठेगानन नहीं है, यहाँ घोषा भाव है, यहाँ हिंसा नहीं है, यहाँ दुःखोंका घातपात करनेका भाव नहीं है, यहाँ दुःखोंको यह देकर अपना स्वार्थ साधन करनेका विचार नहीं है ।

ये ' अ-श्वर ' शब्दके अर्थ इस मार्गका स्वरूप बता रहे हैं । इस अहिंसाके मार्गसे जाना और पंचम मंत्रका ' परमेश्वरको अपना अनुपा बनाना ' चतुर्थ मंत्रका ' देवोंकी सुमतिमें रहना ' ; और तृतीय मंत्रका ' कल मार्गसे सिद्धि प्राप्त करना ' एक ही बात है । इस दृष्टिसे ये चारों मंत्र निश्च निश्च उपदेशसे एक ही आशय बता रहे हैं । पाठक यहाँ देखें कि इस सूत्रमें यह एक ही बात कितने विविध प्रकारोंसे कही है, इससे स्पष्ट पता लग सकता है कि वेदका कटाक्ष अहिंसामय कलमार्गसे लोगोंको चलानेके विषयमें कितना अधिक है ।

गौत्र और घोडे ।

इस सूत्रके तृतीय मंत्रमें ' गौत्रो और घोडेके साथ हमें युक्त हूँ ' ऐसा कहा है । कलम मंत्रमें भी यहाँ बात फिर दुहराई है । इससे परमै गौत्र और घोडे रहना वेदकी दृष्टिसे परका मूषण है, यह बात सिद्ध होती है ।

कलम मंत्रमें (घृते दुहानाः) ' घीका दोहन करनेशानी ' और (विश्वतः प्रपीताः) ' सब प्रकार दुग्धपान करानेवाली ' यह उपाका वर्णन संवरेके समय दुग्धका दोहन करना, दोहन होते ही ताजा दूध पीना, मक्खनसे घी तैयार करना इत्यादि बातोंका सूचक है । परमै गौत्रोंकी इच्छाकिये रहना होता है कि उनका ताजा दूध पीनेके लिये मिले और कलके दूधके दहीसे आभ निकाला हुआ मक्खन लेकर लक्षका आभ ही पी बनाकर खेवन किया जाय । ऐसे घोडों ' हैरंगवीन घृत ' करते हैं । यह घृत खाने या पीनेसे शरीरकी पुष्टि होती है और इसके इवनसे हवा नीरोगी भी होती है ।

अमण !

इस प्रकार दुग्धपान करनेके पश्चात् घोडोंपर सवार होकर अमणके लिये बाहर जाना चाहिये और घण्टा दो चप्पे घोडेकी सवारी करके पश्चात् पर आकर अपने कार्यको लगना चाहिये । बहुत घोडे पाठक ऐसे होंगे जिनको संवरे परकी घोडा ताजा दूध पीनेके लिये मिलता ही और अपने उत्तम घोडोंपर सवार होकर संवरेके भागप्रद वायुमें अमण करनेका सामान्य प्राप्त होता हो । आशय समय विपरीत है । ऐसे समयमें ऐसी वैदिक रीतिना केवल संरक्षण ही रहना चाहिये ।

कृषिसे सुख-प्राप्ति ।

(१७)

(ऋषिः — विश्वामित्रः । देवता — सीता)

सीरां युञ्जन्ति कृवयौ युगा वि तन्वते पृथक् ।
 धीरां देवेषु सुम्नयौ ॥ १ ॥
 युनक्तु सीरा वि युगा तनीत कुते योनौ वपतेह बीजम् ।
 विराजः श्रुष्टिः समरा असन्नो नदीय इत्सुष्युः पक्ष्मा यवन् ॥ २ ॥
 लाङ्गलं पवीरवत्सुशीर्म सोमसत्सरु ।
 उदिद्वपतु गामर्वि प्रस्थावदरुवाहनं पीवरी च प्रफुर्व्यम् ॥ ३ ॥
 इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषामि रक्षतु ।
 सा नः पर्यस्वती दुहामृचरामृतरां समां ॥ ४ ॥

अर्थ— (देवेषु धीराः कृवयाः) देवोंमें बुद्धि रखनेवाले कवि लोग (सुम्नयौ सीरा युञ्जन्ति) सुख प्राप्त करनेके लिये हलोंको जोतते हैं और (युगा पृथक् वितन्वते) जुओंको अलग अलग करते हैं ॥ १ ॥

(सीराः युनक्तु) हलोंको जोदो, (युगा वितनीत) जुओंको फैलाओ, (कुते योनौ वपतेह बीजम्) बने हुए बीजमें यहाँपर बीज बोओ । (विराजः श्रुष्टिः नः समराः असत्) अन्नकी उपज हमारे लिये भरपूर होवे । (सुष्युः इत् पक्ष्मं नदीयः आयवन्) ईश्वर भी परिपक्व धान्यको हमारे निकट लावे ॥ २ ॥

(पवीरवत् सुशीर्म सोमसत्सरु लाङ्गलं) वज्रके समान कठिन, चलानेके लिये सुबकारक, लकड़ीके मूलवाला हल (गां अर्वि) गी और बकरी, (प्रस्थावत् रथवाहनं) शीघ्रगामी रथके घोड़े या बैल, (पीवरी च प्रफुर्व्यम्) पुष्ट बी (इत् उद्वपतु) नियमसे देवे ॥ ३ ॥

(इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु) इन्द्र हलकी रेषाको पकड़े, (पूषा तां अमिरक्षतु) पूषा उसकी रक्षा करे । (सा पर्यस्वती नः उत्तरां उत्तरां समां दुहां) वह हलकी रेषा रथ युक्त होकर हमें अपने आनेवाले वर्षोंमें रसोंका प्रदान करे ॥ ४ ॥

भावार्थ— धूम्रिभ्यादि देवताओंकी शक्तियोंपर विश्वास रखनेवाले कवि लोग विशेष सुख प्राप्त करनेके लिये हलोंको जोतते हैं अर्थात् कृषि करते हैं और जुओंको यथा स्थानपर बीज देते हैं ॥ १ ॥

हे लोगो ! तुम हल जोतो, जुओंको फैलाओ, अच्छी प्रकार भूमि तैयार करनेके बाद उसमें बीज बोओ । ईश्वर अन्नकी उत्पन्न उपज होगी, बहुत धान्य उपजगा और परिपक्व होनेके बाद बहुत धान्य प्राप्त होगा ॥ २ ॥

हलको लोहेका कठिन सार लगाया जावे और लकड़ीकी मूठ पकड़नेके लिये की जावे, यह हल चलानेके समय सुख देवे । यह हल ही गी-बैल, भेड़-बकरी, घोड़ा-घोड़ी, बौ-पुरुष आदिकी उत्तम धास और धान्यादि देकर पुष्ट करता है ॥ ३ ॥

इन्द्र अपनी शक्तिद्वारा हलके खुरी हुई रेषाको पकड़े और धान्य पोषक मूर्त उसकी उत्पन्न रक्षा करे । यह भूमि हमें प्रति-वर्ष उत्तम रस युक्त धान्य देती रहे ॥ ४ ॥

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं क्रीनाशा अनु यन्तु वाहान् ।

शुनासीरा हविषा तोयमाना सुपिप्पला ओपधीः कर्तमसै ॥ ५ ॥

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृपतु लाङ्गलम् ।

शुनं वरत्रा वष्यन्तां शुनमष्टासुर्दिङ्गय ॥ ६ ॥

शुनासीरिह स मे जुषेयाम् ।

यदिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुर्षे सिञ्चतम् ॥ ७ ॥

सीते वन्दांमहे त्वावाचीं सुभगे भव ।

यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥ ८ ॥

घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ।

सा नः सीते पर्यसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना ॥ ९ ॥

अर्थ— (सु-फालाः भूमिं शुनं वि तुदन्तु) सुन्दर हलके फाल भूमिकी सुखपूर्वक खोदें । (क्रीनाशाः शुनं वाहान् अनु यन्तु) किसान सुखपूर्वक बैलके पीछे चलें । (शुनासीरौ) हे वायु और हे सूर्य ! तुम दोनों (हविषा तोयमानौ) हमारे हवनसे तृप्त होकर (असौ सुपिप्पलाः ओपधीः कर्तम्) इस किसानके लिये उत्तम फल युक्त पान्न उत्पन्न करो ॥ ५ ॥

(वाहाः शुनं) बैल सुधी हों, (नरः शुनं) मनुष्य सुधी हों (लाङ्गलं शुनं कृपतु) हल सुखसे कृषि करें । (वरत्रा शुनं वष्यन्तां) रस्वियां सुखसे बांधी जाय, (अष्टां शुनं उर्दिङ्गय) चारूक सुखसे ऊपर चला ॥ ६ ॥

हे (शुनासीरौ) वायु और सूर्य ! (इह स मे जुषेयां) यहां मेरे हवनका स्वीकार करें । (यत् पयः दिवि चक्रथुः) जो जल आकाशमें तुमने बनाया है (तेन इमां भूमिं उप सिञ्चतं) उससे इस भूमिकी सींचते रहो ॥ ७ ॥

हे (सीते) जुती हुई भूमि ! (त्वा वन्दानहे) तेरा वन्दन करते हैं । हे (सुभगे) ऐश्वर्यवाली भूमि ! (अवाची भव) हमारे सम्मुख हो । (यथा नः सुमनाः असः) जिससे तू हमारे लिये उत्तम मनवाली होवे और (यथा नः सुफला भुवः) जिससे हमें उत्तम फल देनेवाली होवे ॥ ८ ॥

(घृतेन मधुना समक्ता सीता) घी और शहदसे उत्तम प्रकार सिंचित की हुई जुती भूमि (विश्वैः देवैः मरुद्भिः अनुमता) सब देवों और मरुतों द्वारा अनुमोदित हुई, हे (सीते) जुती भूमि ! (सा घृतवत् पिन्वमाना) वह पीछे सिंचित हुई वृ (नः पर्यसाभ्याववृत्स्व) हमें दूधसे चारों ओरसे युक्त कर ॥ ९ ॥

भाषार्थ— हलके सुन्दर फाल भूमिकी खुदाई करें, किसान बैलके पीछे चलें । हमारे हवनसे प्रसन्न हुए वायु और सूर्य इस कृषिसे उत्तम फलवाला रस युक्त औषधियां दें ॥ ५ ॥

बैल सुधी रहें, सब मनुष्य आनंदित हों, उत्तम हल चलाकर आनंदसे कृषि की जाय । रस्वियां जहां जैसी बांधना चाहिये वैसी बांधी जाय और आवश्यकता होनेपर चारूक ऊपर उठाया जाय ॥ ६ ॥

वायु और सूर्य मेरे हवनका स्वीकार करें और जो जल आकाशमें डलमें है उसकी वृष्टिसे इस पृथ्वीको सिंचित करें ॥ ७ ॥ भूमि भाग्य देनेवाली है, इसलिये हम इसका आदर करते हैं । यह भूमि हमें उत्तम पान्न देती रहे ॥ ८ ॥

जब भूमि घी और शहदसे योग्य रीतिसे सिंचित होती है और जलवायु आदि देवोंकी अनुकूलता उसकी मिलती है, तब वह हमें उत्तम मधुर रस युक्त पान्न और फल देती रहे ॥ ९ ॥

कृषिसे भाग्यकी वृद्धि ।

कृषिसे भाग्यकी वृद्धि होती है । भूमिकी अवस्था, वायु और वृष्टिकी परिस्थिति, ऋतुमानकी अनुकूलता जो जानते हैं, वे कृषि करके लाभ उठा सकते हैं और सुखी हो सकते हैं ।

सबसे पहले किसान हल जोतें, हलसे भूमी अच्छी प्रकार उखाड़ी जाय, हलकी लकीरें ठीक की जाय और उन लकीरोंके अंदर बीज बोया जाय, ऐसा करनेसे उत्तम धान्य पैदा हो सकता है ।

जब हलसे उत्तम कृषि की जाती है तब धान्य भी उत्तम उत्पन्न होता है, घास भी विपुल मिलता है और सब पशु तथा मनुष्य बहुत पुष्ट हो जाते हैं ।

हलसे खुदी हुई भूमिकी (इन्द्रः सीतां नियुक्ताः) वृष्टि करनेवाला इन्द्र देव अपने जलसे पकड़े, पश्चात् उसका उत्तम रक्षा (पूषा) सूर्य अपनी किरणोंसे करे । इस प्रकार वृष्टि और सूर्यप्रकाश योग्य प्रमाणमें मिलते रहे तो उत्तम कृषि होगी और धान्यादि बहुत प्रमाणमें प्राप्त होगा ।

धान्य बोनेके पूर्व हवन ।

पञ्चम मंत्रमें उत्तम वृषि होनेके लिये प्रारंभमें खेतमें हवन करनेका उल्लेख है । जो धान्य बोना है उसका हवन करना चाहिये और हवनके लिये घृतादि अन्य पदार्थ तो अवश्य चाहिये हों । इस प्रकारके हवनसे जलवायु शुद्ध होता है और शुद्ध कृषिसे शुद्ध धान्य उत्पन्न होता है । इस हवनसे दुष्टों की एक बात स्वयं ही जाती है, वह यह है कि जिसका हवन करना होता है वही बोना होता है, इस नियमसे हवनमें निषिद्ध तमाकू आदि पातक पदार्थ बोनेकी संभावना ही कम हो जाती है । इसके स्पष्ट है, कि यदि बोनेके पूर्व हवनकी वैदिक प्रथा कारी की जाय तो तमाकू जैसे हानिकारक पदार्थ जगत्में जनताका इतना घात करनेके लिये उत्पन्न ही नहीं होंगे और उत्तम धान्यादिकी विपुल उत्पत्ति होकर लोगोंका अधिक कल्याण होगा ।

खादके लिये घी और शहद !!

नवम मंत्रमें (घृतेन मधुना पयसा समक्का सीता) घी,

शहद और दूधका खाद वनस्पतियोंको बालनेका उपदेश है । आजकल तो ये पदार्थ मनुष्योंकी खानेके लिये भी नहीं मिलते तो खादके लिये, अल्प प्रमाणमें ही क्यों न सही, कदा मिलेंगे ? परंतु शुद्ध पौष्टिक फल उत्पन्न करनेके लिये दूध, घी और शहदका खाद अत्यंत आवश्यक है, यह बात ध्य है ।

ऐतिहासिक उदाहरण ।

पूनाके पेशवाओंके समयमें कई आम इस पंचामृतका खाद देकर तैयार किये थे, उनमेंसे एक आमका वृक्ष इस समयतक अविनाशित है और ऐसे मधुर आम खादु फल दे रहा है कि उसका वर्णन शब्दोंसे ही नहीं सकता ।। पंचामृत (दूध, दही, घी, शहद और मिथी) के खादसे जो आम पुष्ट होता हों उसके फल भी वैसे ही अद्भुत अमृत रूप अवश्य होंगे इसमें संदेह ही क्या है, यह प्रत्यक्ष उदाहरण है, तथा वार्दिके एक पण्डितने आर्य कृषि शास्त्रके अनुसार दूधका खाद देकर एक वर्ष ज्वारीकी कृषि की थी, उससे इतना परिपुष्ट और खादु धान्य उत्पन्न हुआ कि उसकी साधारण धान्यसे तुलना ही नहीं हो सकती ।

यह वैदिक कृषि शास्त्रका अत्यंत महत्त्वका विषय है, जो धनी पाठक इसके प्रयोग कर सकते हैं अवश्य करके देखें । साधारण जनोके लिये ये प्रयोग करना अशक्य ही है क्योंकि जिन लोगोंका पानेके लिये दूध नहीं मिल सकता वे खादके लिये दूध, दही, घी, शहद और मिथी कदासि ले आयेगे ।

पाठक ये वर्णन पढ़ें और वैदिक कालका कृषिकी मनसे ही कल्पना करें और मन ही मनसे उसका आस्वाद लेनेका यत्न करें ।।

गौरक्षाका समय ।

वैदिककाल गौकी रक्षाका काल था, इसलिये गौमें विपुल घी और उस कारण खादके लिये भी दूध मिलता था । परंतु आज अनार्योंके मशुणके लिये लाओकी संख्यामें गौनें कटती हैं, इसलिये पानेके लिये भी दूध नहीं मिलता । यह कालका परिवर्तन है । यहा अब देखना है कि वैदिक धर्मियोंके प्रयत्नसे भविष्यकाल कैसा आता है ।

वनस्पति ।

(१८)

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — वनस्पतिः)

इमां खनाम्भोर्षधिं वीरुषां बलवचमाम् ।	
यया सपत्नीं वाधते यया संविन्दते पतिम्	॥ १ ॥
उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।	
सपत्नीं मे परां शुद्र पतिं मे केवलं कृषि	॥ २ ॥
नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन्नमसे पतौ ।	
परमिव परावर्तं सपत्नीं गमयामसि	॥ ३ ॥
उत्तराहस्तं उत्तरेदुत्तराम्यः ।	
अथः सपत्नी या ममाधरा साधराम्यः	॥ ४ ॥
अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः ।	
उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै	॥ ५ ॥
अभि तैश्चां सहमानामुपं तैश्चां सहीयसीम् ।	
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पया वारिव धावतु	॥ ६ ॥

अर्थ— (इमां बलवचमां वीरुषां औषधिं खनामि) इस बलवाली औषधि वनस्पतिको मैं खोदता हूँ । (यया सपत्नीं वाधते) जिससे सपत्नीको हटाया जाता है और (यया पतिं विन्दते) जिससे पत्निको प्राप्त किया जाता है ॥ १ ॥

हे (उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति) वितृत पानवाली माग्यवती देवी द्वारा सेवित बलवती औषधि । (मे सपत्नीं परां शुद्र) मेरी सपत्नीको दूर कर और (मे केवलं पतिं कृषि) मुझे केवल पति कर दे ॥ २ ॥

हे धाफल स्त्री । (ते नाम नहि जग्राह) तेरा नाम भी मैंने लिया नहीं है अब तू (अस्मिन्न पतौ नो रमसे) इस पतिमें रममाण नहीं होगी । अब मैं (परां सपत्नीं परावर्तं गमयामसि) अन्य सपत्नीको दूर करती हूँ ॥ ३ ॥

हे (उत्तरे) अष्ट गुणवाली औषधि ! (अहं उत्तरा) मैं अधिक भेष्ट हूँ (उत्तराम्यः इत् उत्तरा) अष्टोमि औषधि हूँ । (मम या अधरा सपत्नी) मेरी जो नीच सपत्नी है (सा अधराम्यः अधरा) वह नीचसे नीच है ॥ ४ ॥

(अहं सहमाना अस्मि) मैं विजयी हूँ और हे औषधि ! (अथो त्वं सासहिः अस्मि) तू भी विजयी है । (उभे सहस्वती भूत्वा) हम दोनों अथवाली बनकर (मे सपत्नीं सहावहै) मेरी सपत्नीको जोत लेंगे ॥ ५ ॥

(ते अभि सहमानां अथां) तेरे चारों ओर मैंने इस विजयिनी वनस्पतिको रखा है (ते उप सहीयसीं अथां) तेरे नीचे इस अथवालिनी वनस्पतिको रखा है । अब (ते मनः मां अनु प्र धावतु) तेरा मन मेरे पंखे दीजे । (गौरवत्सं इव धावतु) जैसी गौ बछड़ेकी ओर दौती है और (याः इव पया) जैसा जल अपने मार्गसे दौटा है ॥ ६ ॥

सापत्नमावक्रा मयंकर परिणाम ।

मात्रका धीन न बोवे ।

इसका मायार्थ सुबोध है इसलिये देनेकी आवश्यकता नहीं है ।

त्रिष घरका पुरुष एकसे अधिक विवाह करता है वहां द्वेषामि मडकने लगता है और उसको कोई बुझा नहीं सकता । वहां त्रियोंने कलह, संतानोंमें कलह और अंतमें पुरुषोंमें भी कलह होते हैं और अन्तमें उस कुटुंबका नाश होता है ।

अनेक क्रिया करनेसे परम कलह होते हैं, सापत्नभाव उत्पन्न होनेसे क्रियामें परस्पर द्वेष बढ़ते हैं, संतानोंमें भी वही कलहाग्नि बढ़ता है, इन्धनिये ऐसे परिवारमें सुख नहीं मिलना है । यह बात इस मूलमें कही है । इस मूलका मुख्य तात्पर्य यही है कि कोई पुरुष एकसे अधिक विवाह करके अपने परम सापत्न-

सपत्नीका नाश करनेका यत्न किया करता है और उससे अर्थात् फैलता है । इस सब आपत्तिको मिटानेके लिये एक-परमाव्रतका आचरण करना ही एकमात्र उपाय है ।

ज्ञान और शौर्यकी तेजस्विता ।

(११)

(ऋषिः — वसिष्ठः । देवता — विश्वेदेवाः, चन्द्रमाः, इन्द्रः)

संश्रितं म इदं ब्रह्म संश्रितं वीर्यं बलम् ।

संश्रितं सत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामसि पुरोहितः ॥ १ ॥

समहमेपां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम् ।

वृथामि शत्रूणां बाहूनेन हविषाहम् ॥ २ ॥

अर्थ— (मे इदं ब्रह्म संश्रितं) मेरा यह ज्ञान तेजस्वी हुआ है, और मेरा यह (वीर्यं बलं संश्रितं) वीर्य और बल तेजस्वी बना है । (संश्रितं क्षत्रं अजरं अस्तु) इनका तेजस्वी बना हुआ क्षात्रबल कभी क्षीण न होनेवाला होवे, (येषां जिष्णुः पुरोहितः अस्ति) जिनका मैं विजयी पुरोहित हूँ ॥ १ ॥

(अहं एपां राष्ट्रं संस्यामि) मैं इनका राष्ट्र तेजस्वी करता हूँ, इनका (ओजः वीर्यं बलं संस्यामि) बल, नाय और केन्द्र तेजस्वी बनाता हूँ । और (अनेन हविषा) इस इतनेसे (शत्रूणां बाहुन् वृथामि) शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूँ ॥ २ ॥

मायार्थ— मैं जिस राष्ट्रका पुरोहित हूँ उस राष्ट्रका ज्ञान मैंने तेजस्वी किया है और शौर्य, वीर्य भी अधिक तीक्ष्ण किया है, जिससे इस राष्ट्रका क्षात्रतेज कभी क्षीण नहीं होगा ॥ १ ॥

मैं इस राष्ट्रका तेज बढ़ाता हूँ और इसका शारीरिक बल, बराकन और कर्त्ताह भी शक्तिगत करता हूँ । इससे मैं शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूँ ॥ २ ॥

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सुरिं मध्वानं पृतन्यान् ।

सिणामि ब्रह्मणामित्रानुभ्रयामि स्वानहम्

॥ ३ ॥

तीक्ष्णीयांसः परशोरमेस्तीक्ष्णतरा उत ।

इन्द्रस्य बजात् तीक्ष्णीयांसो पेषामसि पुरोहितः

॥ ४ ॥

एषामहमायुधा सं स्वाम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।

एषां क्षत्रमजरंमस्तु जिष्ण्वेदेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः

॥ ५ ॥

उद्धर्षन्तां मध्वन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः ।

पृथग् घोषां उल्लयः केतुमन्त उदीरताम् ।

देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतां यन्तु सेनया

॥ ६ ॥

अर्थ— वे शत्रु (नीचैः पद्यन्ताम्) नीच गिरे, (अघरे भवन्तु) अवनत हों, (ये नः मध्वानं सुरिं पृत-
न्यात्) जो हमारे धनवान् शौर विद्वान पर सेनासे बटाई करे । (अहं ब्रह्मणा अमित्रान् सिणामि) मैं शत्रुसे शत्रुओंका
क्षय करता हूँ, और (स्वान् उभ्रयामि) अपने लोगोंको उठाता हूँ ॥ ३ ॥

(परशोः तीक्ष्णीयांसः) परशुसे अधिक तीक्ष्ण, (उत अग्नेः तीक्ष्णतराः) और कमिसे भी अधिक तीक्ष्ण,
(इन्द्रस्य बजात् तीक्ष्णीयांसः) इन्द्रके बजसे भी अधिक तीक्ष्ण इनके अन्तर हो (येषां पुरोहितः अस्मि) जिनका
पुरोहित मैं हूँ ॥ ४ ॥

(अहं एषां आयुधा संस्यामि) मैं इनके आयुधोंको उत्तम तीक्ष्ण बनाता हूँ, (एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि)
इनका राष्ट्र उत्तम वीरतासे युक्त करके बढ़ाता हूँ, (एषां क्षत्रं अजरं जिष्णु अस्तु) इनका क्षात्रतेज अक्षय तथा बढ़ताही
होवे, (विश्वेदेवाः एषां चित्तं अवन्तु) सब देव इनके चित्तको उत्साहयुक्त करें ॥ ५ ॥

हे (मध्वन्) धनवान् ! उनके (वाजिनानि उद्धर्षन्तां) बल उद्योजित हों, (जयतां वीराणां घोषः उद्-
पतु) विजय करनेवाले वीरोंका शब्द ऊपर उठे । (केतुमन्तः उल्लयः घोषाः) ऋते लेकर इनला करनेवाले वीरोंके
संघ शब्दका घोष (पृथग् उद् उदीरताम्) अलग अलग ऊपर उठे । (इन्द्रज्येष्ठा मरुतः देवाः) इन्द्रकी प्रमुखतामें
मरुत देव (सेनया यन्तु) अपनी सेनाके साथ चले ॥ ६ ॥

भावार्थ— जो शत्रु हमारे धानघोंपर तथा हमारे ज्ञानियोंपर वैश्वके साथ हमला करते हैं वे अघोगतिको प्राप्त होंगे ।
क्योंकि मैं अपने ज्ञानमें शत्रुओंका नाश करता हूँ और उधोंसे अपने लोगोंको उचत करता हूँ ॥ ३ ॥

जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूँ उस राष्ट्रके शत्रुसे परशुसे अधिक तीक्ष्ण, कमिसे भी अधिक दाहक, और इन्द्रके बजसे भी
अधिक संहारक मैंने किये हैं ॥ ४ ॥

मैं इनके शत्रुओंको अधिक तीक्ष्ण बनाता हूँ, इनके राष्ट्रको उधमें उत्तम वीर उत्पन्न करके बढ़ाता हूँ, इनके शीर्षको
कमी खीण न होनेवाला और सदा विजयी बनाता हूँ । सब देवता इनके चित्तोंको उत्साह युक्त करें ॥ ५ ॥

हे प्रभो ! इनके बल उत्साहसे पूर्ण हों, इनके विजयी वीरोंका जयजयशब्दका शब्द आकाशमें भर जावे । ऋते उठाकर
विजय पानेवाले इनके वीरोंके शब्द अलग अलग सुनाई दें । जिस प्रकार इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुतोंकी सेना विजय प्राप्त करती
है, उधों प्रकार इनकी सेना भी विजय कमावे ॥ ६ ॥

प्रेता जयंता नर उग्रा वः सन्तु ब्राह्मवः ।

तीक्ष्णेष्वोऽबलधन्वतो हतोप्रायुधा अबलानुप्रवाहवः

॥ ७ ॥

अवसृष्टा परा पतु शरं च्ये ब्रह्मसंशिते ।

जयामित्रान्प्र पद्यस्व ज्योषिं वरं वरं मामीषां मोचि कश्चन

॥ ८ ॥

अर्थ— हे (नरः) लोगो ! (प्र हत) बली, (जयत) जीते, (वः याहवः उग्राः सन्तु) दुम्हारे बाहु शौर्यसे युक्त हो । हे (तीक्ष्णेष्वः) तीक्ष्ण बाणवाले वीरो । हे (उप्रायुधाः उप्रायाहवः) उग्र आयुधवाले और बलयुक्त युवावाले । (अबल-धन्वनः अवलानु हत) निर्बल धनुष्यवाले निर्बल शत्रुओंको मारो ॥ ७ ॥

हे (ब्रह्म-संशिते शरच्ये) ज्ञानद्वारा तेजस्वी बने शस्त्र । तु (अवसृष्टा परा पतु) छोड़ा हुआ दूर जा और (जयामित्रान् जय) शत्रुओंको जीत लो, (प्र पद्यस्व) भागे बढ, (परां वरं वरं अहि) इन शत्रुओंके मुख्य मुख्य वीरोंको मार डाल, (जयामीषां कश्चन मा मोचि) इनमेंसे कोई भी न बच जाय ॥ ८ ॥

भाषार्थ— हे वीरो ! आगे बढो, विजय प्राप्त करो, अपने बाहु प्रतापसे युक्त करो; तीक्ष्ण बाणों, प्रतापी राजाओं और समय बाहुओंकी धारण करके अपने शत्रुओंको निर्बल बनाकर उनको काट डालो ॥ ७ ॥

ज्ञानसे तेजस्वी बना हुआ शस्त्र जब वीरोंकी प्रेरणासे छोड़ा जाता है तब वह दूर जाकर शत्रुपर गिरता है और शत्रुका नाश करता है । हे वीरो ! शत्रुपर चढाई करो और शत्रुके मुख्य मुख्य वीरोंको चुन चुनकर मार डालो, उनकी ऐसी कत्तल करो कि उनमेंसे कोई न बचे ॥ ८ ॥

राष्ट्रीय उन्नतिमें पुरोहितका कर्तव्य ।

राष्ट्रमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पांच वर्ग होते हैं । उनमें ब्राह्मणोंका कर्तव्य पुरोहितका कार्य करना होता है । पुरोहित करनेका नाम पुरोहितका कार्य करना है । यज्ञ-मानका पूर्णहित करनेवाला पुरोहित होना चाहिये । जब संपूर्ण राष्ट्रका विचार करना होता है उस समय सब राष्ट्र ही यज्ञमान है और सब ब्राह्मण जाती उस राष्ट्रके पुरोहितके स्थानपर होती है । इससे संपूर्ण राष्ट्रका पूर्णहित करनेका भार सब पुरोहित वर्गपर आ जाता है । ज्ञानकी ज्योति सब राष्ट्रमें प्रज्वलित करके उस ज्ञानके द्वारा राष्ट्रका अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध करना पुरोहितका कर्तव्य है ; यह इस सूत्रमें स्पष्ट ज्ञानदोमें वर्णन किया है । राष्ट्रके ब्राह्मण इस सूत्रका मनन करें और अपना कर्तव्य पालकर उसको निभायें ।

इस सूत्रका श्रवण बसिष्ठ है, और वसिष्ठ नाम ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणका सुप्रसिद्ध है । इस दृष्टिसे भी इस सूत्रका मनन ब्राह्मणोंको करना चाहिये । अब सूत्रका आशय देखिये—

ब्राह्मतेजकी ज्योति ।

राष्ट्रमें ब्राह्मतेजकी ज्योति बढाना और उस ज्योतिके द्वारा

११ (अथर्व. भाष्य, काण्ड ३)

राष्ट्रकी उन्नति करनेका कार्य सबके सहयका और अर्लत आनन्दक है । इस विषयमें इस सूत्रमें यह कथन है—

मे इवं ब्रह्म संशितम् । (सू. १९, मं. १)

ब्रह्मणा अमित्रान् क्षिणामि । (सू. १९, मं. ३)

उन्नयामि स्वान् अहम् । (सू. १९, मं. ३)

अवसृष्टा परा पतु शरं च्ये ब्रह्मसंशिते ।

(सू. १९, मं. ८)

जय अमित्रान् ॥ (सू. १९, मं. ८)

‘ मेरे प्रयत्नसे इस राष्ट्रका यह ज्ञानतेज चमकता है ।

ज्ञानके प्रतापसे शत्रुओंका नाश करता हूँ । और उसी ज्ञानसे मैं अपने राष्ट्रके लोगोंकी उन्नति करता हूँ । ज्ञानके द्वारा उन्नतित हुआ शस्त्र दूरतक परिणाम करता है, उससे शत्रुको जीत लो ।’

ये मंत्रभाग राष्ट्रमें ब्राह्मतेजके कार्यका स्वरूप बताते हैं । ज्ञान राष्ट्रीय उन्नतिमें बड़ा भारी कार्य करता है । जगत्में अनेक राष्ट्र हैं उनमें से ही राष्ट्र अग्रगण्य हैं कि जो ज्ञानसे विशेष संपन्न हैं । ज्ञान न होत हुए अभ्युदय होना अशक्य है । यदि उन्नतिकका विरोधक कोई कारण होगा तो वह एकमात्र अज्ञान ही है । अज्ञानसे बंधन होता है और ज्ञानसे उस बंधनका नाश होता है । इसलिये राष्ट्रमें जो ब्राह्मण होंगे उनका

कर्तव्य है कि वे स्वयं ज्ञानी बनें और अपने राष्ट्रके सब लोगोंको ज्ञानसंपन्न करें। क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रोंको भी ज्ञान आवश्यक ही है। उनके व्यवसायोंको उत्तमतासे निभानेके लिये ज्ञानकी परम आवश्यकता है।

ज्ञानसे शत्रु कौन है और अपना हितकारी मित्र कौन है इसका निश्चय होता है। अपने ज्ञानसे राष्ट्रके शत्रुको जानना और उसको दूर करनेके लिये ज्ञानसे ही उपायकी योजना करना चाहिये। यह उपाय योजनाका कार्य करना ब्राह्मणोंका परम कर्तव्य है। शत्रुपर हमला किस समय करना, शत्रुके राज्यान्न कैसे है, उनसे अपने राज्यान्न अधिक प्रभावशाली किस रीतिसे करना, शत्रुके राज्यान्न जितनी दूरीपर प्रभाव कर सकते हैं उससे अधिक दूरीपर प्रभाव करनेवाले राज्यान्न कैसे निर्माण करना, इत्यादि बातें ज्ञानसे ही सिद्ध हो सकती हैं, अपने राष्ट्रमें इनकी सिद्धता करना ब्राह्मणोंका कर्तव्य है। अर्थात् ब्राह्मण अपने ज्ञानसे इसका विचार करें और अपने राष्ट्रमें ऐसी श्रेयणा करें कि जिससे राष्ट्रके अन्दर उक्त परिवर्तन आ जावे। यही भाव निम्नलिखित मंत्रमें कहा है—

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।

(सु. १९, मं. ८)

‘ज्ञानसे तीक्ष्ण बने राज्यान्न शत्रुपर गिरें।’ इसमें ज्ञानसे उत्तेजित, प्रेरित और तीक्ष्ण बने राज्यान्न अधिक प्रभावशाली होनेका वर्णन है। अन्य देशोंके राज्यान्न देखकर, उनका वेग जानकर, और उनका परिणाम अनुभव करके जब उनसे अधिक बेगवान् और अधिक प्रभावशाली राज्यान्न अपने देशके वीरोंके पास दिये जायेंगे, तब अन्य परिस्थिति समान होनेपर अपना जय निश्चयसे होगा इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

पुरोहितकी प्रतिज्ञा ।

‘जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूँ उस राष्ट्रका ज्ञान, वीर्य, बल, पराक्रम, शौर्य, धैर्य, विजयी उत्साह सभी क्षीण न हो।’ (मं. १)

‘जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूँ उस राष्ट्रका पराक्रम, उत्साह, वीर्य और बल मैं बढ़ाता हूँ और शत्रुओंका बल घटाता हूँ।’ (मं. २)

‘जो शत्रु हमारे पनी वैश्यों और ज्ञानी ब्राह्मणोंके ऊपर, अर्थात् हमारे देशके युद्ध न करनेवाले लोगोंपर, धैर्यके साथ हमला करेगा उसका नाश मैं अपने ज्ञानसे करता हूँ और

अपने राष्ट्रके लोगोंको मैं अपने ज्ञानके बलसे उठाता हूँ।’ (मं. ३)

‘जिनका मैं पुरोहित हूँ उनके राज्यान्न मैं अधिक तेज बनाता हूँ।’ (मं. ४)

‘इनके राज्यान्न मैं अधिक तीक्ष्ण करता हूँ। उत्तम शौर्यकी संख्या इस राष्ट्रमें बढ़ाकर इस राष्ट्रकी उन्नति करता हूँ। और इनका शौर्य बढ़ाता हूँ।’ (मं. ५)

ये मंत्रभाग पुरोहितके राष्ट्रीय कर्तव्यका ज्ञान असंदिग्ध शब्दों द्वारा दे रहे हैं। पुरोहितके ये कर्तव्य हैं। पुरोहित क्षत्रियोंको क्षात्रविद्या सिखावे, वैश्योंको व्यापार व्यवहार करनेका ज्ञान देवे और शूद्रादिकोंको कारीगरोंकी शिक्षा देवे, और ब्राह्मणोंको इस प्रकारके विशेष ज्ञानसे युक्त करे। इस रीतिसे चारों वर्णोंको तेजस्वी बनाकर संपूर्ण राष्ट्रका उदार अपने ज्ञानकी शक्तिसे करे। जो पुरोहित ये कर्तव्य करेंगे वे ही वेदकी दृष्टिसे सभे पुरोहित हैं। जो पंडित पुरोहितका कार्य कर रहे हैं वे इस सूक्तका विचार करें और अपने कर्तव्योंका ज्ञान प्राप्त करें।

युद्धकी नीति ।

पृष्ठ, सप्तम और अष्टम इन तीन मंत्रोंमें युद्धनीतिका उपदेश इस प्रकार किया है—

‘वीरोंके पयक अपने अपने हाँडे उठाकर युद्धगीत गाते हुए और आनन्दसे विजय सूचक शब्दोंका घोष करते हुए शत्रुसेनापर हमला करें और विजय प्राप्त करें। जिस प्रकार इन्द्रकी प्रसुखतामें मरुतोंके गण शत्रुपर हमला करते और विजय प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार अपने राजाके तथा अपने सेनापतिके आधिपत्यमें रहकर हमारे वीर शत्रुपर हमला करें और अपना विजय प्राप्त करें।’ (मं. ६)

‘वीरो! आगे बढ़ो, तुम्हारे बाहू प्रभावशाली हों, तुम्हारे शस्त्र शत्रुकी अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण हों, तुम्हारी शक्ति शत्रुकी शक्तिसे अधिक पराक्रम प्रकाशित करनेवाली हो। इस प्रकार युद्ध करते हुए तुम अपने निर्बल शत्रुको मार डालो।’ (मं. ७)

‘ज्ञानसे उत्तेजित हुए तुम्हारे शस्त्र शत्रुका नाश करें, ऐसे तीक्ष्ण शस्त्रोंसे शत्रुका तू पराभव कर।’ (मं. ८)

इन तीन मंत्रोंमें इतना उपदेश देकर पश्चात् इस अष्टम मंत्रके अन्तमें अत्यंत महत्त्वकी युद्धनीति कही है वे शब्द देखने योग्य हैं—

(१) जहोपां धरं वरं,

(२) माऽमृतां मोचि कम्बन ॥ (सू. १९, मं. ८)

‘इन शत्रुओंके मुख्य मुख्य प्रमुख वीरोंको मार दो और इनमेंसे कोई भी न बचे ।’ वे ही उपदेश युद्धके संबंधमें अत्यंत महत्त्वके हैं । शत्रुसेनाके पयकके जो संचालक और प्रमुख वीर हों उनका वध करना चाहिये । प्रमुख संचालकोंमेंसे कोई भी न बचे । ऐसी अवस्था होनेके बाद शत्रुकी सेना बड़ी आसानीसे परास्त होगी । यह युद्धनाति अत्यंत मनन करने योग्य है ।

अपनी सेनामें ऐसे वीर रखने चाहिये कि जो शत्रुके वीरोंको चुन चुनकर मारनेमें तयार हों । जब इन वीरोंके बंधसे शत्रुसेनाके मुखिया वीरोंका वध हो जावे, तब अभ्य सेनापर हमला करनेके उस शत्रुसेनाका पराम्भ होनेमें देरी नहीं लगेगी ।

जो पाठक राष्ट्रद्विषकी दृष्टि अपने कर्तव्यका विचार करते हैं वे इस सूक्तका मनन अधिक करें और राष्ट्रविवशक अपने कर्तव्य अपने और उनका अनुष्ठान करके अपने राष्ट्रका अभ्युदय करें ।

तेजस्विताके साथ अभ्युदय ।

(१०)

(ध्यायिः— घसिष्ठः । देवता— अग्निः, मन्त्रोक्तदेवताः)

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।

तं जानन्नग्र आ रोहासा नो वर्धया रयिम् ॥ १ ॥

अग्ने अच्छां वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमनां भव ।

प्र णो यच्छ विशां पते घनदा असि नस्त्वम् ॥ २ ॥

प्र णो यच्छत्वर्ष्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः ।

प्र देवीः प्रोत सूनृता रयिं देवी दधातु मे ॥ ३ ॥

अर्थ— हे अग्ने । (अयं ते ऋत्वियः योनिः) यह तेरा ऋतुके संबंधित उत्पत्तिस्थान है (यतः जातः अरोचथाः) जिससे प्रकट होकर तू प्रकाशित हुआ है । (तं जानन् आरोह) उसको जानकर ऊपर चढ़ (अघ नः रयिं वर्धय) और हमारे लिये धन बढ़ा ॥ १ ॥

हे अग्ने । (इह नः अच्छां वद) यहाँ हमसे अच्छे प्रकार बोल और (प्रत्यङ् नः सुमनाः भव) हमारे धनुष होकर हमारे लिये उत्तम धनवाला हो । हे (विशां पते) प्रजाओंके स्वामिन् (नः प्रयच्छ) हमें दान दे क्योंकि (त्वं नः घनदाः असि) तू हमारा धनदाता है ॥ २ ॥

(अयंमा नः प्र यच्छतु) अयंमा हमें देवे, (भगः बृहस्पतिः प्र प्रयच्छतु) भग और बृहस्पति जो हमें देवे । (देवीः प्र) देवियां हमें धन देवें । (उत सूनृता देवीमे रयिं प्र दधातु) और सरल स्वभाववाली देवी मुझे धन देवें ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे अग्ने । प्रभुओंके संबंध रखनेवाला यह तेरा उत्पत्तिस्थान है, जिससे जन्मते ही तू प्रकाशित हो रहा है । अपने उत्पत्तिस्थानको जानता हुआ तू उत्तम ही और हमारे धनकी इच्छा कर ॥ १ ॥

हे अग्ने । यहाँ स्पष्ट वाणीसे बोल, हमारे धनुष उपस्थित होकर हमारे लिये उत्तम धनवाला हो । हे प्रजाओंके पालक ! तू हमें धन देनेवाला है, इसलिये तू हमें धन दे ॥ २ ॥

अयंमा, भग, बृहस्पति, देवीदां तथा वाग्देवी मे सब हमें धन देवें ॥ ३ ॥

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीभिर्हवामहे ।

आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ४ ॥

त्वं नो अग्ने अग्निभिर्नक्षत्रं यज्ञं च वर्धय ।

त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय ॥ ५ ॥

इन्द्रवायु उभाविह सुहवेह हवामहे ।

यथा नः सर्वे इजानः संगत्यां सुमना असदानकामथ नो भुवत् ॥ ६ ॥

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय ।

वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ७ ॥

वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः ।

उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ८ ॥

अर्थ— राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पतिके (अवसे गीभिः हवामहे) हमारी रक्षाके लिये बुलाते हैं ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! (त्वं अग्निभिः) तू अग्निके साथ (नः ब्रह्म यज्ञं च वर्धय) हमारा ज्ञान और यज्ञ बढ़ा । हे देव ! (त्वं नः दातवे दानाय रयिं चोदय) तू हमारे दानी पुरुषको दान देनेके लिये धन भेज ॥ ५ ॥

(उभौ इन्द्रवायु) दोनों इन्द्र और वायु (सु-हवी) उत्तम बुलाने योग्य हैं इसलिये (इह हवामहे) यहाँ बुलाते हैं । (यथा नः सर्वे इजानः) जिससे हमारे संपूर्ण लोग (संगत्यां सुमनाः असत्) संगतिमें उत्तम मनवाले हों (च नः) और हमारे लोग (दानकामः भुवत्) दान देनेकी इच्छा करनेवाले हों ॥ ६ ॥

अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और (वाजिनं सवितारं) वेगवान् सविताको (दानाय चोदय) हमें दान देनेके लिये प्रेरित कर ॥ ७ ॥

(वाजस्य प्रसवे सं बभूविम) बलकी उत्पत्तिमें ही हम संगठित हुए हैं । (च इमा विश्वा भुवनानि अन्तः) और ये सब भुवन उसके बीचमें हैं । (प्रजानन्) जाननेवाला (अदित्सन्तं उत दापयतु) दान न देनेवालेकी निवन्धपूर्वक दान देनेके लिये प्रेरणा करे । (च नः सर्ववीरं रयिं नि यच्छ) और हमें सब प्रकारके वीरभावसे युक्त धन देवे ॥ ८ ॥

भावार्थ— राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पतिकी हम प्रार्थना करते हैं कि वे हमारी योग्य रीतिसे रक्षा करें ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! तू अनेक अग्निके साथ हमारा ज्ञान और हमारी कर्मशक्ति बढ़ाओ । हे देव ! न देनेवाले मनुष्यको दान देनेके लिये पर्याप्त धन दे ॥ ५ ॥

हम इन्द्र-वायु इन दोनोंकी प्रार्थना करते हैं जिससे हमारे सब लोग संगठनसे संगठित होते हुए उत्तम मनवाले बनें और दान देनेकी इच्छावाले हों ॥ ६ ॥

अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और बलवान् सविता ये सब हमें दान करनेके लिये ऐश्वर्य देवें ॥ ७ ॥

बल उत्पन्न करनेके लिये हम संघ बनाते हैं, जैसे ये सब भुवन अंदरसे संपटित हुए हैं । यह जाननेवाला कंजूसको दान करनेकी प्रेरणा करे और हमें संपूर्ण वीरभावसे युक्त धन देवे ॥ ८ ॥

दुहां मे पञ्च प्रदिशीं दुहामूर्वीर्यथाचलम् ।

प्रापेयं सर्वां आकूर्तुर्मनसा हृदयेन च

॥ ९ ॥

गोसनिं वाचमुदेयं वर्षसा माम्पुदिहि ।

आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे

॥ १० ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

अर्थ—(उर्वाः पञ्च प्रदिशाः) ये बड़ी पाँचों दिशाएँ (यथाचलं मे दुहां) यथाशक्ति मुझे रख दें। (मनसा हृदयेन च) मनसे और हृदयसे (सर्वाः आकूर्ताः प्रापयेयम्) सब संकल्पोंकी पूर्ण कर सकूँ ॥ ९ ॥

(गोसनिं वाचं उदेयं) इन्द्रियोंको प्रसन्नता करनेवाली वाणी मैं बोद्धूँ। (वर्षसा मां अभ्युदिहि) तेजके साथ मुझे प्रकाशित कर। (वायुः सर्वतो आ रुन्धाम्) प्राण मुझे सब ओरसे घेरे रहे। (त्वष्टा मे पोषं दधातु) तूष्ठा मेरी सृष्टिको देता रहे ॥ १० ॥

भावार्थ— ये बड़ी विस्तीर्ण पाँच ही दिशाएँ हमें यथाशक्ति पोषक रम दें, जिससे हम मनसे और हृदयसे बलवान् बनते हुए अपने संपूर्ण संकल्पोंको पूर्ण करेंगे ॥ ९ ॥

प्रसन्नताको बढ़ानेवाली वाणी मैं बोद्धूँगा। तेजके साथ मुझे अभ्युदयको प्राप्त कर। चारों ओरसे मुझे प्राण चरसाहित करे और जगदचरिता मुझे सब प्रकार पुष्ट करे ॥ १० ॥

अग्निका आदर्श ।

इस सूक्तमें अग्निके आदर्शसे मनुष्यके अभ्युदय साधन करनेके मार्गका उत्तम उपदेश किया है। इस सूक्तका ध्येय वाक्य यह है—

वर्षसा मा अभ्युदिहि । (सू. २०, मं. १०)

'तेजके साथ मेरा सब प्रकाशसे उदय कर' यह हरएक मनुष्यकी इच्छा होनी चाहिये। यह वाक्य सिद्ध होनेके लिये साधनके आवश्यक मार्ग इस सूक्तमें उत्तम प्रकार कहे हैं। उनका विचार करनेके पूर्व हम अग्निके आदर्शसे जो बात बताई है वह देखते हैं—

'सत्रमें जो अग्नि लेते हैं, वह लक्षद्वयसे उत्पन्न करते हैं, लक्षद्वयो स्वर्य प्रकाशित नहीं है परंतु उनसे उत्पन्न होनेवाला अग्नि (जातः अरोचथाः। मं. १) उत्पन्न होते ही प्रकाशित होता है। पश्चात् वह हवन कुण्डमें रखते हैं, वहाँ वह (रोह। मं. १) स्वर्य बढता है और दूसरोंको भी प्रकाशित करता है। इस समय उसके चारों ओर श्रद्धालु लोग (गीर्भिः हवामहे। मं. ५) मंत्रपाठ करते हैं और हवन करते हैं। इस समय इस अग्निके साथ (अग्निं अग्निभिः। मं. ५)

अनेक हवन कुण्डोंमें अनेक अग्नि प्रज्वलित होते हैं और इससे (ब्रह्म यज्ञं च वर्धय। मं. ५) ज्ञान और यज्ञकी वृद्धि होती है। यज्ञमें सब लोग (जनः संगत्यां सुमनाः। मं. ६) मिलकर उत्तम विचारसे कार्य करते हैं। तथा (प्रसवे स्वं वभूविम। मं. ८) ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये एक होकर कार्य करते हैं और इस प्रकारके यज्ञसे तेजस्वी होकर अपना अपना अभ्युदय सिद्ध करते हैं।

सारांशसे यह यज्ञ प्रक्रिया है, इसमें लक्षद्वयसे उत्पन्न हुई छोटीसी अग्निकी चिनगारीका चिंतना बस बढता है और यह अग्नि अनेक मनुष्योंकी उत्पत्ति करनेमें कैसा समर्थ होता है, यह बात पाठक देखें। यदि अग्निकी छोटीसी चिनगारिके तेजके साथ बढ जानेसे इतना अभ्युदय हो सकता है, तो मनुष्यमें रहनेवाली चैतन्यकी चिनगारी इसी प्रकार प्रकाशके मार्गसे चलेगी तो चिंतना अभ्युदय प्राप्त करेगी, इसका विचार पाठक स्वं जान सकते हैं, इसीका उपदेश पूर्वोक्त अग्निके दृष्टान्तसे इस सूक्तमें बताया है।

उत्पत्तिस्थानका स्मरण ।

सबसे प्रथम अपने उत्पत्तिस्थानका स्मरण करनेका उपदेश प्रथम मंत्रमें दिया है। 'यद् वैरा उत्पत्तिस्थान है, वहाँ उत्पन्न

होते ही तू प्रकाशता है, यह जानकर स्वयं बटनेका यत्न कर और हमारी भी शोभा बढा ।' (मं. १) यह उपदेश मनन करने योग्य है । उत्पत्तिस्थान कई प्रकारका होता है; अपना कुल, अपनी जाती, अपना देश यह तो स्थूल दृष्टिसे उत्पत्तिस्थान है । इस उत्पत्तिस्थानका स्मरण करके अपनी उन्नति करना चाहिये । दूसरा उत्पत्तिस्थान आध्यात्मिक है जो प्रकृतिमाता और परमपितासे संबंध रखता है, यह भी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये मनन करने योग्य है । उत्पत्तिस्थानका विचार करनेसे 'मैं कहासे आया हूँ और मुझे कहाँ पहुँचना है' इसका विचार करना सुगम होजाता है । जहाँ कहाँ भी उत्पत्ति हुई हो वहासे अपनी शक्तिसे प्रकाशना, बटना और दूसरोंको प्रकाशित करना चाहिये ।

(इह अच्छा घट्) यहाँ सबके साथ सरल भाषण कर, (प्रत्यङ् सुमनाः मय) प्रत्येकके साथ उत्तम मनोभावनासे वर्ताव कर, अपने पास जो हो, वह दूसरोंकी मलाईके लिये (प्रयच्छ) दान कर, यह द्वितीय मंत्रके तीन उपदेश वाचशुद्धि, मनःशुद्धि और आत्मशुद्धिके लिये अत्यंत उत्तम हैं । इसी मार्गसे इनकी पवित्रता हो सकती है ।

आगेके दो मंत्रोंमें हमें किन किन शक्तियोंसे सहायता मिलती है इसका उल्लेख है ।

६-वसे प्रथम (देवीः) देवियों अथवा माताओंकी सहायता मिलती है, जिनकी वृत्तके विना मनुष्यका उदार होना अशक्य है, तत्पश्चात् (स्मृतता देवी) सरल वाणीसे सहायता प्राप्त होती है । मनुष्यके पास शीघ्र भावसे बोलनेकी शक्ति न हो तो उसकी उन्नति असंभव है । इसके नंतर (अर्यं+मन् = अर्यं+मन्) श्रेष्ठ मंत्रके भावसे जो सहायता होती है वह अत्यंत ही है । इसके पश्चात् (गृहस्पतिः) ज्ञानी और (ब्रह्मा) ब्रह्मज्ञानी सहायता देते हैं, इनमें ब्रह्मा तो अंतिम मैजिलतक पहुंचा देता है । ये सब उन्नतिके उपाय योग्य (राजा अवसते) राजाकी रक्षामें ही सहायक हो सकते हैं, सुराज्य हो अर्थात् राज्यका सुप्रबंध हो, तो ही सब प्रकारकी उन्नति संभवनीय है अन्यथा अशक्य है । इसके साथ साथ (सोमः आदित्यः सूर्यः) वनस्पतियों और सबका आदान करनेवाला सूर्यप्रकाश ये बल और आरोग्यवर्षक होनेसे सहायक हैं और अंतमें विशेष महत्त्वकी सहायता (विष्णुः) सर्वव्यापक देवताकी है, जो सर्वोपरि होनेसे सबका परिपालक और सबका चालक है और इसकी सहायता सभीके लिये अत्यंत आवश्यक है । जन्मसे लेकर मुक्तितक इस प्रकार सहायताएँ मिलती हैं और इनकी सहायतायें लेता हुआ

मनुष्य अपने परम उत्पत्तिस्थानसे यहाँ आकर फिर वहाँ ही पहुँचता है । इन शक्तियोंसे सुचित होनेवाले अन्यान्य अर्थोंका विचार करके पाठक अधिक बोध प्राप्त कर सकते हैं ।

सम्भूय समुत्थान ।

इस सूक्तमें एकताका पाठ स्पष्ट शब्दों द्वारा दिया है । (वाजस्य नु प्रसवे सं यभूयिम । मं. ८) ' बलकी उत्पत्तिके लिये हम अपनी संपत्तना करते हैं ।' संभूय-समुत्थानके विना शक्ति नहीं होती इसलिये अपनी सहकारिता करके शक्ति बढानेका उपदेश यहाँ किया है । (सर्वः जनः संगत्यां सुमनाः अस्तत् । मं. ६) ' सब मनुष्य सहकारिता करने लगेगे उस समय परस्पर उत्तम मनके साथ व्यवहार करें ।' ऐसा न करेंगे तो संपत्तिका बढ नहीं सकती । यह उत्तम सोननस्पका व्यवहार सिद्ध होनेके लिये (ब्रह्म यज्ञं च यर्घ्य । मं. ५) ज्ञान और आत्मसमर्पणका भाव बढाओ । संपत्तिके लिये इनकी अत्यंत आवश्यकता है । मनुष्यकी उन्नति तो व्यक्तिगतः और संपत्तः होनी है, इसलिये पहले वैयक्तिक उन्नतिके उपदेश देकर पश्चात् सार्वधिक उन्नतिके निर्देश किये हैं । इस प्रकार दोनों मार्गोंसे उन्नति हुई तो ही पूर्ण उन्नति हो सकती है ।

' वाजस्य प्रसवे सं यभूयिम ' (मं. ८) यह मन्त्र बहुत दृष्टिसे मनन करने योग्य है । यहाँ ' वाजः ' शब्दके अर्थ देखिये— ' युद्धमें जय, अन्न, जल, शक्ति, बल, धन, गाँव, वाणीका बल ' ये अर्थ ध्यानमें धारण करनेसे इस मन्त्रभागका अर्थ इस प्रकार होता है— ' हम युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिये संगठन करते हैं; अन्न, जल, छाया, पेय और घनादि ऐश्वर्योपभोगके पदार्थ प्राप्त करनेके लिये आपसकी एकता करते हैं; अपनी वाणीका बल बढानेके लिये अर्थात् हमारे मतका प्रभाव बढानेके लिये अपनी संपत्तना करते हैं, हमारे एक मतसे जो शब्द हम बोलेंगे वे निःसन्देह अधिक प्रभावशाली बनेंगे; तथा हमारी प्रगति और उन्नतिका वेग बढानेके लिये भी हम अपनी सहकारिता बढाते हैं ।' पाठक इस मन्त्रका विचार करनेके प्रयत्नमें इस अर्थका अवश्य मनन करें ।

उन्नतिके लिये कंजुषीका भाव पाठक है इसलिये कहा है कि (अ-द्विदसन्तं दापयतु । मं. ८) ' कंजुषको भी, दान न देनेवालेको भी दान देनेकी और झुकाओ, ' क्योंकि उदारतासे ही संपत्तना होती है और अनुदारतासे विगडती है । अपने पास धन तो चाहिये परंतु वह (सर्वधीरं रथिं नि यच्छ ।

मं. ८) 'संपूर्ण वीरत्वके गुणोंके साथ धन चाहिये ।' अन्यथा क्लामा हुआ धन कोई उठाकर ले जायगा इसलिये वीरताके साथ रहनेवाला धन क्लामेका उपदेश यहाँ किया है ।

इस रीतिसे उन्नत हुआ मनुष्य ही कह सकता है कि 'मुझे पाँचों दिशाएँ यथाशक्ति बल प्रदान करें और मनसे तथा हृदयसे जो संकल्प मैं करूँ वे पूर्ण हो जाय । (मं. ९)' इसके वे संकल्प निःसंदेह पूर्ण हो जाते हैं ।

हरएकके मनमें अनेक संकल्प उठते हैं, परंतु जिसके संकल्प सफल होते हैं ! संकल्प तब सफल होंगे जब उन संकल्पोंके पीछे प्रबल शक्ति होगी, अन्यथा संकल्पोंकी सिद्धता होना असंभव है । इस सूक्तमें संकल्पोंके पीछे शक्ति उत्पन्न करनेके विषयका बड़ा आन्दोलन किया है इसका विचार पाठक अवश्य करें । सूक्तके प्रारंभसे यहाँ विषय है—

'अग्नी ज्योतिरस्थानका विचार कर अपनी उन्नति करनेके लिये कमर बसके उठना, (मं. १); सीधा सरल भाषण करना, मनके भाव उत्तम करना (मं. २); ज्ञान और त्याग भाव बढ़ाना । (मं. ५); प्राप्त धन परंप्रकारमें लगाना (मं. ५); सब मनुष्योंको उत्तम विचार धारण करने, एकता बढ़ाने और परंप्रकार करनेकी और प्रवृत्त करना । (मं. ६); सामर्थ्य बढ़ानेके लिये अपनी आपसकी संघटना करना (मं. ८); अपने अंदर जो संकुचित विचारके होंगे उनको भी उदार बनाना (मं. ८); इस पूर्व तैयारीके पश्चात् सब मानसिक संकल्पोंकी सफलता होनेका संभव है ।' संकल्पोंके पूर्व इतनी

सहायक शक्ति उत्पन्न होनी चाहिये । तब संकल्प सिद्ध होंगे । इसका विचार करके पाठक इस शक्तिको उत्पन्न करनेके कार्यमें लग जाय । इसके मंतर— 'सब स्थानमें उसको प्राणशक्ति साक्षात् होता है, सब स्थानसे उसकी पुष्टि होती है, वह सदा प्रसन्नता बढ़ानेवाली ही भाषा बोलता है इसलिये वह तेजस्विताके साथ अभ्युदयको प्राप्त होता है । (मं. १०)'

इस दशम मंत्रमें 'गोसन्नि वाचं उदेयं' यह वाक्य है । 'गो' का अर्थ है— 'इंद्रिय, गो, भूमि, प्रकाश, स्वर्गसुख, वाणी ।' इस अर्थको लेकर— 'इंद्रियोंकी प्रसन्नता, वाणीकी प्रसन्नता, प्रकाशका विस्तार, मातृभूमिका मुख आदिकी सिद्धता होने योग्य मैं भाषण बोलता हूँ' यह अर्थ इससे व्यक्त होता है । आगे 'तेजस्विताके साथ अभ्युदय' प्राप्त करनेका विषय कहा है, उसके साथ यह 'प्रसन्नता बढ़ानेवाली वाणीसे बोलना' कितना आवश्यक है, यह पाठक यहाँ अवश्य देखें । इस प्रकार इस सूक्तके वाक्योंका पूर्वापर संबंध देखकर यदि पाठक मनन करेंगे तो उनको विशेष बोध प्राप्त हो सकता है ।

इस सूक्तका संक्षेपसे यह विवरण है । पाठक जितना अधिक विचार करेंगे उतना अधिक बोध वे प्राप्त कर सकते हैं । अधिक विचार करनेके लिये आवश्यक संकेत इस स्थानपर दिये ही हैं, इसलिये यहाँ अधिक लेख बढ़ानेकी आवश्यकता नहीं है । अभिज्ञा वर्णन करनेके लिये हुए सामान्य निर्देश मनुष्योंकी उन्नतिके निदर्शक कैसे होते हैं, इसका अनुभव पाठक यहाँ करें । वेदकी यह एक अपूर्व दौली है ।

॥ यहाँ चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

कामाग्निका शमन ।

(११)

(ऋषिः — वसिष्ठः । देवता — अग्निः)

ये अग्रयो अर्पवन्तये वृत्रे ये पुरुषे ये अग्रमसु ।	
य आविवेशोपधीयो वनस्पतीस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ १ ॥	॥ १ ॥
यः सोमे अन्तयो गोष्वन्तर्य आविष्टो वर्यःसु यो मृगेषु ।	
य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ २ ॥	॥ २ ॥
य इन्द्रेण सरयं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः ।	
यं बोहर्षामि पृथनासु सासाहि तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ३ ॥	॥ ३ ॥
यो देवो विश्वाद्यमु काममाहुषं दातारं प्रतिगृह्णन्तमाहुः ।	
यो घोः शक्रः परिभूरदाम्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ४ ॥	॥ ४ ॥

अर्थ— (ये अग्रयाः अर्पु अन्तः) जो अग्निदां बलके अन्तर है, (ये वृत्रे) जो देवता, और (ये पुरुषे) जो पुरुषम है, तथा (ये अग्रमसु) शिलाओंमें है, (यः सोपधीः यः च वनस्पतीन् आविवेश) जो वनस्पतियोंमें और जो वनस्पतियोंमें प्रविष्ट है (तेभ्यः अग्निभ्यः एतत् हुतं अस्तु) उन अग्निदोंके लिये यह हवन होवे ॥ १ ॥

(यः सोमिः अन्तः, यः गोषु अन्तः) जो सोमके अन्तर, जो गौशुके अन्तर, (यः वयसु, यः मृगेषु आविवेश) जो पक्षियोंमें और जो मृगोंमें प्रविष्ट है, (यः द्विपदः यः चतुष्पदः आविवेश) जो द्विपद और चतुष्पादोंमें प्रविष्ट हुआ है, (तेभ्यः अग्निभ्यः एतत् हुतं अस्तु) उन अग्निदोंके लिये यह हवन होवे ॥ २ ॥

(विश्वदाव्यः उत वैश्वानरः) सबको बलनेवाला परंतु सबका चालक अथवा हितकारी (यः देवः इन्द्रेण सरयं याति) जो देव इन्द्रेके साथ एक रथपर बैठकर चलता है (यं पृथनासु सासाहि जोहर्षामि) जो दुष्टमें विजय देनेवाला है इसलिये विश्वही में प्रार्थना करता हूं (तेभ्यः) उन अग्निदोंके लिये यह हवन होवे ॥ ३ ॥

(यः विश्वाद्यु देवः) जो विश्वका मङ्गल देव है, (यं उ कामं आहुः) जिसको 'काम' नामसे पुकारते हैं, (यं दातारं प्रतिगृह्णन्त आहुः) जिसको देनेवाला और लेनेवाला भी कहा जाता है, (यः घोः शक्रः परिभूः अदाम्यः) जो दुष्टिमार, शक्तिमार, अन्नम करनेवाला और न दबनेवाला कहते हैं (तेभ्यः) उन अग्निदोंके लिये यह हवन होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— जो अग्नि बल, मेष, प्राणियों अथवा मनुष्यों, शिलाओं और औषधिवनस्पतियोंमें है उनको प्रसन्नताके लिये यह हवन है ॥ १ ॥

जो अग्नि सोम, गौवों, पक्षियों, मृगोंमें पशुओं तथा द्विपाद चतुष्पादोंमें प्रविष्ट हुआ है उनके लिये यह हवन है ॥ २ ॥ सबको बलाकर मत्स्य करनेवाला परंतु सबका संचालक जो यह देव इन्द्रेके साथ रथपर बैठकर अन्नम करता है, जो दुष्टमें विजय प्राप्त करनेवाला है उस अग्निके लिये यह हवन है ॥ ३ ॥

जो अग्नि विश्वका मङ्गल है और जिसको 'काम' कहते हैं, जो देनेवाला और स्वीकारनेवाला है, और जो दुष्टिमार, अन्नम, सर्वत्र जानेवाला और न दबनेवाला है, उस अग्निके लिये यह हवन है ॥ ४ ॥

यं त्वा होतारं मनसाग्निं संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः ।

वचोषसं शशसें सनुतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ५ ॥

उक्षात्राय वृक्षात्राय सोमपृष्ठाय वेचसे ।

वैश्वानरज्येष्टेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ६ ॥

दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति ।

ये दिक्ष्वंन्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ७ ॥

हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम् ।

विश्वान्देवानाङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम् ॥ ८ ॥

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुपर्यणः ।

अयो यो विश्वदाव्यंस्त्रं क्रव्यादमग्नीशमम् ॥ ९ ॥

अर्थ— (त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः) त्रयोदश भुवन और पांच मनुष्यजातियां (यं त्वा मनसा होतारं अग्निं संविदुः) जिस वृक्षको मनसे होता अर्थात् दाता मानते हैं, (वचोषसे) तैबस्वीं (सनुतावते) सत्य भाषी और (यशसे) यशस्वी वृक्ष और (तेभ्यः०) उन अग्निभ्योके लिये यह हवन होवे ॥ ५ ॥

(उक्षात्राय वृक्षात्राय) जो बैलके लिये और गौके लिये अन्न होता है और (सोमपृष्ठाय) औषधियोंको पीठपर लेता है उस (वेचसे) शान्तके लिये और (वैश्वानरज्येष्टेभ्यः तेभ्यः०) सब मनुष्योंके हितकारी श्रेष्ठ उन अग्निभ्योके लिये यह हवन होवे ॥ ६ ॥

(ये दिक्ष्वंन्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्) जो सुभोक और अंतरिक्षके अन्दर और विद्युतके अंदर भी अनुकूलतासे संचार करते हैं, (ये दिक्षु अन्तः, ये वाते अन्तः) जो दिशाओंके अंदर और वायुके अंदर हैं (तेभ्यः अग्निभ्यः) उन अग्निभ्योके लिये यह हवन होवे ॥ ७ ॥

(हिरण्यपाणिं सवितारं) सुवर्ण भूयण हाथमें धारण करनेवाले सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि, त्रैवेदेव और आंगिरसोंकी (हवामहे) प्रार्थना करते हैं कि वे (इमं क्रव्यादं अग्निं शमयन्तु) इस मांसमोजी अग्निको शान्त करें ॥ ८ ॥

(क्रव्यादं अग्निः शान्तः) मांसमसृक अग्नि शान्त हुआ, (पुरुपर्यणः शान्तः) मनुष्य हिंसक अग्नि शान्त हुआ (अयं यो विश्वदाव्यः) और जो सबको जलानेवाला अग्नि है (तं क्रव्यादं अग्नीशमम्) उस मांसमसृक अग्निको मैंने शान्त किया है ॥ ९ ॥

भाषार्थ— तैब वृक्षको प्रदेश और मनुष्यकी ब्राह्मण अग्निवादि पांच जातियां इसी अग्निको मनसे दाता मानती हैं, तैबस्वी, सत्यवाणीके प्रेरक, यशस्वी उस अग्निके लिये यह अर्पण है ॥ ५ ॥

जो, बैलके और गौके अन्न देता है, जो पीठपर औषधियोंको लेता है, जो सबका धारक या उत्पादक है, उस सब मानवोंमें श्रेष्ठरूप अग्निके लिये यह अर्पण है ॥ ६ ॥

सुभोक, अन्तरिक्ष, विद्युत्, दिशाएं, वायु आदिमें जो रहता है उस अग्निके लिये यह अर्पण है ॥ ७ ॥

सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि और आंगिरस आदि सब देवोंकी हम प्रार्थना करते हैं कि वे सब देव इस मांसमसृक अग्निको शान्त करें ॥ ८ ॥

यह मांसमोजी पुरुषनाशक और सब अगत्की जलानेवाला अग्नि शान्त हुआ है, मैंने इसको शान्त किया है ॥ ९ ॥

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आपं उच्चानुशीवरीः ।

वातः पर्जन्य आदुप्रित्ते क्रुव्यादमञ्जीश्वमन्

॥ १० ॥

अर्थ— (ये सोमपृष्ठाः पर्वताः) जो वनस्वतियोंकी पठपर धारण करनेवाले पर्वत हैं, (उच्चानुशीवरीः आपः) ऊपरकी जलवाले जो जल हैं, (वातः पर्जन्यः) वायु और पर्जन्य (आदु अग्निः) तथा जो अग्नि है (ते) वे सब (क्रुव्याद् अशीश्वमन्) मांसभोजी अग्निकी शान्त करते हैं ॥ १० ॥

भाषार्थ— जहाँ सोमादि वनस्वतियाँ हैं ऐसे पर्वत, ऊपरकी गतिसे करनेवाले जलप्रवाह, वायु और पर्जन्य तथा अग्नि वे सब देव मांसमक्षक अग्निकी शान्त करनेमें सहायता देते हैं ॥ १० ॥

कामाग्निका स्वरूप ।

इस सूक्तमें कामाग्निकी शान्त करनेका विधान है। कामकी अग्निकी उपमा देकर अथवा अग्निके वर्णनके सिद्धसे कामकी शान्त करनेका वर्णन इस सूक्तमें बड़ा ही मनोरंजक है। यह सूक्त 'बृहच्छान्तिपथ' में गिना है, कृष्णसुख कामका शान्त करना ही 'बृहच्छान्ति' स्थापित करना है। यह कश्चि बड़ा कठिन और कष्टसाध्य कार्य है। इस सूक्तमें जो अग्नि है वह 'कम्पाद' अर्थात् कृपा मांस खानेवाला है, साधारण लोग समझते हैं कि इस सूक्तमें सुर्गे जलानेवाले अग्निका वर्णन है, परंतु यह मत ठीक नहीं है। कामरूप अग्निका वर्णन इस सूक्तमें है और यही कामरूप अग्नि बड़ा मनुष्यमक्षक है। जितना अग्नि जलता है उससे सहस्र गुणा यह काम करता है, यह बात पाठक विचारकी दृष्टिसे देखेंगे तो जान सकते हैं। इक्षुत्विये इस सूक्तके अग्निका स्वरूप पहले हम निश्चित करते हैं। इसका स्वरूप बतानेवाले जो अनेक शब्द इस सूक्तमें हैं उनका विचार अब करते हैं—

१ यो देवो विश्वाद् यं उ कामं आदुः ।

(सू. २१, मं. ४)

जो अग्निदेव सब जगत्की जलानेवाला है और त्रिशदो 'काम' कहते हैं ।

इस मंत्रमागमें स्पष्ट कहा है कि इस सूक्तमें जो अग्नि है वह 'काम' ही है। नाम निर्देश करनेके कारण इस विषयमें किसीको संका करना भी अब उचित नहीं है। तथापि निश्चयकी दृष्टाते लिये इस सूक्तके अन्य मंत्रमाग अब देखिये—

२ क्रुव्याद् अग्निः ।

(सू. २१, मं. १)

मांस मक्षक अग्नि ।

३ पुरुषरेषणः अग्निः ।

(सू. २१, मं. १)

पुरुषका नाशक (काम) अग्नि ।

कामकी प्रकृत्यासे मनुष्यका शरीर मूल जाता है और इस कामके प्रयोगसे कितने मनुष्य सहपरिवार नष्टप्रद हो गये हैं यह पाठक यहाँ विचारकी दृष्टिसे मनन करें, तो इन मंत्रमागोंका मनोरंजक अर्थ ध्यानमें आ सकता है। इस दृष्टिसे—

४ विश्वाद् अग्निः ।

(सू. २१, मं. ४, १)

विश्वका मक्षक (काम) अग्नि ।

यह विनम्रक ब्रह्म है। मगबहोतामें कामको—

काम एष श्लोथ एष रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशानो महापाप्मा विश्वेयनमिह वैरिणम् ॥

(म. गी. ३।३७)

यह काम बड़ा (महाशून्यः) खानेवाला है। 'महाशून्य (महा-अशून्यः) और विश्वाद् (विश्व-अद्)' वे दोनों एक ही भाव बतानेवाले शब्द हैं। अक्षसुख काम बड़ा खानेवाला है, इसकी कमी लृप्ति होती ही नहीं, कितना ही खानेको मिले यह शून्य अक्ष ही रहता है, इसका पेट सब जपत्की का खानेके भी भरता नहीं, इसी अर्थको बतानेवाला यह शब्द है—

५ विश्व-दृष्यः ।

(सू. २१, मं. ३, १)

सबको जलानेवाला (काम अग्नि) ।

यह काम सचमुच सबको जलानेवाला है, जब यह काम मनमें प्रबल होता है, तब यह अंदरसे चलाने लगता है। मक्षकचर्य धारण करनेवाला मनुष्य अंदरसे बर्धने लगता है और कामाग्निकी अग्नि अंदर बतानेवाला मनुष्य अंदरसे चलने लगता है ! जिसका अंतःकरण ही जलता रहता है, उसके लिये मानी सब धगत् ही बनने लगता है। जिसके मनमें कामाग्निकी ध्यानार्थ मक्षक उठती है, उसको न अल क्षांति दे सकता है, न अंतर्मानी अक्षमूर्षी क्षिणं क्षांति दे सकती है, वह तो

यह अक्षांत और संतत होता जाता है ऐसी इस कामाग्नि की दाहकता है ।। इसके शमने यह अग्नि क्या जला सकता है ? कामाग्नि ही दाहकता इतनी अधिक है, कि उसके शमने यह भौतिक अग्नि मानो शान्त ही है और इछोलिपे मंत्र आठमें 'इस अग्नि को कामाग्नि ही शान्त करने को कहा है ।' यदि यह अग्नि कामाग्नि शान्त न हो तो कामाग्नि शान्त कैसे कर सकता है ?

इस प्रकार इच्छा गुणगौरव करने वाले जो विशेषण इस सूक्ष्म अग्नि हैं, वे इच्छा स्वरूप निश्चित करने में बड़े सहायक हैं। इनके मननसे निवृत्त होता है, कि इस सूक्ष्म वर्णित हुआ अग्नि साधारण भौतिक अग्नि नहीं है, प्रत्युत यह कामाग्नि है। भौतिक अग्नि का वाचक अग्नि शब्द स्वतंत्र रीतिसे अष्टम मन्त्रमें आया है, इसका विचार करनेसे भी इस सूक्ष्म वर्णित अग्नि का स्वरूप निश्चित हो जाता है।

काम और इच्छा ।

'काम' शब्द जैसा काम विचारका वाचक है उसी प्रकार इच्छा, कामना का भी वाचक है। वस्तुतः देखा जाय तो ये काम, कामना और इच्छा मूलतः एक ही शक्ति के वाचक हैं। निश्चिन्त इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध हो जानेसे एक ही इच्छा-शक्ति का रूप जैसा कामाग्निद्वारेण प्रगट होता है और वैसा ही अन्य इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध होनेसे कामनाके रूपमें भी प्रगट होता है। परन्तु इनके अन्दर सुसंकर देखा जाय तो 'मुझे चाहिये' इस एक इच्छाके विचार दूसरा इसमें कुछ भी नहीं है, जतने अन्दर कुछ न्यूनता है, उसकी पूर्तिका लिये बाहरसे किसी पदार्थको प्राप्त करना चाहिये, वह बाह्य पदार्थ प्राप्त होनेसे ही पूर्ण हो जावेगा। इसीप्रकार प्रथमकी इच्छा ही 'काम कपया कामना' है। यही इच्छा सकल बला रही है, इस लिये इसके विषयकी चालक शक्ति कहा है। देखिये—

वैश्वानरः (विश्व-नेता) । (सू. ११, मं. ६)

'यह (विश्व-नर) विश्वका नेता अर्थात् विश्वका चालक (काम) है। विश्वकी चलानेवाली यह इच्छाशक्ति है। यह कामशक्ति न हो तो संसारका चलना अशक्य है। पदार्थ मात्रमें-मनसे कम चेतन और अर्थ चेतन अर्थात्-यह स्पष्ट दिखाई देती है।' इस विषयमें प्रथम और द्वितीय मंत्रका कथन स्पष्ट है।

'इस कामरूप अग्नि के अनेक रूप हैं और वे जल, मेघ, पाप, औषधि वनस्पति, सोम, गी, पशु, द्विपाद,

चतुष्पाद, मनुष्य आदि सबमें है। (मं. १, २) तथा 'पृथिवी, अन्तरिक्ष, विद्युत्, सुलोक, दिशा, वायु आदिमें भी है।'

(मं. ७)

इस मंत्रसे स्पष्ट हो जाता है कि यह कामाग्नि पापपर जल औषधियोंसे लघु मनुष्योंतक सब सृष्टिमें विद्यमान है। औषधियों वनस्पतियोंकी इच्छा करती है, वृक्ष फलना चाहते हैं, पशु उठना चाहते हैं, मनुष्य जगतकी जीतना चाहता है इस प्रकार हर एक पदार्थ अपनी शक्तिकी और अपने अधिकार क्षेत्रको फैलाना चाहता है। यही इच्छा है और यही काम है। यही सब जननेन्द्रियके साथ अपना संबंध जोड़ता है तब उसकी कामाग्नि का कहा जाता है, परंतु मूलतः यह शक्ति वही है, जो पहले इच्छाके नामसे प्रसिद्ध थी। यही स्वार्थी कामना 'पाप और वैलोंकी पालनी है और उनको खिलाती-पिलाती है, औषधियोंकी पालना करती है।' (मं. १)

कामकी दाहकता ।

वस्तुतः भौतिक अग्नि जलाती है, ऐसा अनुभव हर एकको आता है, और काम या इच्छाकी वैसी दाहकता नहीं है ऐसा भी सब मानते हैं, परंतु साधारण इच्छा क्या, कामना क्या और कामाग्नि क्या इतने अधिक दाहक हैं, कि 'उनकी दाहकताके साथ अग्नि की दाहकता कुछ भी नहीं है ।।

राज्य बसानेकी इच्छा कई राज्यपालकी बट जानेके कारण पृथ्वीके ऊपर कई राष्ट्रोंकी परातंत्र्यकी अग्नि जला रही है, इस स्वार्थी इच्छाके कारण इतने मयंकट सुख हुए हैं और उनमें मनुष्य इतने अधिक मर चुके हैं कि उतने अग्नि की दाहकतासे निःसंदेह मरें नहीं हैं। इछोलिपे इसको सुवर्ण सेवने (पृतनासु स्वार्थि) अर्थात् सुखमें विभ्रयो कहा है। किसी भी पशुकी जीत हुई तो इच्छाको वह जीत होती है ।।

एक समाज दूसरी समाजको अपने स्वार्थके कारण दबा रहा है, ऊपर उठने नहीं देता है, दबी आतिगोष्ठे जितना चाहे स्वार्थसाधन किया जा रहा है, यह एक ही स्वार्थकी कामनाका ही प्रताप है। धनी लोग निर्धनोंको दबा रहे हैं, अधिकारी वर्ग प्रजाको दबा रहा है, एक समर्थ राष्ट्र दूसरे निर्धल राष्ट्रको दबा देता है, इसी प्रकार एक भाई दूसरे भाईकी चीज छीनता है, ये सर्व कामके ही रूप हैं, जो मनुष्योंकी अंतर ही अंतरसे जला रहे हैं ।

आज सुंदर रूपकी कामना करता है, बान मयुर स्वरकी अभिलाषा करता है, त्रिवेदा मयुर रसोंकी इच्छुक है, इसी प्रकार अन्यान्य इंद्रियों अन्यान्य विषयोंकी चाहती हैं। इनके

कारण जगत्में जो विश्वंश और नाश हो रहे हैं, वे किन्हीं छिपे नहीं हैं। इतनी विनाशक शक्ति इस भौतिक जगत्में कहाँ है ?

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर ये मनुष्यके छः शत्रु हैं, इन शत्रुओंमें सबसे मुख्य शत्रु 'काम' है, सबसे बड़कर इसके अंदर विनाशकता है। यह प्रेमसे पाश आता है, सुख देनेका प्रलोभन देता है और कुछ सुख पहुँचता भी है। परंतु अंदर अंदरसे ऐसा काटता है, कि कृत् जानेवालेको अपने कृत् जानेका पता तक नहीं लगता !!! इस कामविकाररूपी शत्रुकी विनाशकता सब शास्त्रोंमें प्रतिपादन की है। हरएक धर्मगुस्तक इससे बचनेका उपदेश कर रहा है।

जिस समय कामविकारकी ज्वाला मनमें मूढक उठती है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि खून उबल रहा है। खूनके उबलनेका मान स्पष्ट होता है, शरीर गर्म हो जाता है, मस्तिष्क तनता है, अवयव शिथिल हो जाते हैं, मस्तिष्ककी विचारशक्ति हट जाती है और एक ही काम मनमें राज करने लगता है। खूनकी पीसता है, शक्तीये नष्ट करता है, वीर्यका नाश करता है और आयुका क्षय करता है। ये सब लक्षण इसकी दाहकताके हैं। इसकी यह विश्वंशक शक्ति देखकर पाठक ही विचार कर सकते हैं कि इसकी विनाशकताकी आगिके साथ क्या तुलना हो सकती है ? इसलिये मंत्रमें कहा हुआ विशेषण (विश्व-दाह्यः) जगत्की बलानेवाला इसके अंदर बिलकुल सार्थ हो जाता है !!

इस शब्दका विचार करके पाठक 'कामकी दाहकता' जाने और इसकी दाहकतासे अपने आपकी बचानेका उपाय करें।

न दत्नेवाला ।

चतुर्थ मंत्रमें इसके विशेषण ' विश्वाद्, दाता, प्रति-गृह्णन्, धीरः, शक्रः, परिभूः, अदाभ्यः ' आये हैं और इन्हीं इसका नाम (यं कामं आहुः) 'काम' करके कहा है। अर्थात् इसी कामागिके ये गुणबोधक विशेषण हैं। इसलिये इनके अर्थ देखिये—

' यह काम (विश्वाद्) जगत्की खानेवाला, (दाता) दान देनेवाला, (प्रतिगृह्णन्) आनुष्यादिके लेनेवाला, (धीरः) धैर्य देनेवाला, (शक्रः) शक्तिशाली, (परिभूः) सबसे बड़कर होनेवाला, (अदाभ्यः) न दत्नेवाला है ।'

(मं. ४)

विचार करनेपर ये विशेषण कामके विषयमें बड़े सार्थ हैं ऐसा ही प्रतीत होगा। जिस समय मनमें काम उत्पन्न होता है

उस समय बुद्धीकी मलिन करता है, अपनी इच्छा तृप्त करनेके लिये आवश्यक धैर्य अथवा साहस उत्पन्न करता है, अन्य समय मोह दिखाई देनेवाला मनुष्य भी कामविकारकी लहरमें बड़े साहसके कर्म करने लगता है, जब यह मनमें बढता है तब सब अन्य भावनाओंको दबाकर अपना अधिकार सबपर जमा देता है, दबानेका मत्न करनेपर भी यह उलट कर अपना प्रभाव दिखाई देता है ! इस प्रकार पूर्वोक्त विशेषणोंका आशय यहाँ विचार करनेसे स्पष्ट हो सकेगा। इसके दादा और प्रतिप्रदाता (अथर्व. ३१२९७ में भी ' कामो दाता कामः प्रतिप्रदाता ' कहा है) ये दो विशेषण भी विशेष मनन करने योग्य हैं। यह किंचित् सा सुख देता है और बहुत सा बोध हरण करता है, ये अर्थ पूर्वोक्त संघटिसे वही अन्वयक दिखाई देते हैं। साधारण कामनाके अर्थमें देने और लेनेवाला कामनासे ही प्रवृत्त होता है, इसलिये यह काम ही देनेवालेको दानमें और लेनेवालेको लेनेमें प्रवृत्त करता है, यह इस मंत्रका आशय भी स्पष्ट ही है।

पंचम मंत्रमें ' प्रयोदश मुवर्तोंमें रहनेवाले पंचजन इनको मनसे मानते हैं, दाता करके पूजते हैं ' ऐसा कहा है। संपूर्ण जनता कामकी ही उपासना करती है यह बात इस मंत्रमें कहाँ है। कई विरक्त संत महन्त इस कामकी अपने आशान करके परमात्मोपासक होते हैं, अन्य संसारी जन तो कामकी ही अपने सर्वस्वका दाता मानते हैं। इस प्रकार इस कामने ही सब जगत्पर अपना अधिकार जमादा है। जनता समझती है कि (चर्चः) तेज (पशुः) पश और (स्रुतं) स्रज आदि सब कामके प्रभावसे ही सफल और सुखल होता है। सब लोग जो संसारमें मग्न हैं, इसीकी प्रेरणासे बले हैं माने इसीके वेगसे धून रहे हैं। जो सत्पुण्य इसके वेगसे मुक्त होकर इस कामकी बात लेता है वही श्रेष्ठ होता हुआ मुक्तिपर अवि-चारी होता है, मानो इसके वेगसे छूट जाना ही मुक्ति है। परंतु कितने बड़े लोग इसके वेगसे अपने आपकी मुक्त करते हैं ! यही इस सूक्तके मननके समय विचार करने योग्य बात है।

इन्द्रका रथ ।

चतुर्थ मंत्रमें कहाँ है कि ' यह काम इन्द्रके रथपर बैठकर (इन्द्रेण सरथं याति) जाता है । ' (मं. ३) यह देखना चाहिये कि इन्द्रका रथ कौनसा है ? ' इन्द्र ' नाम श्रीब्रह्माका है और उसका रथ यह शरीर ही है। इस विषयमें उपनिषद्का वचन देखिये—

आत्मानं यथिनं विद्धि शरीरं रूपमेव तु ।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान् ॥

(कठ. उ. ३।४)

'आत्मा रूपमें बैठनेवाला है, उसका रूप यह शरीर है और इन्द्रियों उस रूपके बंधे हैं, जो विषयोंमें प्रकृत हैं।' इस वर्णनसे इन्द्रके रूपका पता लग सकता है । इस उपनिषद्बचनके 'इन्द्रिय' परका अर्थ 'इन्द्रकी शक्ति' है । हमारे इन्द्रिय इन्द्रकी शक्तियों ही हैं, यह देखनेसे आत्मा ही इन्द्र के इस विषयमें विषय ही प्रकृत है ।

इस इन्द्र अर्थात् आत्माके शरीररूपमें रूपमें यह 'काम' बैठता है यह विधान तृतीय मंत्रका है—

यः इन्द्रेण सरथं याति । (सू. २।१, मं. ३)

'जो कामरूप अग्नि इन्द्रके रूपपर बैठकर जाता है' इस वाक्यका अर्थ अब स्पष्ट हुआ ही होगा । पाठक आन सङ्केत हैं कि इस शरीरमें अग्नि जीवात्मा है अथवा इन्द्र है, उसी प्रकार काम भी है, दोनों इसको चलायिते हैं । इसूल दृष्टिसे देखा काम तो काम अर्थात् इच्छा ही इसको चला रहा है । इस प्रकार इस शरीरमें कामकी स्थिति है ।

कामरूपी यह अग्नि प्राणियोंके शरीरमें जल रही है इसको अधिक प्रकल्पित करना उचित नहीं, प्रत्युत इसको अशक्तक प्रयत्न ही संकटा है, उतना प्रयत्न करके शांत करनेका ही उपाय करना चाहिये । इसको शांत करनेका उपाय अब देखिये—

कामिशान्तिका उपाय ।

नवन मंत्रमें इस कामाग्निके शान्त हो जानेका विधान है । देखिये वह मंत्र—

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुष्टपरेषणः ।

सयो यो विश्वदादपस्ते क्रव्यादमर्षाशमम् ॥

(सू. २।१, मं. १)

'यह मांसमण्डक कामरूपी अग्नि शान्त हुआ, यह मनुष्यका मांसक कामरूपी अग्नि शान्त हुआ, जो यह सबको जलनेवाला कामाग्नि है उसको मैंने शान्त किया है।' इस मंत्रमें इस कामाग्निके शान्त होना कहा है, इस विशालसे शान्त करनेका कुछ उपाय है वह निःसन्देह सिद्ध होता है । यदि एक मनुष्य इसको शान्त कर सकता है तो अन्य मनुष्य भी उसी मार्गसे आकर अपने शरीरमें जलते रहने-वाले इस कामाग्निके शान्त कर सकते हैं । हरएकके शरीरमें एक कामाग्नि जलता है इसलिये हरएकके चाहिये कि यह प्रयत्न करके इसको शान्त करनेका पुरस्कार करें और अग्नि-क

शान्ति प्राप्त करें । इसको शान्त करनेका उपाय बीच रहे अष्टम मंत्रके भागमें और नवन मंत्रमें कहा है—

'हिरण्यपाणि शान्तिता, इन्द्र, नृद्वरपति, वरुण, मित्र, अग्नि, विधेदेव, आशिरथ, इनका हम यजन करते हैं, ये इस मांस मण्डक कामाग्निके शांत करें।' (मं० ८)

'सोमवज्री जिनपर जगती है वे पर्वत, ऊपर वनन करने-वाले जल, वायु, परंज्य और अग्नि ये इस मांसमण्डक कामाग्निके शान्त करें।' (मं० १०)

इन दो मंत्रोंमें जो मार्ग बड़ा है वह कामाग्नि शान्त करने-वाला है । ये मन्त्र उपायकरण करनेके कारण अत्यन्त महत्त्वके हैं और इनका इसी कारण अधिक मनन करना चाहिये । इन दो मंत्रोंमें जो उपाय कहे हैं, उनका क्रमपूर्वक चिन्तन अब करते हैं—

१ सोमवज्राः पर्वताः—जिन पर्वतोंपर सोमवज्री अथवा अन्यन्य औषधियों संगों हैं वे पर्वत कामाग्नि शान्त करनेमें सहायक होते हैं । इसमें पर्वतों बात तो उन पर्वतोंका शान्त जलवायु वायुकी भङ्गने नहीं देता है । शीत प्रदेशकी अथवा उष्ण प्रदेशमें कामाग्निके उष्णता शीघ्र और अधिक भङ्गक लक्षणी है । सभ्य देशके लोच भी इसी कारण बौद्धि लायुमें कामाग्निके उर्ध्वपित होते हैं । इस विषयमें दूसरी बात यह है कि सोम अग्नि की शक्तिरहितवज्री औषधियां सेवन करनेसे भी कामाग्नि-की उष्णता शान्त होती है । सोमवज्री उगनेवाले पर्वतशिखर हिमालयमें हैं, वहाँ ही दिव्य औषधियां होती हैं । योग्य लोच उष्णता सेवन करके स्थिरवीर्य और शोषणीवी होते हैं । तीसरी बात इसमें यह है कि ऐसी पदाहियोंमें प्रलोभन कम होते हैं, चतुर्थी जैसे अत्यधिक नहीं होते, इसलिये जो कामकी उत्तेजना चतुर्थी जैसी नहीं होती है । इसीलिए अनेक उपाय इन पदाहिके साथ सम्बन्ध रखते हैं । (मं० १०)

२ उत्तानशीवरीः व्यापः—जल भी कामाग्निके शान्त करनेवाला है । शीत जलका स्नान, जलाशयोंमें तैरनेसे सम्-शान्तोष्णता होती है जिससे कामकी उष्णता दूर होती है, शीत जलसे मन्त्र शरीरका स्नान करना, जिसका कश्चिदान कहते हैं, मन्त्रवर्षे साधनके लिये बड़ा लाभदायक है । उष्ण इन्द्रियके आराधनाका प्रथम राजकी समय, या जिस समय कामका उद्रेक हो जावे उस समय जो देनेसे मन्त्रवर्षे साधनमें बड़ी सहायता होती है । इस प्रकार विविध रीतियोंसे जलकी सहायता कामाग्निके शान्त करनेके कार्यमें होती है । (मं० १०)

३ परंज्यः—मेघ अर्थात् रुद्रिका जल इस विषयमें कामकारी है । वृष्टि होते-समय उसमें सखा होकर उस आकाश-

मंगाके जलसे स्नान करना भी बड़ा उत्तम है । इससे शरीरकी उष्णता कम हो जाती है । इसके अतिरिक्त शृष्टिकल पानेसे भी शरीरके अन्दरके दोष हट जाते हैं । और कामकी शान्ति होनेमें सहायता होती है । (मं० १०)

४ अग्निः— आग, अग्नि यह वस्तुतः शरीरको अधिक उष्ण बनानेवाला है । जो कोमल प्रकृतिके मनुष्य होते हैं यदि उनको अग्निसे साथ कार्य करनेका अवसर हुआ तो उनके शरीरकी उष्णता बढ़नेसे उनका शरीर अधिक गर्म हो जाता है और उसके कारण उनको वीर्यदोषकी बाधा हो जाती है । इसलिये इस प्रकारकी अत्यधिक कामलता शरीरसे हटानी चाहिये । अग्नि प्रयोगसे ही यह हट सकती है । होम हवन करते समय शरीरको अग्निसे उत्तम उष्णता है, अन्य प्रकारसे भी शरीरको अग्निसे उष्णतासे परिचित रखना चाहिये, जिससे किसी समय आगके साथ काम करना पड़े, तो उस उष्णताको शरीर सह सकेगा । अग्निकी उष्णताका हानिकारक परिणाम शरीरपर न होनेके लिये इस प्रकार शरीरको सहनशक्तिसे युक्त बनाना चाहिये । (मं० १०)

५ वातः— वायु भी इस विषयमें लाभदायक है । शुद्ध वायु घेवन, तथा शुद्ध वायुमें भ्रमण करनेसे बड़े लाभ हैं । प्राणायाम करना भी वायुसहनकी एक लाभप्रद रीति है । प्राणायाम करनेसे वीर्यदोष दूर होते हैं । प्राणायामके अभ्याससे मनुष्य स्थिर वीर्य हो जाता है । इस कारण वायुको कामाग्निका शान्त करनेवाला कहा है । जो जगत्में वायु है वही शरीरमें प्राण है । (मं० १०)

६ सञ्चिता— सूर्य भी इस विषयमें बड़ा सहायक है । जो वात अग्निसे विषयमें बड़ी है, वही सूर्यके विषयमें भी सत्य है । कोमल प्रकृतिवाले मनुष्य सूर्यप्रकाशमें घूमने फिरनेसे वीर्यदोषी होजाते हैं, यह इस कारण होता है कि सूर्यप्रकाश सहन करनेकी शक्ति उनमें नहीं होती । वस्तुतः सूर्यका प्रकाश शरीर स्वास्थ्यके लिये बड़ा लाभकारी है । सूर्यप्रकाशमें बड़ा जीवन है । योधा योधा सूर्य प्रकाशसे अपने शरीरको तपाते जानेसे शरीरकी सहनशक्ति बढ़ती है और शरीरमें अदृश्य जीवनरस संचारने लगता है, आरोग्य बढ़ जाता है और योधीकी उष्णतासे कामकी उत्तेजना शरीरमें होनेकी संभावना कम होती है । इस प्रकारकी सहनशक्ति बढ़ानेका प्रयत्न करना ही तो प्रथम प्रातःकालके कोमल सूर्यप्रकाशमें भ्रमण करना चाहिये और पश्चात् कठोर प्रकाशमें करना चाहिये । यह सूर्या-तपस्नान बड़ा ही लाभदायक है । मंत्रमें ' हिरण्यपाणि सविता ' ये शब्द नक्षत्रके सूर्यके ही वाचक हैं, होनेके

रंगके समान रंगवाले हिरणोवाला सूर्य प्रातः और सायं ही होता है । (मं० ८)

७ चट्टणः— चट्टण स्थान समुद्र है । इसलिये समुद्र-स्नान इस विषयमें लाभकारी है ऐसा हम यहाँ समझ सकते हैं । इसमें अलम्बन भी आ सकता है । (मं० ८)

८ मित्रः— सूर्य, इस विषयमें पूर्ण स्थलमें बड़ा ही है । यदि ' हिरण्यपाणि सविता ' पूर्वाह्नका है तो उसके बादके सूक्ष्म नाम मित्र है । पूर्वाह्न प्रकार यह भी लाभदायक है । मित्रकी प्रेमदृष्टिका उदय होनेसे भी अर्थात् जगत्की ओर प्रेमपूर्ण मित्र दृष्टिसे देखनेसे भी बड़ा लाभ होता संभव है । (मं० ८)

९ विश्वे देवाः— अन्यान्य देवताओंके विषयमें भी इसी प्रकार विचार करके जानना चाहिये और उनसे अपना लाभ करना चाहिये । इस विषयमें बड़ा विचार करना योग्य है ।

१० वृद्धस्पतिः— यह ज्ञानकी देवता है । ज्ञानसे भी कामाग्निकी शान्ति साधन करनेमें सहायता हो सकती है । वृद्धस्पति नाम ' गुरु ' का है । गुरुसे ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञानके बलसे अपनेको बचाना चाहिये अर्थात् कामाग्निका संवन करना चाहिये । यहाँ जो ज्ञान आनन्दरस है वह शरीरसाध्य, मानससाध्य, अध्यात्मसाध्य इत्यादिका ज्ञान है । साथ ही साथ भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग आदिका भी ज्ञान होना चाहिये । (मं० ८)

११ अङ्गिरसः— अंगरघकी विद्या जाननेवाले ऋषि । शरीरमें सर्वत्र संचार करनेवाला एक प्रकारका जीवनरस है, उसकी विद्या जो जानते हैं, उनसे यह विद्या प्राप्त करके उस विद्या द्वारा कामाग्निका शमन करना चाहिये । योगसाधनमें इस विषयके अनेक उपाय कहे हैं, उनका भी यहाँ अनुसंधान करना चाहिये (मं० ८)

१२ इन्द्रः— इन्द्र नाम जीवात्मा, राजा और परमात्माका है । इन तीनोंका कामाग्निकी शान्ति करनेमें बड़ा संबंध है । जीवात्माका आत्मिक बल बढ़ाकर शुभसंस्कारोंके द्वारा अपने अन्दरके कामाग्निकारका संयम करना चाहिये । राजाकी चाहिये कि वह अपने राज्यमें द्रष्टव्य और संयमका वायुमंडल बढ़ाकर कामाग्निकी शान्ति करनेकी सबके लिये सुगमता करे । एतन्में अध्यापकत्व और संरक्षक अधिकारी बर्ग द्रष्टव्यारी रक्षक राज्य चढ़ानेका उद्देश अथर्ववेदके द्रष्टव्य वृद्ध [अथर्व. १०।५ (७) १६] में कहा है । वह यहाँ अथर्व देखने योग्य है । इससे राजाके कर्तव्यका पता लग सकता है । यदि राज्यमें

अध्यापक गण पूर्ण ब्रह्मचारी हों और राज्यशासनके अन्य ओहदेदार भी उत्तम ब्रह्मचारी हों तो उस राज्यका वायुमंडल ही ब्रह्मचर्यके लिये अनुकूल होगा और ऐसे राज्यमें रहनेवाले लोगोंका ब्रह्मचर्य रहना, संयम होना अथवा कामामिच्छा शमन होना निःसन्देह सुसाध्य होगा । धन्य है ऐसे वैदिक राज्यकी कि जहाँ सब अधिकारी वर्ग और अध्यापक वर्ग ब्रह्मचारी होते हों । वैदिकधर्मियोंको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि ऐसे राज्य उस भूमंडलपर स्थापित हों और सर्वत्र ब्रह्मचर्यका वायुमंडल फैले । इसके नंतर इन्द्र शब्दका तीसरा अर्थ परमात्मा है । यह

परमात्मा तो पूर्ण ब्रह्मचर्यका परम आदर्श है, इसकी माक्ति और उपासनसे कामामिच्छा शमन होता ही है । सब ऋषियुग्मि और योगी इसी परमात्म माक्तिकी साधनासे मन-संयम द्वारा कामामिच्छा शमन करके अमर हो गये ।

इस प्रकार उपायका वर्णन इस सूक्तमें किया है । यह मूल अलगन महत्त्वका है । इसका पाठ ' बृहच्छान्तिगण ' में किया है । सबसुख यह सूक्त बृहती शान्ति करनेवाला ही है । जो पाठक इसके अनुष्ठानसे इस शान्तिकी साधना करेगा वेही धन्य होंगे ।

वर्चःप्राप्ति सूक्त ।

(११)

(ऋषिः — वसिष्ठः । देवता — वर्चः, बृहस्पतिः, विश्वेदेवाः)

हस्तिवर्चसं प्रयतां बृहद्यज्ञो अर्दित्या यत्तन्वुः संवभूर्व ।

तत्सर्वे समदुर्मर्षमेतद्विश्वे देवा अर्दितिः सजोपाः

॥ १ ॥

मित्रश्च वर्षणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु ।

देवासीं विश्वधापसुस्ते माञ्जन्तु वर्चसा

॥ २ ॥

येन हस्ती वर्चसा संवभूव येन राजा मनुष्येष्वप्यन्तः ।

येन देवा देवतामग्रं आयन्तेन मामथ वर्चसाप्रे वर्चस्विनं कृणु

॥ ३ ॥

अर्थ— (यम् अर्दित्याः तन्वः) जो अर्दितिके शरीरमें (संवभूव) उत्पन्न हुआ है वह (हस्तिवर्चसं बृहद्यज्ञः) हाथोंके बलके समान बड़ा यज्ञ (प्रयतां) फैले । (तन् पतत्) वह यह यज्ञ (सर्वे सजोपाः विश्वे देवाः अर्दितिः) सब एक मनवाले देव और अर्दिति (मह्यं सं अद्भुः) मुझे देते हैं ॥ १ ॥

(मित्रः च वरुणः च इन्द्रः च रुद्रः च) मित्र, वरुण, इन्द्र और रुद्र (चेततु) उत्साह देंगे । (ते विश्व-धापसा देवाः) वे विश्वके धारक देव (वर्चसा मा अञ्जन्तु) तेजसे मुझे सुख करें ॥ २ ॥

(येन वर्चसा हस्ती संवभूव) त्रिषु तेजसे हाथों उत्पन्न हुआ है, और (येन मनुष्येषु अप्यन्तः राजा संवभूव) त्रिषु तेजसे मनुष्योंमें और जलोंके अन्दर राजा हुआ है, और (येन देवाः अप्रे देवतां आयन्) त्रिषु तेजसे, देवोंने पहले देवत्व प्राप्त किया, (तेन वर्चसा) उस तेजसे, हे अग्ने ! (मां अथ वर्चस्विनं कृणु) मुझे आज तेजस्वी कर ॥ ३ ॥

भाषार्थ— जो मूल प्रकृतिके अन्दर बल है, जो हाथों आदि पशुओंमें जाता है, वह बल मुझमें आवे, सब देव एक मनसे मुझे बल देंगे ॥ १ ॥

मित्र, वरुण, इन्द्र और रुद्र ये विश्वके धारक देव मुझे उत्साह देंगे, ज्ञान देंगे और मुझे तेजसे सुख करें ॥ २ ॥

त्रिषु बलसे हाथों सब पशुओंमें बलवान् हुआ है, त्रिषु बलसे मनुष्योंके अन्दर राजा बलवान् होता है और भूमि तथा जलपर भी अपना शासन करता है, त्रिषु बलसे पहले देवोंने देवत्व प्राप्त किया था, हे तेजसे देव ! वह बल आज मुझे प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

यत्ते वर्चो जातवेदो बृहद्मवृत्याहुंतेः ।

यावत्सूर्यस्य वर्च आसुरसं च हस्तिनः ।

तार्धन्मे अश्विना वर्च आ घंतां पुष्करस्रजा ॥ ४ ॥

यावच्चतस्रः प्रदिसृक्षक्षुर्पावत्समश्नुते ।

तार्धत्समैर्त्विन्द्रियं मयि तद्वस्तिवर्चसम् ॥ ५ ॥

हस्ती मृगाणां सुपदांमतिष्ठावान्भूव हि ।

तस्य भोगेन वर्चसाभि पिञ्चामि मामुहम् ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (जातवेदः) जातवेद ! (ते यत् वर्चः आहुतेः बृहत् मवति) तेरा जो तेज आहुतियोंके बरा होता है (यावत् सूर्यस्य, वासुरस्य हस्तिनः च वर्चः) और जितना सूर्यके और आहुतों हावी [मेघ] का बल और तेज होता है, हे (पुष्करस्रजौ अश्विना) पुष्पनाला धारण करनेवाले अश्वि देवों ! (तावत् चतस्रः मे वा घंतां) सतना तेज मेरे लिये धारण कीजिये ॥ ४ ॥

यावत् (चतस्रः प्रदिशः) जितनी दूर जातों दिशाएँ हैं, (यावत् क्षुः समश्नुते) जितनी दूर दृष्टि फैली है, (तावत् मयि तत् हस्तिवर्चसं इन्द्रियं) उतनी मुझमें वह हावीके धमन इन्द्रियोंके बल (सं येतु) इष्टता होकर मिले ॥ ५ ॥

(हि सुपदां मृगाणां) जैसा अच्छे दंठलेवाले पशुओंमें (हस्ती अतिष्ठावान् भूव) हावी बरा प्रतिष्ठितान् हुआ है, (तस्य भोगेन वर्चसा) उसके ऐश्वर्य और तेजके साथ (अहं मां अभि पिञ्चामि) मैं अपने आरकी कनिष्ठिक करता हूँ ॥ ६ ॥

भाषार्थ— हे बने हुएके जाननेवाले देव ! जो तेज अभिमें आहुतियों देनेके बरादा है, जो तेज सूर्यमें है, जो अच्छोंमें तथा हावीमें या मेघोंमें है, हे अश्विदेवों ! वह तेज मुझे दीजिये ॥ ४ ॥

चार दिशाएँ जितनी दूर फैली हैं, जितनी दूर मेरी दृष्टि जाती है, उतनी दूरतक मेरे सामर्थ्यका प्रभाव फैले ॥ ५ ॥

जैसा हावी पशुओंमें बरा बलवान् है, वैसा बल और ऐश्वर्य मैं प्राप्त करता हूँ ॥ ६ ॥

शाकभोजनसे बल घटाना ।

शरीरका बल, तेज, आरोग्य, धर्म आदि बढानेके संबंधका उपदेश करनेवाला यह सूक्त है । प्राणियोंमें हावीका शरीर (हस्तिवर्चसं । मं० १) बरा, मोटा और बलवान् भी होता है । हावी शाकाहारो प्राणी है, इसीका आदर्शवेदने यहाँ लिया है; सिंह और व्याघ्रका आदर्श लिया नहीं । इससे सूचित होता है कि मनुष्य शाकभोजी रहता हुआ अपना बल बढावे और बलवान् बने । वेदकी शाकाहार करनेके विषयकी आज्ञा इस सूक्त द्वारा अप्रत्यक्षतासे स्पष्ट हो रही है, यह बात पाठक यहाँ स्मरण रखें ।

बलप्राप्तिकी रीति ।

'अदिति' प्रकृतिको नाम है, उस मूल प्रकृतिमें बहुत बल है, इस बलके कारण ही प्रकृतिको 'अदिति' अर्थात् 'अ-दीन' कहते हैं । इस प्रकृतिके ही पुत्र सूर्य-चंद्रादि देव हैं, इतलिये इस प्रकृतिको देवनायँ, सूर्यादि देवोंकी माता कहा जाता है । मूल प्रकृतिका ही बल विविध देवोंमें विविध रीतिये प्रकट हुआ है, सूर्यमें तेज, वायुमें जीवन, बलमें शीतला आदि गुण इस देवोंकी अदिति मातासे इनमें जा गये हैं । इस लिये प्रथम मंत्रमें कहा है कि 'इन सब देवोंके प्रकृतिका समर्पाद बल मुझे प्राप्त हो' । (मं० १) सर्वत्रुच मनुष्यको जो बल प्राप्त

होता है वह पृथ्वी, आन, तेज, वायु आदि देवोंकी सहायतासे ही प्राप्त होता है, किसी अन्य रीतिसे नहीं होता है । यह बल प्राप्त करनेकी रीति है । इन देवोंके साथ अपना संबंध करनेसे अपने शरीरका बल बढने लगता है । जलमें डूबने, वायुमें प्रसन करने अपना खेलकूद करने, धूमसे शरीरको तपाने अर्थात् शरीरकी शमनीके साथ इन देवोंका सम्बन्ध करनेसे शरीरका बल बढता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि तंग मकानमें अपने आराम बन्द रखनेसे बल घटता है ।

द्वितीय मंत्र कहता है कि ' (मित्र) सूर्य, (वरुणः) अग्नि, (इन्द्रः) विद्युत्, (रुद्रः) अग्नि अथवा वायु ये

विश्वभारक देव मेरी शक्ति बढावें । ' (मं० २) यदि इनके जीवन रसपूर्ण अमृत प्रवाहोंसे अपना संबंध ही टूट गया तो ये देव हमारी शक्ति कैसी बढावेंगे ? इस लिये बल बढाने-शालोंको उचित है कि वे अपने शरीरकी शमनीका संबंध इन देवोंके अमृत प्रवाहोंके साथ योग्य प्रमाणसे होने दें । ऐसा करनेसे इनके अंदरका अमृत रस शरीरमें प्रविष्ट होगा और बल बढेगा ।

अन्य मंत्रोंका आशय स्पष्ट ही है । मरियल और बलवान् होनेका मुख्य कारण मद्रा इस सूक्तने स्पष्ट कर दिया है । जो पाठक इस सूक्तके उपदेशके अनुसार आचार्य करेंगे वे निःसंदेह बल, वीर्य, दीर्घायु और आरोग्य प्राप्त करेंगे ।

वीर पुत्रकी उत्पत्ति ।

(२१)

(श्लोकः — मद्रा । देवता — चन्द्रमाः, योनिः, घाटापृथिवी)

येन वेहद्वभूर्विष नाश्रयामसि तत्त्वत् ।

इदं तदुन्यञ्च त्वदपं दूरे नि दम्भसि

॥ १ ॥

आ ते योनिं गर्भं एतु पुमान्बाणं ह्वेपुषिम् ।

आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः

॥ २ ॥

अर्थ— (येन वेहद्वभूर्विष) जिस कारणसे तू वन्या हुई है, (तत्त्वत् नाश्रयामसि) वह कारण तुझमें इस दूर करते हैं । (तत्त्वत् इदं) वह यह सम्मानन (अन्त्यत्र त्वत् दूरे) दशरी जगह तेरेसे दूर (अप नि दम्भसि) इस के करते हैं ॥ १ ॥

(पुमान् गर्भः ते योनिं आ एतु) पुत्र गर्भ तेरे गर्भाशयमें आ जावे, (बाणः ह्वेपुषिं इष) जैसा बाण धरतिमें होता है । (अत्र ते) यहाँ तेरा (दशमास्यः वीरः पुत्रः आ जायतां) दस महिने गर्भमें रहकर वीर पुत्र उत्पन्न हो ॥ २ ॥

आचार्य— हे स्त्री ! जिस दौलके कारण तुम्हारे गर्भाशयमें गर्भधारणा नहीं होती है और तू वन्या बनी है, वह दौल मैं तेरे गर्भमें दूर करता हूँ और पूर्ण रीतिसे वह दौल तुझसे दूर करता हूँ ॥ १ ॥

तेरे गर्भाशयमें पुत्र्य गर्भ उत्पन्न हो, वह गर्भ यहाँ दस मासतक अच्छी प्रकार पल्ल होता हुआ उससे उत्पन्न वीर पुत्र जैसे उत्पन्न होते ॥ २ ॥

११ (अथर्व. भाष्य, कान्ठ ३)

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमान्तुं जायताम् ।

भवासि पुत्राणां माता ज्ञातानां जनयांश्च यान्

॥ ३ ॥

यानि भद्राणि बीजान्यपुमा जनयन्ति च ।

तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूषेर्नुका भव

॥ ४ ॥

कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भं एतु ते ।

विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसृच्छमु तस्मै त्वं भवं

॥ ५ ॥

यासां द्यौः पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुषां बभूव ।

तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोपधयः

॥ ६ ॥

अर्थ— (पुमांसं पुत्रं जनय) पुरुष संतान उत्पन्न कर, (तं अनु पुमान् जायतां) उसके पीछे भी पुत्र ही उत्पन्न होते । इस प्रकार तू (पुत्राणां माता भवासि) पुत्रोंकी माता हो, (ज्ञातानां यान् च जनयाः) जो पुत्र जनमें हैं और जिनको तू इसके बाद उत्पन्न करेगी ॥ ३ ॥

(यानि च भद्राणि बीजानि) जो कल्याणकारक बीज हैं जिनको (श्रवणाः जनयन्ति) श्रवणक वनस्पतिना उत्पन्न करती हैं, (तैः त्वं पुत्रं विन्दस्व) वनसे तू पुत्रको प्राप्त कर । (सा प्रसूः) वैशेषी प्रसूत होनेवाली तू (धेनुका भव) गौके समान उत्तम माता हो ॥ ४ ॥

(ते प्राजापत्यं कृणोमि) तेरे लिये प्रजा होनेका संस्कार मैं करता हूँ । (गर्भं ते योनिं एतु) गर्भ तेरी योनिमें आवे । हे (नारि) ओ ! (त्वं पुत्रं विन्दस्व) तू पुत्रको प्राप्त कर । (यः तुभ्यं शं असत्) जो तेरे लिये कल्याणकारी होने और (च त्वं उ तस्मै शं भव) तू निश्चयसे उसके लिये कल्याणकारिणी हो ॥ ५ ॥

(यासां वीरुषां) जिन औषधियोंकी (द्यौः पिता) प्रुलोक पिता है, (पृथिवी माता) पृथ्वी माता है, और (समुद्रः मूलं) समुद्र मूल (बभूव) हुआ है । (ताः दैवीः औपधयः) वे दिव्य औषधियां (त्वा पुत्रविद्याय) प्रसे पुत्र प्राप्त करनेके लिये (प्र अवन्तु) विशेष रक्षण करें ॥ ६ ॥

भाषार्थ— पुरुष संतान उत्पन्न कर । उसके पीछे दूसरा भी पुत्र ही होते । इस प्रकार तू अनेक पुत्रोंकी माता हो ॥ ३ ॥ श्रवणक आदि औषधियोंकी जो उत्तम बीज होते हैं, उनका सेवन पुत्र प्राप्तिके लिये तू कर । और उत्तम बीज पुत्रोंको उत्पन्न कर ॥ ४ ॥

प्रजा उत्पन्न होनेका प्राजापत्य संस्कार मैं तुझपर करता हूँ, उसके तेरे गर्भाशयमें पुरुष गर्भ उत्पन्न होते और तू पुत्र संतानको उत्पन्न कर । वह पुत्र तेरा कल्याण करे और तू उसका कल्याण कर ॥ ५ ॥

जो औषधियां पृथ्वीपर उत्पन्न होती हैं, जिनका वासन दिव्य शक्तिसे होता है और जो समुद्रसे उत्पन्न हुई हैं, उन दिव्य औषधियोंका सेवन पुत्र प्राप्तिके लिये तू कर, उसके तुम्हारे गर्भाशयका दोष दूर होगा और तुझे उत्तम संतान उत्पन्न होगा ॥ ६ ॥

वीर पुत्रका प्रसव ।

बन्धा स्त्रीका बन्धाव दूर करके उसका उत्तम वीर पुत्र उत्पन्न होने होग्य 'जननी' बनाना इस सूक्तका उद्देश्य है । पहले तीन मंत्रोंमें मंगल विचारोंकी सूचना द्वारा आंतरिक परिवर्तन करनेका उपाय कहा है । यदि स्त्रीकी शरीरकी बंधनमें मगधे पूरा पूरा निश्चय हो जायगा कि अपना बन्धापन दूर हुआ है, तो अंदर नैसा ही अनुकूल परिवर्तन हो जाना संभव

है । यदि मात्र विषयक कोई वैसा बंधा दोष न हो, तो इस मानसिक विचार परिवर्तनसे भी आवश्यक सिद्ध मिलना संभव है ।

इस कार्यके लिये 'प्राजापत्य इष्टि' का प्रयोग पंचम मंत्रमें कहा है । श्रवणक आदि दिव्य औषधियोंका इस्तेमाल और उनके बीजोंका विधिपूर्वक रक्षण करनेका विधान षट्त्वं मंत्रमें है । श्रवणक औषधियोंका एक गण ही है, ये औषधियां वीर

बढानेवाली, शरीरको पुष्ट करनेवाली और गर्भाशयके दोष दूर करके वहाँका आरोग्य बढानेवाली है । इन औषधियोंका इस्तेमाल करना, इनका सेवन करना और आरोग्यपूर्ण विचार मनमें धारण करना ये तीन उपाय बंध्यात्व दूर करनेके लिये इस सूक्तमें कहे हैं ।

मात्रक पर्मेमावसे यह प्राजापत्य यज्ञ करे, यज्ञसेय आहुति-रस कर्त्तकी पित्तसे और प्रथम तीन मंत्रोक्त आरोग्यके विचार आशीर्वाद रूपसे करे— ' हे श्री ! तेरे अंदर जो बंध्यात्वका दोष था, वह इस प्राजापत्य इष्टिसे दूर हो गया है; अब तुम्हारे गर्भाशयमें पुत्रक गर्भ उत्पन्न होगा, वहाँ वह वीर बालक दस

मासतक पुष्ट होता रहेगा और पश्चात् योग्य समयमें उत्पन्न होगा । अब तू अनेक पुत्रोंकी माता बनेगी । ' (मं० १-३)

इस प्रकारके मनःपूर्वक दिष्टिसे हुए आशीर्वादसे तथा उस आशीर्वादकी अचल विश्वाससे स्वीकार करनेसे शरीरके अन्दर आवश्यक परिवर्तन हो जाता है । ' शिव संकल्पसे चिकित्सा ' करनेकी रीति यह है । इस विषयके सूक्त अथर्ववेदमें अनेक हैं ।

इस सूक्तमें ' औषधयः ' शब्द बहुवचनान्त है, इससे अनुमान होता है कि इस सेवन विधिमें अनेक औषधियाँ आती हैं । सुविज्ञ वैद्योंको इस विषयकी खोज करना चाहिये ।

समृद्धिकी प्राप्ति ।

(२४)

(ऋषिः — भृगुः । देवता — वनस्पतिः, प्रजापतिः)

पर्यस्वतीरोषधयः पर्यस्वन्मामकं वचः । अथो पर्यस्वतीनामा मरेऽहं सहस्रशः ॥ १ ॥

वेदाहं पर्यस्वन्तं चकार घान्यं बहु ।

संभृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे यो यो-अप्यज्वनो गृहे ॥ २ ॥

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः । वृष्टे प्रापं नदीरिवेह स्फूर्तिं समावहान् ॥ ३ ॥

अर्थ— (औषधयः पर्यस्वतीः) औषधियाँ रखवाली हैं, और (मामकं वचः पर्यस्वत्) मेरा वचन मी सार-वाला है । (अथो) इसलिये (पर्यस्वतीनां सहस्रशः) रखवाली औषधियोंका हजारहों प्रकारसे (अहं आ मरे) मैं मरण पोषण करता हूँ ॥ १ ॥

(पर्यस्वन्तं बहुघान्यं चकार) रखवाला बहुत घान्य उत्पन्न किया है उसकी रीति (अहं षेद्) मैं जानता हूँ । (या इः अप्यज्वनः गृहे) जो कुछ अयात्रकके घरमें है उसको (संभृत्वा नाम यः देवः) संभ्रष्ट करके लानेवाला इस नामका जो देव है, (तं वयं हवामहे) उसका इग यजन करते हैं ॥ २ ॥

(इमाः याः पञ्च प्रदिशाः) ये जो पाँचों दिशाओंमें रहनेवाली (मानवीः पञ्च कृष्टयः) मनुष्योंकी पाँच जातियाँ हैं वे (इह स्फूर्तिं समावहन्) वहाँ वृद्धिकी प्राप्ति करें (इह) जिस प्रकार (वृष्टे नदीः शार्पं) वृष्टि होनेके कारण नदियाँ सब कुछ भर जाती हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— मेरा मायग मीठा होता है वैसी ही औषधियाँ उत्तम रखवाली होती हैं, इसलिये मैं विशेष प्रकारसे औषधियोंका पोषण करता हूँ ॥ १ ॥

रखवाला उत्तम घान्य उत्पन्न करनेका विधि मैं जानता हूँ ; इसलिये उस दमावाय ईश्वरका मैं यजन करता हूँ, जो अयात्रक कोनेके घरमें मी समृद्धि करता है ॥ २ ॥

ये पाँचों दिशाओंमें रहनेवाली मानवीकी पाँच जातियाँ उत्तम समृद्धि प्राप्त करें जैसी नदियाँ वृष्टि होनेपर भर जाती हैं ॥ ३ ॥

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम् । एवास्माक्रेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम् ॥ ४ ॥
 शतहस्त समाहूरं सहस्रहस्त सं किं । कृतस्य कार्यस्य चेह स्फाति समावह ॥ ५ ॥
 तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः । तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वामि मृशामसि ॥ ६ ॥
 उपोहर्थं समुहर्थं क्षत्तारौ ते प्रजापते । ताविहा बहतां स्फातिं बृहं भूमानमक्षितम् ॥ ७ ॥

अर्थ— (शतधारं सहस्रधारं अक्षितं उत्सं उत्) षैक्यं और हजारों धाराओंवाले अक्षय करने वा टनाण-
 दिक जैसे शृष्टि भर जाते हैं, (एव अस्माक इदं धान्यं) इतना प्रकार हमारा यह धान्य (सहस्रधारं अक्षितं) हजारों
 धाराओंको देता हुआ अक्षय होवे ॥ ४ ॥

हे (शत-हस्त) सी हाथोंवाले मनुष्य ! (समाहूरं) इच्छा करके ले आओ । हे (सहस्र-हस्त) हजारों हाथों-
 वाले मनुष्य ! (सं किं) उसको पैसा दे, दान कर । और (कृतस्य कार्यस्य च) किये हुए कार्योंकी (इह स्फाति
 समावह) यहाँ शृद्धि कर ॥ ५ ॥

(गन्धर्वाणां तिष्ठः मात्राः) भूमिका धारण करनेवालोंकी तीन मात्राएं और (गृहपत्न्याः चतस्रः) गृहपति-
 योंकी चार होती हैं । (तासां या स्फाति-मत्-तमा) उनमें जो अत्यंत समृद्धिवाली है (तया त्वामि मृशामसि)
 उससे तुमको हम संतुष्ट करते हैं ॥ ६ ॥

ह (प्रजापते) प्रजाके पालक ! (उपोहः च) उठाकर लानेवाला और (समुहः च) इच्छा करनेवाला ये दोनों
 (ते क्षत्तारौ) तेरे सहकार्य करनेवाले हैं । (तौ इह स्फाति) वे दोनों यहाँ शृद्धिको लावे और (बृहं अक्षितं भूमानं
 आ बहतां) बहुत अक्षय भरपूरताको लावें ॥ ७ ॥

भाषार्थ— शृष्टि होनेसे तालाव आदि जलाशय जैसे भरपूर भर जाते हैं उसी प्रकार हमारे घरोंमें अनेक प्रकारके धान्य
 भरपूर और अक्षय हो जावें ॥ ४ ॥

हे मनुष्य ! तू सीं हाथोंवाला होकर धन प्राप्त कर और हजार हाथोंवाला बनकर उच्छा दान कर । इस प्रकार अपने कर्तव्य-
 कर्मको उत्पत्ति कर ॥ ५ ॥

ऐसा करनेसे ही अधिकसे अधिक समृद्धि हम तुमको देते हैं ॥ ६ ॥

लानेवाला और संग्रहकर्ता ये दोनों प्रजापालन करनेवालेके सहकारी हैं । अतः ये दोनों इस स्थानपर समृद्धि हों और अक्षय
 समृद्धि प्राप्त करें ॥ ७ ॥

समृद्धिकी प्रातिके उपाय ।

समृद्धि हरएक चाहता है परंतु उसकी प्रातिके उपाय बहुत
 पौष्टे जानते हैं । समृद्धिकी प्रातिके कुछ उपाय इस सूक्तमें कहे
 हैं । जो लोक समृद्धि प्राप्त करना चाहते हैं वे इस सूक्तका
 अच्छा प्रचार मनन करें । समृद्धिकी प्रातिके लिये पहिला
 नियम ' मीठी वाणी ' है—

पयस्वान् मामकं वचः । (सू. २४, मं. १)

' इय जैसा मधुर गेरा वचन हो, ' भाषणमें मधुरता,
 रसमयता, मोठास, सुननेवालोंकी तृप्ति करनेका गुण रहे । समृद्धि
 प्राप्त करनेके लिये मीठी भाषण करनेके गुणही अत्यंत आवश्यक-

कता है । आत्मशुद्धिका यह पहला और आवश्यक नियम है ।
 इसके पश्चात् समृद्धि वदनेका दूसरा नियम है, ' दसलासे
 क्षयिकी वृद्धि करना । '

पयस्वनीनां आभेत्सहस्रशः ।

(सू. २४, मं. १)

वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बृह ।

(सू. २४, मं. २)

' रसवाली औपशयिका में हजारों प्रकारसे धीरेण करता
 हूँ, बहुत धान्य देखा उत्पन्न किया करते हैं, यह विद्या मैं
 जानता हूँ । ' अर्थात् उत्तम श्रमि करनेकी विद्या जानना और
 उसके अनुसार श्रमि करके अपना धान्यसंग्रह बढ़ाना समृद्धि

होनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है । रसदार धान्य अपने पास न हुआ तो अन्य समृद्धि होनेसे कोई विशेष लाभ नहीं है । मीठा भाषण करनेवाला मनुष्य हुआ तो उसके पास बहुत मनुष्य इच्छते हो सकते हैं, और उसके पास रसवाला धान्य हुआ तो वे आनन्दसे तृप्त हो सकते हैं । इसके पश्चात् ' सामुदायिक उपासना करना ' समृद्धिके लिये आवश्यक होता है—

सम्भृत्या नाम यो देवस्तं वयं हवामहे

यो-यो अयज्वनो वृष्टे ॥ (सू. २४, मं. २)

' जो यज्ञ न करनेवालोंके भी घरमें (उनके पोषणके सामान रखता है वह दयामय) संभारकर्ता नामक देव है उसकी उपासना हम करते हैं । ' परमेश्वर सबका पालने हारा है, उसकी कृपादि सबोंपर रहती है, ऐसा जो दयामय ईश्वर है, उसकी उपासना करनेसे समृद्धि बढ जाती है । जो देव अयाजकोंको भी पुष्टिके साधन देता है वह तो याजकोंका पोषण करेगा ही, इसलिये ईश्वरभक्ति करना समृद्धि प्राप्त करनेका मुख्य साधन है । इस मंत्रमें ' हवामहे ' यह बहुवचनमें पद है, इसलिये बहुतां द्वारा मिल कर उपासना करनेका-यज्ञ करनेका-भाव इससे स्पष्ट होता ।

मिलकर उपासना करनेसे और पूर्वोक्त दोनों नियमोंका पालन करनेसे ' पाँचों मनुष्योंको अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निपादोंको मिलकर उन्नति हो सकती है । ' (मं. ३) उन्नतिके यह नियम है । जिस प्रकार वृष्टि हुई तो नदी बढती है अन्वया नहीं, इसी प्रकार पूर्वोक्त तीनों नियमोंका पालन हुआ तो मनुष्योंकी उन्नति निःसंदेह होगी । पाठक इन नियमोंका अवश्य स्मरण रखें ।

समृद्धि होनेके लिये रसदार धान्यकी विपुलता अपने पास अवश्य होनी चाहिये, यह भाव विशेष दृढ करनेके लिये वस्तुय मंत्रमें ' हजारों प्रकारकी मधुर रसघरातओंके युक्त अक्षय धान्यका संप्रद ' अपने पास रखनेका उपदेश किया है । यह विशेष ही महत्त्वका उपदेश है । इस प्रकार धनधान्यकी विपुलता होनेपर स्वार्थ उत्पन्न होगा और उस स्वार्थके कारण आत्मोन्नति हीना सर्वथा असंभव है । इसलिये पंचम मंत्रमें दान देनेके समय विशेष उदारता रखनेका भी उपदेश किया है—

शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त सं किर :

(सू. २४, मं. ५)

' ही हाथोंवाला होकर कमाई करो, और हजार हाथोंवाला बनकर उसका दान करो । ' यह उपदेश हरएक मनुष्यको

अपने हृदयमें स्थिर करना अत्यन्त आवश्यक है । इस उदार भावके बिना मनुष्यकी उन्नति अर्धभव है । इसके पश्चात् वेद कहता है कि—

श्रुतस्य कार्यस्य चेह स्फाति समाचह ।

(सू. २४, मं. ५)

' इस प्रकार अपने कर्तव्यकर्मकी यहाँ उन्नति करो । ' जो पूर्वोक्त स्थानमें उन्नतिके नियम कहे हैं, उन नियमोंका पालन करने द्वारा अपने कर्तव्यके क्षेत्रका विस्तार करो, यह उपदेश मनन करने योग्य है । ' (कार्यस्य स्फाति समाचह) ' ये शब्द हरएक मनुष्यके कार्यक्षेत्रके विषयमें कहे हैं, ब्राह्मण अपना ज्ञान विषयक कार्यक्षेत्र बढावे, क्षत्रिय अपना प्रजा-रक्षण रूप कार्यक्षेत्र बढावे, वैश्य कृषि, गौरव्य, वाणिज्य आदिमें अपने कार्यक्षेत्रकी वृद्धि करे, शूद्र अपने कारीगरीके कार्य बढावे और निषाद अपने जो वनरक्षा विषयक कर्तव्य हैं उनको वृद्धि करे । इस प्रकार सबकी उन्नति हुई, तो संपूर्ण पंचजनोका अर्थात् सब राष्ट्रका सुख बढ सकता है और सबकी सामुदायिक उन्नति हो सकती है । हरएकको अपनी (स्फाति) बढती, उन्नति, वृद्धि, समृद्धि करनेके लिये अवश्य ही कटिबद्ध होना चाहिये । अपनी संपूर्ण शक्तियोंका विकास अवश्य करना चाहिये ।

मुख्य दो साधन ।

समृद्धि प्राप्त करनेके दो मुख्य साधन हैं । ' उपोहः ' और ' समूहः ' इनके विशेष अर्थ देखिये—

१ उपोहः— (उप-ऊहः) इकट्ठा करना, संप्रद करना, एक स्थानपर लाकर रखना ।

२ समूहः— समुदायोंमें बाँटकर वर्गीकरण करना ।

पहली बात है संप्रद करना और दूसरी बात है उन संप्रदित वस्तुओंके वर्गीकरण द्वारा समुचित रीतिसे व्यवस्थित रखना । इसीसे शांति बनता और बढता है । वृद्ध-वनस्पतियोंका संप्रद करने और उनका वर्गीकरण करनेसे वनस्पतियाँ शांति उत्पत्ति हुई है । वस्तुसंप्रदालयमें देखिये, वहाँ पदार्थोंका संप्रद किया जाता है और उनको वर्गोंमें व्यवस्थित रखा जाता है । यदि ऐसा न किया जाय, तो वस्तुसंप्रदालयसे बिलकुल लाभ नहीं होगा । इसी प्रकार अपने घरमें वस्तुओंका संप्रद करना चाहिये और उनको वर्गोंमें अपने अपने सुयोग्य क्रमपूर्वक व्यवस्थासे रखना चाहिये । तभी उन्नति या समृद्धि हो सकती है ।

सप्तम मंत्रमें ' उपोहः (संप्रद) और समूहः (समुदायोंमें वर्गीकरण करना) ' ये दो बातें समृद्धिके साधक करके बड़ी

है । यह बहुत ही महत्त्वका विषय है, इसलिये पाठक इसका मनन करें और अपने जीवनभर लाभ देनेवाला यह उत्तम उपदेश है यह जानकर इससे बहुत लाभ उठावें ।

संप्रह और वर्गीकरण उन्नतिके साधक हैं, इस विषयमें सप्तम मंत्रका कथन ही स्पष्ट है—

तौ इह स्फार्ति आ वहताम् ।

अक्षितं बहु भूमानम् ॥ (सू. २४, मं. ७)

‘ वे [अर्थात् संप्रह और वर्गीकरण ये] दोनों इस संश्रामें

(स्फार्ति) समृद्धि देते हैं और (भूमानं) विजुल धन अथवा विशेष महत्त्व देते हैं ।’

जिसको समृद्धि और धन चाहिये वे इन गुणोंको अरनावे और इनसे अपना लाभ सिद्ध करें । जो लोग अम्युदय प्राप्त करनेके इच्छुक हैं उनको इस सूक्तका बहुत मनन करना चाहिये । कमसे कम इस सूक्तमें कथित जो महत्त्वपूर्ण उपदेश है, उनको कभी भूलना उचित नहीं है । जो पाठक इस सूक्तका मनन करेंगे वे अपने अम्युदयका मार्ग इस सूक्तके विचारसे निःसंदेह जान सकते हैं ।

काम का बाण ।

(२५)

(ऋषिः — भृगुः । देवता — मित्रावचनौ, कामेपुः)

उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा घृथाः शयने स्वे । इपुः कामस्य या भीमा तया विष्यामि त्वा हृदि ॥ १ ॥

आधीर्पणां कामश्चल्यामिषुं संकल्पकुलमलाम् । तां सुसंनतां कृत्वा कामो विष्यतु त्वा हृदि ॥ २ ॥

या प्लीहानं शोषयति कामस्येपुः सुसंनता । प्राचीनपक्षा व्योषिा तया विष्यामि त्वा हृदि ॥ ३ ॥

अर्थ— (उत्तुदः त्वा उत्तुदतु) हिलानेवाला काम तुझे हिला देवे । (स्वे शयने मा घृथाः) अपने शयनमें मत ठहर । (कामस्य या भीमा इपुः) कामका जो भयानक बाण है (तया त्वा हृदि विष्यामि) उससे तुझको हृदयमें वेधता हूँ ॥ १ ॥

(आधीर्-पणां) जिसपर मानसिक पीडा रुपी पंख लगे हैं, (काम-शल्यां) कामेच्छा रुपी बाणका अप्रमाण बर्षा लगायी है, (संकल्प-कुलमलां) संकल्प रुपी दण्डा बर्षा लगा दे, (तां) उस (इपुं) बाणको (सुसंनतां कृत्वा) ठीक प्रकार लक्ष्यपर धरके (कामः हृदि त्वा विष्यतु) काम हृदयमें तुझको वेध करे ॥ २ ॥

(कामस्य सुसंनता) कामका ठीक लक्ष्यपर बरसाया हुआ (प्राचीन-पक्षा वि-ओषा) धंधे पड़खाला और विशेष जलानेवाला (या इपुः प्लीहानं शोषयति) जो बाण तिथीको सुखा देता है, (तया त्वा हृदि विष्यामि) उससे तुझको हृदयमें वेधता हूँ ॥ ३ ॥

भाषार्थ— हे स्त्री ! सबको हिलानेवाला काम तेरे अन्तःकरणको भी हिला देवे । कामका बाण तेरे हृदयका वेध करे जिससे निद्रा हृदय वृत्त सुखसे निद्रा लेनेमें भी असमर्थ हो ॥ १ ॥

इस कामके बाणको मानसिक पीडा रुपी पंख लगे हैं, इसके आगे कामविचार रुपी लोहेका तीक्ष्ण शस्त्र लगाया है, उससे पीडे मनका संकल्प रुपी दण्डा जोड़ दिया है, इस प्रकारके बाणको जति तीक्ष्ण बनाकर काम तेरे हृदयका वेध करे ॥ २ ॥

यह कामका बाण अच्छे लगता है, क्योंकि इसपर मानसिक कष्टोंके पर लगे हैं, और साथ ही यह विशेष रीतिसे जलानेवाला भी है और यह तिथीको बिल्कुल सुखा देता है, इससे मैं तुझे वेधता हूँ ॥ ३ ॥

शुचा विद्वा व्योषिया शुष्कास्यामि सर्पं मा । मृदुनिर्मन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥ ४ ॥

आजामि त्वार्जन्या परिं मातुरथो पितुः । यथा मम क्रतावसो ममं चिचमुपायसि ॥ ५ ॥

व्यसि मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम् । अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे ॥ ६ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

अर्थ— (व्योषया) विशेष दाह करनेवाले (शुचा) शोक बढानेवाले बाणके द्वारा (विद्वा) विधो हुई तू (शुष्कास्या) सुखको सुखानेवाली (मा अभिसर्प) मेरी ओर चली आ । और (मृदुः) कोमल, (निमन्युः) कोषरहित, (प्रियवादिनी) मीठा भाषण करनेवाली, (अनुव्रता) अनुकूल कर्म करनेवाली, (केवली) केवल मेरी ही इच्छा करनेवाली हो ॥ ४ ॥

(त्वा मा-व्यजन्त्या) तुझको वेगसे (परि मातुः अयो पितुः) माता और पिताके पाधसे (आ आजामि) खाता हूँ । (यथा मम क्रतौ वसः) जिससे मेरे अनुकूल कर्ममें तू रह और (मम चित्तं उपायसि) मेरे चित्तके अनुकूल चल ॥ ५ ॥

हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! (अस्यै) इसके लिये (हृदः चित्तानि व्यस्यतं) हृदयके विचारोंको विशेष प्रकार प्रेरित करो । (अथ एनां अक्रतुं कृत्वा) और इसको कर्महीन बनाकर (मम एव वशे कृणुतं) मेरे ही वशमें करो ॥ ६ ॥

भाषार्थ— यह कामका बाण विशेष जलानेवाला, शोक बढानेवाला और सुखको सुखानेवाला है, हे स्त्री ! इससे विधो हुई तू मेरे पास आ और कोमल, कोषरहित, मधुरभाषिणी, अनुकूल आचरण करनेवाली और केवल मुझमें ही अनुरक्त होकर मेरे साथ रह ॥ ४ ॥

हे स्त्री ! जाता और पितासे अलग करके मैंने तुझे यहाँ लाया है, इसलिये तू मेरे अनुकूल कर्म करनेवाली और मेरे विचारोंके अनुकूल विचार करनेवाली बनकर यहाँ रह ॥ ५ ॥

हे मित्र और हे वरुण ! इस स्त्रीके हृदयके विचारोंमें विशेष प्रेरणा करो, जिससे यह मेरे अनुकूल कर्मके सिवाय दूसरे किसी कर्ममें इसको प्रेम न रहे, तथा यह धर्मपत्नी मेरे ही वशमें रहे ॥ ६ ॥

विरुद्ध परिणामी अलंकार ।

'विरुद्ध परिणामी अलंकार' का उदाहरण यह सूक्त है । 'विरुद्ध परिणाम' जिसका होता है, जो बोला जाता है उसके उल्टा परिणाम जिससे निकलता है, बोले जानेवाले शब्दोंका स्पष्टार्थ जो हो उसके विरुद्ध आशयका भाव जिसके अन्दर हो, उसको 'विरुद्ध परिणामी अलंकार' कहते हैं । इसके एक दो उदाहरण देखिये—

(१) 'हृदयको जलानेवाली, धनका नाश करनेवाली, कुटुंबमें कलह उत्पन्न करनेवाली और शरीरको सुखानेवाली शराब पियो ।' इस वाक्यमें यद्यपि शराब पियो करके कहा है तथापि शराबका दुर्गुण वर्णन इतने स्पष्ट शब्दोंसे किया है कि उससे सुननेवालेकी प्रश्रुति न पीनेकी ओर ही होती है ।

(२) 'जिससे शरीर पुष्ट होता है और ब्रह्मचर्य पालन होनेके कारण आरोग्य, बल और दीर्घ जीवन निःसंदेह प्राप्त होता है, इस प्रकारका आसन प्राणायामादिका योगसाधन कभी भूलकर भी मत करो ।' इसमें यद्यपि योगसाधन करनेका स्पष्ट निषेध है, तथापि सुननेवालेके मनपर योगसाधन अवश्य करना चाहिये यह भाव स्थिर हो जाता है ।

ये भाषाके काव्यालंकार हैं, योग्य समयमें ये प्रयुक्त किये जाय तो इनका सुपरिणाम ही होता है । अब इस सूक्तका कथन देखिये—

'हे स्त्री ! कामके बाणसे मैं तेरे हृदयको वेधता हूँ, इस कामके बाणको 'मानसिक म्यथा' के सुन्दर पंख लगे हैं, इसमें जो लोहिका अप्रमाण है वह 'मानसिक विचार' का शान्य ही

है, मन्के ' कुसंकलों ' को लकड़ोंसे इस बाणको बनाया है, यह बड़ा ' बलानेवाला ' है, यह लगनेसे मुख सूख जाता है, झंझा सूख जाता है, हृदय जल जाता है, इस प्रकारके कामके विष्वक्क बाणसे मैं तेरा वेध करता हूँ, इससे तू विद्व हो जाओ । '

इसमें यद्यपि ' कामके बाणसे विद्व हो जाओ ' ऐसा कहा है, तथापि इस कामके बाणका स्वरूप इतना भयंकर वर्णन किया है, कि जिसका परिणाम सुननेवालेके ऊपर ' इस कामके बाणसे अपना बचाव करने ' की ओर हो होगा । इस सूत्रमें जो ' कामके बाण ' का वर्णन किया है, वे शब्द देखिये—

कामके बाण ।

- १ उच्छुद्धः = ब्यथा देनेवाला, शरीरको काट काट कर पीसा देनेवाला । (मं. १)
- २ भीमा ह्युः = जिसका भयंकर परिणाम होता है ऐसा भयानक बाण । (मं. १)
- ३ धापी-पर्णा = इस बाणको मानसिक ब्यथाके पंख लगे हैं । (मं. २)
- ४ काम-शल्या = स्वारथी प्रबल इच्छा रूपी, जयवा कामविचार रूपी शल्य जिसमें लगा है । बाणका जो अप्रमाणमें लोहेका रात्र होता है वह यहाँ कामविचार है । (मं. २)
- ५ सङ्कल्प-कुर्मलला = मन्के कामविषयक संकल्प रूपी लकड़ोंसे यह बाण बनाया गया है । (मं. २)
- ६ प्राचीन-पक्षा = इसको जो मानसिक ब्यथाके पंख लगे हैं वे ऐसे लगे हैं कि जिनके कारण यह बाण धींधी गतिसे और अतिविगमे जाता है । (मं. ३)
- ७ शुचा (शुक्) = शोक उत्पन्न करनेवाला । (मं. ४)
- ८ ब्योषा (वि-भ्योषा) = विशेष रीतिसे जलानेवाला । (मं. ३-४)
- ९ शुष्कास्या (शुष्क-आस्या) = मुखको सुखानेवाला, मुखको स्थान करनेवाला । (मं. ४)
- १० श्लिधानं शोषयति = श्लिष्टको सुखा देता है । शरीरमें श्लिष्ट रक्तकी शुद्धि करने द्वारा शरीर स्वास्थ्य रखती है, ऐसे महत्त्वपूर्ण अवयवका नाश कामके बाणसे हो जाता है । इतनी मारकता इस मन्के बाणमें है । (मं. १)
- ११ हृदि धिष्यति = इसका वेध हृदयमें होता है, इससे हृदय विदोष होता जाता है, हृदोगकी उत्पत्ति कामके बन्धनेसे होती है । (मं. १-३)

कामके बाणका यह भयंकर वर्णन इन शब्दों द्वारा इस सूत्रमें किया है । ' हे श्रो ! ऐसे भयंकर बाणसे मैं तेरा वेध करता हूँ । ' ऐसा एक पुरुष अपनी धर्मपत्नीसे कहता है । पति भी जानता है कि जिस शरसे वेध करना है वह कामका शर इत्या भयंकर विषाक्त है । इस बाणसे न केवल विद्व होनेवाला ही कट जाता है अपितु वेध करनेवाला भी कट जाता है, शरीर यदि पतिने यह कामका शर अपनी धर्मपत्नीपर बलया तो वह जैसा धर्मपत्नीको काटता है उसी प्रकार पतिको भी काटता है और पूर्वोक्त प्रकार दुष्परिणाम करता है । यह बात स्वयं पति जानता है तथापि पति कहता है कि ' हे श्रो ! ऐसे बाणसे मैं तेरा वेध करता हूँ । '

यह पतिका भाषण उषधी धर्मपत्नी सुनती है, शरीर धर्मपत्नी भी इस कामबाणकी विष्वक्क शक्तिको अच्छी प्रकार जानती है, और यदि कोई श्रो न जानती हो तो इन शब्दोंद्वारा जान जायगी कि यह कामब्यवहार कितना पातक है । इतना ज्ञान होनेके पश्चात् वह धर्मपत्नी स्वयं अपने पतिसे कहेगी, कि ' हे प्राणनाथ ! आप ऐसे पातक कर्ममें प्रवृत्त न हूयिये । ' जो कर्म करना है उषधी भयानक पातकका अतुं-नव करनेके पश्चात् वह कर्म अधिक नहीं हो सकता, श्रितना आवश्यक है उतना ही होगा, कमी अधिक नहीं होगा ।

पतिपत्नीका एक मत ।

इस सूत्रमें कही बात पति अपनी धर्मपत्नीसे कहता है । ' यह धर्मपत्नी करने मातापिताके घरको छोड़कर पतिके घर पतिके साथ रहने आयी है । ' (देवी मं. ५) धर्मपत्नी ठहरी है, इस आदुमें मनका संयम करना बड़ा कठिन कार्य होता है । तरुण भोग भोगनेके इच्छुक होते हैं, परिणामपर दृष्टि नहीं रख सकते । केवल भोग भोगनेके इच्छुक रहते हैं, परंतु यह काम ऐसा है कि—

समुद्र इव हि कामः । नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति

न समुद्रस्य ॥

तै. ब्रा. ३।२।५।६

कामः समुद्रः ॥

प्राणामि उ. ४

' समुद्रके पतन काम है, क्योंकि जैसा समुद्रका अन्त नहीं होता है वैसे ही कामका भी अन्त नहीं होता है । ' तथा ' काम ही पशु है । '

यह काम भोग भोगनेसे कम नहीं होता है, प्रत्युत बढ़ता जाता है । यह पशु होनेसे इसके लगातक पशुरूप होते हैं, जो इस कामरूपी पशुको अपने अन्दर बढाते हैं, वे मानो पशु-भावको अपने अन्दर बढाते हैं । जिनके अन्दर यह पशुभाव

बड़ा हो, उनको ' मनुष्य ' कहना कठिन हो जाता है। क्योंकि मनन करनेवालेका नाम मनुष्य होता है और मनकी मनन-शक्ति तो कमसे नष्ट हो जाती है । काम मनमें ही उत्पन्न हो जाता है और 'वर्षा' बढ़ता हुआ मननशक्तिको ही नष्ट कर देता है । इसी कारण तादृश्यमें यदि मनके अन्दर काम बढ़ गया तो वह मनुष्य विवेकशून्य हो जाता है ।

अब अपने प्रस्तुत विषयकी ओर देखिये । धर्मपत्नी दूसरे घरसे लयी गई है। माताको और पिताको, अपने भाइयों और अन्तर्के संबंधियोंको इस धीने छोट दिया है और पतिको अपने ठन और मजका स्वामी माना है। 'इस प्रकार स्त्रीका पतिके पास आकर रहना एक प्रकारसे पतिके स्कारकी जिम्मेवारी बढ़ानेवाला है । पतिको यह अपना उत्तरदायित्व ध्यानमें रखना चाहिये ।

अब देखिये, उक्त प्रकार अपने माता-पिताओंको छोड़कर स्त्री पतिके घर आ गई, और यदि तादृश्यावस्थाके शरीरधर्मके अनुशर उसको योग्य सुख प्राप्ति न हुई, तो उसका दिल भटक जानेकी भी संभावना है । पति शमदम आदि संयम और ब्रह्मचर्य पालन करने लगेगा और गृहस्थधर्म प्राप्त अपने स्त्रीविषयक कर्तव्यों को न करेगा, तो स्त्रीके मनकी कितनी अधोगति होना संभव है, इसका विचार पाठक करें और पतिका उत्तरदायित्व जानें ।

शमदम, ब्रह्मचर्य आदि सब उत्तम हैं, मनु-भारतक, विकास करनेवाला है, यह सब सत्य है, परंतु विवाहित हो जानेपर स्त्रीके मनोपद्रवकी भी विचार करना चाहिये । यह कर्तव्य ही है । इस कर्तव्यसे भीयं हानिद्वारा मोक्ष प्राप्त होता है, तथापि वह कर्तव्य करना ही चाहिये । स्त्रीने मातापिता छोड़नेका बड़ा त्याग किया है । यह स्त्रीका यज्ञ है । पतिको भी अचल ब्रह्मचर्यको छोड़कर गृहस्थी धर्मका चलब्रह्मचर्यका स्वीकार करके अपनी औरका त्याग करना चाहिये । यही उसका यज्ञ है । ऐसा पतिने न किया तो वह स्त्रीको अधर्मागममें प्रवृत्त करनेका भागी बनेगा ।

इस सूक्तमें जो पति अपनी धर्मपत्नीका हृदय कामके भयानक बाणसे विद्ध करना चाहता है, वह इसी हेतुसे चाहता है । इसलिये इस कामके बाणकी भयानक विषयक शक्तिका वर्णन करता हुआ पति स्त्रीसे कहता है कि ऐसे भयानक बाणसे मैं तेरे बित्तको अपने कर्तव्यपालन करनेके हेतुसे ही वेध करता हूँ । इस वर्णनके सुनकर स्त्री भी समझे कि यह जो कामोप-भोगका विचार मनमें उत्पन्न हुआ है, यदि इस उपभोगके

लिये मनको झूठा छोट दिया जाय, तो कितनी मर्यादा अवस्था बन जायगी ।

इस विचारसे उस स्त्रीके मनमें भी कामकी शमन करनेकी ही लहर उठ सकती है और यदि पतिने इस सूक्तके बताने मार्गसे अपने स्त्रीके मनमें यह संयमकी लहर बढ़ायी, तो अन्तमें जाकर दोनोंका कल्याण हो जाता है ।

परन्तु यदि पतिने जबरदस्तीसे स्त्रीको कामप्रवृत्तिसे रोक रखा, तो उस स्त्रीके अन्दरके कामविषयक संकल्प बहुत बढ़ जायगे, और अन्तमें उसके अश्रु-पातके विषयमें कोई संदेह ही नहीं रहेगा । ऐसा अश्रु-पात न हो इसलिये ऋतुगामी होने आदि परिमित गृहस्थधर्म पालन करनेके नियमोंकी प्रवृत्ति हुई है । साथ ही साथ कामकी मर्यादा विघातकताका ही विचार होता रहेगा, तो उससे बचनेकी ओर हरएक स्त्रीपुरुषकी प्रवृत्ति होगी । इसलिये पति स्वयं संयम करना चाहता है और अपनी धर्मपत्नीको अपने अनुकूल धर्मोचरण करनेवाली भी बनावा चाहता है । यह करनेके लिये पति स्वयं सुविचारोंकी आपत्ति करता है और देवोंकी प्रार्थना द्वारा भी देवी शक्तिकी सहायता लेनेका इच्छुक है । इसीलिये यज्ञ मंत्रमें मित्रावरुण देवताकी प्रार्थना की गई है कि ' हे देवो ! इस धर्मपत्नीको मेरे अनुकूल रहने और मेरे अनुकूल धर्मोचरण करनेकी मुक्ति दीजिये । इस धर्मपत्नीके मनके विचारोंमें ऐसा परिवर्तन कीजिये कि वह दूसरा कोई विचार मनमें न लाकर मेरे अनुकूल ही धर्मोचरण करती रहे, दूसरे किसी कर्ममें अपना मन न दोड़े । ' (मं. ६)

धर्मपतिको अपनी धर्मपत्नीके विषयमें यह दक्षता धारण करना आवश्यक ही है । पतिको ज्ञात है कि वह अपनी धर्मपत्नीको सन्तुष्ट रखता हुआ उसको संयमके मार्गसे चलावे । धर्मपत्नीके गुण इसी सूक्तमें वर्णन किये हैं—

धर्मपत्नीके गुण ।

१ मृदुः = नरम स्वभाववाली, शांत स्वभाववाली । (मं. ५)

२ निमग्नुः = शोच न करनेवाली, शान्तिसे कार्य करनेवाली । (मं. ५)

३ प्रियवादिनी = मधुर भाषण करनेवाली । (मं. ५)

४ अनुव्रता = पतिके अनुकूल कर्म करनेवाली । (मं. ५)

५ (भम) वशे = पतिके वशमें रहनेवाली, पतिकी आज्ञामें रहनेवाली । (मं. ७)

६ केशली = केवल पतिकी ही बनकर रहनेवाली । (मं. ५)

७ (मम) चित्तं उपायासि = पतिके चित्तके समान अपना चित्त बनानेवाली । (मं. ५)

८ अक्रतुः = पतिके विरुद्ध कोई कर्म न करनेवाली । (मं. ६)

९ (मम) क्रतौ असः = पतिके उद्योगमें सहायता देनेवाली । (मं. ५)

ये शब्द धर्मपत्नीके कर्तव्य बता रहे हैं । पाठक इन शब्दोंका विचार करें और आर्यस्त्रियां इस अमूल्य उपदेशको अपनीनाका यत्न करें ।

गृहस्थधर्म ।

इस प्रकारकी अनुकूल कर्म करनेवाली धर्मपत्नीको पति कहता है, कि 'हे स्त्री ! मैं तेरा हृदयको ऐसे भयंकर कामके बाणसे वेधता हूँ ।' पति जानता है कि यह कामका बाण बड़ा घातक है, ब्रह्मचर्यमें विघ्न होनेके कारण बड़ा हानिकारक है । धर्मपत्नी पतिके अनुकूल चलनेवाली होनेके कारण वह भी

जानती है कि यह कामका बाण तपस्यामें विघ्न करनेवाला है । तथापि दोनों 'गृहस्था धर्म' से संबद्ध हैं इसलिये संतानोत्पत्ति करनेके लिये बाधित हैं । अतः दोनों गृहस्थधर्मसे संबद्ध होती हैं । धर्मनियमानुकूल ऋतुगामी होकर परमें वंशका बीजरूप वीर बालक उत्पन्न करती है और पश्चात् अपनी तपस्यामें लग जाती है ।

पाठक इस दृष्टिसे विचार करें और इस सूक्तका महत्त्वपूर्ण उपदेश जानें । इस पंचम अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । २१ वें सूक्तमें ' कामाभिका शमन, ' २२ वें सूक्तमें ' वर्चस्की प्राप्ति, ' २३ वें सूक्तमें ' वंध्यात्व दौष निवारणपूर्वक वीर बालक उत्पन्न करनेकी विद्या, ' २४ वें सूक्तमें ' समृद्धिकी प्राप्ति करना, ' और इस २५ वें सूक्तमें ' गृहस्थधर्मके नियमानुकूल रहकर गृहस्थ-धर्मका पालन करना ' ये विषय हैं । इनका परस्पर संबंध स्पष्ट है ।

॥ यद्वा पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥



उन्नति की दिशा ।

(१६)

(ऋषिः — अथर्षा । देवता — अग्न्यादयः, नानादेवता)

ये३स्यां स्य प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवास्तेषां चो अग्निरिषवः ।	
ते नो मृडत ते नोऽर्षि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा	॥ १ ॥
ये३स्यां स्य दक्षिणायां दिश्यविष्पवो नाम देवास्तेषां वः काम इषवः ।	
ते नो मृडत ते नोऽर्षि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा	॥ २ ॥
ये३स्यां स्य प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां व आप इषवः ।	
ते नो मृडत ते नोऽर्षि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा	॥ ३ ॥
ये३स्यां स्योदीच्यां दिशि प्रविष्यन्तो नाम देवास्तेषां वो वात इषवः ।	
ते नो मृडत ते नोऽर्षि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा	॥ ४ ॥
ये३स्यां स्य ध्रुवायां दिशि निलिम्पा नाम देवास्तेषां व औषधीरिषवः ।	
ते नो मृडत ते नोऽर्षि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा	॥ ५ ॥

अर्थ— (ये अस्यां प्राच्यां दिशि) जो तुम इष पूर्व दिशामें (हेतयः नाम देवाः) वज्र नामवाले देव हो, (तेषां च) उन तुम्हारा (अग्निः इषवः) अग्नि बाण है । (ते नः मृडत) वे तुम हमें सुखी करो, (ते नः अर्षिब्रूत) वे तुम हमें उपदेश करो । (तेभ्यः वः नमः) उन तुम्हारे लिये हमारा नमन होवे, (तेभ्यः स्वाहा) उन तुम्हारे लिये हम अपना समर्पण करते हैं ॥ १ ॥

जो तुम इष (दक्षिणायां दिशि) दक्षिण दिशामें (अविष्पवो नाम देवाः) रघु करनेवाले इष नामके देव हो, (तेषां वः काम इषवः) उन तुम्हारा काम बाण है । वे तुम हमें सुखी करो और हमें उपदेश करो, उन तुम्हारे लिये हमारा नमन होवे और तुम्हारे लिये हम अपना समर्पण करते हैं ॥ २ ॥

जो तुम इष (प्रतीच्यां दिशि) पश्चिम दिशामें (वैराजा नाम देवाः) विराज नामक देव हो, उन तुम्हारा (आपः इषवः) जल ही बाण है । वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो । तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ३ ॥

जो तुम इष (उदीच्यां दिशि) उत्तर दिशामें (प्रविष्यन्तः नाम देवाः) वेच करनेवाले इष नामके देव हो, उन तुम्हारा (वातः इषवः) वायु बाण है । वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो । तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ४ ॥

जो तुम इष (ध्रुवायां दिशि) ध्रुव दिशामें (निलिम्पा नाम देवाः) निलिम्प नामक देव हो, उन तुम्हारा (औषधीः इषवः) औषधी बाण है । वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो । उन तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ५ ॥

योऽङ्गुष्ठां स्थोर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः ।

ते नो मृदत ते नोऽर्षि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा

॥ ६ ॥

अर्थ— जो तुम इस (ऊर्ध्वायां दिशि) ऊर्ध्व दिशामें (अवस्वन्तः नाम देवाः) रसक नामवाले जो देव हो, उन तुम्हारा (बृहस्पतिः इषवः) ज्ञानी - तुम हमें सुधी करो और उपदेश करो । उन तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ— पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुवा (पृथिवी) और ऊर्ध्वा (आकाश) ये छः दिशाएँ हैं, इन छः दिशा-अर्थमें क्रमशः (द्वेति-शस्त्राख्य) वज्र; रक्षाको इच्छा करनेवाले स्वयंभुवक; (वि-राज्) राजरहित अवस्था अर्थात् प्रजापति; वैपकता; लंप करनेवाले वैप; और उपदेशक इनकी प्रधानता है । ये जनताको उपदेश करते हैं और उनकी रक्षा करते हैं, इस लिये जनता भी उनका सत्कार करती है और उनके लिये आत्मसमर्पण करती है ॥ १-६ ॥

इसी प्रकारका पंक्तु कुल अथर्व भाव व्यक्त करनेवाला आगेका सूक्त है और दोनोंका अत्यंत घनिष्ठ संबंध है, इसलिये उसका अर्थ पहले देखेंगे और पश्चात् दोनोंका इकट्ठा विचार करेंगे ।

अभ्युदय की दिशा ।

(१७)

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — अग्न्यादयः, नानादेवता)

प्राची दिग्गिरिर्षिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः ।

तेभ्यो नमोऽर्षिपतिभ्यो नमो रक्षितभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽङ्गुष्मान्द्रोष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः

॥ १ ॥

अर्थ— (प्राची दिक्) उदयकी दिशाका (अग्निः अग्निपतिः) तेजस्वी स्वामी, (अ-सितः रक्षिता) रक्षण-रहित रसक और (आदित्याः इषवः) प्रधानरूप शस्त्र हैं । (तेभ्यः) उन (अग्निपतिभ्यः) तेजस्वी स्वामियोंकी ही (नमः) मेरा नमन है । उन (रक्षितभ्यः नमः) बंधनरहित शंखकोंके लिये ही हमारा आदर है । उन (इषुभ्यः नमः) प्रधानके शस्त्रोंके सामने ही हमारी नम्रता रहे । (यः) जो अकेला (अस्मान्) हम सब आत्मकोंका (द्रोष्टि) द्वेष करता है और (यं) जिस अकेले दुष्टका (वयं) हम सब धार्मिक पुरुष (द्विष्मः) द्वेष करते हैं (तं) उस दुष्टको हम सब (वः) आप सब सम्जनेके (जम्भे) न्यायके जबदेमें (दध्मः) धर देते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— प्राची दिशा अभ्युदय, उदय और उषातिकी सूचक है । सूर्य, चंद्र, नक्षत्र आदि सब दिव्य पदार्थोंका उदय और उषाति इसी दिशासे होती है और उदयके पश्चात् उनको पूर्ण प्रकाशकी अवस्था प्राप्त होती है । इसलिये सबभुक्त यह प्रतीतिकी दिशा है । जिस प्रकार इस उदयकी दिशासे सबका उदय और वर्धन हो रहा है उसी प्रकार हम सब मनुष्योंका अभ्युदय और संवर्धन होना चाहिए । यह पूर्व दिशा हम सब मनुष्योंको उदय प्राप्त करनेकी सूचना दे रही है । इस दिशाके अनुसार हम सबको मिलकर अभ्युदयकी तैयारी करनी चाहिए । इस सूचना और शिक्षाका ग्रहण करके मैं अपने और जनताके अभ्युदयके लिये अवश्य यत्न करूँगा । उदयकी दिशाका (अग्निः) अग्नी, ज्ञानी और वज्र अग्निपति है । उदयका मार्ग ज्ञानी उपदेशकोंके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, इसलिये हम सब लोक ज्ञानी उपदेशकोंके पास जाकर आध्यात्मिके साथ उनका उपदेश ग्रहण करेंगे । अब अग्निका समय नहीं है । उठिए, आध्यात्मिक समय प्रारंभ हुआ है । चलिए, तेजस्वी ज्ञानसे युक्त पुरुष

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाङ्ग रक्षितान्नमिषवः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इष्टृभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विभस्तं वो जर्ममं दध्मः

॥ ३ ॥

उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताश्रनिरिषवः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इष्टृभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विभस्तं वो जर्ममं दध्मः

॥ ४ ॥

अर्थ— (प्रतीची दिक्) पश्चिम दिशाका (वरुणः अधिपतिः) वर अर्थात् श्रेष्ठ अधिपति, (पूत्-सा-ङ्गः रक्षिता) स्वर्गमें उत्साह धारण करनेवाला संरक्षक और (अर्घं इषवः) अन्न इष्टु हैं । उन श्रेष्ठ अधिपतियोंके लिये, उन उत्साही संरक्षकोंके लिये, तथा सब अर्माष्ट अन्नके लिये हमारा आदर है । जो सबके साथ कलह करता है इष्टलिये सब मद्र पुराण जिसको नहीं चाहते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके न्यायके बबडेमें घर देते हैं ॥ ३ ॥

(उदीची दिक्) उत्तर दिशाका (सोमः अधिपतिः) शोच अधिपति, (स्व-जः रक्षिता) स्वबोध रक्षक और (अश्रानिः इषवः) विद्युत्तेज इष्टु हैं । उन शोच अधिपतियों, स्वबोध संरक्षकों और तेजस्वी इष्टुओंके लिये हमारा नमन है । जो सबका द्वेष करता है और जिसका सब द्वेष करते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके न्यायके बबडेमें हम घर देते हैं ॥ ४ ॥

करनेवाले संरक्षक और उत्तम पितर जहाँ होते हैं वहाँ ही दाक्षिण्यका व्यवहार होता है । इसी प्रकारकी व्यवस्था स्थिर करनेका यत्न मैं अवश्य करूँगा । जो सबको हानि पहुँचाता है और जिसको सब समाज बुरा कहता है उसको उक्त अधिकारी, संरक्षक और पितरोंके न्यायालयमें हम सब पहुँचाते हैं । वे ही उसके दोषका यथायोग्य विचार करें । हरएक मनुष्यको उचित है, कि वह धीमे मार्गसे चले और समाजकी उन्नतिके साथ अपनी उन्नतिके उत्तम प्रकारसे साधन करे ॥ ३ ॥

भाषार्थ— पश्चिम दिशा विश्रामकी दिशा है; क्योंकि सूर्य, चंद्र आदि सब दिग्भ्य ज्योतिषो इसी पश्चिम दिशामें जाकर गुप्त होती हैं और जगत्को अपना दैनिक कार्य समाप्त करनेके पश्चात् विश्राम लेनेकी सूचना देती हैं । पूर्व दिशाद्वारा प्रद्युम्नरूप पुष्यार्थकी सूचना होगई थी, अब पश्चिम दिशासे गुप्त स्थानमें-प्रविष्ट होने, वहाँ विश्राम और शांति प्राप्त करने, अर्थात् निद्रातिरूप पुष्यार्थ धाम्य करनेकी सूचना मिली है । श्रेष्ठ उत्साही महात्मा पुरुष इस मार्गके क्रमशः अधिपति और संरक्षक हैं । विश्राम और आरामका मुख्य साधन यहाँ अन्न है । श्रेष्ठ और उत्साही अधिपति और संरक्षकोंके लिये सबकी कृत्कार करना उचित है । तथा अन्नकी और सम्मानकी दृष्टिसे देवता योग्य है । जो सबके मार्गमें विघ्न करता है इष्टलिये जिसको कोई पाश करना नहीं चाहते उसको अधिपतियों और संरक्षकोंकी न्यायसभाके आधीन करना योग्य है । समाजके हितके लिये सबको उचित है, कि वे न्यायानुसार ही अपना सब बर्ताव करें और किसीको उपद्रव न दें ॥ ३ ॥

उत्तर दिशा उत्तर अवस्थाकी सूचना देती है । हरएक मनुष्यको अपनी अवस्था उत्तर बनानेका प्रयत्न हर समय करना चाहिये । इस उत्तर मार्गमें शांति स्वभावका अधिपत्य है, आत्मस्य छोड़कर सदा विद्व और उद्यत रहनेके धर्मसे इस पदपर चलनेवालोंका संरक्षण होता है । न्यायक उदार तेजस्वी स्वभावके द्वारा इस मार्गपरकी सब आपत्तियाँ पूर होती हैं । इष्टलिये मैं इन शुष्णका धारण करूँगा और समाजके साथ अपनी अवस्था उत्तर बनानेका पुरुषार्थ अवश्य करूँगा । शांति स्वभाव धारण करनेवाले अधिपति, सदा उद्यत और विद्व संरक्षक ही सदा सम्मान करने योग्य हैं । साथ ही सर्वोपयोगी व्यापक तेजस्विताका आदर करना योग्य है । जो सबकी हानि करता है इष्टलिये जिसका सब सज्जन निरादर करते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके सम्युक्त खडा किया जावे । लोग ही स्वयं उसकी दंड न दें । तथा अधिपति निष्पक्षताकी दृष्टिसे उसको योग्य न्याय दें । समाजकी उत्तर अवस्था बनानेके लिये उक्त प्रकारके स्वभाव धारण करना अत्यंत आवश्यक है ॥ ४ ॥

ध्रुवा दिग्बिष्णुरधिपतिः कुरुमाप्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽसान्द्रेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः

॥ ५ ॥

ऊर्ष्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः शित्रो रक्षिता वर्षभिषवः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽसान्द्रेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः

॥ ६ ॥

अर्थ— (ध्रुवा दिक्) स्थिर दिशाका (विष्णुः अधिपतिः) प्रवेशकर्ता अधिपति, (कुरुमाप-कर्मास-प्रीवः रक्षिता) कर्म कर्ता संरक्षक और (वीरुधः इषवः) वनस्थितियों इषु है । इन सब अधिपतियों और रक्षकों लिये ही हमारा आर है । ६० ॥ ५ ॥

(ऊर्ष्वा-दिक्) ऊर्ष्व दिशाका (बृहस्पतिः अधिपतिः) आत्मज्ञानी स्वामी है, (शित्रः रक्षिता) पवित्र संरक्षक है और (वर्ष इषवः) अष्टत जल इषु है । आत्मज्ञानी स्वामियोंका तथा पवित्र संरक्षकोंका ही सबको सम्मान करना योग्य है । शुद्ध अष्टत जलका ही सबको आदर करना चाहिये । ६० ॥ ६ ॥

भावार्थ— ध्रुव दिशा स्थिरता, दृढता, आधार आदि शुभ गुणोंकी सूचक है । संबलता दृढ़ करने और स्थिरता करनेके लिये ही सब धर्मके नियम हैं । तपसी और पुण्यार्थी पुरुष यहाँ अधिपति और संरक्षक हैं । क्योंकि धर्मके ही जगत्की स्थिति है, इसलिये धर्मके बिना किसीकी स्थिरता और दृढता ही नहीं सकती । यही कारण है कि इस दृढताके मार्गके तपसी और पुण्यार्थी संरक्षक हैं । यहाँ औषधि वनस्थितियों दोषनिवारण द्वारा सहाय्य करते हैं । जो जो दोषोंको दूर करनेवाले हैं वे सब इस मार्गके संरक्षक हैं । तपसी और पुण्यार्थी अधिपति और संरक्षकोंका सम्मान सबको करना चाहिए । ६० ॥ ५ ॥

ऊर्ष्व दिशा आदिमक उच्चताका मार्ग सूचित करती है । सच्चा आत्मज्ञानी आत्म पुरुष ही इस मार्गका अधिपति और मार्गदर्शक है । जो अंतर्ज्ञान पवित्र होगा वह ही यहाँ संरक्षक हो सकता है । आत्मके अनुभव और पवित्रत्वका यही स्वामित्व है । आदिमक उच्चताके मार्गका अवलंबन करनेके समय आत्मज्ञानी आत्म पुरुषके आधिपत्यमें तथा पवित्र सदाचारी सत्सत्त्वके संरक्षणमें रहते हुए ही इस मार्गका आक्रमण करनेसे इष्ट सिद्धियोंकी वृष्टि होती है । आदिमक समूत जलका रसास्वाद लेनेका यही योग्यता है । मैं इस मार्गका आक्रमण अवश्य ही करूँगा और दूसरोंका मार्ग भी यथाशक्ति मुग्न करूँगा । मैं यदा ही एक प्रकारके आत्मज्ञानी और शुद्ध सदाचारी सत्सत्त्वोंका सम्मान करूँगा । ६० ॥ ६ ॥

दिशाओंके वर्णनसे मानवी उन्नतिका तत्त्वज्ञान ।

उन्नतिके छः केन्द्र ।

इस 'सूक्तके' छः मंत्रोंमें मानवी उन्नतिके छः केंद्र छः दिशाओंके द्वारा सूचित किये हैं । (१) प्राची, (२) दक्षिणा, (३) प्रतीची, (४) उदीची, (५) ध्रुवा और (६) ऊर्ष्वा वे छः दिशाएँ क्रमशः (१) प्रगति, (२) दक्षता, (३) निग्राम, (४) उचता, (५) स्थिरता और (६) आत्मिक

उन्नतिके भाव बता रही हैं, ऐसा जो एक छः मंत्रोंद्वारा सूचित किया है, विशेष विचार करने योग्य है । उपासक इन दिशाओंमें होनेवाली नैसर्गिक घटनाओंका विचारकी दृष्टिसे देखे । इस सृष्टिके विविध घटनाओंकेद्वारा सर्वव्यापक परमात्मा प्रकट उपदेश दे रहा है, ऐसी भावना मनमें स्थिर करके सपासकोंके सृष्टिके और देवता आवश्यक है । जब भावको छोड़कर परमात्माके वैचन्यसे यह सृष्टि आंतमगत ध्यात है, ऐसी भावना मनमें स्थिर करना चाहिए । क्योंकि ' यह पूरा सृष्टि उस पूर्ण परमेश्वरके द्वारा ही उदयको प्राप्त होती है । और उस पूर्ण ईश्वरकी शक्ति ही इस सृष्टि द्वारा दिखाई दे रही है । ' इस प्रकार

विचार विस्तर करके यदि उपासक उक्त प्रकार षः दिशाओं द्वारा अपनी उचितके षः केंद्रिक संरक्षणमें उपदेश लेने लो क्योंकि और सनासकी उचितके विस्तर और निश्चित मार्गोंका ज्ञान उनकी ही सकता है ।

इन केंद्रोंका ज्ञान उत्पन्न होतेसे होनेके लिये पूर्वोक्त वैदिक स्वामी कवित दिशाओंके ज्ञानके कोष्टक बना देते हैं और उनका स्मरणनाम भी काष्णकी दृष्टिसे संरक्षित ही करते हैं—

दिशा कोष्टक ॥ १ ॥ [अपर्व ३।२७।१-६]

दिशाः	आधिपतिः	रक्षिता	इषवः
प्राची	अग्निः	अग्निः	अग्निः
दक्षिण	इन्द्रः	तिरासिचर्या	तिरः
प्रतीची	वरुणः	वृदाङ्गः	अश्वन्
उदीची	सोमः	स्ववः	अश्वनिः
ध्रुवा	विष्णुः	कल्पाश्रमावः	वीरवः
उर्वा	वृहस्पतिः	वित्रः	वर्षन्

इस सूक्तके मंत्रोंको देखनेसे इस कोष्टककी सिद्धि ही सकती है। अर वेदमें अन्य स्थानोंमें प्राये हुए दिशा विषयक उल्लेखोंका विचार करना है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिए—

येऽस्यां स्य प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवा-
स्तेषां वो अग्निरिषवः । ते नो नृडत ते नोऽधि-
भूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो षः स्वाहा ॥ १ ॥
येऽस्यां स्य दक्षिणायां दिग्पविष्यवो नाम
देवास्तेषां षः काम इषवः । ते नो ॥ २ ॥
येऽस्यां स्य प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवा-
स्तेषां ष आप इषवः । ते नो ॥ ३ ॥ येऽस्यां
स्योदीच्यां दिशि भविष्यन्तो नाम देवा-
स्तेषां वो वात इषवः । ते नो ॥ ४ ॥ येऽस्यां
स्य ध्रुवायां दिशि निळिम्पा नाम देवास्तेषां
ष ओषधीरिषवः । ते नो ॥ ५ ॥ येऽस्यां
स्योर्वायां दिग्पवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो
वृहस्पतिरिषवः । ते नो ॥ ६ ॥

अपर्व. ३।२६।१-६

‘ प्राची आदि दिशाओंमें हेति आदि देव हैं और अग्नि आदि इष्ट हैं। ये षः (नः) हम सबको (नृडत) डुकी करें, वे हम सबको, (अधिभूत) उपदेश करें, उन सबको हमारा नमस्कार है, उनके लिये हमारा स्मरण है ।’ यह इन मंत्रोंका भावार्थ है। अर इनका निश्चितकोष्टक बनता है—

दिशा कोष्टक ॥ २ ॥ [अपर्व. ३।२६।१-६]

दिशाः	देवाः	इषवः
प्राची	हेतवः	अग्निः
दक्षिण	अविष्यवः	कामः
प्रतीची	वैराजाः	आतः
उदीची	प्रविष्यन्तः	वातः
ध्रुवा	निळिम्पाः	ओषधीः
उर्वा	अवस्वन्तः	वृहस्पतिः

पठिते कोष्टकमें इस दिशाके कोष्टकके साथ दुर्गाकी विधि । पठिते कोष्टकमें ‘ प्राची और उर्वा ’ के ‘ अग्नि और वृहस्पति ’ अतिरिक्त हैं, वे ही वहां ‘ इष्टु ’ बने हैं । ‘ ध्रुवा ’ दिशाके इष्टु पठिते कोष्टकमें ‘ वातरुचः ’ हैं और वहां ‘ ओषधि ’ है । इन दोनों उर्वाके अर्थ एक ही हैं । ‘ प्रतीची ’ दिशाके इष्टु दोनों कोष्टकोंमें ‘ अश्व और आपः ’ हैं। खन्नासका परस्पर मिश्र स्मरण है । ‘ दक्षिण ’ दिशाके इष्टु दोनों कोष्टकोंमें ‘ पितरः और कामः ’ हैं। कामके उन्मोचने ही विद्वन् प्रकृति ही सकता है । ‘ उदीची ’ दिशाके इष्टु ‘ वात और अश्वनि ’ हैं। अश्वनिका अर्थ विद्वद् हैं और उच्छ्रय स्थान नामस्थान अर्थात् वायुका स्थान माना गया है। इससे पठकोंको पता लग जायगा, कि केवल ‘ प्राची और उर्वा ’ दिशाओंके इष्टु बदले हैं, इतना ही नहीं परन्तु पठिते कोष्टकमें जो अतिरिक्त बने वे ही उल्लेख इष्टु बने हैं। अन्य दिशाओंके इष्टु स्मरण कदा परस्पर संबन्ध रखनेवाले हैं। अपर्ववेदके तीसरे कांडके २६ और २७ सूक्तोंके अन्तमें इतना भेद है। इस भेदसे स्पष्ट होता है कि इष्टु, अतिरिक्त आदि शब्द वास्तविक नहीं हैं परंतु काल्पनिक हैं। अर ऋग मंत्र देखिए—

प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रयंतरं सान
त्रिवृत्स्तोमो वसन्त ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् ॥ १० ॥
दक्षिणमारोह विष्टुप्त्वावतु वृहत्स्तान
पञ्चदश स्तोमो ग्रीष्म ऋतुः सत्रं द्रविणम् ॥ ११ ॥
प्रतीचीमारोह जंगती त्वावतु वैश्वरं सान
सप्तदश स्तोमो वर्षा ऋतुर्विह द्रविणम् ॥ १२ ॥
उदीचीमारोहानुष्टुप्त्वावतु वैराजं
सामैकविंश स्तोमः शरदतुः फलं द्रविणम् ॥ १३ ॥
उर्वामारोह पंथिस्त्यावतु प्राक्शरदरेवते सानत्री
त्रिणवत्रयस्त्रिंशो स्तोमो हेमन्तश्रिमिरावृत्
वर्षा द्रविणम् ॥ १४ ॥

दंड. ल. १०

‘ प्राची आदि दिशाओंमें (ब्रह्म द्रविणं) ज्ञान आदि धन है। इन मंत्रोंका स्मरणनाम निम्न कोष्टकसे ही सकता है—

दिशा कोष्टक ॥ १ ॥ [यजु. १०।१०-१४]

दिशः	रक्षक छंदः	साम	स्तोमः	ऋतुः	पविणं घनं
प्राची	गायत्री	रघंतरं	विष्ट्व	वसन्तः	प्रज्ञ
दक्षिणा	त्रिष्टुप्	वृद्ध्व	पंचदशः	शीघ्रः	सत्रं
प्रतीची	अपती	वैरुषं	सप्तदशः	वर्षा	विष्ट्व
उदीची	अनुष्टुप्	वैराजं	एकविंशः	शरद्	फलं
ध्रुवा ऊर्वा	पंक्तिः	शाकरं रवतं	त्रिणवत्रयत्रिंशो	हेमन्तः शिशिरः	वर्षः

इस कोष्टकमें दिशाओंके धनोका पाठक अवश्य अवलोकन करें— (१) प्राची दिशाका घन (ज्ञान) ज्ञान है । (२) दक्षिण दिशाका घन (सत्र) शौर्य है । (३) प्रतीची दिशाका घन (विष्ट्व) उत्साहसे पुरुषार्थ करनेकी वीर्य शक्ति है । (४) उदीची दिशाका घन फल परिणाम, साम, आदि है । (५) ध्रुवा और ऊर्वा दिशाका घन शक्ति, बल आदि है । ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ प्रयत्न, साम और वीर्यतेज ये उक्त दिशाओंके घन हैं । उक्तकी तुलना प्रथम कोष्टकके साथ करनेसे अर्थका बहुत गौरव प्रतीत होगा । पाठकोंने यदा ज्ञान लिया होगा कि उक्त गुण विशेष वर्णके होनेसे उक्त दिशाओंका संबंध उक्त वर्णके साथ भी है । ब्राह्मणोंका ज्ञान, क्षत्रियोंका शौर्य, वैश्योंका पुरुषार्थ, शूद्रोंके हुनरका साम और जनताका वीर्यतेज सब राष्ट्रके उत्साहका हेतु है । तथा प्रत्येक व्यक्तिमें ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ, फलप्राप्तिक प्रयत्न करनेका गुण और वीर्यतेज चाहिए । इस प्रकार व्यक्तिमें और राष्ट्रमें उक्त गुणोंका संबंध है । इस संबंधको स्मरण रखते हुए पाठक निम्न मंत्र देखें—

प्राच्यां दिशि शिरो भजस्य घोहि
दक्षिणायां दिशि दक्षिणं घोहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥

प्रतीच्यां दिशि भस्वदमस्य घोहि
उत्तरस्यां दिद्युत्तरं घोहि पार्श्वम् ।

ऊर्वायां दिद्युत्तरानूक्यं घोहि दिशि ध्रुवायां
घोहि पाजस्यम् ॥ ८ ॥

अथर्व. ४।१४

* प्राची दिशामें (अज्ञस्य) अज्ञन्मा जीवका सिर रखो तथा अन्य दिशाओंमें अन्य अवयव रखो । ' इन मंत्रोंमें अवयवोंका दिशाओंके साथ संबंध बताया है । निम्न कोष्टकसे इसका भेद स्पष्ट होगा—

दिशा कोष्टक ॥ ४ ॥ (अथर्व. ४।१४।१०-८)

प्राची	दिशः	भस्वक
दक्षिणा	दक्षिणं पार्श्वं	दहनो बगल
प्रतीची	मध्वं	गुण माय
उदीची	उत्तरं पार्श्वं	बायी बगल
ध्रुवा	पार्श्वं	पेट
ऊर्वा	आन्तर्यं	पीठकी हड्डी

१५ (अथर्व. साम्य, कान्ठ ३)

इस कोष्टकके साथ पूर्वोक्त तीसरे कोष्टककी तुलना कीजिए । ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ और फलका संबंध सिर, बाहु, मध्यभाग और निम्न भागके साथ यदा लिखा है । ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थका संबंध गुणरूपसे प्रत्येक व्यक्तिमें है और वर्ण रूपसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंमें अर्थात् राष्ट्र-पुरुषके अवयवोंमें है । इस प्रकार वर्णोंका संबंध दिशाओंके साथ स्पष्ट है । यह संबंध ध्यानमें धर कर विचार करते हुए आप निम्न मंत्र देखिए—

प्राचीं प्राचीं प्रदिशमारमेधामेतं लोकं भृह-
घानाः सवन्ते ॥ यद्वां पक्वं परिविष्टमग्नी तस्य
शुस्ये दंपती संश्रयेयाम् ॥ ७ ॥ दक्षिणां दिश-
मग्निं नक्षमाणी पर्यावर्तंथामग्निं पात्रमेतत् ॥
तस्मिन्वां यमः पितृभिः संविद्वान् पक्वाय
शर्मं बहुलं नियच्छात् ॥ ८ ॥ प्रतीचीं दिश-
मित्यभिद्वरं यस्यां सोमो अधिपा मृडिता च ॥
तस्यां अथेयां सुकृतः सचेधामथा पक्वान्
मिथुना संमथायः ॥ ९ ॥ उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्त-
रावदिशामुदीचीं कृणवन् नो अग्रम् । पांके
छंदः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वांगैः सह संमवेम
॥ १० ॥ ध्रुवेयं विराणमो अस्वस्यै शिवा
पुत्रेभ्य उत मह्यमस्तु । सा नो देव्यदिते
विश्ववार इर्य इव गोपा अग्निं रक्ष पक्वम् ॥ ११ ॥

अथर्व. १।१३

(१) (प्राचीं) पूर्व दिशा प्रगतिकी दिशा है, इसमें (आरमेयां) उत्साहके साथ पुरुषार्थका आरंभ कीजिए, (एतं लोकं) इस उन्नतिके लोकमें (भृहघानाः) भ्रष्टा धारण करनेवाले ही पहुंचते हैं । जो (घां) आप दोनोंका अग्निमें प्रविष्ट होकर (पक्वं) पका हुआ अन्न होगा, (तस्य शुस्ये) उसकी रक्षाके लिये (दंपती) स्त्रीपुरुष (संश्रयेयां) प्रयत्न करें ॥ (२) इस दक्षिण दिशामें जब आप (अग्निं नक्षमाणी) सब प्रकारसे प्रगति करते हुए इस (पार्श्वं) योग्य अथवा वैश्वक कर्मका (अग्निं पर्यावर्तंथं) सब

प्रकारसे बार्बार अनुष्ठान करेंगे, तब आवकी (पक्षाय) परिपक्वताके लिये (पितृभिः) रक्तकोके चाप (संविदानः यमः) ज्ञानी नियामक (बहूलं शर्म) बहुत सुख देगा ॥ (१) (प्रतीची) पश्चिम दिशा यह सबमुख (चरं) षष्ठ दिशा है, जिसमें (सोमः) विद्वान् और शीत अधिपति और (मृष्टिता) सुख देनेवाला है । इस दिशाका अग्रय कीर्ति, उद्धृत करके परिपक्वताको (सत्तेषां) प्राप्त कीर्ति । और (मिथुना) अंगुष्ठ मिलकर (सं भवाद्यः) सुवृत्तान क्लृप्त कीर्ति ॥ (४) उत्तर दिशा (प्र-जया) विषय-शाली राष्ट्रीय दिशा है, इसलिये हम सबको यह उत्तर दिशा

(अग्रं) अग्र मार्गमें ले जावे । (पांक्तं) पांच बर्णों- राष्ट्र विभागों- का (छंदः) छंद ही यह मुख्य होता है । इन सब अंगोंके चाप हम सब (सं भवेम) मिलकर रहेंगे ॥ (५) यह ध्रुव दिशा (विराट्) बड़ी भारी है । इसके लिये नमन है । यह मेरे लिये तथा बालकबालिके लिये (शिवा) कल्याण-कारि होवे । हे (अ-दिते देधि) हे सततत्र देवि ! (विश्व-घारे) सब आपत्तियोंका निवारण करनेवाली देवी ! तूं (गोपा) हम सबका संरक्षण करती हुई, हमारे परिपक्वताको सुरक्षित रखे ।

इन मंत्रोंमें दिशाओंकी कई विशेष बातें बताई हैं । इनके सूचक मुख्य शब्दोंका निम्न कोष्टक बनता है ।

दिशा कोष्टक ॥ ५ ॥ (अर्धव १२:३१७-११)

दिशाः	कर्म	साधन	साधक	क्रिया
प्राची	आरंभः	ध्यानः	दंपती	संघर्षा
दक्षिणा	पर्यावर्तः	मद्यमागः	यमःसंविदानः	निश्छात्
प्रतीची	आधय.	सुहृताः	मिथुनः	संघर्षायः
उदीची	प्र-अयः	पांक्तं छंदः	पुरुषः	सह संभवेम
ध्रुवा	वि-राट्	शिवा	विश्वनाथ अदितिः	रक्ष

इस कोष्टकसे साधारणरूपमें पता लग जायगा कि दिशाओंके उक्त नाम किस बातके सूचक हैं । और इन सूचक नामोंमें कैसा क्लम उत्पन्न भरा है । इन मंत्रोंको देखनेसे निम्न बातोंका पता लगता है—

(१) प्राची दिशा— (प्र+संघ = आगे बढ़ना, उपाति करना, अप्रमाणमें हो जाना) यह मूल अर्थ ' प्राच्य ' शब्दका है, जिससे ' प्राची ' शब्द बनता है । ' प्राची दिशा ' का अर्थ बढ़ती अथवा उन्नतिकी दिशा, उदिकी मार्ग ।

उन्नतिके लिये विविध कर्म प्रारंभ करनेकी अत्यंत आवश्यकता होती है । पुरुषार्थोंका आरंभ करनेके लिये उन्नतिकी आशा करना अर्थ है । उन्नाहसे पुरुषार्थ करनेके लिये श्रद्धा चाहिए । श्रद्धाके बिना उन्नाह प्राप्त नहीं हो सकता । अतएवमें स्त्रीपुत्र मिलकर ही विविध पुरुषार्थोंका साधन करते हैं । उनके परस्पर मिलकर रहनेसे ही संगठनमें सब भोगोंकी परिपक्वता और (शुक्ति) संरक्षण हो सकता है । इस प्रकार प्राची दिशाके बोध मिलता है ।

(२) दक्षिण दिशा— ' दक्षिण ' शब्दका अर्थ दण्ड, डंक, शीम, प्रबुद्ध, सीधा, सच्चा है । ' दक्षिण दिशा ' शब्दों-का मूल अर्थ सीधा मार्ग, सच्चा मार्ग देना ही है । पश्चात् दक्षिण अर्थ ' हाथी तरफ्ही दिशा ' हो गया है ।

उन्नतिके लिये सीधे और सच्चे मार्गसे चलना चाहिए । और (अनुमान) गति अथवा हलचल किंवा प्रयत्न करना चाहिए । सीधे सिद्धि होना अर्थमंत्र है । एक बार प्रयत्न करनेसे सिद्धि न हुई तो बार्बार पुरुषार्थ करना आवश्यक है, इसीकी सूचना ' (पर्यायतेषां, परि-या-वर्तेषां) बार्बार प्रयत्न कीर्ति ' इन शब्दों द्वारा मंत्रमें दी है । ' यम ' शब्द नियमोंका सूचक, ' पितृ ' शब्द जननशक्ति और संरक्षणका सूचक, तथा ' संविदान ' शब्द ज्ञानका सूचक है । नियम, संरक्षण और ज्ञानसे ही शर्म अर्थात् सुख होता है । यह दक्षिण दिशाके मंत्रसे बोध मिलता है ।

(३) प्रतीची दिशा— प्रत्यं अन्दर आना, अंतर्मुख होना । प्रतीची दिक् शक्तिकी दिशा, अन्दर मूल स्थानपर आनेकी दिशा, स्वस्थानपर आनेका मार्ग, अन्तर्मुख होनेका मार्ग, यह इस शब्दका मूल अर्थ है । ' पूर्ण दिशा ' को आगे बढ़नेका मार्ग कहा है और पश्चिम दिशाको फिर वापस होकर अपने मूल स्थानपर आकर विश्राम लेनेकी दिशा कहा है—

प्रतीची	प्राची
(प्रति-अंघ)	(प्र-अंघ)
प्रति-पाति	प्र-पाति
प्रति-यमन	प्र-यमन
नि-शक्ति	प्र-शक्ति

विद्यामैके नामाधि जो माव म्यक होते हैं, उनका पता इस कोष्टकसे लग सकता है । वैदिक शब्दोंका इस प्रकार महत्व देसना चाहिए ।

निवृत्ति, विभ्रति अथवा स्व-स्वताका रदान ही भ्रष्ट (घरं) होता है । धार्मिके भिन्न और भ्रष्टता क्या होगी ? सोम ही घातताकी देवता है । सूर्यके प्रखरतर प्रबंध किरणोंके तापसे संतप्त मनुष्य चंद्र (सोम) के शीत प्रकाशसे घात, संगुष्ट और आनंदित होता है । सुकृत अर्थात् धार्मिक पुण्य कर्मोंका मार्ग ही इस घातको प्राप्त कर सकता है, इत्यादि भाव इस मंत्रमें ज्ञात होते हैं ।

(४) उत्तर विद्या- (उद्-तर) अधिक उच्चतर, अधिक श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त करनेका मार्ग ऐसा इसका मूल अर्थ है । मनुष्योंको उच्चतर अवस्था प्राप्त होनेके लिये राष्ट्रकी भक्ति कारण होती है, क्योंकि—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो वीक्षामुप-
सेजुरग्रे । ततो राष्ट्रं बलमोज्ज्वलं जातं तदस्मै
देवा उपसंनमन्तु ॥ (अथर्व. ११।४१११)

सबका कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले सान्नी ऋषियुनियोंने तप किया और दक्षतासे व्रत किया । उससे राष्ट्र, बल और ओज उत्पन्न हुआ, इसलिये सब देव उस राष्ट्रीयताके सम्युच्च नमता धारण करें । ' राष्ट्रीयताके साथ लोककल्याणका भाव इस प्रकार वेदने वर्णन किया है । लोककल्याण ही लोगोंकी उच्चतर अवस्था है । राष्ट्रीय भावनाके अन्दर (नः अग्रं कृण्वन्) ' हम सबको अग्र मार्गमें होनेके लिये प्रयत्न ' करना आवश्यक है । राष्ट्र (पांक्त) पांच विभागोंमें विभक्त है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद, अथवा ज्ञानी, शूर, व्यापारी, कारीगर और साधारण जन मिलकर राष्ट्रके पांच अवयव होते हैं, इन पांच प्रकारके जनोंका कल्याण करनेकी (हृद्) प्रबल इच्छा जिसमें होती है वही सत्त्वा ' पुरुष ' कहा जा सकता है । पुरुष उसको कहते हैं कि जो (पुरि) नगरीमें (वसति) निवास करता है । नागरिक जन जो ' लोककल्याण ' करता है, वही सत्त्वा पुरुष है । सब अंगोंसे उसकी पूर्णता होती है और उन्नतिके लिये (सं भवेम) सब मिलकर एकत्रित होनेकी आवश्यकता है । यह बोध उत्तर विद्याके मंत्रके शब्दोंसे ज्ञात होता है ।

(५) ध्रुवा दिक्— स्थिरताका धर्म यहाँ बताया है । मनुष्यके व्यवहारोंमें बचलता ठीक नहीं है । स्थिरता, दृढता, निश्चितता, उन्नतिकी साधक है । सबका (शिवा) कल्याण

इस गुणसे होता है । स्थिरताका मार्ग योग मार्ग है, जिसमें पंचकृताकी दूर करके स्थिरताकी प्राप्ति की जाती है । इससे सबका हित होता है । यही (अ-द्विति) अविनाशकी देवता अथवा स्वतंत्रताकी देवता है । स्थिरताके बिना स्वतंत्रताकी प्राप्ति नहीं हो सकती । (गो-पा) इंदियोंका संरक्षण अर्थात् धर्म इस मार्गमें अत्यंत आवश्यक है । इस प्रकार ध्रुव दिशाके मंत्रोंसे बोध प्राप्त होता है ।

मंत्रोंकी शब्दयोग्यता कितनी अत्युत्पूर्णा है, इसका विचार पाठक यहाँ कर सकते हैं । अस्तु । दिशा विषयक उल्लेख ऋग्वेदमें नहीं है । इसलिये अब इस सब विवरणका एकीकरण करना चाहिए । उल्लेख पूर्व निम्न मंत्र देखिए—

प्राच्यै त्वा दिशोऽस्येऽधिपतयेऽसिताय राक्षित्र
आदित्यायेषुमते । एतं परिदृशस्तं नो गोपाय-
तामस्माकमेतोः । दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेष-
ज्जरा मृत्यये परि णो द्वात्स्वय पक्वेन सह
सं भवेम ॥ ५५ ॥ दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रा-
याधिपतये तिरक्षिराज्ये राक्षित्रे यमायेषुमते ॥
एतं ॥ ५६ ॥ प्रतीच्यै त्वा दिशे सरुणापा-
धिपतये पृवाक्ये राक्षित्रेऽन्नायेषुमते । एतं ॥
५७ ॥ उर्वीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये
स्वजाय राक्षित्रेऽश्विन्या इषुमत्ये ॥ एतं ॥ ५८ ॥
ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेऽधिपतये कम्पाप-
प्रोवाय राक्षित्र ओपघोभ्य इषुमतीभ्यः ॥ एतं ॥
५९ ॥ उर्वायै त्वा दिशे गृहस्पतयेऽधिपतये
भित्रत्राय राक्षित्रे धर्पायेषुमते ॥ एतं ॥ ६० ॥

(अथर्व. ११।१)

' प्राची दिशा, अग्नि अधिपति, अस्तित रक्षिता और इषुमान् आदित्यके लिये (एतं) यह दान (परि दृशः) देते हैं । अस्माकं (अ-पतोः) हमारे हुए भावोंसे हम सबका (शः गोपायतां) संरक्षण करें । (अत्र) यहाँ (नः) हम सबको (दिष्टं) अच्छी धर्मकी प्रेरणा (जरसे) दृढ़ व्यवस्था-तक (नि नेषत्) ले जावे । (जरा) दृढ़ अवस्था भ्रष्टकी (नः मृत्युं परि द्वात्तु) हम सबको मृत्युके प्रति बेवे । (अथ) और (पक्वेन) परिपक्वताके साथ (सं भवेम) संगृहीत अर्थात् उन्नतिको प्राप्त हो जावे । यह प्रथम मंत्रका अर्थ है । शेष मंत्रोंका भाव ऐसा ही सुगम है ।

इन मंत्रोंमें (१) दान, (२) स्वयंश्रम, (३) दृढ़ भावका दूर करना, (४) धर्मकी प्रेरणाके साथ पूर्व दृढ़

अवस्थाका अनुभव लेनेके पश्चात् अर्थात् दीर्घ शालुकी समाप्तिके पश्चात् मरनेकी कल्पना, और (५) परिपक्व (बुद्धिके सज्जने) के साथ अर्थात् स्वप्नगमने रहनेका उपदेश है ।

प्रारंभके यहानक दिशा विषयक जो कोष्टक और मंत्र दिये हैं उन सबका एकीकरणपूर्वक विचार करनेसे इन मंत्रोंका अधिक बोध होना संभव है ।

प्राची दिग्गन्धिरधिपतिरसितो रक्षिताऽऽ-
दित्या इपवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो
रक्षितृभ्यो नम इपभ्यो नम एभ्यो वस्तु ॥

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं यो जम्भे दूष्मः ॥

(अर्थ. १.२७१)

इस मंत्रका अर्थ विचार करना है । इसका विचार होनेसे कल्प संभ्रंशका विचार हो सकता है । पूर्व स्थलमें, जहाँ दिशात्रांशका द्वितीय कोष्टक दिया है, वहाँ बताया है कि अधिपति, इपु, रक्षिता आदि शब्द आलंकारिक हैं, इसलिये इनका अर्थ कल्पकल्पनाके अनुसार लेना चाहिए ।

(१) अधिपति, रक्षिता, इपवः आदि शब्द आलंकारिक हैं क्योंकि वर्षा, शीतलः आदिकोंको भी बाण कहा है । वस्तुतः ये बाण नहीं हैं । इस कारण कविकी आलंकारिक रीतिसे इनका अर्थ लेना उचित है ।

(२) मंत्रके प्रथम पादमें अधिपति, रक्षिता ये शब्द एक वचनमें हैं, परन्तु द्वितीय चरणमें इन ही शब्दोंका बहुवचन लिखा है । एकवचनका शब्द परमेश्वरपर माना जा सकता है परंतु ' अधिपतिभ्यः, रक्षितृभ्यः ' शब्द बहुवचन होनेके कारण परमेश्वरपर नहीं माने जा सकते । आदरायेंक बहुवचन माननेके पक्षमें पूर्वचरणमें एक वचन आया है उसकी निरर्थकता होती है । वेदमें किसी स्थानपर एक मंत्रमें परमेश्वर नाचक शब्दोंका एकवचन और बहुवचन आया नहीं है । इसलिये यहाँ इन शब्दोंके अर्थ केवल परमेश्वरपर होनेमें शंका है ।

(३) प्रत्येक दिशाका अधिपति रक्षिता और इपु भिन्न हैं । यदि ये परमेश्वरपर शब्द हैं तो भिन्नताका कोई कारण नहीं निकल सकता ।

(४) तृतीय चरणमें ' जो हम सबका द्वेष करता है और जिसका हम सब द्वेष करते हैं उसको (वः जम्भे) आप सबके एक जबड़ेमें हम सब धर देते हैं । ' इस आतयके शब्द आगये हैं । यह मंत्रका भाग केवल सामाजिक स्वरूपपर कहा है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है । दुष्टको दण्ड देनेका इसमें विषय है और दण्ड देनेवाला अकेला नहीं है, परन्तु (वः) अनेक

हैं । (वः जम्भे) ' आप अनेकोंके एक जबड़ेमें हम सब मिलकर उस दुष्टको देते हैं ' आप जो चाहे उसको दंड दीजिए । दंड देनेका अधिकार हम अपने हाथोंमें नहीं लेते, आप सबको ही दंड देनेका अधिकार है । यह आशय उक्त मंत्रभागमें स्पष्ट है । इसमें न्यायव्यवस्थाकी बातें स्पष्टतासे लिखी हैं—

(अ) अनेक सज्जनोंको मिलकर न्याय करना चाहिए ।

(आ) किसीको उचित नहीं कि वह स्वयं ही दुष्टको मनमाना दंड देवे । वह अधिकार न्यायसभाका ही है ।

(इ) बहुपक्षके द्वेष नहीं करना चाहिये । द्वेष करना बुरा है । स्वसंमति प्रकट करना द्वेष नहीं है ।

(ई) बहुपक्षको भी उचित नहीं कि वे अपनी संमतिमें किसीको दंड देवें । बहुपक्ष और अन्य पक्षके मतभेद होनेपर न्यायसभा द्वारा योग्यदोषयुक्त निश्चय करना चाहिए । और न्यायसभाका निश्चय सबको मानना चाहिए ।

इत्यादि बातें उक्त मंत्रभागसे स्पष्ट सिद्ध होती हैं । यहाँ परमेश्वरके जबड़ेमें देनेकी कल्पना नहीं प्रतीत होती । अब यहाँ ' जंभ ' शब्दका अर्थ देखना उचित है—

' जंभ ' शब्दका अर्थ दांत, हाथीका दांत, मुस, जबड़ा, वज्र, दंड होता है । मंत्रमें ' वः जंभे ' अर्थात् ' अनेकोंका एक जबड़ा ' कहा है; प्रत्येक प्राणिके लिये एक जबड़ा हुआ करता है । परंतु यहाँ अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जबड़ा कहा है । वास्तविक रीतिसे अनेक मनुष्योंका एक जबड़ा नहीं हो सकता, परंतु यहाँ कहा है, इसलिये यह जड़हा वास्तविक नहीं है, केवल कार्यात्मिक है । निम्न कोष्टकसे व्यक्तित्व और सामाजिक जबड़ेकी कल्पना आ सकती है—

व्यक्तिका जयडा	सामाजिका जयडा
धंभ	न्यायालय
मुस	मुख्य
ज्ञानेदिय-पंचक	ज्ञानीजन-पंच
दांत-द्विज	त्रैवर्णिक-द्विज
दंतधंकि	द्विज-समा
ध्वंग, चर्वितचर्वण	विषय-चर्चा
अध-ध्वंग	प्रमाण-विचार

सिद्ध, व्याघ्र आदि हिंस्र पशु अपने शत्रुको अपने जबड़ेमें रखकर खाते हैं । शत्रुको अपने जबड़ेमें रखनेकी कल्पना जीव प्राणियोंमें है । श्रेणी मनुष्य पागल बनकर अपने शत्रुको कटने दौड़ता है । परंतु विचारी मनुष्य इस पशुवृत्तिकी दशाकर अपने आपकी सामाजिक एक जवदय समझकर, अपने शत्रुको भी

समाजका एक अवयव मानता है; इस कारण वह शत्रुको दंड देनेके लिये स्वयं प्रकृत न होता हुआ, न्यायसभाकी शरण लेता है, क्योंकि यही 'समाजका जबडा' है। इस न्यायालयमें द्विजोंकी समा लगती है और वह अनुकूल प्रतिकूल बातोंका मनन वारंवार करके दुष्टको दंड देती है और सज्जनको खातंत्र्य अर्पण करती है। इस समाजके जबड़ेका—अर्थात् न्यायसभाका—भाव 'जंम' शब्दसे लेना यहाँ उचित है। यही अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जबडा हो सकता है।

तं घो जंभे दृघमः ।

(तं) उघ दुष्टको हम सब (घः) आप अनेकोंके (जंभे) एक जबड़ेमें—अर्थात् न्यायसभामें—(दृघमः) धारण करते हैं। अर्थात् आपके आधीन करते हैं। न्यायसभाकी शिरोधार्यता यहाँ बताई गई है।

यहाँका 'घः' शब्द पूर्वोक्त 'अधिपतिभ्यः रक्षितुभ्यः' इन शब्दोंकी सूचित करता है। समाजके अथवा राष्ट्रके अधिपति और रक्षक 'घः' शब्दसे जाने जाते हैं। सबका द्वेष करनेवाले दुष्टको इन पंचोंके आधीन करना चाहिए, यह मंत्रका स्पष्ट आशय है। इसीलिये 'अधिपति' आदि शब्दोंका बहुवचन मंत्रमें आगया है और इही कारण वह बहुवचन योग्य और अर्पके अनुकूल है।

शत्रुको पंचोंके आधीन करनेके भावसे शत्रुकी स्वयं दंड देनेकी और न्यायको अपने हाथमें लेनेके धर्मवही वृत्ति कम होती है, और पंचोंकी ओरसे न्याय प्राप्त करनेकी सार्विक प्रवृत्ति बढ़ती है। इस प्रकारकी प्रवृत्ति समाजके हितके लिये आवश्यक है।

इस उपदेशसे अपने आपको समाजका अवयव समझनेका सार्विक भाव बढ़ाया जाता है। मैं जनताका एक अंश हूँ, जनताका और मेरा अटूट संबंध है, यह भावना अत्यंत श्रेष्ठ है, और इस उच्च भावनाका बीज कितनी उच्चमतासे अंतरणमें रखा गया है। यह वैदिक धर्मका ही महत्त्व है।

'तेभ्यो नमो०' आदि दो पाद प्रत्येक मंत्रमें हैं। ये दो पाद छः मंत्रोंमें बार बार कहे हैं। बार बार मंत्रोंका जो अनुवाद किया जाता है उसको 'अभ्यास' कहते हैं। विशेष महत्त्वपूर्ण मंत्रोंका ही इस प्रकार वारंवार अनुवाद वेदमें किया गया है। इसके सिद्ध है, कि इन मंत्रोंका आश मुख्य है, और इनके अनुकूल शेष मंत्रभागका अर्थ करना चाहिए। अर्थात् इस सूक्तका अर्थ सार्वजनिक है।

(१)

(१ प्राची दिक्) प्रगतिकी दिशा, (२ अग्निः अधिपतिः) तेजस्वी स्वामी, (३ असितः रक्षिता) खातंत्र संरक्षक और (४ आ-दित्याः इपघः) स्वतंत्रतापूर्णे वक्तृत्व, ये चार बातें हैं।

प्रत्येक दिशा विशेष मार्गकी सूचक समझी जाती है और इस विशेष मार्गके साधक तीन गुण हैं। प्रत्येक दिशाके साधक ये गुण निश्चित हैं। इस पूर्वी दिशाके अनुसंधानसे प्रगतिके मार्गका उपदेश किया है। तेजस्विता, खातंत्रता और वक्तृत्व ये तीन गुण उन्नतिके साधक हैं। अधिपतिसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि निस्तेज निर्वाय राजा, पराधीन रक्षक और अखातंत्र वक्ता किसी प्रकार भी उन्नतिका साधन नहीं कर सकते। इसी प्रकार अन्य दिशाओंका विचार करके बाँध जानना उचित है।

(१) प्रगतिका निश्चित मार्ग, (२) तेजस्वी स्वामी, (३) स्वाधीनताका धारण करनेवाला रक्षक, और (४) स्वतंत्रतापूर्ण वक्तृत्व, ये चार बातें मानवी उन्नतिके लिये आवश्यक हैं। इसी प्रकारके स्वामी, संरक्षक, और वक्ताओंका उत्कार होना उचित है। जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं उसको आप अधिपतियोंकी समीके आधीन हम सब करते हैं। यह मन्त्रका सीधा आशय है। मनुष्यकी मलाईके उपदेश यहाँ है। इस प्रकार अर्थका मनन करना उचित है। अब मुख्य शब्दोंके मूल अर्थोंका मनन करते हैं—

(१) 'अग्नि' शब्द वैदिक वाङ्मयमें ब्राह्मण और वक्तृत्वका प्रतिनिधि है। दिशा कोष्ठक सं० ३ देविए, तसमें प्राची दिशाका 'ब्रह्म' अर्थात् ज्ञान ही घन कहा है।

(२) 'अ-सित' शब्दका अर्थ बंधन-रहित, स्वतंत्र, स्वाधीन ऐसा है। 'सि-रंधने' इस धातुसे 'सित' शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'पर-स्वाधीन' है। 'अ-सित' अशब्द, स्वतंत्र ।

(३) 'आदित्य' शब्द 'अ-खंडनीय' अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'दो-अखंडने' धातुसे 'दिति' शब्द बनता है जिसका अर्थ 'खंडित' है। 'अ-दिति' का अर्थ 'अ-खंडित' है। अदितिका भाव आदित्य है। अखंडनीय, अनवरत, बंधन-रहित, स्वतंत्रताके भाव, जहाँ अज्ञानका बंधन नहीं है।

(४) 'इपु' - 'इप्-गती' धातुसे यह शब्द बनता है। इसलिये 'गति, हलचल' यह भाव इस शब्दमें मुख्य है। यथात् इसके अर्थ हलचलका अर्थ करना, वक्तृत्व करना, बोधना देना, उघति करना; ये हो गये। इस धातुके भाव

'इषवः' अन्वमे है । अस्तु । इष प्रकार प्रथम मंत्रका आग्रह है । मन् द्वितीय मंत्र देखिए—

(२)

(१ इक्षिमा दिक्) दक्षताकी दिशा (२ इन्द्रः अधिपतिः) अनुविचारक स्वामी (३ तिराश्चिराजी रक्षिता) अग्निमें बलनेवाला संरक्षक और (४ पितरः इषवः) वीर्यवान् इत्यन्त बरनेवाले, ये चार बातें उक्तिकी साधक हैं । इसी प्रकारके स्वामी रक्षक और पालकोंका अकार ही । ओं आदिशेष द्वेष करता है और विषका आधिक द्वेष करते हैं उक्तो हम सब आप अधिपतिगोत्री हमारे आधीन करते हैं ।

(५) ' इन्द्र '— (इन्द्र वाब्रून् द्वापयिता । १-१८) अनुष्ठा निवारण करनेवाला विजयी ।

(६) ' तिराश्चिराजी '— (तिरः) शीघ्रमेधे, (अंप-) जाना, (राज्ञी-) लक्ष्मी, मर्दाश । अन्तों मर्दाशा वर्द्धन न करनेवाला ।

(७) ' पिता ' (पातीति पिता)— संरक्षक पिता है । वीर्य धारण करके उत्तम श्रद्धान् उत्पन्न करनेवाला वीर्यवान् उत्तम पिता होता है ।

(३)

यह मात्र द्वितीय मन्त्रका है । अब तीसरा मंत्र देखिये— (१ प्रवीची दिग्) अंतर्मुख होनेकी दिशा, (२ वरुणः अधिपतिः) सर्व श्रमन्त स्वामी, (३ पृदाकुः रक्षिता) स्वर्गमें लडाही रक्षक और (४ अर्ष इषवः) अर्षकी वृद्धि ये चार बातें अम्बुदम्यको साधक हैं ।

(४)

(१ उद्गीची दिग्) उत्तर दिशा, उत्त्तर होनेकी दिशा, (२ सोमः अधिपतिः) दांत स्वामी, (३ स्वजः रक्षिता) स्वयं विद संरक्षक और (४ अशानिः इषवः) तेजस्वी प्रगति ये चार बातें उक्तिकी हैं ।

(५)

(१ भुवा दिक्) स्थिरदिशा, (२ विष्णुः अधिपतिः) चाहेक स्वामी, (३ कल्मापप्रीचः रक्षिता) कर्मकर्ता संरक्षक और (४ वीरुघः इषवः) औषधियोंकी वृद्धि ये चार बातें उक्तिकी लिये हैं ।

(६)

(१ ऊर्षा दिक्) उत्तर दिशा, (२ बृहस्पतिः अधिपतिः) ज्ञानी स्वामी, (३ भिषजः रक्षिता) शुद्ध संरक्षक और (४ अर्ष इषवः) वृष्टिकी गति ये चार बातें उक्तिकी करनेवाली हैं ।

अब इन उक्तियोंका मनन करिये । उक्तिकी मूल धारणा नीचे दिखे हैं—

(१) ' वरुणः '— वर-वृ-रुभि । पर्वद करना । जो पर्वद किया जाता है वह बल्य होता है । सर्वसंगत सर्वभेद ।

(२) ' पृदाकुः '— (पृत्-मा-कुः)— पृदा अर्षे शुद्ध, संग्राम, स्वर्ग, स्वर्गके उत्तम उक्तिकी उक्त बोधनेवाला ' पृदाकु ' होता है । कु = अन्व ।

(३) ' सोमः '— पातिका सुक्क रंर अन्व सोम है । इसका उक्त अर्षे ' स+उमा ' अर्षादि विधाके साथ रहनेवाला अर्षादि ज्ञानी है । ' सु-प्रसवधेभ्यर्षयोः ' इस धातुके ' सोम ' अन्व बनता है अिषज अर्षे ' उरुदक, प्रेरक और ऐश्वर्यात् ' देवा होता है ।

(४) ' स्वजः '— (स्व+जः)— अन्तों अग्निमें रहनेवाला, अिषे उरुकी उक्तिकी अर्षलंन करनेकी आवश्यकता नहीं है । स्वादलंनशील । स्वयं अिषज अथ चरों और ऐश्वर्य है ।

(५) ' अशानिः '— यह विष्णुका नाम है । तेजोस्वताका बोध इस अन्वसे होता है । ' अम् ' धातुका अर्षे अशाना ' है । अशानक शाक्तिका नाम अशानि है ।

(६) ' विष्णुः '— सर्वे अशानक ' कर्ता, उत्तमी ।

(७) ' कल्माप-प्रीचः '— ' कल्मन् ' अर्ष अर्षे कर्मन् अर्षात् कर्म, कार्य, उद्योग है । ' कल्माप '— (कल्म-प) = कर्मके द्वारा अनिष्ट दुरार्थका नाश करनेवाला । (कर्मणा अनिष्टं ह्यति इति कर्मापः । कर्माप एव कल्मापः ।) पुरुषार्थसे दुष्टताको दूर करके सुष्टताको प्राप्त करनेवाला और इस प्रकारके पुरुषार्थके मात्र गलेमें रुदा धारण करनेवाला ' कल्माप-प्रीच ' किंवा ' कर्मा-स-प्रीच ' कहलाता है ।

(८) ' बृहस्पतिः '— महात् ज्ञानका स्वामी, ज्ञानी । सुति अथवा अधिक विद्वान् ।

(९) ' भिषजः '— शुद्ध, पवित्र, देव ।

अस्तु, इष प्रकार मुख्य उक्तोंके अर्षे हैं । पाठक इनका अधिक विचार करके लाभ उठावे ।

पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, द्युव और ऊर्षे ये छः दिशाओं कमथः प्रगति, चानुर्य, शांति, उन्नति, स्वर्ग और ऐश्वर्य इन छः गुणोंकी सूचक हैं । इन छः गुणोंका साधक ' गुण-चतुष्टय ' पूर्वोक्त मंत्रोंमें वर्णन किया है । (१) दिशा, (२) अधिपति, (३) रक्षक और (४) अर्ष ये चार अन्व विधेय संकेतके हैं, और इन अन्वोंमें दाी अशानात्क विधेय गुण अर्षे

है, इस बातका प्रकाश पाठकोंके मनमें पूर्ण रीतिसे पडा ही होगा । बारंबार मनन करके इनके गूढ तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना हम सबका कर्तव्य है ।

इन मंत्रोंमें ' इषु ' शब्द विलक्षण अर्थके साथ प्रयुक्त हुआ है । इसका किसी अन्य भाषामें भाषांतर करना अत्यंत कठिन कार्य है । किसी एक प्रतिपादके इषका मास प्रकट होता ही नहीं । इसलिये इन मंत्रोंको विशेष विचारसे सोचना चाहिए ।

उत्तम अधिपति और श्रेष्ठ संरक्षकोंका सन्मान होनेसे अनसमायकी स्थिति ठीक रहती है, और राज्यशासन ठीक चल सकता है । अधिपति मुख्य होते हैं और संरक्षक उनके आधीन रहकर कार्य करनेवाले होते हैं । अधिपति और संरक्षकोंके विषयमें अनतामें निरादर नहीं होना चाहिए । अधिपति और संरक्षकोंके गुण, जो इन मंत्रोंमें वर्णन किये गये हैं, जहाँ होंगे वहाँ सब जनताका पूज्यभाव अवश्य रहेगा । दुष्टको दंड देनेका अधिकार इनहीको है । किसी मनुष्यको उचित नहीं कि वह अपने हाथमें न्याय करनेका अधिकार रखे ही लेकर किसीको दंड देवे । इससे अत्याति और अराजकता होती है । इसलिये प्रलेख मंत्रमें कहा है कि ' हम श्रेष्ठ और योग्य अधिपतियोंका आदर करते हैं और दुष्टका शासन होनेके लिये उसको उनहीके स्वाधीन करते हैं । ' सब लोगोपर इस भावके संस्कार होनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है ।

मनुष्य सार्वजनिक अवस्थाका निरीक्षण करना और मानवी हितसाधन करनेका विचार करना, इन मंत्रोंका मुख्य उद्देश्य है । इन मंत्रोंमें अनताकी उन्नतिके विचारकी सूचना मिली है । वैदिक धर्ममें न्यायिक और समाजका मिलकर सुधार लिखा है । केवल न्यायिकका सुधार नहीं होगा, और केवल समाजका भी नहीं होगा । दोनोंका मिलकर होगा । न्यायिक समाधिकी मिलकर उन्नति होती है । प्रलेख मंत्रकी प्रथम पंक्तिमें सामान्य सिद्धांत कहे हैं और शेष मंत्रमें उन सिद्धांतोंको जनतामें प्रकट कर बताया है । इस दृष्टिसे पाठक इन मंत्रोंका अधिक विचार करें ।

दिशाओंका तत्त्वज्ञान ।

वैदिक दृष्टि ।

वैदिक तरब्रह्मण इतना विस्तृत, व्यापक और सर्वगामी है, कि उसका उपदेश न केवल वेदके प्रलेख सूक्त द्वारा हो रहा है, परन्तु वेदके सूक्त पाठकोंमें वह दिव्य दृष्टि उत्पन्न कर रहे हैं, कि जिस दृष्टिसे अमृतके पदार्थ मात्रकी और विशेष भावनासे देवनेका गुण वैदिक धर्मियोंके अन्दर उत्पन्न हो सकता

है । विशेष प्रकारका दृष्टिकोण उत्पन्न करना वेदको अभीष्ट है यदि पाठकोंमें यह दृष्टिकोण न उत्पन्न हुआ, तो वैदिक मंत्रोंका अर्थ समझना ही असंभव है । वेदमंत्रोंकी रचना, तथा उनकी समझनेकी रीति, वैदिक उपदेशकी पद्धति तथा वैदिक दृष्टि, इतनी विलक्षण और आश्चर्यजनक अवस्थासे भिन्न है कि, वह दृष्टि अपनेमें उत्पन्न करना ही एक बड़े प्रयासका कार्य, आश्चर्यजनकी संभ्यताके कारण हो गया है । आश्चर्यजनकी जड़ संभ्यताकी रीति अवलंबन करनेके कारण वह परिशुद्ध मानसिक अवस्था और वह दिव्य दृष्टि हमारेमें नहीं रही. कि जो प्राचीन आर्योंमें वैदिक धर्मके कारण थी ।

किसी काव्यकी भाषा नीरस और दुष्पक हृदयमें कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती । काव्यका रस जाननेके लिये पाठकोंका तथा श्रोताओंका हृदय विशेष संस्कृतिसे संपन्न ही चाहिए । कविकी दृष्टि ही काव्यका रस ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा कविकी दृष्टिके बिना कोई काव्य पाठकोंके हृदयपर प्रेमका भाव उत्पन्न कर ही नहीं सकता । उच्च कविता जंगली मनुष्योंके हृदयोंपर कोई दृष्ट परिणाम नहीं कर सकती, इसका यही हेतु है । वीणाकी एक तार बजानेसे उसके स्वरके साथ मिली हुई दूसरी तार आप ही आप आवाज देती रहती है, परन्तु जो तार उसके स्वरके साथ मिली नहीं होती, वह नहीं बजती । यही नियम काव्यके आस्वाद लेनेके विषयमें भी है । जो हृदय कविके हृदयके समान उच्च होते हैं वे ही उस काव्यसे हिल जाते हैं, परन्तु जो हृदय भिन्न प्रकारकी अवस्थायें होते हैं, वे नहीं हिल सकते । वेद ' देवका काव्य ' होनेसे उसका समझने और उसका वास्तविक आनंद लेनेके लिये भी विशेष उत्तम कौशिके हृदय चाहिये ।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, कि यदि ऐसा है तो सामान्य मनुष्यके लिये वेद निकम्मा सिद्ध होगा । परंतु वास्तविक बात वैसी नहीं है । परमेश्वरकी सृष्टि जैसा सब मनुष्योंके लिये है, उसी प्रकार ईश्वरके वेद भी सब मनुष्योंके लिये ही हैं । परंतु अपनी योग्यता और अवस्थानुसार हरएक मनुष्य वदसे लाभ उठा सकता है ।

जिस प्रकार साधारण मनुष्य जलसे तुषा प्राप्त करने और अभिसे शक्ति निवारण करनेका काम लेखक इन पदार्थोंका उपयोग करता है, और समझता है, कि मूनिभू मंत्रे उपयोग लिया; तद्वत् साधारण मनुष्य वेदका स्थूल अर्थ ज्ञेता है और समझता है कि मैंने वेदका अर्थ जान लिया । जैसा ' अग्नि ईष्टे ' का अर्थ ' मैं आगकी प्रशंसा करता हूँ ' इतना ही समझना है ।

जिस प्रकार उदक कोटीके वैज्ञानिक वेदकलानिपुण महाजन उद्यो बल और अग्निके यंत्रमें रखकर उनके योगसे बडे बडे यंत्र बना लेते हैं, और समझते हैं कि हमने सृष्टिका उपभोग लिया; तद्वत् ही बडे योगी और आत्मज्ञानी पुरुष उसी वेद-मंत्रका काण्डदृष्टिसे अवलोकन करके परमात्म तत्त्वके छिदा-न्तोको जानते हैं । जैसा— ' अग्नि ईष्टे ' । का अर्थ ये लोग समझते हैं कि ' मैं उस तेजस्वी आत्माको प्रीति करता हूँ । '

जैसा सृष्टिका उपभोग दोनों के रहे हैं, वैसा ही वेदका अर्थ दोनों समझ रहे हैं । परन्तु एकही साधारण दृष्टि अथवा जड़ दृष्टि है और दूसरेकी असाधारण अथवा काण्डदृष्टि है । वेद दिव्य काव्य होनेसे इस प्रकारकी असाधारण काण्डदृष्टि ही उसका आशय देखना उचित है । यद्यपि सबको यह दृष्टि साध्य नहीं है, तथापि जिनको साध्य हो गई है उनकी सहाय-तासे जन्मोंको उचित है कि वे अपनी गति इस भूमिधाम करें । आचार्यके बताये मार्गसे चलनेका यही तात्पर्य है ।

वेदका अर्थ समझनेके लिये न केवल वेद मन्त्रोंका विशेष दृष्टिसे और विशेष पदार्थसे अर्थ जाननेकी आवश्यकता है; परन्तु सृष्टिकी ओर भी विशेष आत्मिक भावनासे देखनेकी अत्यंत आवश्यकता है । सर्वसाधारण लोकोको सृष्टिकी तरफ जड़ दृष्टिसे देखनेका अभ्यास आजकल हो गया है । यही अभ्यास अत्यंत घातक है । जबतक जनतामें जड़ दृष्टि रहेगी, तबतक उनमें वैदिक दृष्टिका अभाव ही रहेगा । ' जिस अव-स्थामें सब भूतमात्र आत्मरूप हो गये, उस अवस्थामें एक-त्व-का सर्वत्र दर्शन होनेके कारण शोक मौह नहीं होता । ' (यजु. ५०-१७) यह दृष्टि है कि जिस दृष्टिसे सृष्टिकी ओर देखना चाहिए । परमात्म शक्तिका जो विकास इस प्रकृतिमें हो गया है, वह ही मृष्टि है । इस दृष्टिकी ' आत्मरूप दृष्टि ' कहते हैं ।

जड़ दृष्टिके लोग अपने शरीरकी ओर भी जड़त्वके भावसे देखते हैं और केवल आस्थि, मज्जा, मांस आदिकोंको ही देखते हैं; उनको इन जड़ पदार्थोंसे भिन्न कोई भेद पदार्थ इस शरीरमें दिखाई नहीं देता; परंतु दूसरे सुविज्ञ लोग ऐसे हैं, कि जो इस शरीरकी ओर चेतन दृष्टिसे देखते हैं, और हरएक शरीरके मागमें आत्माकी शक्तिका विकास और आभास देखते हैं । यह दूसरी दृष्टि वेदकी अर्थात् है । इसी दृष्टिसे सृष्टि का निरीक्षण करनेका तथा वेदका अभ्यास करनेका मंत्र करना चाहिए । इस विचारका विशेष स्पष्टीकरण करनेके लिये इस लेखमें दिशा-बोध विषय किया है, आशा है कि पाठक इस लेखको जक माननाके साथ पढ़ेंगे—

' प्राची दिशा ' पूर्व दिशाकी विभूति ।

पूर्व दिशाके लिये वेदमें विशेष शब्द ' प्राची दिक् ' उक्त आता है । इसका मूल अर्थ निम्न प्रकार है—

(१) प्राची = (प्र + धञ्) = ' प्र ' का अर्थ ' आविष्ट, प्रकृत, आगे, सम्मुख ' है । ' अञ् ' का अर्थ ' गति, पृथक् ' अर्थात् जाना, पठना, चलना, हलचल करना, सत्कार और पूजा करना ' है । तात्पर्य ' प्राची ' शब्दका अर्थ आगे बढ़ना, उद्योग करना, अग्रभागमें हो जाना, प्रगतिक माधन करना, उदयको प्राप्त होना, अभ्युदय संवादन करना, ऊपर चढ़ना, इत्यादि प्रकार होता है ।

(२) दिक् = दिशा = का अर्थ दर्क, शीघ्र, ठाक, दिशान्त, आशा, निशाना, शीघ्रा रास्ता, सरल मार्ग, इत्यादि होता है ।

उक्त दोनों अर्थोंको एकत्रित करनेसे ' प्राची दिक् ' का अर्थ— (१) आगे बढ़नेकी दिशा, (२) उदयका मार्ग (३) अभ्युदय प्राप्त करनेका रास्ता, (४) सत्कार और पूजाका पथ, (५) सज्जतिकी हलचल, (६) उच्च गतिकी शीघ्रा मार्ग, इत्यादि प्रकार होता है । प्राची दिशाका मूल अर्थ बरती अथवा उद्योगिकी दिशा, अभ्युदयका मार्ग, वृद्धिका रास्ता है ।

इस अर्थको मनमें धारण करके पाठक पूर्व दिशाकी ओर धरेरे देखें । विचारपूर्वक देखनेके पश्चात् पाठकोंकी पटा लग जायगी कि पूर्व दिशाका नाम ' प्राची दिक् ' वेदने क्यों रखा है । विचारकी दृष्टिसे शरीरके समक्षमें भी पूर्व दिशाकी ओर पाठक देखते जाय । पूर्व दिशाकी अर्थात् धरेरे और शरीरके समक्ष ही ज्ञात हो सकती है । दिनके समय सूर्यके प्रचण्ड प्रकाशके कारण इस दिशाका महत्त्व ध्यानमें नहीं आ सकता । इसलिये धरेरे और शरीरकी ही पूर्व दिशाके महत्त्वका चिन्तन करना चाहिये ।

सांकेतिक लोग दिशाओंकी जड़ कहते हैं, उनको वैसा ही कहने दें, क्योंकि उनकी दृष्टि भिन्न है । वेद पढ़नेके समय आपकी सर्वत्र पूर्ण चेतन्यकी दृष्टिसे देखना चाहिये । जैसा पूर्व दिशामें उसी प्रकार अन्य सब दिशाओंमें चैतन्यका विकास हो रहा है, ऐसी शुद्ध कल्पना कीजिए । और प्रत्येक दिशा अर्थात् और प्राप्त है, तथा विशेष प्रकारकी शक्तिका प्रकट कर रही है, ऐसी कल्पना कर लीजिए । यदि आप इसको समझान देरता मान सकते तो भी हमारे प्रस्तुतके कार्यके लिये बहुत अच्छा है ।

आप प्रमात् कालमें पूर्व दिशाकी ओर शुद्ध कर लीजिए । पूर्व दिशाको उदय हो रहा है और वृद्धीका उदय हो गया है, ।

ऐसा आप देखेंगे । अनंत तारागणोंको जन्म देनेवाली, उनका उदय करनेवाली यह पूर्वदिशा है । तेजसिताका प्रकाश इस दिशासे हो रहा है । प्रतिक्षण इस दिशाकी प्रतिमा बढ रही है, क्योंकि तेजोरूप सूर्यनारायणका अब जन्मका समय है । देखिये । योके ही समयमें सहस्ररामी सूर्य भगवान् उदयको प्राप्त होंगे और संपूर्ण जगतको नवजीवनसे संशरित करेंगे । तमोगुणी अंधकारका नाश होगा और सत्वगुणी प्राणमय प्रकाश चारों ओर चमकने लगेगा । 'देखिए अब सूर्यका उदय हो गया है, यह सूर्यबिंब कैसा मनोरम, रमणीय, स्फुरण देनेवाला, आनंदको बढानेवाला, तेजका अर्पण करनेवाला, तथा सहस्रों शुभ गुणोंसे युक्त है । आप इसको केवल जड़ न समझिए । यह हमारे प्राणोंका प्राण है, यह स्थावर जंगमका जीवनदाता है, इसके होनेसे हम जीवित रह सकते हैं और इसके न होनेसे हमारा मृत्यु है, ऐसा यह सूर्यनारायण हमारे जीवनका आचार, परमेश्वरके अद्वितीय तेजका यह सूर्य निःसंदेह व्यक्त पुंज है । इसकी कल्पनासे आप परमात्माकी अद्वितीय तेजसिताकी कल्पना कर सकते हैं । इस उच्च दृष्टिसे आप इसका निरीक्षण कीजिए । उदय होते ही इसका तेज बढने लगा है । तात्पर्य यह पूर्व दिशा हरएकको उदयके मार्गकी सूचना दे रही है, अभ्युदयका रास्ता बता रही है, अपनी तेजसिता बढानेका उपदेश कर रही है । वेद कहता है कि यह 'उदयकी दिशा' है । सबका उदय यहाँसे हो रहा है । हे मनुष्य ! तुम प्रतिदिन इसका ध्यान और अपने उदयका मार्ग सोचो ।

सूर्यचंद्रका और सब तारागणोंका उदय देखते हुए आप अपने उदयके मार्गकी सूचना निःसंदेह ले सकते हैं । यदि एक समय अस्त्रको पहुंचा हुआ सूर्य पुरुषार्थसे फिर अपनी परिपूर्ण तेजसिवतके साथ उदयको प्राप्त हो सकता है, यदि क्षयरोगके कारण अखंड क्षीणताको पहुंचा हुआ अक्षरमा प्रातिदिन शनैः शनैः प्रयत्न करता हुआ फिर पूर्णमासे दिन अपने परिपूर्ण वैभवको इसी पूर्व दिशासे प्राप्त हो सकता है, इसी प्रकार यदि सब तारागण एक बार अक्षतगत होनेपर भी पुनः पूर्णवत् उदयको प्राप्त कर सकते हैं; तो क्या मनुष्य, किसी कारण अवनातिमें पहुंच गये होंगे, तो भी उन्नत नहीं हो सकते ? जिस मनुष्यके हृदयमें प्रत्यक्ष आत्मा बैठा है, जिस मनुष्यके शरीरमें सब सूर्यचंद्रादि देवताओंने प्रत्यक्ष जन्म लिया है, ऐसा मनुष्य कि जो ३३ कोटि देवताओंका सत्वरूप है, वह पुरुषार्थ करनेपर नीच अवस्थामें क्योंकर रह सकता है ! न केवल अभ्युदयपर इसका परिपूर्ण अधिकार है, परंतु यह अपना जैसा चाहे वैसा अभ्युदय अपने ही स्वावलंबनसे और अपने ही पुरुषार्थसे निःसंदेह प्राप्त कर

१६ / अथर्व, माध्य, काण्ड ३)

सकता है । व्यापिकाः और सधराः, अर्थात् अपना और आतीका, निजका और राष्ट्रका इधी दृढ भावनासे उदय हो सकता है । पूर्व दिशाके अवलोकनसे मनमें ये विचार उत्पन्न हो सकते हैं ।

पश्चिम दिशाकी विभूति ।

दिशाओंको विभूतियोंका वर्णन करते हुए पूर्व स्थलमें पूर्व दिशाको वैदिक कल्पना बताई है, अब इस लेखमें पश्चिम दिशाकी कल्पना बताना है । वैदिक क्रम देखा जाय तो पूर्व दिशाके पश्चात् दक्षिण दिशाका वर्णन आना योग्य है, और यह वैदिक दृष्टिसे ठीक भी है; क्योंकि उदयके मार्गके साथ साथ दक्षिण्यका मार्ग चलना चाहिए । अभ्युदय और दक्षताका साहचर्य घनातन ही है । उदयकी इच्छाके साथ दक्षिण्यका अवलंबन करनेकी आवश्यकता है, इसमें कोई संदेह ही नहीं है । तथापि पूर्व और पश्चिम दिशाओंकी विभूतियों परस्पर सापेक्षताका संबंध रखती है, इसलिये वैदिक कल्पनाकी स्पष्टता होनेकी इच्छासे पूर्व दिशाका वर्णन होनेके पश्चात् पश्चिम दिशाका वर्णन करनेका संकल्प किया है । यह सापेक्षताका संबंध देखिए—

पूर्व	पश्चिम
उदय	अस्त (अस्त हुई)
जन्म	मृत्यु (स्व-रूप प्राप्ति)
प्रकाशका प्रारंभ	अन्धकारका प्रारंभ
प्र-वृत्ति	नि-वृत्ति
पुरुषार्थ	विभ्रान्ति
प्राची	प्रतीची
प्र-अंश्व	प्रति-अंश्व
हृत्बल	शान्ति
आप्राप्ति	सुश्रुति
दिन	रात्री

इन दो दिशाओंका परस्पर सापेक्ष संबंध देखनेसे वैदिक कल्पनाकी अधिक स्पष्टता हो जायगी । इसलिये क्रमप्राप्त दक्षिण दिशाका विचार न करते हुए पश्चिम दिशाका ही विचार यहाँ प्रथमतः करना है । देखिए—

पश्चिम शान्तिकी दिशा है । इस शान्तिकी दिशाका जलाधिपति वरुण स्वामी है, क्योंकि जलका ही गुण शान्ति है और वह वरुणके आधीन है । इधोलिये इसको वर अर्थात् प्रेरण कहते हैं । अथवा ' वर ' शब्द गौणवृत्तिसे उदक वाचक भी है, जिसके पास ' वर ' अर्थात् उदक है, वह वरुण कहलाता है । जलाधिपतिका संबंध अजके साथ होना स्वामानिक ही है, जलके विना अजकी उत्पत्ति ही नहीं सकती । अजका भोजन करनेसे

सुखासांति और अलसा पाल करनेसे दुःखासांति होती है, अर्थात् खानपानके कारण प्राणियोंके अन्दर परिपूर्ण शांति होनेके कारण उत्साह बढ़ता है । इस प्रकार इस दिशासे जनताकी शांतिका संबंध है ।

अब पश्चिम दिशाकी विभूति देखिए— व्यक्तिके देहमें शुद्ध भाग, आधुनें तापदकी लक्षणा, दिनमें सार्यकालका समय, दिनकी पुरुष मानीए और वह दिन अपनी छाँ रात्रिके साथ मिलने जाता है, यही दिन और रात्रिका मिश्रण है, इसी प्रकार क्षीणरुका नियुक्त होता है, इसलिये तापमानाहस्या पश्चिम दिशा है, बौद्धिक शक्तिका अधीरान्न अपना पूर्ण दिवस होता है, उसमें ११ घंटे व्यतीत होते हैं, वह आधुनें मध्यम रूपका तापमानाहस्या है, इस समय सूर्य विश्रामके लिये पश्चिम दिशामें जाता है । शत्रुओंमें वर्षा ऋतु, महिनोमें धावन, मादसद कालोंमें पर्यन्त काल, वर्षोंमें वैश्य वर्ण, आश्रमोंमें गृहस्थाश्रम, पुरुषार्थोंमें काम, सुषोमें द्वारप दुग्, अवस्थाओंमें सुशुतिहत्यादि पश्चिम दिशाकी विभूति है । इसका विचार और आदीनन करके इस गणनामें न्यूनाधिक धरना उचित है । साधारणतया योगाद्या रूप यहाँ वर्णन किया है ।

पश्चिम दिशाकी इस प्रकार भाष अमूर्त और व्यापक मानिए । एक विशेष भाव इस शब्दसे ध्यानमें लाना है । साधारण लोक पश्चिम दिशासे सूर्यास्त होनेकी दिशा समझते हैं, परन्तु इससे कई गुणा उच्च और व्यापक अमूर्त भाव वेदमें है, जिसका ज्ञान होनेके बिना दिशा बोधक वैदिक मंत्रोंके शब्दोंका आशय समझने ही नहीं आयेगा ।

‘प्रति-अंश्व्’ शब्दसे ‘प्रतीची’ शब्द बनता है । इसका धारण्य पीछे हटना, निवृत्त होना, अंतर्मुख होना, विश्रामकी तैयारी करना इत्यादि प्रकार होता है । सूर्य दिनभर प्रवृत्ति रूप कार्य करनेके पश्चात् विश्रामकी तैयारी करके पश्चिम दिशाका आश्रय करता है । मानो कि सब जगत्की दिनभर प्रकाश देनेके पश्चात् विश्रामके लिये अपने घर जाता है, और रात्रिके साथ संलग्न होता है । इसी हेतुसे रात्रिके ‘रमदिशो’ अर्थात् रमण करनेवाली पदा जाता है । पुरुष भी इसी प्रकार दिनभर अपने सब व्यवहार करता हुआ जब थक जाता है तब घर जाकर अपनी पत्नीके साथ रहता हुआ शांति पाता है । सूर्य तपता है इसलिये तपस्वी है, यह तप उच्छका प्रद्वर्ण्य है, इस प्रद्वर्ण्य श्रवके पश्चात् वह रात्रिके साथ रममाण होनेसे गृहस्ती बनता है, यही उच्छका पश्चिम दिशाका कार्य है ।

एषर प्रद्वर्ण्यश्रममें निपनो और श्रवके कारण, उपनेशाका प्रद्वर्ण्यो भी गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होकर शांति होता है, यही

व्यक्तिका पश्चिम दिशाका कार्य है । वर्षोंमें प्राण्य वर्ण्य वन-निर्गमोत्थ लक्ष्य करता है, यह प्राण्य वर्ण्य तपस्वीके लिये ही है । परन्तु वैश्य वर्ण्य शांतिसे शर्म रहता, पीछे कमाता और कामन्द पाता है । न तो इस वर्ण्यकी प्राण्यवर्ण्य समान तपस्वीके शत्रु हैं और न शत्रुवर्ण्य समान युद्धके दुःख हैं । शत्रुवर्ण्य साथ पूर-सौख्य भोगके कारण यह वैश्य वर्ण्य बाहुर्धर्ममें शक्ति और विश्रामका अंतर्द्व पश्चिम दिशाका स्थान है । शत्रुओंमें बंधन और श्रम्य लक्षणसे तपनेवाले हैं, परन्तु शर्पाश्रुमें सर्वत्र शीत जलकी वृष्टि होनेसे नदी, नद, तालाब और झरू बलके परिपूर्ण होनेके कारण सर्वत्र क्षयिका प्राप्त होनेसे सब मूनि हरिपादलसे मुन्दर और शीत दिग्दर्श देनी है, इसलिये शत्रु-ओंमें वर्षा शत्रु पश्चिम दिशाकी विभूति माना है । इसी दृष्टिके अन्तर्द्व देखिए और सर्वत्र पश्चिम दिशाकी विभूति माननेका दान कीजिए । इस प्रकारकी भावना पश्चिम दिशाके वैदिक मंत्रोंमें है, इसलिये इसकी यथावत् धरना होनेसे ही मंत्रोंका आशय हृदयमें विकसित हो सकता है ।

उत्तर दिशाकी विभूति ।

पूर्व दो लेखोंमें ‘पूर्व और पश्चिम’ दिशाओंकी विभूतियोंका वर्णन किया गया है, उची कनानुसार इस लेखमें उत्तर दिशाका विचार करना और उस दिशाकी विभूतियोंका स्वरूप बतलानेका करना है । पश्चिम दिशाके पश्चात् क्रमशः ‘उत्तरा’ दिशा है । उत्तर दिशाका भाव निम्न प्रकार देखा जा सकता है—

उत्तर	उत्तरीची
उत्-तर	उत्-अंश्व्
उत्थ-तर	उत्थ-गति

(उत्त्) उत्पत्तासे (तर) अधिक जो भाव होता है, वह ‘उत्तरा’ किंवा ‘उत्थ-तर’ शब्दसे बताना जा सकता है । उत्पत्ताकी दिशा, अधिक उत्पत्ताके भावकी दिशा यह इस शब्दका आशय है । जिस प्रकार पूर्व दो लेखोंमें बताना गया है कि ‘प्राची’ और ‘प्रतीची’ दिशा क्रमशः ‘प्रगति’ और ‘विश्राम’ की सूचक दिशा है, उसी प्रकार समानिके कि यह ‘उत्तरीची’ दिशा उच्च गतिकी सूचक है, व्यक्तिके शरीरमें यह उत्तर दिशा ‘बायो बगल’ के साथ सम्बन्ध रहती है ।

शरीरमें बायो बगल उत्तर दिशा है, इसमें भी हरण सुख है इसका आरम्भ अपिपति है । अंगुष्ठ मात्र सुख हृदयमें रहता है, यह उत्तरदिशेकी वर्णन यहाँ देखने योग्य है । इसका ‘स्वजः’ उच्छिका है । ‘स्य-ज’ शब्द स्वतःसे स्वयं होनेवाली शक्तिका बोधक है । आत्मतकी स्वकीय शक्ति

यहाँका रक्षण होता है । बाहिरकी शक्तिसे यहाँका कार्य होना ही नहीं है । आत्माकी निज शक्तिका ही प्रभाव यहाँ होना आवश्यक है । आत्माके प्रेमसे तथा परमात्माकी भक्तिसे हृदयके शुभ-मंगलमय होनेकी संभावना यहाँ स्पष्ट हो रही है ।

उत्तर राष्ट्र प्रजयोत्तराधिदिशामुदीर्घा कृणवश्रो
अग्रम् । पांक्तं छंदः पुरुषो यभूव विश्वैर्विभ्वांगैः
सह संभवेम ॥ १० ॥ (अथर्व. १२।३)

“ (उत्तर राष्ट्र प्रजया उत्तराधिदित्) उत्तर दिशा धरा ही विश्वकी राष्ट्रीय दिशा है । इसलिये (नः) हम सबको (अग्रं) अग्रभागमें बढनेकी इच्छा धारण करते हुए इधी उत्तर दिशासे प्रयत्न करना चाहिए । (पांक्तं) पांच वर्णोंमें विभक्त (पुरुषः) नागरिक जन ही इसका छंद है । इसलिये सब वर्णोंके साथ हम सब (सह संभवेम) मिलकर रहें, अर्थात् एकतासे पुदुपार्य करें । ”

राष्ट्रमें सब होनेकी भावना ही उत्तर अर्थात् उत्तर दिशा है । इस दिशाके प्रगतिका साधन और अभ्युदयके मार्गका अवलंबन करनेवाले राष्ट्रके प्रत्येक मनुष्यके अंदर यह भावना चाहिये, कि मैं (अग्रं) अग्रभागमें पुदुपार्य करता हुआ पहुँच जाऊँगा । मैं कभी पीछे नहीं रहूँगा । राष्ट्रमें पांच वर्ण होते हैं, ज्ञानके कारण ब्राह्मणोंका क्षेत्रवर्ण, क्षात्रके कारण राजगुण प्रधान क्षत्रियोंका रजवर्ण, वैदिक कार्य करनेवाले, धनसंग्रह करनेवाले वैश्योंका पीतवर्ण, कारीगरोंका अर्थात् सत्कृतोंका नीलवर्ण और अशुद्ध जंगलियोंका कृष्ण वर्ण होता है । हम जनता इन पांच वर्णोंमें विभक्त है, इसलिये पंचवर्णोंके राष्ट्रका वैदिक नाम ' पांचजन्य ' है । ' पांच-जन्यका महानाद ' ही जनताका

सार्वजनिक मत हुआ करता है । जो पुरि अर्थात् नगरोंमें बसते हैं उनका नाम पुरुष अर्थात् नागरिक होता है । (पुरि-घस, पुर-घस, पुर-उप, पुरुष) ये पुरुष अर्थात् नागरिक पहिले चार वर्ण हैं, और पाँचवा निषाद वर्ण नागरिकोंसे भिन्न है, इसलिये कि वह जंगलमें रहता है । जंगल निवासी भी राष्ट्रके अवयव है, जैसे नागरिक होते हैं । इसलिये ' पांच-जन्य ' राष्ट्रमें सब लोक आते हैं जिस प्रकार वैदिक राष्ट्रीय पांचजन्यकी कल्पनामें सब पाँचों प्रकारके जनोका अन्तर्भाव होता है उस प्रकारका ' पांचजन्य राष्ट्र ' का अर्थ और भाव्य बतानेवाला शब्द किसी अन्य भाषामें नहीं है । इससे पता लगता है, कि वैदिक राष्ट्रीयताकी कल्पना कितनी उच्च और कैसी व्यापक है । सब अवयवों और अंगोंके साथ जब प्रेमरूप एकताका भाव होता है तभी राष्ट्रीय एकताकी अद्भुत शक्तिनिर्माण होती है, जिससे राष्ट्रकी उत्तमतर दिशाके अभ्युदयके मार्गसे जाना सुगम होता है । इस प्रकार उत्तर दिशाकी विभूति है ।

जगतमें जो उत्तर दिशा है वह सब जानते ही हैं, यही उत्तर दिशा व्यक्तिके शरीरमें बायीं बरल है, राष्ट्रमें उत्तर दिशा धनोत्पादक कारीगर वर्ण है, ऋतुओंमें उत्तर दिशा शरदः है, महिनोंमें आश्विन-कार्तिक मास हैं, वर्णोंमें सत्कृतोंका कारीगर वर्ण है, छंदोंमें अनुष्टुप् छंद, भावनाओंमें उच्च-तर होनेकी महत्वाकांक्षा है, इत्यादि प्रकार इस उत्तर दिशाकी विभूति है । इस दृष्टिसे सर्वत्र उत्तर दिशाकी विभूति देखकर पाठक बोध ले सकते हैं ।

पाठक अन्य दिशाओंके विषयमें इस प्रकार विचार करके जानें और इस ढंगसे इन दो सूक्तोंका मनन करके बोध प्राप्त करें ।

पशुओंकी स्वास्थ्यरक्षा ।

(१८)

(श्रौतियः — प्रश्ना । देवता — यमिनी)

एकैकयैषा सुष्टया सं बभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः ।

यत्र विजायते यमिन्यपतुः सा पशून्क्षिणाति रिफुती रुयती

॥ १ ॥

अर्थ— (यत्र भूतकृतः विश्वरूपाः गाः असृजन्त) जहाँ भूतोंको बनानेवालोंने अनेक रंग रूपवाली मौँवें बनाईं, वहाँ (यथा) यह गौ (एक-एकया सुष्टया सं बभूव) एक एकके क्रमसे बसा उत्पन्न करनेके लिये उत्पन्न हुई है । (यत्र अप-ऋतुः यमिनी विजायते) जहाँ ऋतुकालसे भिन्न समयमें जुदे बघोंकी उत्पन्न करनेवाली गौ होती है वहाँ (सा रुशती रिफुती) वह गौ पीडा देती हुई और कष्ट उत्पन्न करती हुई (पशून् क्षिणाति) पशुओंको नष्ट करती है ॥ १ ॥

एषा पशून्सं क्षिणाति ऋग्याद्भूत्वा व्यद्वरी ।

उत्तैर्ना दृक्षणे दद्यात्तथा स्योना श्चिवा स्यात् ॥ २ ॥

शिवा भव पुरुषभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।

शिवासै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इद्विं ॥ ३ ॥

इह पुष्टिरिह रसं इह सहस्रंसातमा भव ।

पशून्यमिनि पोषय ॥ ४ ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मर्दन्ति विहाय रोगं तन्वपुः स्वायाः ।

तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत्पुरुषान्पशून् ॥ ५ ॥

मर्ध— (एषा ऋग्याद् व्यद्वरी भूत्वा) यह गौ मांश खानेवाले इमंके समान होकर (पशून् सं क्षिणाति) पशुओंका नाश करती है । (उत एनां दृक्षणे दद्यात्) इसलिये इस गौको ब्राह्मणके पास भेजनी चाहिये (तथा स्योना शिवा स्यात्) जिससे वह सुखदायी और कल्याणकारिणी हो जावे ॥ २ ॥

(पुरुषेभ्यः शिवा भव) पुरुषोंके लिये कल्याण करनेवाली हो, (गोभ्यः अश्वेभ्यः शिवा) गौओं और घोड़ोंके लिये कल्याण करनेवाली हो, (अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा) इस सब भूमिके लिये कल्याण करनेवाली होकर (नः शिवा येधि) हमारे लिये सुख देनेवाली हो ॥ ३ ॥

(इह पुष्टिः, इह रसः) यहाँ पुष्टि और यहाँ रस है । (इह सहस्रं-सातमा भव) यहाँ हजारों काम देनेवाली हो और है (यमिनी) जुटे वस्तुना उत्पन्न करनेवाली गौ । (इह पशून् पोषय) यहाँ पशुओंको पुष्ट कर ॥ ४ ॥

(यत्र) जिस देशमें (स्व्याः तन्वः रोगं विहाय) अपने शरीरका रोग त्यागकर (सुहार्दः सुकृतः मर्दन्ति) उत्तम हृदयवाले और उत्तम कर्मवाले होकर आनन्दित होते हैं, है (यमिनी) गौ । (तं लोकं यभिसंबभूव) उस देशमें सब प्रकार मिलकर हो जाओ, (सा नः पुरुषान् पशून् मा हिंसीत्) वह हमारे पुरुषों और पशुओंको हिंसा न करे ॥ ५ ॥

भाषार्थ— सृष्टि उत्पन्न करनेवालेने अनेक रंगरूप और विविध गुणधर्मवाली गौयें बनायी हैं । ये सब गौयें एक बार एक ही बन्धा उत्पन्न करनेके लिये बनाई हैं । अब यह गौ ऋतुको छोड़कर अन्य समयमें इकट्ठे दो बन्धे उत्पन्न करती हैं उस समय यह घातक और नाशक होती है, जिससे अन्य पशु भी नष्ट होते हैं ॥ १ ॥

बैचे मांश खानेवाले पशु नाशक होते हैं उस प्रकार यह रोगी गौ नाशक होती है । इसलिये ऐसा होते ही इसको योग्य उपायके बंध ब्राह्मणके पास भेजनी चाहिये, जहाँ योग्य उपचारोंसे यह गौ सुखदायिनी बन जावे ॥ २ ॥

यह गौ मनुष्योंके लिये तथा घोड़े, बैल, गौएँ आदि पशुओंके लिये इस भूमिके लिये और हम सबके लिये सुख देनेवाली बने ॥ ३ ॥

इस गौमें पोषणकारक गुण है, इसमें उत्तम रस है, यह गौ हजारों रीतियोंसे मनुष्योंको लाभदायक होती है, इस प्रकारकी गौ सब पशुओंको यहाँ पुष्ट करे ॥ ४ ॥

जिस प्रदेशमें जाकर रहनेसे शरीरके रोग दूर होते हैं और शरीर स्वस्थ होता है, तथा जिस प्रदेशमें उत्तम हृदयवाले और उत्तम कर्म करनेवाले लोग आलंसे रहते हैं, उस देशमें यह गौ जाय, यहाँ रहे; यहाँ रोगी अवस्थामें रहकर हमारे मनुष्यों और पशुओंको कष्ट न पहुंचावे ॥ ५ ॥

यत्रां सुहादां सुकृतां भमिहोत्रदुतां यत्र लोकाः ।

तं लोकं यमिर्न्यमिसंबभूव सा नो मा हिंसीत्पुरुषान्पशून्

॥ ६ ॥

अर्थ— (यत्र यत्र सुहादां सुकृतां भमिहोत्रदुतां लोकः) जहाँ जहाँ शुभ हृदयवाले, उत्तम कर्म करनेवाले और भमि होत्रमें हवन करनेवालोंका देश होता है, वे (यमिनी) गौ (तं लोकं यमिसंबभूव) उस लोकमें मिलकर रह और (सा नः पुरुषान् पशून् च मा हिंसीत्) वह हमारे पुरुषों और पशुओंको हिंसा न करे ॥ ६ ॥

भावार्थ— जिस प्रदेशमें उत्तम हृदयवाले, शुभकर्म करनेवाले और भमिहोत्र करनेवाले सज्जन रहते हैं, उस देशमें यह गौ जाय और नीरोग बने । रोगी होती हुई हमारे पुरुषों और अन्य पशुओंको अपना रोग फैलाकर कष्ट न पहुंचावे ॥ ६ ॥

पशुओंका स्वास्थ्य ।

पशुओंका उत्तम स्वास्थ्य रहना चाहिये, अन्यथा एक भी पशु रोगी हुआ तो वह अन्य पशुओंका तथा मनुष्योंका भी स्वास्थ्य बिगाड़ सकता है । एक पशुका रोग दूसरे पशुको नग सकता है और इस कारण सब पशु रोगी हो सकते हैं । तथा गौ आदि पशु रोगी हुए, तो उनका रोगयुक्त दूध पीकर मनुष्य भी रोगी हो सकते हैं । इस अनर्थ परंपराको दूर करनेके लिये पशुओंका उत्तम स्वास्थ्य रक्षनेका प्रबंध करना चाहिये ।

पशुरोगकी उत्पत्ति ।

पशुओंमें रोग उत्पन्न होनेके तीन कारण इस सूक्तमें दिये हैं, वे कारण देखिये—

१ अप+शतुः = ऋतुके विरुद्ध आचरण करनेसे रोग उत्पन्न होते हैं । पशुओंके लिये जिस उष्णमें जो खानेपीने आदिका प्रबंध होना चाहिये वह यथा योग्य होना ही चाहिये । उसमें अयोग्य रीतिसे परिवर्तन होनेसे पशु रोगी होते हैं । पूर्ण समयके पूर्व बच्चा उत्पन्न होनेसे भी गौ रोगी होती है ।

२ यमिनी विजायते = जुड़े बच्चेको उत्पन्न करना । इसके प्रसूतिकी रीतिमें बिगाड़ होकर निविध रोग होते हैं ।

३ क्रम्याद् दपद्वरी भूत्वा = मांस खानेवाली विशेष भक्षक होकर रोगी होती है ।

गौ जिस समय प्रसूत होती है उसके बाद गर्भस्थानसे कुछ मांस गिरते हैं । कदाचित्त वह गौ उस भागोंको खा जाती है और रोगी होती है । भयवा योनी आदि स्थानमें जुड़े बच्चेके उत्पन्न होनेके कारण कुछ मृगादि होते हैं और वहाँ प्रसूति-स्थानका विष लगनेसे गौ रोगी होती है । इस प्रकार इस संबंधसे गौके रोगी होनेकी संभावना बहुत है । इसलिये गौके खानेकी उचित है कि वह ऐसे समयमें योग्य खाद्यपानता रखे और किसी प्रकार भी भक्षणवाली होने न दे ।

ये सब रोग बड़े घातक होते हैं और यदि एक पशुको हुए तो उसके संसर्गमें रहनेवाले अन्यत्र पशुओंका भी नाश उस रोगोंके कारण हो सकता है । इसलिये जिसके घरमें बहुत पशु हैं उसको उचित है कि वह ऐसी व्यवस्थाओंमें बढी सावधानता रखे और अपने पशुओंके स्वास्थ्यपरक्षाका उत्तम प्रबंध करे ।

रोगी पशु ।

पशुके स्वास्थ्यके विषयमें आवश्यक योग्य प्रबंध करनेपर भी गौ आदि पशु पूर्णतः कारणोंसे अथवा अन्याय कारणोंसे रोगी होते हैं । जैसे रोगी होनेपर उनकी उत्तम देखरेख, पाष भेजना चाहिये, इस विषयमें कहा है—

उत एनां ब्रह्मणे वधात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥

(सू. २८, मं. २)

‘ उस रोगी गौको ब्राह्मणके पास देना चाहिये, जिससे वह शुभ और कुर्याण करनेवाली बने ’ अर्थात् उस रोगी गौको ऐसे सुयोग्य शानी वैद्यके पास भेजना चाहिये कि जिसके पास कुछ दिन रहनेसे वह नीरोग, स्वस्थ और शुभ बन जावे । यहाँ ‘ ब्रह्मन् ’ शब्द है; यह आयुर्वेद शास्त्र और आथर्वणी चिकित्सा ज्ञाननेवाला शानी वैद्य है । ब्राह्मण ही वैद्यभिया करते हैं, इस विषयमें अन्यत्र कहा है—

यत्रौपधीः सममृत राजानः समितामंघ ।

विप्रः स उच्यते भिपमस्रोहामीधचातनः ।

(प्र. १०१७।१, वा. य. १२।८०)

‘ जिस विप्रके पास बहुत औषधियां होती हैं उस विप्रको वैद्य कहा जाता है, वही रोगके कृमियोंका नाश करता है और वही रोग भी दूर करता है । ’

इस प्रकारके जो वैद्य होते हैं उनके सुपुर्द वेध रोगी गौको तत्काल करना चाहिये । जिनके पास रहती हुई वह गौ योग्य उपचार द्वारा आरोग्यको प्राप्त हो सके । जहाँ दूध पीने भेजना चाहिये वह स्थान वैसा हो, इसका वर्णन भी देखिये—

यत्रा सुहादिः सुकृतां मदन्ति विहाय रोगं
तन्वः स्वायाः । (सू. २८, मं. ५)

यत्रा सुहावां सुकृतां मग्निहोत्रदुतां यत्र लोकः ।
(सू. २८, मं. ६)

तं लोकं यमिग्याभि संशभूय ॥ (सू. २८, मं. ५-६)

‘जहाँ प्रतिदिन अग्निहोत्रमें हवन करनेवाले लोग रहते हैं, और वहाँ उषा हवनवाले और श्रेष्ठ कर्मकर्ता लोग रहते हैं, और जहाँ अपने शरीरका रोग दूर होकर मन मानन्दप्रसन्न हो सकता है, उस स्थानपर उस गौत्रो भोजना चाहिये, जहाँ रहनेसे रोग प्रकासे बरगान होगा ।’

स्नानालयमें सब लोग अग्निहोत्रमें प्रतिदिन हवन करनेवाले हों, क्योंकि स्नानालयमें विविध प्रकारके रोगी आते हैं और उनके संशयवि द्विविध रोग फैलना संभव है, इस कारण वायु शुद्धिके लिये प्रतिदिन हवन होना योग्य है, इस प्रातः कार्य किये अग्निहोत्रके हवनस वायु निर्दोष होगा और रोगबीज नष्ट होंगे, और ऐसे वादुसे रोगी गो गोत्र नारीग हो सकता है । यह स्नानालयको वायुशुद्धिके विषयमें कहा है । इसके आति-रिक्त स्नानालयके कर्मचारी प्रतिदिन नियमपूर्वक हवन करने-वाले हों, जिससे उनका भी आरोग्य शिष्ट होगा और उस स्थानकी भी शुद्धता होगी ।

साय ही साय स्नानालयके कर्मचारी (सु-कृतः) उत्तम शुभ

कर्म करनेवाले पवित्र आत्मा होने चाहिये । इनकी पवित्रतासे ही रोगीका भावा रोग दूर हो सकता है । जो वैप पवित्र हवनवाला और शुभ कर्म करनेवाला होगा, उसका जीवन भी अधिक प्रभावशाली होगा, क्योंकि जीवनके साथ रहते दिलके शुभ विचार भी बढे सहायक होंगे ।

ऐसे सदाचारी सद्भावनावाले धार्मिक बैठके पास जो जो रोगी जाय, वह उस अभ्यन्तके पवित्र वायुमें रहलवे —

स्वायाः तन्वः रोगं विहाय । (सू. २८, मं. ५)

‘ अपने शरीरसे रोग दूर करके ’ पूर्ण नारीग होगा, इन्हें कोई संदेह नहीं । इसीलिये कहा है कि ऐसे शुद्धि आचार-संभव अभ्यन्त बैठके पास उस प्रकारके रोगी गौत्रो उत्तर भोजना चाहिये । वहाँ जाकर वह गो नारीग बने और दृष्टि वापस आकर ‘ परके मनुष्यों, गौत्रों, घोडों और परकी सब मूर्तिसे पवित्र बनावे । (मं. ३) ’ नारीग गौत्र मूत्र, मीटर तथा गौरस अत्यंत पवित्र होता है, परंतु रोगी गौत्रों से सब पदार्थ अत्यंत अशुद्ध होते हैं । इसलिये एक आधममें पशुबकर, वहां रहकर, पूर्ण नारीगपताकी प्राप्त होकर जब वह गो वापस लायेगी, तब वह मंगलकारिणी बनेगी, ऐसा जो तृतीय मंत्रमें कहा है, वह सर्वदा योग्य है । ’ गौत्रे अन्दर गौत्र पदार्थ और अशुद्ध-रस होते हैं । यह भी अत्यंत प्रकाशसे छानकारी होती है, (मं. ४) इसलिये उसके आरोग्यके लिये दक्षतासे योग्य प्रबंध करना उचित है ।

संरक्षक कर ।

(११)

(मायिः — उदाहरणः । देवता — शित्तिपाद् मायिः, कामः, भूमिः)

यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी संमासदः ।

अविस्तस्मात्प्र मुञ्चति दुत्तः शित्तिपात्स्वप्न

॥ १ ॥

अर्थ— (यत्) जिस प्रकार (यमस्य अमी राजानः संमासदः) नियमसे चलनेवाले राजाके ने राज्य करनेवाले समासद (इष्टापूर्तस्य षोडशं विभजन्ते) अक्षादिछा खोलहवा माग विभक्त करते हैं । उद (दुत्तः) दिवा हुआ माय (मायिः) रख बनकर (शित्ति-पात्) दिवकोंको गिरानेवाला (स्व-घा) और अपना भाग करनेवाला होता हुआ (तस्मात् प्रमुञ्चति) उस मयसे छुटाता है ॥ १ ॥

मायार्थ— नियमसे प्रजाका पालन करनेवाले राजाके ये राजधर्माके समासद वस्तुता एवं राजा ही हैं । ये प्रजाके कष्ट आदि प्राप्तिका सोचहवा माग कर रूपसे लेते हैं । राजाके दिवा हुआ नष्ट खोलहवा माग सब राष्ट्रक संरक्षण करता है, प्रजाको दुःख देनेवाले को होते हैं उनको दण्ड देकर दयाता है, प्रजाकी अन्तः कर्म बढाता है और उनकी मरने सुकृता करता है १ १

सर्वान्कामान्पूरयत्याभवंप्रभवन्भवन् । आकृतिप्रोऽविर्दुःखः शितिपात्रोपं दस्यति ॥ २ ।

यो ददाति शितिपादुमर्विं लोकेन संमितम् ।

स नाकंमभ्यारोहति यत्र शुक्को न क्रियते अबलेन बलीयसे ॥ ३ ॥

यज्ञापूर्णं शितिपादुमर्विं लोकेन संमितम् । प्रदातोपं जीवति पितृणां लोकेऽक्षितम् ॥ ४ ॥

यज्ञापूर्णं शितिपादुमर्विं लोकेन संमितम् । प्रदातोपं जीवति सूर्यामासयोर्ऽक्षितम् ॥ ५ ॥

इवैव नोपं दस्यति समुद्र इव पर्यां मुहत् । देवौ संवासिनाविष शितिपात्रोपं दस्यति ॥ ६ ॥

अर्थ— यह (दत्तः) दिया हुआ भाग (आकृति-प्रः) संकल्पोंका पूर्ण करनेवाला, (शिति-पात्र्) हिंसकोंको दबानेवाला, (अविः) संरक्षण करनेवाला, (आ-भयन्) फैलानेवाला, (प्रभयन्) प्रभावशाली, (भवन्) अहिंसाका इष्ट होता हुआ (सर्वान् कामान् पूरयति) सब कामनाओंको पूर्ण करता है और (न उपदस्यति) विनाश नहीं करता ॥ २ ॥

(यः लोकेन संमितं) जो सब लोगों द्वारा समानित (शिति-पादं अर्धि ददाति) हिंसकोंके नाश करनेवाले संरक्षक भागको देता है (सः नाकं अभ्येति) वह दुःखरहित स्थानको प्राप्त करता है, (यत्र अबलेन बलीयसे शुक्को न क्रियते) जहाँ निर्बल मनुष्यको बलवानके लिये धन देना नहीं पड़ता है ॥ ३ ॥

(पद्म-अ-पूर्णं) पाँचोंको न सभानेवाले अतएव (लोकेन संमितं) जनता द्वारा समत (शिति-पादं अर्धि) हिंसकोंको दबानेवाले संरक्षक कर भागको (प्रदाता) देनेवाला (पितृणां लोकेऽक्षितं उपजीवति) पितृदशमें अक्षय-तासे जीवित रहता है ॥ ४ ॥

(पद्म-अ-पूर्णं) पाँचोंको न सभानेवाले (लोकेन संमितं) जनताद्वारा समानित (शिति-पादं अर्धि) हिंसकोंके गिरानेवाले संरक्षक कर भागको (प्रदाता) देनेवाला (सूर्या-सामयोः अक्षितं उपजीवति) एवं और चन्द्रके साक्षिप्यमें अक्षयताके साथ जीवित रहता है ॥ ५ ॥

(इरा इव) भूमिके समान तथा (समुद्र इव) बड़े जलनिधि महासागरके समान और (स-वासिनौ देवौ इव) साथ साथ निवास करनेवाले प्राणरूप दो देवोंके समान (शितिपात्र् न उपदस्यति) हिंसकोंको दबानेवाला यह भाग विनाश नहीं करता है ॥ ६ ॥

भावार्थ— यह दिया हुआ कर प्रजाके सब अभ्युदयके संकल्पोंको पूर्ण करता है, दुष्टोंका दमन करता है, सुष्टोंका पालन करता है, राष्ट्रका विस्तार करता है, वीरोंका प्रभाव बढ़ाता है और जातीका अस्तिरव स्थिर रखता है, साथ साथ सब जनताके मनोरथ पूर्ण करता है और किसी भी प्रकार प्रजाका नाश नहीं करता ॥ २ ॥

इसलिये सब लोग राजाको यह कर देना पसंद करते हैं । जो लोग दुष्टोंको दबाकर सज्जनोंका प्रतिपाल करनेवाला यह कर राजाको देते हैं, वे मानो, कुछ पूर्ण स्थानको प्राप्त करते हैं, फिर सब स्थानमें कोई बलवान मनुष्य निर्बलके अवरदस्तावे धन लेनेवाला नहीं रहता और न कोई निर्बल मनुष्य अपनी शांति होनेताके कारण बलवानके लिये धन अर्पण करता है ॥ ३ ॥

यह कर पञ्चवनोंको न गिरानेवाला, दुष्टोंको दबानेवाला और सरपुष्टोंका पालन करनेवाला है, इसलिये सब जनता इसको राजाके पास समर्पण करती है । जो लोग यह कर देते हैं वे संरक्षकोंकी रक्षामें सदा सुरक्षित रहते हैं ॥ ४ ॥

यह कर पञ्चवनोंको न गिरानेवाला, दुष्टोंका दमन करनेवाला, सज्जनोंका पालन करनेवाला है, इसलिये सब लोग आनन्दके राजाको यह देते हैं । जो कर देते हैं वे सूर्य और चन्द्रमाके प्रकाशमें सुखे रहते हैं ॥ ५ ॥

दुष्टोंको दबानेके लिये दिया हुआ यह कर भूमिके समान आधाकर देनेवाला, समुद्रके बहके समान प्राप्ति देनेवाला और प्राणोंके समान सबका रक्षक होता है और किसीका विनाश होने नहीं देता ॥ ६ ॥

क इदं कस्मा अदात्कामः कामायादात् ।

कामो दाता कामः प्रतिप्रहीता कामः समुद्रमा विवेश ॥

कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैतत्त्वे

॥ ७ ॥

भूमिष्ट्वा प्रति गृह्णात्स्वन्वरिंधमिदं महत् ।

माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य द्वि राधिपि

॥ ८ ॥

अर्थ— (कः इदं कस्मै अदात्) कियेने यह किसको दिया है ? (कामः कामाय अदात्) मनोरथने मनोरथको दिया है । (कामः दाता) काम ही दाता है, (कामः प्रतिप्रहीता) काम ही लेनेवाला है, (कामः समुद्रं आविवेश) काम ही समुद्रमें प्रविष्ट होता है । (कामेन त्वा प्रतिगृह्णामि) इच्छासे ही तेरा खींचर करता हूँ । हे काम ! (एतत् त्वे) यह सब तेरा ही है ॥ ७ ॥

(भूमिः) पृथ्वी और (इदं महत् अन्तारिक्षं) यह बड़ा अन्तरिक्ष (त्वा प्रतिगृह्णात्) तेरा खींचर करे । (माहं प्रतिगृह्य) मैं प्राप्त करके (प्राणेन आत्मना, प्रजया) प्राणसे, आत्मासे और प्रजासे (मा मा मा विराधिपि) न अलग हो जाऊँ ॥ ८ ॥

भावार्थ— मला, यह कर कौन किसको देता है ? काम ही कामको देता है । इस जगत्में मनकी इच्छा ही देने और लेनेवाली है । यही कामना मनुष्यको समुद्रपर प्रमण कराती है । इस कामसे ही मनुष्य बड़ी आघातिया खर्च सिरपर लेता है । यह सब जगत्का व्यवहार कामकी महिमा ही है ॥ ७ ॥

इस पृथ्वीपर और आकाशमें कामनाका ही संचार हो रहा है । इस कामनाका विस्तार करता हुआ मैं प्राण, आत्मा और प्रजासे दूर न होऊँ ॥ ८ ॥

राज्यशासन चलानेके लिये कर ।

राजा राज्यका शासन करता है । इस महत्वपूर्ण कार्यके लिये प्रजा उसको ' कर ' समर्पण करती है । इस करका प्रमाण कितना होना चाहिये, अर्थात् प्रजा अपनी प्राप्तिवा कितनी भाग राजाको समर्पित करे, और राजा उस धनका किन कार्योंमें उपयोग करे, इस विषयका उपदेश इस सूत्रमें किया है । अतः राज्यशासनका विचार करनेवालोंको यह सूत्र बड़ा बोधप्रद है ।

प्राप्तिका सोलहवाँ भाग ।

प्रजाको जो आमदनी होती है, उसका सोलहवाँ भाग राजाको देनेके लिये राजसभाके समासद अलग करते हैं यह वर्णन पहले ही मंत्रमें है—

अग्नी समासद्ः इष्टापूर्वस्य पोडशं विभजन्ते ॥

(सू. २९, मं. १)

' राजसभाके ये समासद प्रजाकी प्राप्तिसे सोलहवाँ भाग अलग करते हैं । ' और यह सोलहवाँ भाग राजाको प्रजासे

मिलता है । यह कर है जो राजाको राज्य चलानेके लिये देना चाहिये । खेतसे जो धान्य उत्पन्न होगा उसका सोलहवाँ भाग राजाको आमसभाके समासद लेकर संभ्रम करें । जो उत्पन्न होगा उसका सोलहवाँ भाग लेना है । अर्थात् साधारण होती करनेवालोंसे हरएक धान्यके रूपमें ही यह कर लिया जायगा । धान्य उत्पन्न करनेवालोंके धनके रूपमें नहीं लेना है, प्रत्युत जो पदार्थ उत्पन्न होगा उस पदार्थका सोलहवाँ भाग लेना है । जिस पदार्थका भाग हो नहीं सकता उसके मूल्यका सोलहवाँ भाग लिया जायगा तथा जो वैश्य धन कमाते होंगे, उनके धनकी कमाईका वह भाग धनके रूपमें लिया जायगा । पर देवके विषयमें यह वेदकी आज्ञा सुस्पष्ट दिखाई देती है और यह कर प्रजाके लिये कभी अलग नहीं हो सकता ।

उत्पन्नका सोलहवाँ हिस्सा लेनेके लिये वेदकी आज्ञा है परंतु स्मृतिमेंयोंमें छठा भाग लेनेतक करकी वृद्धि हुई है और आज कल तो कई गुणा वृद्धि हुई है । इस मंत्रमें ' विभजन्ते ' क्रिया वर्तमानकालकी है । राजसभाके समासद स्वयं उत्पन्न देकर उसका सोलहवाँ भाग अलग करते हैं, अर्थात् वे

सेतमें धान्य तैयार होनेपर धान्यकी रागीके पास जाते हैं और उसके सोलह भाग करके एक भाग राजप्रबंधके लिये ले लेते हैं । केवल अंदाजासे नहीं लेते, परंतु प्रत्यक्ष प्राप्ति देखकर उसमेंसे उक्त भाग लेते हैं, यह बांध बर्तमान कालवाचक 'जमी सभासदः विभजन्ते' इध वान्यसे प्राप्त होता है । अकालके दिनोंमें धान्य कम उत्पन्न हुआ तो कर कम लेते हैं, और अकालमें अधिक उत्पत्ति हुई तो अधिक लेते हैं । अजकालके समान सुकाल और अकालमें एक जैसे प्रमाणसे नहीं लेते । पाठक यह बौद्धिक रीति देखें और इसकी विशेषताका अनुभव करें ।

प्रातिके दो साधन ।

आमदनीके दो मार्ग होते हैं, एक 'इष्ट' और दुसरा 'पूर्त' । मनुष्य जो अपनी इच्छानुसार अशोध व्यवहार करते हैं और उससे कमाई करते हैं, उसको 'इष्ट' कहते हैं, इसमें उपयोगधंदे, शिल्प आदिका समावेश होता है, इसमें कर्ताकी इच्छापर व्यवहारकी सत्ता निर्भर है । दुसरा है 'पूर्त' । इसमें स्वामीकी इच्छा हो या न हो, आमदनी होती रहती है, जैसे बाणसे फलादिकोंका उत्पन्न होना, कृषिसे धान्य मिलना, पक्षि-लेवे बड़े हुए वृक्षसे फल प्राप्त होना इ० । चली हुई पूर्त व्यवसायसे जो प्राप्ति होती है उसका नाम पूर्त है, जमींदारोंको जो उत्पन्न होता है वह 'पूर्त' है क्योंकि जमींदारके प्रयत्न न करनेपर भी वह इधके कोशकी पूर्तता करता रहता है । इष्ट व्यवहारका बंधा नहीं है; वह इच्छापूर्वक कामधेरा करके सफलता होनेपर प्राप्ति हांती है, यह प्रयत्नसाध्य है । इष्ट और पूर्तमें यह भेद है । मनुष्योंके व्यवहारोंके ये मुख्य दो भेद हैं ।

आजकाल 'इष्ट' का अर्थ 'व्यवसाय' और 'पूर्त' का अर्थ सर्वजनोपयोगी कृप, तालाब, धर्मशाला आदि करना समझते हैं, इन शब्दोंमें यह अर्थ है, परंतु यह केवल एक ही भाग है । इन शब्दोंके संपूर्ण अर्थ केवल ये ही नहीं हैं । इस समय विचार करनेके लक्ष्यमें 'प्रजाकी आमदनीसे सोलहवां भाग कर रूपसे लिया जाता है' ऐसा कदा है । उस प्रसंगमें 'यज्ञ और कृषे' का सोलहवां भाग राजा लेता है ऐसा मानना अवगत है, इधी-लिये चारों वर्णोंके व्यवहारकी दृष्टिसे होनेवाला और जिससे राजाको सोलहवां भाग कर रूपसे प्राप्त हो सकता है वैसे अर्थ ऊपर लिया है । यज्ञादि अर्थ लेनेके प्रसंगमें प्रजाके क्लृप्तका जो पुत्र होगा उसका कुछ भाग राजाके यज्ञ संवर्धनके लिये उसको प्राप्त हो सकता होगा । परंतु इससे संपूर्ण राज्यशासन नहीं चल सकता; अतः आमदनीके विषयका अर्थ ही यहाँ लेना योग्य है ।

उक्त प्रकारकी रीतिसे दो प्रकारके व्यवहारोंसे होनेवाली प्राप्ति सोलहवां भाग राजाके सभासद राज्यशासन चलानेके

लिये प्रजासे कर रूपमें लेते हैं, यह प्रथम मंत्रार्थका कथन है । यहाँ राजाका भी लक्षण देखा चाहिये—

राजा कैसा हो ।

इस सूक्तमें राजाका नाम 'यम' आ गया है । यमका अर्थ 'स्वार्थीन रखनेवाला, नियमसे चलनेवाला, धर्मका पालन करनेवाला' है । 'यम-धर्म' इध शब्दसे भी यमसे धर्मका संबंध स्पष्ट होता है । राज्य चलानेके जो धर्मनियम होते हैं उनके अनुसार राज्यशासन करनेवाला राजा यहाँ इस शब्दसे पोषित होता है । इससे स्पष्ट है कि यहाँका राजा मनमानी बातें करनेवाला नहीं है, प्रत्युत राजधर्मके नियमोंके अनुसार तथा जनताके प्रतिनिधियोंके संमतिके अनुसार राज्य चलानेवाला है । यह राजा राजसभाके सदस्योंके मतसे और धर्म-नियमोंसे बद्ध है, स्वेच्छाचारी नहीं है । वस्तुतः इसके राज्यमें—

अमी सभासदः राजानः । (सू. २९, मं. १)

'राजसभाके ये सभासद ही राज्यशासन करनेवाले राजा हैं ।' राजा तो नाम मात्र अधिकारी रहकर, उन सभासदोंके संमतिके जो नीति निश्चित होती है, उसके अनुसार राज्यशासन चलाता रहता है । वेदकी यह नियमबद्ध राजघना यहाँ देखने योग्य है । इस राजाको राजसभाके सदस्य प्रजाकी आमदनीका सोलहवां भाग राज्यशासनके व्ययके लिये प्रजासे करके रूपमें लेते हैं । इसका उपयोग कैसा किया जाता है, यह अब देखिये । यह प्रजासे प्राप्त होनेवाला कर क्या क्या करता है इस विषयमें इस सूक्तका वर्णन बड़ा मनोत्तरक है । इसका विचार करनेसे हमें पता लग सकता है कि प्रजाके दिये हुए करका राजा कैसा उपयोग करता है । देखिये—

करका उपयोग ।

राजा जो कर जनतासे लेता है, उसका व्यय किन बातोंके लिये किया जावे, इसका वर्णन निम्नलिखित शब्दोंसे इस सूक्तमें किया है । 'यह कर निम्नलिखित बातें करता है' ऐसा वर्णन इस सूक्तमें आया है, इस सूक्तका कथन है कि प्रजाद्वारा दिया हुआ कर निम्नलिखित बातें करता है—

(१) अघिः = (अघति इति अघिः) = रक्षा करता है, जनताको अथवा राष्ट्रको रक्षा करता है । प्रजासे लिया हुआ कर ही प्रजाकी रक्षा है । (मं. १, ३-५)

(२) स्वघा = (स्वस्य धारणा) = अपनी अर्थात् प्रजाकी धारणा करता है । राष्ट्रको धारणा साक्षि करके बढ़ती है । कर लेकर राजा ऐसे प्रबंध करता है कि जिससे प्रजाकी समर्थता बढ जाती है । (मं. १)

- (३) पञ्चापूपः = (पञ्च+अ+पूपः—पूर्यते विशी-
र्यते इति पूपः । न पूपः अपूपः । पञ्चानां
अपूपः पञ्चापूपः)— जो अलग अलग होता
है अर्थात् जिसके भग बिछरे पड़ते हैं उसका नाम
'पूप' है। तथा जिसके भाग छँटे एक दूसरेके
साथ अच्छी प्रकार मिले जुले होते हैं उसको 'अ-
पूप' कहते हैं। पञ्चानांको संघटित-संघटनायुक्त-
करता है अर्थात् परस्पर मिलाकर रखता है, जिससे
पाँचों प्रकारके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषादोंका
अभेद संघ होता है उसका यह नाम है। राजा प्रजापति
कर लेता है और प्रजाकी संघशक्ति बढाता है।
(मं. ४, ५)
- (४) भवन् = होना, अस्तित्व रखना। प्रजापति कर लेकर
राजा ऐसे कार्योंके विनियोग करता है कि जिनसे
प्रजाका अस्तित्व बिरकाल रहता है। (मं. २)
- (५) आभवन् = धन ऐश्वर्यसंभूत होना। राजा करता
ऐसा उपयोग करता है कि जिनसे प्रजा प्रतिदिन
अधिकारिक संरक्षितमान होती जाय। (मं. २)
- (६) प्रभवन् = प्रभावशाली। प्रजापति कर प्राप्त करके
राजा उसका विनियोग ऐसे कार्योंमें करता है कि प्रजा
प्रतिदिन प्रभावशालिनी बनती जावे। सत्वान्,
पराक्रमी और प्रभावशाली प्रजा बने। (मं. २)
- (७) आकृतिः = (आकृतिः) संकल्पोंको (प्र)
पूर्ण करनेवाला कर है। अर्थात् प्रजापति कर लेकर
राजा ऐसे कार्य करता है कि जिनसे प्रजाके मनकी
श्रेष्ठ कामनाएं परिपूर्ण होती हैं और प्रजाकी अशोकित
वृत्ति होती रहती है। (मं. २)
- (८) सर्वान् कामान् पूर्याति = प्रजाकी संपूर्ण उन्न-
तिकी कामनाएं सफल और सुफल होती हैं। किसी
प्रकार भी प्रजाकी श्रेष्ठ आकांक्षाएं निरूपल नहीं
होती। कर लेकर राजा ऐसा संबंध करता है कि
प्रजाकी श्रेष्ठ कामनाएं पूर्ण रीतिसे सिद्धिकी
प्राप्त हों। (मं. २)
- (९) यो... ददाति स नाकं अम्येति = जो (कर)
देता है वह (न+अ+कं) सुखपूर्ण स्थानकी प्राप्त
करता है अर्थात् राजाको कर देनेवाले लोग अपने
देशमें सुखी रहते हैं। प्रजापति कर लेकर राजा ऐसे
उत्तम संबंधसे राज्य चलाता है, कि सब प्रजा सुखी
होती है। (मं. ३)
- (१०) प्रदाता पितृणां लोके अक्षितं उपजी-
वति = कर देनेवाले लोग संरक्षकों द्वारा सुरक्षित
रूप प्रदशमें बिरकाल आनंदसे रहते हैं। राजा
प्रजासे कर लेवे और उनको अत्यंत सुरक्षित रखे,
सुराज्य प्रबंधसे लोग सुरक्षित होकर आनंदसे रहें।
(मं. ४)
- (११) प्रदाता सूर्याभासयोः अक्षितं उपजीवति
= कर देनेवाले लोग जैसे (सूर्य) दिनमें वैसे
(मास = चंद्रमाः) रात्रिके समय भी सुरक्षित होकर
आनंदसे रहते हैं। कर लेकर राजा राज्यासनका
ऐसा योग्य प्रबंध करे कि जिससे प्रजा दिनके समय
सुरक्षित होवे और रात्रिके समयमें भी सुरक्षित
होवे। (मं. ५)
- (१२) इरा इव न उपदस्यति = कर देनेवाली प्रजा
पृथक्के समान भूव रहती है अर्थात् उस प्रजाका
नाश कोई नहीं कर सकता। (मं. ६)
- (१३) महत् पयः समुद्र इव न उपदस्यति = कर
देनेवाली प्रजा बड़े जलसे भरे गहरे महासागरके
समान सदा गंभीर और प्रगाढ़ रहती है। छेदे
जलदायके समान दुष्क होकर नाशको नहीं प्राप्त
होती। (मं. ६)
- (१४) सधासिनौ देवौ इव न उपदस्यति = सध
सध रहनेवाले दो देव, श्याम और उच्छ्वासेके
समान यह कर सब प्रजाकी रक्षा करता है अर्थात्
जिस प्रकार प्राणके व्यापारसे सब शरीर सुरक्षित
रहता है उसी प्रकार प्रजापति मिलनेवाला कर राष्ट्रको
सुरक्षित रख सकता है। (मं. ६)
- (१५) तस्मात् प्रमुञ्चति = उस महामनसे मुक्त करता
है। यह दिया हुआ कर प्रजाको महामनसे
बचाता है। (मं. १)
- (१६) शिति-पात् = (शीयते इति शितिः हिंसनं,
शिति पातयति) 'शिति' का अर्थ है नाश, उस
नाशको पतन जो करता है अर्थात् नाशसे जो बचाता
है, उसको 'शिति-पात्' कहते हैं। यह कर प्रजाका
विनाशसे बचाव करता है। (मं. १-६)
- (१७) अवलेन वलीयसे शुल्कः न कियते = निर्बल
मनुष्य अपना निर्बलताके कारण प्रबलको धन नहीं
देता। अर्थात् यह कर निर्बल मनुष्योंका बलवानोंके
अत्याचारसे पूर्ण बचाव कर सकता है। (मं. १)

प्रजासे कर लेकर राजाको इतनी बातें करना चाहिये । यहाँ ऊपर दिये हुए ये सतरह वाक्य इस सूक्तमें विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं । इनका विचार इसी दृष्टिसे पाठक अधिक करें और राज्यशासनके संबंधमें योग्य बोध जान लें । साधारण सूचना करनेके लिये पूर्वोक्त वाक्योंसे प्राप्त होनेवाला बोध पुनः संक्षेपसे यहाँ देते हैं—

(१) राजा अपनी प्रजासे कर लेने और उसका उपयोग प्रजाकी योग्य प्रकारकी रक्षा करनेमें, (२) प्रजाकी सब प्रकारकी धारणासक्ति और समर्थता बढ़ानेमें, (३) ज्ञानी, दूर, श्रेयोपारी, कारीगर और अन्य लोगोंकी संपत्तिके बढ़ानेमें, इन सबको संप्रतिष्ठ करनेमें, (४) इनका राष्ट्रीय और जातीय अस्तित्व सुरक्षित रखनेमें, (५) प्रजाको ऐश्वर्यसंग्रह करनेके कार्योंमें, (६) प्रजाजनोंको प्रभावशाली बनानेमें (७) संपूर्ण राष्ट्रके सब लोगोंकी सब श्रेष्ठ आकांक्षाओंका सफलता करनेके साधन निर्माण करनेमें, (८) घब जनोकी श्रेष्ठ कामनाओंकी तृप्ति करनेके साधन संप्रतिष्ठ करनेमें, (९) राष्ट्रके दुःख दूर करनेमें, (१०) राष्ट्रकी रक्षा करनेके लिये संरक्षणगण नियुक्त करनेमें, (११) जैसे दिनोंमें जैसे राज्योंमें भी निर्भय होकर लोग सर्वत्र संचार कर सकें ऐसी निर्भयता संपूर्ण राष्ट्रमें सदा स्थिर रखनेके कार्यमें, (१२-१४) जनताको भूमिके समान ध्रुव, जलनिधि समुद्रके समान गंभीर और प्राणिके समान जीवन युक्त करनेके कार्यमें, (१५-१६) मय और विनाशसे प्रजाको बचानेके प्रयत्नोंमें, तथा (१७) बलवान् मनुष्य निर्बलके ऊपर अत्याचार न करें, ऐसा सुप्रबन्ध संपूर्ण राज्यमरमें करनेके कार्यमें करें ।

प्रजासे लिये हुए करका उपयोग इन कार्योंमें करना राजाका कर्तव्य है । पूर्वोक्त वाक्योंसे यही भाव प्रकट हो सकता है । पाठक विचार करके इन वाक्योंसे और इन शब्दोंसे अधिक बोध प्राप्त करें । जो राजा प्रजासे कर लेता हुआ इसका उपयोग इन कर्तव्योंसे भिन्न केवल अपने ही स्वार्थसाधनके कार्योंमें करेगा वह राज्य चलानेके लिये अयोग्य होगा । यह इस सूक्त-द्वारा वैदिकी धीयगा समझना चाहिये ।

स्वर्ग सद्दश राज्य ।

जिस राज्यमें राजा प्रजासे कर लेकर पूर्वोक्त रीतिसे प्रजाकी उत्तम रक्षा करता है, वह स्वर्गके सदश ही राज्य है और जहाँ करसे प्राप्त हुए धनका उपयोग प्रजाके वंचन बढ़ानेमें होता है, वह नरकके सदश राज्य है । स्वर्गराज्यके लक्षण इसी सूक्तमें कहे हैं, उनको अब यहाँ देखिये—

१ स नाकं व्यभेति

२ यत्र शुद्रको न क्रियते अमलेन बलीयसे ।

(सू. २९, मं. ३)

(१) कर देनेवाले मनुष्य स्वर्गधाममें पहुँचते हैं, (२) जहाँ निर्बल मनुष्यको बलवान् मनुष्यके लिये धन देना नहीं पड़ता, ' यह स्वर्ग सदश राज्यका लक्षण है । जहाँ जिस राज्यमें निर्बल मनुष्यको केवल निर्बल होनेके कारण ही बलवान् मनुष्यके सामने सिर झुकाते हुए अपने पाशका धन उपहारके रूपमें देना नहीं पड़ता, वह स्वर्गधाम है । और जिस राज्यमें बलवान् मनुष्य निर्बलोपर जो चाहे ही अत्याचार करते हैं और इन अत्याचारोंके कारण कोई उनको पूछता तक नहीं और जहाँ निर्बल मनुष्य केवल बलहीन होनेके कारण ही पीसे जाते हैं, वह नरक है । ' नर-क ' का अर्थ ' हीन मनुष्य, छोटा मनुष्य, नीचली श्रेणीका मनुष्य ' है । जिस राज्यमें हीन भावनावाले मनुष्य होते हैं वह नरकराज्य है और जहाँ श्रेष्ठ भावनावाले मनुष्य होते हैं उसको स्वर्गराज्य कहते हैं ।

ब्राह्मणोंका ज्ञानका बल, क्षत्रियोंका अधिकारका बल, वैश्योंका धनका बल, शूद्रोंका कारीगरीका बल, और निषादोंका केवल शारीरिक बल होता है । ये लोग यदि स्वार्थी हुए तो इन बलोंसे मद्यन्मत्त होकर अन्यायपर अत्याचार करते हैं । ऐसा अत्याचार कोई किसीपर न करे और सबको धर्मके आश्रयसे मनुष्यत्व विषयक समानताका दर्जा हो, ऐसा राज्यव्यवस्थाका प्रबंध रखना राजाका परम कर्तव्य है जहाँ ऐसा उत्तम प्रबंध होता है और जिस राज्यमें शासनव्यवस्थाके आश्रयसे निर्बल मनुष्य भी बलवान् मनुष्यके अत्याचारके सामने अपनी रक्षाके लिये खंदा रद सकता है, और केवल निर्बलताके कारण पीसा नहीं जाता, वही राज्यशासन पद्धति वैदिकी दृष्टिसे अत्यंत उत्तम है । वहाँ ' वैदिक राज्य ' है ।

कामनाका प्रभाव ।

पूर्वोक्त प्रकार राज्यव्यवस्था करना या अन्यान्य वैदिक आज्ञाओंके अनुसार मनुष्योंका सुधार करनेके यत्न करना या न करना, यह सब मनुष्यकी कामना इच्छा-संस्कार-आकांक्षा आदिके खेल हैं । मनुष्यमें जो इच्छा होती है वैसा मनुष्य चलता है और वैसा ही मनुष्य व्यवहार करता है । यह बातनेके लिये ७ वें और ८ वें मंत्रका उपदेश है । इसका पहला ही प्रभोत्तर देखिये—

प्रश्न— इदं काः करमे अदात् ? = यह कौन किसको देता है ?

उत्तर— कामः कामाय गवात् = काम ही कामके लिये देता है ।

कामः दाता, कामः प्रतिग्रहीता = काम ही देने और लेनेवाला है ।

ये मंत्रभाग बड़े महत्त्वपूर्ण उपदेशकी देनेवाले हैं । मनुष्यके मनके अंदर जो इच्छा है, जो महत्वाकांक्षा है, जो कामना है वही मनुष्यको दाता बनाती है और उर्ध्वसे दूसरा मनुष्य दान लेनेवाला बनता है । राजा राज्य करता है, सैनिक युद्ध करते हैं, नाँकर नौकरी करते हैं, कोई किसीको कुछ देता है और दूसरा लेता है, यह सब व्यवहार मनके अंदरकी इच्छाके कारण होते हैं । मानो, यह काम ही सबसे ये व्यवहार करा रहा है यहाँतक की-

कामः समुद्रं आविषेत् । (सू. २९, मं. ७)

‘ काम ही समुद्रमें घुसा है । ’ अर्थात् समुद्रपर जो इसी कामका ही राज्य है । पृथ्वीको छोड़कर जो मनुष्य समुद्रमें जहाजोंमें बैठकर भ्रमण करने जाते हैं वे भी कामकी ही प्रेरणासे ही जाते हैं । और कोई विमान द्वारा आकाशमें वस्ते हैं वे भी कामकी प्रेरणासे ही उड़ रहे हैं । इस प्रकार इस जगत्का सब व्यवहार कामनाकी प्रेरणासे ही रहा है । ‘ भूमि और अंतरिक्षमें भी सर्वत्र काम ही काम अर्थात् वायनाका राज्य है । (मं. ८) ’ सब इसीकी आज्ञाके अनुसार चिंत्न रहे हैं । देखिये—

काम ! पतत्त्वे । (सू. २९, मं. ७)

‘ हे काम ! यह तेरा ही महाराज्य है ’ तेरा ही शासन सब पर है । कौन तेरे शासनसे बाहर है । कामका स्वीकार करनेवाले कामी लोग जैसे अपने मनकी कामनासे प्रेरित होते हैं, उसी प्रकार कामका त्याग करनेवाले विरक्त लोग भी उसी कामनासे ही प्रवृत्त होते हैं, तात्पर्य कामका सर्वतोपरी शासन है ।

कामकी नर्यादा ।

कामना बुरी है ऐसा कहते हैं । यदि काम उक्त प्रकार सब पर शासनाधिकार चलाता है और भोगी और त्यागी दोनों उर्ध्वके आधीन रहते हैं तो फिर कामका संयम कैसे ही सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर अष्टम मंत्रके उत्तरार्धमें दिया है । इस मंत्रभागमें कहाँतकके कामका स्वीकार करना और कहाँसे आगे कामको त्यागना इस महत्त्वपूर्ण विषयका विवेचन किया है । वह विषय अब देखिये—

प्रतिगृह्य अहं आत्मना मा विराधिषि,

अहं प्राणेन मा विराधिषि,

अहं प्रजया मा विराधिषि । (सू. २९, मं. ८)

‘ काम ! तेरा स्वीकार करके, मैं अपनी आत्मशक्तिको न खो बैठूँ, मैं अपनी प्राणशक्तिको न छोड़ करूँ, और मैं अपने प्रजननकी भी न हीन बना दूँ । ’ यहाँतक जितना काम स्वीकारा जा सकता है, उतना मनुष्यके लिये लाभदायी हो सकता है । काम विषयका अत्याचार हरएक दंडितके कार्यक्षेत्रमें हो सकता है, परंतु इसका विशेष कार्यक्षेत्र जननेन्द्रियके साथ संबंध रखता है । इस इन्द्रियसे विशेष अत्याचार करनेसे आत्माका घल कम होता है, जीवनेकी मर्यादा तथा प्राणकी शक्ति क्षीण होती है और सन्तान उत्पन्न करनेकी शक्ति भी न्यून होती है और ऐसे कामी पुत्रपौत्रों को भी सन्तान उत्पन्न होते हैं वे भी क्षीण, बलहीन और दीन होते हैं । इस प्रकारका घातघात न हो इस लिये कामका संयम करना आवश्यक है । संयमकी मर्यादा यह है कि ‘ उस मर्यादातक कामका उपभोग लिया जावे कि जहाँ तक लेनेसे अपनी आत्माकी शक्ति, प्राणकी शक्ति और प्रजनन शक्ति क्षीण न हो सके, इससे अधिक कामका भोग करनेसे हानि है । ’

इस मंत्रमें उर्ध्व इन्द्रियोंके संबंधमें कामका उपभोग लेनेकी मर्यादा कही है, तथापि ऊपरके उदाहरणमें हमने एक इन्द्रियके लक्ष्य कर्क लिला है, तथापि पाठक उर्ध्व मर्यादाको संपूर्ण इन्द्रियोंके कार्यक्षेत्रमें घटाकर योग्य बोध प्राप्त करें ।

कामका यह साम्राज्य संपूर्ण जगत्में है । विशेषकर मानवी प्राणियोंमें हमें विचार करना है । इस राज्यव्यवस्थाका उपदेश देनेवाले इस सूक्तमें इस काम विषयके ये मंत्र रखे हैं और कामकी धर्ममर्यादा और अधर्ममर्यादा भी बता दी है; इसका देख यह है कि राजा अपने राज्यमें ऐसा राज्यप्रबंध करें कि जिससे प्रजाजन काम विषयक धर्ममर्यादाका उल्लंघन न करें और अपने आराम, प्राण और प्रजननकी शक्तिसंयुक्त हों और सब उच्च शक्तिसंयुक्त स्वर्गुत्पन्न राज्यका आनंद प्राप्त करें । प्रजासे लिये हुए करका इस व्यवस्थाके लिये व्यय करना राजाका आवश्यक कर्तव्य है । करसे ये कार्य होते हैं और प्रजा सुखी होती है, इष्टीकिये (लोकैः संमितां । मं. ५, ५) ‘ प्रजाद्वारा स्वीकृत और संमानित कर ’ ऐसा इसका विशेषण दिया है ।

जहाँ प्रजासे प्राप्त करका इन कार्योंके लिये उपयोग होता है, वहाँकी प्रजा सुखी और अभ्युदय तथा निःश्रेयसको प्राप्त करनेवाली होती है । वैदिकधर्मों ऐसा प्रबंध करें कि जिससे अपने देशमें, तथा अन्त्यान्य देशोंमें, इसी प्रकारके वैदिक आदर्शसे चलनेवाले और कलाये जानेवाले राज्य हों और कोई राष्ट्र स्वराज्यके वैदिक आदर्शसे दूर न रहे ।

एकता ।

(३०)

(ज्ञापिः — अथर्वा । देवता — चन्द्रमाः)

सहृदयं सांमनुष्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।

अन्यो अन्यमभि हर्षत वृत्सं जातमिवाध्न्या ॥ १ ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।

जाया पत्ये मधुमर्ता वाचं वदतु शन्तिवाग् ॥ २ ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विस्तन्मा स्वसारमुत स्वसां । सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

येन देवा न विपन्ति नो च विद्विषते मिथः । तत्कृणोमो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

अर्थ— (स-हृदयं) सहृदयता अर्थात् प्रेमपूर्ण हृदय, (सां-मनुष्यं) सांमनुष्य अर्थात् मन शुभ विचारोंसे पूर्ण होना और (अ-विद्वेषं) परस्पर निर्वैरता (वः कृणोमि) तुम्हारे लिये मैं करता हूँ । तुम्हारेमेंसे (अन्यः अन्यं अभि हर्षत) हरएक परस्परके ऊपर प्रीति करे (अध्न्या जातं वृत्सं इव) जैसे गौ उत्पन्न हुए बड़बड़ेकी प्यार करता है ॥ १ ॥

(पुत्रः पितुः अनुव्रतः) पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करनेवाला और (मात्रा संमनाः भवतु) माताके साथ वचन मनसे रहनेवाला होवे । (जाया पत्ये) पत्नी पतिके (मधुमर्ता शन्तिवाग् वाचं वदतु) मधुर और शांतिसे पुत्र मापण करे ॥ २ ॥

(भ्राता भ्रातरं मा द्विस्तत्) भाई भाईसे द्वेष न करे, (उत स्वसा स्वसारं मा) और बहिन बहिनसे द्वेष न करे । (सम्यञ्चः सव्रताः भूत्वा) एक मतवाले और एक कर्म करनेवाले होकर (भद्रया वाचं वदत) उत्तम रीतिसे मापण करो ॥ ३ ॥

(येन देवाः न विपन्ति) जिससे भ्यवहार चलानेवालोंमें विरोध नहीं होता है, (च नो मिथः विद्विषते) और न कभी परस्पर द्वेष बढता है, (तत् संज्ञानं ब्रह्म) वह एकता बढानेवाला परम उत्तम ज्ञान (वः गृहे पुरुषेभ्यः कृणमः) तुम्हारे घरके मनुष्योंके लिये हम करते हैं ॥ ४ ॥

माधार्थ्य— प्रेमपूर्ण हृदयके भाव, मनके शुभ विचार और आपसकी निर्वैरता आप अपने घरमें स्थिर कीजिये । तुम्हारेमेंसे हरएक मनुष्य दूसरे मनुष्यके साथ ऐसा प्रेमपूर्ण बर्ताव करे कि जिस प्रकार नये उत्पन्न हुए बड़बड़े उबकी गौ माता प्यार करती है ॥ १ ॥

पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करे, और माताके साथ मनके शुभ भावोंमें व्यवहार करे । पत्नी पतिके साथ सदा मधुर मापण करती रहे ॥ २ ॥

भाई भाईसे द्वेष न करे, बहिन बहिनके साथ न लड़े । एक मतसे एक कर्म करनेवाले होकर परस्पर निष्कपटतासे मापण करो ॥ ३ ॥

जिससे कार्यभ्यवहार चलानेवालोंमें कभी विरोध नहीं हो सकता और कभी आपसमें लड़ाई झगडा नहीं हो सकता, वैसा उत्तम ज्ञान तुम अपने घरमें बढाओ ॥ ४ ॥

ज्यार्यस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराधरन्तः ।

अन्यो अन्यसै वल्गु वदन्त एतं सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि

॥ ५ ॥

समाना प्रया सह वौऽन्नमागः समाने योक्त्रे सह वौ युनज्मि ।

सम्यञ्चोऽग्निं संपर्यतारा नाभिमिवाभितः

॥ ६ ॥

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकंशुष्टीन्संवननेन सवौन् ।

देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वौ अस्तु

॥ ७ ॥

अर्थ—(ज्यार्यस्वन्तः) ब्रह्मका समान करनेवाले, (चित्तिनः) व्रतम वित्तवाले, (संराधयन्तः) उतम छिदितक प्रदान करनेवाले, (स-धुराः चरन्तः) एक धुराके बीच कार्य करनेवाले और आगे बढनेवाले होकर (मा वि यौष्ट) तुम मत अलग होओ, मत विरोध करो । (अन्यः अन्यसै वल्गु वदन्तः एतं) एक दूसरेके प्रेमपूर्वक मापन करते हुए आपने बडो । (घः सध्रीचीनान्वः) तुमको साथ पुष्ट्यार्थ करनेवाले और (संमनसः कृणोमि) व्रतम एक विचारके युक्त मनवाले करता हू ॥ ५ ॥

(प्रया समाना) तुम्हारा बल पीनेका स्थान एक हो, और (घः अन्नमागः सह) तुम्हारा अन्नका माग भी साथ साथ हो । (समाने योक्त्रे घः सह युनज्मि) एक ही जेतैमें तुमको साथ साथ मैं जोड़ता हूँ । (सम्यञ्चः अग्निं सपर्यत) मिलजुलकर ईश्वरकी पूजा करो, (अभितः नाभि मरः इय) चारों ओरसे नामीमें जैसे चक्के आरेजुदे होते हैं ॥ ६ ॥

(संवननेन चः सवौन्) परस्पर सेवा करनेके भावसे तुम सबको (सध्रीचीनान्वः संमनसः एकंशुष्टीन् कृणोमि) साथ मिलकर पुष्ट्यार्थ करनेवाले, व्रतम मनवाले और समान नेताकी आज्ञामें कार्य करनेवाले बनता हूँ । (अमृतं रक्षमाणाः देवाः इय) अमृतकी रक्षा करनेवाले देवोंके समान (सायं प्रातः चः सौमनसः अस्तु) धार्यकाल और प्रातःकाल तुम्हारे प्रसन्न चित्त रहे ॥ ७ ॥

भाषार्थ— ब्रह्मका समान करो, व्रतमें शुभ सङ्कल्प पारण करो, उतम छिदितक प्रयत्न करो, आगे बढकर अपने सिरपर कार्यका भार लो और आपसमें विद्वेप न बढाओ । परस्पर प्रेमपूर्वक मापन करो, मिलजुलकर पुष्ट्यार्थ करनेवाले बनो । इर्ष्यालिये तुम्हें उतम मनसे युक्त बनाया है ॥ ५ ॥

तुम्हारा बल पीनेका स्थान सबके लिये समान हो, अन्नका माग भी सबके लिये एक हो, समान कार्यकी एक धुराके नीचे रहकर कार्य करनेवाले तुम हो, उपासना भी सब मिलजुलकर एक स्थानमें करो, जैसे चक्के आरे नामीमें जुके होते हैं, वैसे ही तुम अपने समाजमें एक दूसरेके साथ मिलकर रहे ॥ ६ ॥

परस्परकी सहायता करनेके लिये परस्परकी सेवा करो, व्रतम ज्ञान प्राप्त करो, मनके भाव शुद्ध करके एक विचारसे एक कार्यमें दत्तचित्त हो, सबके लिये समान अज्ञादि भोग मिलें । जिस प्रकार देव अमृतकी रक्षा करते हैं, इसी प्रकार सायं प्रातः तुम अपने मनके शुभसङ्कल्पोंको रक्षा करो ॥ ७ ॥

संज्ञानसे एकता ।

इस सूक्तमें 'संज्ञान' प्राप्त करके आपसकी एकता करनेका उपदेश है । मनुष्यप्राणी संघ बनाकर रहनेवाला होनेके कारण उसकी आपसकी एकता रखना अत्यंत आवश्यक है । जातीय एकता न रही, तो मनुष्यका नाश होगा । जो जाती अपने अंदर संघर्षात्क बढानी है वही इस जगत्में विजयी हो रही है, तथा जिस जातीमें आपसकी फूट अधिक होती है, वह पराजित होती रहती है । अतः आपसमें संघर्षात्क बढाकर अपनी

उन्नति करना हरएक जातीके लिये अत्यंत आवश्यक है । संघर्षात्क बढानेके जो उपाय इस सूक्तमें वर्णन किये हैं, वे अथ देखिये—

अंदरका सुधार ।

सबसे प्रथम व्यक्तिके अंदरका सुधार होना चाहिये । वैदिक धर्ममें यदि कोई विद्येय महत्वपूर्ण बात कही होगी तो नहीं कही है कि संपूर्ण सुधारका प्रारंभ मनुष्यके हृदयके सुधारसे होना चाहिये । हृदय सुधार जानेपर अन्य सब सुधार मनुष्यकी

साम पहुंचा सकते हैं, परंतु हृदयमें दीप रहे तो बाह्य सुधारसे कुछ भी काम नहीं हो सकता । इसलिये इस सूत्रमें हृदयके सुधार करनेकी सूचना सबसे प्रथम कही है—

१ सहृदय- (स-हृदय) = हृदयके भावकी सम नता ।
अर्थात् दूसरेके दुःखसे दुःखी और दूसरेके सुखसे सुखी होना । (मं. १)

जिनके हृदय ऐसे होते हैं वे ही जनतामें एकता करने और एकता बनानेके कार्य करनेके अधिकारी होते हैं । जो दूसरेके दुःखी देखकर दुःखी नहीं होता वह जनताको किसी प्रकार भी उठा नहीं सकता । हृदयका सुधार सबसे मुरार है । इसके बाद वेद कहता है—

२ सां-मनस्य- (सं-मनः) = मनका उत्तम शुभ संस्कारोंसे पूर्ण होना । मन शुद्ध और पवित्र भावनाओं और श्रेष्ठ विचारोंसे युक्त होना । (मं. १)

मनके आधीन संपूर्ण इंद्रियां होती हैं । इसलिये जैसे मनके विचार होते हैं वैसे ही अन्य सब इंद्रियोंकी प्रवृत्ति होती है । इसलिये अन्य इंद्रियोंसे उत्तम प्रशस्ततम कार्य होनेके लिये मनके शुभ संस्कारमय होनेका अत्यंत आवश्यकता है । पूर्वोक्त प्रकार सहृदयता और सामनस्यता सिद्ध होनेके पश्चात् मनुष्यका बाह्य व्यवहार कैसा होना चाहिये यह भी इसी मंत्रने तीव्रसे शब्द द्वारा कहा है—

वाहरका सुधार ।

३ अ-विद्वेष- = द्वेष न करना । एक दूसरेके साथ परस्पर द्वेष न करना । आपसमें झगडा न करना । (मं. १)

यह शब्द बाह्य व्यवहारका सुधार करनेकी सूचना देता है । मनुष्यका व्यवहार कैसा हो ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि 'मनुष्यका व्यवहार ऐसा हो कि जिसमें कोई किसीका द्वेष न करे ।' यह मनुष्यके व्यवहारका आदर्श है । द्वेष न हो । झगडा न हो । दो मनुष्य दकृते आ गये तो किसी न किसीकी निन्दा करनेकी बात शुरु होती है, नीच मनुष्योंका यह स्वभाव ही बना है । परंतु सज्जनोंकी ऐसा करना योग्य नहीं है । वे अपना अक्षरय निर्वैरताके मार्गसे परिपूर्ण रहें ।

निर्वैरताका व्यवहार करनेका तात्पर्य क्या है ? दो परस्पर या दो वृक्ष साथ रहते हैं और निर्वैरताके साथ रहते हैं । क्या इस प्रकारके बंध निर्वैरता-वही अर्थात् द्वेष ? नहीं नहीं, यहाँका 'अ-विद्वेष' शब्द परस्परके प्रेमपूर्ण व्यवहारका सूचक है । सबसे प्रथम सहृदयता और सामनस्यता कही है, इनसे क्रमशः

हृदय और मनकी शुद्धि हुई । ये परिशुद्ध हृदय और मन जो अविद्वेषका व्यवहार करेंगे वह दो परस्परोंके आपसके व्यवहार जैसा अब नहीं हो सकता । इस अविद्वेषके व्यवहारका उदाहरण ही इस प्रथम मंत्रके उल्लेखार्थमें दिया है—

मन्यां अन्यममि ह्यन, वरसं जावमिवाचम्या ।
(सू. ३०, मं. १)

'एक दूसरेके साथ ऐसा प्रेम कर कि जैसा मैं अपने नये जन्मे बचपनेके साथ प्रेम करता हूँ ।' निर्वैरताका यह उदाहरण है । अंधिषाक व्यवहारका हृदय रूप गौ माताका अपने नवजात बचपनेके व्यवहार है । गौका प्रेम अपने बछड़ेसे जैसा होता है वीसा अन्यसे तुम प्रेम करो । 'अ-विद्वेष' का अर्थ केवल 'वैरक धनव' नहीं है, केवल निषेध करनेसे किसीका बोध नहीं होता है । वैर न करना, द्वेष न करना यह तो उत्तम से परंतु इसका विधात्मक स्वरूप है 'प्रेम करना' । अर्थात् अविद्वेषका अर्थ है दूसरे पर प्रेम करना । पहिले मंत्रमें जो तीन शब्दों द्वारा मानवी धर्मका उपदेश किया उसका ही उदाहरण उत्तर मंत्रमार्गमें गौके उदाहरणसे दिया और दिखलाया कि दूसरोंके साथ प्रेमवा व्यवहार करना चाहिये । इस प्रकार करनेसे ज्ञातोव एकता सिद्ध होगी । इस उपदेशका आचरण करनेका ऋन अगले मंत्रोंमें कहा है, सबसे प्रथम धर्मसे इस उपदेशके अनुसार व्यवहार करेकी रीति अगले तीन मंत्रोंमें कही है, यह एशियियोंको अवश्य मनन करना चाहिये ।

(१) पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करे, और माताके साथ उत्तम भावनाओंसे व्यवहार करे । धर्मपत्नी पतिके साथ मांडा और शान्तिमें युक्त भाषण करे ॥ २ ॥ माई-माईसे द्वेष न करे और श्विन बलिनेके साथ झगडा न करे, सब मिलकर आपसमें मधुर भाषण करते हुए अपने कल्याणके लिये एक कार्यमें दत्तचित्त हो जाओ ॥ ३ ॥ जिससे विरोध और विद्वेष नहीं होता है ऐसा संज्ञान दुम्हारे घरके लोगोंके लिये मैं देता हूँ ॥ ४ ॥ '

आदर्श कुटुंबका वर्णन कर रहे हैं । जो कुटुंब ऐसा होगा वह निःसंदेह आदर्श रूप ही होगा । पाठक इन मंत्रोंके उल्लेखोंसे अपने परिवारमें दालनेका दत्त करें ।

इन मंत्रोंका अर्थ करनेके समय ये सामान्य निर्देश हैं यह बात भूलना नहीं चाहिये । अर्थात् 'पुत्र पिताके अनुकूल कार्य करे' इस वाक्यका अर्थ 'कन्या भी मातापिताके अनुकूल कर्म करे' ऐसा है । तथा 'माई-माईसे द्वेष न करे' इसका अर्थ 'माई-बाहिनसे और श्विन माईसे द्वेष न करे' ऐसा है । 'पत्नी पतिके मांडा भाषण करे' इसमें 'पति भी पत्नीसे मांडा भाषण

करे' यह अर्थ है और (घः गृहे पुरुषेभ्यः संज्ञानं प्रदत्तं कृणुमः । मं. ४) 'तुम्हारे परके पुरुषोंको यह संज्ञान प्रदत्त देते हैं,' इसका अर्थ 'तुम्हारे परके स्त्रियोंको भी यह संज्ञान प्रदत्त देते हैं' ऐसा है। इसको सामान्य निर्देश कहते हैं। यदि पाठक इन निर्देशोंकी यह सामान्यता न देखे, तो अर्थका अनर्थ हो जायगा। इसलिये कृपया पाठक इसका अवयव अनुसंधान करके बोध प्राप्त करें।

संघमें कर्म ।

एष्वन मंत्रमें आर्तके लोभके साथ बंसा व्यवहार करना चाहिये, इस विषयका उक्त उपदेश है, इसका सारांश यह है—
१ जयायद्वन्तः = वहाँका सम्मान करनेवाले बने। वृद्धोंका उन्मान करो। (मं. ५)

२ मा धि यौष्ट = विनम्र मत बने। अपनेमें विभेद न बजाओ। (मं. ५)

३ सधुराः चरन्तः = एक धुराके नीचे रहकर आगे बढ़ो। यहाँ धुराका अर्थ युराण, नेता, समझना योग्य है। अपने नेताके साधनमें रहकर अपनी उत्सानिके मार्ग-परसे वाटबंद होकर चलो। (मं. ५)

अपने नेताको आज्ञामें रहकर उन्नतिके साधन करनेवाले ही अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त कर सकते हैं।

४ सधोच्योनाः = एक ही कर्मके लिये मिलकर पुरुषार्थ करनेवाले बने। अर्थात् जो करना हो वह तुम सब मिलकर करते रहे। (मं. ५)

५ संसाधयन्तः = मिलकर शिष्टिके लिये यत्न करनेवाले बने। (मं. ५)

६ अन्यो अन्यस्य वस्तु घदन्त एत = परस्पर प्रेमपूर्वक तुम भाषण करते हुए आगे बढ़ो। (मं. ६)

जब कभी दूसरेसे भाषण करना हो तो प्रेमपूर्वक तोलकर मीठा भाषण करो, जिससे आपसमें फिंसाद न बढे और आप-सकी फूट बढकर अपनी शक्ति क्षीण न हो।

इस मंत्रके 'चित्तिनः और संमनसः' ये शब्द वही भाव बताते हैं कि जो प्रथम मंत्रके 'संमनस्य' शब्दमें बताया है। उक्त चित्तवाले और तुम मनवाले बने यही इसका आशय है।

वृद्धोंका सम्मान करना और पुरुषार्थ साधक कर्ममें द्वाचित्त होना ये दो उपदेश यहाँ मुख्यतः हैं। पाठक विचार करके जान सकते हैं कि मनुष्यकी परीक्षा कर्मसे ही होती है। इस-

लिये इस मंत्रमें अनेक शब्दों द्वारा कहा है कि किसी एक कर्ममें अपने आपको समर्पित करो और वहाँ यदि अन्य मनुष्योंका संबंध हो तो उनके साथ आधेराधे कर्म करो। इस कर्मसे ही मनुष्य धेष्ट है वा कनिष्ठ है, इसका नियम हो सकता है।

खानपानका प्रश्न ।

जब संघमें रहना और कर्म करना होता है तब ही खान-पानका प्रश्न आता है। परमें तो सबका एक ही खानपान होता है, क्योंकि माता, पिता, भाई, बालबच्चे प्रायः एक ही भोजन करते और एक ही पानी पीते हैं। जो खानपानका प्रश्न उत्पन्न होता है वह आतीय संपटनके समय ही उत्पन्न होता है, इस विषयमें पठ मंत्रने उक्त नियम बताया है—

'तुम्हारा जलपानका स्थान एक हो और अन्नमात्र भी एक हो, तुम सबको मैं एक धुराके नीचे रखता हूँ। तुम मिल-कर एक ईश्वरकी उपासना करो।' (मं. ६)

इस मंत्रमें सबका खानपान और उपासना एक हो इस विषयका उपदेश स्पष्ट शब्दोंसे कहा है। आतीय और राष्ट्रीय कार्य करनेवाले इस उपदेशका अधिक मनन करें। मंत्र कहता है, कि 'जाती चक्रेके समान है,' जिस प्रकार चक्रेके आरे चारों ओरसे नामोंमें अच्छी प्रकार जुटे होते हैं, उसी प्रकार चारों बंधन राष्ट्रीय नामोंमें जुटे हैं। यदि वे अपने स्थानसे थोड़े भी खलवा हो जायेंगे तो चकका नाश होगा। जनतामें सब लोगोंकी एकता ऐसी होनी चाहिये कि जिस प्रकार चकमें आरे एक नाभिके साथ जुटे होते हैं।

सेवामावसे उन्नति ।

सप्तम मंत्रमें 'सं-घनन' शब्द है। इसका अर्थ 'उत्तम प्रकारकी प्रेमपूर्वक सहायता करना' है। 'घन्' शब्दका अर्थ 'प्रेमपूर्वक दूसरेकी सहायता करना' है। 'सं-घन' का भी यही अर्थ है। इससे संघननका अर्थ स्पष्ट होगा। प्रेम-पूर्वक दूसरोंकी सहायता करना ही सेवा-समितीका कार्य होता है। वहाँ भाव इस शब्दमें है। अपनेको कुछ पारितोषिक प्राप्त हो ऐसी इच्छा न करते हुए जनताकी सेवा केवल प्रेमसे करना और वहाँ परमेश्वरकी धेष्ट भाँकिए, ऐसा भाव मनमें धारण करना धेष्ट मनुष्यका लक्षण है। इस गुणसे अन्य मनुष्योंपर बड़ा प्रभाव पड़ता है और बहुत लोग अनुकूल होते हैं। इस विषयमें मंत्र कहता है—

संघननेन सर्वान् एकद्रुष्टीन् कृणोमि ।

(स. ३०, मं. ७)

‘प्रेमपूर्वक सेवाने सबसे सहायता करता हुआ मैं सबसे पहल ध्येयके नीचे काम करनेवाले बनाता हूँ।’ जनताका सबसे बड़ा नेता बड़ी है कि जो जनताका सबसे बड़ा निःस्वार्थ सेवक है। सच्चा राष्ट्रधर्म, सच्चा अनन्यता करना ही मनुष्यका बड़ा भारी ब्रह्मकर्म है। जो मित्रता और जैसा करेगा वह उतना श्रेष्ठ नेता बन सकता है। निःस्वार्थ सेवक ही जनताके नेता होते हैं। परमेश्वर सबसे बड़ा ईशानिये है क्योंकि वह सबसे अधिक गुण रत्ता हुआ, अज्ञात रीतिसे जनताकी अधिकसे अधिक सहायता करता है, वह ससहा बड़ा भारी ब्रह्म है, ईशानिये उसका अधिकसे अधिक सम्मान सब आन्दिक लोग करते हैं। यही आदर्श अपने ध्यानने सम्पुत्रर रखते हैं और जनताकी सेवा करते जाते हैं, इस कारण वे भी सम्मानके भागी होते हैं।

कर्मसे मनुष्यत्वका विकास ।

वेदका विद्वान्त है कि ‘ऋतुमयोऽयं पुरुषः।’ अर्थात् ‘यह मनुष्य कर्ममय है।’ इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसी उसकी स्थिति होती है। मनुष्यकी स्थिति कर्मके बशमे है इसीलिये प्रशान्तन कर्म करना मनुष्यको आवश्यक है। ये कर्म ऐसे हों कि त्रिनेत्रे एकता बने और परस्पर विघात न हो यह उपदेश इस सूक्तके— ‘सत्रताः, संराधयन्तः, सधुराध्वरन्तः, सध्रीचीनान्, एकदन्तुः, धीन्’ आदि शब्दों द्वारा मिलता है। पाठक इस महत्त्वपूर्ण उपदेशकी ओर अवश्य ध्यान दें।

इस प्रकार इस सूक्तने अज्ञेन महत्त्वका उपदेश किया है। पाठक इन उपदेशोंका धितना अधिक मनन करेंगे उतना अधिक बोध प्राप्त कर सकते हैं।

पाप की निवृत्ति ।

(३१)

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता— पाप्महा)

वि देवा जरसावृत्न्वि त्वमग्ने अरात्या । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यस्मेण समायुषा ॥ १ ॥
 व्यात्या पर्वमानो वि शक्रः पापकृत्यया । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यस्मेण समायुषा ॥ २ ॥
 वि ग्राम्याः पशवः आरण्यैर्व्यापिस्तृष्ण्यासरन् । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यस्मेण समायुषा ॥ ३ ॥

अर्थ— (देवाः जरसा वि अश्रुतन्) देव वृद्धावस्थाके दूर रहते हैं। (अग्ने ! त्वं अरत्या वि) हे अग्ने ! तू बचपनके तथा शत्रुके दूर रह। (अहं सर्वेण पाप्मना वि) मैं सब पापोंके दूर रहूँ। तथा (यस्मेण वि) योग्ये भी दूर रहूँ। और (आयुषा सं) दीर्घ आयुसे संयुक्त होऊँ ॥ १ ॥

(पर्वमानः आत्या वि) श्रद्धा करनेवाला पुरुष पापोंके दूर रहता है, (शक्रः पापकृत्यया वि) समर्थ मनुष्य पाप-कर्मके दूर रहता है, उसी प्रकार सब पापोंके और सब रोगोंके मैं दूर रहूँ और दीर्घायुसे संयुक्त होऊँ ॥ २ ॥

जैसे (ग्राम्याः पशवः आरण्यैः वि) ग्रामके पशु जंगली पशुओंके दूर रहते हैं, और (आपः तृष्ण्या वि अस-रन्) जल प्यासके दूर रहता है, उसी प्रकार मैं सब पापों और सब रोगोंके दूर रहकर दीर्घायुसे युक्त होऊँ ॥ ३ ॥

भावार्थ— देव वृद्धावस्थाके दूर करके सदा तरुण जैसे रहते हैं, अग्नि देव अदानी पुरुषोंको दूर करके दानी पुरुषोंको पास करता है। इसी प्रकार मैं सब पापोंको और रोगोंको दूर करके पुरुषार्थके दीर्घ आयुष्य प्राप्त करूँ ॥ १ ॥

अपनी श्रद्धा रखनेवाला मनुष्य रोगादि पीडाओंके दूर रहता है और पुरुषार्थी समर्थ मनुष्य पापोंके दूर रहता है, उसी रीतिसे मैं पापों और रोगोंके दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूँ ॥ २ ॥

जैसे यौ आदि गाँवके पशु चिड़, व्याघ्र आदि जंगलके पशुओंके दूर रहते हैं और जैसे जलके पास तृष्णा नहीं आती, उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंके दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूँ ॥ ३ ॥

वीक्ष्मे घावापृथिवी इतो वि पन्धानो दिशंदिशम् ।

व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यस्मेण समायुषा

॥ ४ ॥

त्वष्टा दुहित्रे बहंतुं पुनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति ।

व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यस्मेण समायुषा

॥ ५ ॥

अग्निः प्राणान्त्सं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः । व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यस्मेण समायुषा ॥ ६ ॥

प्राणेन विश्वतोर्वीर्यं देवाः स्युं समैरयन् । व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यस्मेण समायुषा ॥ ७ ॥

आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृधाः । व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यस्मेण समायुषा ॥ ८ ॥

प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भवं मा मृधाः । व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यस्मेण समायुषा ॥ ९ ॥

अर्थ— जिस प्रकार (इमे घावापृथिवी वि इतः) ये पुलोक और पृष्ठी अलग हैं और (पन्धाना दिशं दिशं वि) ये सब मार्ग प्रत्येक दिशा में अलग अलग होकर जाते हैं, इसी प्रकार मैं सब पापों से और रोगों से दूर रहता हुआ दीर्घायु से युक्त होंकें ॥ ४ ॥

जैसा (त्वष्टा दुहित्रे बहंतुं पुनक्ति) पिता अपनी कन्याको दहेज—झीं धन— देनेके लिये अलग करता है और जैसा (इदं विश्वं भुवनं वि याति) यह सब भुवन अलग अलग चलता है इसी प्रकार मैं सब पापों से और रोगों से दूर रहता हुआ दीर्घ आयु से युक्त होंकें ॥ ५ ॥

जिस रीतिसे (अग्निः प्राणान् सन्दधाति) आठ अग्नि प्राणोंका धारण करता है और (चन्द्रः प्राणेन संहितः) चन्द्रमा—मन—प्राणके साथ रहता है, उसी रीतिसे मैं सब पापों और रोगोंसे बचकर दीर्घायुसे युक्त होंकें ॥ ६ ॥

जिस ढंगसे (देवाः विश्वतो—वीर्यं स्युं) देव सब सामर्थ्यसे युक्त सूर्यको (प्राणेन समैरयन्) अपने प्राणके साथ सम्बन्धित करते हैं उसी ढंगसे मैं सब पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घजीवनसे युक्त होंकें ॥ ७ ॥

(आयुष्मतां आयुष्कृतां प्राणेन जीव) दीर्घायुवाले और आयुष्य बढ़ानेवाले जो होते हैं उनके प्राणके साथ जोता रह । (मा मृधाः) मत मर जा । उसी प्रकार मैं भी सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूँ ॥ ८ ॥

(प्राणतां प्राणेन प्राण) जीवित रहनेवालोंके प्राणसे जीवित रह, (इहैव भवं) यहाँ ही प्रभावकारी हो और (मा मृधाः) मत मरजा । उसी प्रकार मैं सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूँगा ॥ ९ ॥

भावार्थ— जैसे आकाश भूमिसे दूर है और प्रत्येक दिशाको जानेवाला मार्ग जैसा एक दूसरेसे पृथक् होता है, ऐसे ही मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायु प्राप्त करूँ ॥ ४ ॥

पुत्रीका पिता जैसा पुत्रीके विवाहके समय दामादको देनेके लिये दहेज अपने पाससे अलग करके दूर करता है और जिस प्रकार ये ग्रह—नक्षत्रादि गोल अपनी गतिसे चलकर परस्पर अलग रहते हैं उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायु प्राप्त करूँगा ॥ ५ ॥

जैसा शरीरमें आठ अग्नि अक्षादिका पावन करता हुआ प्राणोंको बलवान् करता है और मन अपनी शक्तिसे प्राणके साथ रहकर शरीर चलाता है, इसी प्रकार मैं पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु प्राप्त करूँ ॥ ६ ॥

जैसे सबको बल देनेवाले सूर्यको भी अन्य देव प्राणशक्तिसे युक्त करते हैं, उसी ढंगसे मैं पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूँ ॥ ७ ॥

सम्बन्धितः दीर्घायु लोगोंकी जैसी प्राणशक्ति होती है और अनेक साथनोंसे अपनी दीर्घ आयु करनेवालोंकी जैसी प्राणशक्ति होती है, वैसी अपनी प्राणशक्ति बलयुक्त करके मनुष्य जीवें और क्षीप्र न मरे । मैं भी इसी रीतिसे पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूँ ॥ ८ ॥

प्राणधारण करनेवालोंके अंदर जो प्राणशक्ति है उसको बलवान् करके वृ नहीं बड, छोटी आयुमें ही मत मर जा । मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूँगा ॥ ९ ॥

उदार्युषा समायुषोदोषधीनां रसेन । व्यं११ हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १० ॥

आ पर्जन्यस्य वृष्टथोदस्यामामृता वपम् । व्यं११ हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ११ ॥

॥ इति पद्योऽनुवाकः ॥ ६ ॥

अर्थ— (आयुषा उत्) आयुष्यसे उत्कर्ष प्राप्त कर, (आयुषा सं) दीर्घायुसे युक्त हो, (ओषधीनां रसेन उत्) औषधियोंके रससे उन्नति प्राप्त कर । इसी रीतिसे मैं भी सब पापों और रोगोंसे दूर होकर दीर्घायु बनूँ ॥ १० ॥

(वयं पर्जन्यस्य वृष्टया) हम पर्जन्यकी वृष्टिसे (आ उत् अस्याम) उन्नतिको प्राप्त करें और (अमृताः) अमर हो जाय । इसीरूपसे मैं सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घ आयुसे युक्त होऊँ ॥ ११ ॥

भाषार्थ— अपनी आयुसे उत्कर्षका साधन कर और उषसे भी दीर्घायु बन, औषधियोंका रस पाकर नीरोग, पुष्ट और बलवान् बन । इसी प्रकार मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूँ ॥ १० ॥

पर्जन्यकी वृष्टिसे जैसे वृष्टादि बरकर उन्नत होते हैं, उसी प्रकार हम उन्नतिको प्राप्त करेंगे और अमरत्व भी प्राप्त करेंगे । मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूँगा ॥ ११ ॥

पापनिवृत्तिसे नीरोगता और दीर्घायु ।

इस कृष्णके कथा है कि पापोंको दूर करनेसे आरोग्य और दीर्घ आयु प्राप्त होती है और यह अनुष्ठान किछ रीतिसे करना चाहिये इसके उपाय भी यहाँ बताये हैं ।

पाप और पुण्य ।

पाप और पुण्य क्या है, इसका यहाँ विचार करना आवश्यक है । पाप और पुण्य वे धर्मशास्त्रकी संज्ञाएँ हैं । और धर्मशास्त्र अन्त्यान्य शास्त्रोंका धाररूप शास्त्र है । अन्त्यान्य शास्त्रोंसे निश्च धर्मशास्त्र नहीं है । अन्त्यान्य शास्त्र एक एक विषयके संबंधमें ज्ञान देते हैं और धर्मशास्त्र संपूर्ण शास्त्रोंका निचोटा

लेकर मानवी उन्नतिके सिद्धांत बनाता है, इसलिये धर्मशास्त्रके विभिन्नविध सर्वशामान्य होते हैं और अन्त्यान्य शास्त्रोंके विधि-नियम उक्त शास्त्रके विषयके साथ संबंध होनेके कारण विशेष होते हैं ।

पाप पुण्यका विषय इसी प्रकार है । पुण्य शब्दका अर्थ है 'पवित्र बनना' और पाप शब्दका अर्थ है 'पतनका हेतु' । अन्त्यान्य शास्त्रोंमें जिससे ज्ञान होती है ऐसा लिखा है वे सब बातें धर्मशास्त्रमें 'पाप' शब्दसे बतायी जाती हैं और जो बातें उन्नतिकारक समझी जाती हैं उनको पुण्यकारण धर्मशास्त्रमें कहा है । यह बात अधिक स्पष्ट करनेके लिये एक दो उदाहरण लेकर इसी विषयको विस्तार करते हैं—

वैद्यशास्त्र ।

- १ मद्य पीनेसे यहूव और पेट बिगड़ता है, सूतकी कमजोरी होती है इस कारण अनेक रोग होते हैं । ६.
- २ व्यभिचार करनेसे धर्मनाश होनेके कारण मस्तिष्क कमजोर होता है और अनेक बीमारियाँ होती हैं । ६.

आरोग्यशास्त्र ।

- १ स्नान करके स्वच्छता करना, धारमें तथा बाहर स्वच्छता करनेसे रोग नहीं होते, और आरोग्य यकता है । ६.
- ४ जल छाननेसे उष्मसे रोगजंतु या अन्य रोगवाक दूर होते हैं, और इस कारण छाना हुआ जल पीना आरोग्यकारक है ।

समाजशास्त्र ।

- ५ सब यौवनसे मनुष्यके व्यवहार उत्तम चलते हैं । ६.

राजशासनशास्त्र ।

- ६ चोरी, सूत आदि करनेसे राजशासनके नियमके अनुसार कमाना दण्ड होता है ।

धर्मशास्त्र ।

- १ मद्य पीना पाप है ।
- २ व्यभिचार पाप है ।
- ३ स्नान करना पुण्यकारण है । स्वच्छता करना पुण्य है ।
- ४ जल छानकर पीना पुण्यकारक है ।
- ५ सब पुण्यकारक है ।
- ६ चोरी, सूत आदि करना पाप है ।

इस प्रकार हरएक शास्त्रके विषयमें पाठक देखें । अन्वयान्य शास्त्रोंमें प्रलेख कृत्स्नके मुरे या मले परिणाम कारणके साथ बताने होते हैं, परन्तु उन सबका समीकरण करके धर्मशास्त्रमें ' पाप और पुण्य ' इन दो शब्दोंद्वारा वही भाव कारण न देते हुए और परिणाम न बताने हुए कहा जाता है । इसमें धर्म-शास्त्रके पाप-पुण्य भी विस प्रचार शास्त्रविद्य है इसका पता पाठकोंको लग सकता है ।

ये सब पाप ही रोग और अन्यायुताके कारण हैं और पुण्य कर्म करनेसे ही नीरोगता और दीर्घायु मिलती है । यह बात सुप्रसिद्धा इस सूक्तमें ध्वनित की गई है । इस सूक्तमें प्रलेख मंत्रका उत्तराधे यह है—

व्यहं सर्वेण पाप्मना, इव यक्ष्मेण, समायुषा ॥

(सू. ३१, मं. १-११)

' मैं सब पापोंको दूर करता हूँ, उससे रोगोंको दूर करता हूँ जिससे दीर्घायुसे युक्त होता हूँ । ' इस मंत्रका अर्थापत्तिसे भाव यह है कि— ' मैं पुण्य कर्म करनेसे नीरोग होता हुआ दीर्घायुकी वनता हूँ । ' अर्थात् दीर्घायु प्राप्त करनेका मूल उपाय पापोंको दूर करके पुण्य करना ही है, इससे स्वर्ग रोग दूर होगा, नीरोगता प्राप्त होगी और दीर्घायु भी मिलेगी । इस सूक्तको यही संदेशा पाठकोंको देना है । यह व्यापक मंत्र ग्याह वार बहकर यह संदेशा पाठकोंके मनपर स्थिर करनेका यत्न इस सूक्तमें किया है । पाठक भी इसी दृष्टिसे इस मंत्रमापका महत्त्व देखें और इससे प्राप्त होनेवाला उपदेश आत्मसात् करें ।

पापको दूर करना

सबसे पहले सब पाप दूर करनेका उपदेश ब्रह्मा है—

अहं सर्वेण पाप्मना वि । (सू. ३१, मं. १-११)

सब पापका अर्थ कायिक, वाचिक मानसिक, सामाजिक और राष्ट्रीय पाप हैं । ये सब दूर करना चाहिये । अपने मनके पाप विचार दूर हटाने चाहिये, वाचाको शुद्ध और पवित्र बनाना चाहिये, कारोंसे कोई पापकर्म करना नहीं चाहिये, इंद्रियोंको पाप प्रवृत्तियों रोचना और उनको ऐसी शिक्षा देना चाहिये कि उनको प्रवृत्ति उस पापकी ओर कभी न हँवें । इसी प्रकार कुटुंब, जाती, समाज, राष्ट्रके व्यवहारोंमें अनेक पाप होते रहते हैं । उनको भी दूर करना चाहिये । यदि कोई बड़े कि जाती और राष्ट्रके पापोंको हम दूर नहीं कर सकते तो उनको उचित है कि ये अपना- निश्चय- तो सुधार करें । अपनी निष्ठापता सिद्ध हुई तो लक्ष्य योग्य परिणाम ज़ातीपर भी होगा और न भी हुआ, तो भी तब व्यक्तिके तो पापसे बचनेके कारण समतिसा माग अवश्य ही मिलेगा, जितना पुण्यकर्म होगा उतना फल अवश्य मिलेगा । इसमें कोई संदेह नहीं है । हरएक शास्त्रके अनुसार जो पतनका हेतु है उसे दूर करके अभ्युदयके हेतुको

पाप करना चाहिये । ऐसा करनेसे पाप और रोग दूर होकर दीर्घायु प्राप्त होगा । अब पापों और रोगोंको दूर करनेका अनुष्ठान करनेकी रीति देखिये—

देवोंका उदाहरण ।

देवोंका नाम ' निजराः ' है, इसका अर्थ ' बरा, बृदावस्था और बुढापा आदिको दूर रखनेवाला ' है । देवोंमें इस प्रकारके अनुष्ठान करके बुढापेको दूर किया जा, और वे यही आयु होनि-पर भी तदण जैसे दीक्षते थे । यह आदर्श मनुष्योंको अपने समुच्च रखना चाहिये । और जिस अनुष्ठानसे देवोंको यह सिद्धि प्राप्त हुई थी वह अनुष्ठान करके मनुष्योंको भी यह सिद्धि प्राप्त करना चाहिये । यह बतानेके लिये प्रथम मंत्रमें—

देवाः जरस्ता वि अमृतान् । (सू. ३१, मं. १)

' देवोंने बुढापेको दूर रखा था ' यह बात बही है । अब आगे देखिये—

अग्निका आदर्श ।

अग्नि मी (अग्ने ! त्वं वरात्या वि । मं. १) कंजुओंको दूर करता है । उदार मनुष्य ही जो अपने धन आदि द्वारा यज्ञ करना चाहते हैं वे ही अग्निहोत्रादि करनेके लिये तथा अन्वयान्य बड़े यज्ञ करनेके लिये अग्निके पास इच्छते होते हैं और जो कंजु होते हैं, वे अग्निसे दूर हो जाते हैं, क्योंकि वे अपना धन यज्ञमें लगाना नहीं चाहते । इसका अर्थ यही है कि अग्नि कंजु मनुष्योंको दूर करता है और उदार मनुष्योंको इच्छुद्ध करके उनका संघ बनाकर उनका अभ्युदयकरके उत्पत्ति कराता है । जिस प्रकार यह अग्नि कंजुओंको दूर करता है, उसी प्रकार पापों और रोगोंको दूर करना मनुष्यको उचित है । इसका अर्थ यह है कि मनुष्य पापियों और रोगियोंको दूर अलग रखे और पुण्यात्मा और नीरोग मनुष्योंका संघ बनाकर अपना आरोग्य बनावे ।

जो पापी मनुष्य होता है उसके संघर्षमें जो बड़े मनुष्य आश्रय वे भी पापी बनने, इगलिये पापोंको समाजसे बादा निकाल देना चाहिये; इसी प्रकार जो रोगी मनुष्य होते हैं उनके संघर्षमें भी अन्य मनुष्य रोगी रोगियोंको संभावना होती है, इस कारण रोगियोंके लिये विशेष प्रबंध करके उनको अलग करना चाहिये जिससे उनके रोग अधिक न फैले । इस प्रकार युक्तिसु पापियों और रोगियोंको अलग रखनेका प्रबंध करनेसे रोग समाज निष्ठाप और नीरोग रहना संभव है, और यह प्रबंध जितनी पूर्णतासे किया जाय उतना अधिक लाभ होगा ।

पवित्रताका महत्त्व ।

द्वितीय मंत्रमें पवित्रता और शुद्धताका महत्त्व दर्शन किया है । पवित्रतासे पाप और रोग दूर होते हैं—

(१) पवमानः आस्ता वि ।

(२) शकः पापहत्या वि । (सू. ३१, मं. २)

‘ (१) पवित्रता करनेवाला रोगाधिकोंके कष्टोंसे दूर होता है, और (२) मनोबलसे समर्थ मनुष्य पापसे दूर रहता है ।’

ये दोनों अर्थपूर्ण मंत्रभाग हैं । स्वच्छता, पवित्रता और निर्मलता करनेवाले जो होते हैं उनके पास प्रायः रोग आते ही नहीं, अपवाव से अपनी शुद्धतासे रोगोंको दूर रखते हैं । शुद्धताका अर्थ यह है कि जल आदिसे शरीर निर्मल करना, सखेंध मनकी पवित्रता करना, विद्या और तपसे अपनी अन्य शुद्धी करना, शूद्र विचारों और भ्रमपूर्ण आचरणोंसे परिवारकी शुद्धता करना, शरीरकी पवित्रता लेपनादिसे करना, आगमें हवन करके वायुकी शुद्धता करना, छानकर जलको शुद्ध बनाना, मलस्थानोंको शुद्ध करके नगरकी स्वच्छता करना, इसी प्रकार अग्न्याग्न्य क्षेत्रोंकी शुद्धता करनेसे रोगभीष इट जाते हैं । और मनुष्य रोगसे पीड़ित नहीं होता है ।

इसी प्रकार घल्य, परमेश्वरनिष्ठा, तप, धर्माचरण आदि द्वारा मनका बल बढ़ानेसे जो सामर्थ्य मनुष्यके अंदर उत्पन्न होता है वह मनुष्यको पापोंसे बचाता है । ऐसा समर्थ मनुष्य पापाचरण नहीं करता और वह पवित्रताका बनता हुआ जनताके लिये आदर्श बनता है । यह मनुष्य न केवल स्वयं पापों और रोगोंसे दूर रहता है प्रकृत अर्थोंकी भी दूर रखता है ।

ग्राम, नगर और राष्ट्रीयी पंचायतों द्वारा ग्राम, नगर और राष्ट्रमें एक प्रकार पूर्ण स्वच्छता और पवित्रता बढ़ानेसे भी एक क्षेत्रोंकी जनता पापों और रोगोंसे बची रहती है । यह द्वितीय मंत्रका उपदेश प्रत्यक्ष फल देनेवाला होनेके कारण इसका अनुष्ठान सर्वत्र होना आवश्यक है ।

स्थानत्यागसे बचाव ।

पापी मनुष्योंका और रोगोंका स्थान छोड़ देना इसको स्थान त्यागसे बचाव करना कहते हैं । इसका वर्णन तृतीय और चतुर्थ मंत्रों द्वारा हुआ है, देखिये—

१ ग्राम्याः पश्याः आरप्यैः वि । (सू. ३१, मं. ३)

२ इमे घावापृथिवी वि इतः । (सू. ३१, मं. ४)

‘ (१) ग्रामके गाँ आदि पशु व्याघ्रादि आरप्यक पशुओंसे दूर रहकर बचाव करते हैं, (२) तथा शुलोक पृथ्वीसे जैसा दूर रहता है ।’ ये स्थानत्याग करके बचाव करनेके उदाहरण हैं । व्याघ्र, सिंह, भेड़िया आदि जिस स्थानमें रहते हैं उस स्थानका त्याग करके गाँ आदि प्रामाण्य पशु अपना बचाव करते हैं । भूलोककी अशुद्धिसे बचनेके लिये और अपनी प्रकाशमयता स्थिर रखनेके लिये शुलोक—भूलोकसे बहुत दूरीपर रहता है । इस प्रकार पापी क्षेत्रोंसे दूर रहकर पापसे बचना और रोगस्थानसे दूर रहकर रोगोंसे बचना योग्य है ।

स्वभावसे बचाव ।

जिनकी स्वभावसे ही पापसे बचनेकी प्रवृत्ति होती है और जिनमें स्वभावसे ही रोगप्रतिबंधक शक्ति होती है वे पापों और

रोगोंसे बचे रहते हैं, इस विषयमें मुझके कथन देखिये—

१ अपः तृणया वि अस्तरन् । (सू. ३१, मं. ३)

२ पश्यानः दिशं दिशं वि । (सू. ३१, मं. ४)

‘ (१) जल अपने स्वभ्रम वश ही प्याससे दूर रहता है और (२) विविध दिशाओंसे जानेवाले मार्ग स्वभावसे एक दूसरेसे दूर रहते हैं ।’ जलका स्वभावसे ही प्यास नहीं लगती । इस प्रकार जो लोग स्वभावतः पापमें प्रवृत्त नहीं होने वे पापरहित होते हुए पापके फलभोगसे बचते हैं । इसी प्रकार जिनके शरीरमें रोगप्रतिबंधक शक्ति पर्याप्त रहती है वे रोगस्थानमें रहते हुए भी रोगोंसे बचे रहते हैं । यह स्वभावका नियम देखकर हर एकको पचित है कि वह अपना स्वभाव उक्त प्रकार बनावे और पापों और रोगोंसे अपना बचाव करके दीर्घायु, नीरोग और बलवान् तथा सञ्जीव बने ।

दान ।

जनताको निष्पाप और नीरोग करनेके लिये धनी मनुष्य अपने धनका कुछ भाग अन्न करके दान देवें जिस प्रकार—

दृश्या दुहित्रे वहङ्गं युनक्ति । (सू. ३१, मं. ५)

‘ पिता पुत्रोंके दहेजके लिये धन योजनपूर्वक देता है ।’ यह धन दामादके घरमें रहता हुआ स्त्रीधनके रूपसे इष्ट कार्य करता है, इसी प्रकार धनी मनुष्य धनका कुछ भाग जनताके रोगमुक्त और पापमुक्त करनेके लिये अर्पण करे और इस इच्छे हुए धनसे ऐसी संस्थाएँ योजनपूर्वक चलायी जावें कि जो जनताकी पापपशुओंसे और रोगसे रक्षा करें । इस प्रयत्नसे संपूर्ण राष्ट्र प्रतिदिन आधिकाधिक निष्पाप, नीरोग, दीर्घजीवी, संभव, स्वस्थ और सुखी बने ।

अपनी गतिमें रहना ।

लोग एक दूसरेसे स्पर्धा करते हैं और अपना दुःख बढ़ाते हैं । यदि वे अपनी गतिसे चलते रहेंगे और दूसरेकी गतिके साथ अर्थ स्पर्धा न करेंगे तो भी पापसे और रोगोंसे बच सकते हैं, इस विषयमें एक उदाहरण है—

इदं विश्वं भुवनं वियाति । (सू. ३१, मं. ५)

‘ ये सब पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि गोल अर्थात् अपनी विविध गतिसे चलते हैं ।’ सूर्यको उज्जतासे चंद्र स्पर्धा करके स्वयं उज्ज बनना नहीं चाहता और चंद्रको स्पर्धा करता हुआ सूर्य स्वयं शीत बननेका इच्छुक नहीं है । इसी प्रकार ये सब प्रद्व अर्थात् अपनी गतिसे अपना अपना कार्य करते हैं । विविध भुवनोंकी विविधता उपदेश देती है कि विविधतासे युक्त ये सब भुवन जिस प्रकार संपूर्ण जगत्के अंश बनकर आविरोधसे रहते हैं । उसी प्रकार मनुष्य भी विविध गुणधर्मोंसे युक्त होते हुए संपूर्ण राष्ट्रके अर्थव्यय बनकर राष्ट्रहित और संपूर्ण जनताका हित करनेकी शुद्धसे आपसमें आविरोधी भावसे रहें । इस प्रकार रहनेसे पूर्वोक्त प्रकार के उपायोंका अवलंबन करके अपने आपकी पापों और रोगोंसे बचा सकते हैं । अन्यथा आपसमें लड़ते हुए रोगोंसे

मानेके पूर्व ही सुयोध के लिए तोड़कर स्वयं मर जाये। ऐसा नाश न हो, इच्छित्य वेद कहता है कि अपनी गतिसे बल्ये और परस्पर सहायके बनकर अपनी उन्नतिको साधन करो।

पेटकी पाचक शक्ति ।

मनुष्यके शरीरमें रोगबीजका प्रवेश तब होता है जब उबकी पाचन शक्ति बिगड़ी होती है। इसकी सूचना देनेके लिये षष्ठ मंत्रमें कहा है—

अग्निः प्राणान् संदधाति । (सू. ३१, मं. ६)

‘जाठर अग्नि- अन्नका पाचन करनेवाला उदर रयानका अग्नि ही- प्राणोंका सम्पत्कया धारण करता है।’ अन्य कोई साधन नहीं है जिससे प्राणोंका धारण अच्छी प्रकार हो जावे। इसलिये जो लोग दीर्घ जीवनके इच्छुक हैं वे भ्यायाम तथा अन्यन्य योग साधनादि द्वारा अपनी पाचन शक्ति अच्छी प्रदीप्त करें। ऐसा करनेसे शरीरमें जो समर्थता आवेगी वही रोगोंका दूर रखेगी और पाष अग्नि न देगी।

दूसरी बात यह है कि जाठर अग्निके विगाडसे यष्ट, हृदय और मस्तिष्कका विगाड होता है। मस्तिष्कके विगाडसे विचारोंमें परिवर्तन होता है अर्थात् मनुष्य पाचकमें प्रवृत्त होता है। यदि पाचक शक्ति ठीक रही, तो रोग आदि वैश प्रवृत्त नहीं होते। इसलिये पाषों और रोगोंसे बचनेके लिये तथा दीर्घायुष्यकी प्राप्तिके लिये मनुष्य अपनी पाचन शक्ति उत्तम प्रदीप्त करे। इसी मंत्रमें और कहा है—

चन्द्रः प्राणेन संहितः । (सू. ३१, मं. ६)

‘चन्द्र प्राणसे मिला है।’ यहाँ ‘चन्द्र’ चन्द्रके तीन अर्थ हैं, (१) वनस्पतिसे उगभ हुआ अन्न, (२) वनस्पतियोंके फलादिहोका रस, (३) लँर मन। प्राणसे इन तीनोंका घणित संबंध है। यहाँ वनस्पतिसे प्राप्त होनेवाला शाकभोजन प्राण सिद्धी कारणके लिये आवश्यक बतानेमें माँसादि सेवन दीर्घ जीवनके लिये अनिष्ट होनेका उपदेश स्वयं ही प्राप्त होता है। पाठक इसका अवश्य विचार करें।

सूर्यका वीर्य ।

सूर्यमें बड़ी भारी जीवन वियुक्त है, उसको अपने अन्दर संगृहित करनेसे नीरोगता और दीर्घ जीवन प्राप्त हो सकता है। इस विषयमें सप्तम मंत्रका कथन यह है—

देवाः शिव्तोवीर्यं प्राणेन समैरयन् । (सू. ३१, मं. ७)

‘देव सब प्रकारके वीर्यसे युक्त सूर्यको प्राणके साथ संबंधित करते हैं।’ इसी अनुष्ठानमें देव (निजराः) जराहित और (अ-मराः) मरणरहित हुए हैं। इसलिये जो लोग अपने प्राणके अन्दर सूर्यकी जीवन वियुक्ता धारण करेंगे, वे भी

उक्त सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। सूर्यकाशमें खड़े होकर या बैठकर दीर्घश्वासन द्वारा सूर्यकी वियुक्त प्राणके अन्दर लेनेसे अपने अन्दर सूर्यका वीर्य आ जाता है; इसी प्रकारमेंगे शरीरसूर्योत्प- स्नान करनेसे भी चमकोंके अन्दर सौरवियुक्ता प्रवेश हो जाय है। इसी प्रकार विविध योजनार्थों द्वारा सौर वियुक्ते लाम उठाय जा सकता है। पाठक इसका विचार करके लाम उठावें।

दीर्घायु प्राप्त करनेवाले ।

जो (आयुष्मन्) दीर्घ आयुवाले मनुष्य हैं, अर्थात् विना प्रयत्न जो दीर्घ आयुवाले हुए हैं, तथा जो (आयुष्कृत्) प्रयत्नसे दीर्घ आयु प्राप्त करनेवाले हैं, अर्थात् योगादि अनुष्ठान द्वारा जिन्होंने दीर्घ आयु प्राप्त की है, (प्राणतां प्राणेन) प्राणकी प्रबल शक्तिके युक्त पुष्टीका प्राण ऐसा चलता है इस सबका विचार करके मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त करनेके उपाय जान सकता है। ये ऊपर कहे मनुष्य अपना दैनिक व्यवहार कैसा करते हैं, किधे बंगके व्यवहारसे इन्होंने दीर्घ आयु कमाई, इसका ज्ञान प्राप्त करके, उनके उदाहरण अपने अनुसृत रखकर, तदनुसार अपना व्यवहार करना चाहिये। (इह एव भव) इस प्रकार इस भूलोकमें दीर्घकालतक रहना चाहिये और (मा मृताः) शीघ्र मरना उचित नहीं। यह उपदेश में ८ और ९ में है।

अपने शरीरमें तथा अन्य देतोंमें बड़ा जहाँ दीर्घायु, नीरोग, बलवान्, निष्ठाप और सच्छील लोग होंगे, उनके जीवन कायि देखकर उनके जीवनसे उचित वीर्य प्राप्त करना चाहिये। और उबसे लाम उठाना चाहिये।

औषधिरस ।

दशम मंत्रमें औषधियोंके रसका सेवन करके दीर्घायुष्मकी प्राप्ति करनेका उपदेश है—

औषधीनां रसेन आयुष ३१, मं. १०)

‘औषधियोंके रससे हम दीर्घायुष्क सयुक्त होंगे।’ इसमें दीर्घायुष्कका प्राप्तिका संबंध औषधियोंके रस प्राशन करनेके साथ बताया है। इसी सूत्रमें छठे मंत्रके विधानके साथ इसकी तुलना करिये।

अन्तिम मंत्रमें कहा है, कि जिस प्रकार ‘शोषे होनेसे बुध- वनस्पति आदिक जगते हैं और उन्नतिको प्राप्त करते हैं वजों प्रकार हम पूर्वोक्त साधनसे (घयं अमृताः उदस्थाम) हम अमर होकर सब प्रकारकी उन्नति प्राप्त करेंगे।’ (मं. ११)

यह सब है कि जो इस सूत्रमें लिखा अनुष्ठान करते वे इस प्रकारकी सिद्धि प्राप्त करेंगे। इसमें कोई सन्देह ही नहीं है। वेदमें क्ल- पूर्ण अनुष्ठान कहा है ऐसे जो अनेक सूक्त हैं उनमेंसे यह एक है। इसके मननसे वेदकी उपदेश करनेकी शैलीका भी ज्ञान हो सकता है। पाठक इसका मनन करें और अनुष्ठान करके लाम उठावें।

॥ यहाँ षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥

॥ तृतीय काण्ड समाप्त ॥

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

तृतीय काण्डकी विषयसूची ।

सूक्त	विषय	पृष्ठ	सूक्त	विषय	पृष्ठ
	अपने राष्ट्रका विजय	२	८-	राष्ट्रीय एकता	३४
	तृतीय काण्ड-प्रस्तावना ।	३		अधिक उन्नता, उन्नतिके मार्ग	३६
	ऋषि देवता छंद (कोष्टक)	४		सुधारका प्रारंभ, संवत् १ राष्ट्र	३७
	सूक्तोंके गण	७		राष्ट्रीय अग्नि, राष्ट्रका पोषक, शूर पुत्रोंवाली माता	३८
१-	शत्रुसेनाका संमोहन	९		राष्ट्रीय शिक्षा	३८
२-	शत्रुसेनाका संमोहन	११		दैवी सहायता	३९
	सेनाका संमोहन, इन्द्र	१२		आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक	३९
	मधुवन्, वृत्रहन्, भरतः	१३	९-	हेतु-प्रतिघन्यक उपाय	३९
	वसवः, आमाः, शत्रुको पहरानेकी रीति	१४		सबके मातापिता	४०
	मंत्रीकी समानता	१५		विश्वबन्धुत्व, पराक्रम, परिश्रमसे सिद्धि	४०
३-	राजाकी स्वराज्यपर पुनः स्थापना	१६		अशुर मारा, सैकड़ों विप्र	४२
४-	राजाका चुनाव	१७	१०-	कालका यज्ञ	४३
	पूर्व सम्बन्ध, आरमरक्षा	१९		कामधेनु, यम	४६
	सोत्रामणी याग	२०		बंधका(मयी) राज्ञी, संवत्सरेकी प्रतिमा, हवन	४७
	विरोधी मनुष्य, राजाका चुनाव, प्रजाका पालन	२२		कालका यज्ञ, यज्ञका कार्य	४८
	घनेका विमान	२३		सन्तुनाशक इन्द्र	४९
	शुभसंघस्य, राजाका रहना सहना, दूतका संचार	२४	११-	हवनसे दीर्घ आयुष्य !	५०
	वस्त्र	२५		हवनसे दीर्घायुष्यकी प्राप्ति, औषधियोंके यज्ञ	५२
५-	राजा और राजाके बनानेवाले	२५		हवनसे रोग दूर करना, हवनका परिणाम	५२
	पूर्ण माणि, राष्ट्रका निज बनना	२७		शतायु करनेवाला हवन	५२
	राजाको निर्माण करनेवाले	२८		मरणका पाश, सत्यसे सुरक्षितता	५३
६-	वीर पुरुष	२९		सत्यपालनसे दीर्घायुकी प्राप्ति	५३
	अद्वैतकी अन्वेषिका	३०	१२-	गृहनिर्माण	५४
	आनुवंशिक संस्कार, शत्रुका लक्षण, गिरावटका मार्ग	३१		घरकी बनावट, घर बनाने योग्य स्थान	५६
	विजयकी तैयारी	३१		घर कैसा बनाया जावे ? संमानका स्थान	५६
७-	आनुवंशिक रोगोंको दूर करना	३२		प्रसन्नताका स्थान, वीरतासे युक्त घन	५७
	मातापितासे संतानमें आये क्षत्रिय रोग	३३		अतिथि संस्कार, देवों द्वारा निर्मित घर	५८
	हरिणके सौंसे विकृति, हृदय रोग	३३		देवोंकी सहायता	५८
	औषधि चिकित्सा, मन्त्रकी और तारक	३३	१३-	जल	५९
	शुक्ल और भूलोकमें समान औषधियों	३४		जलके प्रवाह	६०
	जलचिकित्सा	३४	१४-	गोशाला	६१
				गोसंवर्धन	६३

सूक्त	विषय	पृष्ठ	सूक्त	विषय	पृष्ठ
१५-	वाणिज्यते धनकी प्राप्ति वाणिज्य व्यवहार, पुराना बनिया । व्यापारका स्वरूप, व्यापारके विरोधी दो मार्ग, ज्ञानयुक्त कर्म परमेश्वर भाक्ति	६३ ६४ ६६ ६७ ६८	११-	कामका याण विरुद्ध परिणामी अलंकार कामके बाण, पतिव्रतीका एक मत पर्यपत्नीक गुण युद्धस्यधर्म	१०२ १०३ १०४ १०५ १०६
१६-	प्रातःकालमें भगवान्की प्राथना प्रातःकालमें भगवान्की प्रार्थना, सबका उपास्य देव अदोनाका रक्षक, उपासनाकी रीति धारणा, उपासना-धारणा सत्यका मार्ग देवोंकी ह्युक्ति, अहिंसाका मार्ग गौर्व और घोड़े, अमल	६९ ७१ ७१ ७२ ७३ ७४	१६-	उद्यतिकी दिशा ।	१०७
१७-	कृषिसे सुख-प्राप्ति कृषिसे भाग्यकी वृद्धि, धान्य बानेके पूर्व हवन लादके लिये पाँ और राहद । । ऐतिहासिक उदाहरण, गौरक्षाका समय	७५ ७७ ७७	१७-	अभ्युद्यकी दिशा दिशाओंके वर्णनसे तत्त्वज्ञान-उद्यतिके छा-केन्द्र दिशा कोष्टक व्यक्तिका और समाजका विकास दिशाओंका तत्त्वज्ञान-बैदिक दृष्टि पूर्व दिशाकी विभूति पश्चिम दिशाकी विभूति उत्तर दिशाकी विभूति	१०८ १११ ११२-११४ ११६ १११ १२० १२१ १२२
१८-	धनस्वपति सापरनमावका भयंकर परिणाम	७८ ७९	१८-	पशुओंकी स्वास्थ्यरक्षा पशुओंका स्वास्थ्य, पशुरोगकी उत्पत्ति, रोगों पशु	११३ ११५
१९-	ज्ञान और शौर्यकी नेजस्वित्ता राष्ट्रीय उन्नतिमें पुरोहितका कर्तव्य ब्राह्मतेजकी उद्योति पुरोहितकी प्रतिष्ठा, युद्धकी नीति	७९ ८१ ८१ ८२	२२-	संरक्षक कर राज्यशासन चलानेके लिये कर प्राप्तिका सोलहवीं भाग प्राप्तिके दो साधन राज केसा हो, करका उपयोग स्वयं सटस राज्य, कामनाका प्रभाव कामकी मर्यादा	११६ ११८ १२८ १२९ १२९ १३१ १३३
२०-	तेजस्वित्ताके साथ अभ्युद्य अग्निका आदर्श, उत्पत्तिस्थानका स्मरण सम्भूय समुत्थान	८३ ८५ ८६	३०-	एकता संज्ञानसे एकता, अंदरका सुधार बाहरका सुधार संधमें धर्म, खानदानका प्रश्न सेवाभावसे उन्नति कर्मसे मनुष्यका विकास	१३३ १३४ १३५ १३६ १३७
२१-	कामाशिका शमन कामाशिका स्वरूप काम और इच्छा, कामकी दाहकता न दबनेवाला, इन्द्रका रथ कामशान्तिका उपाय	८८ ९० ९१ ९२ ९३	३१-	पापकी निवृत्ति पापनिवृत्तिसे नीरोगता, पाप और पुण्य पापको दूर करना, वेदोंका उदाहरण अशिका आदर्श, पवित्रताका महत्त्व स्थानत्यागसे बचाव, स्वभावसे बचाव दान, अपनी पतिमें रहना पेटकी पाचनशक्ति, सूर्यका दीर्घ दीर्घायु प्राप्त करनेवाले, शीपधिरस	१३७ १३९ १४० १४० १४१ १४१ १४२ १४२
२२-	चर्चःप्राप्ति सूक्त शाकभोजनसे बल बढ़ाना, चलप्राप्तिकी रीति	९५ ९६			
२३-	वीर पुत्रकी उत्पत्ति वीर पुत्रका प्रसव	९७ ९८			
२४-	समुद्रिकी प्राप्ति समुद्रिकी प्राप्तिके उपाय मुख्य दो साधन	९९ १०० १०१			